

Correct

श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ७८

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा'-व्याख्या 'प्रकाश'

हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७८

श्रीमद्योगीश्वरमहर्षियाज्ञवल्क्यप्रणीता

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा' व्याख्यया
'प्रकाश' हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

हिन्दीव्याख्याकार

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी० साहित्यरत्न

प्रस्तावना-लेखक

श्री नारायण मिश्र, एम० ए०

संस्कृत तथा पालिविभाग

भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौरवर्मा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पोस्ट बाक्स नं० ११३९

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन, (गोलघर समीप मेदागिन)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी

संस्करण : पञ्चम, वि० सं० २०५०

मूल्य : रु० २५०-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल-पाठ

एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार

प्रकाशक के अधीन हैं ।

फोन : ३३३४४५

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०

चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ३२०४१४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
178

YĀJÑAVALKYASMṚTI

Of

YOGĪSHWARA YĀJÑAVALKYA

With the Mitākṣarā Commentary

of

VIJÑĀNESHVAR

Edited with

The 'Prakash' Hindī Commentary

By

Dr. UMESH CHANDRA PĀNDEY

M. A., Ph. D., Śāhityaratna

Preface by

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA, M. A.

Bhārati Mahāvidyālaya B. H. U., Varanasi.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

Post Box No. 1139

K. 37/116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)

VARANASI-221 001 (INDIA)

© Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi

Phone : 333445

Fifth Edition : 1994

Also can be had of

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN

Post Box No. 1160

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 320414

प्रस्तावना

श्री नारायण मिश्र

संस्कृत तथा पालि विभाग :

भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रुति-स्मृती चक्षुषी द्वे द्विजानां न्याय-वर्मनि ।

मार्गे मुह्यन्ति तद्धीनाः प्रपतन्तिः पथश्च्युताः ॥

(बृहस्पति-स्मृति, संस्कार-काण्ड, श्लो० ११)

इस अमर आत्मा को जन्म-जन्मान्तर तक अत्यन्त कठोर तपस्या करने के बाद मानव-शरीर में प्रवेश और उस शरीर के माध्यम से अपने को इस प्रपञ्च से विमुक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु खेद का विषय है कि मानव-शरीर में गर्भाशय से निःसरण के साथ-साथ ही इस (आत्मा) की कर्त्तव्य-बुद्धि विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती है। जिस उद्देश्य से यह आत्मा मानव-शरीर के अधिगम के लिए कठोर प्रयास करती रहती है उस उद्देश्य की पूर्ति आकाश-पुष्पायित सी हो जाती है। इसी कारण से जन्म लेते ही जीवात्मा को पुनः रोना ही पड़ता है। अपने कर्त्तव्य के विस्मरण के कारण जीवात्मा के विलाप का निम्न-लिखित पद्य में बहुत ही मार्मिक रूप में प्रतिपादन किया गया है—

जातो मृतश्च कतिधा न कति स्तनानां

पीतम्पयो न कलिताः कति मातरो न ।

उत्पत्य बन्ध-विधुतावधुना यतिष्वे

इत्यस्य विप्लवमुपैति बहिर्मनीषा ॥

कर्म चक्र में इस प्रकार अनादि काल से परिभ्रमण-शील जीवात्मा की उपर्युक्त परिदेवना से आर्द्र हृदय वाले परमर्षियों ने अपने ज्ञान-दीप में प्रतिभासमान परम्परागत अखण्ड ज्ञान-राशि-स्वरूप वेद को जीवात्मा के कर्त्तव्य के परिज्ञान के लिए अभिव्यक्त किया। परन्तु वेद भी कुछ ही विवेकी पुरुषों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ न कि सर्व-साधारण के लिए। अतः करुणा-प्रवण मनु आदि महर्षियों ने अपने वैदिक-विज्ञान को सर्व-साधारणोपयोगी बनाने के लिए धर्मशास्त्र का निर्माण किया। इस धर्मशास्त्र में धर्म-शासक ऋषि के द्वारा प्रायेण वैदिक-ज्ञान की ही स्मृति होने के कारण इसे (धर्म-शास्त्र को) स्मृति-शब्द से भी अभिहित किया जाता है (धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः—मनु० २।१०)।

यद्यपि स्मृति-ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी तत्त्व हैं जो वर्त्तमान वेद में उपलब्ध नहीं होते तथाऽपि उन तत्त्वों के वैदिक-ज्ञान पर ही निर्भर होने का अनुमान किया जाता है।^१ यद्यपि धर्म के प्रतिष्ठित व्याख्याता जैमिनि ने यह भी माना है

१. द्रष्टव्य—“श्रुति-स्मृति-विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।”—जाबाल-स्मृति

“श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना ।”—भविष्य-पुराण

—मनु. २।११ की व्याख्या में कुल्लुकभट्ट द्वारा उद्धृत ।

कि यदि स्मृति में कहीं वेद-विरुद्ध विषय हो तो उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए (‘विरोधे स्वनपेक्षम्०’ जै० सू० १।३।३॥) तथापि विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि वर्तमान वेद में अनुपलब्ध परन्तु अविरुद्ध स्मार्त-मत के मूल-भूत वैदिक-विधि का अनुमान हो सकता है तो क्या वर्तमान-वेद-विरुद्ध स्मार्तसिद्धान्तों से उनके मूल-भूत वेद का अनुमान नहीं किया जा सकता है? वेदोक्तियों में आपन्न परस्पर विरोध तो विकल्प में ही पर्यवसन्न होता है न कि उससे वेद पर कुछ आक्षेप माना जाता है, जैसा मनु ने भी कहा है—

श्रुति-द्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ (मनु० २।१४)

स्मृति (धर्म-शास्त्र) का प्रतिपाद्य विषय

धर्म-शास्त्र के प्रतिपाद्य-विषय का संकेत आङ्गिरस स्मृति में इस प्रकार किया गया है—

“यत्पूर्वस्मृतिभिः प्रोक्तन्धर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

तत्प्रमाणन्तु सर्वेषाँल्लोक-धर्मानुवर्णनम् ॥” (आङ्गिरस-स्मृति १।८)

इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण,^१ क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र एवम् वर्ण-सङ्कर के आजीवन कर्त्तव्य का अनुविधान ही धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि ‘धर्म-शास्त्र’ शब्द में प्रयुक्त ‘धर्म’ शब्द का अर्थ क्या है।

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में धर्म का विभाजन निम्न-लिखित रूप में किया है—“अत्र च धर्मशब्दः षड्विध-स्मार्त-धर्म-विषयः । तद्यथाः—वर्ण-धर्मः, आश्रम-धर्मः, वर्णाश्रम-धर्मः, गुण-धर्मः निमित्त-धर्मः, साधारण-धर्मश्चेति । (मिताक्षरा—१।१) ।

(१) वर्ण-धर्म का निर्देश भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ब्राह्मण-वर्ण के धर्म ये हैं—

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता-१८।४२)

श्रीमद्भागवत ने ब्राह्मण-वर्ण के धर्म का परिगणन निम्नोक्त रूप में किया है—

शमो दमः तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।

१. “भगवन्सर्व-वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।

अन्तर-प्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥”—मनु० सं १।२

“वर्णाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः ।.....तेषाम् अन्तर-प्रभवाणां च सङ्कीर्ण-जातीनां चापि अनुलोभ-प्रतिलोमजानां च अम्बष्ठ-क्षत्तृ-कर्ण-प्रभृतीनां.....यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेन आश्रम-धर्मादीनामपि प्रश्नः ।”

—मन्वर्थ-मुक्तावली १।२

“वर्णाश्रमेतराणां हि ब्रूहि धर्मानशेषतः” ।—या० स्मृ० १।२

ज्ञानं दयाऽऽच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्म-लक्षणम्^१ ॥

(श्रीमद्भागवत-७।१।२१)

मनु का कथन निम्न-लिखित है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानप्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ (मनु० १।८८)

क्षत्रिय-धर्म का गीतोक्त स्वरूप निम्न-निर्दिष्ट है—

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वर-भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता-१।८।३१)

श्रीमद्भागवतोक्त क्षात्र-धर्म अधोलिखित हैं—

शौर्यं-वीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्म-जयः क्षमा ।

ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्र-लक्षणम् ॥

(श्रीमद्भागवत-७।१।२२)

मनूक्त क्षत्रिय-धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियाणां समासतः ॥ (मनु० १।८९)

वैश्य-धर्म का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—

कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ॥

(गीता-१।८।४४ क ख)

श्रीमद्भागवत में वैश्य-धर्म का विवरण निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है—

देव-गुर्वच्युते भक्तिस्त्रि-वर्ग-परिपोषणम् ।

आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्य-लक्षणम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७।१।२३)

मनु-प्रतिपादित वैश्य-धर्म का स्वरूप निम्न-निर्दिष्ट है—

पशूनां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ (मनु० १।९०)

शूद्र-धर्म का वर्णन भी गीता में है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ (गीता-१।८।४४ ग घ)

तथा—

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवाऽस्वामिन्यमायया ।

अ-मन्त्र-यज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गो-विप्र-रक्षणम् ॥

(श्रीमद्भागवत-७।१।२४)

१. श्रीमद्भागवत के समी श्लोक श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर मट्टाचार्य जी के 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' से उद्धृत किए गये हैं, एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूँ ।

मनु ने शूद्र के धर्म का विवरण इस प्रकार किया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ (मनु० १।९१)

वर्णसङ्कर के धर्म का संक्षिप्त रूप में सङ्कलन श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुल-कृता भवेत् ।

अ-चौराणामपापानामन्यजान्त्यावसायिनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७।१।१७)

* याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्ण-धर्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

* इज्याऽध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानाम्परिपालनम् ।

कुसीद-कृषि-वाणिज्य-पाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥

शूद्रस्य द्विज-शुश्रूषा तथाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।

शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजाति-हितमाचरन् ॥

(याज्ञ० स्मृ० १।१।१८-२०)

(२) आश्रम-धर्म का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है । द्विजाति की जीवनावधि को चार भागों में विभक्त किया जाता है । इन आश्रमों के यथाक्रम नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वान-प्रस्थ, संन्यास ।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययनादि धर्म माने गये हैं । ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि का निरूपण मनु ने निम्न-लिखित पद्य में किया है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्धिकाद्दिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ (मनु० ३।१)

तीन वेद के अध्ययन के लिए ३६ वर्ष अर्थात् प्रतिवेद के अध्ययन के लिए बारह-बारह वर्षों की अवधि अपेक्षित होती है । अथवा १८ वर्षों तक (प्रतिवेद के अध्ययन के लिए छःछः वर्षों की अवधि), किं वा नौ वर्षों (१ वेद के लिए तीन वर्ष) तक अथवा वेदाध्ययनसमाप्ति-पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए । याज्ञवल्क्य ने कुछ विशेष बतलाया है—

प्रतिवेदम्ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।

ग्रहणान्तिकमित्येके..... ॥ (या० स्मृ० १।३६)

ब्रह्मचर्याश्रम के समापन के अनन्तर द्विजाति के कृत्य का वर्णन याज्ञवल्क्य में निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

गुरवे तु वरन्दस्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥

अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो लक्षणयां स्त्रियमुद्वहेत् ॥

(या० स्मृ० १।५१-५२ क ख)

इसी द्वितीय आश्रम को गृहस्थाश्रम कहा जाता है । इसे गृहस्थाश्रम कहने का कारण मनु के व्याख्याकार कुल्लुकभट्ट ने बतलाया है—

“कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः, गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्” (मन्वर्थ-मुक्तावली-३१२)

इस आश्रम का मुख्य धर्म है—पञ्च-महायज्ञ^१ । इस प्रसङ्ग में मनु का निम्न-लिखित पद्य स्मरणीय है—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथा-विधि ।

पञ्च-यज्ञ-विधानञ्च पक्तिं चान्वहिकीं गृही ॥ (मनु० ३।६७)

पञ्च-महा-यज्ञ तथा अन्यान्य गृहस्थ-धर्म के विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि का अवलोकन करना चाहिए ।

गृहस्थ तथा गार्हस्थ्य का महत्त्व सभी आश्रमियों तथा आश्रमों से अधिक है, जैसा मनु ने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व-जन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

(मनु० ३।७७-७८) इत्यादि ।

इस आश्रम की अवधि^२ आत्म-वार्धक्य-सम्प्राप्ति तथा पौत्रोत्पत्ति आदि मानी जाती है । यद्यपि साधारणतः यह प्रतीत होता है कि पूरी जीवनावधि को समान-समान चार भागों में विभक्त कर प्रथम-भाग को ब्रह्मचर्य में तथा द्वितीय-भाग को गार्हस्थ्य में पर्यवसन्न करना^३ चाहिए, तथापि आयु की अवधि के दुर्ज्ञेय होने के कारण ब्रह्मचर्य की पूर्व-प्रतिपादित षट्त्रिंशद् वर्ष आदि एवं गृहस्थाश्रम की आत्म-वार्धक्य आदि अवधि ही शास्त्र-सिद्ध होती है । अत एव कुल्लुकभट्ट का भी कथन है—

“आयमित्युक्तब्रह्म-चर्य-कालोपलक्षणार्थम्, अनियत-परिमाणत्वादायुषः चतुर्थ-भागस्य दुर्ज्ञानत्वात् । गृहस्थस्तु यदा पश्येत् (मनु० ६।२) इत्य-नियतत्वात् द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्य-कालमेव ॥”

(मन्वर्थ-मुक्तावली-३११)

इस प्रसङ्ग में एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि कुल्लुकभट्ट आदि ने मनु के श्लोक (६।२) में ‘अपत्यस्यैव चापत्यम्’ पाठ मान कर आत्म-वार्धक्य तथा पौत्रो-

१. गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानाम्प्रकृष्ट-धर्म-ख्यापनार्थमृथङ्निर्देशः ।

—मन्वर्थ-मुक्तावली ५।१६९

२. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली-पलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ —मनु. ६।२

३. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।

द्वितीयमायुषो भागं कृत-दारो गृहे वसेत् ॥ —मनु. ४।१

त्पत्ति में समुच्चय सा प्रस्तुत किया है परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि पौत्रोत्पत्ति अनिश्चित है, अतः विकल्प ही मानना चाहिए। मनु के 'अपत्यस्यैव चापत्यम्' में च के स्थान में 'वा' पढ़ना चाहिए, यही मत मिताक्षराकार का भी है—

“अयं च वन-प्रवेशो जराजर्जरं कलेवरस्य जात-पौत्रस्य वा ।
यथाऽऽह मनुः (६।२)—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली-पलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥”

(मिताक्षरा-३।४५)

गृहस्थाश्रम के अनन्तर की अवस्था का नाम 'वान-प्रस्थ' है। वन-प्रवेश करने का प्रकार निम्नलिखित मनु तथा याज्ञवल्क्य के एकवाक्यत्व से स्पष्ट हो जाता है—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥

(मनु० ६।३ क ख)

सुत-विन्यस्त-पत्नीकस्तथा वानुगतो वनम् ।

वान-प्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो ब्रजेत् ॥

(या० स्मृति० ३।४५)

इस आश्रम के धर्म मिताक्षरा (३।४५) में उद्धृत वसिष्ठ-स्मृति में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं—

“वानप्रस्थो जटिलः चीराजिन-वासा न फाल-कृष्टमधितिष्ठेत् (कृष्ट-क्षेत्रस्थोपरि न निवसेत्—मिताक्षरा); अकृष्टं मूल-फलं सञ्चिन्वीत, ऊर्ध्व-रेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयात् ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणकेन (वैदिकेन मार्गेण न लौकिके-नेत्यर्थः—मिताक्षरा) अग्निमाध्याय आहिताग्निः वृक्ष-मूलको दद्यात् देव-पितृ-मनुष्येभ्यः स गच्छेत् स्वर्गमानन्त्यम् ।”

इस आश्रम के धर्म का विशद वर्णन तो मनुस्मृति आदि में देखना चाहिए।

वान-प्रस्थ आश्रम की अवधि राग-क्षय है। इस विषय में मनु का कथन निम्न-निर्दिष्ट है—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ (मनु० ६।३३)

इसकी व्याख्या में कुल्लूक-भट्ट ने स्पष्ट किया है—“अनियतपरिमाणत्वा-दायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वान-प्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । अत एव शङ्खलिखितौ—वन-वासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः पारिव्राज्यम्—इत्याचख्यतुः ।” अतएव विज्ञानेश्वर ने भी कहा है :—“यावता कालेन तीव्र-तपः-शोषित-वपुषो विषय-कषाय-परिपाको

१. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरति इति वन-प्रस्थः, वन-प्रस्थ एव वान-प्रस्थः ।
संज्ञायां दैर्घ्यम्—मिताक्षरा ३।४५

२. ब्रह्म-चारी = ऊर्ध्वरेताः, साग्निः = वैतानाग्नि-सहितः । —मिताक्षरा

भवति पुनश्च मदोद्भवाऽऽशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा....."
(मितान्तरा ३१५६-५७)

इस तृतीय आश्रम के अनन्तर काल में—

‘चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ।’

मनु० ६।३३

इस परिव्राजकाश्रम में केवल ब्राह्मण का अधिकार है। दूसरे मत के अनुसार सभी द्विजातियों का अधिकार माना जाता है (मितान्तरा-३१५६-५७)। प्रव्रजन के बिना मोक्ष के अभाव को मानने वाले मितान्तराकार (३१५५) द्वितीय मत को ही अच्छा समझते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

इस आश्रम के धर्मों का दिग्दर्शन याज्ञवल्क्य के अधोलिखित पद्य में होता है—

सर्वभूतहितः शान्तास्त्रदण्डी सकमण्डलुः ।

एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥

(या० स्मृ० ३।५८)

इस आश्रम-धर्म का सम्बन्ध केवल द्विजातियों से है। साथ ही सभी आश्रमों में व्युत्क्रम नहीं होता है; हाँ, उल्लङ्घन हो सकता है। इस विषय में भागवत के विशिष्ट विचार का अवलोकन डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यकृत ‘The Philosophy of the श्रीमद्भागवत’ (पृ० ३४) में करना चाहिए। श्रीमद्भागवत के विचार का मूल तो मनुस्मृति में ही है, जिसका अन्वेषण मनीषियों के लिए असाध्य नहीं है।

(३) वर्णाश्रम-धर्म का अर्थ है वर्ण-विशेष के आश्रम-विशेष से सम्बद्ध धर्म।
उदाहरणार्थ—

ब्राह्मणो वैश्व-पालाशौ क्षत्रियो वाट-खादिरौ ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ (मनु० २।४५)

आदि को लिया जा सकता है।

(४) गुण-धर्म का अर्थ विज्ञानेश्वर के शब्दों में इस प्रकार किया गया है—
“शास्त्रीयाभिषेकादिगुण-युक्तस्य राज्ञः प्रजा-परिपालनादिः” (मितान्तरा ३१९)

(५) निमित्त-धर्म का अर्थ प्रायश्चित्त होता है।

(६) साधारण-धर्म का वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम् ॥ (मनु० ६।१२२)

१. ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदि
वैतरथा ब्रह्म-चर्यादेव प्रव्रजेत् गृहादा वनादा । जावाल उपनिषत्-४;

और भी देखिए—मन्वर्थ-मुक्तावली ६।३८; तथा मितान्तरा ३१५६-५७ ।

बृहस्पति ने मनु-सम्मत कुछ अन्य साधारण-धर्म का उल्लेख किया है :—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनुताम् ।

एष साधारणो धर्मः चातुर्वर्ण्योऽब्रवीन्मनुः ॥

(बृ० स्मृ० संस्कारकाण्ड, श्लो० ३१३)

याज्ञवल्क्य के अनुसार साधारण-धर्म ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।

दानं धर्मो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्म-साधनम् ॥

(या० स्मृ० १।१२२)

बृहस्पति ने साधारण-धर्म का निर्देश निम्न-निर्दिष्ट पद्य में किया है—

‘दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।

अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्व-साधारणानि तु ॥’

(बृ० स्मृति० संस्कारकाण्ड, श्लो० ४८९)

बृहस्पति ने इस श्लोक के प्रत्येक पद की व्याख्या भी की है, परन्तु उसका उपस्थापन संचित भूमिका में उचित नहीं है। अतः जिज्ञासुओं को संस्कार-काण्ड के श्लोकों (४९० से ५०१ तक) को देखना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि स्मृति का लक्ष्य प्रवृत्त-कर्म का ही विवरण है तो इस का शास्त्रत्व ही लुप्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी प्रबन्ध तभी शास्त्र कहलाने योग्य होता है यदि वह मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय (= मोक्ष) का प्रसाधक हो (शास्त्रत्वं हित-शासनात्)। प्रवृत्त-कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष की अधिगति तो सम्भव ही नहीं है। अतः प्रवृत्त-कर्म का विधान करने-वाला धर्म-शास्त्र वस्तुतः शास्त्र नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि स्मृति में प्रवृत्त-कर्म का प्रतिपादन है तथापि स्मृति का तात्पर्य प्रवृत्त-कर्म में नहीं है अपि तु प्रवृत्त-कर्म के द्वारा चित्त-शुद्धि कर निवृत्ति-मार्ग की अधिगति में ही। अत एव मनु ने कहा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु० २।१)

यदि राग-द्वेष-हीन होकर मनुष्य किसी भी कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह कर्म वस्तुतः प्रवृत्त नहीं है। यदि कथमपि उसे प्रवृत्त भी कहा जाय तब भी उससे निवृत्ति की अधिगति तो निर्बाध ही है। प्रवृत्त-कर्म का अनुष्ठान तो निवृत्त-कर्म की पूर्व-पीठिका है। अतः गीता का भी उपदेश है—

न कर्मणामनारम्भान्नैकर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

स्मृतिकार का भी प्रवृत्त-कर्म के अनुविधान में यही उद्देश्य है। याज्ञवल्क्य ने तो स्पष्ट रूप में कहा है—

इ ज्याचार-दमाहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म-दर्शनम् ॥

(या० स्मृ० १८)

अतः उपर्युक्त आक्षेप निराधार है ।

धर्म-शास्त्र प्रवर्त्तक ऋषि

याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तक ऋषियों का नाम-निर्देश निम्न-लिखित श्लोकों में किया गया है—

मन्वत्रि-विष्णु-हारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।

यमापस्तम्ब-संवर्ताः कात्यायन-बृहस्पती ॥

पराशर-व्यास-शङ्ख-लिखिता दक्ष-गौतमौ ।

शातातपो वशिष्ठश्च धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तकाः ॥ (या० स्मृति० ११४-५)

इसकी व्याख्या में आदित्य-देव ने एक गौतम-सूत्र को उद्धृत किया है—

अत्र 'गौतमः—स्मृतिर्धर्म-शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेताः मनु-विष्णु-दक्ष-ङ्गिरोऽत्रि-बृहस्पत्युशन आपस्तम्ब-गौतम-संवर्त-आत्रेय-कात्यायन-शङ्ख-लिखित-पराशर-व्यास-शातातप-प्रचेतो-याज्ञवल्क्यादयः ।'

(अपरार्कव्याख्या या० स्मृ० ११४-५)

शङ्ख-लिखित के कथनानुसार धर्मशास्त्र-प्रणेताओं की सूची निम्न-लिखित है—

"तथा च शङ्ख-लिखितौ—स्मृतिर्धर्म-शास्त्राणि; तेषाम्प्रणेताः मनु-विष्णु-यम-दक्ष-ङ्गिरोऽत्रि-बृहस्पत्युशन-आपस्तम्ब-वसिष्ठ-कात्यायन-पराशर-व्यास-शङ्ख-लिखित-संवर्त-गौतम-शातातप-हारीत-याज्ञवल्क्य-प्राचेतसादयः" ।

(वीरमित्रोदय या० स्मृ० ११४-५; तथा वी० मि० परिभाषाप्रकाश पृ० १६) परन्तु बालम्भट्टी में 'शंखश्च' प्रतीक के अन्तर्गत जो उद्धरण है उसमें मनु, विष्णु, यम, दक्ष तथा अङ्गिरा का उल्लेख नहीं है । प्राचेतसादयः में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से ग्राह्य ऋषियों का विवरण बालम्भट्टी में इस प्रकार है—

"आदिना बुध-देवल-सुमन्तु-जमदग्नि-विश्वामित्र-प्रजापति-पैठीनसि-पितामह-बौधायन-च्छागलेय-जाबाल-च्यवन-मरीचि-कश्यपाः ॥" (बालम्भट्टी पृ० ९)

देवल का निर्देश इस प्रकार है—

मनुर्यमो वशिष्ठोऽत्रिर्दक्षो विष्णुस्तथाऽङ्गिराः ।

उशना वाक्पतिर्व्यास आपस्तम्बोऽथ गौतमः ॥

कात्यायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशरः ।

सम्बर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितस्तथा ॥ (बालम्भट्टी पृ० ९)

१. वर्त्तमान गौतम-धर्म-शास्त्र में यह अंश उपलब्ध नहीं है ।

२. कृत्य-रत्नाकर में 'सोम' का नाम इससे अधिक है । कु० २० पृ० २९

३. कृत्य-रत्नाकर (पृ. २९) में 'यमः' प्रतीक के अन्दर ये ही श्लोक अविकल रूप में दिये गए हैं ।

मार्कण्डेय-स्मृति में मनु, गौतम, कश्यपादि, पराशर, वेद-व्यास, शङ्ख, लिखित तथा कात्यायन का निर्देश किया गया है।

(मा० स्मृ० स्मृति-सन्दर्भ भाग ६, पृ० ६३, कलकत्ता)

‘चतुर्विंशतिमत’ में याज्ञवल्क्य-निर्दिष्ट २० ऋषियों में से कात्यायन तथा लिखित को छोड़कर अन्य १८ तथा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र एवं शंख (शांखायन ?) का निर्देश है।

(म० म० काणे-‘Hisoty of Dharmashashta’ पृ० १३३)

आपस्तम्बने १० धर्म-शास्त्राचार्यों का निर्देश किया है—एक (किसी ऋषि-विशेष के लिए निर्दिष्ट है), कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्णेगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। बौधायन ने हारीत के साथ-साथ औपजङ्घनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु तथा मौद्गल्य का उल्लेख किया है।

(Introduction to the बृहस्पतिस्मृति, P. 88, Footnote-2)

भारद्वाजस्मृति में भी दिग्दर्शन-क्रम में निम्नलिखित ऋषियों का उल्लेख किया गया है—

भृगुरन्निर्वसिष्ठश्च शाण्डिल्यो रोहितः क्रतुः ।
हरितो (हारीतो ?) गौतमो गर्गः शङ्खः कालातपोऽङ्गिराः ॥
मार्कण्डेयश्च माण्डव्यः कपिलो नारदः शुकः ।
जमदग्निर्याज्ञवल्क्यो विश्वामित्रः पराशरः ॥
एते वाऽन्येपि मुनयो धर्मज्ञा धर्म तत्पराः ॥

(भा० स्मृ० १।३-५)

पराशर-स्मृति का विवरण भी निम्न-लिखित है—

श्रुता मे मानवा धर्माः वासिष्ठाः काश्यपास्तथा ।
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा चौशनसाः स्मृताः ॥
अत्रेर्विष्णोश्च संवर्त्तद्दत्तादाङ्गिरसस्तथा ।
शातातपाश्च हारीतात् याज्ञवल्क्यात्तथैव च ॥
आपस्तम्बकृता धर्माः शङ्खस्य लिखितस्य च ।
कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः ॥

(पराशरस्मृति-१।१२-१६।)

गरुड-पुराण (९३।४-६) में याज्ञवल्क्य के स्थान में अहम् (= गरुड) को रखकर अतिरिक्त ऋषियों का निर्देश याज्ञवल्क्य-स्मृति के समान ही किया गया है। अग्निपुराण में तो याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही (यत्र तत्र क्रम-परिवर्तन के साथ) रूपान्तर मिलता है—

मनुर्विष्णुर्याज्ञवल्क्यो हारीतोऽत्रिर्यमोऽङ्गिराः ।
वसिष्ठ-दत्त-संवर्त्त-शातातप-पराशराः ॥
आपस्तम्बोशनो-व्यासाः कात्यायन-बृहस्पती ।
गौतमः शङ्ख-लिखितौ धर्ममेते यथाऽब्रुवन् ॥

(अग्निपुराण-अ० १६२, श्लो० १-२)

वर्त्तमान संगृहीत बृहस्पति-स्मृति (बड़ौदा) में यथावसर मनु (पृ० १९, ३९, ८४ आदि), गौतम (पृ० २०८), कात्यायन (पृ० १०६), उशना (पृ० ३०१), बृहस्पति (पृ० ३०१, ५५० आदि), अङ्गिरा (पृ० ३७८), आपस्तम्ब (पृ० ३७८), गर्ग (पृ० २८३), जीव (पृ० २६२), देवेन्द्रगुरु (२८९), पञ्च-शिख (पृ० २३१), पराशर (२३३), पाराशर (पृ० ३२६), पितामह (पृ० ९१), प्रजापति (पृ० ३५८), भार्गव (पृ० २३३), वसिष्ठ (पृ० १०३), व्यास (पृ० ३२०), शंख-लिखित (पृ० २३३), शाकटायन (पृ० ३६३), शौनक (पृ० २२७), स्वयम्भू (पृ० ३०४ आदि) तथा भृगु (पृ० ६६) का निर्देश किया गया है । इन नामों में कुछ का पर्यायत्व भी सम्भावित है । जैसे—बृहस्पति, जीव, देवेन्द्र-गुरु शब्द प्रायशः एक ही व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट हुए हैं । इसी प्रकार पितामह तथा प्रजापति शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं । परन्तु निर्णीत रूप में कुछ कहना कठिन है ।

पैठीनसि ने ३६ स्मृतिकारों का निर्देश किया है—

तेषां मन्वङ्गिरो-व्यास-गौतमाऽयुशनो-यमाः ।
वसिष्ठ-दक्ष-संवर्त्त-शातातप-पराशराः ॥
विष्णवापस्तम्ब-हारीताः शङ्खः कात्यायनो भृगुः ।
प्रचेता नारदो योगी बौधायन-पितामहौ ॥
सुमन्तुः कश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च ।
सत्य-व्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः कार्णाजिनिस्तथा ॥
जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्म-सम्भवः ।
इति धर्म-प्रणेतारः षट्त्रिंशद्विंशस्तथा ॥

(स्मृति-चन्द्रिका पृ० १, वी० मि० परि० प्र० पृ० १५)

ये छत्तीस ही स्मृतियाँ हैं या स्मृति-कार हैं ऐसी बात नहीं है । यह तो उप-लक्षण है । अतः स्मृतिचन्द्रिकाकार का कथन है—

“ननु चेयम् परिसंख्या ? मैवम् ; तथा सति वत्स-मरीचि-देबल-पारस्कर-क्रतु-ऋष्यशृङ्ग-शिखर-छागलेयात्रेयादीनां धर्म-शास्त्र-प्रणेतृत्वं न स्यात्” ।

(स्मृ० च० पृ० १)

वीर-मित्रोदय में प्रयोग-पारिजात के कुछ श्लोक उद्धृत हुए हैं जिनमें ३६ स्मृतियों का वर्गीकरण स्मृतियों तथा उपस्मृतियों में हुआ है—

मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोऽथ यमोऽङ्गिराः ।
योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातप-पराशरौ ॥
संवर्त्तोऽशनसौ शङ्ख-लिखितावन्निरेव च ।
विष्णवापस्तम्ब-हारीता धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तकाः ॥
एते ह्यष्टादश प्रोक्ताः मुनयो नियत-व्रताः ।
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षि-काश्यपौ ॥
व्यासः सनत्कुमारश्च सुमन्तुश्च पितामहः ।

व्याघ्रः काष्णाजिनिश्चैव जातृकर्णः कपिञ्जलः ॥
 बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।
 पंटीनसिर्गोभिलश्च उपस्मृति-विधायकाः ॥

यद्यपि उपस्मृति-विधायकों की नामावली का उपसंहार यहीं प्रतीत होता है तथापि और भी २१ स्मृति-कारों का नाम-निर्देश तीन श्लोकों में किया गया है—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।
 वश्रः काष्णाजिनिः सत्य-व्रतो गार्ग्यश्च देवलः ॥
 जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
 आत्रेयः छागलेयश्च मरीचिर्वत्स एव च ॥
 पारस्कर-ऋष्यशृङ्गौ वैजवापस्तथैव च ।
 इत्यन्ये स्मृति-कर्तार एकाविंशतिरीरिताः ॥

यद्यपि याज्ञवल्क्य-स्मृति (श्लोक० ११४-५) की व्याख्या में मित्र-मिश्र इन स्मृतियों को स्पष्टतः उपस्मृति नहीं कहते हैं तथापि 'परिभाषा-प्रकाश' (पृ० १८) में इन सभी श्लोकों के बाद "एते एवोपस्मृतिकर्तारो मदनरने-प्युक्ताः" कह कर इन सब को उपस्मृति मानने के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं । परन्तु 'जाबालिर्नाचिकेतश्च' आदि में परिगणित सुमन्तु, पितामह तथा काष्णा-जिनि का 'वसिष्ठो नारदश्चैव' आदि श्लोकों द्वारा परिगणित २१ स्मृति-कर्त्ताओं में पुनर्ल्लेख है । अतः उपस्मृतिकारों की संख्या ३६ होनी चाहिए । एक ही स्थान में पुनर्वक्ति का आधार समझ में नहीं आता !

किन्तु उपर्युक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है, इसे केवल दिग्दर्शक समझना चाहिए, कारण इनके अतिरिक्त स्मृतिकारों का भी उल्लेख धर्मशास्त्र-निबन्धों में मिलता है । उदाहरणार्थ 'निर्णयसिन्धु' में लग-भग १२५ से भी अधिक स्मृति-कारों के वचन उद्धृत हैं । भविष्यपुराण में भी स्मृतियों की संख्या का निर्देश अस्पष्ट रूप में स्मृतियों के आनन्त्य का ही प्रतिपादक प्रतीत होता है । 'स्मृति-मुक्ताफल' में तो ८८००० ऋषियों को धर्मप्रवर्त्तक बतलाया गया है—

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावर्त्तिनो बीज-भूताः धर्म-प्रवर्त्तकाः ॥ (स्मृति-मुक्ताफल, पृ० ८)

इस विचित्र परिस्थिति में सभी स्मृतिकारों का नाम-निर्देश तो असम्भव-प्रायः ही है । डा० काणे ने स्मृति-परस्परा का यथासम्भव विशद वर्णन अपने ग्रन्थ 'History of Dharma-Shastra' में किया है । इस ग्रन्थ से बहुत स्मृति-कारों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति

(क) याज्ञवल्क्य परिचय

याज्ञवल्क्य-स्मृति शब्द से साधारणतः यह प्रतीत होता है कि यह स्मृति याज्ञवल्क्य के द्वारा बनाई हुई है । महाभारत के शान्तिपर्व के ३१२वें अध्याय

में, शतपथब्राह्मण (१४।१।४।३३) तथा भागवत (१०।६।१-७४) में यह बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य थे। वैशम्पायन से उन्होंने विद्या-ग्रहण, विशेषतः यजुर्वेद का अध्ययन, किया था। परन्तु एक समय गुरु-शिष्य में मतभेद के कारण याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु की विद्या को वान्त (Vomitted) कर दिया और पुनः भगवान् सूर्य की आराधना कर मध्याह्नकाल में सूर्य से यजुर्वेद का अध्ययन किया। इसी यजुर्वेद को 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा मध्यदिन में सूर्य से अधिगत होने से 'माध्यन्दिन-संहिता' भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह जनक के गुरु के रूप में भी याज्ञवल्क्य का वर्णन विस्तृत रूप में पाया जाता है। बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय में यह बतलाया गया है कि विदेह जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेशों के ब्रह्म-ज्ञानियों को आमन्त्रित किया था। सभी के उपस्थित होने पर जनक ने उन सब के समक्ष अपना विज्ञापन किया— "यो वो ब्रह्मिष्ठः स एताः गाः उदजताम्"। जनक के विज्ञापन को सुन कर सभी मौन हो गए थे। कुछ समय के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से उन गायों को ले जाने के लिए कहा। इस पर सभी क्रुद्ध हो गये और याज्ञवल्क्य के साथ इन सबों का क्रमशः शास्त्रार्थ (ब्रह्म के विषय में) हुआ। इस शास्त्रार्थ का स्वरूप वस्तुतः 'जल्प' (विजिगीषुद्वयस्य कथा जल्पः) था। जैसा कि जल्प के लक्षण से ही स्पष्ट है, इस कथा में उचित-अनुचित का विवेक नहीं सा रहता है। याज्ञवल्क्य भी इस अपकर्ष से रहित नहीं रह सके। उन्हें भी समय-समय पर त्रास-प्रदर्शन, शाप-दान आदि करना पड़ा। इन्हीं अपकर्षों के कारण विद्यारण्य स्वामी ने अपने जीवनमुक्ति-विवेक (पृ० २५७-२६२) में याज्ञवल्क्य के विषय में यह उपसंहार किया है—

"तस्मात् किम्बहुना ? ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्त्येव मलिन-वासनाऽ-नुवृत्तिः ।" (जी० मु० वि० पृ० २६२)

(ख) प्रकृत स्मृति का कर्त्ता

प्रकृत स्मृति के कर्त्ता उपर्युक्त याज्ञवल्क्य ही हैं या कोई अन्य व्यक्ति—यह प्रश्न कुछ जटिल सा है। प्राचीन परम्परा के अनुसार बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य ही इस स्मृति के प्रणेता माने जाते हैं। आदित्य देव ने लिखा है—“अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्यः प्रणेतेति व्याख्यातृणां स्मृतिरेव प्रमाणम्” (अपराक १११)। याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी एक श्लोक है जो स्पष्टतः इस स्मृति के कर्त्ता के रूप में बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य को ही प्रस्तुत करता है—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ।

योग-शास्त्रञ्च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ (या० स्मृ० ३।११०)

परन्तु मिताक्षराकार ने प्रथम श्लोक के अवतरण में लिखा है—“याज्ञवल्क्य-शिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्य-प्रणीतं धर्म-शास्त्रं कथयामास”। इस कथन

१. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य भूयान् विषामदः । तैः सर्वैरपि विजिगीषु-कथायाम्प्रवृत्तत्वात् । —जीवनमुक्तिविवेक पृ. २५७ (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला)

के आधार पर प्रा० काणे इस स्मृति को याज्ञवल्क्य-प्रणीत नहीं मानते । उनकी दृष्टि में उपर्युक्त 'ज्ञेयं चारण्यकम्' आदि श्लोक भी रचयिता का कपट-प्रबन्ध मात्र सा प्रतीत होता है । प्रा० काणे ने अपने मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

This (ज्ञेयं चारण्यकमहम्) is simply put in to glorify the याज्ञवल्क्य-स्मृति as the work of a great and ancient Sage, Philosopher and Yogin. From the style and doctrines of the स्मृति it is impossible to believe that it was the work of the same hand that gave to the world the उपनिषद् containing the boldest philosophical speculation couched in the simplest yet the most effective language. Even orthodox Indian opinion was not prepared to admit the unity of authorship in the case of the स्मृति and the आरण्यक.

(History of Dharmas'āstra, P. 169, Vol. I)

यद्यपि मेरा दुराग्रह नहीं है कि प्राचीन-परम्परा ही सत्य है, तथाऽपि डा० काणे द्वारा उपस्थापित युक्तियों में कुछ प्रबलता नहीं देख पड़ती है । यदि याज्ञवल्क्य से भिन्न किसी व्यक्ति की यह रचना है तो उस व्यक्ति का नाम इस स्मृति से सर्वथा विलुप्त क्यों हो गया—यह एक समस्या हो जाती है । किसी प्रबल कारण के अभाव में अपनी रचना को दूसरे महा-पुरुष के नाम से प्रसिद्ध कराने में लेखक की प्रवृत्ति को मनो-विज्ञान से समर्थन नहीं सा मिलता है । भाषा के आधार पर दोनों में भेद मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से भाषा का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है न कि देश से । अवस्था-भेद के अनुसार एक व्यक्ति की भाषा तथा रीति में परिवर्तन के उदाहरण भी कम नहीं हैं । यदि विज्ञानेश्वर के कथनानुसार याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य को ही इस स्मृति का प्रणेता मान लिया जाय तब भी श्रद्धेय प्रा० काणे द्वारा अभिप्रेत भाषा-तारतम्य, रीति-तारतम्य तथा वस्तु-तारतम्य का उचित समाधान प्रायशः असम्भव ही है । दूसरी बात यह भी है कि स्वयम् विज्ञानेश्वर भी इस विषय में व्यामुग्ध (Confused) से प्रतीत होते हैं कि इस स्मृति के प्रणेता कौन हैं । पहले तो उन्होंने मान लिया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने इस स्मृति की रचना की थी, परन्तु ४-५ श्लोकों की व्याख्या में उन्होंने दो बार "याज्ञवल्क्य-प्रणीतस्य" तथा "याज्ञवल्क्य-प्रणीतम्" कहा है । एवञ्च विज्ञानेश्वर के आधार पर कुछ निर्णय करना तो वाञ्छनीय नहीं होना चाहिये । इसके अतिरिक्त आचाराध्याय के द्वितीय श्लोक में— "मिथिलास्थः स योगीन्द्रः" कहा गया है जिससे भी प्राचीन-परम्परा का ही समर्थन होता है । सभी श्लोकों को प्रक्षिप्त या विक्षिप्त मान कर कुछ निर्णय कर लेना कहाँ तक न्याय्य है—यह विचारणीय है ।

अतः जब तक कुछ सङ्केत न मिले तब तक केवल हेत्वाभास के आधार पर ही निगमन नहीं करना चाहिए प्रत्युत इस स्मृति के कर्ता के विषय में उपस्थित

समस्या का उपसंहार सन्देह में ही करना उचित है। योगि-याज्ञवल्क्य भादि, प्राचीन की दृष्टि में, इस याज्ञवल्क्य से अभिन्न परन्तु नवीनों की दृष्टि में भिन्न, माने जाते हैं।

(ग) याज्ञवल्क्य स्मृति की श्लोक-संख्या

याज्ञवल्क्य-स्मृति की श्लोक-संख्या के विषय में विश्वरूपाचार्य, विज्ञानेश्वर तथा अपरादित्य का मत एक नहीं है। विश्वरूप के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति में १००३, विज्ञानेश्वर के मत में १००९ और अपरादित्य की व्याख्या में १००६ श्लोक पाये जाते हैं। व्याख्याओं में अनुपलब्ध परन्तु कुछ मूल पुस्तकों में उपलब्ध—“श्लोकानामपि विज्ञेयं सहस्रं चतुस्तरम्” के आधार पर तो मूल-श्लोकों की संख्या १००४ प्रतीत होती है। मित्र-मिश्र ने विज्ञानेश्वर का ही अनुसरण किया है। शूलपाणि ने अपनी व्याख्या में १०१० श्लोक माने हैं।

व्याख्यात श्लोकों में विषमता के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी श्लोक हैं जिनका सङ्केत केवल मूल पुस्तक में है, किसी भी व्याख्या में नहीं। उदाहरणार्थ, आचाराध्याय में और भी कुछ श्लोक अधिक उपलब्ध होते हैं—२३३ एवं २३४ श्लोकों के मध्य में अर्ध-श्लोक है—“अपहता इति तिलान् विकीर्य च समन्ततः।” इसी प्रकार ३०८ तथा ३०९ श्लोकों के मध्य में एक श्लोक है—

ग्रहाणामिदमातिथ्यं कुर्यात् संवत्सरादपि।

आरोग्य-बल-सम्पन्नो जीवेत्स शरदः शतम् ॥

व्यवहाराध्याय के अन्त में भी मूल पुस्तक में निम्न-लिखित तीन श्लोक अधिक हैं—

(१) राजभिर्दत्त-दण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

(२) एवमुद्धृतदण्डानां विशुद्धिः पापकर्षिणाम्।

स्व-धर्म-स्थापनाद्वाजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते ॥

(३) यत्र दण्ड-विधिर्नोक्तः सर्वेरेव महात्मभिः।

देश-कालादि सञ्चिन्त्य तत्र दण्डो विधीयते ॥

इसी प्रकार प्रायश्चित्ताध्याय के अन्त में भी कुछ श्लोक पाये जाते हैं—

(१) विप्रेष्वपि विशेषेण धार्या वाजसनेयिकैः।

इच्छद्भिः श्रेयसि फलमिह लोकै परत्र च ॥

(२) यद्वाप्तं मया देवादादित्याद्वै सनातनात्।

तद्वै सर्वमिदमोक्तं श्रुति-स्मृत्यभिसम्मतम् ॥

(३) निःश्रेयस-करं नृणां शास्त्रं देवर्षि-सेवितम्।

ज्ञात्वा ये ह्यध्यवस्यन्ति तेऽन सयान्ति वै पुनः ॥

(ये तीन श्लोक मितान्तारा के ३२७ तथा ३२८ श्लोकों के मध्य में पाये जाते हैं।)

(४) धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ॥
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी चाप्नुयात् प्रजाम् ॥

(यह श्लोक मिताक्षरा के ३३० तथा ३३१ के बीच में पाया जाता है ।)

(५) निजित्य वादे देवान् वै ऋषीन् सर्वानुपस्थितान् ।
गा बोधेनाहतास्तस्मै नमो ब्राह्मण-हेतवे ॥

(६) अध्याय-त्रय-संक्षिप्तं सर्वेषां बुद्धि-वर्धनम् ।
अनुष्टुप्छन्दसा ह्येतत् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ॥

(७) सर्व-पाप-हरं पुण्यं सुप्रसन्नं समञ्जसम् ।
श्लोकानामपि विज्ञेयं सहस्रं चतुरन्तरम् ॥

(८) आदित्यस्य प्रसादेन प्राप्तवान् यो यजुर्गणम् ।
प्रणमेष्टाज्ञवल्क्यं तं पिप्पलादगुरोरलम् ॥

(ये श्लोक सर्वान्त में पाये जाते हैं ।)

यद्यपि कुछ श्लोक तो स्पष्टतः अनावश्यक प्रतीत होते हैं तथापि मूल पुस्तक में उपलब्ध होने के कारण यहाँ उल्लिखित हुए हैं ।

श्लोक-संख्या में वैमत्य के अतिरिक्त पाठान्तर तो बहुत ही हैं (विशेषतः बालक्रीडा मिताक्षरा तथा अपरार्क में) । यद्यपि प्राचीन (निर्णयसागर के) मिताक्षरा-संस्करण में पाठान्तरों का कुछ निर्देश था तथापि प्रस्तुत संस्करण में उसका लोप ही कर दिया गया । इसका कारण प्रकाशक तथा हिन्दी-न्याख्याता ही जानते हैं । म० म० पी० वी० काणे ने कुछ पाठान्तरों का विवेचन भी प्रस्तुत किया है । जिज्ञासुओं को इसके लिए उनका 'History of Dharma-Shastra' देखना चाहिए ।

याज्ञवल्क्य स्मृति का विषय-विवरण

सम्पूर्ण याज्ञवल्क्य स्मृति तीन अध्यायों से विभक्त है—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय ।

प्रथम आचाराध्याय में १३ प्रकरण हैं—(१) उपोद्धात-प्रकरण (श्लो० १-९), (२) ब्रह्मचारि-प्रकरण (श्लो० १०-५०), (३) विवाह-प्रकरण (श्लो० ५१-८९), (४) जाति-वर्ण-विवेक-प्रकरण (श्लो० ९०-९६), (५) गृहस्थ-धर्म-प्रकरण (श्लो० ९७-१२८), (६) स्नातक-व्रत-प्रकरण (श्लो० १२९-१६६), (७) भक्ष्याऽभक्ष्य-प्रकरण (श्लो० १६७-१८१), (८) द्रव्य-शुद्धि-प्रकरण (श्लो० १८२-१९७), (९) दान-धर्म-प्रकरण (श्लो० १९८-२१६), (१०) श्राद्ध-प्रकरण (श्लो० २१७-२७०), (११) गण-पति-कल्प-प्रकरण (श्लो० २७१-२९४), (१२) ग्रह-शान्ति-प्रकरण (श्लो० २९५-३०८), (१३) राज-धर्म-प्रकरण (श्लो० ३०९-३६८) ।

द्वितीय व्यवहाराध्याय है । व्यवहार शब्द का व्युत्पत्तिभ्य अर्थ वीर-
मित्रोदय में उद्धृत कात्यायन के अनुसार निम्न-लिखित है—

विर्नाऽर्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्यते ।

नाना-सन्देह-हरणाद् व्यवहार इति स्मृतः ॥

बृहस्पति ने व्यवहार शब्द का अर्थ अधोलिखित रूप में बतलाया है—

शास्त्रं केवलमाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः ।

व्यवहारः स विज्ञेयः..... ॥

(बृ० स्मृ० पृ० ४, श्लो० १९)

विज्ञानेश्वर की व्याख्या सचों से स्पष्टतम है—

‘अन्य-विरोधेन स्वात्म-सम्बन्धितया कथनं व्यवहारः । यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि
मदीयमिति कथयति अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति ॥’ (मिताक्षरा० २११)

इस अध्याय में २५ प्रकरण हैं, जिनका निर्देश इस प्रकार है—

(१) साधारण-व्यवहार-मातृका-प्रकरण (श्लो० १-८),

(२) अ-साधारण-व्यवहार-मातृका-प्रकरण (श्लो० ९-३६),

(३) ऋणादान-प्रकरण (श्लो० ३७-६४),

(४) उपनिधि (A sealed deposit) प्रकरण^१ (श्लो० ६५-६७),

(५) साक्षि- (Witness) प्रकरण (श्लो० ६८-८३),

(६) लेख्य- (Written document) प्रकरण (श्लो० ८४-९४),

(७) दिव्य- (Ordeal) प्रकरण (श्लो० ९५-११३),

(८) दाय-विभाग (Partition of Inheritance) प्रकरण (श्लो०
११४-१४९),

(९) सीमा-विवाद- (Settlement of disputed boundary questions)
प्रकरण (श्लो० १५०-१५८),

(१०) स्वामि-पाल- (The owner and the keeper of cattle)
विवाद-प्रकरण (श्लो० १५९-१६७),

(११) अ-स्वामि-विक्रय-प्रकरण^२ (श्लो० १६८-१७४),

(१२) दत्ताऽप्रदानिक- (Non-delivery or resumption of gifts)
प्रकरण (श्लो० १७५-१७६),

(१३) क्रीतानुशय- (Returning a thing purchased to the seller)
प्रकरण (श्लो० १७७-१८१),

१. यथाह नारदः— असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं (Sealed) यन्निधीयते ।

तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥

मिताक्षरा० २१६५॥

२. तस्य च लक्षणं नारदेनोक्तम्—

निक्षिप्तं वा पर-द्रव्यं नष्टं लब्ध्वाऽपहृत्य वा ।

विक्रीयतेऽसमक्षं यत्र स होयोऽस्वामिविक्रयः । मिता० २१६८ ॥



(१४) अभ्युपेक्षाशुश्रूषा-(Negligence of promised service) प्रकरण (श्लो० १८२-१८४),

(१५) संविद्व्यतिक्रम-(Breach of contract) प्रकरण (श्लो० १८५-१९२),

(१६) वेतनादान-प्रकरण (श्लो० १९३-१९८),

(१७) छूत-समाह्वय^१-(Gambling) प्रकरण (श्लो० १९९-२०३),

(१८) वाक्पारुष्य-(Defamation) प्रकरण (श्लो० २०४-२११),

(१९) दण्ड-पारुष्य-(Assault) प्रकरण (श्लो० २१२-२२९),

(२०) साहस-(Aggressive act) प्रकरण (श्लो० २३०-२५३),

(२१) विक्रीयाऽसम्प्रदान-(Non-delivery of the sold) प्रकरण (श्लो० २५४-२५८),

(२२) सम्भूय-समुत्थान-(joint dealing) प्रकरण (श्लो० २५९-२६५),

(२३) स्तेय (Theft) प्रकरण (श्लो० २६६-२८२),

(२४) स्त्री-संग्रहण-(Seduction) प्रकरण (श्लो० २८३-२९४) तथा,

(२५) प्रकीर्णक-(Miscellany) प्रकरण (श्लो० २९५-३०७) ।

प्रायश्चित्ताध्याय में ५ प्रकरण हैं—

(१) अशौच-प्रकरण (श्लो० १-३४), (२) आपद्धर्म-प्रकरण (श्लो० ३५-४४), (३) वानप्रस्थ-धर्म-प्रकरण (श्लो० ४५-५५), (४) यति-धर्म-प्रकरण (श्लो० ५६-२०५), (५) प्रायश्चित्त-प्रकरण (श्लो० २०६-३३४) ।

प्रायश्चित्त-प्रकरण में महा-पातक उप-पातक आदि का स्वरूप-निर्देश तथा प्रायश्चित्त-विधान आदि दिए गए हैं ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति का महत्त्व

पूर्व-निर्दिष्ट सभी धर्म-शास्त्र-प्रवर्तक-सूचियों में मनु के सर्व प्रथम निर्देश होने के कारण यह तो स्पष्ट है कि स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है । इसी लिए बृहस्पति का कथन है—

वेदार्थ-प्रतिबद्धत्वात् प्रामाण्यन्तु मनोः स्मृतम् ।

मन्वर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥

(बृ० स्मृ० सं० का० श्लो० १३)

अङ्गिराने भी मनु को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है—

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तन्धर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।

न हि तत्समतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः ॥

(Dr. Jha : Hindu Law in its Sources, P. 44)

उपर्युक्त बृहस्पति-वाक्य से यह स्पष्ट है कि किसी भी स्मृति को प्रतिष्ठित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनु के मत से समर्थित हो । प्रकृत याज्ञवल्क्य-स्मृति भी आद्यन्त मनु के मत से ओत-प्रोत है । नीचे कुछ श्लोक मनु-स्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति के दिये जाते हैं जहाँ केवल अर्थ-साम्य ही नहीं अपि तु शब्द-साम्य भी है—

मनु-स्मृति

- (१) वेदः स्मृतिः सदाचारः
स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधग्राहुः
साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।

२१२॥

- (२) निषेकादिश्मशानान्तो
मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥

२१६॥

- (३) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

२१६॥

- (४) आषोडशाद्ब्राह्मणस्य
सावित्री नातिवर्त्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोः
आचतुर्विंशतेर्विशः ॥
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते
यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्री-पतिताः ब्राह्म्याः
भवन्त्यार्य-विगर्हिताः ॥

२१८-२९॥

- (५) न स्कन्दते न व्यथते
न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्नि-होत्रेभ्यो
ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ।

७८४॥

- (६) अलब्धञ्चैव लिप्सेत
लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव
वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन
लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या
वृद्धयं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ७९९, १०१

याज्ञवल्क्य-स्मृति

- (१) श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः
स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक्संकल्पजः कामो
धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

१७॥

- (२) निषेकाद्याः श्मशानान्ताः
तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ॥

१११०॥

- (३) गर्भाऽष्टमेऽष्टमे वाब्दे
ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥

१११४॥

- (४) आ-षोऽशादाद्वाविंशात्
चतुर्विंशाच्च वत्सरात् ॥
ब्रह्म-क्षत्र-विशां काल
औपनायनिकः परः ॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते
सर्वधर्म-बहिष्कृताः ।
सावित्री-पतिताः ब्राह्म्याः
ब्राह्म्यस्तोमाहते क्रतोः ॥

११३७-३८ ॥

- (५) अस्कन्नमग्न्यथञ्चैव
प्रायश्चित्तरदूषितम् ॥
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ
हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥

११३९॥

- (६) अलब्धमीहेद्धर्मेण
लब्धं यत्नेन पालयेत् ।
पालितं वर्धयेद्धीर्या
वृद्धप्रात्रेषु निक्षिपेत् ॥

११३१०॥

याज्ञवल्क्य-स्मृति में किये गये मनु-स्मृति के संक्षेप के कुछ निदर्शन निम्न-लिखित हैं—

म० स्मृ०

- (१) प्राज्ञाभिवर्धनात् पुंसो
जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य
हिरण्य-मधु-तर्पिषाम् ॥
नामधेयं दशम्यान्तु
द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा
नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥
चतुर्थे मासि कर्त्तव्यम्
शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि
यथेष्टं मङ्गलं शुभे ॥
चूडाकर्म द्विजातीनां
सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽन्दे तृतीये वा
कर्त्तव्यं श्रुति-चोदनात् ॥

२।२९-३०, ३४-३५ ॥

- (२) हीन-जाति-स्त्रियं मोहात्
उद्धन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु
स-सन्तानानि शूद्रताम् ॥
शूद्रां शयनमारोप्य
ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥
जनयित्वा सुतं तस्यां
ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ ३।१५, १७ ॥

- (३) सुवासिनीः कुमारीश्च
रोगिणी गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्
भोजयेद्विचारयन् ॥
भुक्तवत्स्वथ त्रिप्रेषु
स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चात्
अवशिष्टम् दम्पती ॥ ३।११४, ११५ ॥

या० स्मृति०

- (१)एते जातकर्म च ॥
अहन्येकादशे नाम
चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।
षष्ठेऽन्न-प्राशनं मासि
चूडा कार्या यथाकुलम् ॥

१।११-१२ ॥

- (२) यदुच्यते द्विजातीनां
शूद्रादारोपसंग्रहः ।
नैतन्मम मतं यस्मात्
तत्रायं जायते स्वयम् ॥ १।५६ ॥

- (३) बालः स्ववासिनी-वृद्ध-
गर्भिण्यातुर-कन्यकाः ।
सम्भोज्यातिथि-भृत्याश्च
दम्पत्योः शेष-भोजनम् ॥ १।१०५ ॥

स्थल-विशेष में याज्ञवल्क्य में मनु के मत का कुछ परिष्कार भी किया गया है। उसके कुछ दृष्टान्त अधो-लिखित हैं—

म० स्मृ०

- (१) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत
ब्राह्मणस्योपनायनम् । २।३६
- (२) एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्यात्
८।७७॥
- (३) अकामतः कृतम्पापं
वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्
प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ११।४६॥
- (४) रेतः-सेकः स्वयोनीषु
कुमारीष्वन्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु
गुरुतरूपसमं विदुः ॥ ११।५८॥

या० स्मृ०

- (१) गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे
ब्राह्मणस्योपनायनम् । १।१४॥
- (२) उभयानुमतः साक्षी
भवत्येकोऽपि धर्मवित् । २।७२॥
- (३) प्रायश्चित्तैरपेत्येनो
यदज्ञानकृतम्भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु
वचनादिह जायते ॥ ३।२२६॥
- (४) सखि-भार्या-कुमारीषु
स्वयोनिष्वन्यजासु च ।
सगोत्रासु सुत-स्त्रीषु
गुरुतरूप-समं स्मृतम् ॥
पितुः स्वसारं मातुश्च
मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीम्
आचार्य-तनयां तथा ॥
आचार्य-पत्नीं स्व-सुतां
गच्छंस्तु गुरु-तरूपगः ॥

३।२३१-३३॥

कुछ स्थान में मनु से साधारण वैमत्य भी है। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म-हत्या-सम' तथा 'सुरा-पान-सम' कार्यों में मनु तथा याज्ञवल्क्य के परस्पर विभिन्न कथन को देखें—

म० स्मृ०

- (१) अनृतं च समुत्कर्षे
राज-गामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीक-निबन्धः
समानि ब्रह्म-हत्याया ॥ ११।५५॥
- (२) ब्रह्मोज्झता वेद निन्दा
कौट-सापयं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाघयोर्जगिषः
सुरापान-समानि च ॥ ११।५६॥

या० स्मृ०

- (१) निषिद्ध-भक्षणं जैह्वथम्
उत्कर्षे च वचोऽनृतम् ।
रजस्वला-मुखास्वादः
सुरापान-समानि तु ॥ ३।२२९॥
- (२) गुरुणामध्यधिषेपो
वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।
ब्रह्म-हत्या समं श्रेयम्
अधीतरश्च वासानम् ॥ ३।२२८॥

इतनी समता या साधारण-विषमता के अतिरिक्त दोनों में असाधारण विषमता भी धूत-समाह्वय-प्रायश्चित्त आदि में स्पष्ट उपलब्ध है। परन्तु देश-काल के अनुसार ही याज्ञवल्क्य-स्मृति में यह परिवर्तन हुआ है—यही प्रतीत होता है। अतः परमार्थतः याज्ञवल्क्य-स्मृति को मनुस्मृति का विप्रतीप कहना उचित नहीं है।

मनुस्मृति से अतिरिक्त अन्यान्य प्राचीन धर्मशास्त्र के मत का भी यथोचित सन्निवेश याज्ञवल्क्य-स्मृति में हुआ है, परन्तु विस्तर-भय से यहाँ उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। बहुत से उदाहरण तो याज्ञवल्क्य-स्मृति की व्याख्याओं के अवलोकन से भी स्पष्ट हो जाते हैं, दोनों की तुलना करने पर तो कुछ कहना ही नहीं है।

विषय-विन्यास की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य-स्मृति बहुत ही प्रशस्त है। संक्षेप में अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। जहाँ मनुस्मृति में २७०० श्लोक हैं वहीं या० स्मृ० में केवल १००९ (मिताक्षरा-कार के अनुसार) श्लोक हैं। मनुस्मृति का विषय-विन्यास स्फुट होने पर भी बहुधा सङ्कीर्ण हो गया है जब कि या० स्मृ० में सङ्कीर्णता का सर्वथा अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। मनुस्मृति में वर्णन के प्रसङ्ग में निदर्शन आदि का पुट अधिक है जो या० स्मृ० में प्रायशः नहीं मिलता है। सृष्टि-प्रक्रिया आदि कुछ विषयों की तो या० स्मृ० में कोई चर्चा ही नहीं है जब कि म० स्मृ० में पूरा प्रथम अध्याय सृष्टि-प्रकार के वर्णन में ही पर्यवसन्न हुआ है। मनुस्मृति में पुनरुक्ति भी बहुत है। कुछ निदर्शन निम्न-लिखित हैं :—

१ वेदोऽखिलो धर्म-मूलं स्मृति-शीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥ २।६ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधमप्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ २।१२ ॥

तथा,

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।

रक्षितं वर्धयेत्तच्चैव वृद्धस्पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ७।९९ ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेद्देवक्षया ।

रक्षितमवर्धयेद्बुद्ध्या वृद्धस्पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ७।१०१ ॥

अतः विषय में मन्वर्थानुगामिनी तथा प्रतिपादन में संक्षिप्त किन्तु युक्त्यनुसारिणी तथा देश-काल-पात्र को ध्यान में रखकर निर्णय करने वाली या० स्मृ० का सभी स्मृतियों में विशिष्ट स्थान है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकार

विश्वरूप—(७५०—१००० ई०)

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकारों में सर्वप्रसिद्ध तथा सर्वप्रथम उपलब्ध व्याख्याकार विश्वरूपाचार्य हैं। इनकी व्याख्या का नाम 'बालक्रीडा' है जिसका

प्रकाशन महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के द्वारा 'त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला' से हुआ है। यह व्याख्या दो भागों में प्रकाशित हुई है। व्याख्या की भाषा अत्यन्त मनोहर है। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को, विशेषतः आचार तथा प्रायश्चित्त अध्यायों में, विश्वरूप ने विश्वरूप बना दिया है। इसीलिए मिताक्षराकार ने प्रारम्भ में ही इनका ससम्मान निर्देश किया है—

“याज्ञवल्क्य-मुनि-भाषितमुहुः विश्वरूप-विकटोक्तिविस्तृतम्” ॥

(मिताक्षरा० आचार० श्लो० २)

याज्ञवल्क्य के समर्थन के लिए (यत्र तत्र अपने विमत के समर्थन के लिए भी) विश्वरूप ने वेदों से तथा अनेक स्मृतियों एवम् गृह्य-सूत्रों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। स्थान-स्थान पर मिताक्षराकार का मत भी इनसे भिन्न है। यद्यपि इन्होंने 'अन्ये' 'अपरे', 'यत्तु' आदि शब्दों से अपने से प्राचीनतर व्याख्याकारों का भी निर्देश किया है तथापि किसी का नाम स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है। विश्वरूप की प्रवृत्ति मीमांसा की ओर अधिक है। अनेकशः जैमिनि के सूत्रों का इन्होंने उद्धरण किया है। इनका समय महामहोपाध्याय काणे के अनुसार ७५० ई० से लेकर १००० ई० तक माना गया है।

विज्ञानेश्वर (१०७०—१११५)

विज्ञानेश्वर की ऋजु-मिताक्षरा समस्त धर्म-साहित्य में अद्वितीय है। महामहोपाध्याय काणे का कथन है—

Its position is analogous to that of the महाभाष्य of पतञ्जलि in grammar or to that of the काव्य-प्रकाश of मम्मट in poetics.

(History of Dharma, P. 287)

आङ्गलशासन काल में तो मिताक्षरा का बड़ा ही महत्त्व था। इसी के आधार पर न्यायालय में दायभाग आदि का निर्णय किया जाता था। यदि यह कहा जाय कि मिताक्षरा के कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति का भी महत्त्व कुछ अधिक हो गया तो अत्युक्ति न होगी। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को परिष्कृत करने के लिए इन्होंने अनेक स्मृतियों, पुराणों तथा वैदिक-ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। स्मृतिकारों का निर्देश तो विश्वरूप की तुलना में चतुर्गुण है—ऐसा कहा जा सकता है। ये मीमांसा के बड़े ही प्रकृष्ट पण्डित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः धर्म-शास्त्र के मर्म को जानने के लिए मीमांसा का विशद ज्ञान अनिवार्य है। इन्होंने 'यथाकामी भवेद्वापि' (या० स्मृ० १।८१) श्लोक की व्याख्या में विधि का विमर्श बहुत ही तार्किक युक्ति से मीमांसा शास्त्र के अनुसार प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार १।८६, २।११४, २।१२६ आदि श्लोकों की व्याख्या में भी उनके मीमांसा-शास्त्रीय वैदुष्य का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

इनका जन्म भारद्वाज गोत्र में हुआ था। इन्होंने अपने पिता का नाम पद्मानाभ भट्टोपाध्याय बतलाया है। गुरु के विषय में इनका निर्देश है—

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरामनः ।

इस श्लोक के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके गुरु का नाम उत्तमात्मा अथवा आत्मोत्तम रहा होगा ।

इन्होंने अपनी मिताचरा में विक्रमादित्य देव को अपने आश्रयदाता के रूप में निर्दिष्ट किया है । विक्रमादित्य देव का वर्णन 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' महाकाव्य में महाकवि बिहणद्वारा विशद रूप में वर्णित है । "विक्रमाङ्क-देव-चरित" के सम्पादक म० म० पं० रामावतार पाण्डेयजीने अपनी भूमिका में चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य का समय १०७६ से १११४ ई० के बीच माना है । अतः विज्ञानेश्वर का भी समय वही होना चाहिए ।

अपरादित्य (द्वादश शतक-पूर्वार्ध)

या० स्मृ० पर तीसरी व्याख्या अपराक है । यह व्याख्या मिताचरा से विस्तृत तथा धर्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का आकर है । आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना से १९०३-४ में दो भागों में यह प्रकाशित हुई है । इस व्याख्या में पुराणों से बहुत ही उद्धरण किये गए हैं । पुराणों से अतिरिक्त गौतम आदि धर्म-शास्त्रों से भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं । इनका जन्म-समय १११५ से ११३० ई० के मध्य में माना जाता है । इनके पिता का नाम अनन्त देव तथा पितामह का नागार्जुन था । ये जीमूतवाहन के वंश में उत्पन्न हुए हैं, जैसा या० स्मृ० की व्याख्या के अन्त में इनके लेख से स्पष्ट होता है—'इति श्री-विद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहार नरेन्द्र-जीमूतवाहनान्यप्रसूत श्रीमदपरादित्य देव.....' । एक दूसरे अपरादित्य देव भी हुए हैं जिनका जन्म समय ११८४-११८७ है परन्तु डा० काणे के कथनानुसार या० स्मृ० के व्याख्याता प्रथम अपरादित्य देव ही है । कहीं-कहीं इनका नाम केवल आदित्यदेव भी पाया जाता है । भासर्वज्ञ के न्यायसार पर भी इनकी एक बृहद्व्याख्या—न्यायमुक्तावली है, जो १९६१ ई० में मद्रास से प्रकाशित हुई है । इनके विषय में विशेष विवरण के लिए डा० काणे का History of Dharmasāstra (PP. 328-334) देखना चाहिए ।

शूलपाणि (१३७५-१४६० ई०)

शूलपाणि बङ्गाल के धर्म-शास्त्रीय-निबन्ध-कारों में प्रमुख माने जाते हैं । इन्होंने या० स्मृति की टीका लिखी । इस टीका का नाम 'दीप-कलिका' है । यह व्याख्या अत्यन्त-संक्षिप्त होने पर भी प्रामाणिक है । यही कारण है कि वीर-मित्रोदय तथा अष्टाविंशति-तत्त्व आदि प्रामाणिक निबन्धों में इनके मत का बल्लेख है । ये साहुदियाल वंश के बङ्गीय ब्राह्मण थे । प्रो० काणे के निर्देशानुसार, बल्लालसेन के राज्य-काल से राठीय ब्राह्मणवर्ग के निम्न-तर वर्गीय ब्राह्मण ही साहुदियाल कहलाते हैं । रुद्रधर के द्वारा 'गौड़ीय' शब्द से निर्दिष्ट होने के कारण इनका बङ्गीयत्व माना जाता है । इनका समय प्रो० काणे तथा जगन्नाथ रघुनाथ धारपुरे के अनुसार १४ शतक के अन्त तथा १५ शतक के मध्य के बीच माना जाता है ।

मित्र-मिश्र (१८०० ई०)

मित्र-मिश्र के नाम से प्रसिद्ध 'वीरमित्रोदय' व्याख्या विशाल-काय तथा प्रमेय बहुल है। मित्र मिश्र का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है, क्योंकि आनन्द चम्पू में इन्होंने इसके निर्माण-काल का उल्लेख किया है—

‘मीनारोहिणि-रोहिणी-सहचरे कृत्वाऽन्तिके रेवतीं
याते चण्ड-मरीचि-मालिनि तुलां वारे च वाचस्पतेः ।
शाके खाङ्कगतर्तुभू (१६९०) परिमिते ह्यानन्दकन्दभिधां
चम्पूपूरितवान् सित-स्मर-तिथौ श्रीमित्र-मिश्रः कृती ॥’

अतः इनका समय यदि १८ शतक का मध्य-भाग माना जाय तो कुछ अनुपपत्ति नहीं दीखती है।

इनकी व्याख्या में अनेक स्मृति तथा पुराणों का उद्धरण तथा विवेचन मिलता है, जिनसे इनके विद्या-वैभव का पता चलता है। परन्तु यह विषय ध्यान देने योग्य है कि यह व्याख्या इनकी अपनी लिखी हुई नहीं है अपितु किसी सदानन्द नाम के विद्वान् ने मित्र मिश्र के अनुरोध से इसका संग्रहण किया था और मित्र मिश्र के नाम से ही इसे प्रख्यापित किया। इसके समर्थन में वी० मि० (या० स्मृ० व्याख्या) में उल्लिखित निम्ननिर्दिष्ट श्लोक है—

उत्तंसंस्तीरभुक्तेः अखिल-बुध-गुरुः श्रीसदानन्दधीमान्
श्रीभाजो मित्रमिश्राज्जगदुपकृतये विभ्रदादेशदीपस्तु ।
जानानानन्दैर्न्य-दोषापहमकलि-भयं याज्ञवल्क्योक्तिकोशात्
दृष्ट्वा स्मृत्यर्थसारं समचिनुत यशो धर्म-लक्ष्मी-विहारम् ॥

(या० स्मृ० व्या० आ० अ० मङ्गल श्लो० १६)

जो कुछ भी हो, वीर-मित्रोदय व्याख्या के महत्त्व का अपलाप तो कथमपि नहीं किया जा सकता। धर्म-शास्त्र-कानन में परिभ्रमण करने की इच्छा रखने वाले सज्जन के लिए तो यह व्याख्या विशेषतः उपयोगी है।

प्रस्तुत-संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में आधुनिक युग के नियोग को ध्यान में रखकर मूल स्मृति का हिन्दी-अनुवाद समन्वित कर दिया गया है, जिससे संस्कृत के प्रगाढ़ ज्ञान से रहित जिज्ञासुजन का भी अभिलाष पूर्ण हो-सके। साथ ही विज्ञानेश्वर की मिताचरा, जिसका महत्त्व प्राच्य तथा पाश्चात्य-दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है, का समावेश कर दिया गया है जिससे प्राचीन तथा नवीन का सह-ज्योत प्रवाहित होता रहे।

आशा है विद्वज्जन इस नवीन संस्करण का यथोचित स्वागत कर चौखम्बा प्रकाशन के अध्यक्ष को प्रोत्साहित करेंगे जिससे ये इसी तरह संस्कृत तथा संस्कृतज्ञ की सेवा में स्रोत्साह तत्पर रह सकें ।

मति-मान्धादनुचिताः सम्भवन्ति पदे पदे ॥

तथापि ते नहि पदं लभन्ते महतां हृदि ॥ १ ॥

तुच्छोऽप्यवस्थातुमर्हः प्रकाशः सवितुर्मुखे ॥

अन्धं तमो महदपि न कदाचिदपीत्यलम् ॥ २ ॥

—श्री नारायणमिश्रः

भूमिका

स्मृति साहित्य

● भारतीय धर्मशास्त्र में वैदिक धर्मसूत्रों के उपरान्त स्मृतियाँ आती हैं। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म बताया गया है (श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः, वसिष्ठधर्मसूत्र, १. ४. ६) श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है और स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ईश्वरप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। उपयुक्त अर्थ में धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ हैं। (“श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः”, मनु० २. १०)। श्रुति श्रवण, मनन और अध्यापन का विषय है। स्मृति स्मरण का विषय है और परम्परागत धार्मिक साहित्य है। संकीर्ण अर्थ में स्मृति और धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।

वैदिक साहित्य में हम सूत्रों के अन्तर्गत श्रौतसूत्र या श्रुति पर आधारित सूत्रों का विभाजन पाते हैं। “श्रौतसूत्रों के साथ ही साथ हम दूसरे प्रकार के कल्पसूत्र भी पाते हैं, जिन्हें गृह्यसूत्र कहा गया है। ये गृहस्थजीवन को उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं जो जन्म, जन्म के पूर्व, विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाती हैं। इन रचनाओं की उत्पत्ति उनके नाम से ही पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाती है, कारण गृह्यसूत्र के अतिरिक्त उनका नाम स्मार्त-सूत्र या स्मृति पर आधारित सूत्र भी है। स्मृति का अर्थ वह है जो याद किया जाने योग्य हो। इस प्रकार हम स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते हैं, कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर छाप डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।”^१

इसी विद्वान् ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय लोग विधि का व्यवहार “स्मृति द्वारा ही” “अथो मनीमिस” किया करते थे।^२

संकुचित अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। मनुस्मृति सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गई थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० से १००० ई० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है।

१. भारतीयसाहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० ११।

२. वही, पृ० १४

स्मृतियों प्रायः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। स्मृतियों की भाषा लौकिक है। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

मुख्य स्मृतिकार १८ हैं—मनु, बृहस्पति, दत्त, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत।

इनके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः ।
 बौधायनो जातुकर्ण्यो विश्वामित्रः पितामहः ॥
 जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकश्चपौ ।
 व्यासः सनत्कुमारश्च शान्तनुर्जनकस्तथा ॥
 व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातुकर्ण्यः कपिञ्जलः ।
 बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।
 पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः ॥

वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण के अनुसार स्मृतिकारों की संख्या २१ है और वे हैं—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।
 विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः ॥
 जमदग्निर्भारद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
 आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च ॥
 पारश्वरश्चर्ष्यश्चक्रो वैजवापस्तथैव च ।
 इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः ॥

स्वयं स्मृतिकारों ने दूसरे स्मृतिकारों का उल्लेख किया है और उनकी संख्या का अपने ज्ञान के अनुसार निर्देश किया है। मनु ने ६ के, याज्ञवल्क्य ने २० के, पराशर ने १९ के नाम गिनाये हैं। स्मृतियों की संख्या के विषय में भिन्न प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि प्रो० काणे ने निष्कर्ष निकाला है—‘यदि बाद में आनेवाले निबन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ, एवं वीरमित्रोदय की मयूख सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या १०० हो जायगी’।^१

यहाँ उल्लेखनीय है कि जो स्मृतियाँ उपलब्ध हैं उनकी संख्या अपेक्षतया कम है। अनेक स्मृतियों की केवल व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। साथ ही स्वरूप तथा शैली की दृष्टि से भी ये स्मृतियाँ भिन्न हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति

स्मृति साहित्य में मनुस्मृति के बाद दूसरी महत्वपूर्ण स्मृति है याज्ञवल्क्य-स्मृति। कुछ दृष्टि से तो याज्ञवल्क्यस्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा भी अधिक

व्यावहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है यह बात विषयवस्तु के कारण तो स्पष्ट है ही और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों के कारण भी स्पष्ट है। इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। गणेश और ग्रहों की पूजा भी इस स्मृति की विशेषता है। दान से संबद्ध कर्मों का ताम्रपत्र पर लेख और मठों के संगठन का वर्णन भी इस स्मृति में पाया जाता है, ये बातें मनु में नहीं उपलब्ध होतीं। इसमें बौद्धमत का खण्डन किया गया है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति की तुलनात्मक विशेषताओं के विषय में वेबेर ने निम्न-लिखित विचार व्यक्त किये हैं : 'जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं, और विशिष्ट उदाहरणों में, जहां दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टतः बाद के समय का है।'

मनु ने व्यवहार के जितने प्रमाण गिनाये हैं उनकी अपेक्षा याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखित ताम्रपत्र अधिक गिनाया गया है। मनु ने दिव्यों के अन्तर्गत अग्नि और जल के दो दिव्यों का वर्णन किया है जब कि याज्ञवल्क्य ने पांच दिव्यों का वर्णन किया है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति में समानता है, किन्तु भ्रूणविज्ञान याज्ञवल्क्यस्मृति में नवीन विषय है, जिसे कीथ ने किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ से लिया हुआ माना है।

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्मृति में २७०० श्लोक हैं, जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में लगभग एक हजार श्लोक हैं। शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति संक्षिप्त है और प्रवाहमय है। प्रो० काणे ने यह संभावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता के सामने रचना करते समय मनुस्मृति रही होगी, कारण अनेक स्थलों पर दोनों स्मृतियों में समान शब्द पाये जाते हैं।

किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार हैं। वे पहले के आचार्यों का पिष्टपेषण मात्र नहीं करते, अपितु देशकाल के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित मान्यताओं को प्रस्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई स्थलों पर सहमत नहीं होते। भाषा की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति पाणिनि के नियमों का पालन करती है। एकाध शब्द अपवाद भी मिल जाते हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य से संबन्ध—

याज्ञवल्क्यस्मृति में वेद, वेदांगों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, इतिहास, नाराशंसी के साथ-साथ स्वयं याज्ञवल्क्यप्रणीत बृहदारण्यक और योगशास्त्र का उल्लेख है। आरम्भ में उन्नीस धर्मशास्त्रकारों के नाम गिनाये गये हैं।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।

यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥

पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।

शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ १. ३-५ ।

आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शनशास्त्र एवं दण्डनीति का उल्लेख भी हुआ है—

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।

विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥ १. ३११ ।

सूत्रों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सामान्यतः इनकी चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति में मिलती है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी-संहिता के अनेक मन्त्रों का उल्लेख है और विवेचित विषयों की दृष्टि से पारस्करगृह्यसूत्र से भी इसका संबंध है । पो० काणे के अनुसार “स्मृति के कुछ अंश बृहदारण्यकोपनिषद् के केवल अन्वय मात्र हैं ।” इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति का संबंध याज्ञवल्क्य के नाम से ख्यात रचनाओं के साथ तथा शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा के साथ भी दिखाई पड़ता है ।

गरुडपुराण और अग्निपुराण में याज्ञवल्क्यस्मृति के समान बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं । शंखलिखितधर्मसूत्र में भी याज्ञवल्क्य का उल्लेख है । विद्वानों का विचार है कि याज्ञवल्क्यस्मृति का मुख्य स्मृतिभाग ७०० ई० से अपरिवर्तित चला आ रहा है ।^१

याज्ञवल्क्यस्मृति का समय

याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में वेबेर का मत है : “इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई० के आसपास की मानी जा सकती है, कारण, इसमें मुद्रा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग है और जैसा कि विल्सन ने अनुमान किया है यह शब्द कर्नेर्कि के सिक्कों से लिया गया है, जिसने ४० ई० में शासन किया था । दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है, कारण, विल्सन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है ।^२

याकोबी ने याज्ञवल्क्यस्मृति का समय बारह ग्रहों की संख्या के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ई० के बाद माना है ।^३

प्रो० काणे ने याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके अनुसार इस स्मृति के समय की निचली सीमा नवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती । कारण—

२. काणे, वही, पृ० ५१ ।

१. भारतीय साहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७८ ।

३. वही, पृ० २७८, टिप्पणी २ ।

१ टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं ।

२. विश्वरूप ने अपने पहले के कई भाष्यकारों का उल्लेख किया है, जिन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकायें लिखी हैं ।

३. शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति ३. २२६ का निर्देश किया है ।

अतः 'याज्ञवल्क्यस्मृति को हम ई० पू० पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच कहीं रख सकते हैं ।'

वर्णित विषय—

याज्ञवल्क्यस्मृति का आरम्भ मुनियों के प्रश्न से होता है । योगीश्वर याज्ञवल्क्य मिथिला को सुशोभित कर रहे थे । मुनियों ने उनकी पूजा की और कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे (अनुलोम, प्रतिलोम, संकर जातियों) का धर्म हमें पूरी तरह से समझाइये ।

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।

वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १।१।

और तब याज्ञवल्क्य उस देश में किये जाने वाले धर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिस देश में काले मृग स्वच्छन्द विचरण करते हैं ।

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्माज्जिबोधत ॥

इस उपक्रम के बाद याज्ञवल्क्यस्मृति आरम्भ होती है, और बीच-बीच में पृच्छालु मुनिगण शंका करते हैं जिनका समाधान याज्ञवल्क्य करते चलते हैं । यह स्मृति लगभग समान विस्तार के तीन अध्यायों में विभक्त है ।

संक्षेप में इस स्मृति में वर्णित विषयों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

आचाराध्याय—चौदह विधाएं, एवं धर्म के उपादान । संस्कार-जन्म से विवाह तक । उपनयन और उसका समय । ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं निषिद्ध कर्म । विवाह, विवाह की योग्यता, सपिण्ड संबंध का नियम । अन्तर्जातीय विवाह, आठ प्रकार के विवाह । क्षेत्रज पुत्र और पुनर्विवाह । गृहस्थ के कर्तव्य । पंच महायज्ञ, अतिथि सत्कार, मधुपर्क । चारों वर्णों के कर्तव्य । आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ की जीवनवृत्ति । स्नातक के कर्तव्य । अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य का नियम, पवित्रीकरण के नियम । दान के नियम, पात्र एवं वस्तुएं । श्राद्ध के नियम, इसका समय, श्राद्ध में बुलाने जाने योग्य ब्राह्मण, श्राद्ध की विधि एवं दक्षिणा । ग्रह शान्ति । राजधर्म और दण्ड ।

व्यवहाराध्याय—न्याय करने वाले व्यक्ति, न्याय करने वाली परिषद् के सदस्य । जमानत, व्याज की दर, ऋण, बन्धक के प्रकार । साक्षी की पात्रता, शपथ, लेखप्रमाण । दिव्य । धन का विभाजन, स्त्री का भाग, पुत्रों के प्रकार और

उनमें विभाजन के नियम, स्त्रीधन, स्वामी और मृत्यु के विवाद, दास्य के नियम । मजदूरी । जुआ, मानहानि और व्यभिचार आदि जैसे अपराधों का दण्ड ।

प्रायश्चित्ताध्याय-अशौच के नियम, मृत के संस्कार, तर्पण । जन्मविषयक अपवित्रता । विपत्ति में आचार और जीविका निर्वाह । वानप्रस्थ के नियम, यति के नियम । गर्भ में शिशु का विचार और मानव शरीर रचना, आत्मा का जन्म क्यों ? योगी की अमरता का रहस्य । आत्मज्ञान के साधन । रोगव्याधियाँ, नरक, महापातक, उपपातक और इनके प्रायश्चित्त । दस 'यम' एवं नियम । सान्तपन, महासान्तपन, तप्तकृच्छ्र, पराक, चान्द्रायण, एवं अन्य व्रत ।

टीकाकार और संस्करण—

याज्ञवल्क्यस्मृति पर मुख्य चार टीकाकारों की टीकाएं हैं, वे हैं : विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि । विश्वरूप की बालक्रीडा नाम की टीका गणपतिशास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित की है । मिताक्षरा में इस टीका का उल्लेख है । विश्वरूप का समय ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच का है । विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इसके विषय में म० म० काणे ने ठीक ही कहा है : “यह ग्रन्थ उतना ही प्रभावशाली माना जाता रहा है जितना व्याकरण में पतंजलि का महाभाष्य एवं साहित्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश । विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के लगभग दो सहस्र वर्षों से चले आये हुए मतों का सारतत्त्व ग्रहण किया और ऐसा रूप खड़ा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों और सिद्धान्तों का विकास हुआ ।” इस टीका की रचना का समय १०७०-११०० ई० का माना जाता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर तीसरी प्रमुख टीका अपरादित्य की है । यह आनन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित है और अपरार्क-धर्मशास्त्र-निबन्ध नाम से अभिहित है । मिताक्षरा की अपेक्षा यह बड़ी है और इसमें अन्य धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से बहुत अधिक उद्धरण लिए गये हैं और पुराणों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं । अपरार्क की तिथि ११००-१२०० ई० के बीच होने का अनुमान किया जाता है । बंगाल के धर्मशास्त्रकार शूलपाणि की टीका है दीपकलिका, जो छोटे आकार की है । इसमें मिताक्षरा और विश्वरूप के मतों का उल्लेख है । शूलपाणि का समय चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद से आरम्भ कर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है ।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक संस्करण हुए हैं । प्रमुख हैं : निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रम संस्करण और आनन्दाश्रम संस्करण । इन संस्करणों में श्लोकों की संख्या में कुछ भिन्नता है ।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्यस्मृति का संबन्ध याज्ञवल्क्य ऋषि से है । वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य

मुख्यतः शुक्लयजुर्वेद और शतपथब्राह्मण के द्रष्टा हैं। शतपथब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य के विषय में अनेक आख्यान आये हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों को मान्यता दी गयी है। ११।३।१।२ में वे जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ़ यज्ञिय क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ११।६।३ में याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थविवाद का वर्णन है, जिसमें देवताओं की संख्या के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। परन्तु याज्ञवल्क्य अपने प्रतिद्वन्द्वी शाकल्य को उनकी हठधर्मिता के कारण शीघ्र मृत्यु प्राप्त करने का शाप देते हैं। याज्ञवल्क्य को अनेक यज्ञों का उद्घोषक माना गया है। शतपथब्राह्मण के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का नाम किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में नहीं आता। शांखायन आरण्यक में दो स्थलों पर याज्ञवल्क्य का उल्लेख है किन्तु उन अंशों को विद्वानों ने शतपथब्राह्मण से उद्धृत माना है।^१

याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद, शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रणेता या उद्घोषक थे इस विषय में प्रायः सन्देह व्यक्त किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी-संहिता कहलाती है और यह नाम याज्ञवल्क्य की उपाधि वाजसनेय के आधार पर पड़ा है। यदि याज्ञवल्क्य इस संहिता के उद्घोषक न भी हों तो भी उन्हें संकलनकर्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण का भी प्रचुर अंश सीधे याज्ञवल्क्यरचित है और शेष अंश को आधिकारिक रूप देने के लिए उनका नाम संबद्ध कर दिया गया है, ऐसी संभावना की जाती है। अतः जैसा कि जे० डाउसन ने कहा है : “यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शतपथब्राह्मण की रचना उनके अधीक्षण में या उनके शिष्यों द्वारा की गयी थी।”^२

शतपथब्राह्मण से संबद्ध बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक यज्ञक्रिया के आचार्य की अपेक्षा दार्शनिक के रूप में दिखायी पड़ते हैं। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्यीय काण्ड नाम का अंश विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें याज्ञवल्क्य की प्रशस्ति है और उनके आत्मविषयक दार्शनिक विचारों का संग्रह है। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जिस प्रकार उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि यह अकेले याज्ञवल्क्य की रचना न होकर उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा भी रचित है। विण्टरनिस्स का इस विषय में यह मत है कि स्वयं बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्य आचार्यों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त याज्ञिक और तत्त्वचिन्तनविषयक इतने विभिन्न मतों को याज्ञवल्क्य से संबद्ध किया गया है कि उन्हें इन सबका उद्घोषक स्वीकारना कठिन प्रतीत होता है।^३

१. मैकडानल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९।

२. ए क्लासिकल डिक्शनरी आफ हिन्दू माथोलोजी, पृ० ३७२।

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० २४६, टिप्पणी।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।५।३ में उन्होंने मैत्रेयी को आत्मा के विषय में तथा अमरता के बारे में जो व्याख्यान दिये हैं वे भारतीय दर्शन में उत्कृष्ट कोटि के चिन्तन के परिचायक हैं। इस उपनिषद् के तीसरे और चौथे अध्यायों के प्रायः सभी ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य किसी न किसी आचार्य से दार्शनिक विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जैसे जनक, अश्वल, आर्तभाग, भुङ्गु, कोहल, गार्गी, आरुणि या शाकल्य से।

महाभारत में याज्ञवल्क्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं, यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य-रचित एक योगशास्त्र का भी उल्लेख कूर्मपुराण १।२५-२७ में मिलता है और विण्टरनिस्स का विचार है कि यह याज्ञवल्क्यगीता का निर्देश करता है जिसमें योग की व्याख्या की गयी है।^१

प्रश्न उठता है : क्या वैदिक परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य ही प्रस्तुत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता हैं ? प्रश्न सकारण है। वैदिक ग्रन्थों की भाषाशैली से स्मृति की भाषा और शैली नितान्त भिन्न है और इनमें समय की दृष्टि से सामीप्य नहीं है, और शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत करके मिताक्षरा टीका के लेखक विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट संकेत किया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संहित करके वर्तमान रूप प्रदान किया है। परन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य-स्मृति (३. ११०) में इस बात की घोषणा की गई है कि इस स्मृति के प्रणेता आरण्यक अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता हैं और उन्हें सूर्य ने ज्ञान प्रदान किया, तथा वे योगी थे—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवासवान् ।

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥

याज्ञवल्क्य के साथ इस स्मृति का संबन्ध संभवतः इसे महत्ता प्रदान करने के लिए जोड़ा गया है। किन्तु एक बात निर्विवाद है और वह यह कि शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का संबन्ध है, इस तथ्य पर यहाँ हमने याज्ञवल्क्यस्मृति का परिचय देते समय प्रकाश डाला है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१५ में याज्ञवल्क्य को उद्दालक आरुणि का शिष्य बताया गया है और राजा जनक के साथ इनके संबन्धों के कारण इन्हें विदेह का निवासी कहते हैं, किन्तु मैकडानल और कीथ के मत में यह सन्देहास्पद है—

‘Despite the legend of Janaka’s patronage of him, his association with Uddalaka, the Ku’ru Pancala renders this doubtful.’

—वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९।

शतपथब्राह्मण के अन्त में (१।१।१।१।२९ आदि) आचार्यों की जो सूची दी गयी है उसमें याज्ञवल्क्य ४५ वें स्थान पर आते हैं और उसमें भी उनके गुरु का

नाम उद्दालक आरुणि है । जहाँ तक याज्ञवल्क्य के समय का प्रश्न है वे परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के काल के ऋषि हैं ।

किसी भी स्थिति में वे पाणिनि के पहले के हैं । याज्ञवल्क्यविषयक ब्राह्मणीय आख्यानों का विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपने शोधग्रन्थ 'द लेजेण्ड्स इन द शतपथब्राह्मण' में किया है ।

योगियाज्ञवल्क्य एवं बृहद् याज्ञवल्क्य नाम की याज्ञवल्क्य की रचनाओं के विषय में डा० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में डेकन कालेज संग्रहालय की पाण्डुलिपियों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम में १२ अध्याय और ४९५ श्लोक हैं तथा दूसरे में १२ अध्याय और ९३० श्लोक हैं । बृह्दयाज्ञवल्क्य नाम की स्मृति का भी उल्लेख मिलता है । इससे विश्वरूप ने अपनी टीका में उद्धरण लिए हैं । मिताचरा में भी इसका उल्लेख आया है ।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रम

(टीका में विवेचित महत्त्वपूर्ण विषयों का भी निर्देश इस

विषयानुक्रम में किया गया है)

१. आचाराध्याय

(१) उपोद्धातप्रकरण

मुनियों की जिज्ञासा	१
छः प्रकार का स्मार्त धर्म	२
धर्म के चौदह स्थान	३
धर्मशास्त्रकार ऋषि	४
धर्म के कारक हेतु	५
धर्म के ज्ञापक हेतु	५
देश आदि कारक हेतुओं का अपवाद	५
हेतुविषयक सन्देह का निर्णय	५

(२) ब्रह्मचारिप्रकरण

वर्ण	५
गर्भाधान आदि संस्कार	६
संस्कार करने का फल	७
स्त्रियों के संस्कार	७
उपनयन का समय	७
गुरु के धर्म	७
शौच के नियम	८
प्राजापत्य आदि तीर्थ	९
आचमन की विधि	१०
प्राणायाम	१०
सावित्रीजप की विधि	११
अग्निकार्य	११
अभिवादन की विधि	११
अध्यापन के योग्य व्यक्ति	११
दण्ड इत्यादि का धारण	१२
भिक्षाचरण की विधि	१२
भोजन का नियम	१३

ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध कर्म	१३
गुरु, आचार्य आदि के लक्षण	१४
उपाध्याय, ऋत्विक् के लक्षण	१४
ब्रह्मचर्य की अवधि	१४
उपनयन की समयसीमा	१५
द्विजत्व का कारण	१५
वेदाध्ययन का फल	१६
काम्यब्रह्मयज्ञाध्ययन का फल	१६
पञ्चमहायज्ञ का फल	१७
नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धर्म	१८

(३) विवाहप्रकरण

गुरुदक्षिणा के पूर्व का स्नान	१८
कन्या के लक्षण	२०
सपिण्ड का विचार	२१
कन्यावरण का नियम	२२
कन्यादान में वर के नियम	२२
द्विजातियों के लिए शूद्रा से	२३
विवाह का निषेध	२३
अनुलोमविवाह	२४
आठ प्रकार के विवाह	२४
सवर्णा से विवाह में विशेषता	२५
कन्यादान देने वाले	२५
कन्याहरण का दण्ड	२६
कन्या के दोष का गोपन	२६
नियोग की विधि	२७
व्यभिचारिणी के लिए दण्ड	२८
स्त्रियों की पवित्रता	२८
दूसरे विवाह के हेतु	२९

पतिव्रता की प्रशंसा	३०	जीवनवृत्ति का चुनाव	५४
अधिवेत्ता के लिए दण्ड	"	श्रौतकर्म	५५
• स्त्री के धर्म ✓	"	यज्ञ के लिए हीनभित्ता का निषेध	५६
शास्त्रानुसार दारसंग्रह का फल	३१	आर्थिक अवस्था का विचार	"
ऋतुकाल का समय	"	(६) स्नातकधर्मप्रकरण	
स्त्रीगमन के लिए निषिद्ध दिन	"	• स्नातक के व्रत	५७
ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्रीगमन	३२	स्नातक का राजादि धन लेना	५८
स्त्रियों का आदर	३५	शारीरिक पवित्रता	५९
स्त्रियों के कर्तव्य	"	स्नातक के औपचारिक कर्म	६०
प्रोषितपतिका का कर्तव्य	३६	दान लेने में दोष	६३
पतिहीना का कर्तव्य	३८	उपाकर्म का समय	"
अनेक पत्नियों में सहधर्मिणी	"	उत्सर्जन का समय	६४
पत्नी की मृत्यु पर दूसरा विवाह	३९	अनध्याय के अवसर	"
(४) वर्णजातिविवेकप्रकरण		• औपचारिक कर्तव्य	६७
सजातिपुत्र	"	धर्माचरण का आधार	६९
अनुलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४०	विवाद के परित्याग का फल	"
प्रतिलोमविवाह से उत्पन्न पुत्र	४१	स्नान का नियम	७०
जाति के उत्कर्ष का नियम	४३	दूसरे की वस्तु के उपयोग का निषेध	"
✓ (५) गृहस्थधर्मप्रकरण		अभोज्य अन्न	"
स्मार्त और श्रौतकर्म की अग्नि	४४	अन्नग्रहण के नियम का अपवाद	७२
• गृहस्थ के धर्म	"	(७) भक्ष्याभक्ष्यप्रकरण	
योगक्षेम के लिए राजाश्रय	४५	निषिद्ध अन्न	७२
वेद आदि का जप	४६	कतिपय बासी खाद्य वस्तुएँ	७३
पञ्चमहायज्ञ	"	अपेय दूध	७४
भोजन कराने का क्रम	४७	मांसभक्षण के लिए निषिद्ध पक्षी	७५
अतिथियों को भोजन कराने में		प्याज आदि का निषेध	७७
वर्ण का विचार	४८	मांसभक्षण का अवसर	७८
• वेदपाठी का संस्कार	४९	यज्ञ के अतिरिक्त पशुवध का फल	७९
मधुपर्क के पात्र	"	मांस न खाने का फल	"
सायंकालीन कर्तव्य	५१	(८) द्रव्यशुद्धिप्रकरण	
धर्म, अर्थ, काम का संतुलन	"	सोने के पात्रों की शुद्धि	८०
मान्य व्यक्ति	५२	यज्ञिय पात्रों की शुद्धि	८१
मार्ग देने योग्य व्यक्ति	"	लेपयुक्त पात्रों की शुद्धि	"
• द्विजातियों के कर्तव्य	"	वस्त्रों की सफाई	८२
• शूद्र के कर्तव्य	५३	पृथ्वी की शुद्धि	८४
• साधारण धर्म	५४	अन्न की शुद्धि	"

जल और मांस की शुद्धि का विचार	८७
पशुओं के मुख की शुद्धि-अशुद्धि	८८
मुख की शुद्धि	८९
आचमन के अवसर	"

(६) दानप्रकरण

• ब्राह्मणों का महत्त्व	९०
दान की वस्तुएँ	९१
दान के पात्र	९२
गोदान और उसका फल	"
उभयतोमुखी गोदान	९३
गोदान के तुल्य कर्म	९४
दान की अन्य वस्तुएँ	"
दान न लेने की प्रशंसा	९६
अयाचित वस्तु को स्वीकार करना	"
दाता के चरित्र का विचार	९७
वृत्तिनिर्वाह के लिए नियमापवाद	"

(१०) श्राद्धप्रकरण

श्राद्ध का अर्थ	९७
पार्वणश्राद्ध का स्वरूप	"
श्राद्ध के ब्राह्मण	९८
श्राद्ध में वर्जित ब्राह्मण	९९
पार्वणश्राद्ध का प्रयोग	१०१
अग्नौकरण	१०६
ब्राह्मण भोजन की विधि	१०८
पिण्डदान	१०९
अक्षय्योदकदान	११०
स्वधावाचन	"
ब्राह्मणप्रार्थना और विसर्जन	१११
वृद्धिश्राद्ध	११२
एकोद्दिष्ट कर्म	११३
सपिण्डीकरण	११४
एकोद्दिष्ट का समय	१२१
भोज्यवस्तुओं का विशिष्ट फल	"
श्राद्ध की तिथि के अनुसार फल	१२३
नक्षत्र के अनुसार श्राद्ध का फल	१२४
श्राद्ध के देवता	१२५

(११) गणपतिकल्पप्रकरण

विघ्न के कारक हेतु	१२६
विघ्न के ज्ञापक हेतु	१२७
विघ्न के प्रत्यक्ष लक्षण	"
विघ्न की शान्ति के लिए कर्म	१२८
स्नपन की विधि	"
उपस्थान के मन्त्र	१३२
ग्रहपूजा	१३३
महागणपति की पूजा का फल	१३४

(१२) ग्रहशान्तिप्रकरण

ग्रहयज्ञ	१३४
नव ग्रहों के नाम	१३५
ग्रहों की मूर्तियों की धातुएँ	"
ग्रहपूजा की विधि	१३६
ग्रहपूजा के मन्त्र	"
ग्रहपूजा की समिधाएँ	"
नवग्रहों के भोजन	१३७
ग्रहपूजा की दक्षिणा	१३८
दुष्टग्रहों की पूजा	"

(१३) राजधर्मप्रकरण

• अभिषिक्त राजा का धर्म	१३९
राजा का मन्त्री	१४१
राजा का पुरोहित	"
राजा द्वारा ब्राह्मणों का सत्कार	१४२
राजा का लक्ष्य	"
भूमिदान का लेख्यकरण	१४३
लेख्यकरण की विधि	"
राजा का निवासस्थान	१४४
विभागीय अध्यक्षा की नियुक्ति	१४५
युद्ध में अपहृत धन का दान	"
युद्ध में वीरगति	"
युद्ध में अवध्य व्यक्ति	१४६
राजा का दैनिक कार्यक्रम	"
राजा का विशेष व्यक्तियों से विशेष व्यवहार	१४९
प्रजापालन का फल	"
पीडित प्रजा की रक्षा	१५०

धर्मपूर्वक कोश की वृद्धि	१५१
दूसरे राष्ट्र की विजय का फल	"
पराजित देश की मर्यादा का पालन	१५२
मन्त्रणा का गोपन	"
पड़ोसी राज्यों से सतर्कता	१५३
साम दान आदि उपाय	"
सन्धि और विग्रह	१५४
आक्रमण करने का समय	"
दैव और पौरुष	"
मित्र की प्राप्ति की श्रेष्ठता	१५५
राज्य के अङ्ग	१५६
दण्ड और धर्म	"
दण्डधरण की योग्यता	"
अनुचित दण्डप्रयोग का अधर्म	१५७
शास्त्रानुसार दण्डप्रयोग का फल	"
अधर्मी स्वजन भी दण्ड्य	"
उचित दण्डप्रयोग का पुण्य	१५८
त्रसरेणु, लिप्ता, राजसर्पप, गौरसर्पप, मध्यमयव, कृष्णल, माष, सुवर्ण और पल का परिमाण	१५९
रुप्यमाष, धरण, पल, निष्क, कर्प, पण	१६०
उत्तम, मध्यम, अधम साहस के लिए आर्थिक दण्ड की मात्रा	१६१
दण्ड के प्रकार	१६२
दण्डव्यवस्था के निमित्त	"

२. व्यवहाराध्यायः

(१) साधारणव्यवहारमातृका- प्रकरण

व्यवहार के सभासदों की योग्यता	१६४
राजा की अनुपस्थिति में धर्मज्ञ	
ब्राह्मण की नियुक्ति	१६५
धर्मविरुद्ध सभासदों को दण्ड	१६६
व्यवहार के विषय	१६६
व्यवहार की कार्यवाही	१६९
चार प्रकार का विवाद	१७४

(२) असाधारणव्यवहारमातृका- प्रकरण

प्रत्यभियोग	१७५
कलह और साहस के अपराध में अभिप्रयोग	१७६
अभियोग को छिपाने पर दण्ड	१७७
तात्कालिक निर्णय वाले वाद	१७८
दुष्ट साक्षी के लक्षण	१७९
साक्षियों का क्रम	१८०
सपणविवाद का निर्णय	१८१
दो धर्मशास्त्रवचनों में विरोध की स्थिति	१८३
लिखित, भुक्ति, साक्षी प्रमाण	१८४
दूसरे का कब्जा होने पर अधिकार निर्णय	१८६
इसका अपवाद	१८९
लेख और भोग का विचार	१९२
आगम या लेख का उपयोग	१९३
व्यवहार देखने वाले अन्य व्यक्ति	१९४
पुनर्विचार के योग्य व्यवहार	१९५
असिद्धव्यवहार	१९५
खोयी वस्तु के विषय में विचार	१९७
चोरों से छीने गये धन	१९९

(३) ऋणादानप्रकरण

व्याज की दर	१९९
ऋण की वापसी	२०२
ऋण भुगतान में जाति का विचार	२०३
ऋण दिलवाने में राजा का अंश	२०३
ऋण न लौटाने पर जाति के अनुसार कार्य	२०४
व्याज न लगने की स्थिति	"
ऋणी की मृत्यु पर ऋण भुगतान	२०५
न लौटाये जाने वाले दूसरे के ऋण	"
स्त्रियों द्वारा लिखा गया ऋण	२०६
स्त्री द्वारा देय ऋण	"
पुत्र और पौत्र द्वारा देय ऋण	२०७
प्रातिभाव्य का अर्थ	२११

अनेक प्रतिभू द्वारा ऋण भुगतान	२१३	लेख्य के ऋण की वापसी की अवधि	२३८
प्रतिभू द्वारा स्त्री का आदान-प्रदान	२१४	दूसरा लेख्य लिखने की स्थिति	२३९
बन्धक रखी वस्तु के प्रणष्ट होने का समय	२१५	सन्दिग्ध लेख्य की शुद्धि	२४०
व्याज न देने की स्थितियाँ	२१६	ऋण भुगतान पर लेख्य	२४१
आधिनाश पर दूसरी आधि की व्यवस्था	२१७	(७) दिव्यप्रकरण	
बन्धक वापस न देने पर दण्ड	२१९	दिव्य और उसके भेद	२४२
भोग्य आधि के विषय में विचार	२२०	दिव्य के प्रयोग के पात्र और अवसर	२४३
(४) उपनिधिप्रकरण		तुलादिव्य के लिए अयोग्य व्यक्ति	२४५
उपनिधि की परिभाषा	२२१	तत्काल, विष, तुलादिव्य की अवस्था	२४७
उपनिधि लौटाने के नियम का अपवाद	२२२	तुलादिव्य के प्रयोग की विधि और मंत्र	२४८
उपनिधि के भोग का दण्ड	"	अग्निदिव्य के प्रयोग की विधि और मन्त्र	२५३
(५) साक्षिप्रकरण		जलदिव्य के प्रयोग की विधि और मन्त्र	२५६
साक्षी के स्वरूप का निर्णय	२२३	विषदिव्य की विधि और मन्त्र	२५९
साक्षी के भेद और योग्यता	२२४	कोशविधि	२६१
साक्षी होने के अयोग्य व्यक्ति	२२५	तण्डुलविधि, तप्तमाषकविधि	२६२
साक्षी के विषय में नियम का अपवाद	२२६	धर्माधर्मविधि	२६३
साक्षियों की उद्बोधन या उपदेश	२२७	(८) दायविभागप्रकरण	
झूठे साक्षी के लिए दण्ड	२२८	दायशब्द का अर्थ	२६५
साक्षियों के वचनों में विरोध की स्थिति	२२९	दाय के दो भेद	२६९
साक्षियों की सत्यता के विषय में विचार	२३०	पिता द्वारा किया गया सम, विषम विभाग	२७०
कूटसाक्षियों के दण्ड	२३२	माता-पिता की मृत्यु के बाद विभाग की विधि	२७१
साक्षी का असत्य भाषण विहित होने की स्थिति	२३४	अविभाज्य धन	२७३
असत्य भाषण का प्रायश्चित्त	२३५	अविभाज्य धन के अपवाद	२७६
(६) लेख्यप्रकरण		पौत्र का अंश	"
लेख्य के दो प्रकार	२३६	पितामह के धन में अंश	२७६
लेख्य में व्यक्ति और समय का विस्तृत लेखन	"	माता का अंश	२७९
ऋणदाता और ऋणी साक्षियों और लेखक के हस्ताक्षर	२३७	असंस्कृत भाइयों के संस्कार का दायित्व	"
स्वयं लिखा गया लेख्य	२३८	अनेक वर्ण की कई पत्तियों के पुत्रों का भाग	२८१

छिपा कर रखे हुए धन का विभाग	२८३
नियोगज पुत्र का भाग	"
औरसपुत्र और पुत्रिकासुत	२८५
गूढज और कानीन पुत्र	"
पौनर्भव और दत्तक पुत्र	२८६
क्रीत और कृत्रिम सहोदज पुत्र	"
अपविद्ध पुत्र	२८७
दासीपुत्र का अंश	२८९
पुत्रहीन के धन का अधिकारी	"
वाणप्रस्थ, यति, ब्रह्मचारी की संपत्ति	२९७
संस्पृष्टी को धन का विचार	२९९
विभाग में अंशप्राप्ति के लिए अयोग्य व्यक्ति	३००
इस नियम का अपवाद	"
अयोग्य सदस्यों की स्त्रियों की स्थिति	३०१
स्त्रीधन	"
स्त्रीधन का उत्तराधिकारी	३०२
वाग्दत्ता का धन, उसके हरण का दण्ड	३०४
पति द्वारा स्त्रीधन न लौटाने की स्थिति	३०४
दो पत्नियों में पहली पत्नी का स्त्रीधन	३०५
घर और खेत का विभाग	"
(६) सीमाविवादप्रकरण	
सीमाविवाद का निर्णय	३०६
सीमानिर्णय के साधन	३०८
ग्राम सामन्ता आदि झूठे बोलने वाले सामन्तादि के दण्ड	३०९
मर्यादा तोड़ने का दण्ड	३११
खेत छीन लेने का दण्ड	"
दूसरे के खेत में कूप, सेतु का निर्माण	३१२
खेत की जोत की व्यवस्था	३१३

(१०) स्वामिपालत्रिवादप्रकरण	
दूसरे का खेत चराने पर दण्ड	३१३
अधिक अपराध होने पर दूना दण्ड	३१४
चरवाहे और पशु के स्वामी को दण्ड	३१५
क्षेत्रविशेष के विषय में अपवाद	"
पशुविशेष के संबन्ध में दण्ड का अभाव	३१६
चरवाहे का पशुस्वामी के प्रति दायित्व	"
पशुनाश पर चरवाहे को दण्ड	३१७
चरागाह की व्यवस्था	"
चरागाह की भूमि और स्थान	३१८

(११) अस्वामिविक्रयप्रकरण

अस्वामिविक्रय का लक्षण	३१८
कममूल्य पर क्रय का निषेध	"
खोई वस्तु देखने पर कर्तव्य	३१९
लेख्य और उपभोग द्वारा खोई वस्तु	३२०
स्वयं अपनी अपहृत वस्तु लेने पर दण्ड	३२१
राजा को अर्पित खोई वस्तु का निर्णय	"
खोये हुए पशु की प्राप्ति पर राजा को देय धन	३२२

(१२) दत्ताप्रदानिकप्रकरण

दत्ताप्रदानिक का स्वरूप	"
दत्तानपाकर्म का स्वरूप	"
चार प्रकार का दत्तानपाकर्म	"
दान कितना दें, क्या न दें ?	३२३
दान सबके सामने लेना चाहिए	"
दत्तादत्त का स्वरूप	३२४
अदत्त का प्रकार	"

(१३) क्रीतानुशयप्रकरण

क्रीतानुशय	३२५
क्रीतानुशय का स्वरूप	"

प्रत्यर्पणीयनिर्णय ३२५

बीजा आदि खरीदने में परीक्षावधि	३२५
सोना, चाँदी, पीतल, शीशा, तौबा,	
लोहा की परीक्षा	३२६
कम्वल और सूती कपड़े के वजन	३२७
कसीदाकारी आदि से वस्त्र के	
भार में कमी	३२७
द्रव्य के नाश होने पर निर्णय	३२७

(१४) अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरण

अभ्युपेत्याशुश्रूषा का स्वरूप	३२७
पाँच प्रकार के शुश्रूषक	३२८
चार प्रकार के कर्मकर	३२८
दो प्रकार के कर्म	३२८
तीन प्रकार के भृतक	३२८
दासों के भेद	३२९
दासता से मुक्ति का समय	३२९
संन्यास से च्युत व्यक्ति राजा का	

दास	३३०
दास अपने से निम्नवर्ण का होता है	३३०
अन्तेवासी का धर्म	३३०

(१५) संविद्वयतिक्रमप्रकरण

संविद्वयतिक्रम का लक्षण	३३१
धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मण की	
स्थापना	३३१
सामयिक और राजा द्वारा निर्दिष्ट	
धर्म का पालन	३३२
गण के व्यक्तियों के अनुसरण का	
नियम	३३२

समूह के कार्य के लिए आये हुए	
व्यक्तियों का राजा द्वारा	
सत्कार	३३३
समूह के कार्य से प्रेषित व्यक्ति	
को प्राप्त धन	३३३
कार्यचिन्तकों के लक्षण	३३४
श्रेणी, नंगम, पाखण्डी, गण के	
विषय में नियम	३३४

(१६) वेतनादानप्रकरण

वेतनादान का स्वरूप	३३४
वेतन लेकर काम छोड़ने पर दण्ड	३३४
बिना वेतन लिए कार्य करना	
स्वीकार करके कार्य न	
करने पर दण्ड	३३४
भृत्यों को लाभान्श (वोनस)	
का विधान	३३५
भृत्य के कार्य से हानि और लाभ	
तथा उसका वेतन	३३५
दो भृत्यों के एक कार्य करने पर	
वेतन	३३६
भार ढोने वाले भृत्य के विषय में	
निर्णय	३३६
मार्ग में कार्य छोड़ने वाले की	
मजदूरी	३३६

(१७) द्यूतसमाह्वयप्रकरण

जुए की बाजी का स्वरूप	३३७
द्यूतसभा के अधिकारी का अंश	३३८
द्यूताधिकारी का कर्तव्य	३३८
राजा का समिकों के प्रति कर्तव्य	३३८
जुए में हारजीत का निर्णय	३३९
कपटपूर्वक जुआ खेलने वाले	
का दण्ड	३३९
जुए के निषेध के लिए दण्ड	३३९
द्यूताध्यक्ष की नियुक्ति	३४०
प्राणिद्यूत का नियम	३४०

(१८) वाक्यपारुष्यप्रकरण

वाक्यपारुष्य का लक्षण	३४०
वाक्यपारुष्य के तीन प्रकार	३४०
निष्ठुर आक्रोश का दण्ड	३४१
गाली देने का दण्ड	३४१
गाली देने के दण्ड में वर्ण का	
विचार	३४१
वर्णों की प्रतिलोमता के आधार पर	
दोष लगाने का दण्ड	३४२

अंग तोड़ने की धमकी का दण्ड	३४३
धमकी के सम्बन्ध में शक्ति का विचार	"
तीव्र आक्रोश का दण्ड	"
दोष लगाने पर दण्ड का विधान	३४४

(१६) दण्डपारुष्यप्रकरण

दण्डपारुष्य का स्वरूप	३४४
दण्डपारुष्य के तीन भेद और पाँच विधियाँ	"
दण्डपारुष्य के सन्दिग्ध स्वरूप का निर्णय	३४५
साधन के अनुसार दण्ड	"
वर्ण की प्रतिलोमता के अनुसार दण्ड	३४६
समान जाति वाले को मारने पर दण्ड	३४७
पैर, केश, वस्त्र, हाथ पकड़ कर खींचने का दण्ड	"
लकड़ी आदि से मारने का दंड	३४८
मारकर खून निकालने पर दंड	"
अंग तोड़ने पर दण्ड	"
कई व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति के पीटे जाने पर दण्ड	३४९
दूसरे की दीवाल तोड़ने पर दण्ड	"
दूसरे के घर में कौंटा, त्रिप, सर्प छोड़ने पर दण्ड	३५०
पशुओं को मारने पर दण्ड	"
वृत्तों को हानि पहुँचाने पर दंड	३५१
लताओं को हानि पहुँचाने पर दण्ड	"

(२०) साहसप्रकरण

साहस का लक्षण	३५२
साहस के तीन प्रकार	"
प्रथम, मध्यम और उत्तम साहस	"
दूसरे का धन लेने पर दण्ड	३५३
अपराध कराने वाले का दण्ड	"
विशेष प्रकार के साहसिक	"

बिना नियोग के विधवा संभोग, भयातुर की रक्षा के लिए न दौड़ने, उच्च वर्णों के स्पर्शवर्ण के अयोग्य कर्म करने वाले, झूठी शपथ लेने, पशुओं को बधिया करने, दासी का गर्भपात, निर्दोष सम्बन्धी का त्याग करने का दण्ड

धोबी के विषय में दण्ड्यवस्था	३५४
पिता और पुत्र के कलह में साक्षी के लिए दण्ड	"
तौलने आदि में धूर्तता का दण्ड	३५६
खोटा सिक्का चलाने वाले का दण्ड	"
अल्पज्ञानी वैद्य का दण्ड	"
बन्धन के अयोग्य व्यक्ति का दण्ड	३५७
नापने, तौलने में बेईमानी करने का दण्ड	"
मिलावट करने पर दण्ड	"
घटिया वस्तु अधिक मूल्य पर विक्रय का दण्ड	३५८
ठगी और बनावटी कस्तूरी बेचने का दण्ड	"
शिल्पियों को पीड़ित करने वाले व्यापारियों को दण्ड	३५९
आयातित वस्तु को अनिश्चित मूल्य पर बेचने का दण्ड	"
राजा द्वारा मूल्य का निर्धारण	"
विक्रय में लाभ का अंश	३६०
मूल्य के निर्धारण का आधार	"

(२१) विक्रीयासंप्रदानप्रकरण

विक्रीयासंप्रदान का स्वरूप	३६०
विक्रीयासंप्रदान के दो भेद	"
मूल्य लेकर सौदा न देने वाले का दण्ड	३६१
क्रेता के सौदा न लेने पर दूसरे के हाथ विक्रय	"

सौदा देते समय क्रेता के दोष से वस्तु में हानि	३६१	वस्त्र चुराने वाले और गिरहकट का दण्ड	३७२
राजकृत या दैवकृत उत्पात से हानि	३६२	उच्चकके के दुबारा अपराध का दण्ड ,,	
दोषयुक्त वस्तु के विक्रय का दण्ड ,,		दण्डनिर्धारण का आधार	,,
सौदे की फेराफेरी करने पर दण्ड	३६३	क्षुद्र द्रव्य के विषय में दण्ड का नियम	३७३
(२२) संभूयसमुत्थानप्रकरण		धान्य चुराने पर दण्ड	,,
सामूहिक व्यापार में लाभ-हानि का विचार	३६३	सोना चुराने का दण्ड	,,
हानि करने वाले हिस्सेदार को दण्ड	३६४	विशेष द्रव्य का दण्ड	३७४
सुरक्षित रखने वाले को दशमांश की प्राप्ति	,,	चोर की सहायता करने वाले के लिए दण्ड	,,
विक्रयकर और निषिद्धवस्तु विक्रय ,,		दुष्टा स्त्री को डुबाने का आदेश	३७५
विक्रयकर में बेईमानी करने का दण्ड	३६५	हत्यारिणी स्त्री के अङ्ग भङ्ग का दण्ड	,,
नौका की फेरी	,,	हत्यारे का पता लगाने की विधि	,,
योग्य ब्राह्मणों को श्राद्ध में न बुलाने पर दण्ड	,,	दूसरे की फसल, घर, बाटिका, गाँव आदि जलाने वाले के लिए दण्ड	३७६
विदेशगत या मृत हिस्सेदार का धन	३६६	राजपत्नी के साथ व्यभिचार का दण्ड	,,
बेहूमान हिस्सेदार के प्रति व्यवहार	३६७	(२४) स्त्रीसंग्रहप्रकरण	
(२३) स्तेयप्रकरण		स्त्रीसंग्रहण के तीन प्रकार	३७६
स्तेय का लक्षण	३६७	परायी स्त्री के साथ व्यभिचार के चिह्न	३७७
चोर पकड़ने के उपाय	३६८	छेदखानी करने का अपराध	,,
सन्देह में दूसरों को भी पकड़ने का नियम	,,	निषिद्ध भाषण की दशा में बोलने पर दण्ड	३७८
सन्देह में पकड़े गये लोगों में चोर की पहचान	,,	चारणस्त्री से व्यभिचार में दण्ड का अभाव	,,
निर्दोषता न प्रमाणित करने वाले को दण्ड	३६९	माता आदि से संभोग का दण्ड	,,
चोर को शारीरिक दण्ड	,,	सजातीय परस्त्री से व्यभिचार का दण्ड	,,
ब्राह्मण चोर के लिए दण्ड	३७०	हीन वर्ण की परस्त्री से व्यभि- चार का दण्ड	३७९
गाँव में चोरी का दोषी	,,	नीच वर्ण के पुरुष से व्यभिचार का स्त्री को दण्ड	,,
चोरी का दण्ड कौन दे ?	३७१	वाग्दत्ता सवर्णा कन्या का अपहरण ,,	
विशेष अपराध के लिए विशेष दण्ड	,,		

उच्च जाति की कन्या का अपहरण	३७९
कन्या की सहमति, असहमति का विचार	३८०
कन्यादूषण का दण्ड	"
कन्या का वास्तविक दोष कहने का दण्ड	३८१
पशुमैथुन, हीनस्त्रीसंभोग, गो-मैथुन का दण्ड	"
साधारण स्त्रीगमन का दण्ड	"
वेश्या जाति की प्राचीनता	३८२
पञ्चचूडा नाम की अप्सराएं	"
दासी-संभोग का दण्ड	"
श्वैरिणी दासियों के बलात् संभोग का दण्ड	३८३
वेतन लेने वाली वेश्या के मुकरने पर दण्ड	"
असामान्य स्त्रीमैथुन का दण्ड	३८४
चाण्डाली-संभोग का दण्ड	"

(२५) प्रकीर्णकप्रकरण

स्त्रीपुंयोग नाम का व्यवहार	३८४
उसका लक्षण	३८५
स्त्री पुरुष को अपने मार्ग में स्थापित करना	"
प्रकीर्ण व्यवहार का लक्षण	"
अपराध विशेष का दण्ड	"
द्विज को अभक्ष्य से दूषित करने का दण्ड	"
खोटा सोना और निषिद्ध मांस बेचने का दण्ड	३८६
सावधान करने पर चोट लगने में दोषाभाव	३८७
दुर्घटना से हिंसा होने में दोषाभाव	"
उपेक्षा करने पर पशु के स्वामी का दण्ड	"
जार को छोड़ देने पर दण्ड	३८८
राजा की निन्दा करनेवाले का दण्ड	"

राजा का कोश चुराने वाले का दण्ड	३८८
शव के ऊपर की वस्तु बेचने वाले का दण्ड	३८९
पिता या आचार्य को पीटने वाले का दण्ड	"
राजसिंहासन पर बैठने का दण्ड	"
औंख फोड़ने, राजा के अनिष्ट का प्रचार करने, ब्राह्मण का वेश बनाने पर दण्ड	"
राग, लोभ से व्यवहार में पक्षपात करने पर दण्ड	"
साक्षियों का दोष होने पर दण्ड	३९०
सभासदों द्वारा देखे गये अधर्मपूर्ण व्यवहार पर विचार	"
निर्णीत व्यवहार के प्रत्यावर्तन का दण्ड	"
पराजय न स्वीकारने वाले का दण्ड	"
राजा द्वारा जन्याय से लिये गये धन की उपयोगविधि	३९१

३. प्रायश्चित्ताध्यायः

(१) आशौचप्रकरण ।

आशौच शब्द का अर्थ	३९२
शव के गाड़ने और जलाने का विचार	"
शवानुगमन	"
चाण्डाल आदि अग्नि का निषेध	३९३
उदकदान के विचार	३९४
आहिताग्नि की मृत्यु पर विशेष नियम	"
शूद्र द्वारा लाये गये अग्नि आदि	३९४
ब्रह्मचारी और पतित द्वारा उदक-दान का निषेध	३९६
सपिण्डों में उदकदान के लिए प्रतिषिद्ध व्यक्ति	"
पाखण्डी आदि के मरनेपर आशौच	"
विशेष प्रकार की मृत्यु से आशौच का निषेध	३९७

पतितों के विषय में रोने का निषेध	३९७
आत्महत्या करने वाले का आशौच	३९८
नारायण बलि	"
नागबलि	३९९
शोक को दूर करने के लिए इतिहास	४००
मनुष्य की निःसारता	"
रोने का निषेध	४०१
प्रेतदाह के नाद वापस आना	"
घर में प्रवेश की विधि	"
तत्काल शुद्धि का उपाय	४०२
ब्रह्मचारी के व्रत की खण्डता	४०३
आशौचियों के नियम	"
प्रेतपिण्डदान	४०४
पिण्डदान देने वाला	४०५
पिण्ड की संख्या और काल	"
शिक्या आदि में जलदान	४०६
अस्थिसंचयन का समय	"
वपन	"
अग्निहोत्र के विषय में विचार	"
सूतक में सन्ध्योपासना	४०७
आशौच का समय	"
सपिण्ड आदि का आशौच	"
बालकों आदि का आशौच	४०८
जन्मसंबन्धी आशौच	"
प्रसूतिका का आशौच	४०९
पुत्रजनन के समय दान का अधिकार,	"
षष्ठीपूजन	"
आशौच के बीच दूसरे आशौच का	"
संपात	"
मातापिता की मृत्यु के आशौच का	"
संपात	४१०
गर्भस्त्राव में आशौच का निर्णय	"
रजस्वला की शुद्धि के विषय में	"
विचार	४१२
रजस्वला और सूतिका की मृत्यु का	"
आशौच	४१३
आहिताग्नि की मृत्यु पर विशेष	"
नियम	४१४

मृत्युविशेष की स्थिति में आशौच	
का अपवाद	४१५
युद्ध में, विदेश में, मरने पर आशौच	"
विमाता की मृत्यु पर आशौच	"
वर्णानुसार आशौच के दिन	४१६
आयु के अनुसार आशौच	४१७
आयु के अनुसार स्त्रियों का	"
आशौच	४१८
गुरु, मामा की मृत्यु पर आशौच	४२०
पिता की मृत्यु पर विवाहित	"
कन्या का आशौच	"
श्वशुर आदि की मृत्यु पर आशौच	४२१
अनौरस पुत्र की मृत्यु का आशौच	"
पराश्रित पत्नी की मृत्यु का	"
आशौच	"
शव के साथ जाने पर आशौच	४२२
राजा आदि की मृत्यु पर आशौच	"
का अभाव	"
दास आदि की मृत्यु पर आशौच	४२३
ऋषिज आदि की मृत्यु पर	"
अपवाद	"
ब्रह्मचारी और संन्यासी के	"
विषय में	४२४
आशौच के अन्त में स्नान	"
रजस्वला कुत्ता, चाण्डाल, पक्षियों के	"
स्पर्श पर शुद्धि	४२६
शुद्धि के हेतु और साधन	४२९
() आपद्धर्मप्रकरण	
आपत्ति के समय दूसरी वृत्ति	"
धारण करने का नियम	४३१
वैश्यवृत्ति वाले ब्राह्मण द्वारा	"
अविक्रय वस्तुएँ	४३२
निषिद्ध वस्तुओं में अपवाद	४३३
निषिद्ध कर्म करने का दोष	४३४
आपत्ति काल में दान लेने पर	"
दोषाभाव	"
आपत्ति काल में जीविका के साधन	"

कृषि आदि से जीविका न होने पर
अन्य साधन

४३५

राजा द्वारा वृत्ति निर्धारण

”

(३) वानप्रस्थप्रकरण

वानप्रस्थ के धर्म

४३६

स्वयं प्राप्त फल द्वारा पंचमहायज्ञ

४३७

द्रव्यसंचय का नियम

४३८

स्नान, स्वाध्याय और दान

४३९

वानप्रस्थ के भोजन का नियम

”

चान्द्रायणादि व्रत का नियम

”

पञ्चाग्निसेवन आदि

४४०

समदृष्टि होने का नियम

४४१

भैक्षचरण

”

शरीर त्याग का नियम

४४२

(४) यतिधर्मप्रकरण

यतिधर्म का निरूपण

४४२

यति के धर्म

४४३

भिचार्यन

४४५

यति के पात्र और उनकी शुद्धि

४४६

इन्द्रियसंयम और अनिष्टमय

संसार

४४७

ध्यान और ब्रह्मदर्शन

४४८

धर्म के लिए आश्रमविशेष

आवश्यक नहीं

”

सत्य, अस्तेय आदि धर्म

”

ब्रह्म से अनेक जीवात्मा की उत्पत्ति

४४९

आत्मा द्वारा किया गया कर्म

”

आत्मा का शरीरधारण

४५०

शरीरधारण की प्रक्रिया और

अवस्थाएँ

४५१

गर्भ में शरीर का विकास और

शारीरिक गुणों के उद्भव का

क्रम

४५३

दोहद का महत्त्व

”

गर्भ के महीनों में विकास की

दशाएँ

४५४

प्रसव का समय

४५५

शरीर के अंगों, अस्थियों की संख्या

४५५

इन्द्रियों के विषय-गन्धादि

४५८

कर्मेन्द्रियों

”

प्राणों के स्थान

”

प्राणस्थानों के विस्तार

४५९

स्नायु, धमनी, पेशियों

की संख्या

४६०

बालों और रोओं की संख्या

४६१

शरीर में रसों का अनुपात

४६२

शरीर में आत्मा की स्थिति

४६३

‘बृहदारण्यक’ तथा योगशास्त्र

का निर्देश

”

आत्मा के ध्यान की विधि

४६४

शब्द ब्रह्म की उपासना

”

मुक्ति के मार्ग सामगान, वीणा

”

वादन आदि

४६५

गीतज्ञ की योनि

”

आत्मा से सम्पूर्ण जगत्

की उत्पत्ति

४६६

मुनियों का प्रश्न

”

यज्ञ से प्रजासृष्टि

”

आत्मा द्वारा सुख-दुःख का भोग

क्यों ?

४६७

आदिदेव से चार वर्णों की

उत्पत्ति

४६८

मुनियों की शंका

४६९

कर्मानुसार योनि की प्राप्ति

४७०

कर्मों के फल की प्राप्ति का समय

”

कैसा व्यक्ति किसी योनि में जन्म

लेता है

४७१

सत्त्वादि गुण का परिणक

४७२

आत्मा को पिछले जन्म का बोध

क्यों नहीं होता

४७३

आत्मा का समष्टि, व्यष्टि भेद

४७४

धातुएँ और आत्मा से जगत्

की उत्पत्ति

”

जगत् के सृजन की प्रक्रिया

४७५

आत्मा के विषय में प्रमाण

४७६

आत्मा का अज्ञान और क्लेश	४७६	उपपातक	५०८
मुक्ति कौन पाता है ?	४७८	जाति भ्रंश के कारणभूत पाप	"
मोक्षप्राप्ति का हेतु	४७९	ब्राह्मणहत्या के प्रायश्चित्त की विधि	५१३
कर्मफलभोग के लिए शरीरधारण		ब्रह्मवध के विषय में विशेष नियम	५१४
आत्मा को नष्ट से उपमा	"	प्रोत्साहक आदि के लिए दण्ड-	
मोक्ष का मार्ग, स्वर्गमार्ग संसरण-		प्रायश्चित्त	५१६
मार्ग	४८१	बालक और वृद्ध के लिए आधा	
आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण	४८३	प्रायश्चित्त	५१७
क्षेत्रज्ञ का स्वरूप	४८४	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त की अवधि	५१८
बुद्धि आदि की उत्पत्ति	"	ब्रह्महत्या का दूसरा प्रायश्चित्त	५२१
गुणस्वरूप	४८५	ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का	
स्वर्गमार्ग, पितृयान	४८६	अतिदेश	५२५
पितृयान के मुनियों का वर्णन	४८७	आत्रेयी की हत्या का प्रायश्चित्त	५२६
ज्ञान के हेतु	"	आत्रेयी का लक्षण	"
आत्मज्ञानी और देवयान	४८८	सुरापान प्रायश्चित्त	५२७
उपासना की विधि	४८९	सुरा के विषय में विचार	५२८
धारणात्मक योगाभ्यास का		एकादश मद्य	५२९
प्रयोजन	४९०	सुरापान का दूसरा प्रायश्चित्त	५३०
योग की सिद्धि के लक्षण	४९१	सुरायुक्त शुष्कान्न के भक्षण का	
कर्मों के त्याग से मुक्ति	"	प्रायश्चित्त	"
गृहस्थ के लिए भी मुक्ति संभव	"	सुरापान में जल पीने का	
(५) प्रायश्चित्तप्रकरण		प्रायश्चित्त	५३१
कर्मविपाक का निरूपण	४९२	मद्यपान का प्रायश्चित्त	५३२
महापातकी का पुनः पुनः जन्म	"	द्विजाति की पत्नी के विषय में	
कर्म के अनुसार शरीरधारण	४९३	सुरापान प्रायश्चित्त	५३४
पतित होने का कारण और		सुवर्णस्तेय का प्रायश्चित्त	"
आवश्यकता	४९७	शङ्ख के विचार	५३५
प्रायश्चित्त का अधिकारी	"	सुवर्ण शब्द का अर्थ	५३६
प्रायश्चित्त न करने पर दोष	४९९	सुवर्णस्तेय का दूसरा प्रायश्चित्त	५३७
इक्कीस नरक	५००	गुरुतल्पगमन का प्रायश्चित्त	५३९
प्रायश्चित्त का फल	५०१	गुरु शब्द का अर्थ	"
महापातकी	५०२	गुरुतल्पगमन का दूसरा प्रायश्चित्त	५४२
ब्रह्महत्या के समान पाप	५०५	महापातकियों के साथ संसर्ग का	
सुरापान के समान पाप	"	प्रायश्चित्त	५४६
सुवर्णस्तेय के समान पाप	५०६	इस विषय में नियम का अपवाद	५४९
गुरुतल्प के समान पाप	"	शूद्रादि के विषय में प्रायश्चित्त	५५०
गुरुतल्पातिदेश	५०७	गोदध का प्रायश्चित्त	५५१

अवस्था के अनुसार प्रायश्चित्त का नियम	५५३	स्वाध्यायत्याग का प्रायश्चित्त	५८९
गोपालक की उपेक्षा से गोहत्या का प्रायश्चित्त	५५५	अग्नित्याग का प्रायश्चित्त	"
स्त्रियों के प्रायश्चित्त के विषय में विशेष नियम	५५६	आश्रम में न रहने का प्रायश्चित्त	५९०
पुरुषों के विषय में प्रायश्चित्त के विशेष नियम	५५७	समुदयात्रा का प्रायश्चित्त	५९१
उपपातकों के प्रायश्चित्त	५५८	देशयागमन का प्रायश्चित्त	"
स्त्री, शूद्र, विट्, तन्न के वध का प्रायश्चित्त	५६२	प्याज भादि खाने पर प्रायश्चित्त	५९३
स्त्रीवध का प्रायश्चित्त	५६३	संधिनी गाय का दूध पीने पर प्रायश्चित्त	५९४
अनुपपातक प्राणिवध के विषय में प्रायश्चित्त	५७०	गर्हित मांस खाने का प्रायश्चित्त	"
बिल्ली मारने पर प्रायश्चित्त	५७१	अपवित्र द्रव्य से स्पृष्ट वस्तु खाने का प्रायश्चित्त	५९५
वृक्षादि काटने पर प्रायश्चित्त	५७३	बुरे विचार से प्रदत्त अन्न खाने का प्रायश्चित्त	५९९
पुंश्रली, वानर के वध का प्रायश्चित्त और उनके स्पर्श से शुद्धि का उपाय	५७५	बासी भोजन करने का प्रायश्चित्त	"
वीर्यस्खलन का प्रायश्चित्त	५७६	गुणदुष्टशुक्त भादि के भक्षण का प्रायश्चित्त	६००
ब्रह्मचारी द्वारा स्त्रीभोग का प्रायश्चित्त	५७८	क्रियादुष्ट अन्न के भक्षण का प्रायश्चित्त	"
स्वप्न में वीर्यपातद्वे के प्रायश्चित्त का मन्त्र	५८०	एकाहादि श्राद्धभोजन का प्रायश्चित्त	६०३
संन्यास से अष्ट होने पर प्रायश्चित्त	"	अपुत्रादि के अन्नभक्षण का प्रायश्चित्त	६०४
अन्य अनुपातक का प्रायश्चित्त	५८१	जातिभ्रंश करने वाले पाप का प्रायश्चित्त	६०४
गुरु के लिए प्रायश्चित्त का विधान	५८२	(६) प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि	
सब प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त	५८३	निषिद्ध दान लेने का प्रायश्चित्त	६०४
झूठा दोष लगाने पर प्रायश्चित्त	"	गुरु की भर्त्सना का प्रायश्चित्त	६०५
आतृजायागमन का प्रायश्चित्त	५८५	विप्र को मारने के लिए उद्यत होने पर दण्ड	६०६
रजस्वला पत्नी के संभोग का प्रायश्चित्त	"	पादग्रहार का प्रायश्चित्त	"
अयाज्य व्यक्ति का यज्ञ कराने का प्रायश्चित्त	५८७	मनु द्वारा बताये गये प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त	"
येदविप्लावन का प्रायश्चित्त	५८८	नित्य, श्रौतादि कर्म न करने पर प्रायश्चित्त	"
		इन्द्रधनुष देखने का प्रायश्चित्त	६०७
		यज्ञोपवीत चढ़ाये बिना मलमूत्र-त्याग का प्रायश्चित्त	"

चोर और पतित के साथ भोजन करने का प्रायश्चित्त	६०७	सान्तपन नाम का व्रत	६२५
नीलरंगे वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त	"	महासान्तपन व्रत	६२६
देशविशेषगमन का प्रायश्चित्त	६०८	पर्णकृच्छ्रव्रत	६२७
प्रायश्चित्त के विषय में देश और काल का विचार	६०९	पादकृच्छ्रव्रत	६२८
पतित के घड़ा फोड़ने की विधि	६१०	प्राजापत्यकृच्छ्र	६२९
पतित को समाज में मिलाने की विधि	"	अतिकृच्छ्र	६३०
पतितत्याग की विधि का अतिदेश	६११	कृच्छ्रातिकृच्छ्र	"
स्त्रियों का विशेष रूप से पतित होना	६१२	पराकृच्छ्र	६३१
चरितव्रत के विषय में विशेष जाति में सम्मिलित करने की दूसरी विधि	६१३	सौम्यकृच्छ्र	"
रहस्यप्रायश्चित्त	६१५	तुलापुरुषकृच्छ्र	"
दूसरा प्रायश्चित्त	६१७	चान्द्रायणव्रत	६३२
सुरापान का रहस्यप्रायश्चित्त	"	दूसरे प्रकार का चान्द्रायण कृच्छ्र और चान्द्रायण का साधारणतः आचरण	६३३
सुवर्णस्तेय का प्रायश्चित्त	६१८	प्रायश्चित्त में वपन का विचार	६३६
गुस्तरूप का प्रायश्चित्त	"	अनादिष्ट पाप का प्रायश्चित्त	"
उपपातक का रहस्य प्रायश्चित्त	६२०	व्रत न कर सकने पर गोदान आदि	६३७
सौ बार प्राणायाम का नियम	"	महापातक आदि में गायों की संख्या	"
अपवित्र वस्तु मुख में डालने का प्रायश्चित्त	६२१	चान्द्रायण आदि में गायों की संख्या	"
अज्ञानवश किये गये पाप का प्रायश्चित्त	"	पुनः पाप करने पर पुनः प्रायश्चित्त	६३८
साधारण पवित्र मन्त्र	६२२	व्रत न कर सकने पर ब्राह्मण भोजन	६३९
यम और नियम	६२४	कृच्छ्र और चान्द्रायण का फल	६४०
		इस शास्त्र के अध्ययन और श्रवण का फल	"
		टिप्पणी (नोट्स)	६४३
		पद्यार्थानुक्रमणिका	६९७

11639

॥ श्रीः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिः 'मिताक्षरा' सहितहिन्दीव्याख्योपेता

आचाराध्यायः ॥ १ ॥

उपोद्धातप्रकरणम्

धर्माधर्मौ तद्विपाकास्तयोऽपि क्लेशाः पञ्च प्राणिनामायतन्ते ।
यस्मिन्नेतैर्नो परामृष्ट ईशो यस्तं वन्दे विष्णुमोक्षारवाच्यम् ॥ १ ॥
याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं मुहुर्विश्वरूपविकृतोक्तिविस्तृतम् ।
धर्मशास्त्रमृजुभिर्मिताक्षरबालबोधविधये विविच्यते ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चिदप्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संचिप्य
कथयामास-यथा मनुप्रणीतं शृणुः । तस्य चायमाद्यश्लोकः—

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १ ॥

योगिनां सनकादीनामीश्वरः । श्रेष्ठस्तं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मनोवाक्य-
कर्मभिः पूजयित्वा मुनयः सामश्रवःप्रभृतयः श्रवणधारणयोग्या अब्रुवन् उक्तवन्तः
धर्माद्योऽस्मभ्यं ब्रूहीति । कथम् ? अशेषतः कास्त्वन्येन । केषाम् ? वर्णाश्रमेत-
राणाम्, वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमा ब्रह्मचारिप्रभृतयः, इतरेऽनुलोमप्रतिलोभ-
जाता मूर्धावसिक्तादयः । 'इतर'शब्दस्य 'इन्द्रे च' (पा. १।१।३१) इति
सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । अत्र च 'धर्म'शब्दः षड्विधस्मात्तर्धर्मविषयः । तद्यथा-
वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति ।
तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादि । आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैष-

-
१. पाठान्तरम्—मनुनोक्तं । २. प्रभुस्तं । ३. सोमश्रवादयः ।
४. ब्रूहि कथयेति । ५. स्मार्तकर्मविषयः । ६. वर्जयेदिति ।

चर्यादिः । वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः । गुणधर्मः शास्त्री-
याभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः । निमित्तधर्मो विहिताकरण-
प्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम् । साधारणधर्मोऽहिंसादिः । 'न हिंस्यात्सर्वा
भूतानि' इत्याचण्डालं साधारणो धर्मः । 'शौचाचारंश्च शिष्येत्' इत्याचार्यकरण-
विधिप्रयुक्तत्वाद्वर्माशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनादिकथनं नातीवोपयुज्यते । तत्र चायं
क्रमः—प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः । ऊर्ध्वमुपनयनात्प्राग्भेदाध्यय-
नोपक्रमाद्धर्मशास्त्राध्ययनं, ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनं,
ततस्तदर्थजिज्ञासा, ततस्तदर्थानुष्ठानमिति । तत्र यद्यपि धर्मार्थकाममोक्षाः
शास्त्रेणानेन प्रतिपाद्यन्ते, तथापि धर्मस्य प्राधान्याद्धर्मग्रहणम् । प्राधान्यं च
धर्ममूलत्वादितरेषाम् । न च वक्तव्यं धर्ममूलोऽर्थोऽर्थमूलो धर्म इत्यविशेष इति ।
यतोऽर्थमन्तरेणापि जपतपस्तीर्थयात्रादिना धर्मनिष्पत्तिः, अथैलेशोऽपि न
धर्ममन्तरेणेति । एवं काममोक्षावपीति ॥ १ ॥

भाषा—(किसी समय) योगियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य की पूजा करके
(सोमश्वस आदि) मुनियों ने कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे
(अनुलोमज-प्रतिलोमज संकर जातियों) का धर्म हमें पूर्णरूप से
बताइए ॥ १ ॥

एवं पृष्ठः किमुवाचेत्याह—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन् ।

यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्माग्निबोधत ॥ २ ॥

मिथिला नाम नगरी तत्र स्थितः स याज्ञवल्क्यो योगीश्वरः क्षणं ध्यात्वा
किञ्चित्कालं मनः समाधाय एते श्रवणाधकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तमेतेभ्यो
वक्तुमित्युक्तवान्मुनीन् । किम् ? 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्माग्नि-
बोधयत'—इति । कृष्णसारो मृगो यस्मिन्देशे स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देशे
व्यमाणलक्षणा धर्मा अनुष्ठेयाः नान्यत्रेत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

भाषा—मिथिला नगरी में विराजमान उस योगीश्वर ने थोड़ी देर
अपने मन में विचार करके मुनियों से कहा कि जिस देश में काले
मृग (स्वच्छन्द) विचरण करते हैं उस देश में (अनुष्ठेय) धर्मों को
समझिए ॥ २ ॥

१. सर्वभूतानि इति ।

२. श्रुत्युक्तशौचाचारान् ।

३. जपतीर्थयात्रा ।

‘शौचाचारांश्च शिष्येत्’ इत्याचार्यस्य धर्मशास्त्राध्यापनविधिः । शिष्येण तदध्ययनं कर्तव्यमिति कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ३ ॥

पुराणं ब्रह्मादि, न्यायस्तर्कविद्या, मीमांसा वेदवाक्यविचारः, धर्मशास्त्रं मानवादि, अङ्गानि व्याकरणादीनि षट्, एतैरुपेताश्चत्वारो वेदाः विद्याः पुरुषार्थ-साधनानि, तासां स्थानानि च चतुर्दश, धर्मस्य च चतुर्दश स्थानानि हेतवः । एतानि च त्रैवर्णिकैरध्येतव्यानि । तदन्तर्भूतस्वाद्धर्मशास्त्रमप्यध्येतव्यम् । तत्रैतानि ब्राह्मणेन विद्याप्राप्तये धर्मानुष्ठानाय चाधिगन्तव्यानि । हस्त्रिष्वैरवस्थाभ्यां धर्मानुष्ठानाय । तथा च शङ्केन विद्यास्थानान्युपक्रम्योक्तम्—‘एतानि ब्राह्मणोऽधिकुरुते स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम्’ इति । मनुरपि द्विजातीनां धर्मशास्त्राध्य-यनेऽधिकारः, ब्राह्मणस्य प्रवचने नान्यस्येति दर्शयति (२.१६) ‘निष्केकादि-श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्नेयो नान्यस्य कर्हिचित् ॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित् ॥’ इति ॥ ३ ॥

भाषा—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और (व्याकरण आदि) अङ्गों सहित (चारों) वेद चौदह विद्या के और धर्म के स्थान या कारण हैं ॥ ३ ॥

अस्तु धर्मशास्त्रमध्येतव्यं, याज्ञवल्क्यप्रणीतस्यास्य शास्त्रस्य किमायातमित्यत आह—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।

यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनशृङ्गरूपता ॥ ४ ॥

पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।

शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ ५ ॥

‘उशनः’ शब्दपर्यन्तो द्वन्द्वैकवद्भावः । याज्ञवल्क्यप्रणीतमिदं धर्मशास्त्रमध्येत-व्यमित्यभिप्रायः । नेयं परिसंख्या, किंतु प्रदर्शनार्थमेतत् । अतो बौधायनादेरपि धर्मशास्त्रत्वमविरुद्धम् । एतेषां प्रत्येकं प्रामाण्येऽपि साक्षात्प्राणासाक्षात्पारिपूरण-मन्यतः क्रियते । विरोधे विकल्पः ॥ ४-५ ॥

- | | | |
|---------------------------|-------------------------|----------------------|
| १. पुरुषार्थज्ञानानि, | पुरुषार्थसाधनज्ञानानि । | २. तदन्तर्गतत्वात् । |
| ३. तत्र ब्राह्मणेनैतानि । | ४. कस्यचित् । | ५. ऽङ्गिरः । |
| | | ६. प्रवर्तका । |

भाषा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस्, अत्रिस्, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ—ये धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं ॥ ४-५ ॥

इदानीं धर्मस्य कारकहेतूनाह—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।

पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

देशो 'यस्मिन्देसे मृगः कृष्णः' (१।२) इत्युक्तलक्षणः, कालः संक्रान्त्यादिः, उपायः शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यताकलापः, द्रव्यं प्रतिग्रहादिलब्धं गणादि, श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, तदन्वितं यथा भवति तथा । पात्रं 'न विद्यया केवलया' (आचार-१।२००) इत्येवमादिवच्यमाणलक्षणम् । प्रदीयते यथा न प्रत्यावर्तते तथा परस्वत्वापत्यवसानं त्यज्यते । एतद्धर्मस्योत्पादकम् । किमेतावदेव नेत्याह—सकलमिति । अन्यदपि शास्त्रोक्तं जातिगुणहोमयागादि तत्सकलं धर्मस्य कारणं जातिगुणद्रव्यक्रियाभावार्थात्मकं चतुर्विधं धर्मस्य कारणमित्युक्तं भवति । तच्च समस्तं व्यस्तं वा यथाशास्त्रं द्रष्टव्यम् । श्रद्धा सर्वत्रानुवर्तते एव ॥ ६ ॥

भाषा—(पवित्र) देश में (उपयुक्त) समय पर विधिपूर्वक जो भी (स्वर्णादि) द्रव्य योग्य व्यक्ति को दान दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है ॥ ६ ॥

इदानीं धर्मस्य ज्ञापकहेतूनाह—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

श्रुतिर्वेदः, स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्, तथा च मनुः (२।१०) 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इति । सदाचारः सतां शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्, स्वस्य चात्मनः प्रियं, वैकल्पिके विषये यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' (आचार. २।१४) इत्यादावामेच्छैव नियामिका । सम्यक्सङ्कल्पाज्जातः कामः शास्त्रविरुद्धो यथा—'मया भोजनव्यतिरेकेणोदकं न पातव्यम्' इति । एते धर्मस्य मूलं प्रमाणम् । एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम् ॥ ७ ॥

भाषा—वेद-धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुकूल (उत्तम) कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा—ये सब धर्म का मूल कहे गये हैं ॥ ७ ॥

- | | | |
|-----------------------|--------------------------------|------------------------|
| १. विरोधे तु । | २. जुष्टानं नाशिष्टानाम् । | ३. इत्यत्रात्मेच्छैव । |
| इत्यादिवाच्यमेच्छैव । | ४. शास्त्राविरुद्धः कामो यथा । | |

देशादिकारकहेतूनामपवादमाह—

इज्याचारदमाहिंसानदानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

इज्यादीनां कर्मणामयमेव परमो धर्मः यद्योगेन बाह्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो दर्शनं याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकापता तत्राविशेषात्' (ब्र. सू. ४।१।६।१०) इति^१ ॥ ८ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान, वेदाध्ययन और (पुण्य) कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि योग अर्थात् बाह्य चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा आत्मा का याथातथ्य बोध हो ॥ ८ ॥

कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा संदेहे तु निर्णयहेतुमाह—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्वतत्रैविद्यमेव वा ।

सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥ ९ ॥

चत्वारो ब्राह्मणाः वेदधर्मशास्त्रज्ञाः पर्वत । तिस्रो विद्या अधीयन्त इति त्रैविद्याः, तेषां समूहस्यैविद्यम् । धर्मशास्त्रज्ञस्त्वमग्राप्यनुवर्तते, तद्वा पर्वत । सा पूर्वोक्ता पर्वत यं ब्रूते स धर्मः । अध्यात्मज्ञानेषु निपुणतमो धर्मशास्त्रज्ञ एकोऽपि वा यं ब्रूते सोऽपि धर्मः ॥ ९ ॥

भाषा—वेद और धर्म को जानने वाले चार पुरुषों की या तीन विद्याओं के ज्ञाता तीन ही पुरुषों की पर्वत होती है । वह (पर्वत) जो भी कहे वह धर्म होता है । अध्यात्मज्ञान में निपुणतम एक ही व्यक्ति जो कुछ कहता है वह धर्म होता है ॥ ९ ॥

इत्युपोदात्तप्रकरणम् ।

ब्रह्मचारिप्रकरणम्

एतैर्नवभिः श्लोकैः सकलशास्त्रोपोदात्तमुक्त्वा इदानीं वर्णादीनां धर्मान्वक्तुं प्रथमं तावद्दर्शनाह—

ब्रह्मक्षत्रियविदूशूरा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।

निषेकाद्याः इमशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ॥ १० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा वच्यमानलक्षणास्तेषामाद्यास्त्रयो ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्या द्विजाः,—द्विर्जायन्त इति द्विजाः, तेषां द्विजानां वै एव न शूद्रस्य,

१. पातञ्जले । २. वेदशास्त्रधर्मज्ञाः । ३. वेदधर्मशास्त्रज्ञश्च । ४. सोऽपि धर्म एव । ५. न शूद्राणां ।

एतेन शूद्रस्यामन्त्रकाः क्रियाः इत्युक्तं भवति, 'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः' इति यमोक्तेः । निषेकाद्याः निषेको गर्भाधानमाद्यो यासां तास्तथोक्ताः । श्मशानं पितृवनं तत्संबन्धि कर्म 'अन्तो यासां ताः क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति ॥ १० ॥

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये (चार) वर्ण हैं; इनमें आरंभ के तीन द्विज हैं । गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक की इनकी सभी क्रियाएँ मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं ॥ १० ॥

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रमति—

गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा ।

षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च ॥ ११ ॥

अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥ १२ ॥

गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम् । एवं वक्ष्यमाणान्यपि । तद् गर्भाधान-मृतौ ऋतुकाले वक्ष्यमाणलक्षणे । पुंसवनाख्यं कर्म गर्भचलनात्पूर्वम् । षष्ठेऽष्टमे वा मासि सीमन्तोन्नयनम् । एते च द्वे पुंसवन-सीमन्तोन्नयने चेत्रसंस्कारकर्म-स्वात्सङ्गेषु कार्ये, न प्रतिगर्भम् । यथाह देवलः—'सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता । य य गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्' इति । यद्वा—एते वा इते आगते गर्भकोशाज्जाते कुमारौ जातकर्म एकादशेऽहनि नाम । तच्च पितामहमातामहादिसम्बद्धं कुलदेवतासम्बद्धं वा । यथाह शङ्खः (२।१४)—'कुलदेवतासम्बद्धं पिता नाम कुर्यात्' इति । चतुर्थे मासि निष्क्रमणलक्षणं सूर्यावेक्षणं कर्म । षष्ठे मास्यन्नप्राशनं कर्म । चूडाकरणं तु यथाकुलं कार्यमिति प्रत्येकं सम्बध्यते ॥ ११-१२ ॥

भाषा—गर्भाधान संस्कार (गर्भधारण के) समय पर होता है और पुंसवन गर्भचलन के पहले होता है; जन्म लेने पर जातकर्म, ग्यारहवें दिन नामकरण, चौथे मास में निष्क्रमण, संस्कार करे । छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करे और चूडाकरण संस्कार कुल की रीति के अनुसार करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

एतेषां नित्यस्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—

एवमेनः शर्म याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

एवमुक्तेन प्रकारेण गर्भाधानादिभिः संस्कारकर्मभिः कृतैरेनः पापं क्षणं याति । किभूतम् ? बीजगर्भसमुद्भवं शुक्रशोणितसंबद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिमिहितं वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ॥—

स्त्रीणां विशेषमाह—

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ॥ १३ ॥

एता जातकर्मादिकाः क्रियाः स्त्रीणां तूष्णीं विनैव मन्त्रैर्यथाकालं कार्याः । विवाहः पुनः समन्त्रकः कार्यः ॥ १३ ॥

भाषा— इस प्रकार से (इन संस्कारों द्वारा) शुक्र और गर्भ से संबद्ध पाप शान्त होता है । ये जातकर्मादि) स्त्रियों के लिये विना मन्त्र के किये जाते हैं और विवाह संस्कार मंत्रों के साथ होता है ॥ १३ ॥

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥ १४ ॥

गर्भाधानमादि कृत्वा जननं वाष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं उपनयनमेवोपनायनम् । स्वार्थे अण् । वृत्तानुसारात्, छन्दोभङ्गात् । आर्षं वा दीर्घत्वम् । अत्रेच्छया विकल्पः । राज्ञामेकादशे । विशां वैश्यानां सैके एकादशे । द्वादशे इत्यर्थः । 'गर्भ'ग्रहणं सर्वत्रानुवर्तते । समासे गुणभूतस्यापि 'गर्भ'शब्दस्य बुद्ध्या विभज्योभयत्राप्यनुवर्तनं कार्यम् । 'गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भादि द्वादशे विशः' (शंख. २।७) इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथा अथ शब्दानुशासनं, केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानामिति । अत्रापि कार्यमित्यनुवर्तते । कुलस्थित्या केचिदुपनयनमिच्छन्ति ॥ १४ ॥

भाषा— गर्भकाल से आठवें अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार होता है । इसी प्रकार कुल के अनुसार क्षत्रिय के लिए ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में यह संस्कार विहित है ॥ १४ ॥

गुरुधर्मानाह—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहतिपूर्वकम् ।

वेदमध्यापयेदेनं शौवाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ १५ ॥

स्वगृहोक्तविधिनोपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहतिपूर्वकं वेदमध्यापयेत् । महाव्याहतयश्च भूरादिसत्यान्ताः सप्त । पञ्च वा गौतमभिप्रायेण । किञ्च

शौचाचारांश्च वक्ष्यमाणलक्षणान् शिष्येत् । 'उपनीय शौचाचारांश्च शिष्येत्'
इत्यनेन प्रागुपनयनात्कामचारो दर्शितो वर्णधर्मान्वर्जयित्वा । स्त्रीणामप्येतस्स-
मानं विवाहादर्वाक् ; उपनयनस्थानीयत्वाद्भिवाहस्य ॥ १५ ॥

भाषा—गुरु शिष्य या उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के
साथ वेद पढ़ावे और शौच के नियमों की शिक्षा दे ॥ १५ ॥

शौचाचारानाह—

दिवासंध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेदक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

कर्णस्थं ब्रह्मसूत्रं यस्य स तथोक्तः । कर्णश्च दक्षिणः, 'पवित्रं दक्षिणे कर्णे
कृत्वा विष्णुमूत्रमुत्सृजेत्' इति लिङ्गात् । असावहनि संध्योश्च उदङ्मुखो मूत्र-
पुरीषे कुर्यात् । चकाराद्भस्मादिरहिते देशे । रात्रौ तु दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

भाषा—यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाकर दिन में एवं सन्ध्या की उतर की
ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष का
त्याग करे ॥ १६ ॥

गृहीतशिशनश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः ।

गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥ १७ ॥

किंच, अनन्तरं शिशनं गृहीत्वोत्थायोद्धृताभिरद्भिर्वक्ष्यमाणलक्षणाभिर्मुद्भिश्च
गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं कुर्यात् । अतन्द्रितोऽनलसः । उद्धृताभिरद्भिरिति
जलान्तःशौचनिषेधः । अत्र 'गन्धलेपक्षयकरम्' इति सर्वाश्रमिणां साधारणमिदं
'शौचम्' । मृत्संख्यानियममस्ववृष्टार्थः ॥ १७ ॥

भाषा—शिशन को पकड़ कर और उठाकर, अलग लिये गये जल और
मिट्टी द्वारा (मल के) गन्ध एवं लेप को नष्ट करने वाला शौच आलस्यरहित
होकर करे ॥ १७ ॥

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः ।

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

शुचौ अशुचिद्रव्यासंस्पृष्टे । देश इत्युपानच्छयनासनादिनिषेधः । उपविष्टो
न स्थितः शयानः प्रह्वो गच्छन्वा । उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वेति दिगन्तरनिवृत्तिः ।
'शुचौ देशे' इत्येतस्मात्पादप्रक्षालनप्राप्तिः । ब्राह्मेण तीर्थेन वक्ष्यमाणलक्षणेन
द्विजो न शुद्रादिः । नित्यं सर्वकालमाश्रमान्तरगतोऽपि । उपस्पृशेदाचामेत् ।
कथम् ? अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये हस्तौ कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ १८ ॥



आचाराध्यायः

भाषा—ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ रखकर, पवित्र स्थल पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठे और ब्राह्मण तीर्थ से आचमन करे ॥ १८ ॥

प्रजापत्यादितीर्थान्याह—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।

प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ १९ ॥

कनिष्ठायास्तर्जण्या अङ्गुष्ठस्य च मूलानि करस्याग्रं च प्रजापतिपितृब्रह्मदेव-
तीर्थानि यथाक्रमं वेदितव्यानि ॥ १९ ॥

भाषा—कनिष्ठा, तर्जनी और अंगुठे के मूलभाग तथा हाथ का अप्रभाग-
ये सब क्रमशः प्रजापति तीर्थ, पितृतीर्थ और देवतीर्थ कहे जाते हैं ॥ १९ ॥

आचमनप्रकारः—

त्रिः प्राच्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ।

अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ॥ २० ॥

वारत्रयमपः पीत्वा मुखमङ्गुष्ठमूलेन द्विरुन्मृज्य खानि छिद्राणि ऊर्ध्वकाय-
गतानि घ्राणादीनि अद्भिरुपस्पृशेत् । 'अद्भिर्द्रव्यान्तरासंसृष्टाभिः । 'पुनरद्भि-
रित्यब्रह्मणं प्रतिच्छिद्रमुदकस्पर्शनार्थम् । स्मृत्यन्तरात्—'अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं
चैव मुखं स्पृशेत् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुः श्रोत्रं पुनः पुनः ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठ-
योर्नाभि हृदयं तु तलेन वै । सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्वाङ्मूत्राग्रेण संस्पृशेत् ॥'
इति । पुनस्ता एव विशिनष्टि—प्रकृतिस्थाभिः गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः ।
फेनबुद्बुदरहिताभिः । तु शब्दाद्वर्षधारागतानां शूदाद्यावर्जितानां च
निषेधः ॥ २० ॥

भाषा—तीन बार जल पीकर, (अंगुठे के मूलभाग से) दो बार मुख
धोकर, नाक, कान, आँख और मुँह का जल से स्पर्श करे । वह जल स्वच्छ
होना चाहिए' उसमें फेन एवं बुलबुले न होंवे ॥ २० ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ।

शुष्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ २१ ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिरद्भिर्यथाक्रमेण द्विजातयः शुष्यन्ति । स्त्री च शूद्रश्च
अन्ततः 'अन्तर्गतेन तालुना र' भिरपि । 'सकृत्' इति वैश्याद्विशेषः । च
शब्दादनुपनीतोऽपि ॥ २१ ॥

१. संस्पृष्टाभिः । २. पुन ब्रह्मणं । ३. अन्तेन ।

भाषा—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल के पहुँचने पर शुद्ध होते हैं। स्त्री और शूद्र तो तालु से एक ही बार जल स्पर्श कराने पर शुद्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

स्नानमब्देवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं

प्राणसंयमः ।

सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ २२ ॥

प्रातःस्नानं यथाशास्त्रमब्देवतैर्मन्त्रैः 'आपोहिष्ठा' इत्येवमादिभिर्मार्जनम् । प्राणसंयमः प्राणायामो वच्यमाणलक्षणः । ततः सूर्यस्योपस्थानं सौरमन्त्रेण गायत्र्याः । 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्याद्यायाः प्रतिदिवसं जपः कार्यः । 'कार्य'-शब्दो यथालिङ्गं प्रत्येकमभिसंवध्यते ॥ २२ ॥

भाषा—स्नान, अब्देवत मन्त्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम, (तदुपरान्त) सूर्योपस्थान और गायत्री का जप प्रतिदिन करे ॥ २२ ॥

प्राणायामविचारः—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जतेद् व्याहृतिपूर्विकाम् ।

प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ २३ ॥

गायत्री पूर्वोक्ताम् 'आपोऽयोतिः' इत्यादिना शिरसा संयुक्तां उक्तव्याहृति-पूर्विकां प्रतिव्याहृति प्रणवेन संयुक्तां ओम्भूः ओम्भुवः ओम्स्वरिति त्रीन्वारान्मुख नासिकासंचारिवायुं निरुन्धन् मनसा जपेदित्ययं सर्वत्र प्राणायामः ॥ २३ ॥

भाषा—शिरोमन्त्र और महाव्याहृति (का जप करने) के उपरान्त (प्रत्येक महाव्याहृति में) प्रणव जोड़ते हुए गायत्री का तीन बार (मुख और नासिका की) श्वासवायु रोककर जप करने पर एक प्राणायाम होता है ॥ २३ ॥

सावित्रीजपप्रकारः—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाब्देवतेन तु ।

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् ॥ २४ ॥

संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात् ।

प्राणायामं पूर्वोक्तं कृत्वा तृचेनाब्देवतेन पूर्वोक्तेनात्मानमग्निः संप्रोक्ष्य सावित्रीं जपन् प्रत्यक्संध्यामासीत । अर्थात् 'प्रत्यङ्मुख' इति लभ्यते । अतः तारकोदयात् तारकोदयावधि । प्राक्संध्यां प्रातः समये एवं पूर्वोक्तविधिमाचरन् प्राङ्मुखः सूर्योदयावधि तिष्ठेत् । अहोरात्रयोः संधौ वा क्रिया विधीयते सा संध्या । तत्र

१. मित्यादेः । २. जपः कार्यः । ३. मुपासीत ।

अहः संपूर्णादित्यमण्डलदर्शनयोग्यः कालः, तद्विपरीता रात्रिः । यस्मिन्काले खण्डमण्डलस्योपलब्धिः स संधिः ॥ २४ ॥

भाषा—प्राणायाम के उपरान्त मार्जन के मंत्र से सिर पर जल छिड़ककर (सन्ध्या को) पश्चिम की ओर मुख करके तारागण का उदय होने तक सावित्री का जप करे ॥ २४ ॥

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ॥ २५ ॥

ततः सन्ध्योपासनानन्तरं द्वयोः सन्ध्योरग्निकार्यं अग्नौ कार्यं समिप्रचेपादि यस्तत्कुर्यात् स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ २५ ॥

भाषा—इसी प्रकार प्रातःकाल सूर्य के उदय होने तक पूर्व दिशा को करके मुख जप करे । इसके उपरान्त दोनों सन्ध्याओं में (सायं एवं प्रातः) अग्निहोत्र करे ॥ २५ ॥

ततोऽभिवादयेद्बृहन्नानसावहमिति ब्रुवन् ।

तदनन्तरं बृहन्नं गुरुप्रभृतीनामभिवादयेत् । कथम् ? असौ देवदत्तशर्माऽहमिति स्वं नाम कीर्तयन् ॥—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ॥ २६ ॥

आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत् ।

हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २७ ॥

तथा गुरुं वचयमाणलक्षणमुपासीत तत्परिचर्यापरस्तदधीनस्तिष्ठेत् । स्वाध्यायार्थमध्ययनसिद्धये समाहितोऽविच्छिन्नचित्तो भवेत् । आहूतश्चाप्यधीयीत गुर्वाहूत एवाधीयीत, न स्वयं गुरुं प्रेरयेत् । यच्च लब्धं तत्सर्वं गुरवे निवेदयेत् । तथा तस्य गुरोर्हितमाचरेत् । नित्यं सदा । मनोवाक्कायकर्मभिः न प्रतिकूलं कुर्यात् । अपिशब्दाद्गुरुदर्शने गौतमोक्तं कण्ठप्रावृत्तादि वर्जयेत् ॥ २६-२७ ॥

भाषा—तब 'मैं अमुक हूँ' ऐसा कहते हुए श्रेष्ठ व्यक्तियों को प्रणाम करे । अध्ययन के लिए दत्तचित्त होकर गुरु की परिचर्या करे । (गुरु द्वारा) बुलाये जाने पर ही अध्ययन करे और जो कुछ प्राप्त हो वह सब गुरु को अर्पित करे । मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा उनके अनुकूल कार्य करे ॥ २६-२७ ॥

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्याणसूयकाः ।

अध्याप्या धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदाः ॥ २८ ॥

१. लब्धं तस्मै । २. कल्याणसूयकाः । ३. अध्याप्याः साधुशक्तस्त्वार्थदा धर्मतस्त्वमे ।

कृतमुपकारं न विस्मरतीति कृतज्ञः। अद्रोही दयावान्। मेधावी ग्रन्थ-
ग्रहणधारणशक्तः। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचवान्। कश्यः आधिभ्याधिरहितः।
अनसूयको दोषानाविष्करणेन गुणाविष्करणशीलः। साधुः वृत्तवान्। शक्तः
शुश्रूषायाम्। आप्तो बन्धुः। ज्ञानदो विद्याप्रदः। ^१वित्तदोऽर्पणपूर्वकमर्थप्रदाता।
एते गुणाः समस्ता व्यस्ताश्च यथासंभवं द्रष्टव्याः। एते च धर्मतः शास्त्रानुसारेण
अध्याप्याः ॥ २८ ॥

भाषा—कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र आधिभ्याधि में मुक्त, परदोषान्वेषण
से विरत, सदाचारी, (सेवा में) समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एवं धनदाता—ये ही
शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं ॥ २८ ॥

दण्डादिधारणमाह—

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।

तथा स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं पालाशादिदण्डं, अजिनं च ^१काष्णादि, उपवीतं
कार्पासादिनिर्मितं, मेखलां च मुञ्जादि, ब्राह्मणादिर्ब्रह्मचारी धारयेत् ॥—

भैक्षचर्याप्रकारः—

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये ॥ २९ ॥

आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्या^२ यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

पूर्वोक्तदण्डादियुक्तो ब्राह्मचारी ब्राह्मणेष्वनिन्द्येषु अभिशस्तादिव्यतिरिक्तेषु
स्वकर्मनिरतेषु भैक्षं^३ चरेत्। आत्मवृत्तये आत्मनो जीवनाय न परार्थं आचार्य-
तज्ज्ञायापुत्रव्यतिरेकेण। निवेद्य गुरवे तदनुज्ञातो मुञ्जीत। 'तदभावे तत्पुत्रादा'
इति नियमात्। अत्र च 'ब्राह्मण' ग्रहणं संभवे^४ सति नियमार्थम्। यस्तु
'सार्ववर्णिकं भैक्षचरणम्' इति, तत्रैवर्णिकविषयम्। यच्च 'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षम्'
इति, तदापद्विषयम्। कथं भैक्षचर्या कार्या? आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दो-
पलक्षिता 'भवति भिक्षां देहि', 'भिक्षां भवति देहि', भिक्षां देहि भवति इत्येवं
वर्णक्रमेण भैक्षचर्या कार्या ॥ २९-३० ॥

भाषा—पालाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूँज की मेखला
धारण करे। जीवन निर्वाह के लिए पवित्र (अर्थात् अपने कर्म में रत रहने
वाले) ब्राह्मणों के घर भिक्षायाचन करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः
आरम्भ, मध्य और अन्त में 'भवत्' शब्द का प्रयोग करते हुए भिक्षा की
याचना करे ॥ २९-३० ॥

१. अर्पणपूर्वकं। २. काष्णाजिनादि। ३. भैषय। ४. सति।
नियमार्थं। ५. त्रैवर्णिकप्राप्त्यर्थम्।

भोजनप्रकारः—

कृताभिकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुक्षया ।

आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तेन विधिना भिक्षामाहृत्य गुरवे निवेद्य तदनुक्षया कृताभिकार्यो वाग्यतो मौनी अन्नं सत्कृत्य संपूज्य अकुत्सयन्ननिन्दन् आपोशानक्रियां 'असृतोप-स्तरणमसि' इत्यादिकां पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत । अन्नं पुनः अभिकार्यग्रहणं संध्याकाले कथञ्चिदकृताभिकार्यस्य 'कालान्तरविधानार्थं' न पुनस्तृतीय-प्रासवर्थम् ॥ ३१ ॥

भाषा—(हवनादि) अभिकार्य करके गुरु की आज्ञा पाकर, आचमन करके, अन्न का सत्कार करके और (अन्न की) निन्दा न करते हुए मौन होकर भोजन करे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।

ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितः ^१एकाग्रं नाद्यादनापदि व्याध्याद्यभावे । ब्राह्मणः पुनः श्राद्धेऽभ्यर्थितः सन् ^२काममश्नीयात् । व्रतमपीडयन् मधुमांसपरिहारेण । अत्र 'ब्राह्मण' ग्रहणं 'अत्रियादेः' श्राद्धभोजनव्युदासार्थम् । 'राजन्यवैश्ययोश्चैव नैतत्कर्म प्रचक्षते' इति स्मरणात् ॥ ३२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए, रोगादि विपत्ति से मुक्त दशा में किसी एक ही (व्यक्ति के) अन्न का भोजन न करे; श्राद्ध भोजन के अवसर पर ब्राह्मण अपने व्रत का उल्लंघन न करते हुए ऐसा कर सकता है ॥ ३२ ॥

मधुमांसादिवर्ज्यान्याह—

मधुमांसाज्जनोच्छिष्टशुक्लप्राणिर्हिसनम् ।

भास्करालोकनाश्लीलपरिचादादि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु बौद्रं, न मद्यम् ; तस्य 'निस्थं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति निषेधात् । मांसं छागादेरपि । अज्जनं वृतादिना गात्रस्य, कज्जलादिना चाषणोः । उच्छिष्ट-मगुरोः । शुक्लं निष्ठुरवाक्यं, 'नास्तरसः', तस्याभक्ष्यप्रकरणे निषेधात् । क्षियमुप-भोगे । प्राणिर्हिसनं जीववधः । भास्करस्योदयास्तमयावलोकनम् । अश्लीलम-सत्यभाषणम् । परिचादः सर्वसद्रूपस्य परदोषस्य ख्यापनम् । 'आदि' शब्दात् स्मृत्यन्तरोक्तं गन्धमास्यादि गृह्यते । एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

१. कालान्तरं मध्याह्नादि । २. एकाग्रमेकस्वामिकम् । ३. कामं यथेष्टम् ।
४. न रसादि । ५. भास्करस्य अवलोकनं । ६. शुद्धभाषणं ।

भाषा—मधु, मांस, लेप और अंजन (गुरु के अतिरिक्त अन्य का) जूठा भोजन, कठोर वचन, स्त्री, जीवहिंसा, (उदय और अस्त के समय) सूर्यदर्शन, अश्लील (और असत्य) भाषण तथा दोषान्वेषण इत्यादि से परहेज रखे ॥ ३३ ॥

गुर्वादिलक्षणमाह—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।

उपनीय ददद्देदमाचार्यः स उदाहृतः ॥ ३४ ॥

योऽसौ गर्भाधानाद्या उपनयनपर्यन्ताः क्रिया यथाविधि कृत्वा वेदमस्मै ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति स गुरुः । यः पुनरुपनयनमात्रं कृत्वा वेदं 'प्रयच्छति स आचार्यः ॥ ३४ ॥

भाषा—वह गुरु होता है जो (उपनयन तक की) क्रियाएँ करके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है । केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले को आचार्य कहा गया है ॥ ३४ ॥

उपाध्यायस्त्रिगुणलक्षणम्—

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यते ।

एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ ३५ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्र-ब्राह्मणयोरेकं अङ्गानि वा योऽध्यापयति स उपाध्यायः । यः पुनः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक् । एते च गुर्वाचार्योपाध्यायस्त्रिगो यथापूर्वं यथाक्रमेण मान्याः पूज्याः । एभ्यः सर्वेभ्यो माता गरीयसी पूज्यतमा ॥ ३५ ॥

भाषा—(वेद के) एक भाग या अङ्ग की शिक्षा देने वाला उपाध्याय होता है, और यज्ञकर्म कराने वाले को ऋत्विज् कहते हैं । ये (गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज्) क्रमानुसार पूज्य होते हैं, और माता इन सबसे अधिक पूजनीय होती है ॥ ३५ ॥

वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यावधिमाह—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशान्दानि पञ्च वा ।

ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे ॥ ३६ ॥

यदा विवाहासंभवे 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वा' इति प्रवर्तते तदा प्रतिवेदं वेदं वेदं प्रति ब्रह्मचर्यं पूर्वोक्तं द्वादशवर्षाणि कार्यम् । अशक्तौ पञ्च । 'ग्रहणान्तिकं' इत्येके वर्णयन्ति । केशान्तः पुनर्गोदानाख्यं कर्म गर्भादारभ्य षोडशे वर्षे

ब्राह्मणस्य कार्यम् । एतच्च द्वादशवार्षिके वेदव्रते बोद्धव्यम् । इतरस्मिन्पक्षे यथासंभवं द्रष्टव्यम् । राजन्य-वैश्ययोस्तूपनयनकालवद् द्वाविंशे चतुर्विंशे वा^१ द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

भाषा—प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पांच वर्षों का ब्रह्मचर्यकाल होता है; किन्तु कुछ लोग विद्याप्रहण के अन्त तक ब्रह्मचर्य बताते हैं । केशान्त या गोदान नाम का कर्म (गर्भकाल से) सोलहवें वर्ष में करना चाहिए ॥ ३६ ॥

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशच्चतुर्विंशच्च वत्सरात् ।

ब्रह्मक्षत्रविंशं काल औपनायनिकः परः ॥ ३७ ॥

अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या ब्रात्यस्तोमादृते क्रतोः ॥ ३८ ॥

आषोडशाद्वर्षाषोडशवर्षं यावत् आ द्वाविंशदा चतुर्विंशद्वर्षाद्ब्रह्मक्षत्रविंशं औपनायनिकः उपनयनसंबन्धी परः कालः । नातः परमुपनयनकालोऽस्ति, किन्तु अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः । सर्वधर्मेष्वनधिकारिणो भवन्ति । सावित्रीपतिताः पतितसावित्रीका भवन्ति । सावित्रीदानयोग्या न भवन्ति । ब्रात्याः संस्कारहीनाश्च ब्रात्यस्तोमास्तोर्विना कृते तु तस्मिन्मुपनयनाधिकारिणो भवन्ति ॥ ३७-३८ ॥

भाषा—सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष तक क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के लिए उपनयन संस्कार की आखिरी अवधि होती है । इस समय के बाद (यज्ञोपवीत न होने पर) ये सभी धर्मों से बहिष्कृत होकर च्युत, सावित्रीदान के अयोग्य और ब्रात्यस्तोम यज्ञ के बिना ब्रात्य अथोत् संस्कारहीन हो जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

‘आद्यास्त्रयो द्विजाः’ (आचार. २०।१) इत्युक्तं, तत्र हेतुमाह—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिवन्धनात् ।

ब्राह्मणक्षत्रयविंशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

मातुः सकाशात्प्रथमं जायन्ते, मौञ्जिवन्धनाच्च द्वितीयं जन्म यस्मात्तस्मादेते ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या द्विजा उच्यन्ते ॥ ३९ ॥

१. वा यथासंभवं । २. त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । ३. ब्राह्मणक्षत्रियविंशं ।

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पहले माता से जन्म लेते हैं; मौजि-
मेखला के बाँधे जाने पर (उपनयन के समय) इन सबका दूसरा जन्म होता है;
अतः इन्हें द्विज कहा जाता है ॥ ३९ ॥

वेदग्रहणाध्ययनफलमाह—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥ ४० ॥

यज्ञानां श्रौत-स्मार्तानां, तपसां कार्यसन्तापरूपाणां चान्द्रायणादीनां, शुभानां
च कर्मणां उपनयनादिसंस्काराणां अवबोधकत्वेन वेद एव द्विजातीनां परो
निःश्रेयसकरो^१ नान्यः । 'वेद एव' इति तन्मूलकत्वेन स्मृतेरप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४० ॥

भाषा—यज्ञों, तपस्याओं और (उपनयनादि) शुभ कर्मों का अवबोधक-
होने से वेद ही द्विजातियों के लिए परम उपकारक होता है दूसरा नहीं ॥ ४० ॥

ग्रहणाध्ययनफलमुक्त्वेदानीं काम्यव्रतब्रह्मयज्ञाध्ययनफलमाह—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।

पितृन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते च योऽन्वहम् ॥ ४१ ॥

यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतैः ।

प्रीणाति देवानाज्येन मधुना च पितृस्तथा ॥ ४२ ॥

स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद्योऽन्वहं पठेत् ।

सामानि तृप्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिषा ॥ ४३ ॥

योऽन्वहमृचोऽधीते स मधुना पयसा च देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति ।
यः पुनः शक्तितोऽन्वहं यजूंष्यधीते स घृतामृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां तर्पयति ।
यस्तु सामान्यन्वहमधीते स सोमघृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां प्रीणाति ।
ऋगादिग्रहणं सामान्येन ऋगादिर्मात्रप्राप्त्यर्थम् ॥ ४१-४३ ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन ऋचाओं का अध्ययन करता है, वह मधु और
दुध से देवताओं के लिये तथा मधु और घृत से पितरों के लिये तर्पण करता है ।
जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति यजुस् मन्त्रों का अध्ययन करता है वह घृत
और जल से देवताओं का तथा आज्य एवं मधु से पितरों को प्रसन्न करता है ।
जो (द्विज) प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह सोम और घृत
से देवताओं के लिए तर्पण करता है, और मधु तथा घृत द्वारा पितरों को तृप्ति
प्रदान करता है ॥ ४१-४३ ॥

१. परो मोक्षकरो । २. काम्यब्रह्म । ३. हि यो । ४. पितृंश्च
मधुना द्विजः । ५. प्रीणाति । ६. मंत्र ।

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन् ।
 पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः ॥ ४४ ॥
 वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः ।
 इतिहासांस्तथा विद्याः शक्त्याधीते हि योऽन्वहम् ॥ ४५ ॥
 मांसक्षीरौदनमधुतर्पणं स दिवौकसाम् ।
 करोति तृप्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिणा ॥ ४६ ॥
 ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।

यः पुनः शक्तितोऽन्वहं अथर्वाङ्गिरसोऽधीते स देवान्मेदसा पितृंश्च मधुस-
 र्पिभ्यां तर्पयति । यस्तु वाकोवाक्यं प्रश्नोत्तररूपवेदवाक्यम् । पुराणं ब्राह्मादि ।
 चकारान्मानवादिधर्मशास्त्रम् । नाराशंसीश्च रुद्रदेवस्यान्मन्त्रान् । गाथा यज्ञ-
 गाथेन्द्रगाथाद्याः । इतिहासान् महाभारतादीन् । विद्याश्च वारुणाद्या विद्याः ।
 शक्तितोऽन्वहमधीते । स मांसक्षीरौदनमधुसर्पिर्भिर्देवान् पितृंश्च मधुसर्पिभ्यां
 तर्पयति ॥ ते पुनस्तृप्ताः सन्तो देवाः पितरश्च एनं स्वाध्यायकारिणं सर्वकामफलैः
 शुभैरनन्योपघातलक्ष्णैस्तर्पयन्ति ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन यथाशक्ति अथर्वाङ्गिरस पढ़ता है वह देवों
 का मेद द्वारा एवं पितरों का मधु और घृत द्वारा तर्पण करता है । जो (द्विज)
 प्रतिदिन यथाशक्ति वाकोवाक्य पुराण, नाराशंसी, गाथा इतिहास तथा
 (वारुणादि) विद्याओं का अध्ययन करता है वह मांस दूध, ओदन और
 मधु द्वारा देवताओं के लिए तर्पण करता है और पितरों को मधु तथा घृत
 द्वारा तृप्त करता है । वे (देवता और पितर) तृप्त होकर इस (स्वाध्याय के
 अधिकारी) को सभी शुभ अभीष्ट फलों द्वारा सुखी बनाते हैं ॥

प्रशंसार्थमाह—

यं यं क्रतुमधीते^१ च तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥ ४७ ॥

त्रिविक्तपूर्णपृथिवीदानस्य फलमप्नुते ।

तपसश्च परस्येह^२ नित्यं स्वाध्यायवान्द्विजः ॥ ४८ ॥

यस्य यस्य क्रतोः प्रतिपादक वेदैकदेशमन्वहमधीते तस्य तस्य क्रतोः
 फलमवाप्नोति । तथा विक्तपूर्णायाः पृथिव्याः त्रिः त्रिवारं दानस्य यत्फलं परस्य

१. पितृंश्च मधुसर्पिणा । संतर्पयेद्यथाशक्ति योऽथर्वाङ्गिरसीः पठेत् । २. विद्यां
 योऽधीते शक्तितोऽन्वहम् । ३. च तथा । ४. मधीयीत; मधीतेऽसी
 ५. तपसो यत्परस्य । ६. नित्यः ।

तपसश्चान्द्रायणादेर्यत्फलं तदपि नित्यं स्वाध्यायवानाप्नोति । 'नित्य' ग्रहणं कास्यस्यापि सतो नित्यत्वज्ञापनार्थम् ॥ ४७-४८ ॥

भाषा—वह जिस-जिस यज्ञ का अध्ययन करता है, उस-उस यज्ञ का फलप्राप्त करता है । धनधान्य से पूर्ण पृथिवी का तीन बार दान करने से एवं (चान्द्रायणादि) उत्कृष्ट तपस्याओं से जो फल होता है उसी का भोग नित्य स्वाध्यायरत द्विज करता है ॥ ४७-४८ ॥

एवं सामान्येन ब्रह्मचारिधर्मानभिधायाधुना नैष्ठिकस्य विशेषमाह—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ ।

तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ ४९ ॥

अनेन विधिना देहं सांदयन्विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः ॥ ५० ॥

अनेनोक्तेन प्रकारेणात्मानं निष्ठां उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः स याव-ज्जीवमाचार्यसमीपे वसेत् । न वेदग्रहणोत्तरकालं स्वतन्त्रो भवेत् । तदभावे तत्पुत्रसमीपे, तदभावे तद्भार्यासमीपे, तदभावे वैश्वानरेऽपि । अनेनोक्तविधिना देहं सादयन् क्षपयन् विजितेन्द्रियः इन्द्रियजये विशेषप्रयत्नवान्ब्रह्मचारी ब्रह्म-लोकममृतत्वमाप्नोति । न कदाचिदिह पुनराजायते ॥ ४९-५० ॥

भाषा—नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप निवास करे; उनके न होने पर उनके पुत्र के समीप अथवा (पुत्र के अभाव में) उनकी पत्नी के या (गुरु पत्नी के न होने पर) अग्निहोत्र की अग्नि के निकट निवास करे । इस विधि द्वारा शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय कर वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है और इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता ॥ ४९-५० ॥

इति ब्रह्मचारिप्रकरणम् ।

विवाहप्रकरणम्

यः पुनर्ववाहस्तस्य विवाहार्थं स्नानमाह—

गुरवे तु वर दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ ५१ ॥

१. साधयन् [अस्मिन्पाठे विपरीतलक्षणा बोध्या ।] २. न चेह जायते ।


३. उक्तप्रकारेण ।

४. ग्रहणकालोत्तरं ।

५. स्वोपास्याग्निसंनिधौ ।

६. स नायीत ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकम्, व्रतानि, ब्रह्मचारिधर्माननुक्रान्तान् । उभयं वा, पारं नीत्वा समाप्य, गुरवे पूर्वोक्ताय वरमभिलषितं यथाशक्ति दत्त्वा स्नायात् । अशक्तौ तदनुज्ञया अदत्तवरोऽपि । एतेषां च पक्षाणां शक्तिकालाद्यपेक्षया व्यवस्था ॥ ५१ ॥

 भाषा—वेद (का अध्ययन) या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से (समावर्तन) स्नान करे ॥ ५१ ॥

स्नानानन्तरं किं कुर्यादित्यत आह—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥ ५२ ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्योऽस्वलितब्रह्मचर्यः । लक्षण्यां बाह्याभ्यन्तरलक्षणैर्युक्ताम् । बाह्यानि 'तनुलोमकेशदशनाम्' ^१ इत्यादीनि (३।१०) मनुनोक्तानि । आभ्यन्तराणि 'अष्टौ पिण्डान्कृत्वा' इत्याद्याश्वलायनोक्तविधिना ज्ञातव्यानि । स्त्रियं नपुंसकत्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । अनन्यपूर्विकां दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तराऽपरिगृहीताम् । कान्तां कमनीयां वोढुर्मनोनयनानन्दकारिणीम् । 'यस्यां मनश्चक्षुषोर्निर्वन्धस्तस्यामृद्धिः' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । एतच्च न्यूनाधिकाङ्गादिबाह्यदोषाभावे । असपिण्डां समान एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा ताम् । सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति । तथा हि—पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सहैकपिण्डता । एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात् । एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा । तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण । तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरप्येकशरीरावयवान्वयात् । तथा पितृव्य-पितृष्वसृदिभिरपि । तथा पत्या सह पत्या एकशरीरावयवान्वयेन । एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरावयवान्वयेन सहैकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः । यद्येवं मातामहादीनामपि 'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते' इत्यविशेषेण प्राप्नोति । स्यादेतत्,—यदि तत्र 'प्रप्तानामितरे कुर्युः' इत्यादिविशेषवचनं न स्यात् । अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र 'दशाहं शावमाशौचम्' इत्येतद्वचनं भवतिष्ठते । अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम् । 'आत्मा हि जज्ञ आत्मनः' इत्यादिश्रुतेः । तथा 'प्रजामनु प्रजायसे' इति च । 'स एवायं विरूढः प्रत्यक्षेणो-

१. केशादीनि मनुप्रोक्तानि ।

२. सह सापिण्ड्यं ।

३. एकशरीरावयवैः ।

पश्यते, दृश्यते चापि सारूप्यम् । देहत्वमेवान्यत् इत्यापस्तम्बवचनाच्च । यथा गर्भोपनिषदि—'एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः । अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वह्मांसरुधिराणि मातृतः' इति तत्र तत्रावयवान्वय-प्रतिपादनात् । 'निर्वाप्यपिण्डान्वयेन तु सापिण्डये मातृसंताने भ्रातृपितृव्यादिषु च सापिण्डयं न स्यात् । समुदायशक्त्यङ्गीकारेण रुद्धिपरिग्रहेऽवयवशक्तिस्तत्र तत्रावगम्यमाना परित्यक्ता स्यात् । सस्त्ववयवार्थेषु योऽन्यत्रार्थे प्रयुज्यते । तत्रानन्यगतित्वेन समुदायः प्रसिद्धयति । एवं परम्परयैकशरीरावयवान्वयेन तु सापिण्डये यथा नातिप्रसङ्गस्तथा वक्ष्यामः । यदीयसीं वयसा प्रमाणतश्च न्यूनं उद्बहेत् परिणयेत् स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ ५२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्य से च्युत न होकर शुभ लक्षणां से युक्त स्त्री से विवाह करे, जो पहल किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी द्वारा भुक्त न हो सुन्दरी हो, असपिण्ड हो तथा (आयु एवं शरीर-प्रमाण में) अपने से छोटी हो ॥ ५२ ॥

विशेषान्तराण्याह—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्धगोत्रजाम् ।

अरोगिणीं अचिकित्सनीयव्याध्यनुपसृष्टाम् । भ्रातृमतीं पुत्रिकाकरणशङ्का-निवृत्तये । अनेनापरिभाषितापि पुत्रिका भवतीति गम्यते । असमानार्धगोत्रजां ऋषेर्दिस्सार्धं नाम प्रवर इत्यर्थः । गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धम्, आर्धं च गोत्रं च आर्धगोत्रे, समाने आर्धगोत्रे यस्यासौ समानार्धगोत्रस्तस्माज्जाता समानार्धगोत्रजा न समानार्धगोत्रजा असमानार्धगोत्रजा ताम् । गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक्पर्युदासे निमित्तम् । 'तेनासमानार्धजामसमानगोत्रजामित्य' । तथा च 'असमानप्रवरै-र्विवाहः' (गौ. स्मृ. ४।१) इति गौतमः । तथा असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥' इति (३।५) मनुः । तथा मातृगोत्रामप्यपरिणयां केचिदिच्छन्ति, 'मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च । समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति प्रायश्चित्तस्मरणात् । अत्र च 'असपिण्डाम्' इत्यनेन पितृवस्तु-मातृवस्तादिदुहितृनिषेधः । तथा 'असगोत्राम्' इत्यनेनासपिण्डाया अपि भिन्नसन्तानजायाः समानगोत्राया निषेधः । तथा 'असमानप्रवराम्' इत्यनेनाप्यसपिण्डाया असगोत्राया अपि

१. पिण्डनिर्वापणयुक्त्या निर्वाप्यसपिण्डा । २. भ्रातृपुत्रादिषु । भ्रातृव्य-पितृव्या । ३. प्रमाणेन च । ४. असमानगोत्रजां असमानार्धजामित्यर्थः । ५. असगोत्रा च । ६. 'सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि । जन्मनाम्नोर-विज्ञाने स्यादेवमिच्छितः ॥' इति व्यासः । ७. त्यक्त्वा ।

समानप्रवरा निषेधः । तथा च 'असपिण्डाम्' इत्येतत्सार्वर्णिकम् ; सर्वत्र सापिण्ड्यसद्भावात् । 'असमानार्णगोत्रजाम्' इत्येतन्नैवर्णिकविषयम् । यद्यपि राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात्प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ । तथा च 'यजमानस्यार्षेयान्प्रवृणीते' इत्युक्त्वा 'पौरोहित्यान्राजन्यविशां प्रवृणीते' इत्याहोश्रुत्यायनः (श्रौ. सू. अ. ६ खं. १५) । सपिण्डासु समानगोत्रासु समानप्रवरासु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते । रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पद्येऽपि दृष्टविरोध एव ॥—

भाषा—असाध्य रोग से अछूती हो, भाई वाली हो, और समान गोत्र एवं प्रवर की न हो ।

'असपिण्डाम्' इत्यत्रैकशरीरावयवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तच्च सर्वत्र सर्वस्य यथाकथंचिदनादौ संसारे संभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह—

पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ ५३ ॥

मातृतो मातुः संताने पञ्चमादूर्ध्वं पितृतः पितुः संताने सप्तमादूर्ध्वं, सापिण्ड्यं निवर्तते' इति शेषः । अतश्चायं 'सपिण्ड' शब्दोऽवयवशक्त्या सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मन्थ्य-पञ्चजादिशब्दवाच्यतविषय एव । तथा च पित्राद्यः षट् सपिण्डाः, पुत्रादयश्च षट्, आत्मा च सप्तमः, संतानभेदेऽपि यतः संतानभेदस्तमादाय गणयेद्यावत्सप्तम इति सर्वत्र योजनीयम् । तथा च मातरभारभ्य तत्पितृ-पितामहादिगणनायां पञ्चमसंतानवर्तिनी मातृतः पञ्चमीत्युपचर्यते । एवं पितरभारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसंतानवर्तिनी पितृतः सप्तमीति । तथा च 'भगिन्योर्भगिनीभ्रात्रोर्भ्रातृपुत्रीपितृव्ययोः । विवाहे द्वयोर्द्विभूतत्वाच्छाखाभेदोऽवगम्यते ॥ यद्यपि वसिष्ठेनोक्तं 'पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा' इति, 'त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य च पितृतः' इति च पैठीनसिना, तदप्यर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः । एतच्च समानजातीये द्रष्टव्यम् । विजातीये तु विशेषः । यथा शङ्खः—'यद्येकजाता बहवः पृथक्चेन्नाः पृथग्जनाः । एकपिण्डाः पृथक्क्षौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ॥' एकस्माद्ब्राह्मणादेर्जाताः एकजाताः । पृथक्क्षत्राः भिन्नजातीयासु स्त्रीषु जाताः । पृथग्जनाः समानजातीयासु भिन्नासु स्त्रीषु जातास्ते एकपिण्डाः, सपिण्डाः किंतु पृथक्-

-
१. गोत्रप्रवर्तकऋष्यपत्यत्वप्रयुक्तत्वमत्र प्रातिस्विकत्वम् । प्रातिस्विकगोत्राभावस्तथापि । २. दृष्टदोषविरोधः । ३. शब्दो योगेऽवयव । ४. वयवशक्त्या प्रवर्त । ५. पञ्चमपुरुषवर्तिनी । ६. ऽव्यादि । ७. वगम्यते । ८. एकपिण्डाः सपिण्डाः ।

शौचाः । पृथक्शौचमाशौचप्रकरणे वक्ष्यामः । 'पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु त्रिपुरुषमेव सापिण्ड्यमिति ॥ ५३ ॥

भाषा—तथा माता के कुल में पाँच पीढ़ी से ऊपर एवं पिता के कुल में सात पीढ़ी से ऊपर हो ॥ ५३ ॥

१दशपुरुषविख्याताष्टोत्रियाणां महाकुलात् ।

पुरुषा एव पुरुषाः, दशभिः पुरुषैर्मातृतः पञ्चभिः पितृतः पञ्चभिर्विख्यातं यत्कुलं तस्मात् । श्रोत्रियाणामधीतवेदानाम् अध्ययनमुपलक्षणं श्रुताध्ययनसंपन्नानाम् । महच्च तत्कुलं च महाकुलं पुत्रपौत्रपशुदासीग्रामादिसमृद्धं, तस्मात्कन्यका आहर्तव्येति नियम्यते ॥

भाषा—जिस उच्च कुल के पुरुष दस पीढ़ियों से प्रख्यात वेद पाठी हों उस कुल की कन्या ग्रहण करे;

एवं सर्वतः प्राप्तौ सत्यामपवादमाह—

स्फीतादपि नसंचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ ५४ ॥

स्फीतादिति । संचारिणो रोगाः श्वित्रकुष्ठापस्मारप्रभृतयः शुक्रशोणितद्वारेणानुप्रविशन्तो दोषाः पुनः हीनक्रियनिःपौरुषत्वादयो मनुनोक्ताः । एतैः समन्वितास्फीतादपि पूर्वोक्तान्महाकुलादपि नाहर्तव्या ॥ ५४ ॥

भाषा—किन्तु यदि मङ्गल कुल में भी संसर्गज रोग हों तो उससे कन्या न ले ॥ ५४ ॥

एवं कन्याग्रहणनियममुक्त्वा कन्यादाने वरनियममाह—

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।

यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान्जनप्रियः ॥ ५५ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो दोषैश्च वरजितो वरो भवति । तस्यायमपरो विशेषः—सवर्ण उत्कृष्टो वा, न हीनवर्णः । श्रोत्रियः स्वयं च श्रुताध्ययनसंपन्नः । यत्नात् प्रयत्नेन पुंस्त्वे परीक्षितः । परीक्षोपायश्च नारदेन दर्शितः—'यस्याप्सु प्लवते बीजं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् । पुमान्स्याद्ध्वजैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्दकः ॥ इति । युवा न वृद्धः । धीमान् लौकिकवैदिकव्यवहारेषु निपुणमतिः । जनप्रियः स्मितपूर्वमृद्धभिभाषणादिभिरनुरक्तजनः ॥ ५५ ॥

भाषा—वर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त, सवर्ण और विद्वान् होना चाहिए, उसके पुरुषत्व की यत्नपूर्वक परीक्षा की गई हो और वह युवक, विवेकशील और प्रिय होवे ॥ ५५ ॥

रति-पुत्र-धर्मार्थत्वेन विवाहस्त्रिविधः । तत्र पुत्रार्थो द्विविधः—नित्यः, काश्यश्च । तत्र नित्ये प्रजार्थे 'सवर्णः श्रोत्रियो वरः' (आचार. ५५) इत्यनेन सवर्णा मुख्या दर्शिताः । इदानीं काश्ये नित्यसंयोगे चानुकल्पो वक्तव्य इत्यत आह—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसंग्रहः ।

नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

यदुच्यते 'सवर्णाग्ने द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि । कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥' इत्युपक्रम्य—ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे इति द्विजातीनां शूद्रावेदनमिति नैतद्याज्ञवल्क्यस्य मतम् । यस्मादयं द्विजातिस्तत्र स्वयं जायते । 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' इति श्रुतेः । अत्र च 'तत्रायं जायते स्वयम्' इति हेतुं वदता नैत्यकपुत्रोत्पादनाय काश्यपुत्रोत्पादनाय वा प्रवृत्तस्य शूद्रापरिणयननिषेधं कुर्वता नैत्यकपुत्रोत्पादानुकरूपे काश्ये च पुत्रोत्पादने ब्राह्मणस्य क्षत्रियावैश्ये, क्षत्रियस्य च वैश्ये भार्यानुज्ञाता भवति ॥ ५६ ॥

भाषा—द्विजातियों को शूद्रवर्ण से स्त्री ग्रहण करने की जो बात कही गई है वह मुझे मान्य नहीं है; कारण, स्त्री में स्वयं (पुरुष का आत्मा) ही जन्म लेता है ॥ ५६ ॥

इदानीं रतिकामस्योत्पन्नपुत्रस्य वा विनष्टभार्यस्याश्रममांतरानधिकारिणो गृहस्थाश्रमावस्थामात्रभिकाङ्क्षिणः परिणयनक्रममाह—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ ५७ ॥

वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्याः । क्षत्रियस्य द्वे । वैश्यस्यैका । शूद्रस्य तु स्वैव भार्या भवति । सवर्णा पुनः सर्वेषा मुख्या स्थितैव । पूर्वस्याः पूर्वस्या अभावे उत्तरोत्तरा भवति । अयमेव च क्रमो नैत्यकानुकरूपे काश्ये च पुत्रोत्पादनविधौ । अतश्च यच्छूद्रापुत्रस्य पुत्रमध्ये परिगणनं विभागसंकीर्तनं च, तथा 'विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि' इत्युपक्रम्य विशास्वेष विधिः स्मृतः' इति च तत्र रतिकामस्याश्रममात्रभिकाङ्क्षिणो वा नान्तरीयकतयोत्पन्नस्य ॥ ५७ ॥

भाषा—वर्ण की अनुलोमता से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की क्रमशः

१. शूद्रादारोप ।

२. तत्रात्मा जायते ।

३. वैश्याभ्यनुज्ञा ।

४. अन्योद्देशकस्यापारनिर्वर्त्यत्वं; यमन्तरा नोद्देश्यसिद्धिस्तत्त्वं वा नान्तरीयकत्वम् ।

तीन, दो और एक पत्नियाँ होती हैं । शूद्र की अपनी ही (जाति की) एक भार्या होती है ॥ ५७ ॥

विवाहानाह—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृतः ।

तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ ५८ ॥

स ब्राह्माभिधानो विवाहः यस्मिन्नुक्तलक्षणाय वरायाहूय यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते उदकपूर्वकं, तस्यां जातः पुत्र उभयतः पित्रादीन्दश पुत्रादींश्च दश, आत्मानं चैकविंशं पुनाति सद्वृत्तश्चेत् ॥ ५८ ॥

भाषा—ब्राह्मविवाह वह होता है जिसमें (वर को) बुलाकर (उसे) यथाशक्ति आभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है; ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र (अपने पूर्वकी दस; आगे आने वाली दस तथा अपनी पीढ़ी को मिलाकर) इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५८ ॥

दैवार्पविवाहौ—

यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्पस्तु गोद्वयम् ।

चतुर्दश प्रथमजः, पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥ ५९ ॥

स दैवो विवाहो यस्मिन्यज्ञानुष्ठाने वितते ऋत्विजे यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते । यत्र पुनर्गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स भार्पः ; प्रथमजो दैवविवाह-जश्चतुर्दश पुनाति सप्तावरान् सप्त परान् । उत्तरज भार्पविवाहजः षट् पुनाति त्रीन्पूर्वान् त्रीन्परान् ॥ ५९ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान के समय ऋत्विज को (यथाशक्ति अलंकृत करके) कन्या दी जाय तो वह दैव विवाह होता है; जब दो गायें लेकर कन्या दी जाती है तब वह भार्पविवाह होता है । इनमें दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र (सात पहले की और सात बाद की इस प्रकार) चौदह पीढ़ियों को और भार्प विवाह से उत्पन्न पुत्र (तीन पहले और तीन बाद की) छः पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५९ ॥

प्राजापत्यविवाहलक्षणम्—

इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेर्थिने ।

स कायः पावयेत्तज्जः षट् षड्वंद्यान्सहात्मना^३ ॥ ६० ॥

सह धर्मं चरताम्' इति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः । तज्जः षट् पूर्वान्षट् परान् आत्मना सहेत्येवं त्रयोदश पुनाति ॥ ६० ॥

१. सहोभौ । २. धर्ममित्युक्त्वा । ३. सह चात्मनः ।

भाषा—साथ रहकर धर्म का आचरण करो, ऐसा कहकर जब कन्या विवाहेच्छु पुरुष को प्रदान की जाती है तब कायविवाह होता है; इससे उत्पन्न पुत्र अपनी पीढ़ी को और छः पहले एवं छः बाद की पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ६० ॥

आसुरगान्धर्वादिविवाहलक्षणानि—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।

राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाछलात् ॥ ६१ ॥

आसुरः पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेण भवति । राक्षसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाछलात् छलेन छद्मना स्वापाद्यवस्थास्व-
पहरणात् ॥ ६१ ॥

भाषा—अधिक धन लेकर कन्या प्रदान की जाय तो वह आसुर विवाह होता है, परस्पर प्रेम होने पर जो विवाह होता है वह गान्धर्व कहलाता है । युद्ध में हरी गई कन्या से विवाह राक्षसविवाह होता है और कन्या को छलपूर्वक फुसलाकर किया गया विवाह पैशाच होता है ॥ ६१ ॥

सवर्णादिपरिणयेन विशेषमाह—

पाणिग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम् ।

वैश्या प्रतोदमादद्याद्वेदने त्वग्रजन्मनः ॥ ६२ ॥

सवर्णासु विवाहे स्वगृह्योक्तविधिना पाणिरेव ग्राह्यः । क्षत्रियकन्या तु शरं गृह्णीयात् । वैश्या प्रतोदमादद्यात् । उत्कृष्टवेदने शूद्रा पुनर्वसनस्य दशम । यथाह मनुः (३।४४)—‘वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने इति ॥ ६२ ॥

भाषा—अपनी जाति की कन्या से विवाह करते समय उसका हाथ पकड़ना चाहिए; ब्राह्मण क्षत्रिया से विवाह करे तो क्षत्रिया बाण पकड़े, वैश्या प्रतोद या पैना पकड़े ॥ ६२ ॥

कन्यादातृक्रममाह—

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जमनी तथा ।

कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ ६३ ॥

अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।

गम्यं त्वभावे दातृणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥ ६४ ॥

एतेषां पित्रादीनां पूर्वस्याभावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मादादि-
दोषवान्न भवति । अतो यस्याधिकारः सोऽप्रयच्छन् भ्रूणहत्यामृतावृतावाप्नोति ।
एतच्चोक्तलक्षणवरसंभवे वेदितव्यम् । यदा पुनर्दातृणामभावस्तदा कन्यैव गर्यं
नमनार्हमुक्तलक्षणं वरं स्वयमेव वरयेत् ॥ ६३-६४ ॥

भाषा—पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई पुरुष और माता—इनमें
क्रमशः पहले वाले के अभाव में आगे वाला यदि प्रकृतिस्थ अर्थात् उन्मादादि
रोग से मुक्त हो तो कन्यादान दे । (यदि कन्यादान का अधिकारी व्यक्ति)
कन्यादान नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में उसे भ्रूणहत्या का
पाप लगता है । यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या योग्य
वर का स्वयं वरण कर लेना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

कन्याहरणे दण्डः—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चोरदण्डभाक् ।

सकृदेव कन्या प्रदीयत इति शास्त्रनियमः । अतस्तां दत्त्वा अपहरन् कन्यां
चोरवदण्ड्यः ॥

भाषा—कन्या एक ही बार (विवाह में) दी जाती है; अतः (उसे
देकर पुनः) उसका अपहरण करने वाला चोर के समान दण्ड का भागी
होता है ।

एवं सर्वत्र प्रतिषेध प्राप्तेऽपवादमाह—

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चैद्वर आव्रजेत् ॥ ६५ ॥

यदि पूर्वस्माद्द्वाराछ्रेयान्विद्याभिजनाद्यतिशययुक्तो वर आगच्छति, पूर्वस्य
च पातकयोगो दुर्वृत्तत्वं वा, तदा दत्तामपि हरेत् । एतच्च सप्तमपदा-
व्यागदृष्टव्यम् ॥ ६५ ॥

भाषा—किन्तु यदि पहले वर स अच्छा कोई दूसरा वर मिल जाय तो
दी हुई कन्या का भी हरण कर ले ॥ ६५ ॥

अनाख्याय ददद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।

अदुष्टां तु त्यजन्दण्ड्यो दूषयंस्तु मृषा शतम् ॥ ६६ ॥

यः पुनश्चक्षुर्ग्राह्यं दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः ।
उत्तमसाहसं च (आचा० ३६६) वक्ष्यते । अदुष्टां तु प्रतिगृह्य त्यजन् उत्तम-

१. च त्यजन् ।

साहसमेव दण्ड्यः । यः पुनर्विवाहात्प्रागेव द्वेषादिना असन्निर्दोषैर्दीर्घरोगादिभिः कन्यां दूषयति स पणानां वच्यमाणलक्षणानां शतं दण्ड्यः ॥ ६६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति (दिखाई पड़ने वाले) दोषों को बिना बताए ही कन्या का दान करता है उसे उत्तमसाहस का दण्ड मिलना चाहिए । निर्दोष कन्या का ग्रहण करके पुनः उसका त्याग करने वाले को भी यही दण्ड मिलना चाहिए और (विवाह के पूर्व) कन्या में मिथ्या दोष बताने वाले को सौ पणों का दण्ड देना चाहिए ॥ ६६ ॥

‘अनन्यपूर्विकाम’ (श्लो. ५२) इत्यत्रानन्यपूर्वा परिणयोक्ता, तत्रान्यपूर्वा कीदृशीत्याह—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः, संस्कृता पुनः ।

स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् ॥ ६७ ॥

अन्यपूर्वा द्विविधा—पुनर्भूः, स्वैरिणी चेति । पुनर्भूरपि द्विविधा—क्षता चाक्षता च । तत्र क्षता संस्कारात्प्रागेव पुरुषसंबन्धदूषिता । अक्षता पुनः संस्कारदूषिता । या पुनः कौमारं पतिं त्यक्त्वा कामतः सवर्णमाश्रयति सा स्वैरिणीति ॥ ६७ ॥

भाषा—कन्या का किसी पुरुष से शरीरसंबन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है । जो स्त्री पति को छोड़ कर अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है वह स्वैरिणी होती है ॥ ६७ ॥

एवं सर्वप्रकारेणान्यपूर्वापर्युदासे प्राप्ते विशेषमाह—

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया ।

सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्तः कृतावियात् ॥ ६८ ॥

आ गर्भसंभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत् ।

अनेन विधिना जातः क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः ॥ ६९ ॥

अपुत्रामलब्धपुत्रां पित्रादिभिः पुत्रार्थमनुज्ञातो देवरो भर्तुः कनीयान् आता सपिण्डो वा उक्तलक्षणः सगोत्रो वा, एतेषां पूर्वस्याभावे परः परः घृताभ्यक्त-सर्वाङ्गः, ऋतावेव वच्यमाणलक्षणे इयाद्गच्छेत् आ गर्भोत्पत्तेः । ऊर्ध्वं पुनर्गच्छन् अन्येन वा प्रकारेण तदा पतितो भवति । अनेन विधिनोत्पन्नः पूर्वपरिणेतुः क्षेत्रजः पुत्रो भवेत् । एतच्च वाग्दत्ताविषयमित्याचार्याः, ‘यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत् देवरः ॥’ इति (१।६९) मनुस्मरणात् ॥ ६८-६९ ॥

१. क्षेत्रजः स भवेत् ।

भाषा—जिस स्त्री के (अपने पति से) पुत्र न हुआ हो उसके पास पिता इत्यादि गुरुजनों की आज्ञा से ऋतुकाल में सभी अंगों में घृत का लेप करके देवर, सपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष पुत्र प्राप्ति की इच्छा से गर्भ स्थिति के समय तक ही जाय, अन्यथा (उसके उपरान्त भी गमन करने पर) वह पतित हो जाता है । इस विधि से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता है ॥ ६७-६९ ॥

व्यभिचारिणीं प्रत्याह—

हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।

परिभूतामधःशय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥ ७० ॥

व्यभिचरति तां हताधिकारां भृत्यभरणाद्यधिकाररहिताम् । मलिनां अक्षनाभयजनशुभ्रवस्त्राभरणशून्यां पिण्डमात्रोपजीविनीं प्राणयात्रामात्रभोजनाम् । धिक्कारादिभिः परिभूतां; भूतलशायिनीं स्ववेश्मन्येव वासयेत् वैराग्यजननार्थं, न पुनः शुद्धयर्थम् । 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्ब्रतम्' (मनु. ११।१७६) इति पृथक्प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ ७० ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री को सभी (भरणपोषण आदि) अधिकारों से वञ्चित करके, (अंजन, शुभ्रवस्त्र न देकर) मलिन बनाकर, केवल जीवन धारण योग्य भोजन देकर, तिरस्कारपूर्वक भूमि पर सुलावे ॥ ७० ॥

तस्या अक्षप्रायश्चित्तार्थमर्थवादमाह—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।

पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥ ७१ ॥

परिणयनात्पूर्वं सोम-गन्धर्व-वह्नयः स्त्रीभुक्त्वा यथाक्रमं तासां शौचमधुर-वचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः । तस्मात् स्त्रियः सर्वत्र स्पर्शालिङ्गनाविषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः ॥ ७१ ॥

भाषा—सोम देवता ने (नारी को) पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी, अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी; अतएव स्त्रियां (सर्वत्र) पवित्र होती हैं ॥ ७१ ॥

न च तस्यास्तर्हि दोषो नास्तीत्याशङ्कनीयमित्याह—

व्यभिचारादृतौ शुद्धिर्गर्मे त्यागो विधीयते ।

गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ॥ ७२ ॥

अप्रकाशितान्मनोव्यभिचारात्पुरुषान्तरसंभोगसङ्कल्पाद्यदपुण्यं तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः, शूद्रकृते तु गर्भे त्यागः । मनुः (९।१५५) 'ब्राह्मणक्षत्रिय-विशां भार्याः शूद्रेण सङ्गताः । अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति स्मरणात् । तथा गर्भवधे भर्तृवधे महापातके च, ब्रह्महत्यादौ आदिग्रहणा-च्छ्रियादिगमने च त्यागः । 'चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या । पतिधनी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥' (वसिष्ठ. २१।१०) इति व्यासस्मरणात् । जुङ्गितः प्रतिलोमजश्रमकारादिः । त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोः, न तु निष्कासनं गृहात्तस्याः । 'निरुन्ध्यादेकवेशमनि' इति नियमात् ॥ ७२ ॥

भाषा—ऋतुकाल होने पर व्यभिचार (अर्थात् पर पुरुषगमन) के दोष की शुद्धि होती है; दूसरे का गर्भ रह जाने पर स्त्री के त्याग का विधान है गर्भ की हत्या, पतिवध आदि में और (ब्रह्महत्यादि) महापातक करने पर स्त्री का त्याग विहित है ॥ ७२ ॥

द्वितीयपरिणयने हेतूनाह—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थघ्न्यप्रियंवदा ।

स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ॥ ७३ ॥

सुरां पिबतीति सुरापी शूद्राऽपि । 'पतस्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत्' इति सामान्येन प्रतिषेधात् । व्याधिता दीर्घरोगग्रस्ता । धूर्ता विसंवादिनी । वन्ध्या निष्फला । अर्थघ्नी अर्थनाशिनी । अप्रियंवदा निष्ठुरभाषिणी । स्त्रीप्रसूः स्त्रीजननी । पुरुषद्वेषिणी सर्वत्राहितकारिणी । 'अधिवेत्तव्या' इति 'प्रत्येकमभिसंबध्यते । अधिवेदनं भार्यान्तरपरिग्रहः ॥ ७३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, बांझ, धन का नाश करने वाली, कठोर वचन बोलने वाली, पुत्रियों को ही जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए ॥ ७३ ॥

अधिविज्ञा तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।

यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ॥ ७४ ॥

किञ्च, सा अधिविज्ञा पूर्ववदेव दानमानसत्कारैर्भर्तव्या । अन्यथाऽभरणे महदपुण्यं वच्यमाणो दण्डश्च । न च भरणे सति केवलमपुण्यपरिहारः । यतः यत्र दंपत्योरानुकूल्यं चित्तैक्यं तत्र धर्मार्थकामानां प्रतिदिनमभिवृद्धिश्च ॥ ७४ ॥

भाषा—किन्तु उक्त दोषों वाली प्रथम विवाहिता पत्नी का भी पालन-पोषण करना चाहिए, अन्यथा घोर पाप होता है। जहां स्त्री पुरुष दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं वहां धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्रतिदिन वृद्धि होती है ॥ ७४ ॥

स्त्रियं प्रत्याह—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥ ७५ ॥

भर्तारि जीवति मृते वा या चापहयादन्यं पुरुषं नोपगच्छति सेह लोके विपुलां कीर्तिमवाप्नोति । उमया च सह क्रीडते, पुण्यप्रभावात् ॥ ७५ ॥

भाषा—पति के जीवन काल में या भर जाने पर भी जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष के समीप नहीं जाती वह इस संसार में कीर्ति तो पाती है और (मृत्यु के बाद पुण्य के प्रभाव से) उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है ॥ ७५ ॥

अधिवेदनकारणाभावे अधिवेत्तारं प्रत्याह—

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम् ।

त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः ॥ ७६ ॥

^२आज्ञासंपादिनीमदेशकारिणीम्, दक्षां शीघ्रकारिणीम्, वीरसूं पुत्रवतीम्; प्रियवादिनीं मधुरभाषिणीं यस्त्यजति अधिविन्दति, स राज्ञा स्वधनस्य तृतीयांशं दाप्यः । निर्धनस्तु भरणं प्रासाच्छादनानि दाप्यः ॥ ७६ ॥

भाषा—जो आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का त्याग करता है (अथवा उसके जीवित रहते दूसरी पत्नी ग्रहण करता है) तो (राजा) उससे धन का तृतीयांश दिलावे और यदि निर्धन हो तो और भोजन वस्त्र दिलवाये ॥ ७६ ॥

स्त्रीधर्मानाह—

स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेव धर्मः परः स्त्रियाः ।

आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ॥ ७७ ॥

स्त्रीभिः सदा भर्तृवचनं कार्यम् । यस्मादयमेव पर उत्कृष्टो धर्मः, स्त्रीणां स्वर्गहेतुत्वात् । यदा तु महापातकदूषितस्तदा आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यः, न तत्पारतन्त्र्यम् । उत्तरकालं तु पूर्ववदेव तत्पारतन्त्र्यम् ॥ ७७ ॥

भाषा—स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि पति की आज्ञा का पालन करे,

बही स्त्रियों का परम धर्म है। यदि (पति को) महापातक का दोष लगा हो तो (स्त्री को) उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ ७७ ॥

शास्त्रीयदारसंग्रहस्य फलमाह—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ।

यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः ॥ ७८ ॥

लोके आनन्त्यं वंशस्याविच्छेदः लोकानन्त्यं, दिवः प्राप्तिश्च, दारसंग्रहस्य प्रयोजनम् । कथमित्याह—पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः । यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्व्यं भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्याः प्रजार्थम् । रक्षितव्याश्च धर्मार्थम् । तथा चापस्तम्बेन 'धर्म-प्रजासपत्तिः प्रयोजनं दारसंग्रहस्योक्तं धर्मप्रजासंपन्नेषु दारेषु नान्यां कुर्वीत' इति वदता । रतिफलं तु लौकिकमेव ॥ ७८ ॥

भाषा—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वंश अविच्छिन्न बना रहता है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है । चूँकि ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं अतः वे उपभोग्य होती हैं और (धर्म के लिये) उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ७८ ॥

'पुत्रोत्पत्त्यर्थं स्त्रियः सेव्याः' (श्लो० ७८) इत्युक्तं, तत्र विशेष-माह—

षोडशतुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत् ।

ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतसस्तु वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः काल ऋतुः । स च रजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रस्तस्मिन् ऋतौ युग्मासु समासु रात्रिषु । 'रात्रि'ग्रहणादिवसप्रतिषेधः । संविशेत् गच्छेत्पुत्रार्थम् । 'युग्मासु' इति बहुवचनं समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत् । एव गच्छन् ब्रह्मचार्येव भवति । अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्रौद्धादौ चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति । किंच पर्वाण्याद्याश्चतसस्तु वर्जयेत् । 'पर्वाणि' इति बहुवचनादाद्यर्थावगमादष्टमीचतुर्दश्योर्ग्रहणम् । यथाह मनुः (४।१।५५)—अमावास्यामष्टमी च पौर्णमासी चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्युतौ स्नातः सो द्विजः ॥' इति । अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रीश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

भाषा—स्त्रियों के (गर्भधारण योग्य) ऋतुकाल को सोलह रात्रियां होती हैं; इनमें से (पुत्र के लिये) युग्म रात्रियों में संभोग करना चाहिए । इस प्रकार स्त्रीगमन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है, किन्तु (अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी और चतुर्दशी) चार रात्रियों में गमन न करे ॥ ७९ ॥

एव गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।

सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥

किंच, एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् क्षामां गच्छेत् । क्षामता च तस्मिन्काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति । अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना । 'पुमान्पुंसोऽधिके शुके स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः' इति वचनात् । यदा युग्मायामपि रात्रौ शोणिताधिक्यं तदा स्येव भवति पुरुषाकृतिः । अयुग्मायामपि शुकाधिक्ये पुमानेव भवति स्याकृतिः; कालस्य निमित्तत्वात् । शुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्रावल्यात् । तस्मात्क्षामा कर्तव्या । मघा-मूलनक्षत्रे वर्जयेत् । चन्द्रे चैकादशादिशुभस्थानगते चकारात्पुनश्च शुभयोगलगादिसंपत्तौ सकृदेकस्यां रात्रौ न द्विस्त्रिर्वा । ततो लक्षणैर्युक्तं पुत्रं जनयति । पुमानप्रतिहतपुंस्त्वः ॥ ८० ॥

भाषा—मघा और मूल नक्षत्र को छोड़कर चन्द्रमा (ग्यारहवें आदि) शुभ स्थान में स्थित होने पर जो दुबला स्त्री के निकट एकवार गमन करता है वह पुरुष शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

एवमृतौ नियममुक्त्वा हृदानीमनृतौ नियममाह—

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।

स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्षया यत स्मृताः ॥ ८१ ॥

भार्याया इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी भवेत् । 'वा' शब्दो नियमान्तरपरिग्रहार्थः, न पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थः । स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन् 'भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात्' इति । यथा 'ता अब्रुवन् वरं वृणीमहे ऋत्विगात्प्रजां विन्दामहे काममा विजनितोः संभवामेति तस्मादृत्विगात् स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममा विजनितोः संभवन्ति वारे वृत्त्यासाम्' इति । अपि च स्वदारेणैव निरतः नितरां रतस्तन्मनस्कः, 'भवेत्' इत्यनुषज्यते । एवकारेण स्वधन्तरगमनं निवर्तयति; प्रायश्चित्तस्मरणात् । उभयत्रापि दृष्टप्रयोजनमाह—स्त्रियो रक्षया यतः स्मृता इति । यस्मात्स्त्रियो रक्षयाः स्मृता उक्ताः

१. पौष्णं च । २. कालस्यानियतत्वात् । ३. वृणीमहे । ४. वरं वृत्तं तासां । ५. उक्ताः पूर्व १८ श्लोके ।

‘कर्तव्याश्च सुरक्षिताः’—(आचार. ७८) इति । तच्च सुरक्षणं यथाकामित्वेन स्थान्तरागमनेन च भवतीति । अत्राह—तस्मिन्नुग्रमासु संविशेत्’ (आचार. ७९) इति, किमयं विधिर्निरुपमः परिसंख्या वा ? उच्यते,—न तावद्विधिः प्राप्तार्थत्वात् । नापि परिसंख्या, दोषत्रयसमासक्तेः । अतो नियमं प्रतिपेदिरे न्यायविदः । कः पुनरेषां भेदः ? अत्यन्ताप्राप्तप्रापणं विधिः, यथा ‘अग्निहोत्रं जुहुयात्’ ‘अष्टकाः कर्तव्याः’ इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तप्राप्तान्तरप्रापणं नियमः, यथा ‘समे देशे यजेत’ ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’ इति वाच्यः कर्तव्यतया विहितः । स च देशमन्तरेण कर्तुमशक्य इत्यर्थाद्देशः प्राप्तिः । स च समो विषमश्चेति द्विविधः । यदा यजमानः समे यियच्छते तदा ‘समे यजेते’ति वचनमुदास्ते, स्वार्थस्य प्राप्तत्वात् । यदा तु विषमे देशे यियच्छते तदा ‘समे यजेते’ति स्वार्थं विधत्ते, स्वार्थस्य तदानीमप्राप्तत्वात् विषमदेशनिवृत्तिस्त्वार्थिकी । चोदितदेशेनैव यागानिष्पत्तेरचोदितदेशोपादानेन यथाशास्त्रं यागो नानुष्ठितः स्यादिति । तथा ‘प्राङ्मुखोऽज्ञानि भुङ्जीत’ इति । इदमपि स्मार्तमुदाहरणं पूर्वेण व्याख्यातम् ॥ एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनं परिसंख्या । तद्यथा—‘इमामगृभ्णन्नशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते’ इत्ययं मन्त्रः स्वसामगृह्णादश्वाभिधान्याः गर्दभाभिधान्याश्च रक्षनाया ग्रहणे विनियुक्तः, पुनरश्वाभिधानीमादत्त इत्यनेनाश्वाभिधान्यां विनियुज्यमानो गर्दभाभिधान्या निवर्तते । यथा ‘पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः’ इत्यत्र हि पञ्चपञ्चया शशादिषु श्वादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु श्रूयमाणं निवर्तते इति ॥ किं पुनरत्र युक्तम् ? परिसंख्यात्वोह । तथा हि—कृतदारसंग्रहस्य स्वेच्छयैवर्तौ गमनं प्राप्तमिति न विधेरपि विषयः । नापि नियमस्य, गृह्यस्मृतिविरोधात् । एवं हि स्मरन्ति गृह्यकाराः—‘दारसंग्रहानन्तरं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वा ब्रह्मचारी स्यात्’ इति तत्र द्वादशरात्रात्संवत्सराद्वा पूर्वमेवर्तुसंभवे ऋतौ गच्छेदेवेति नियमाद्ब्रह्मचर्यस्मरणं बाध्येत । अपि च प्राप्ते भावार्थे वचनं विशेषणपरं युक्तं, प्राप्तं चर्तौ भार्यागमनमिच्छयैव, अतो यदि गच्छेदतावेति वचनव्यक्तिर्युक्ता । किं च नैव मिकात्पुत्रोत्पत्तिविधेरेव ऋतौ गमनं निवृत्तप्राप्तमेवेति ऋतौ गच्छेदेवेति निवृत्त्यर्थकः स्यात् । नियमे चादृष्टं कल्पनीयम् । किं च ऋतौ गन्तव्यमेवेति नियमे असंज्ञितस्य व्याख्याधिना असमर्थस्यानिच्छाश्वाशब्धोऽर्थ उपदिष्टः स्यात् । विध्यनुवादविरोधश्च नियमे । तथा हि—एकः शब्दः सकृदुच्चरितस्तमेवार्थं

१. विध्याद्यश्च—‘विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते’ इति । २. दोषत्रयासक्तेः । ३. प्राप्तार्थत्वात् । ४. स्वार्थात्सिद्धा । ५. निवर्तयति । ६. भार्येच्छयैव ।

पक्षेऽनुवदति पक्षे तु विधत्ते चेति । तस्माद्वतावेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसंख्यैव युक्ता । तदिदं 'भारुचिविधिरूपादयो नानुमन्यन्ते । अतो नियम एव युक्तः, पक्षे स्वार्थविधिसंभवात्, आगमने दोषश्रवणाच्च । ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥' (पराशरः) इति । न च विध्यनुवादविरोधः, अनुवादाभावाद्विध्यर्थस्वाच्च वचनस्य । तत्र हि विध्यनुवादविरोधो यत्र विधेयावधितया तदेवानुवदितव्यं, अप्राप्ततयान्योद्देशेन विधातव्यं च । यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति वाजपेयलक्षणगुणविधानावधित्वेन यागोऽनुवदितव्यः, स एव स्वाराज्यलक्षणफलोद्देशेन विधातव्यश्चेति । न चानुवादेनेह कृत्यमस्ति । यत्तु—नियमेऽदृष्टं कल्प्यमित्युक्तं, तत्परिसंख्यायामपि समानम्, अनृतौ गच्छतो दोषकल्पनात् । यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्याक्षेपेणैव ऋतौ नित्यगमनप्राप्तेर्न नियम इति, तदसत् ; स एवायं नैयमिकपुत्रोत्पादनविधिः स्यान्मतम् । 'एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां लक्षण्यं पुत्रं जनयेत्' इति स्यभिगमनातिरिक्तः पुत्रोत्पादनविधिरिति, तन्न ; गमनकरणिकाया भावनाया लव पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रदृश्यते । एवं गच्छन् लक्षण्यं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्निहोत्रं जुहन् स्वर्गं भावयेदिति । न चासंनिहितादेरशक्यार्थविधिप्रसङ्गः । सन्निहितशक्तयोरेवोपदेशात् 'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति' । 'यः स्वदारानृतुस्नातां स्वस्थः सन्नोपगच्छति' (देवलः) इति विशेषोपादानात् । अनिच्छानिवृत्तिस्तु नियमविधानादेव । न च विशेषणपरतापि । पक्षे भावार्थविधिसंभवात् । नापि गृह्यस्मृतिविरोधः । संवत्सरपूर्वमेवतुर्दशने संविशतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषो यथा श्राद्धादिषु । तस्मात्स्वार्थहानिपरार्थकल्पना-प्राप्तबाधलक्षणदोषत्रयवती परिसंख्या न युक्ता । एवं 'एवञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियमः शशादिषु, श्वादिषु च प्राप्तेः परिसंख्येत्युभयसंभवः, तथापि नियमपक्षे शशाद्यभक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्वादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन 'प्रायश्चित्तस्मृतिविरोध इति परिसंख्यैवाश्रिता । एतेन 'सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्' इत्यत्रापि नियमो व्याख्यातः । 'नान्तरा भोजनं कुर्यात्' इति च पुनरुक्तं स्यात्परिसंख्यायाम् । एवं च नियमे सति ऋतावृताविति वीष्णु कथ्यते, 'निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकमप्यावर्तते' इति न्यायात् । 'यथाकामी भवेत्' इत्ययमपि नियम एव । अनुतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां स्त्रियमभिरमयेदेवेति । 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्' इत्येतत्पि गौतमीय (५। १-२) सूत्रद्वयं नियमपरमेव । ऋता-

१. भागुरि ।

२. तथा फलोद्देशेन ।

३. तदसदिति । नास्ति ।

४. यतस्तच्च गमनं ।

५. प्रायश्चित्तविरोधः ।

६. श्रुतिचोदितं ।

७. परिसंख्यायां तस्माज्जयस्यपस्मेवेति ।

बुपेयादेव । अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां प्रतिषिद्धवर्जमुपेयादेवेत्यलमति-
प्रसङ्गेनेति ॥ ८१ ॥

भाषा—स्त्रियों के (इन्द्र द्वारा दिये 'तुम्हारे काम को तृप्त न करने वाला
पातकी होवे' इस) वर का स्मरण करते हुए उसकी इच्छा देख कर संभोग
करे और अपनी ही स्त्री में रत रहे; क्योंकि स्त्रियों की रक्षा का विधान किया
गया है ॥ ८१ ॥

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः ।

बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥ ८२ ॥

किञ्च, भर्तृप्रभृतिभिः पूर्वोक्ताः साध्यः स्त्रियो यथाशक्त्यलङ्कारवसनभोजन-
पुष्पादिभिः संमाननीयाः । यस्मात्ताः पूजिता धर्मार्थकामान्संवर्धयन्ति ॥

भाषा—पति, भाई, पिता, जाति के लोग, सास, बसुर, देवर और
बन्धुवर्ग द्वारा स्त्रियां आभूषण, वस्त्र एवं भोजनादि से सम्मान करने योग्य
होती हैं ॥ ८२ ॥

तथा पुनः समर्पितगृह्यापारया किंभूतया भवितव्यमित्यत आह—

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।

कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥ ८३ ॥

संयतः स्वस्थाननिवेशित, उपस्करो गृहोपकरणवर्गो यथा सा तथोक्ता ।
यथोल्लखलमुसलशूर्पादेः कण्डनस्थाने, हृषदुपलयोरवियोगेन पेषणस्थान इत्यादि ।
दक्षा गृह्यापारकुशला, हृष्टा सदैव प्रहसितानना, व्ययपराङ्मुखी न
व्ययशीला, 'स्यात्' इति सर्वत्र शेषः । किञ्च, श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ । 'श्वशुरः
श्वश्रू वा' (पा० १।२।७१) इत्येकशेषः, तयोः पादवन्दनं नित्यं कुर्यात् ।
'श्वशुर' ग्रहणं मान्यान्तरोपलक्षणार्थम् । भर्तृतत्परा भर्तृवशवर्तिनी सती पूर्वोक्तं
कुर्यात् ॥ ८३ ॥

भाषा—घर की वस्तुओं को यथास्थान संभाल कर रखने (गृहकार्य में)
कुशल हो, सदैव प्रसन्न रहे, अधिक व्यय न करे, सास-श्वशुर को चरण छूकर
प्रणाम करे एवं पति के वश में रहे ॥ ८३ ॥

भर्तृसन्निधावुक्तम्, प्रोषितभर्तरि तथा किं कर्तव्यमित्यत आह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।

हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

देशान्तरगतभर्तृका क्रीडां कन्दुकादिभिः शरीरसंस्कारमुद्धर्तनादिभिः,

१. बुपेयादेवानृतावपि ।

समाजो जनसमूहः । उत्सवो विवाहादिः । तयोर्दर्शनं हास्यं विजृम्भणं परगृहे गमनम् । त्यजेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ८४ ॥

भाषा—जिस स्त्री का पति विदेश गया हो वह खेलना, शृङ्गार करना, जनसमूह (मेले आदि) में और उत्सव में जाना, हँसी-मजाक और दूसरे के घर जाना—इन सब से परहेज रखे ॥ ८४ ॥

रक्षेत्कन्यां पिता विद्यां पतिः पुत्रास्तु वार्धके ।

अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं कचित्स्त्रियाः ॥ ८५ ॥

किञ्च, पाणिग्रहणाध्याक् पिता कन्यामकार्यकरणाद्वचेत् । तत ऊर्ध्वं भर्ता । तदभावे पुत्राः वृद्धभावे च तेषामुक्तानामभावे ज्ञातयः, ज्ञातीनामभावे राजा; 'पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता' प्रभुः स्त्रियाः इति वचनात् । अतः क्वचिदपि स्त्रीणां नैव स्वातन्त्र्यम् ॥ ८५ ॥

भाषा—कुमारी की रक्षा पिता करे विवाहिता होने पर पति और वृद्धावस्था में (पति के न होने पर) पुत्र रक्षा करें । इन सबके न होने पर जाति के लोग उसकी रक्षा करें । स्त्रियों को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए ॥ ८५ ॥

पितृभ्रातृसुतभ्रातृभ्रश्रूष्वशुरमासुलः ।

हीना न स्याद्विन भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत् ॥ ८६ ॥

किञ्च भर्त्रा विना भर्तृरहिता पित्रादिरहिता वा न स्यात् । यस्मात्तद्वहिता गर्हणीया निष्णा भवेत् । एतच्च ब्रह्मचर्यपदे ।—'भर्तृरि मेते ब्रह्मचर्यं तद्वन्वारोहणं वा' (२५।१४) इति विष्णुस्मरणात् । अन्वारोहणे महानभ्युदयः । तथा च व्यासः कपोतिकाख्यानध्याजेन दक्षितवान्—'पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् । तत्र पित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्त्वयन् ॥ ततः स्वर्गं गतः पत्नी भार्यया सह सङ्गतः । कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥' इति । तथा च शङ्खाक्षिरसौ-तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे । तावत्काष्ठं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति प्रतिपाद्य तथोरवियोगं दर्शयतः—'व्यालग्राही यथा सर्प बलादुद्धरते बिलात् । तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तनैव मोदते । तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः । क्रीडते पतिना सार्धं यावद्विन्द्राश्चतुर्दश ॥' इति । तथा—'ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः । पुनात्यविधवा नारी तमावाप मृता तु या ॥ मृते भर्तृरि या नारी समारोहेदधुता-

१. विद्यां = परिणीताम् । २. पतिः स्त्रियाः । ३. तद्वहिता पित्रादिरहिता ।

४. वाय मित्रघ्नः कृतघ्नो वा ब्रह्मघ्नो वा सुरापो वा ।

शनम् । सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते । यावन्मात्रौ मृते पत्यौ स्त्री
नात्मानं प्रदाहयेत् । तावन्न मुच्यते ॥ हि स्त्रीशरीरात्कथञ्चन ॥' इति
हारीतोऽपि—'मातृकं पैतृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते । कलत्रयं पुनस्त्येषा भर्तारं
यानुगच्छति ॥' इति, तथा—'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते न्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥ इति । अयं च सकल एव
सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचण्डालं साधारणो धर्मः, 'भर्तारं
याऽनुगच्छति' इत्यविशेषोपादानात् । यानि च ब्राह्मण्यनुगमननिषेधपराणि
वाक्यानि—'मृतानुगमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात् । इत्येषु तु वर्णेषु तपः
परममुच्यते ॥ जीघन्ती तद्धितं कुर्यान्मरणादात्मघातिनी' वा स्त्री ब्राह्मणजातीया
मृतं पतिमनुव्रजेत् ॥ सा स्वर्गमात्मघातेन वारमात्रं व पतिं नयेत् ॥
इत्येवमादीनि, तानि पृथक्चित्यधिरोहणविषयाणि, 'पृथक्चितिं समाह्वय' न
विप्रा गन्तुमर्हति' इति विशेषस्मरणात् । अनेन कुर्यादिति स्त्रीणां पृथक्चित्यभ्य-
नुज्ञा गम्यते । यत्तु कैश्चिदुक्तं—पुरुषाणांमिव स्त्रीणामप्यात्महननस्य प्रतिषिद्धत्वा-
दतिप्रवृद्धस्वर्गाभिलाषायाः प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या अयमनुगमनोपदेशः श्येन-
वत् । यथा 'श्येनेनाभिचरन्त्यजेत' इति तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तस्य प्रतिषेधशास्त्र-
मतिक्रामतः श्येनोपदेश इति,—तदयुक्तम् । ये तावत् श्येनकरणिकायां भावनायां
भाव्यभूतहिंसायां विधिसंस्पर्शाभावेन प्रतिषेधसंस्पर्शाफलद्वारेण श्येनस्यानर्थतां
वर्णयन्ति, तेषां मते हिंसाया एव स्वर्गार्थतया अनुगमनशास्त्रे विधीयमानत्वा-
त्प्रतिषेधसंस्पर्शाभावादन्यथास्मिन्मरणानुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु मर्त्य-
हिंसा नाम मरणानुकूलो व्यापारः, श्येनश्च परमरणानुकूलव्यापाररूपत्वादिकेन,
कामाधिकारे च करणांशे रागतः प्रवृत्तिसंभवेन विधेरप्रवर्तकत्वात् । रागप्रवृ-
त्तिरहितं हिंसारूपत्वात् श्येनः प्रतिषिद्धः स्वरूपेणैवानर्थकर इति, तत्राप्यनुगमनशास्त्रेण
मरणस्यैव स्वर्गसाधनतया विधानान्मरणे यद्यपि रागतः प्रवृत्तिस्तथापि
मरणानुकूले व्यापारेऽस्मिन्प्रवेशादावितिकर्तव्यतारूपे विधित एव प्रवृत्तिरिति न
निषेधस्यावकाशः 'यावद्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इतिवत्; तस्मात्स्पष्टमेव
नुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु—'तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्' इति
श्रुतिविरोधादनुगमनमयुक्तमिति, यच्च 'तदुह न स्वःकामी नुपः प्राङ् न प्रेयात्'
इति स्वर्गकल्लोद्देशेनायुषः प्रागायुर्व्ययो न कर्तव्यो मोक्षार्थिना, यस्मादायुषः

- | | | |
|---------------------|------------------------|----------------------|
| १. अयं सर्वासां । | २. माचाण्डालानां । | ३. चित्यन्वारोहण । |
| ४. विशेषोपादानात् । | ५. प्रतिषिद्धशास्त्र । | ६. कर्तव्यतानुरूपं । |
| ७. स्वर्गकामः । | ८. प्रेयादिति । | |

क्षेपे सति नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानक्षपितान्तःकरणकलङ्कस्य श्रवणमनननिदिध्या-
सनसंपत्तौ सत्यमात्मज्ञानेन नित्यनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षप्राप्तिलक्षण-
मोक्षसंभवः । तस्मादनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थमायुर्व्ययो न कर्तव्य इत्यर्थः । अतश्च
मोक्षमनिच्छन्त्या अनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थिन्या अनुगमनं युक्तम्, इतरकाभ्या-
नुष्ठानवदिति सर्वमनवद्यम् ॥ ८६ ॥

भाषा—पति न हो तो पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर से दूर न रहे
अन्यथा वह (स्त्री) निन्दनीय होती है ॥ ८६ ॥

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।

सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥ ८७ ॥

किञ्च, प्रियमनवद्यत्वेन मनसोऽनुकूलम्, आयत्यां यच्छ्रेयस्करं तद्धितम्,
प्रियं च तद्धितं च प्रियहितम् । पत्युः प्रियहितं पतिप्रियहितं तस्मिन् युक्ता
निरता । स्वाचारा शोभन आचारो यस्याः सा तथोक्ता । शोभनश्चाचारो
दर्शितः शङ्केन—‘नानुक्त्वा गृहाङ्गिर्गच्छेन्नानुत्तरीया न त्वरितं ब्रजेन्न परपुरुषमभि-
भाषेतान्यत्र वणिकप्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः, न नाभिं दर्शयेत्, आगुदफाद्वासः
परिध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्, न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्वन्धून्वा न
द्विष्यान्न गणिकाधूर्ताभिसारिणीप्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीला-
दिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्, संसर्गं हि कुलस्त्रीणां चोरित्रं दुष्यति’ इति ।
विजितेन्द्रिया विजितानि संयमितानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि च मनः-
सहितानि यया सौ इह लोके कीर्तिम् प्रख्याति परलोके चोत्तमां गतिं प्राप्नोति ।
अयं च सकल एव स्त्रीधर्मो विवाहादूर्ध्वं वेदितव्यः । ‘प्रागुपनयनात्कामचार-
कामवादकामभक्षाः’ इति स्मरणात् । ‘वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः
स्मृतः’ इति च ॥ ८७ ॥

भाषा—पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य में तत्पर, सुन्दर आचरण
करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में रखने वाली स्त्री इस संसार में
कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम गति ॥ ८७ ॥

अनेकभ.यं प्रत्याह—

सत्यामन्यां सवर्णार्या धर्मकार्यं न कारयेत् ।

सवर्णासु विधौ धर्म्यं ज्येष्ठया न विनैतरा ॥ ८८ ॥

सवर्णार्यां सत्यामन्यामसवर्णां नैव धर्मकार्यं कारयेत् । सवर्णास्वपि

बह्वीषु धर्म्ये विधौ धर्मानुष्ठाने ज्येष्ठया विना ज्येष्ठां मुक्त्वा इतरा मन्थसा
कनिष्ठा वा न नियोक्तव्या ॥ ८८ ॥

भाषा—सवर्णा (अपनी जाति की) पत्नी के जीवित रहते दूसरी पत्नी से
धर्मकार्य न करावे । यदि सवर्णा पत्नियों अनेक हों तो ज्येष्ठा पत्नी को छोड़
दूसरी से (धर्मकार्य) न करावे ॥ ८८ ॥

प्रमीतपतिकाया विधिमुक्त्वा इदानीं प्रमीतभार्य प्रत्याह—

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ।

आहरेद्विधिवहारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्तवृत्तवतीं आचारवतीं विपक्षां स्त्रियमग्निहोत्रेण श्रोतेनाग्निना तदभावे
स्मार्तेन दाहयित्वा पतिः भर्ता अनुष्णादितपुत्रोऽग्निहोत्रो वा आश्रमान्तरेष्वनधि-
कृतो वा स्थ्यन्तराभावे पुनर्दारान् अग्नींश्च विधिवदाहरेत् । अविलम्बयन्
शीघ्रमेव ।—‘अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः’ इति दक्षस्मरणात् ।
एतच्चाधानेन सहाधिकृताया एव, नान्यस्याः । यत्तु—द्वितीयां चैव
यो भार्या दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्वां प्रथमायां हि सुरापानसमं हि
तत् ॥’ इति, तथा—‘मृतायां तु द्वितीयायां योऽग्निहोत्रं समुत्सृजेत् । ब्रह्मन्
तं विजानीयाद्यश्च कामात्समुत्सृजेत् ॥’ इत्येवमादि, तदाधानेन सहानधिकृताया
अग्निदाने वेदितव्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा—यदि उत्तम आचार वाली पत्नी की मृत्यु हो जाय तो पति
अग्निहोत्र की अग्नि से उसका दाहसंस्कार करके यथाशीघ्र विधि-पूर्वक दूसरी पत्नी
ग्रहण करे और पुनः अग्निहोत्राग्नि का आधान करे ॥ ८९ ॥

इति विवाहप्रकरणम् ।

अथ वणजातिविवेकप्रकरणम्

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या भवन्ति, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्वैकः,
इत्युक्त्वा, तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम् । इदानीं कस्यां कस्मात् कः
पुत्रो भवतीति विवेकमाह—

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।

अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः ॥ ९० ॥

सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयो मातृपितृसम्मान-
जातीयाः पुत्रा भवन्ति । ‘विज्ञास्वेष विधिः स्मृतः’ (२९) इति सर्वशेषव्ये

१. विवेक्तुमाह ।

नोपसंहारात् विद्वांसु, 'सवर्णासु' इति संबध्यते । 'विश्व'शब्दस्य संबन्धिशब्द-
 त्वाद्देवतृभ्यः^१ सवर्णेभ्य इति लभ्यते । एकः 'सवर्ण'शब्दः स्पष्टार्थः । अतश्चायमर्थः
 संबृत्तः—उक्तेन विधिनोढायां सवर्णायां घोडुः सवर्णादुत्पन्नास्तस्मात्समान-
 जातीया भवन्ति । अतश्च कुण्डगोलककानीनसहोढजादीनामसवर्णत्वमुक्तं
 भवति । ते च सवर्णेभ्योऽनुलोमप्रतिलोमेभ्यश्च भिद्यमानाः साधारणधर्मैर्हिंसादि-
 भिरधिक्रियन्ते ।—'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः' इति स्मरणात् ।
 अपध्वंसजा व्यभिचारजाताः शूद्रधर्मैरपि द्विजशुश्रूषादिभिरधिक्रियन्ते ।
 ननु कुण्डगोलकयोर्ब्राह्मणत्वात् श्राद्धे प्रतिषेधोऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च । यो
 ऽज्ञातीयाद्यज्ञातीयायामुत्पन्नः स तज्जातीय एव भवति,—यथा गोर्गवि 'गौः,
 अश्वाद्ब्रह्मचर्यामश्वः । तस्माद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति न विरुद्धम् ।
 तथा कानीनपौनर्भवादीननुक्रम्य—'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः'
 (व्य. १३३) इति वक्ष्यमाणवचनविरोधश्च । नैतत्सारम् । ब्राह्मणेन
 ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति अमनिवृत्त्यर्थः श्राद्धे प्रतिषेधः । यथाऽऽश्वन्तम-
 प्रातस्य पतितस्य श्राद्धे प्रतिषेधः । न च न्यायविरोधः । यत्र प्रत्यक्षगम्या
 जातिर्भवति तत्र तथा । ब्राह्मणादिजातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरणं भवति ।
 यथा समानेऽपि ब्राह्मण्ये कुण्डिनो वसिष्ठोऽत्रिगौतम इति स्मरणलक्षणं गान्धर्वम्,
 तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मण्यादिजातिः स्मरणलक्षणा । मातापित्रोश्चैतदेव
 जातिलक्षणम् । न चानवस्था । अनादित्वात्संसारस्य शब्दार्थव्यवहारवत् ।
 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः' (व्य. १३३) इति चोक्तानुवाद-
 त्वाद्यथासंभव इत्याख्यास्यते । क्षेत्रजस्तु मातृसमानजातीयः, नियोगस्मरणात्,
 शिष्टसमाचाराच्च । यथा धृतराष्ट्राण्डुविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृसमानजातीया
 इत्यलमतिप्रसङ्गेन । किञ्च अनिन्द्येषु ब्राह्मादिविवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धना
 अरोगिणो दीर्घायुषो धर्मप्रजासंपन्ना भवन्ति ॥ ९० ॥

भाषा—शुद्ध वर्ण के पुरुषों द्वारा सवर्णा स्त्रियों से उत्तम विवाह के उपरान्त
 उत्पन्न पुत्र सवर्ण अर्थात् माता पिता की शुद्ध जाति के होते हैं । और वे सन्तान
 की वृद्धि करते हैं ॥ ९० ॥

सवर्णानुक्त्वा इदानीमनुलोमानाह—

विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।

अम्बष्ठः शूद्रायां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ॥ ९१ ॥

१. वोढृभ्यः । २. सहोढादीनां । ३. अब्राह्मणत्वे । ४. इति वचन ।
 ५. वसिष्ठो गोतम ।

ब्राह्मणाक्षत्रियायां विज्ञायामुत्पन्नो मूर्धावसिक्तो नाम पुत्रो भवति ।
वैश्यकन्यकायां ^१विज्ञायामुत्पन्नोऽम्बष्ठो नाम भवति । ^२शूद्रायां विज्ञायां
निषादो नाम पुत्रो भवति । निषादो नाम कश्चिन्मत्स्यघातोपजीवी प्रतिलोमजः,
स मा भूदिति पारशवोऽयं निषाद इति संज्ञाविकल्पः । 'विप्रात्' इति सर्वत्रा-
नुवर्तते । यत्तु—'ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति, क्षत्रियेण
वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति । वश्येन शूद्रायामुत्पादितः ^३शूद्र एव
भवति' इति शङ्खस्मरणं तत्क्षत्रियादिधर्मप्राप्त्यर्थम्, न पुनर्मूर्धावसिक्तादि-
जातिनिराकरणार्थं, क्षत्रियादिजातिप्राप्त्यर्थं वा । अतश्च मूर्धावसिक्तादीनां
क्षत्रियादेरुक्तैरेव दण्डाजिनोपवीतादिभिरुपनयनादिकं कार्यम् । प्रागुपनयनात्काम-
चारादि पूर्ववदेव वेदितव्यम् ॥ ९१ ॥

भाषा—ब्राह्मण द्वारा विवाहिता क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्र मूर्धावसिक्त
कहलाता है और वैश्य जाति की पत्नी से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ । शूद्रा पत्नी से
(ब्राह्मण द्वारा) उत्पन्न पुत्र निषाद या पारशव कहलाता है ॥ ९१ ॥

वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।

वैश्यात्तु करणः शूद्रायां विज्ञास्वेष विधिः स्मृतः ॥ ९२ ॥

वैश्यायां शूद्रायां च विज्ञायां राजन्यान्माहिष्योग्रौ यथाक्रमं पुत्रौ
भवतः । वश्येन शूद्रायां विज्ञायां करणो नाम पुत्रो भवति । एष सर्वणमूर्धाव-
सिक्तादिसंज्ञाविधिः विज्ञासूडासु स्मृत उक्तो वेदितव्यः । एते च मूर्धावसिक्ताम्बष्ठ-
निषाद-माहिष्योग्र-करणाः षडनुलोमजाः पुत्रा वेदितव्याः ॥ ९२ ॥

भाषा—क्षत्रिय पुरुष द्वारा विवाहिता वैश्या और शूद्रा पत्नियों से
उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र कहे जाते हैं । वैश्य शूद्रा पत्नी उत्पन्न
पुत्र करण कहलाता है । विवाहित पत्नियों के संबन्ध में यही कहा गया है ।
(ये छः अनुलोमज पुत्र हैं) ॥ ९२ ॥

प्रतिलोमजानाह—

ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।

शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण्यां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं सूत-वैदेहक-चण्डालाख्याः
पुत्रा भवन्ति । तत्र चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

१. विज्ञायामम्बष्ठो ।

२. शूद्रायां निषादो ।

३. शूद्र इति ।

४. द्वैदेहिक ।

भाषा—ब्राह्मणी स्त्री से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र सूत, वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र वैदेहक तथा शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र चण्डाल कहलाता है, जो सभी धर्मों से बहिष्कृत होता है ॥ ९३ ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।

शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ ९४ ॥

किञ्च, क्षत्रिया योषित् वैश्यान्मागधं नाम पुत्रं जनयति । सैव शूद्रात्क्षत्तारं पुत्रं जनयति । वैश्ययोषिच्छूद्रादायोगवं पुत्रं जनयति । एते च सूत-वैदेहक-चण्डाल-मागध-क्षत्राऽयोगवाः षट् प्रतिलोमजाः । एतेषां च वृत्तय औशनसे मानवे च द्रष्टव्याः ॥ ९४ ॥

भाषा—क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र मागध और शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षत्तार होता है । वैश्य जाति का स्त्री शूद्र से आयोगव नाम के पुत्र को जन्म देती है ॥ ९४ ॥

सङ्कीर्णसङ्करे जात्यन्तरमाह—

माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।

असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥ ९५ ॥

क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माहिष्यः । वैश्येण शूद्रायामुत्पादिता करणी तस्यां माहिष्येणोत्पादितो रथकारो नाम जात्या भवति । तस्य चोपनयनादि सर्वं कार्यम्, वचनात् । यथाह शङ्खः—‘क्षत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो’ यो रथकारस्तस्येज्यादानोपनयनसंस्कारक्रिया अश्वप्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययन-वृत्तिता च’ इति । एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाहिष्यादनुलोमसङ्करे जात्यन्तरता उपनयनादिप्राप्तिश्च वेदितव्या, तयोर्द्विजातित्वात् । संज्ञास्तु स्मृत्यन्तरोक्ता द्रष्टव्याः । एतच्च प्रदर्शनमात्रमुक्तम्, सङ्कीर्णसङ्करजातानामानन्त्या-द्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एतावदत्र विवक्षितं—असन्तः प्रतिलोमजाः, सन्तश्चानु-लोमजा ज्ञातव्या इति ॥ ९५ ॥

भाषा—(क्षत्रिय द्वारा वैश्या से उत्पन्न) माहिष्य पुरुष द्वारा (वैश्य पुरुष एवं विवाहिता शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) करणी स्त्री से रथकार जन्म लेता है । इनमें अनुलोमज (श्रेष्ठ जाति के पुरुष द्वारा निम्न वर्ण की स्त्री से उत्पन्न) पुत्रों को उत्तम और प्रतिलोमज (श्रेष्ठ जाति की स्त्री और निम्न वर्ण के पुरुष से उत्पन्न) पुत्रों को निन्दित समझना चाहिए ॥ ९५ ॥

‘सर्वर्णभ्यः सर्वर्णासु जायन्त’ (९०) इत्यादिना वर्णप्राप्तौ कारणमुक्तम्, इदानीं कारणान्तरमाह—

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।

व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥ ९६ ॥

जातयो मूर्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिर्जात्युत्कर्षो युगे जन्मनि सप्तमे पञ्चमे, ‘अपि’शब्दात्षष्ठे वा बोद्धव्यः । व्यवस्थितश्चायं विकल्पः । व्यवस्था च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी, सा ब्राह्मणेनोढा दुहितरं काञ्चिज्जनयति, सापि ब्राह्मणेनोढाऽन्यां जनयतीत्यनेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमं ब्राह्मणं जनयति । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता अश्वघ्ना । साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी षष्ठं ब्राह्मणं जनयति । मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणमेव जनयति । एवमुग्रा क्षत्रियेणोढा माहिष्या च यथाक्रमं क्षत्रियं षष्ठं पञ्चमं जनयति । तथा करणी वैश्योढा पञ्चमं वैश्यमिति, एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । किञ्च, कर्मणां व्यत्यये वृत्त्यर्थानां कर्मणां व्यत्यये विपर्यये यथा ब्राह्मणो मुख्यया वृत्त्या अजीवन् क्षात्रेण कर्मणा जीवेदित्यनुकरः । तेनाप्यजीवन् वैश्यवृत्त्या तथाप्यजीवन् शूद्रवृत्त्या । क्षत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवनार्थेनाजीवन् वैश्यवृत्त्या शूद्रवृत्त्या वा । वैश्योऽपि स्ववृत्त्या अजीवन् शूद्रवृत्त्येति कर्मणां व्यत्ययः । तस्मिन्व्यत्यये सति यथापद्विमोक्षेऽपि तां वृत्तिं न परित्यजति तदा सप्तमे षष्ठे पञ्चमे वा जन्मनि साम्यं, यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तत्समानजातित्वं भवति । तद्यथा ब्राह्मणः शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तथैव वृत्त्या जीवन्पुत्रान्तरमित्येवं पुत्रपरम्परया सप्तमे जन्मनि शूद्रमेव जनयति । वैश्यवृत्त्या जीवन् षष्ठं वैश्यम् । क्षत्रियवृत्त्या जीवन् पञ्चमे क्षत्रियम् । क्षत्रियोऽपि शूद्रवृत्त्या जीवन् षष्ठे शूद्रम् । वैश्यवृत्त्या जीवन् पञ्चमे वैश्यम् । वैश्योऽपि शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन्पुत्रपरम्परया पञ्चमे जन्मनि शूद्रं जनयतीति । पूर्ववच्चाधरोत्तरम् । अस्यार्थः—वर्णसङ्करे अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च दर्शिताः । सङ्कीर्णसङ्करजाताश्च रथकारनिदर्शनेन दर्शिताः । इदानीं वर्णसङ्कीर्णसङ्करजाताः प्रदर्श्यन्ते—अधरे च उत्तरे च अधरोत्तरम्, यथा मूर्धावसिक्तायां क्षत्रियवैश्य-शूद्रैरुत्पादितस्तथाश्वघ्नायां वैश्यशूद्राभ्यां निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधराः प्रतिलोमजास्तथा मूर्धावसिक्ताश्वघ्नानिषादीषु ब्राह्मणेनोत्पादिताः, माहिष्योऽथोब्राह्म-

१. पञ्चमे सप्तमेऽपि । २. सप्तमं । ३. ब्राह्मणवृत्त्या । ४. पञ्चमे षष्ठे सप्तमे । ५. पुनरप्येवं । ६. वर्णसङ्करजाता ।

णेन क्षत्रियेण चोत्पादिताः, करण्यां ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वैश्येन चोत्पादिताः उत्तरे अनुलोमजाः । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । एतदधरोत्तरं पूर्ववदसत्सदिति बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

भाषा—मूर्धावसिक्त आदि जातियों का सातवें या पाँचवें जन्म में (अर्थात् किसी जाति की कन्या अपनी से बड़ी जाति के पुरुष के साथ ब्याही जाय, उससे उत्पन्न कन्या भी उससे बड़ी जाति में ब्याही जाय, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में) जाति का उत्कर्ष होता है । आपत्काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर, आपत्काल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति पाँचवीं या सातवीं पीढ़ी में वही हो जाती है (जिसका वह कर्म करता वहीं होता है) इन वर्ण संकरों में निम्न प्रतिलोमज होते हैं और उत्तम अनुलोमज ॥ ९६ ॥

इति वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ।

गृहस्थधर्मप्रकरणम्

श्रौतस्मार्तानि कर्माणि अग्निसाध्यानि दशंयिष्यन् कस्मिन्नग्नौ किं कर्तव्यमित्याह—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीतप्रत्यहं गृही ।

दायकालाहते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥ ९७ ॥

स्मृत्युक्तं वैश्वदेवादिकं कर्म, लौकिकं च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि, गृहस्थो विवाहाग्नौ विवाहसंस्कृते कुर्वीत । दायकाले विभागकाल आहते वा 'वैश्यकुलादग्निमानीय' इत्यादिनोक्तसंस्कारसंस्कृते । 'अपि' शब्दाग्रेते वा गृहपता-वाहते संस्कृते एव । ततश्च कालत्रयातिक्रमे प्रायश्चित्तीयते । शुश्रूषमग्निहोत्रादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत ॥ ९७ ॥

भाषा—गृहस्थ प्रतिदिन (बलिवैश्वदेव आदि) स्मार्त कर्म विवाहाग्नि में या विभाजन के समय आहित अग्नि में करे तथा (अग्निहोत्र आदि) श्रौत कर्म आहवनीय आदि अग्नि में करे ॥ ९७ ॥

गृहस्थधर्मानाह—

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः ।

प्रातःसंध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ९८ ॥*

शरीरचिन्तामावश्यकदिकां^१ 'दिवासन्ध्यास्तु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः' इत्याद्युक्तविधिना निर्वर्त्य 'गन्धलेपचयकरम्' (आचार. २।१७) इत्यादिनोक्तेन विधिना कृतशौचविधिद्विजः दन्तधावनपूर्वकं प्रातःसन्ध्यामुपासीत । दन्तधावन-विधिश्च—'कण्टकिक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् । कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलं पर्वार्ध-कृतकूर्चकम् ॥ दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वोस्तेखनिका तथा ॥' (आचार. १६) इति । अत्र 'वृक्षोत्थम्' इत्यनेन तृणलोष्टाङ्गुल्यादिनिषेधः । पलाशाश्चथादिनिषेधश्च स्मृत्यन्तरोक्तो द्रष्टव्यः । दन्तधावनमन्त्रश्च—'आयुर्वलं यशो वर्चः प्रजाः पशु-वसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो धेहि^२ वनस्पते ॥' इति । ब्रह्मचारि-प्रकरणोक्तस्यापि सन्ध्यावन्दनस्य पुनर्वचनं दन्तधावनपूर्वकत्वप्रतिपादनार्थम्, 'दन्तधावननृत्यगीतादि ब्रह्मचारी वर्जयेत्' इति तन्निषेधात् ॥ ९८ ॥

भाषा—द्विज मलमूत्रोत्सर्ग से निवृत्त होकर, शौच करके एवं दातौन करने के बाद प्रातःसन्ध्या की उपासना करे ॥ ९८ ॥

हुत्वाग्नीन्सूर्यदैवत्यान्जपेन्मन्त्रान्समाहितः ।

वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ॥ ९९ ॥

प्रातःसन्ध्यावन्दनानन्तरं अग्नीनाहवनीयादीन् यथोक्तेन विधिना हुत्वा औपासनाग्निं वा । तदनन्तरं सूर्यदैवत्यान् 'उदुत्थं जातवेदसम्' (ऋ. १।४।७।८) इत्यादीन्मन्त्रान्जपेत् । समाहितोऽविचिह्नचित्तः । तदनन्तरं वेदार्थान्निरुक्त्या-करणौदितश्रवणेनाधिगच्छेज्जानीयात् । चकारादधीतं चाभ्यसेत् । विविधानि च शास्त्राणि मीमांसाप्रभृतीनि धर्मार्थारोग्यप्रतिपादकान्यधिगच्छेत् ॥ ९९ ॥

भाषा—इसके अनन्तर (आहवनीय आदि अभियों में) अग्निहोत्र कर्म करके ध्यान लगाकर सूर्य देवता के ('उदुत्थं जातवेदसम्' आदि) मन्त्र का जप करे । इसके बाद वेद के अर्थ को तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे ॥ ९९ ॥

उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ।

स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा ॥ १०० ॥

तदनन्तरमीश्वरमभिषेकादिगुणयुक्तमभ्यं वा श्रीमन्तमकुत्सितं योगक्षेमार्थ-सिद्धये । अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिपाकं चेमः,^३ तदर्थमुपेयादुपासीत । 'उपेयात्' इत्यनेन सेवां प्रतिषेधति । 'वेतन'ग्रहणेनाज्ञाकरणं सेवा; तस्याः

१. आवश्यकतां दिवा ।

२. नो देहि ।

३. करणादींश्च श्रवणेनाग्निं ।

४. चेमस्तदर्थः ।

श्ववृत्तिस्त्वेन निषेधात्, (सेवा^१ श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति मनु-
स्मरणात्) । ततो मध्याह्ने शास्त्रोक्तविधिना नद्यादिषु ज्ञात्वा देवान् स्वगृह्योक्तान्
पितृंश्च, चकाराद्वर्षींश्च, देवादितीर्थेन तर्पयेत् । तदनन्तरं गन्धपुष्पाक्षतैः
हरिहरहिरण्यगर्भप्रभृतीनामन्यतमं यथावासनमृगयजुःसाममन्त्रैस्तत्प्रकाशकैः
स्वनामभिर्वा चतुर्थ्यन्तैर्नमस्कारयुक्तैराराधयेद्यथोक्तविधिना ॥ १०० ॥

भाषा—योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) एवं क्षेम (उपलब्ध वस्तु की
रक्षा) के लिये राजा या स्वामी के पास जावे । (मध्याह्न को) स्नान करके
देवताओं एवं पितरों का तर्पण करे और उनकी पूजा करे ॥ १०० ॥

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।

जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तरं वेदाथर्वेतिहासपुराणानि समस्तानि व्यस्तानि वा आध्यात्मिकीं च
विद्यां जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं यथोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपेत् ॥ १०१ ॥

भाषा—जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद, अथर्व मन्त्रों, पुराणों एवं इतिहासों
का यथाशक्ति जप करे ॥ १०१ ॥

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥ १०२ ॥

बलिकर्म भूतयज्ञः, स्वधा पितृयज्ञः, होमो देवयज्ञः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः,
अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः । एते पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः,
नित्यत्वात् । यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेवां पावनत्वख्यापनार्थं, न काम्यत्वप्रति-
पादनाय ॥ १०२ ॥

भाषा—बलिवैश्वदेव आदि भूत यज्ञ, स्वधा (तर्पण एवं श्राद्ध) पितृयज्ञ
होम देवयज्ञ, धर्मग्रंथों का अध्ययन ब्रह्मयज्ञ और अतिथियों का सत्कार मनुष्ययज्ञ
होता है ये ही महायज्ञ हैं ॥ १०२ ॥

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत् ।

अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ १०३ ॥

स्वगृह्योक्तविधिना वैश्वदेव^३ होमं कृत्वा तदवशिष्टेनान्नेन भूतेभ्यो बलि
हरेत् । 'अन्नं' ग्रहणमपक्वपुदासार्थम् । तदनन्तरं यथाशक्ति भूमावन्नं श्वचाण्डाल-
वायसेभ्यो निक्षिपेत् । च शब्दात्कृमिपापरोगिपतितेभ्यः । यथाह मनुः
(३।१२)—'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् । वायसानां कृमीणां

१. सेवेत्याणधिकं । २. यथपुराणेतिहासादीनि कृत्वा । ३. वैश्वदेवं कृत्वा ।

च शनकैर्निक्षिपेद्भुवि ॥' इति । एतच्च सायंप्रातः कर्तव्यम् । 'अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' (१।२।१) इत्याश्वलायनस्मरणात् । इह केचिद्वैश्व-
देवाख्यस्य कर्मणः पुरुषार्थत्वमन्नसंस्कारकर्मत्वं चेच्छन्ति—'अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' इत्यन्नसंस्कारकर्मकता प्रतीयते । 'अथातः पञ्च यज्ञाः' (गृ. सू. ३।१।१) इत्युपराक्रम्य 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (३।१।४) इति नित्यत्वाभिधानात्पुरुषार्थत्वं चावगम्यते' इति,—तदयुक्तम्, पुरुषार्थत्वेऽन्नसंस्कारकर्मत्वानुपपत्तेः । तथा हि—द्रव्यसंस्कारकर्मत्वपक्षेऽन्नार्थता वैश्वदेवकर्मणः, पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्यस्येति परस्परविरोधात्पुरुषार्थत्वमेव युक्तम् ।—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इति । तथा—'वैश्वदेवे तु निवृत्ते यद्यन्योऽतिथिराब्रजेत् । तस्मा अन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥' इति (३।१०८) मनुस्मरणात् । पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवाख्यं कर्म न प्रतिपादकमावर्तनीयम् । तस्मात् 'अथ सायंप्रातः' इत्यादिनोत्पत्तिप्रयोगौ दर्शितौ, 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (गृ. सू. अ. ३ खं. १) इत्यधिकारविधिरिति सर्वमानवद्यम् ॥ १०३ ॥

भाषा—देवताओं के लिए (वैश्वदेव) होम करने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न से भूतों के लिये बलि दे । कुत्ता, चाण्डाल और कौश्यों के लिये (यथाशक्ति) पृथ्वी पर अन्न फेंकना चाहिए ॥ १०३ ॥

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम् ।

स्वाध्यायं सततं कुर्यान्न पचेदन्नमात्मने ॥ १०४ ॥

प्रत्यहमन्नं पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति देयम् । अन्नाभावे कन्दमूलफलादि, तस्याप्यभावे जलं देयम्, 'अपि' शब्दात् । स्वाध्यायं सततं कुर्यादविस्मरणार्थम् । न पचेदन्नमात्मने इति 'अन्न' ग्रहणं सकलादनीयद्रव्यप्रदेशनार्थम् । कथं तर्हि ? देवताद्युद्देशेनैव ॥ १०४ ॥

भाषा—प्रतिदिन पितरों और मनुष्यों को भी अन्न दे (अन्न के अभाव में) जल दे । सतत स्वाध्याय करे । केवल अपने लिए ही भोजन न बनावे ॥ १०४ ॥

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः ।

संभोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम् ॥ १०५ ॥

परिणीता पितृगृहे स्थिता स्ववासिनी । शेषाः प्रसिद्धाः । बालादीनतिथि-
भृत्यांश्च संभोज्य भोजयित्वा दम्पत्योः शेषभोजनं कर्तव्यम् । प्राणाग्निहोत्रविधि-

१. एतेन काम्यत्वमपि प्रतिपादितं भवति ।

२. चान्वहं कुर्यात् ।

३. प्राणेत्याद्यधिकं ।

नाशनीयादन्नमनापदि । मतं विपकं विहितं अन्नं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १०५ ॥

भाषा—बालक, (पिता के घर में रहने वाली) विवाहिता स्त्री, वृद्ध, गर्भवती, रोगी, अतिथि और सेवकों के भोजन कराने के बाद शेष भोजन पति-पत्नी ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

आपोशनेनोपरिष्ठादधस्तादश्रता तथा ।

अनग्नममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्मना ॥ १०६ ॥

भुक्षानेन द्विजन्मना उपरिष्ठादधस्ताच्चापोशनाख्येन कर्मणाज्जनमममृतं च कार्यम् । 'द्विजन्म' ग्रहणभुपनयनप्रभृतिसर्वाश्रमसाधारण्यार्थम् ॥ १०६ ॥

भाषा—भोजन करते समय द्विज को ऊपर और नीचे आपोशन (मन्त्र पढ़कर आचमन) करके अन्न को अनग्न और अमृत करना चाहिए ॥ १०६ ॥

अतिथित्वेन वर्णानां देयं शक्त्यानुपूर्वशः ।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवानन्तरं वर्णानां ब्राह्मणादीनामतिथित्वेन युगपत्प्राप्तानां ब्राह्मणाद्यानु-पूर्व्येण यथाशक्ति देयम् । सायंकालेऽपि यद्यतिथिरागच्छति तदाऽस्तावत्प्रणोद्योऽ-प्रत्याख्येय एव । यद्यप्यदनीयं किमपि नास्ति, तथापि वाग्भूतृणोदकैरपि सत्कारं कुर्यात् । यथाह मनुः (४।१०१)—'तृणानि भूमिदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इति १०७ ॥

भाषा—यदि ब्राह्मणादि कई वर्णों के अतिथि हों तो वर्ण क्रम से यथा शक्ति भोजन देना चाहिए । यदि सायंकाल भी अतिथि आ जाय तो उसे निराश नहीं करना चाहिए अपितु मधुर वचन, भूमि, तृण और जल से उसका सत्कार करना चाहिए ॥ १०७ ॥

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय च ।

भोजयेच्चागतान्काले सखिसंबन्धिवान्धवान् ॥ १०८ ॥

भिक्षवे सामान्ये भिक्षा दातव्या । सुव्रताय ब्रह्मचारिणे यतये च सत्कृत्य स्वस्तिवाच्य 'भिक्षादानमपूर्वम् (गौतम.) इत्यनेन विधिना भिक्षा दातव्या । भिक्षा च ग्राससंमिता । ग्रासश्च मयूरारण्डपरिमाणः, 'ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा पुष्कलं तच्चतुर्गुणम् । हंतस्तु तैश्चतुर्भिः स्यादग्रं तस्त्रिगुणं भवेत् ॥' इति शातातप-स्मरणात् । भोजनकाले चागतान्सखिसंबन्धिवान्धवान् भोजयेत् । सखायो

१. यथाहेत्यादि मनुवचनं, नैवास्ति । २. सुव्रताय ।

मित्राणि, सम्बन्धिनो येभ्यः कन्या गृहीता दत्ता वा, मातृपितृसम्बन्धिनो^१
बान्धवाः ॥ १०८ ॥

भाषा—मित्रा को और ब्रह्मचारी को सत्कारपूर्वक शिक्षा देनी चाहिए ।
(भोजन के) समय पर आये हुए मित्र, संबन्धी और बान्धव को भोजन
करावे ॥ १०८ ॥

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् ।

सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूतृतं वचः ॥ १०९ ॥

महान्तमुच्चारणं धौरेयं महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् 'भवदर्ध-
मयमस्माभिः परिकल्पितः' इति । तत्प्रीत्यर्थं, ननु दानाय व्यापादनाय वा,
यया सर्वमेतद्भवदीयमिति, प्रतिश्रोत्रियमुच्चासम्भवात्, अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं
धर्म्यमप्याचरेन्नतु' (भा. १५३) इति निषेधाच्च । तस्मात्सत्क्रियायैव कर्तव्यम् ।
सत्क्रिया स्वागतवचनासनपाद्याध्याचमनादिदानम् । तस्मिन्नुपविष्टे पश्चादुप-
वेशनमन्वासनम्, स्वादु भोजनं मिष्टमद्यम्, सूतृतं वचः 'धन्या वयमद्य
भवदागमनात्' इत्येवमादि । अश्रोत्रिये पुनः 'अश्रोत्रियस्योदकासने' (५।३१)
इति गौतमोक्तं वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

भाषा—श्रोत्रिय (वेदपाठी) अतिथि के लिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा
उसके सम्मुख प्रस्तुत करे । (उसके उपरान्त) उसका (पाद्यार्घ्य, आचमन
आसन आदि से) स्वागत करे; (उसके बैठने पर) निकट बैठे, मधुर भोजन
करावे और प्रिय वचन बोले ॥ १०९ ॥

प्रतिसंवत्सरं त्वर्ष्याः ज्ञातकाचार्यपार्थिवाः ।

प्रियो विवाहश्च तथा यज्ञं प्रत्यृत्विजः पुनः ॥ ११० ॥

ज्ञातको विद्यास्नातकः, व्रतस्नातकः, विद्याव्रतस्नातकः इति । समाप्य
वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः, समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं
यः समावर्तते स व्रतस्नातकः, उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः ।
आचार्य उक्कलङ्घनः, पार्थिवो वचयमाणलङ्घनः, प्रियो मित्रम्, विवाहो
जामाता । चकाराच्छुश्रुपितृव्यमातुलानां ग्रहणम् । 'ऋत्विजो बृत्वा मधुपर्कमाहरे-
स्नातकायोपस्थिताय राज्ञे वाचार्यश्च शुश्रुपितृव्यमातुलादीनां च' इत्याश्रलायन
(गृ. सू. अ. १. खं. ४) स्मरणात् । एते स्नातकादयः प्रतिसंवत्सरं गृहमागता
अर्ष्याः मधुपर्केण पूज्या वन्दितव्याः । 'अर्घ' शब्दो मधुपर्कं लक्षयति ।
ऋत्विजश्चोक्कलङ्घनाः संवत्सरादर्वागपि प्रतियज्ञं मधुपर्केण संपूज्याः ॥ ११० ॥

१. संबन्धा बान्धवाः ।

२. याद्येव कर्तव्यं ।

भाषा—ज्ञातक, आचार्य, राजा, प्रिय मित्र और दामाद का प्रतिवर्ष (अपने घर बुलाकर) अर्घ्य (मधुपर्क) द्वारा सत्कार करे तथा ऋत्विज को प्रत्येक यज्ञ के समय मधुपर्क से पूजा करे ॥ ११० ॥

अश्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः श्रोत्रियो वेदपारगः ।

मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥ १११ ॥

अश्वनि वर्तमानोऽतिथिर्वेदितव्यः । श्रोत्रियवेदपारगावध्वनि वर्तमानौ ब्रह्मलोकमभीप्सतो गृहस्थस्य मान्यावतिथी वेदितव्यौ । यदप्यध्ययनमात्रेण श्रोत्रियस्तथापि श्रुताध्ययनसम्पन्नोऽत्र श्रोत्रियोऽभिधीयते । एकशाखाध्यापनचमो^१ वेदपारगः ॥ १११ ॥

भाषा—पथिक की अतिथि समझना चाहिए । श्रोत्रिय (अर्थात् वेदपाठी) और वेद का पंडित (यदि पथिक हों तो) ब्रह्मलोक प्राप्ति की कामना रखने वाले गृहस्थ के लिये ये दोनों मान्य अतिथि होते हैं ॥ १११ ॥

परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।

वाक्पाणिपादचापल्यं वर्जयेच्चातिभोजनम् ॥ ११२ ॥

परपाके रुचिरं स्यात्सौ स परपाकरुचिः, नैव परपाकरुचिः स्यात् । अनिन्द्येना-
मन्त्रणं विना; 'अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत्' (कास्थायन) इति स्मरणात् ।
वाक्पाणिपादचापल्यं—वाक् च पाणी च पादौ च वाक्पाणिपादं तस्य चापल्यं,
वर्जयेत् । वाक्चापल्यमसभ्यानृतादिभाषणम्, पाणिचापल्यं वस्त्रानास्फोटनादि,
पादचापल्यं लङ्घनोत्प्लवनादि । चकाराज्ञेनादिचापल्यं च वर्जयेत्, 'न
शिक्षोदरपाणिपादचक्षुर्वाक्चापलानि कुर्यात्' (९।५०) इति गौतमस्मरणात् तथा
अतिभोजनं च वर्जयेत् ; अनारोग्यादिहेतुत्वात् ॥ ११२ ॥

भाषा—श्रेष्ठ व्यक्ति के निमन्त्रण के बिना दूसरे के भोजन की इच्छा न करे । (भोजन के समय) वाणी, हाथ और पैर की चपलता न करे और आवश्यकता से अधिक भोजन न करे ॥ ११२ ॥

अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुवजेत् ।

अहःशेषं सहासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः ॥ ११३ ॥

पूर्वोक्तं श्रोत्रियातिथिं वेदपारगातिथिं च भोजनादिना तृप्तं सीमान्तं यावदनु-
वजेत् । ततो भोजनानन्तरमहःशेषं शिष्टैरितिहासपुराणादिवेदिभिः, इष्टैः
काव्यकथापञ्चतुरैः बन्धुभिश्चानुकूलालापकुशलैः सहासीत ॥ ११३ ॥

भाषा—श्रोत्रिय (वेदपाठी एवं वेद के पण्डित) अतिथि को (भोजन द्वारा) तृप्त करके (गांव की) सीमा तक पहुँचावे । (भोजन के बाद) दिन का शेष समय सभ्य जनों एवं इष्ट (काव्यकथा में चतुर) बन्धुओं के साथ बैठकर बितावे ॥ ११३ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाग्नीस्तानुपास्य च ।

भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातिवृत्तथाथ संविशेत् ॥ ११४ ॥

ततः पूर्वोक्तेन विधिना पश्चिमां सन्ध्यामुपास्य, आहवनीयादीनग्नीनग्निं वा हुत्वा तानुपास्योपस्थाय भृत्यैः पूर्वोक्तैः स्ववासिन्यादिभिः परिवृतो नातिवृत्तथा भुक्त्वा, चकारात् आय-व्ययादिगृहचिन्तां निर्वर्त्यानन्तरं संविशेत्स्वप्यात् ॥ ११४ ॥

भाषा—(तब पूर्वोक्त विधि से) सायंकालीन संध्याउपासना करके (आहवनीय आदि) अग्नियों में हवन करके उन अग्नियों की उपासना करे; तब भृत्यों के साथ भोजन करे किन्तु तृप्ति से अधिक भोजन न करे और तदुपरान्त शयन करे ॥ ११४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।

धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ११५ ॥

ततो ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय पश्चिमेऽर्धप्रहरे प्रबुद्धात्मनो हितं कृतं करिष्यमाणं च, वेदार्थसंशयांश्च चिन्तयेत् तदानीं चित्तस्याग्याकुलत्वेन तत्त्वप्रतिभान-योग्यत्वात् । ततो धर्मार्थकामान्स्वोचितकाले यथाशक्ति न परित्यजेत् । यथासम्भवं सेवेतेत्यर्थः, पुरुषार्थत्वात् । यथाह गौतमः (१।४६-४७)—‘न पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णानफलान्कुर्यात् धर्मार्थकामेभ्यः’, ‘तेषु धर्मोत्तरः स्यात् इति । अत्र यद्यप्येतेषां सामान्येन सेवनमुक्तं, तथापि कामार्थयोर्धर्माविरोधेनानुष्ठानं तयोर्धर्ममूलात्वात् । एवं प्रतिदिनमनुष्ठेयम् ॥ ११५ ॥

भाषा—ब्राह्म मुहूर्त में उठकर अपने (किए गए एवं किये जाने वाले) हित का विचार करे । धर्म, अर्थ और काम को उनके उचित समय पर यथाशक्ति परित्याग न करे (अपितु उनका सेवन करे) ॥ ११५ ॥

विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम् ।

एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ॥ ११६ ॥

विद्या पूर्वोक्ता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, वयः आत्मनोऽतिरिक्तं सत्त्वत्वा वा ऊर्ध्वं, बन्धुः स्वजनसम्पत्तिः, वित्तं ग्रामरत्नादिकम्, एतैर्युक्ताः क्रमेण मान्याः

युजनीयाः । एतैर्विद्याकर्मबन्धुचितैः प्रभूतैः प्रवृद्धैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा युक्तः
शूद्रोऽपि वार्धके अशीतेरुर्ध्वं मानमर्हति, 'शूद्रोऽप्यशीतिको वरः' (६।७) इति
गौतमस्मरणात् ॥ ११६ ॥

भाषा—विद्या, कर्म, आयु, बन्धुओं और धन से युक्त मनुष्य क्रमानुसार
माननीय होते हैं । इन सबसे (या किसी एक से) बड़ा होने पर वृद्धावस्था
में शूद्र भी आदरणीय होता है ॥ ११६ ॥

वृद्धभारिन् नृपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम् ।

पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यः स्नातश्च भूपतेः ॥ ११७ ॥

वृद्धः पक्केशः प्रसिद्धः, भारी भाराक्रान्तः, नृपो भूपतिः न क्षत्रियमात्रम्,
स्नातो विद्याव्रतोभयस्नातकः, स्त्री प्रसिद्धा, रोगी व्याधितः, वरो विवाहोद्यतः,
चक्री शाकटिकः । चकारान्मत्तोन्मत्तादीनां ग्रहणम्, 'बालवृद्धमत्तोन्मत्तोपहत-
देहभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रव्रजितेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात् । पश्यः पन्था देयः ।
एतेष्वभिमुखायातेषु स्वयं पथोऽपक्रामेत् । वृद्धादीनां राज्ञा सह पथि समवाये
राजा मान्य इति तस्मै पन्था देयः । भूपतेरपि स्नातको मान्यः, 'स्नातक'ग्रहणं
स्नातकमात्रप्राप्त्यर्थं, न ब्राह्मणाभिप्रायेण; तस्य सदैव गुरुत्वात् । यथाह शङ्खः—
'अथ ब्राह्मणायाग्रे पन्था देयो राज्ञ इत्येके । तच्चानिष्टं गुरुर्ज्येष्ठश्च ब्राह्मणो राजा-
नमतिशेते तस्मै पन्था' इति । वृद्धादीनां परस्परं पथि समवाये वृद्धेतराद्यपेक्षया
विद्यादिभिर्वा विशेषो द्रष्टव्यः ॥ ११७ ॥

भाषा—वृद्ध, बोझा ढोने वाले, राजा, स्नातक (ब्रह्मचारी), स्त्री, रोगी,
वर और चक्री (सुराकार) के लिये मार्ग छोड़ देना चाहिए । इन सब
में राजा सर्वाधिक मान्य होता है और स्नातक राजा के लिये भी पूज्य
होता है ॥ ११७ ॥

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।

प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ ११८ ॥

वैश्यस्य क्षत्रियस्य च, चकाराद् ब्राह्मणस्य द्विजानुलोमानां च, यागाध्ययन-
दानानि साधारणानि कर्माणि, ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्रहयाजनाध्यापनानि ।
तथेति । स्मृत्यन्तरोक्तवृत्त्युपसंग्रहः । यथाह गौतमः (१०।५-६)—
'कृषिवाणिज्ये वा स्वयं कृते' 'कुसीदं च' इति । अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मण-
पेरितसोर्भवति, न स्वेच्छया; 'आपत्काले ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः,

१. स्नातस्तु ।

२. नृपो राजा न ।

३. आभिमुखायातेषु

४. याजनप्रतिग्रहाः ।

11639

अनुगमनं शुश्रूषा, समासे ब्राह्मणो गुरुः' (७।१, २।३) इति गौतमस्मरणात् । एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि । तत्र त्रीणीज्यादीनि धर्मार्थानि, त्रीणि प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि, 'षण्णां 'तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥' इति (१०।११) मनुस्मरणात् । अत इज्यादीन्यवश्यं कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं, 'ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः', 'पूर्वेषु नियमः' (१०।१-३) इति गौतमस्मरणात् ॥ ११८ ॥

भाषा—यज्ञ करना, (वेदादि का) अध्ययन और दान—ये कर्म क्षत्रिय और वैश्य को करने होते हैं । ब्राह्मण के लिये दान लेना, यज्ञ कराना और अध्यापन ये कर्म (क्षत्रिय और वैश्य से) अधिक होते हैं ॥ ११८ ॥

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।

कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥ ११९ ॥

क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । वैश्यस्य कुसीद-कृषिवाणिज्यपशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि । कुसीदं वृत्त्यर्थं द्रव्यप्रयोगः, लाभार्थं क्रयविक्रयौ वाणिज्यम् । शेषं प्रसिद्धम्; 'शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य धनिक-पशुकृषी विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥' इति (१०।७९) मनुस्मरणात् ॥ ११९ ॥

भाषा—प्रजा का पालन करना क्षत्रिय का प्रधान कर्म है । वैश्य के लिये व्याज लेना, कृषि, वाणिज्य और पशु-पालन (वृत्त्यर्थक) कर्म बताए गये हैं ॥ ११९ ॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तथाऽजीवन्वणिग्भवेत् ।

शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिद्वितमाचरेत् ॥ १२० ॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । तत्र ब्राह्मणशुश्रूषा परमो धर्मः, 'विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते' (१०।१२३) इति मनुस्मरणात् । यदा पुनर्द्विजशुश्रूषया जीवितुं न शक्नोति तदा वणिगवृत्त्या जीवेत् । नानाविधैर्वा शिल्पैर्द्विजातीनां हितं कुर्वन् । यादृशैः कर्मभिर्द्विजाति-शुश्रूषासामर्थ्यो न भवति तादृशानि कर्माणि कुर्वन्निश्चयः । तानि च देव-लोकाभिः—शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणकर्षणपशुपालनभारो-द्धहनपण्यव्यवहारचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणासुरजमृदङ्गवादनादीनि' ॥ १२० ॥

भाषा—शूद्र के लिये द्विजातियों की सेवा प्रधान कर्म है; उससे जीविका न चलने पर वणिग्भृति का आश्रय ले अथवा द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए अनेक प्रकार के शिल्पो द्वारा जीवन निर्वाह करे ॥ १२० ॥

भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः^१ ।

नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥ १२१ ॥

किञ्च, भार्यायामेव न साधारणस्त्रीषु परस्त्रीषु वा रतिरभिगमनं यस्य स तथोक्तः । शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः द्विजवत्, भृत्यादेर्भर्ता, श्राद्धक्रियारतः, श्राद्धानि नित्यनैमित्तिककाम्यानि, क्रियाः स्नातकप्रतान्यविरुद्धानि, तेषु रतः । 'नम' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वोक्ताप्यष्टमहायज्ञानहरहरं हापयेदनुतिष्ठेत् । नमस्कार-मन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च । नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः ॥' इति वर्णयन्ति । 'नमः' इत्यन्ये । तत्र वैश्वदेवं लौकिकेऽग्नौ कर्तव्यं, न वैवाहिकेऽग्नौ चित्याचार्याः ॥ १२१ ॥

भाषा—अपनी पत्नी में ही रत रहे, (द्विजों के समान ही) पवित्र रहे, भृत्यों का पालन पोषण करे, श्राद्ध कर्म करे तथा नमस्कार के मन्त्र के साथ पञ्च महायज्ञों को न छोड़े ॥ १२१ ॥

इदानीं साधारणधर्मानाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

हिंसा प्राणिपीडा, तस्या अकरणमहिंसा । सत्यमप्राणिपीडाकरं यथार्थवचनम्, अस्तेयमदत्तानुपादानम्, शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नियतविषयवृत्तिरेन्द्रियनिग्रहः । यथाशक्ति प्राणिनामन्नोदकादिदानेनार्तिपरिहारो दानम् । अन्तःकरणसंयमो दमः । आपन्नरक्षणं दया । अपकारेऽपि चित्तस्याविकारः क्षान्तिः । इत्येते सर्वेषां पुरुषाणां ब्राह्मणाद्याचण्डालान्तं धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

भाषा—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, दान देना, (अन्तःकरण का) संयम, (दुःखियों पर) दया और धैर्य धारण करना—ये सभी व्यक्तियों के लिये धर्म के साधन हैं ॥ १२२ ॥

वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् ।

आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्वामशठां तथा ॥ १२३ ॥

वयो बाल्ययौवनादि, बुद्धिर्नैसर्गिकी लौकिकवैदिकव्यवहारेषु,^१ अर्थो वित्तं गृहक्षेत्रादि, वाक् कथनम्, वेधो वस्त्रमाभ्यादिविन्यासः, श्रुतं पुरुषार्थशास्त्रश्रवणम्, अभिजनः कुलम्, कर्म वृत्त्यर्थं प्रतिग्रहादि, एतेषां वयःप्रभृतीनां सदृशीमुचितां वृत्तिमाचरणं आचरेत्स्वीकुर्यात्। यथा वृद्धः स्वीचितां न यौवनोचिताम्। एवं बुद्ध्यादिष्वपि योज्यम्। अजिह्वामनकाम्, अशताममत्सराम् ॥ १२३ ॥

भाषा—आयु, बुद्धि, धन, वाणी, वेध, शास्त्रज्ञान एवं कर्म के उपयुक्त ऐसी जीवन-वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए, जो टेढ़ी और मत्सर-युक्त न होवे ॥ १२३ ॥

एवं स्मार्तानि कर्माण्यनुक्रम्येदानीं श्रौतानि कर्माण्यनुक्रमति—

त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद् द्विजः।

प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत् ॥ १२४ ॥

त्रिवर्षजीवनपर्याप्तं त्रैवार्षिकं अधिकं वा अन्नं यस्य स एव सोमपानं कुर्यान्नातोऽरुपधनः, (मनु. १११८)—‘अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति एतच्च काश्याभिप्रायेण नित्यस्य चावश्यकर्तव्यत्वाच्च नियमः। यस्य वर्षजीवनपर्याप्तमन्नं भवति स प्राक्सौमिकीः सोमात्प्राक् प्राक्सोमं, प्राक्सोमंभाक् प्राक्सौमिक्यः। कास्ताः? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासांप्रयणपशुचातुर्मास्यानि काश्यानि कर्माणि तद्विकाराश्च। ताः क्रियाः कुर्यात् ॥ १२४ ॥

भाषा—तीन वर्ष तक खाने से अधिक अन्न रखने वाला द्विज सोमपान करे। जिसके यहाँ केवल एक वर्ष के लिये अन्न हो वह (अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आप्रयण, पशु चातुर्मास्य आदि) सोम यज्ञ से पहले की जाने वाली क्रियाएँ करे ॥ १२४ ॥

एवं काश्यानि श्रौतानि कर्माण्यभिधायेदानीं नित्यान्याह—

प्रतिसंवत्सरं सोमः पशुः प्रत्ययनं तथा।

कर्तव्याग्रयणेष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव हि ॥ १२५ ॥

संवत्सरे संवत्सरे सोमयागः कार्यः। पशुः प्रत्ययनं अयने अयने दक्षिणोत्तर-संज्ञिते निरूढः पशुयागः कार्यः। तथा प्रतिसंवत्सरं वा; ‘पशुना संवत्सरे संवत्सरे यजेत, षट्सु षट्सु वा मासेष्वित्येके’ इति बौधायनस्मरणात्। आप्रयणेष्टिश्च सस्योत्पत्तौ कर्तव्या। चातुर्मास्यानि च प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यानि ॥ १२५ ॥

१. व्यवहारेषु ज्ञानं। २. वचनम्। ३. सोमयागं। ४. पूर्णमासपशु।
पूर्णमासचातुर्मास्यानि। ५. मास्यानि कर्मानि।

भाषा—प्रतिवर्ष सोमयज्ञ करे, अयन-अयन (दक्षिणायन और उत्तरायण) में निरुद्धपशुयाग करे । (नये यज्ञ की उत्पत्ति पर) आप्रयणेष्टि करे और चातुर्मास्ययज्ञ प्रतिवर्ष करना चाहिए ॥ १२५ ॥

एषामसंभवे कुर्यादिष्टि वैश्वानरीं द्विजः ।

हीनकल्पं न कुर्वीत सति द्रव्ये फलप्रदम् ॥ १२६ ॥

एषां सोमप्रभृतीनां पूर्वोक्तानां नित्यानां कथञ्चिदसंभवे तत्काले वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात् । किञ्च योऽयं हीनकल्प उक्तः, सति द्रव्येऽसौ न कर्तव्यः । यच्च कर्तव्यं द्रव्यं तद्धीनकल्पं न कुर्वीत न कर्तव्यमिति ॥ १२६ ॥

भाषा—यदि ये (सोमयाग आदि) संभव न हो सकें तो द्विज को वैश्वानरी इष्टि करनी चाहिए । धन रहने पर यह हीनकल्प नहीं करना चाहिए तथा काम्य होशकल्प तो करना ही नहीं चाहिए ॥ १२६ ॥

चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात् ।

यज्ञार्थं लब्धमददद् भासः काकोऽपि वा भवेत् ॥ १२७ ॥

यज्ञार्थं शूद्रधनयाचनेन स जन्मान्तरे चाण्डालो जायते । यः पुनर्यज्ञार्थं वाचितं न सर्वं प्रयच्छति न त्यजति, स भासः काकोऽपि वा वर्षशतं भवेत् । यथाह मनुः (११।२५)—‘यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यः सर्वं न प्रयच्छति । स पाति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥’ इति । भासः शकुन्तः । काकः असिद्धः ॥ १२७ ॥

भाषा—यज्ञ के लिए शूद्र से धन माँगने पर (द्विज) दूसरे जन्म में चाण्डाल होकर जन्म लेता है । यज्ञ के लिये प्राप्त सम्पूर्ण धन को न दे देने वाला भास (पक्षी) या कौआ होता है ॥ १२७ ॥

कुशूलकुम्भीधान्यो वा ज्याहिकोऽश्वस्तनोऽपि वा ।

कुशूलं कोष्ठकं, कुम्भी उट्टिका, कुशूलं च कुम्भी च कुशूलकुम्भौ, ताभ्यां परिमितं धान्यं यस्य स तथोक्तः कुशूलधान्यः स्यात्, कुम्भीधान्यो वा । यच्च स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमात्रपर्याप्तं धान्यं यस्यास्ति स कुशूलधान्यः । कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्बपोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः । अयहः पर्याप्तं धान्यमस्यास्तीति ज्याहिकः । श्रोत्रवं धान्यादिकं अस्तनम्, न विद्यते अस्तनं यस्य सोऽश्वस्तनः ॥

कुशूलधान्यादिसञ्चयोपायमाह—

जीवेद्वापि शिलोज्ज्वलेन श्रेयानेषां परः परः ॥ १२८ ॥

१. न परिवर्जति ।

‘शाक्यादिनिपतितपरित्यक्तवस्त्ररीग्रहणं शिलम्, एकैकस्य परित्यक्तस्य कणस्योपादानमुच्छ्रः, शिलं चोच्छ्रश्च शिलोच्छ्रम्, तेन शिलेनोच्छ्रेण वा । कुशूलधान्यादिश्चतुर्विधो गृहस्थो जीवेत् । एषां कुशूलधान्यादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां चतुर्णां परः परः पश्चात्पश्चात्पठितः श्रेयान् प्रशस्यतमः । एतच्च यद्यपि द्विजः ‘प्रकृतस्तथापि ब्राह्मणस्यैव भवितुमर्हति, विष्णोपशमादियोगात् । तथा च मनुना (४१२)—‘अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥’ इति विप्रमेव प्रैस्तुत्य मनुः (४१७)—कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा’ इत्याद्यभिहितम् । एतच्चातिसंयतं यायावरं प्रत्युच्यते, न विप्रमात्राभिप्रायेण । तथा सति—‘त्रैवार्षिकाधिकाष्टो यः स हि लोभं पिबेद् द्विजः’ (भा. १२६) इत्यनेन विरोधः । तथा च गृहस्थानां द्वैविध्यं तत्र तत्रोक्तम् । यथाह देवलः—‘द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च । तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसञ्चयवर्जनात् । षट्कर्माधिष्ठितः प्रेक्ष्यचतुष्पदगृहग्रामधनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ती शालीनः’ इति । शालीनोऽपि चतुर्विधः—याजनाध्यापनप्रतिग्रहकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यैः षड्भिर्जीवत्येकः, याजनादिभिस्त्रिभिरन्यः, याजनाध्यापनाभ्यामपरः, चतुर्थस्त्वध्यापनेनैव । तथाह मनुः (११९)—‘षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसन्नेन जीवति ॥’ इति । अत्र च ‘प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे’ (भा. ११८) इत्यादिना शालीनस्य वृत्तयो दर्शिताः । यायावरस्य ‘जीवेद्वापि शिलोच्छ्रेण’ इति ॥ १२८ ॥

भाषा—कोठिली भर (बारह दिन के खर्चे भर) अन्न वाले, घड़े भर (छः दिन के खर्चे भर) अन्न वाले, तीन दिन के खर्चे भर अन्न वाले, दिन भर के भोजन योग्य अन्न वाले और खेतों में गिरे हुए अन्न को बोन कर जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्तियों में पहले वाले से बाद वाले उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं ॥

इति गृहस्थधर्मप्रकरणम् ।

अथ स्नातकधर्मप्रकरणम्

एवं श्रौत-स्मार्तानि कर्माण्यभिधायेदानीं गृहस्थस्य स्नानादारभ्य ब्राह्मणस्यावश्यकर्तव्यानि विधि-प्रतिषेधात्मकानि मानससङ्कल्परूपाणि स्नातक-व्रतान्याह—

न स्वाध्यायविरोध्यर्थमीहेत न यतस्ततः ।

न विरुद्धप्रसङ्गेन संतोषी च भवेत्सदा ॥ १२९ ॥

-
१. शाक्यादेर्निपतित । २. ब्राह्मणानां चतुर्णां । ३. श्रेयानुकृष्टतमः ।
४. प्रकृतः प्रकरणप्राप्तः प्राकृतः । ५. पुरस्कृत्य । ६. नातिसम्पन्नसंयतं ।

ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादयोऽर्थप्राप्त्युपाया दर्शिताः तत्र विशेष उच्यते—
स्वाध्यायविरोधिनमर्थमप्रतिषिद्धमपि नेहेत नान्विच्छेत् । न यतस्ततः न यतः
कुतश्चिद्विदिताचाराश्च । विरुद्धप्रसङ्गेन विरुद्धमयाज्ययाजनादिप्रसङ्गो नृत्य-
गीतादिः । विरुद्धं च प्रसङ्गश्च विरुद्धप्रसङ्गं तेन । नार्थमीहेतेति सम्बद्धयते । नञ्-
आवृत्तिः प्रत्येकं पर्युदासार्था । सर्वत्राप्यस्मिन्ज्ञातकप्रकरणे नञ्शब्दः प्रत्येकं
पर्युदासार्थ एव । किञ्चिदर्थालाभेऽपि सन्तोषी परिवृत्तो भवेत् । चकारात्संयतश्च
'सतोपं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्' (४११३) इति मनुस्मरणात् ॥

भाषा—अपने स्वाध्याय के विरोधियों से धन अर्जित करने की इच्छा
न करे, इधर-उधर अविचारित स्थान से या (अपने कर्म के) विरुद्ध कार्य
(जैसे नृत्य-गीत आदि) द्वारा धन कमाने की अभिलाषा न रखे । सदैव
सन्तोष रखे ॥ १२९ ॥

कुतस्तर्हि धनमन्विच्छेदित आह—

राजान्तेवासियाज्येभ्यः सीदन्निच्छेद्धनं क्षुधा ।

दम्भिहैतुकपाखण्डिवकवृत्तींश्च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्षुधा सीदन् पीड्यमानः ज्ञातकः राज्ञो विदितवृत्तान्तात्, अन्तेवासिनो
वक्ष्यमाणलक्षणात्, याज्यात् याज्यगार्हाष्ठ, धनमाददीत । 'क्षुधा सीदन्' इत्यनेन
विभागादिप्राप्तकुटुम्बपोषणपर्याप्तधनो न 'कुतश्चिदर्थमन्विच्छेदिति' गम्यते ।
किञ्च दम्भिहैतुकादीन् सर्वकार्येषु वर्जयेत् । चकाराद्विकर्मस्थवैडालव्रतिकान्शठान् ।
यथाह मनुः (४१३०)—'पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकान्शठान् ।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च बाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥' इति । लोकरक्षनार्थमेव कर्मानुष्ठायी
दर्भी, युक्तिबलेन सर्वत्र संशयकारी हैतुकः, त्रैविध्यविरुद्धपरिगृहीताश्रमिणः
पाखण्डिनः । वकवदस्य वर्तनमिति वकवृत्तिः । यथाह मनुः (४१९६)—
'अधोदष्टिर्नैकृतिकः' स्वार्थसाधनतत्परः । शठो मिथ्याविनीतश्च वकवृत्ति-
रुदाहृतः ॥' इति । प्रतिषिद्धसेविनो विकर्मस्थाः । बिडालो मार्जारस्तस्य व्रतं
स्वभावो यस्यासौ वैडालव्रतिकः । तस्य लक्षणमाह मनुः (४१९५)—'धर्मध्वजी
सदा लुब्धश्छाशिको लोकदम्भकः । वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥'
इति । शठः=सर्वत्र वक्रः । एतैः संसर्गनिषेधादेव स्वयमेवम्भूतो न भवेदिति
गम्यते ॥ १३० ॥

भाषा—भूख से व्याकुल होने पर राजा, अन्तेवासी और यज्ञ कराने
योग्य व्यक्ति से धन-प्राप्ति की इच्छा करे, परन्तु अहंकारी, संशय की दृष्टि

रखने वाले, पाखंडी, और बगुलाभगत के निकट (धन को इच्छा से) न जावे ॥ १३० ॥

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः ।

न भार्यादर्शनेऽश्लीयास्त्रैकवासा न संस्थितः ॥ १३१ ॥

किञ्च, शुक्ले धौते अम्बरे वाससी धरतीति शुक्लाम्बरधरः । केशाश्च श्मश्रूणि च नखाश्च केशश्मश्रुनखम्, नीचं निकृत्तं केशश्मश्रुनखं यस्यासौ तथोक्तः । शुचिरन्तर्बाह्यस्नानानुलेपनधूपस्नानादिभिः सुगन्धी च भवेत् । यथाह गौतमः (१।२)—‘स्नातको नित्यं शुचिः सुगन्धिः स्नानशीलः’ इति । सुगन्धित्व-विधानादेव निर्गन्धमाह्वयस्य निषेधः । तथा च गोभिलः—‘नागन्धां स्नजं धारयेदन्यत्र हिरण्यरत्नस्नजः’ इति । सदा स्नातक एवम्भूतो भवेत् । एतच्च सति सम्भवे; ‘न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति’ (मनु. ४।३४) इति स्मरणात् । न च भार्यादर्शने तस्यां पुरतोऽवस्थितायामश्लीयात्, अवीर्यवदपत्योत्पत्तिभयात् । तथा च श्रुतिः—‘जायाया अन्ते नाश्लीयात्तुर्बवदपत्यं भवति’ इति । अतस्तया सह भोजनं दूरादेव निरस्तम् । न त्रैकवासाः, न संस्थितः ‘अश्लीयात्’ इति सम्बध्यते ॥ १३१ ॥

भाषा—स्वच्छ वस्त्र धारण करे, केश, दाढ़ी-मूँछ और नखों को काट कर छोटा रखे, (स्नान एवं सुगन्धिलेप द्वारा) पवित्र रहे । पत्नी के सामने, एक वस्त्र पहन कर और खड़ा होकर भोजन न करे ॥ १३१ ॥

न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत् ।

नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्न वार्धुषी ॥ १३२ ॥

किञ्च, कदाचिदपि संशयं प्राणविपत्तिसंशयावहं कर्म न प्रपद्येत न कुर्यात् । यथा व्याघ्रचौराण्यपहतदेशाक्रमणादि । अकस्मान्निष्कारणं किञ्चिदपि पुरुषं अप्रियं उद्देगकरं वाक्यं न वदेत् । न चाहितं, नानृतं वा प्रियमपि, चकारात् कर्त्तव्यं बीभत्सकरं च, अकस्माच्च वदेदिति सम्बध्यते । एतच्च परिहासादि-व्यतिरेकेण, ‘गुरुणापि समं हास्यं कर्त्तव्यं कुटिलं विना’ इति स्मरणात् । न च स्तेनः अन्यदीयस्यादत्तस्य ग्रहीता न स्यात् । न वार्धुषी स्यात् । प्रतिषिद्धवृद्धयुप-जीवी वार्धुषी ॥ १३२ ॥

भाषा—जिस कार्य में प्राणों का संशय हो उस कर्म में प्रवृत्त न होवे; अकस्मात् (विना कारण के) अप्रिय वचन वचन न बोले; अहितकारी और

असत्य (तथा असलील) वचन भी न बोले; चोर न बने एवं (निषिद्ध) व्याज से श्रुति न चलावे ॥ १३२ ॥

दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री वेणुमान्सकमण्डलुः ।

कुर्यात्प्रदक्षिणं देवमृद्रोविप्रवनस्पतीन् ॥ १३३ ॥

किञ्च, दाक्षायणं सुवर्णम्, 'तदस्यास्तीति दाक्षायणी । ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं तदस्यास्तीति ब्रह्मसूत्री, वैणवयष्टिमान्, कमण्डलुमान्, 'स्यात्' इति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । अत्र च ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि यज्ञोपवीतस्य पुनर्वचनं द्वितीयप्राप्त्यर्थम् । यथाह वसिष्ठः—'स्नातकानां तु निश्चयं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम् । यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः ॥' इति । अत्र च दाक्षायणीति सामान्याभिधानेऽपि कुण्डलधारणमेव कार्यम्, 'वैष्णवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥' (४।३९) इति मनुस्मरणात् । तदा देवं देवप्रतिमाम्, मृदं तीर्थादुदधतां, गां, ब्राह्मणं, वनस्पतिं अश्वत्थादिकं प्रदक्षिणं कुर्यात् । एतान्दक्षिणतः कृत्वा प्रव्रजेदित्यर्थः । एवं चतुष्पथादीनपि 'मृदं गां देवतां विप्रं शृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वति प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥' (४।३९) इति मनुस्मरणात् ॥ १३३ ॥

भाषा—सदैव दाक्षायण (सोने का कुण्डल), यज्ञोपवीत, डंडा और कमण्डलु लिये रहे । देवमूर्ति, (तीर्थ की) मिट्टी, गाय, ब्राह्मण और (पीपल आदि) वृक्षों की परिक्रमा करे ॥ १३३ ॥

न तु मेहेन्नदीच्छायावर्त्मगोष्ठाम्बुभस्मसु ।

न प्रत्यग्न्यर्कगोसोमसंध्याम्बुस्त्रीद्विजन्मनः ॥ १३४ ॥

नद्यादिषु न मेहेत् न मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात्, एवं श्मशानादावपि । यथाह शङ्खः—'न गोमयकृष्टोत्सशाङ्गलचितिश्मशानवल्मीकवर्त्मखलगोष्ठबिलपर्वतपुलिनेषु मेहेत्, भूताधारत्वात्' इति । तथाग्न्यादीन्प्रति अग्न्यादीनामभिमुखं न मेहेत्, नाप्येतान्पश्यन् । यथाह गौतमः (९।१२)—'न वाय्यवग्निविप्रादिश्यापोदेवतागाश्च प्रतिपश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्याभ्युदस्येत्, न देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्' इति । एतद्देश्यतिरेकेण भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यादिति । यथाह वसिष्ठः—'परिवेष्टितशिरा भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १३४ ॥

१. तद्वान्, तद्धारणात् ।

२. एवं देवं देवतार्चा ।

३. प्रदक्षिणतः ।

४. प्रत्यर्कान्नो ।

५. श्मशानवल्मीक ।

६. नैतान् प्रति ।

७. मेहनं कार्य ।

भाषा—नदी, छाया, भार्ग, गोशाला, जल और भस्म में मूत्र एवं मल का त्याग न करे । अग्नि, सूर्य, गाय, चन्द्रमा, संध्या, जल, स्त्री और द्विज की ओर मुँह कर भी (मूत्र एवं पुरीष) न करे ॥ १३४ ॥

नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनाम् ।

न च मूत्रं पुरीषं वा नाशुची राहुतारकाः ॥ १३५ ॥

नैवार्कमीक्षेतेति यद्यन्यत्र सामान्येनोक्तं, तथाप्युदयास्तमयराहुप्रस्तोदक-प्रतिबिम्बमध्याह्नवर्तिन एवादित्यस्यावेक्षणं निषिध्यते, न सर्वदा । यथोक्तं मनुना (४।३७)—‘नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन । नोपस्पृष्टं न वारिस्थं न मध्यं न भसो गतम् ॥’ इति । उपभोगादन्यत्र नग्नां स्त्रियं नेक्षेत । न नग्नां स्त्रियमीक्षेतान्यत्र मैथुनात्’ इत्याश्रलायनः । संस्पृष्टमैथुनां कृतोपभोगाम् । उपभोगान्ते नग्नामपि नेक्षेत । चकाराद्भोजनादिकमाचरन्तीम् । तथा च मनुः (४।४३)—‘नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् । क्षुवर्ती जम्भमाणां च न चासीनां यथासुखम् ॥ नाक्षयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तमनावृताम् । न पश्येत्प्रसवन्तीं च श्रेयस्कामो द्विजोत्तमः ॥’ इति । मूत्रपुरीषे च न पश्येत् । तथा अशुचिः सन् राहुतारकाश्च न पश्येत् । चकाराद्बुदके स्वप्रतिबिम्बं न पश्येत्, ‘न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा (मनु. ४।३८) इति वचनात् ॥ १३५ ॥

भाषा—(उदय, अस्त, राहुप्रस्त, जल में प्रतिबिम्बित एवं मध्याह्न-कालीन) सूर्य को, (संभोग के अतिरिक्त अन्यत्र) नंगी स्त्री को, जिसके साथ सद्यः मैथुन किया गया हो ऐसी (अनग्ना) स्त्री को, मूत्र तथा पुरीष को और अपवित्र रहते राहु एवं तारों को न देखे ॥ १३५ ॥

अयं मे वज्र इत्येवं सर्वं मन्त्रमुदीरयेत् ।

वर्षत्यप्रावृतो गच्छेत्स्वपेत्प्रत्यक्षिरा न च ॥ १३६ ॥

वर्षति सति ‘अयं मे वज्रः पाप्मानमपहन्तु’ इति मन्त्रमुच्चारयेत् । वर्षति अप्रावृतोऽनाच्छादितो न गच्छेन्न धावेत् । ‘न प्रधावेच्च वर्षति’ इति प्रतिषेधात्; न च प्रत्यक्षिराः स्वप्यात् । चकारानग्नौ न शयात् । एकश्च शून्यगृहे न च नग्नः शयीतेति । ‘नैकः सुप्याच्छून्यगृहे’ (४।५७) मनुस्मरणात् ॥ १३६ ॥

भाषा—वर्षा होने पर ‘अयं मे वज्रः पाप्मानमपहन्तु’ मन्त्र का उच्चारण करे । (वर्षा में) छाता आदि से आच्छादित हुए बिना कहीं न जावे । पश्चिम की ओर शिर करके (और नंगा) न सोवे ॥ १३६ ॥

छीवनासृक्शक्नुमूत्ररेतांस्येषु न निक्षिपेत् ।

पादौ प्रतापयेन्नाग्नौ न चैनमभिलङ्घयेत् ॥ १३७ ॥

छीवनमुद्गिरणम्, असृक् रक्तं, शक्नु पुरीषं प्रसिद्धम्, एतान्यप्यु न निक्षिपेत् । एवं तुषादीनपि । यथाह शङ्खः—‘तुषकेशपुरीषभस्मास्थिश्लेष्म-
नखलोमान्यप्यु न निक्षिपेत् पादेन पाणिना वा जलमभिहन्यात्’ इति । अग्नौ
च पादौ न प्रतापयेत् । नाप्यग्निं लङ्घयेत् । चकारात् छीवनादीन्यग्नौ न
निक्षिपेत् । मुखोपधमनादि चाग्नेर्न कुर्यात् । तथा च मनुः (४।५३)—नाग्निं
मुखेनोपधमेक्षणां नेद्वेत् च स्त्रियम् । नामेभ्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥
अधस्तान्नोपध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् । न चैनं पादतः कुर्याच्च प्राणिवैध-
माचरेत् ॥’ इति ॥ १३७ ॥

भाषा—थूक, रक्त, पुरीष, मूत्र, एवं वीर्य जल में न फेंके । अग्नि में पैरों
को न सेंके और न उसे लॉंघे ॥ १३७ ॥

जलं पिबेन्नाञ्जलिना न शयानं प्रबोधयेत् ।

नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैर्व्याधितैर्वा न संविशेत् ॥ १३८ ॥

जलमञ्जलिना संहताभ्यां हस्ताभ्यां न पिबेत् । ‘जल’ ग्रहणं पेयमात्रोप-
लब्धम् । विषादिभिरात्मनोऽधिकं शयानं न प्रबोधयेन्नोत्थापयेत् । ‘श्रेयांसं न
प्रबोधयेत्’ इति विशेषस्मरणात् । अद्यादिभिर्न क्रीडेत् । धर्मघ्नैः पशुलभनादिभिर्न
क्रीडेत् । व्याधितैर्ज्वराद्यभिभूतैः सहैकत्र न संविशेत् शयीत ॥

भाषा—अञ्जलि से जल न पिए और न सोये हुए व्यक्ति को जगावे ।
जुआ न खेले, (पशु हिंसक आदि) धर्मघ्नष्ट व्यक्तियों के साथ न खेले और
न रोगी व्यक्ति के पास सोवे ॥ १३८ ॥

विरुद्धं वर्जयेत्कर्म प्रेतधूमं नदीतरम् ।

केशभस्मतुषाङ्गारकपालेषु च संस्थितिम् ॥ १३९ ॥

जनपदग्रामकुलाचारविरुद्धं कर्म वर्जयेत् । प्रेतधूमं, बाहुभ्यां नदीतरणं
च, वर्जयेदिति सम्बध्यते । केशादिषु च संस्थितिं वर्जयेत् । चकारादस्थिकार्पासा-
मेव्येषु च ॥ १३९ ॥

भाषा—(जनपद, गाँव और कुल के) विरुद्ध कर्म न करे । प्रेतधूम-
स्पर्श और तैर कर नदी पार करना कार्य न करे । केश, भस्म, भूसी, अंगार
और कपाल पर न बैठे ॥ १३९ ॥

नाचक्षीत धयन्तीं गां नाद्वारेण विशेषकचित् ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ॥ १४० ॥

परस्य क्षीरादि^१ पिबन्तीं गां परस्मै नाचक्षीत नच निवर्तयेत् । अद्वारेण कापथेन कचिदपि नगरे ग्रामे मन्दिरे वा न प्रविशेत् । नच कृपणस्य शास्त्राति-
क्रमकारिणो राज्ञः सकाशात्प्रतिगृह्णीयात् ॥ १४० ॥

भाषा—पीती हुई या (बछड़े को) पिलाती हुई गाय को अलग न करे और न उसके विषय में कहे । कहीं (गांव या मन्दिर में) उचितमार्ग को छोड़कर किसी और मार्ग से प्रवेश न करे । लोभी, शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाले राजा का दान न ग्रहण करे ॥ १४० ॥

प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ।

दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादेते यथाक्रमम् ॥ १४१ ॥

प्रतिग्रहे साध्ये सून्यादयः पञ्च पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परः परो दशगुणं दुष्टः । सूना प्राणिहिंसा साऽस्यास्तीति सूनी प्राणिहिंसापरः । चक्री तैलिकः । ध्वजी सुराविक्रयी । वेश्या पण्यक्षी । नराधिपोऽनन्तरोक्तः ॥ १४१ ॥

भाषा—दान लेने में अधिक, तेली, कुलाल, वेश्या और राजा-ये यथाक्रम अपने पहले वाले से दस-दस गुना अधिक दोषी होते हैं ॥ १४१ ॥

अथाध्ययनधर्मानाह—

अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा ।

हस्तेनौषधिभावे वा पञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥ १४२ ॥

अधीयन्त ह्यध्याया वेदाः, तेषामुपाकर्म उपक्रममौषधीनां प्रादुर्भावे सति श्रावणमासस्य पौर्णमास्यां, श्रवणनक्षत्रयुते वा दिने, हस्तेन युतायां पञ्चम्यां वा, स्वगृहोक्तविधिना कुर्यात् । यदा तु श्रावणे मासि औषधयो न प्रादुर्भवन्ति, तदा भाद्रपदे मासि श्रवणनक्षत्रे कुर्यात् । तत ऊर्ध्वं सार्धं चतुरो मासान्वेदानधी-
यीत । तथा च मनुः (४।९५)—‘श्रावण्यां प्रौष्ठपथां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तशङ्खन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥’ इति ॥ १४२ ॥

भाषा—(वेदों के) अध्ययन का उपाकर्म (आरम्भ) वनस्पतियों के उग आने पर श्रावण महीने की पूर्णमासी को या श्रवणनक्षत्र से युक्त दिन को अथवा हस्तनक्षत्र से युक्त श्रावण की पंचमी को करे ॥ १४२ ॥

उत्सर्जनकालः—

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा ।

जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्तरार्गे विधिवद्वहिः ॥ १४३ ॥

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायां वा ग्रामाद्वहिर्जलसमीपे छन्दसां वेदानां स्वगृह्योक्तविधिनोत्सर्गं कुर्यात् । यदा पुनर्भाद्रपदे मासि उपकर्म तदा माघ-
शुक्लप्रथमदिवसे उत्सर्गं कुर्यात् । यथोक्तं मनुना (४।९६)—‘पुष्ये तु छन्द-
सां कुर्याद्वहिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥’
इति । तदनन्तरं पक्षिणोमहोरात्रं वा विरम्य शुक्लपक्षेषु वेदान् कृष्णपक्षेष्वङ्गा-
न्यधीयीत । यथाह मनुः (४।९७)—‘यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां
वहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि
शुक्लेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पौष मास की रोहिणी या अष्टमी को (गाँव से) बाहर जाकर
जलाशय के निकट वेदों का (अपने गृह्यसूत्र में उक्त) विधि के अनुसार
उत्सर्ग करे ॥ १४३ ॥

अनध्यायानाह—

अथहं प्रेतेष्वनध्यायः शिष्यत्विग्गुरुबन्धुषु ।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्वशाखाश्रोत्रिये तथा ॥ १४४ ॥

उक्तेन मार्गेणाधीयानस्य द्विजस्य शिष्यत्विग्गुरुबन्धुषु प्रेतेषु मृतेषु अथह-
मनध्यायस्त्रीनहोरात्रानध्ययनं वर्जयेत् । उपाकर्मणि उत्सर्गाख्ये च कर्मणि
कृते अथहमनध्यायः । उत्सर्गे तु मनुष्कपक्षिण्यहोरात्राभ्यां सहास्य विकल्पः ।
स्वशाखाश्रोत्रिये स्वशाखाध्यायिनि च प्रेते अथहमनध्यायः ॥ १४४ ॥

भाषा—शिष्य, ऋत्विज, गुरु और बन्धु (सजाति) के मरने पर,
उपाकर्म (एवं वेदोत्सर्ग कर्म) के उपरान्त तथा अपनी शाखा का अध्ययन
करने वाले किसी व्यक्ति की मृत्यु पर तीन दिनों तक अनध्याय
होता है ॥ १४४ ॥

संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।

समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥ १४५ ॥

संध्यायां मेघध्वनौ, निर्घाते आकाशे उत्पातध्वनौ, भूमिचलने, उल्का-
पतने, मन्त्रस्य ग्राह्यणस्य वा समाप्तौ, आरण्यकाध्ययने च द्युनिशमहोरात्र-
मनध्यायः ॥ १४५ ॥

भाषा—सन्ध्या समय मेघ का गर्जन होने पर, आकाश में उत्पात की ध्वनि होने पर, भूकम्प, उल्कापात (तारा टूटकर गिरने पर), वेद के मन्त्र या ब्राह्मण भाग की समाप्ति पर और आरण्यक का अध्ययन पूरा कर लेने पर एक दिन और रात का 'अनध्याय होता है ॥ १४५ ॥

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।

ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ १४६ ॥

पञ्चदश्याममावास्यायां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके चन्द्रसूर्यो-
परागे च छुनिशमनध्यायः । यत्तु—'यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके'
(मनु. ४।११०) इति तद्ग्रस्तास्तविषयम् । ऋतुसंधिगतासु च प्रतिपक्षु
श्राद्धिकभोजने तत्प्रतिग्रहे च छुनिशमनध्यायः । एतच्चैकोद्दिष्ट्यतिरिक्त-
विषयम् ; तत्र तु त्रिरात्रम् मनुः (४।११०)—'प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्ट्य
केतनम् । यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म' इति स्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी को चन्द्रग्रहण एवं
सूर्यग्रहण के समय ऋतुओं के आरम्भ की प्रतिपदा को, श्राद्ध का भोजन
करने पर तथा दान लेने पर (एक दिन-रात का अनध्याय होता है) ॥ १४६ ॥

पशुमण्डूकनकुलश्वाहिर्मार्जारमूषकैः ।

कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥ १४७ ॥

अध्येतॄणां पश्चादिभिरन्तरागमने कृते शक्रध्वजस्याचरोपणदिवसे, 'उच्छ्रान्त-
दिवसे चाहोरात्रमनध्यायः । छुनिशमिति प्रकृते पुनः 'अहोरात्र' ग्रहणं संध्या-
गर्जितनिर्घातभूकम्पोलकानिपातेष्वाकालिकत्वज्ञापनार्थम् , 'आकालिकनिर्घात-
भूकम्पराहुदर्शनोत्का' (१३।२२) इति गौतमवचनात् । निमित्तकालादारभ्या-
परेष्ट्यावत्स एव कालस्तावत्काल अकालः, तत्र भव आकालिकोऽनध्यायः ।
एतच्च प्रातःसंध्यास्तनिते । सायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिमेव; 'सायंसंध्यास्तनिते
तु रात्रिः, प्रातःसंध्यास्तनितेऽहोरात्रम्' इति हारीतस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेनोक्तं
(१।७९) 'अनकुलसर्पमण्डूकमार्जारानामन्तरागमने य्हमुपवासो विप्रवासश्च'
इति तत्प्रथमाध्ययनविषयमेव ॥ १४७ ॥

भाषा—अध्ययन करने वालों के बीच किसी पशु, मेढक, नेवला, साही,
बिल्ली या चूहा के आजाने पर, इन्द्रधनुष उठने पर तथा उत्सव के समय
एक दिन-रात (अनध्याय होता है) ॥ १४७ ॥

१. उत्सवदिवसे ।
४. अध्ययनविषय एव ।

२. संध्यामहोरात्रं ।

३. मार्जारानां य्हं ।

श्वक्रोष्टृगर्दभोलूकसामवाणार्तनिःस्वने ।

अमेध्यशवशूद्रान्त्यश्मशानपतितान्तिके ॥ १४८ ॥

श्व क्रोष्टुरः, क्रोष्टा शृगालः, गर्दभो रासभः, उलूको घूकः साम सामानि, वाणो घंशः, आर्तो दुःखितः, एषां आदीनां निःस्वने तावत्कालमनध्यायः । एवं शीणादिनिःस्वनेऽपि ।—‘वेणुवीणाभेरीमृदङ्गगन्त्रयार्तशब्देषु’ (१६७) इति यौतमवचनात् । गन्त्री शकटम् । अमेध्यादीनां सन्निधाने तावत्कालिकोऽनध्यायः ॥ १४८ ॥

भाषा—कुता, सियार, गदहा, उल्लू, सामगान, बांस और दुःखित व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ने पर तथा अपवित्र वस्तु शव, शूद्र, अन्त्यज, श्मशान या पतित व्यक्ति के निकट होने पर (उस स्थिति की अवधि तक अनध्याय होता है) ॥ १४८ ॥

देशेऽशुचावात्मनि स विद्युत्स्तनितसंप्लवे ।

भुक्त्वाद्वर्पाणि रम्भोन्तरर्धरात्रेऽतिमाकृते ॥ १४९ ॥

अशुची देशेऽशुचावात्मनि च । तथा विद्युत्स्तनितसंप्लवे पुनः पुनर्विद्योतमानायां विद्युति, स्तनितसंप्लवे प्रहरद्वयं पुनः पुनर्मैघघोषे तावत्कालिकोऽनध्यायः । भुक्त्वाद्वर्पाणिर्नाधीयीत । जलमध्ये च । अर्धरात्रे महानिशाक्ये मध्यमप्रहरद्वये, अतिमाकृतेऽह्न्यपि तावत्कालं नाधीयीत ॥ १४९ ॥

भाषा—अपवित्र स्थान पर, स्वयं अशुद्ध होने पर, बार-बार विजली की चमक होने, मेघ के बार-बार गर्जन के समय, भोजन के उपरान्त, गीले हाथ रहने पर, जल के भीतर, आधी रात को और तीव्र वायु चलने पर उतने समय तक (अध्ययन नहीं करना चाहिए) ॥ १४९ ॥

पांसुप्रतर्पे दिग्दाहे संध्यानीहारभीतिषु ।

धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥ १५० ॥

औरपातिके रजोघर्षे, दिग्दाहे यत्र ज्वलिता इव दिशो दृश्यन्ते । संध्ययोः, ग्रीहारे धूमिकायां, भीतिषु चौरराजादिकृतासु तावत्कालमनध्यायः । धावतस्त्वरितं गच्छतोऽनध्यायः । पूतिगन्धे कुस्मितगन्धे अमेध्यमद्यादिगन्धे । शिष्टे च ओषिषादौ गृहं ग्राप्ते तदनुज्ञावध्यनध्यायः ॥ १५० ॥

भाषा—धूल भरी आँधी उठने पर, दिशाओं के जलती हुई सी दिखाई देने पर, दोनों सन्ध्याओं के समय धुंधले में और (चोरया राजा से) डरने पर (तत्काल अनध्याय होता है) । दौड़ते समय, अपवित्र वस्तु की

१. पांसुघर्षे दिशां दाहे पांसुघर्षे च दिग्दाहे । २. गृहमागते ।

गन्ध आने पर (श्रोत्रियादि) शिष्ट व्यक्ति के घर पर (अनध्याय होता है) ॥ १५० ॥

खरोष्ट्रयानहस्त्यश्वनौवृक्षेरिणरोहणे ।

सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्विदुः ॥ १५१ ॥

यानं रथादि, हरिण^१मूषरं मरुभूमिर्षा, खरादीनामारोहणे तावत्कालमनध्यायः । एवं 'श्वकोष्टृगर्दभ-' इत्यस्मादारभ्य सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकास्मिन्नसमकालान्विदुरनध्यायविधिज्ञाः । 'विदुः इत्यनेन' स्मृत्यन्तरोक्तानन्यानपि संगृह्णाति । यथाह मनुः (४११२)—'शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसथिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्वा सूतकानाद्यमेव च ॥' इत्यादि ॥ १५१ ॥

भाषा—गदहा, ऊँट, रथ, हाथो, घोड़ा, नौका वृक्ष पर चढ़ने और ऊसर भूमि या मरुस्थल में चलने पर अनध्याय होता है । इन सैंतीस अनध्यायों का समय इनके निमित्त की सत्ता रहने तक समझना चाहिए ॥ १५१ ॥

एवमनध्यायानुक्त्वा प्रकृतानि स्नातकव्रतान्याह—

देवत्विकस्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियाः ।

नाक्रामेद्रक्तविण्मूत्रघ्नीचनोद्वर्तनादि च ॥ १५२ ॥

देवानां देवार्चानामृत्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां परस्त्रियाश्च छायां नाक्रामेद्वाधितिष्ठेन्न लङ्घयेद्बुद्धिपूर्वम् । यथाह मनुः (४१३०)—'देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाक्रामेत्कामतरङ्गायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥' इति । बभ्रुणो नकुलवर्णस्य यस्य कस्यचिद्गौरन्यस्य वा श्यामादेः, 'बभ्रुण' इति नपुंसकलिङ्गनिर्देशात् । रक्तादीनि च नाधितिष्ठेत् । 'आद्रि' ग्रहणास्नानोदकादेर्ग्रहणम् । (मनु. ४१३२)—'उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठवतवान्तानि नाधितिष्ठेत कामतः ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—देवता, ऋत्विज्, स्नातक, आचार्य, राजा और पर स्त्री की छाया न लौंघे । रुधिर, विष्टा, मूत्र, खखार, उद्वर्तन (उबटन की शीली) (तथा स्नान करने पर गिरे हुए जल) को भी न लौंघे ॥ १५२ ॥

विप्राद्विषत्रियात्मानो नावक्षेयाः कदाचन ।

आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षेन्न कश्चिन्मर्मणि स्पृशेत् ॥ १५३ ॥

विप्रो बहुश्रुतो ब्राह्मणः, अहिः सर्पः, क्षत्रियो नृपतिः, एते कदाचिदपि नावमन्तव्याः । आत्मा च स्वयं नावमन्तव्यः । आमृत्योर्यावज्जीवं श्रिय-

१. ऊखरं । २. रथयन रथ्यापन । ३. कृतावसथिक ऊहभ्यामवसथि गतः । ४. सोमादेः ।

मिच्छेत् । न कर्माच्च पुरुषं मर्मणि स्पृशेत् कस्यचिदपि मर्मं दुश्चरितं न प्रकाशयेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—(वेदज्ञ) ब्राह्मण, सौंप, क्षत्रिय (या राजा) तथा अपने आत्मा का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए । किसी व्यक्ति का हृदय न दुखाते हुए जीवनपर्यन्त कुछ सम्पत्ति की आकांक्षा रखे ॥ १५३ ॥

दूरादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाभ्भांसि समुत्सृजेत् ।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् नित्यमाचारमाचरेत् ॥ १५४ ॥

भोजनादुच्छिष्टं विण्मूत्रे पादप्रक्षालनोदकं च गृहाद्दूरात्समुत्सृजेत् । श्रुतं स्मृतं चाचारं नित्यं सम्यगनुतिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

भाषा—(भोजन का) उच्छिष्टांश, मल-मूत्र तथा पैर धोने से दूषित जल को घर से दूर फेंकना चाहिए । श्रुति एवं स्मृति में बताए गये नियमों का प्रतिदिन भलीभाँति पालन करे ॥ १५४ ॥

गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिष्टो न पदा स्पृशेत् ।

न निन्दाताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ॥ १५५ ॥

गो ब्राह्मणमग्निं अन्नमदनीयं, विशेषतः पक्षमशुचिर्न स्पृशेत् । पादेन त्वनुच्छिष्टोऽपि । यदा पुनः प्रमादास्पृशति तदा आचमनोत्तरकालम्—‘स्पृष्टैतान-शुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥’ इति (४।१४३) मनूक्तं कार्यम् । एवं प्राणादीनुपस्पृशेत् । कस्यचिदपि विन्धाताडने न कुर्यात् । एतच्चानपकारिणि । मनुः (४।१६७)—‘अयुध्यमान-स्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याग्राङ्गतया नरः ॥’ इति । पुत्रशिष्यौ शिष्यार्थमेव ताडयेत् । चकाराहासादीनपि । ताडनं च रज्ज्वादिनोत्तमाङ्गव्यतिरेकेण कार्यम् ; ‘क्षिप्यशिष्टिरवधेनाशक्तौ’ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यामन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यते’ (२।४२, ३।४) इति गौतमवचनात् । ‘—पृष्ठ-तस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन’ इति (८।३००) मनुवचनात् ॥ १५५ ॥

भाषा—गायं, ब्राह्मण, अग्नि और अन्न को अशुद्ध रहने पर न छूए और न इन्हें पैर से छूए । किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी को मारना-पीटना चाहिए, किन्तु पुत्र और शिष्य को (पढ़ाते समय) मारना चाहिए ॥ १५५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यत्ताद्धर्मं समाचरेत् ।

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥ १५६ ॥

१. रवधेन बाधनाशक्तौ ।

कर्मणा कायेन यथाशक्ति धर्ममनुतिष्ठेत् तमेव मनसा ध्यायेत् वाचा च वदेत् । 'धर्मं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशस्तितजननं मधुपर्कं गोवधादिकं नाचरेत् । यस्मादस्वर्ग्यमर्गनीषोमीयवस्वर्गसाधनं न भवति ॥ १५६ ॥

भाषा—कर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करे, धर्म-विहित होने पर भी लोकविरुद्ध कर्म हो और उससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो तो उसे नहीं करना चाहिए ॥ १५६ ॥

मातृपित्रतिथिभ्रातृजामिसम्बन्धिमातुलैः ।

वृद्धबालातुराचार्यवैद्यसंश्रितबान्धवैः ॥ १५७ ॥

ऋत्विक्पुरोहितापत्यभार्यादाससनाभिभिः ।

विवादं वर्जयित्वा तु सर्वाल्लोकाञ्जयेद् गृही ॥ १५८ ॥

माता जननी, पिता जनकः, अतिथिरध्वनीनः, भ्रातरो भिक्षोदणं अपि । जामयो विद्यमानभर्तृकाः स्त्रियः, संबन्धिनो वैवाह्याः मातुलो मातृभ्राता, वृद्धः सप्तयुत्तरवयस्कः, बाल आ षोडशाद्वर्षात्, आतुरो रोगी, आचार्य उपनेता, वैद्यो विद्वान् भिषग्वा, संश्रितः उपजीवी, बान्धवाः पितृपक्ष्या मातृ-पक्ष्याश्च, मातुलस्य पृथगुपादानमादरार्थम् । ऋत्विग्याजकः, पुरोहितः शास्त्र्यादेः कर्ता, अपत्यं पुत्रादि, भार्या सहधर्मचारिणी, दासः कर्मकरः, सनाभयः सोदराः, भ्रातृभ्यः पृथगुपादानमजाभिभगिनीप्राप्तवर्थम् । एतैर्मात्राभिभिः सह वाक्कहं परित्यज्य सर्वान्प्राजापत्यादीन् लोकान्प्राप्नोति ॥ १५७-१५८ ॥

भाषा—माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी, मामा, वृद्ध, बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, आश्रितजन, (पिता एवं माता पक्ष के) बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित, पुत्र पत्नी, दास और सोदर भाइयों के साथ विवाद न करके गृहस्थ सभी लोकों को प्राप्त करता है ॥ १५७-१५८ ॥

पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु ।

स्नायान्नदीदेवखातहृदप्रस्रवणेषु च ॥ १५९ ॥

परवारिषु परसंबन्धिषु सर्वतत्त्वोद्देशेनात्यक्तेषु तडगादिषु पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् । अनेनात्मीयोत्सृष्टाभ्यनुज्ञातेषु पिण्डोद्धारमन्तरापि स्नानमभ्यनुज्ञातम् । नद्यादिषु कथं तर्हीत्याह—स्नानान्नदीति । साक्षात्परम्परया वा समुद्रगाः स्नवन्त्यो नद्यः, देवखातं देवनिर्मितं पुष्करादि, उदकप्रवाहाभिपात-कृतसजलो महानिम्नप्रदेशो ह्रदः, पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रसृतमुदकं प्रस्रवणम्, एतेषु पञ्चपिण्डानुद्धरणेनैव स्नायात् । एतच्च नित्यस्नानविषयं सति संभवे मनुः

(४१०३)—‘नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्निर्यं गतं प्रस्रवणेषु च ॥’ इति ‘निर्य’ग्रहणात् । शोचाद्यर्थं तु यथासंभवं परवारिषु पिण्डानुद्धरणे सर्वस्य निषेधः ॥ १५९ ॥

भाषा—दूसरे के पोखरे में पांच मुट्ठी मिट्टी निकाले बिना स्नान न करे । नदी, प्राकृतिक जलाशय (पुष्कर आदि), जलकुण्ड और झरने में (बिना मिट्टी निकाले ही) स्नान करे ॥ १५९ ॥

परशय्यासनोद्यानगृहयानानि वर्जयेत् ।

अदत्तान्यग्निहीनस्य नाश्रमद्यादनापदि ॥ १६० ॥

शय्या कशिपुः, आसनं पीठादि, उद्यानमात्रादिवनम् । गृहं प्रसिद्धम्, यानं रथादि, परसंधन्धीन्येतान्यदत्तान्यननुज्ञातानि वर्जयेत् नोपभुञ्जीत । अभोग्यान्नाह—अग्निहीनस्येति । अग्निहीनस्य श्रौतस्मार्ताग्न्याधिकाररहितस्य गृहस्य प्रतिलोमजस्य च अधिकारवतोऽप्यग्निरहितस्याश्रमनापदि न भुञ्जीत, न प्रतिगृहीयाच्च । तस्मात्प्रशस्तानां स्वकर्मशुद्धजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रलिगृहीयाच्च’ (१७ : १,२ इति गौतमवचनात्) ॥ १६० ॥

भाषा—दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, घर और सवारी का उसकी अनुमति के बिना उपयोग न करे । आपत्तिकाल न हो तो (श्रौतस्मार्त अग्नि के अधिकार से वञ्चित (शूद्र एवं प्रतिलोमज) अग्नि का आधान न करने वाले व्यक्ति का अन्न न ग्रहण करे ॥ १६० ॥

कदर्यबद्धचौराणां क्लीबरङ्गावतारिणाम् ।

वैणाभिशास्तवार्धुष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥ १६१ ॥

कदर्यो लुब्धः, ‘आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ मृत्पान्स कदर्यं इति स्मृतः ॥’ (देवल) इत्युक्तः । बद्धो निगडादिना वाचा सञ्चिष्यन्न, चौरौ ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तपरस्वापहारी, क्लीबो नपुंसकः, रङ्गावतारी नटचारणमल्लादिः, वेणुच्छेदजीवी, वैणः अभिशास्तः पतनीयैः कर्मभिर्युक्तः, वार्धुष्यो निषिद्धवृद्धयुपजीवी, गणिका पण्यस्त्री, गणदीक्षी बहुयाजकः । एतेषामन्नं नाभीयादित्यनुवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—लोभी, (बेड़ी आदि से) बद्ध, चोर, नपुंसक, नट, चारण, मल्ल आदि रङ्गावतारी, वैण, पातक कर्मों से युक्त मनुष्य का, (अनुचित) व्याज लेनेवाले, वेश्या और बहुयाजक का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६१ ॥

चिकित्सकापुरकुद्धपुंश्चलीमत्तविद्विषाम् ।

क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम् ॥ १६२ ॥

चिकित्सको भिषग्वर्युपजीवी, आतुरो महारोगोपसृष्टः, 'वातव्याध्वरमरी-
कुष्ठमेहोदरभगन्दराः । अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिताः' इति ।
क्रुद्धः कुपितः, पुंश्चली व्यभिचारिणी, मत्तो विद्यादिना गर्वितः विद्विद् शत्रुः,
क्रूरो दृढाभ्यन्तरकोपः, वाङ्मायव्यापरेणोद्वेजक उग्रः, पतितो ब्रह्महादिः, व्रात्यः
पतितसावित्रीकः, दाम्भिको वञ्चकः, उच्छिष्टभोजी परमुक्तोक्षिताशी, एतेषां
चिकित्सकादीनामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६२ ॥

भाषा—चिकित्सक, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, (विद्या आदि के)
अभिमानी, शत्रु, क्रूर, उद्धत, पतित, (सावित्रीदान से च्युत) व्रात्य, धोखेबाज
और जूठा भोजन करने वाले व्यक्ति का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६२ ॥

अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितग्रामयाजिनाम् ।

शस्त्रविक्रयिकर्मरतन्तुवायश्ववृत्तिनाम् ॥ १६३ ॥

अवीरा स्त्री स्वतन्त्रा-व्यभिचारमन्तरेणापि । पतिपुत्ररहितेत्यर्थः । स्वर्ण-
कारः सुवर्णस्य विकारान्तरकृत्, स्त्रीजितः सर्वत्र स्त्रीवशवर्ती, ग्रामयाजी
ग्रामस्य शान्त्यादिकर्ता, बहूनामुपनेता वा । शस्त्रविक्रयी शस्त्रविक्रयोपजीवी,
कर्मरौ लोहकारः तच्चादिश्च, तन्तुवायः सूचिशिष्टोपजीवी । श्ववृत्तिर्वर्तनं
जीवनमस्यास्तीति श्ववृत्ति, एतेषामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६३ ॥

भाषा—कुलटा (स्वतन्त्र रहने वाली स्त्री) । स्वर्णकार, (सर्वत्र) स्त्री के
वश में रहने वाले, गांव भर के लिए यज्ञ करने वाले (या अनेक व्यक्तियों का
उपनयन करने वाले), शस्त्र बेचनेवाले, लोहार, तन्तुवाय (जुलाहा तथा दर्जी)
और कुत्तों के सहारे वृत्ति चलाने वाले का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६३ ॥

नृशंसराजरजककृतघ्नवधजीविनाम् ।

चैलधावसुराजीवसहोपपतिवेश्मनाम् ॥ १६४ ॥

पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चाक्रिकबन्दिनाम् ।

एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥ १६५ ॥

नृशंसो निर्दयः, राजा भूपतिः, तस्मादहर्चर्यापुरोहितश्च । यथाह शङ्खः—
'भीतावगीतरुद्धिताक्रन्दितावघुष्टपुधितपरिभुक्तविस्मितोन्मत्तावधूतराजपुरोहिताद्या-
नि वर्जयेत्' इति । रजको वस्त्रादीनां नीलादिरागकारकः, कृतघ्न उपकृतस्य
हन्ता वधजीवी प्राणिनां वधेन वर्तकः, चैलधावो वस्त्रनिर्णेजनकृत्, सुराजीवी
मध्यविक्रयजीवी, उपपतिर्जारः । सहोपपतिना वेश्म वस्त्रासौ सहोपपतिवेश्मना ।

१. नील्यादिरागकरः ।

पिशुनः परदोषस्य ख्यापकः, अनृती मिथ्यावादी, चाक्रिकस्तैलिकः, शाकटिक-
श्लेथ्येके । 'अभिज्ञस्तः पतितश्चाक्रिकस्तैलिक' इति भेदेनाभिधानात् । बन्दिनः
स्तावकाः, सोमविक्रयी सोमलताया विक्रेता, एतेषामन्नं न भोक्तव्यम् । सर्वे
चैते कदर्यादयो द्विजा एव कदर्यत्वादिवोषदुष्टा अभोज्याश्चाः । इतरेषां प्राप्यभावा-
प्राप्तिपूर्वकत्वाच्च निषेधस्य ॥ १६४-१६५ ॥

भाषा—निर्दयी, राजा, रंगरेज, कृतघ्न, अधिक, धोबी, मद्य बेचने वाले
कुलाल, जिसके घर में जार निवास कर रहा हो उस पुरुष का, दूसरे का दोष
फैलाने वाले, झूठ बोलने वाले, तेली या गाड़ीवान, बन्दीजन एवं सोमलता के
विक्रेता का अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ १६४-१६५ ॥

'अग्निहीनस्य नाश्वमद्यादनापदि' (आचार. १६०) इत्यत्र शूद्रस्याभोज्या-
श्वस्यमुक्तं, तत्र प्रतिप्रसवमाह—

शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।

भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ १६६ ॥

दासा गर्भदासादयः । गोपालो गैवां पालनेन यो जीवति । कुलमित्रं
पशुपितामहादिक्रमायातः । अर्धसीरी हलषर्पायसीरोपलक्षितकृषिफलभागप्राप्ती ।
नापितो गृहस्थापारकारयिता, नापितश्च । चश्च वाङ्मनः कायकर्मभिरात्मानं
निवेदयति तवाहमिति । एते दासादयः शूद्राणां मध्ये भोज्याश्चाः ।
चकाराकुम्भकारश्च, 'गोपनापितकुम्भकारकुलमित्रार्धिकनिवेदितात्मानोभोज्यान्नाः'
इति वचनात् ॥ १६६ ॥

भाषा—शूद्रों में दास, अहीर या ग्वाला, कुल के मित्र (जिनसे पिता,
पितामह के समय से मित्रता का व्यवहार हो), साझे पर खेती करने वाले
का, नाई का तथा (वाणी, मन, शरीर एवं कर्म से) आत्मनिवेदन करनेवाले
व्यक्ति का (तथा कुम्भकार का) अन्न खाने योग्य होता है ॥ १६६ ॥

इति स्नातकधर्मप्रकरणम् ।

भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम्

'न स्वाध्याय विरोध्यर्थम्' (आचार. १२९) इत्यत आरभ्य ब्राह्मणस्य
स्नातकव्रतान्यभिधायेदानीं द्विजातिधर्मानाह—

अनर्चितं वृथामांसं केशकोटसमन्वितम् ।

शुक्रं पर्युषितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम् ॥ १६७ ॥

उदकयास्पृष्टसंघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ।

गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ १६८ ॥

अनर्चितं अर्चाह्वाय यदवज्ञया दीयते । वृथामांसं वच्यमाणप्राणात्ययादि-
व्यतिरेकेण देवाद्यर्चनावशिष्टं च यन्न भवति आत्मार्थमेव यत्साधितम् ।
केशकीटादिभिश्च समन्वितं संयुक्तम् । यत्स्वयमनग्लं केवलं कालपरिवासेन
द्रव्यान्तरसंसर्गकालपरिवासाभ्यां बालीभवति तच्छुक्तं दध्यातिव्यतिरेकेण
'न पापीयसोऽन्नमश्नीयान्नं द्विःपक्वं, न शुक्तं, न पर्युषितं, अन्यत रागखाण्डव-
चुक्रदधिगुडगोधूमयवपिष्टविकारेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात् । पर्युषितं राग्यन्तरितम् ।
उच्छिष्टं भुक्तोज्झितम् । अस्पृष्टं शुना स्पृष्टम्, पतितेक्षितं पतितादिभिरीक्षितम्,
उदकया रजस्वला तथा स्पृष्टम्, 'उदकया'ग्रहणं चण्डालाद्युपलक्षणार्थम्,
'अमेध्यपतितचण्डालपुष्कसरजस्वलाकुनखिकुष्ठिसंस्पृष्टान्नं वर्जयेत्' इति
शङ्खस्मरणात् । 'को भुङ्क्ते' ? इति यदाबुध्य दीयते तत्संघुष्टान्नम् ।
अन्यसम्बन्धव्यपदेशेन यद्दीयते तत्पर्यायान्नम्, यथा—'ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः
शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् । उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥'
इति । 'पर्यायान्नम्' इति पाठे परिगतमाचान्तं गणद्वषग्रहणं यस्मिन् तत्पर्यायान्तं,
तन्न भोक्तव्यम् । एतदुक्तं भवति—गणद्वषग्रहणादूर्ध्व आचमनाप्राक् न
भोक्तव्यमिति । 'पार्श्वान्तम्' इति पाठे एकस्यां पङ्क्तौ पार्श्वस्थे आचान्ते
न भोक्तव्यं अस्मोदकादिविच्छेदेन विना । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते ।
तथा गोघ्रातं गवा घ्रातम् । शकुनोच्छिष्टं शकुनेन काकादिना भुक्तमास्वादितम् ।
पदा स्पृष्टं बुद्धिपूर्वं पादेन स्पृष्टं वर्जयेत् ॥ १६७-१६८ ॥

भाषा—अवज्ञा के साथ दिया गया अन्न, (देवता के लिए नहीं, अपितु
अपने लिए पकाया गया) वेकार मांस, जिस अन्न में बाल या कीड़े पड़े हों,
खटा हो गया हो, बासी, जूठा, कुत्ते द्वारा छुआ गया, पतित व्यक्ति द्वारा देखा
गया, रजस्वला स्त्री द्वारा छुआ गया, 'कौन खायगा ?' ऐसा पुकार करके दिया
गया, दूसरे के लिए बनाकर किसी और को दिया गया; गाय द्वारा सूँघा गया,
किसी पक्षी द्वारा जूठा किया गया और जानबूझ कर पैर से छुआ गया अन्न नहीं
खाना चाहिए ॥ १६७-१६८ ॥

पर्युषितस्य पतिप्रसवमाह—

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम् ।

अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥ १६९ ॥

१. सकृत्पाचकतैल ।

अन्नमदनीयं पर्युषितं घृतादिस्नेहसंयुक्तं चिरकालसंस्थितमपि भोज्यम् । गोधूमयदगोरसविक्रियाः मण्डकसक्तुकिलाटकूर्चिकादयः अस्नेहा अपि चिरकाल-संस्थिता भोज्याः, यदि विकारान्तरमनापन्नाः, 'अपूपधानाकरम्भसक्तुयोवक्तैल-पायसशाकानि शुक्तानि वर्जयेत्' (१४३७) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥

भाषा—घृत आदि चिकनाई से युक्त देर से भी रखा हुआ भोजन खाना चाहिए । गेहूँ, जौ और दूध से बनाया गया भोजन यदि चिकनाई से युक्त न भी हो तो भी (चिरकालोपरान्त भी) ग्रहण किया जा सकता है ॥ १६९ ॥

संघिन्यनिर्दशावत्सागोपयः परिवर्जयेत् ।

औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणमारण्यक्रमथाविकम् ॥ १७० ॥

गौः या वृषेण संधीयते सा संघिनी । 'वशां वन्ध्यां विजानीयाद्वृषाक्रान्तां च संघिनीम्' इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । या चैकां वेलामतिक्रम्य हुह्यते, या च वत्सान्तरेण संधीयते सा संघिनी । प्रसूता सत्यनतिक्रान्तदशाहा अनिर्दशा, मृतवत्सा अवत्सा, संघिनी च अनिर्दशा च अवत्सा च संघिन्यनिर्दशावत्सास्ताश्च गावश्च तासां पयः क्षीरं परिवर्जयेत् । 'संघिनी' ग्रहणं संघिनीयमल-सुवोरुपलक्षणार्थम् । यथाह गौतमः (१७।२५)—'स्यन्दिनीयससूंसंघिनीनां च' इति । स्रवपयःस्तनी स्यन्दिनी, यमलसूर्यमलप्रसविनी, एवमजामहिष्योश्चानिर्दशयोः पयो वर्जयेत्, 'गोमहिष्यजानामनिर्दशानाम्' (१४।३५) इति वसिष्ठस्मरणात् । पयोग्रहणात्तद्विकाराणामपि दध्यादीनां निषेधः । नहि मांसनिषेधे तद्विकाराणामनिषेधो युक्तः । विकारनिषेधे तु प्रकृतेरनिषेधो युक्तः । पयोनिषेधाच्छकृन्मूत्रादेरनिषेधः । उष्ट्राज्जातमौष्ट्रं पयोमूत्रादि । एकशफा बडवादयः, तत्प्रभवं ऐकशफम् । स्त्रीभवं स्त्रैणम् । 'स्त्री'ग्रहणमजाव्यतिरिक्तसकल-द्विस्तनीनामुपलक्षणार्थम् ।—सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरमभोज्यमजावर्ज्यम्' इति शङ्खस्मरणात् । अरण्ये भवा आरण्यकास्तदीयमारण्यकं क्षीरं महिष्यैति-रेकेण । 'आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं घिना' (मनु. ५।९) इति वचनात् । अवेर्जातमाविकम् । 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । औष्ट्रमित्यादि-विकारप्रत्ययनिर्देशात्तद्विकारमाप्रस्य पयोमूत्रादेः सर्वदा निषेधः, 'नित्यमाविकम-पेयमौष्ट्रमैकशफं च' (१७।२४) इति गौतमस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—संघिनी (बरदाई हुई, एक जून दूध देने वाली, दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाने वाली), दस दिन से कम पहले की ब्याई हुई गाय का तथा जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय का दूध नहीं पीना चाहिए । ऊँटनी एक

खुरवाली पशुमादा (घोड़ी आदि), जंगली पशु और भेड़ का भी दूध न पीवे ॥ १७० ॥

देयतार्थं हविः शिशुं लोहितान्ब्रश्चनांस्तथा ।

अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च ॥ १७१ ॥

देवतार्थं बल्युपहारनिमित्तं साधितम् । हविः हवनार्थं सिद्धं प्राक् होमात् । शिशुः सोभाजनः, लोहितान् वृश्चनिर्यासान् । ब्रश्चनप्रभवान् वृश्चच्छेदनजातान् लोहितानपि । यथाह मनुः—(५।६) । 'लोहितान्वृश्चनिर्यासान्ब्रश्चनप्रभवांस्तथा' इति । 'लोहित'ग्रहणात् हिङ्गुकपूरादीनामनिषेधः । अनुपाकृतमांसानि यज्ञेऽहुतस्य पशोर्मांसानि, विड्जानि मनुष्यादिजगध्वीजपुरीषोत्पन्नानि तण्डुलीयकप्रभृतीनि च, कवकानि छत्राकाणि, 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ १७१ ॥

भाषा—देवता के लिए साधित बलि, हवन सामग्री, सोभाजन, गोंद, वृक्ष के काटने पर निकले हुए द्रव, यज्ञ में आहूत पशु का मांस, विष्टा के स्थान पर उत्पन्न अन्न और कुरुरमुत्ता आदि का भोजन न करे ॥ १७१ ॥

क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदटिट्टिभान् ।

सारसैकशफान्हंसान्सर्वाश्च ग्रामवासिनः ॥ १७२ ॥

क्रव्यादा आममांसादनशीलाः, पक्षिणो गृध्रादयः, दात्यहश्चातकः, शुकः कीरः । चञ्चवा प्रतुद्य भक्षयन्तीति प्रतुदाः श्येनादयः, टिट्टिभस्तच्छब्दानुकारी, सारसो लक्ष्मणः, एकशफा भश्चादयः, हंसाः प्रसिद्धाः, ग्रामवासिनः पारावतप्रभृतयः, एतान्क्रव्यादादीन्वर्जयेत् ॥ १७२ ॥

भाषा—शव का मांस खाने वाले गृध्र आदि पक्षी, चातक, तोता, चोंच से नोचकर खाने वाले बाज आदि पक्षी, सारस, एक खुर वाले पशु (घोड़े आदि), हंस और ग्राम में रहने वाले सभी पक्षियों का (भक्षण न करे) ॥ १७२ ॥

कोयष्टिप्लवचक्राह्वबलाकाबकविष्किरान् ।

वृथाकृसरसंयावपायसाऽपूपशङ्कुलीः ॥ १७३ ॥

कोयष्टिः क्रौञ्चः, प्लवो जलकुक्कुटः, चक्राह्वश्चक्रवाकः, बलाकाबकौ प्रसिद्धौ, नखैर्विकीर्य भक्षयन्तीति विष्किराश्चकोरादय एव गृह्यन्ते; लावकमयूरादीनां भक्षयत्वात्, ग्रामकुक्कुटस्य ग्रामवासित्वादेव निवेधान्च । एतान्कोयष्ट्यादीन्वर्जयेत् । वृथा देवताद्युद्देशमन्तरेण साधिताः कृसरसंयावपायसाऽ-

पूपशङ्कुलीर्वर्जयेत् । कृसरं तिलमुद्गसिद्ध ओदनः । संयावः क्षीरगुडघृतादिकृत^१ उत्करिकाख्यः पाकविशेषः । पायसं पयसा शृतमन्नम् । अपूपोऽस्नेहपक्को गोधूमविकारः । शङ्कुली स्नेहपक्को गोधूमविकारः । 'न पचेदन्नमात्मने' इति कृसरादीनां निषेधे सिद्धे पुनरभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७३ ॥

भाषा—कौंच, जल कुक्कुट, चक्रवाक, बलाका, बगुला, नख से छील कर खाने वाले चकोर आदि पक्षी, देवता के लिये न बनाये गये (तिल और मूंगे का) कृसर (दूध, घृत और गुड़ से बनाये गये) संयाव, खीर, पूर और पूरी को भोजन के लिये नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ १७३ ॥

कलविङ्कं सकाकोलं कुररं रज्जुदालकम् ।

जालुपादान्खञ्जरीटानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ॥ १७४ ॥

कलविङ्को ग्रामचटकः, ग्रामनिवासित्वेन प्रतिषेधे सिद्धे सार्युभयचारित्वा-
पुनर्वचनम् । काकोलो द्रोणकाकः, कुरर उत्क्रोशः, राज्जुदालको वृक्षकुट्टकः,
जालपादो जालाकारपादाः, अजालपादा अपि हंसाः सन्तीति हंसानां पुनर्वच-
नम् । खञ्जरीटः खञ्जनः, जातितो ये अज्ञाता मृगाः पक्षिणश्च, एतान्कलविङ्का-
दीन्वर्जयेत् ॥ १७४ ॥

भाषा—कलविङ्क (ग्रामचटक), काकोल (द्रोणकाक), कुरर, रज्जुदालक
(कठफोड़वा), जालीदार पैरों वाले पक्षी, खंजन और अज्ञात जाति वाले पशु
पक्षियों के भक्षण से परहेज न रखे ॥ १७४ ॥

चापांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च ।

मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासम्यहं वसेत् ॥ १७५ ॥

चापाः किकीदिवयः रक्तपादाः कादम्बप्रभृतयः, सूनिना त्यक्तं सौनं
घातस्थानभवं मालं भक्ष्याणामपि, वल्लूरं शुष्कमांसम्, मत्स्या मीनाः, एतां-
श्चापादीन्वर्जयेत् । चकाराक्षालिकाशणछत्राककुसुम्भादीन्, 'नालिकाशणछत्रा-
ककुसुम्भालावुविद्भवान् । कुम्भीकैन्दुकवृन्ताककोविदारांश्च वर्जयेत् ॥' इति तथा-
ऽकालप्ररूढानि पुष्पाणि च फलानि च । विकास्यञ्च यत्किञ्चित्प्रयत्नेन विवर्ज-
येत् ॥ 'तथा वटप्लक्ष्माश्चर्कपिथ्यनीपमातुलिङ्गफलानि वर्जयेत्' इति स्मरणात् ।
एतान्संधिनीक्षीरप्रभृतीननुक्रान्तान्कामतो भक्षयित्वा त्रिरात्रमुपवसेत् । अका-
मतस्त्वहोरात्रम् । 'शेषेपूपवसेदहः' (५।२०) इति मनुस्मरणात् । यत्पुनः
शङ्केनोक्तम्—'बलबलाकाहंसप्लवचक्रवाककारण्डवगृहचटककपोतपारावतपाण्डुशुक-
सारिकासारसटिटिभोलूककङ्करक्तपादचापभासवायसकोकिलशाड्वलिकुक्कुटहारीत-

भक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः, पिबेद्गोमूत्रयावकम्' हात तद्बहुकालाभ्यासे मतिपूर्वे समस्तभक्षणे वा वेदितव्यम् ॥ १७५ ॥

भाषा—चाष, रक्तपाद (कादम्ब आदि), वधिक द्वारा मारे गये पशु का मांस, सूखा मांस और मछली का भक्षण न करे । इन सबका जानबूझ कर भक्षण करने पर तीन दिन तक उपवास करे ॥ १७५ ॥

पलाण्डुं विद्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम् ।

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७६ ॥

पलाण्डुः स्थूलकन्दनालो लशुनानुकारी, विड्वराहो ग्रामसूकरः, छत्राकं सर्पछत्रम्, ग्रामकुक्कुटः प्रसिद्धः, लशुनं रसोनं सूक्ष्मश्वेतकन्दनालम् । गृञ्जनं लशुनानुकारिलोहितसूक्ष्मकन्दम्, एतानि षट् सकृत्कामतो जग्ध्वा भक्षयित्वा चान्द्रायणं वक्ष्यमाणलक्षणं चरेत् । ग्रामकुक्कुट-छत्राकयोः पूर्वप्रतिषेधितयोरिहा-भिधानं पलाण्डुवासिमानप्रायश्चित्तार्थम् । मतिपूर्वं चिरतराभ्यासे तु 'छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्स्या जग्ध्वा पतेद्विजः' इति (५१९) मनुक्तम् । अमतिपूर्वाभ्यासे—'अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्' (५१९) तृतीयाध्याये, वक्ष्यमाणं 'यतिचान्द्रायणं वापि' इति द्रष्टव्यम् । अमतिपूर्वाभ्यासे तु शङ्खोक्तं—'लशुनपलाण्डुगृञ्जनविड्वराह-ग्रामकुक्कुटकुम्भीकभक्षणे द्वादशरात्रं पयः पिबेत्' इति ॥ १७६ ॥

भाषा—प्याज, ग्रामसूकर, छत्राक (कुरुरमुत्ता), ग्रामकुक्कुट, लहसुन, और गृञ्जन (गाजर या शलजम्) का (जानबूझ कर) भक्षण करने पर चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७६ ॥

भक्ष्याः पञ्चनखाः सोधागोधाकच्छपशल्लकाः ।

शशश्च मत्स्येर्षापि हि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ १७७ ॥

तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।

सेधा श्वावित्, गोधा कृकलासानुकारिणी महती, कच्छपः, कूर्मः, शल्लकः शल्लकी, शशः प्रसिद्धः, पञ्चनखादीनां श्वमार्जारवानरादीनां मध्ये एते मेधादयो भक्ष्याः । चकाराखण्डोऽपि । यथाह गौतमः (१७।२७)—'पञ्चनखाः शशशल्लकश्चाविद्गोधाखड्गकच्छपाः' इति । यथाह मनुरपि (५।२८)—'श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥' इति । यत्पुनर्वसिष्ठेन 'खड्गो तु विवदन्ति' (१४।४७) इत्यभक्ष्यत्वमुक्तं, तच्छाब्दादन्यत्र, 'खड्गमांसैर्भवेदतमक्षयं पितृकर्मणि' इति श्राद्धे फलश्रुति-

१. दधित्य । २. प्रतिषिद्धयो । ३. शल्यकाः । ४. शालुकः शाली । ५. शल्यकं ।

दर्शनात् । तथा मत्स्यानां मध्ये सिंहतुण्डादयो भक्ष्याः । सिंहतुण्डः सिंहमुखः, रोहितो लोहितवर्णः, पाठीनश्चन्द्रकाक्ष्यः, राजीवः पद्मवर्णः, सह शल्कैः शुक्त्या-कारैर्वर्तत इति सशल्कः । एते च सिंहतुण्डादयो 'नियुक्ता एव भक्ष्याः । 'पाठीन-रोहितावाधौ त्रियुक्तौ हव्यकण्ययोः । राजीवाः सिंहतुण्डीश्च सशल्काश्चैव सर्वशः ॥' इति (५।१६) मनुस्मरणात् । 'द्विजाति'ग्रहणं शूद्रव्युदासार्थम् ॥ १७७ ॥

भाषा—सेधा (सेंधुआर), गोधा (गोह), कलुआ शल्लक (साही) और खरगोश ये पद्मनख (पंजे वाले) जीव भक्षण करने योग्य होते हैं । मछलियों में भी सिंही, रोहित (रोहू) पाठीन, राजीव (पद्म के समान रंग वाली) और सशल्क (शुक्ति के आकार वाली) द्विजातियों के लिये भक्ष्य होती है ॥ १७७ ॥

‘अनर्घितं वृथामांसम्’ (आ. १६७) इत्यारभ्य द्विजातिधर्मानुक्त्वेदानीं चातुर्वर्ण्यधर्मानाह—

अतः शृणुध्वं मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने ॥ १७८ ॥

मांसस्य प्रोक्षितादेर्भक्षणे तद्व्यतिरिक्तस्य वा निषिद्धस्य वर्जने प्रोक्षितादि-व्यतिरेकेण मांसं न भक्ष्यामीत्येवं सङ्कल्परूपेण विधिं सामश्रवः प्रभृतयः हे मुनयः ! शृणुध्वम् ॥ १७८ ॥

भाषा—अब मांस के भक्षण एवं त्याग का नियम सुनें ॥ १७८ ॥

तत्र भक्षणे विधिं दर्शयति—

प्राणान्त्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया ।

देवान्पितृन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दोषभाक् ॥ १७९ ॥

अन्नाभावेन व्याध्यभिभवेन वा मांसभक्षणमन्तरेण यदा प्राणबाधा भवति, तदा मांसं नियमेन भक्षयेत् । 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इत्यात्मरक्षाविधानात् । 'तस्मादुह न पुरायुषः स्वः कामी प्रेयात्' इति मरणनिषेधाच्च । तथा श्राद्धे मांसं निमन्त्रितो नियमेन भक्षयेत्, अभक्षणे दोषश्रवणात्, 'यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नास्ति मानवः । स प्रेत्य पशुनां याति संभवानेक-विंशति ॥' (५।३५) इति मनुस्मरणात् । प्रोक्षणाख्यश्रौतसंस्कारसंस्कृतस्य पशोर्यागार्थस्याग्नीषोमीयादेर्द्वैतावशिष्टं मांसं प्रोक्षितं तज्जक्षयेत्, अभक्षणे^१ यागानिष्पत्तेः । द्विजकाम्यया ब्राह्मणभोजनार्थं देवपित्रर्थं च यत्साधितं तेन तानभ्यर्च्यैवशिष्टं भक्षयन्न दोषभागभवति । एवं श्रुत्यभरणावशिष्टमपि; 'यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । श्रुत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥'

१. नियुक्तस्यैव । २. चातुर्वर्ण्यं प्रत्याह । ३. तस्मादिह । ४. अभक्षणाद्यागा ।

५. ह्याचरत्तथा ।

इति (५।२२) मनुस्मरणात् । 'न दोषभाक्' इति दोषाभावमात्रं वदता अति-
ध्यायर्चनावशिष्टस्याभ्यनुज्ञामात्रं न प्रोचितादिवन्नियम इति दर्शितम् । एवम-
प्रतिषिद्धानामपि शशादीनां प्राणायय्यतिरेकेणाभक्ष्यत्वावगमात् शूद्रस्यापि
मांसप्रतिबद्धः सर्वविधिनिषेधाधिकरोऽवगम्यते ॥ १७९ ॥

भाषा—जब (अन्न के अभाव में या रोग में) मांस के बिना प्राण बचना
कठिन हो, श्राद्ध में, प्रोक्षण नाम के (श्रौत संस्कार) में देवताओं की आहुति से
अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता या पितर के लिये बनाये गये मांस को
देवता और पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं
होता है ॥ १७९ ॥

इदानीं प्रोचिताव्यतिरिक्तस्य वृथामांसमित्यनेन प्रतिषिद्धस्य भक्षणे
निन्दार्थवादमाह—

वसेत्स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः ।

संमितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशून् ॥ १८० ॥

अविधिना देवताद्युद्देशमन्तरेण यः पशून्हन्ति स तस्य पशोर्यावन्ति
रोमाणि तावन्ति दिनानि घोरे नरके वसेत् । 'हन्ति' हृत्पृष्ठविधोऽपि घातको
गृह्यते । यथाह मनुः (५।५१) 'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खाद्वक्त्रेति घातकाः ॥' इति ॥ १८० ॥

भाषा—जो दुराचारी व्यक्ति बिना विधि के (देवता या यज्ञ के लिये
नहीं अपितु स्वयं अपने लिये) पशु का वध करता है, वह उतने
दिन तक घोर नरक में वास करता है जितने रोएँ उस पशु के शरीर में
रहे हों ॥ १८० ॥

इदानीं वर्जने विधिमाह—

सर्वान्कामानवाप्नोति हयमेधफलं तथा ।

गृहेऽपि निवसन्विप्रो मुनिर्मांसविवर्जनात् ॥ १८१ ॥

यः प्रोचितादिव्यतिरेकेण मया मांसं न भक्षितव्यमिति सत्यसंकल्पो भवति
स सर्वान्कामान् तत्साधने प्रवृत्तो निर्विघ्नं प्राप्नोति, विशुद्धाशयत्वात् । यथाह
मनुः (५।४७)—'यद्धयायते यत्कुर्वते रतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्य-
विघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥' इति । एतच्चानुपक्रिकं फलम् । मुख्यं फल-
माह—हयमेधफलं तथेति । एतच्च सांवत्सरिकसंकल्पस्य; 'वर्षे वर्षेऽथमेधेन
यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥' इति
(५।५३) मनुस्मरणात् । तथा गृहेऽपि निवसन् ब्राह्मणादिब्रातुर्वर्णिको

मुनिवन्माननीयो भवति; मांसत्यागात् । एतच्च न प्रतिषिद्धमांसविषयम् ,
नापि प्रोक्षितादिविषयम् , किंतु परिशेष्यादतिथ्याद्यर्चनावशिष्टाभ्यनुज्ञात-
विषयमिति ॥ १८१ ॥

भाषा—(जो यज्ञ के अतिरिक्त अन्य) मांस का भक्षण न करने का सत्य-
संकल्प करता है वह सभी अभिलाषाओं एवं अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त
करता है । मांस का त्याग कर देने पर ब्राह्मण अपने घर में रहता हुआ भी
मुनितुल्य होता है ॥ १८१ ॥

इति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ।

अथ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम्

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

सौवर्णराजताब्जानामूर्ध्वपात्रग्रहाश्मनाम् ।

शाकरज्जुमूलफलवासोविदलचर्मणाम् ॥ १८२ ॥

पात्राणां चमसानां च वारिणा शुद्धिरिष्यते ।

चरुक्षुवसस्नेहपात्राण्युष्णेन वारिणा ॥ १८३ ॥

सौवर्णं सुवर्णकृतम् , राजतं रजतकृतम् , अब्जं मुक्ताफलशङ्खशुक्रादि,
ऊर्ध्वपात्रं यज्ञियोलूखलादि, ग्रहादिसाहचर्यात् । ग्रहाः षोडशप्रभृतयः,
अश्मा इषदादिः, शाकं वास्तुकादि, रज्जुः बल्लवादिनिर्मिता, मूलामार्द्र-
कादि, फलमात्रादि, वासो वस्त्रम् , विदलं वैणवादि, चर्म अजादीनाम् ,
विदल-चर्मणो'ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रवस्त्रादीनामुपलक्षणार्थम् । पात्राणि
प्रोक्षणीपात्रप्रभृतीनि, चमसा होतृचमसादयः, एतेषां सौवर्णादीनां लेपरहिता-
नामुच्छिष्टस्पर्शमात्रे वारिणा प्रक्षालनेन शुद्धिः, चरुश्चरुस्थाली, क्षुक्क्षुवौ
प्रसिद्धौ, सस्नेहानि पात्राणि प्राशित्रहरणाचीनि, एतेषां च लेपरहितान्युष्णेन
वारिणा शुद्ध्यन्ति; 'निलेपं काञ्चनं भाण्डमग्निरेव विशुद्ध्यति । अब्जमश्ममयं
चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥' इति (५।११२) मनुस्मरणात् । अनुपस्कृतम-
खातपूरितम् । सलेपानां तु—'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽग्निसृष्टं चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥' इति (५।१११) मनुक्तं
द्रष्टव्यम् । मृद्भस्मनोरेकार्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तु समुच्चीयन्ते । काकादिमुखो-
पघाते तु—'कृष्णशकुनिमुखावमृष्टं पात्रं निलिखेत् , श्वापदमुखावमृष्टं पात्रं न
प्रयुञ्जीत' (गौ. सू. १७।४) इति द्रष्टव्यम् । एतच्च मार्जारान्यत्र, 'मार्जार-
श्चैव दुर्वी च मारुतश्च सदा शुनिः ।' इति मनुस्मरणात् ॥ १८२-१८३ ॥

१. परिशेषात् ।

२. मुखावमृष्टं ।

भाषा—सोने, चाँदी और अब्ज (मुक्ताफल, शंख और शुक्ति) के पात्र, (उलूखल आदि) यज्ञिय पात्र, ग्रह (यज्ञिय पात्र), पत्थर, शाक, रस्सी, मूल, (आम्र आदि) फल, वस्त्र, बाँस, (बकरी आदि का) चमड़ा, (यज्ञ का) प्रोक्षणीपात्र, (होता आदि के) चमस की शुद्धि जल से धो देने से होती है । चरुस्थाली, सुवा, धी आदि चिकने पदार्थ से युक्त पात्र उष्ण जल से शुद्ध होते हैं ॥ १८२-१८३ ॥

यज्ञपात्रादीनां प्रोक्षणेन शुद्धिः—

स्फ्यशूर्पाऽजिनधान्यानां मुसलोल्खलाऽनसाम् ।

प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धान्यवाससाम् ॥ १८४ ॥

स्फ्यो वज्रो यज्ञाङ्गम्, अनः शकटम् शेषं प्रसिद्धम्, एतेषामुष्णेन वारिणा शुद्धिः । पुनः 'अजिन'ग्रहणं यज्ञाङ्गाजिनप्राप्त्यर्थम् । संहतानामुक्तशुद्धिद्रव्या रन्धावयविनां बहूनां धान्यानां वाससां च । 'वासो'ग्रहणमुक्तशुद्धीनामुपलक्षणार्थम् । उक्तशुद्धीनां धान्यवासःप्रभृतीनां बहूनां च राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धिः । बहुत्वं च स्पृष्टापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदा धान्यानि वस्त्रादीनि वा राशीकृतानि तत्र चण्डालादिस्पृष्टान्यल्पानि बहूनि चास्पृष्टानि तत्र स्पृष्टानामुक्तैव शुद्धिरितरेषां प्रोक्षणमिति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वस्त्र-धान्यादिराशीनामेकदेशस्य दूषणे । तावन्मात्रं समुद्ध्यत्य शेषं प्रोक्षणमर्हति ॥' इति । यदा पुनः स्पृष्टानां बहुत्वं अस्पृष्टानां चार्षत्वं तदा सर्वेषामेव चालनम् । यथाह मनुः (५।१।१८)—'अग्निस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रचालनेन त्वल्पानामग्निः शौचं विधीयते ॥' इति । स्पृष्टानामस्पृष्टानां च समत्वेऽपि प्रोक्षणमेव । बहूनां प्रोक्षणविधानेनारूपानां चालने सिद्धे पुनरल्पानां चालनवचनस्य समेषु चालननिबृत्त्यर्थत्वात् । इयस्स्पृष्टमियदस्पृष्टमित्यविवेके तु चालनमेव । पाक्षिकस्यापि शेषस्य परिहर्तव्यत्वात् अनेकपुरुषोद्धार्यमाणानां तु धान्यवासःप्रभृतीनां स्पृष्टानामस्पृष्टानां च प्रोक्षणमेवेति निबन्धकृतः ॥ १८४ ॥

भाषा—स्फूये (यज्ञवज्र), सूयः, कृष्णमृगचर्म, धान्य, मूसल, तखल और शकट की भी (शुद्धि उष्ण जल से धोने पर होती है) धान्य की राशि और कई वस्त्र हों तो जल के छोटों से ही शुद्ध होती है ॥ १८४ ॥

निलेपानां स्पर्शमात्रदुष्टानां शुद्धिमुक्तत्वेदानीं सलेपानां शुद्धिमाह—

तक्षणं दारुशृङ्गास्थानां गोबालैः फलसंभुषाम् ।

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥ १८५ ॥

१. द्रव्याणां बहूनां ।

२. चालनवचननिवृत्ति ।

३. अनेकपुरुषोद्धार्यार्थं ।

धारुणां मेघमहिषादिशृङ्गाणां करिवाराहशङ्काधस्थनाम् । 'अस्थि'ग्रहणेन
दन्तानामपि ग्रहणम् । उच्छिष्टस्नेहादिभिल्लिप्तानां मृज्जस्मोदकादिभिरनपगत-
लेपानाम् । मनुः (५।१२६)—'यावन्नापैत्यमेध्याक्ताङ्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
सावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥' इति सामान्यतः शुद्धिविधानात् ।
सत्तणं तावन्मात्रावयवापनयनं शुद्धिः । फलसंभुवां बिल्वालावुनारिकेलादि-
फलसंभूतानां पात्राणां गोबालैर्दूर्ध्वनाच्छुद्धिः । यज्ञपात्राणां सुक्स्तुवादीनां
यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां अरिष्टैश्च हस्तेन दर्भेर्दशापवित्रेण वा यथाशास्त्रं
कर्माङ्गताया मार्जनं कर्तव्यम् । यज्ञे जीतमुदाहरणमन्येषामपि सौवर्णादीनां
पात्राणां स्मार्तलौकिकर्मसु कृतशौचानामेवाङ्गत्वमिति दर्शयितुम् । यज्ञाङ्गानां
पुनः कृतशौचानामिदं दशापवित्रादिभिर्मार्जनं संस्कारार्थमिति शेषः ॥ १८५ ॥

भाषा—भेड़ या भैंस आदि के सींग और हाथी, सूकर की अस्थियों
(एवं शङ्ख) से बने हुए पात्र की शुद्धि उस खुरचने से होती है । फल से
बनाया हुआ पात्र गोबाल से रगड़ने पर शुद्ध होता है । यज्ञ के समय (सुक्-
स्तुवा आदि) यज्ञ पात्र हाथ से पोंछने पर ही शुद्ध हो जाते हैं ॥ १८५ ॥

इदानीं सलेपानामेव केषांचित्सलेपापकर्षणे विशेषहेतूनाह—

सोषरोदकगोमूत्रैः शुध्यत्याविककौशिकम् ।

सश्रीफलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा ॥ १८६ ॥

उपरमृत्तिकासहितेन गोमूत्रेणोदकेन वा लेपापेक्षया । आविकमूर्णमयम्,
कौशिकं कोशप्रभवं तसरीपट्टादि प्रक्षालितं शुद्ध्यति । 'उदगोमूत्रैः' इति
बहुवचनं पश्चादप्युदकापत्यर्थम् । अंशुपट्टं वक्त्रकलतन्तुकृतम्, सश्रीफलै-
र्बिल्वफलसहितैः, कुतपः पार्वतीयछागरोमनिर्मितकम्बलः, अरिष्टैरहितैरुदक-
गोमूत्रैः, शुध्यतीत्यनुवर्तते । एतच्चोच्छिष्टस्नेहादियोगे सति वेदितव्यम् ।
अल्पोपघाते तु प्रोक्षणादि, क्षालनासहात्वात्, सर्वत्र द्रव्याविनाशेनैव शुद्धेरिष्ट-
त्वात् । तथा च देवलः—'ऊर्णाकौशेयकुतपपट्टक्षौमदुकूलजाः । अत्यशौचा
भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः ॥' इत्यभिधायाह—'तान्येवामेध्ययुक्तानि क्षाल-
येच्छोधनैः स्वकैः । धान्यकल्कैस्तु फलजै रसैः क्षारानुगैरपि ॥' इति क्षौमवदेव
क्षालनस्य समानयोनित्वात् । ऊर्णादिग्रहणं तदारब्धतूलिकादिप्राप्त्यर्थम् । अत-
स्तस्याल्पोपघातेनैव क्षालनं कार्यम् । अमेध्यलेपादन्यत्र—'तूलिकामुपधानं च
पुष्परक्ताम्बरं तथा शोषयित्वा तपे किंचित्करैः समार्जयेन्मुहुः ॥ पश्चाच्च वारिणा

१. हेतुलक्षणेनाह । २. सोपैरुदक (= उपमृत्तिकासहितैः) । ३. अरिष्ट-
फलसहितैः । अरिष्टसहितैः फेनकसहितैः । ४. योगत्वात् ।

प्रोषय विनियुज्जीत कर्मणि । तान्यप्यतिमलिष्ठानि यथावत्परिशोधयेत् ॥' इति देवलस्मरणात् । पुष्परक्तानि कुङ्कुमकुसुमादिरक्तानि । 'पुष्परक्त'ग्रहणमन्यस्यापि हरिद्रादिरक्तस्य चालनासहस्य प्राप्प्यर्थम् , न मज्जिष्ठादेः; तस्य चालनसह-
त्वात् । शङ्खेनाप्युक्तम्—'रागद्रव्याणि प्रोषितानि शुचीनि' इति ॥ १८६ ॥

भाषा—ऊन की वस्तुएँ कंबल आदि और तसरी पट्ट आदि ऊसर स्थान की मिट्टी (रेह) और जल आ गोमूत्र से धोने पर शुद्ध होती हैं । बल्कल से बना हुआ वस्त्र इनके साथ श्रोफल मिलाकर साफ करने से स्वच्छ होते हैं और (पहाड़ी भेड़ों के रोएँ से बना हुआ) कुतप, दुशाला आदि रीठी, गोमूत्र और जल से धोये जाते हैं ॥ १८६ ॥

सगौरसर्षपैः क्षौमं पुनःपाकान्महीमयम् ।

कारुहस्तः शुचिः पण्यं भैक्षं योषिन्मुखं तथा ॥ १८७ ॥

गौरसर्षपसहितैरुदकगोमूत्रैः क्षौमं धुमा अतसी तत्सूत्रनिर्मितं क्षौमं शुद्ध्यति । पुनः पाकेन च मृन्मयं घटादि । एतच्चोच्छिष्टस्नेहलेपे वेदितव्यम् । मनुः (५।१२३)—'मैद्यैर्मूत्रैः पुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥' इति स्मरणात् । चण्डालाद्युपघाते तु त्याग एव । यथाह पराशरः—'चण्डालाद्यैस्तु संस्पृष्टं धान्यं वस्त्रमथापि वा । प्रचाल-
नेन शुद्ध्येत परित्यागान्महीमयम् ॥' इति । कारवो रजकचैलधावकसूपकारा-
णास्तेषां हस्तः सदा शुचिः । शुचित्वं तत्साध्ये कर्मणि । वस्त्रधावनादौ सूत-
कादिसंभवेऽपि । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासा-
स्तथैव च । राजानो राकभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥' इति । पण्यं पणार्हं
विक्रयं यवव्रीह्यादि । अनेकक्रेतृजनकरपरिघट्टितमध्यप्रयतं न भवति । सूतकादि-
निमित्तेन च वणिजाम् । भिक्षाणां समूहः । भैक्षं तद्ब्रह्मचार्यादिहस्तगतं अना-
चान्तस्त्रीप्रदानादिनाऽशुचिरध्याक्रमणादिना निमित्तेनापि न दुष्यति । तथा
योषिन्मुखं संभोगकाले शुचि । 'स्त्रियश्च रतिसंसर्गः' इति स्मरणात् ॥ १८७ ॥

भाषा—अतसी के सूत से बना हुआ वस्त्र पीले सरसों और गोमूत्र एवं जल से स्वच्छ होता है । मिट्टी के पात्र घड़ा इत्यादि पुनः पकाने से शुद्ध होते हैं । रंगरेज, धोबी, सूपकार आदि शिल्पियों के हाथ, (जौ, धान आदि) विक्रय की वस्तु, भिक्षा का समूह और (संभोगकाल) में स्त्री का मुख सदैव पवित्र रहते हैं ॥ १८७ ॥

इदानीं भूशुद्धिमाह—

भूशुद्धिर्मार्जनाद्वाहात्कालाद्गोक्रमणात्तथा ।

सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्गृहं मार्जनलेपनात् ॥ १८८ ॥

मार्जन्यां पांसुवृणादीनां प्रोत्सारणं मार्जनम् । दाहस्त्वृणकाष्ठाद्यैः । कालो यावता कालेन लेपादिष्वयो भवति तावान् । गोक्रमणं गवां पादपरिघट्टनम्, सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः प्रवर्षणं वा, उल्लेखनं तच्चणं खननं वा, लेपो गोमयादिभिः, एतैः समस्तैर्ष्यस्तैर्वा मार्जनादिभिरमेध्या दुष्टा मलिना च भूमिः शुद्ध्यति । तथा च देवलः—‘यत्र प्रसूयते नारी म्रियते दह्यतेऽपि वा । चण्डालाभ्युषितं यत्र यत्र विष्टादि’संहतिः ॥ एवं करमलभूयिष्ठा भूरमेध्या प्रकीर्तिता । श्वसूकरखरोष्ट्रादिसंस्पृष्टा दुष्टतां व्रजेत् । अङ्गारतुषकेशास्थिभस्माद्यैर्मलिना भवेत् ॥’ इत्यमेध्या दुष्टा मलिनेति शोध्यभूमेऽथैविध्यमभिधाय शुद्धिविभागं दर्शयति—‘पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्यापि’ शुद्ध्यति । दुष्टाग्विता त्रिधा द्वेधा शुद्ध्यते मलिनैकधा ॥’ इति । यत्र मनुष्या दह्यन्ते यत्र चाण्डालैरभ्युषितं तत्रै पञ्चभिर्दहनकालगोक्रमणसेकोल्लेखनैः शुद्धिः । यत्र मनुष्या जायन्ते यत्र च म्रियन्ते यत्र चारयन्तं विष्टादिसंहतिः तासां दाहवजितैस्तैरेव चतुभिः । श्वसूकरखरैश्चिरकालमभ्युषितायाः गोक्रमणसेकोल्लेखनैस्त्रिभिः । उष्ट्रग्रामकुक्कुटादिभिश्चिरकालमधिवासितायाः सेकोल्लेखनाभ्यां शुद्धिः । अङ्गारतुषकेशादिभिश्चिरकालमधिवासिताया उल्लेखनेन शुद्धिः । मार्जनानुलेपने तु सर्वत्र समुच्चीयेते । एवं गृहं मार्जनलेपनाभ्यां शुद्ध्यति । गृहस्य पुष्पगुणधानं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसं प्राप्स्यर्थम् ॥ १८८ ॥

भाषा—पृथ्वी की शुद्धि (झाड़ू आदि से) झाड़ने, जलाने, समय बीतने, गाय के पैर पड़ने, (दूध, गोमूत्र, और जल) छिड़कने, खोदने, गोबर आदि से) लीपने से होती है । इसी प्रकार घर झाड़ने और लीपने से शुद्ध होता है ॥ १८८ ॥

गोघ्रातेऽत्र तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।

सलिलं भस्म मृद्वाऽपि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्ध्यते ॥ १८९ ॥

गोघ्राते गोनिःश्वासोपहतेऽन्ने अदनीयमात्रे । तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते । ‘केश’ ग्रहणं लोमादिप्राप्यर्थम् । कीटाः पिपीलिकादयः । उदकं भस्म मृद्वा यथासंभवं प्रक्षेप्तव्यं शुद्ध्यर्थम् । यत्तु गौतमेनोक्तम् (१७।८-९)—‘नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नम्’ इति तत्केशकीटादिभिः सह यत्पक्वं तद्विषयम् ॥ १८९ ॥

भाषा—अन्न के गौ द्वारा सूँघ लिये जाने पर, उसमें केश, मक्खी या चींटी आदि क्रीड़ा होने पर उसे शुद्ध करने के लिये उसमें जल, राख या मिट्टी डालनी चाहिए ॥ १८९ ॥

त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः ।

भस्मान्निः कांस्यलोहानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च ॥ १९० ॥

त्रपुप्रभृतीनि प्रसिद्धानि, तेषां क्षारोदकेनाम्लोदकेन वारिणा चोपघाता-
पेक्षया समस्तैर्गन्धैर्वा शुद्धिः कार्या । कांस्यलोहानां भस्मोदकेन^१ । 'ताम्र'-
ग्रहणाद्रीतिकावृत्तिलोहयोर्ग्रहणम्, एकयोनित्वात् । एतच्च ताम्रादीनाम्लोदका-
दिभिः शुद्धयभिधानं न नियमार्थम् । 'मलसंयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते ।
तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत् ॥' इत्यविशेषेण स्मरणात् । अतो
न ताम्रादेरुच्छिष्टोदकादिलेपस्यान्येनापगमसंभवे नियमेनाम्लोदकादिना शुद्धिः^२
कार्या । अत एव मनुना सामान्येनोक्तम्—(५।११४) 'ताम्रायःकांस्यरैरूपानां
त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथाहं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥' इति ।
यत्तु—भस्मना शुद्धयते कांस्यं ताम्राम्लेन शुद्धयति' इति, तत्ताम्रादेः शौचस्य
परां काष्ठां प्रतिपादयितुं नाग्यस्य निषेधाय । यदा तूपघातातिशयस्तदाभ्लोद-
कादीनामावृत्तिः, 'गवाग्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च । शुद्धयन्ति
दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥' (आपस्तम्ब) इति स्मरणात् । ('दशक्षारा-
नाह—'तिलमुष्ककशिग्रूणां कोकिलाक्षपलाक्षयोः । काकजङ्घा तथावज्रविज्ञाश्वत्थ-
वटस्य च ॥ एभिस्तु दशभिः क्षारैः शुद्धिर्भवति कांस्यके ॥') शुद्धिः प्लावो-
द्रवस्य त्विति । द्रवस्य द्रवद्रव्यस्य घृतादेः प्रस्थप्रमाणाधिकस्य श्वकाकाशुपहतस्य
अमेध्यसंसृष्टस्य च प्लावः प्लावनं समानजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्याभि-
पूरणं यावन्निःसरणं शुद्धिरित्यनुवर्तते । ततोऽक्षस्य त्यागः । बह्वक्षस्य च देश-
कालाद्यपेक्षयापि वेदितव्यम् । यथाह—बौधायनः—'देशं कालं तथा^३ मूलं^४ द्रव्यं
द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥' इति । कीटाद्युप-
हतस्य तूष्पवनम् । यथाह मनुः (५।११५)—'द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं
स्मृतम्' इति । उत्पवनं चात्र वस्त्रान्तरिते पात्रे प्रक्षेपः । अन्यथा कीटाद्युप-
गमस्यासंभवात् । शूद्रभाण्डस्थितस्य तु मधूदकादेः पात्रान्तरायनाच्छुद्धिः—
'मधूदके पयस्तद्विकाराश्च पात्रात्पात्रान्तरानयने शुद्धाः' इति बौधायनस्मरणात् ।
मधुघृतादेर्वर्णापसद्बहुस्तात्प्राप्तस्य पात्रान्तरानयनं पुनः पचनं च कार्यम् । यथाह

- | | | | |
|------------------|-------------------|---------------|-----------------------|
| १. तु । | २. दकवारिणा । | ३. दकादिभिः । | ४. इदं । |
| पुस्तकेऽधिकम् । | ५. अमेध्यद्रव्य । | ६. तथारमानं । | ७. घृतादेर्हानवर्णा । |
| ८. पचनं कार्यं । | | | |

शङ्खः—‘अभ्यवहार्याणां घृतेनाभिचारितानां पुनः ^१पवनमेवं स्नेहानां स्नेहवद्र-
सानां’ इति ॥ १९० ॥

भाषा—पीतल, सीसा, ताँबा, खारे या अम्लजल से शुद्ध होता है ।
कोंसे और लोहे की शुद्धि भस्म और जल से होती है । (घी या तेल जैसे)
द्रव पदार्थ की शुद्धि उसके पात्र में वही द्रव इतना डालने पर होती है जितने से
पात्र भरकर ऊपर गिरने लगे ॥ १९० ॥

एवं सौवर्णराजतादीनामेतत्प्रकरणप्रतिपादितानां सर्वेषामुच्छिद्धस्नेहाप्युपघाते-
शुद्धिमुत्सवेदानीं तेषामेवामेध्योपहतानां शुद्धिमाह—

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्षणात् ।

वाकशस्तमम्बुनिर्गिक्तमज्ञातं च सदा शुचि ॥ १९१ ॥

अमेध्याः शरीरजा मला वसाशुक्रादयः, ‘वसा शुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्ण-
विण्मूत्राः । श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥’ (५।११६) तथा—
‘मानुषास्थि शवं विष्टा रेतो मूत्रार्तवं वसा । स्वेदादोऽश्रु दूषिका श्लेष्म मधं
वामेध्यमुच्यते ॥’ इति अमेध्यादयो मला मनुदेवलादिभिः प्रतिपादिताः तैर्वसादि-
रक्तलिप्तममेध्याक्तं तस्य मृदा तोयेन च शुद्धिः कर्तव्या ^२गन्धापकर्षणात् । आदि-
ग्रहणाज्ज्ञेपस्यापि ग्रहणम् । यथाह गौतमः (१।४२)—‘लेपगन्धापकर्षणैः शौच-
ममेध्यलिप्तस्य’ इति । सर्वशुद्धिषु च प्रथमं मृत्तोयैरेव लेपगन्धापकर्षणं कार्यम् ।
यदि गन्धादिमृत्तोयैर्न गच्छति तदान्येन, ‘अशक्तावन्येन मृदद्भिः पूर्वं मृदा च’
(१।४३) इति गौतमस्मरणात् । वसादिग्रहणं च सर्वेषाममेध्यत्वं प्रतिपादयितुं न
समानोपघाताय—‘मद्यैर्मूत्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत
पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥’ (मनु० ५।१२३) इत्युपघाते विशेषाभिधानात्—‘अमेध्यत्वं
चैवमेषां देहाच्चैव मलाव्युताः’ इति वचनाद्देहाव्युतानामेव न स्वस्थानावस्थितानाम् ।
पुरुषस्य नाभेरुर्ध्वं करव्यतिरिक्ताङ्गा ^३नामन्यामेध्यस्पर्शे स्नानम् । यथाह देवलः—
‘मानुषास्थ वसां विष्टामार्तवं मूत्ररेतसी । मज्जानं शोणितं स्पृष्ट्वा परस्य स्नान-
माचरेत् ॥’ इति—‘तान्येव स्वानि संस्पृश्य प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति’ इति । तथा—
‘ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते । तत्र स्नानमधस्तात् प्रक्षाल्याचम्य
शुद्ध्यति ॥’ इति । कृतेऽपि यथोक्तशौचे मनसोऽपरितोषाद्यत्र शुद्धिसंदेहो भवति
तद्वाकशस्तं शुचि । शुद्धमेतदस्त्विति ब्राह्मणवचनेन शुद्धं भवतीत्यर्थः । अम्बु-
निर्गिक्तं पत्र प्रतिपादिता शुद्धिर्नास्ति तस्य प्रक्षालनेन शुद्धिः । प्रक्षालनासहस्य

प्रोक्षणेन । अज्ञातं च सदा यत्काकाद्युपहतमुपयुक्तं^१ न कदाचिदपि ज्ञायते तच्छुचि । तदुपयोगाददृष्टदोषो नास्तीत्यर्थः । नन्वेतद्विरुद्धयते, 'संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्धयर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥' इत्यदृष्टदोषेऽपि प्रायश्चित्तप्रतिपादनात् । नैतत्, प्रायश्चित्तस्य अग्निविषयत्वात्, दोषाभावेऽप्येवान्योपयोगिविषयत्वात् ॥ १९१ ॥

भाषा—(मलमूत्र, वसा आदि) दूषित शरीर की गंदगी से अशुद्ध वस्तु मिट्टी और जल से उतना साफ करने पर शुद्ध होती है जितने से उसकी गन्ध (और लेप) द्वारा हो जाय । (शुद्धि करने पर भी मन में सन्देह होने पर) ब्राह्मण के कह देने पर शुद्ध समझना चाहिए; जल के छींटों से शुद्धि होती है । जिस वस्तु के शुद्ध या अशुद्ध होने का ज्ञान न हो वह सदैव शुद्ध रहती है ॥ १९१ ॥

शुचि गोतृसिकृत्तोयं प्रकृतिस्थं महीगतम् ।

नैथा मांसं श्वचण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् ॥ १९२ ॥

महीगतं भूमिस्थमुदकं एकगवीतृक्षिणनसमर्थं चण्डालादिभिरस्पृष्टं प्रकृतिस्थं रूपरसगन्धस्पर्शान्तरमनापक्षं शुचि आचमनादियोग्यं भवति । 'महीगतम्' इत्यशुचिभूगतस्य शुचित्वनिवेद्यार्थं नत्वान्तरिक्षोदकस्य शुद्धत्वव्यावृत्त्यर्थम् । आप्युद्धृतस्य—'उद्धृताश्चापि शुद्धयन्ति शुद्धैः पात्रैः समुद्धृताः । एकरात्रोषिता आपस्याज्याः शुद्धा अपि स्वयम् ॥' इति देवलवचनात् । तथा चण्डालादिकृते तडागादौ न दोषः, 'अन्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति शातातपस्मरणात् । तथा मांसं श्वचण्डाल-क्रव्यादादिभिर्निपातितं शुचि । आदिग्रहणात्पुष्कसादेरपि ग्रहणम् । निपातितग्रहणं भवितस्य निराकरणार्थम् ॥ १९२ ॥

भाषा—पृथ्वी पर शुद्ध प्राकृतिक रूप में पड़ा हुआ (चाण्डाल आदि द्वारा न छुआ गया) एक गौ के पीने भर जल शुद्ध (आचमनादि के योग्य) होता है । कुत्ता, चाण्डाल, मांसाभक्षी पक्षी द्वारा काटा गया या गिराया गया मांस शुद्ध होता है ॥ १९२ ॥

रक्षमरग्री रजइच्छाया गौरैश्वो वसुधामणिः ।

विप्रुषो मक्षिकाः स्पर्शो वत्सः प्रज्वले शुचिः ॥ १९३ ॥

-
१. उपभुक्तं । २. नतु तद्वि । ३. भावस्य धान्यप्रयोग ।
४. मार्गं मांसं (= सुगाहेमांसं) । ५. रक्षवसुधानिजाः । ६. प्रज्वले ।

रश्मयः सूर्यादेः प्रकाशकद्रव्यस्य । अग्निः प्रसिद्धः । रजः अजादिसम्बन्ध-
व्यतिरेकेण । तत्र—‘शंकाकोष्ठखरोलूकसूकरग्रास्यपक्षिणाम् । अजाविरेणुसंस्पर्शा-
दायुर्लक्ष्मीश्च हीयते ॥’ इति दोषश्रवणात्तत्स्पर्शं संमार्जनादि कार्यम् । छाया
वृक्षादेः, गौः, अश्वः, वसुधा भूमिः, अनिलो वायुः, विप्रषोऽवश्यायविन्दवः,
मुखजानां वक्ष्यमाणत्वात् । मक्षिकाश्च, एते चण्डालादिस्पृष्टा अपि स्पर्शं
शुचयः । वसः प्रस्रवने ऊधोगतदुग्धापकर्षणे शुचिः । ‘वस’ग्रहणं बालस्योप-
लक्षणाथम्, ‘बालैरनुपरिक्लान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत् । अविज्ञातं च यत्किञ्चिन्नित्यं
मेध्यमिति स्थितिः ॥’ इति वचनात् ॥ १९३ ॥

भाषा—(सूर्य आदि की) किरणें, अग्नि, (अजादी से अद्भुती) धूँ, छाया, गाय, अश्व, पृथ्वी, वायु वाष्प और मक्खी (चण्डाल आदि से स्पृष्ट होने पर भी) शुद्ध होते हैं, तथा दूध दुहते समय बछड़ा पवित्र होता है ॥ १९३ ॥

अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं न गोर्न नरजा मलाः ।

पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः ॥ १९४ ॥

अजाश्वयोर्मुखं मेध्यम् । न गोः, न नरजा मलाः, ‘नर’शब्दो लक्षणया
वेहमभिधत्ते । तज्जा मला वसादयो मेध्या न भवन्ति । पन्थानो मार्गाः
चण्डालादिभिः स्पृष्टा अपि रात्रौ सोमांशुभिर्मार्क्तेन च शुद्ध्यन्ति । दिवा तु
सूर्यांशुभिर्मार्क्तेन च ॥ १९४ ॥

भाषा—बकरे तथा घोड़े का मुख शुद्ध होता है, गौ का मुख नहीं ।
मनुष्य शरीर से निकले हुए मल अशुद्ध होते हैं । (कुत्ता, चण्डाल आदि के
संस्पर्श पर) मार्ग चन्द्रमा या सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से शुद्ध
होता है ॥ १९४ ॥

मुखजा विप्रषो मेध्यास्तथाऽऽचमनविन्दवः ।

श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिः ॥ १९५ ॥

मुखे जाता मुखजाः श्लेष्मविप्रषो मेध्याः नोच्छिष्टं कुर्वन्ति अनपतिता-
श्लेदके । ‘न मुखविप्रष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्ति’ इति गौतम-
वचनात् । तथा च ये आचमनतोयविन्दवः पादौ स्पृशन्ति ते मेध्याः । श्मश्रु-
चास्यगतं मुखप्रविष्टमुच्छिष्टं न करोति । दन्तसक्तं चाज्ञादिकं स्वयमेव च्युतं
स्पर्शना शुचिर्भवति । अच्युतं दन्तसमम्^३ । तथा च गौतमः—‘दन्तश्छिष्टं तु

१. अजाश्वं मुखतो मेध्यं । २. पन्थानस्तु । ३. दन्तेभ्यः पतितं त्यजति
विलति चाप्युत्पत्ता शुद्ध्यति विना आचमनं इति ।

दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् च्युतेरित्येके च्युतेष्वास्त्राववद्विद्यान्तिगिरन्नेव तच्छुचि' इति । निगिरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योक्तेन त्यागेन विकल्प्यते । निगिरन्नेवेत्येवकारः 'चर्वणे त्वाचमेन्नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम् । ओष्ठौ विलो-
मकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥' इति विष्णुक्ताचमननिषेधार्थः । 'ताम्बूल'-
ग्रहणं फलाद्युपलक्षणार्थम् । यथाह शातातपः—'ताम्बूले च फले चैव भुक्ते स्नेहावशिष्टके । दन्तलग्नस्य संस्पर्शं नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥' इति ॥ १९५ ॥

भाषा—मुख से निकले हुए थूक के बिन्दु तथा आचमन के जल के बिन्दु शुद्ध होते हैं (शरीर पर गिरने पर दूषित नहीं करते) । दाढ़ी मूछ पर सटे हुए मुँह में तथा दाँत में लगे हुए जूटे भोजन को साफ कर देने पर शुद्धि होती है ॥ १९५ ॥

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।

आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥ १९६ ॥

स्नानपानक्षुतस्वप्नभोजनरथ्योपसर्पणवासोविपरिधानेषु कृतेष्वाचान्तः पुनराचामेत् । द्विराचामेदित्यर्थः । चकाराद्रोदनाध्ययनारम्भं चापत्यानृतोक्त्या-
दिषु । तथा च वसिष्ठः—'सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्तः पुनराचामेत्' इति । मनुरपि (५।१४५)—'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च छीविस्वोक्तवानृतं वचः । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥' इति । भोजने स्वादावपि स्वादावपि द्विराचमनम्—'भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेत्' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । स्नानपानयोरादौ सकृत् । अध्ययने त्वारम्भे द्विः । शेषेष्वन्ते एव यथोक्तं द्विराचमनम् ॥ १९६ ॥

भाषा—स्नान करके, पानी पीकर, क्षुत, शयन, भोजन करके तथा रथ पर चलने के बाद (विशेष रूप से) वस्त्र धारण करके पुनः (अर्थात् दो बार) आचमन करे ॥ १९६ ॥

रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः ।

मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्केष्टकचितानि च ॥ १९७ ॥

रथ्या मार्गमात्रम्, कर्दमः पङ्कः तोयमुदकम्, रथ्यास्थितानि कर्दम-
तोयानि अन्यैश्चण्डालादिभिः श्वभिर्वायसैश्च स्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति
शुद्धिसुपयान्ति । बहुवचनं तद्गतगोमयशर्करादिप्राप्त्यर्थम् । पक्केष्टकादि-
भिश्चितानि प्रासादधवलगृहादीनि चण्डालादिस्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति

१. निगिरन्नेव निगरन्नेव । २. भुक्ते । ३. चालवानृतो । ४. पक्वेष्टक-
चितानि ।

एतच्च 'प्रोक्षणं संहतानाम्' (मनु० ५।१५५) इत्युक्तप्रोक्षणनिषेधार्थम् ।
तृणकाष्ठपर्णादिमयानां तु प्रोक्षणमेवेति ॥ १९७ ॥

भाषा—मार्ग का कीचड़ तथा जल चाण्डाल, कुत्ता और कौए द्वारा छुए जाने पर वायु से ही शुद्ध होते हैं । पक्की ईंटों से बना हुआ घर आदि भी (वायु से शुद्ध होते हैं) ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ।

अथ दानप्रकरणम्

इदानीं दानधर्मं प्रतिपादयिष्यंस्तदङ्गभूतपात्रप्रतिपादनार्थं तत्प्रशंसामाह—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये ।

तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥ १९८ ॥

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः कल्पादौ तपस्तप्त्वा ध्यानं कृत्वा 'कान्सृजामीति पूर्वं ब्राह्मणान्सृष्टवान् । किमर्थम् ? वेदगुप्तये वेदरक्षणार्थम् । पितृणां देवतानां च तृप्त्यर्थम् । अनुष्ठानोपदेशद्वारेण धर्मसंरक्षणार्थं च । अतस्तेभ्यो दत्तप्रत्त्ययफलं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

भाषा—ब्रह्मा ने (कल्प के आरम्भ में) तपस्या करके (ध्यान करके) वेद की रक्षा के लिये, पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिए तथा (अनुष्ठान एवं उपदेश द्वारा) धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि की ॥ १९८ ॥

सर्वस्य प्रभवो विप्राः श्रुताध्ययनशीलिनः ।

तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥ १९९ ॥

सर्वस्य क्षत्रियदेविप्राः प्रभवः श्रेष्ठा जात्या कर्मणा च । ब्राह्मणैश्च श्रुताध्ययनशीलिनः श्रुताध्ययनसंपन्ना उत्कृष्टाः । तेभ्योऽपि क्रियापरा विहितानुष्ठानशीलाः । तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः वच्यमाणमार्गेण शमदमादियोगेनात्मतत्त्वज्ञाननिरताः, 'श्रेष्ठा' इत्यनुषज्यते ॥ १९९ ॥

भाषा—(क्षत्रिय आदि) सबों में ब्राह्मण (जाति एवं) कर्म से श्रेष्ठ हैं; उनमें भी वैशादि का अध्ययन करने वाले उत्कृष्ट होते हैं; उनसे भी उत्तम विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ अध्यात्मतत्त्व को पूर्णरूप से जानने वाले ब्राह्मण होते हैं ॥ १९९ ॥

एवं जातिविद्यानुष्ठानतपसां प्रशंसामुखेनैकैकयोगेन पात्रतामभिधायाधुना तेषां समुच्चये संपूर्ण पात्रतामाह—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।

यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ २०० ॥

केवलया विद्यया श्रुताध्ययनसंपत्त्या नैव संपूर्णपात्रत्वम् । नापि केवलेन तपसा शमदमादिना । 'अपि' शब्दात्केवलानुष्ठानेन केवलया^१ जात्या वा नैव सम्पूर्णपात्रता । कथं तर्हि ? यत्र पुरुषे वृत्तमनुष्ठानं इमे चोभे विद्यातपसी स्तः च शब्दाद्ब्राह्मणजातिश्च तदेवं मन्वादिभिः सम्पूर्णपात्रं प्रकीर्तितम् । हि यस्मादतः परमुत्कृष्टं पात्रं नास्ति । अत्र जातिविद्यानुष्ठानतपःसमुच्चयानामुत्तरोत्तरप्राशस्त्येन फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २०० ॥

भाषा—केवल (श्रुताध्ययन आदि) विद्या से अथवा केवल (शमदमादि) तपस्या से ही कोई सुपात्र नहीं होता । जिस पुरुष के आचरण में विद्या और तपस्या दोनों ही हों वही श्रेष्ठ पात्र होता है ॥ २०० ॥

सत्पात्रे गवादिदानं देयम्—

गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।

नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥ २०१ ॥

पूर्वोक्ते पात्रे गवादिकमर्चितं शास्त्रोक्तोदकदानादीतिकर्तव्यतासहितं देयम् । अपात्रे क्षत्रियादौ ब्राह्मणे च पतितादौ विदुषा पात्रविशेषेण फलविशेषं जानता श्रेयः सम्पूर्णफलमिच्छता किञ्चिदक्षयमपि न दातव्यम् । श्रेयोग्रहणादपात्रदानेऽपि किमपि^२ तामसं फलमस्तीति सूचितम् । यथाह कृष्णद्वैपायनः (गी० १७।२२)— 'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असकृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥' इति । अपात्रे न दातव्यमिति वदता विशिष्टदेशकालद्रव्यसन्निधौ पात्रस्यासन्निधाने द्रव्यस्य वा तदुद्देशेन त्यागं तस्मै पतिश्रवणं वा कृत्वा समर्पयेत्, नत्वापात्रे दातव्यमिति सूचितम् । तथा प्रतिश्रुतमपि पश्चात्पातकादिसंयोगे ज्ञाते न देयम्, 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' इति निषेधात् ॥ २०१ ॥

भाषा—गाय, भूमि, तिल, सोना आदि पात्र व्यक्ति को ही विधिपूर्वक अर्चना के साथ (दान स्वरूप) देना चाहिए अपने सम्पूर्ण फल की इच्छा करने वाले, (पात्र अपात्र का ज्ञान रखने वाले) विद्वान को अपात्र (क्षत्रियादि एवं पतित ब्राह्मण) को अल्प (दान) भी नहीं देना चाहिए ॥ २०१ ॥

१. योगे पात्रतां । २. केवलजात्या । ३. दकपायादीति । ४. किञ्चित्तामसं ।

अपात्रे दातुर्निषेधमुक्त्वा प्रतिग्रहीतारं प्रत्याह—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।

गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥ २०२ ॥

विद्यातपोभ्यां हीनेन प्रतिग्रहः सुवर्णादिर्न ग्राह्यः । यस्माद्विद्यादिहीनः प्रतिगृह्णन् दातारमात्मानं चाधो नरकं नयति प्रापयतीति ॥ २०२ ॥

भाषा—जो व्यक्ति विद्यासम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नहीं लेना चाहिए । यदि ऐसा (विद्या और तपस्या से हीन) व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक में डालता है ॥ २०२ ॥

गवादि पात्रे दातव्यमित्युक्तं तत्र विशेषमाह—

दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः ।

याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः ॥ २०३ ॥

प्रतिदिवसं शक्यनुसारेण यथोक्तविधिना पात्रे गवादिकं स्वकुटुम्बाविरोधेन दातव्यम् । निमित्तेषु चन्द्रोपरागादिषु विशेषतोऽधिकं यत्नेन दातव्यम् । याचितेनापि श्रद्धापूतमनसूयापवित्रीकृतं शक्या दातव्यम् । 'याचितेनापि दातव्यम्' इति वदता यथोक्तं पात्रं स्वयमेव गत्वा आहूय वा यद्दानं सन्महाफल-मुक्तम् । तथा च स्मरणम्—'गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम् । ग्रहक्षगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्' इति ॥ २०३ ॥

भाषा—(शक्ति के अनुसार) प्रतिदिन (गौ आदि) पात्र को दान देना चाहिए । (चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण जैसे) अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिए । माँगने पर भी (सत्पात्र को) श्रद्धा के साथ यथाशक्ति दान देना चाहिए ॥ २०३ ॥

गवादिकं देयमित्युक्तं तत्र गोदाने विशेषमाह—

हेमशृङ्गी शफै रौप्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता ।

सकांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौः सदक्षिणा ॥ २०४ ॥

हेममये शृङ्गे यस्याः सा हेमशृङ्गी । शफैः खुरैः रौप्यैः राजतैः संयुता वस्त्रेण च संयुता कांस्यपात्रसहिता बहुक्षीरा सुशीला गौर्यथाशक्तिदक्षिणासहिता दातव्या ॥ २०४ ॥

भाषा—सोने से सींग और चांदी से खुर मढ़ाकर, वस्त्र ओढ़ाकर दूध देने वाली सीधी गाय, कांसे के दुग्धपात्र एवं दक्षिणा के साथ दान देना चाहिए ॥ २०४ ॥

१. नैव । २. पूतं च शक्तितः । ३. खुरै रूप्यैः । ४. बहुक्षीरा गौर्यथा ।

गोदानफलमाह—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरात्रोमसंमितान् ।

कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम् ॥ २०५ ॥

अस्या गोः रोमसंमितान् रोमसंख्याकान्वत्सरान्स्वर्गमाप्नोति दाता । सा यदि कपिला तदा न केवलं दातारं तारयति किंतु कुलमपि आसप्तमं सप्तम-
मभिव्याप्य पित्रादीन्षट् आत्मानं च सप्तमम् । अप्यर्थे 'भूयः' शब्दः ॥ २०५ ॥

भाषा—जितने रोएँ (गौ के शरीर में) होते हैं उतने वर्ष तक उस गौ का दाता स्वर्ग प्राप्त करता है । और यदि वह गाय कपिला हो तो वह न केवल दाता को अपितु उसकी सातवीं पीढ़ी तक को तार देती है ॥ २०५ ॥

उभयतोमुखीदानफलम्—

सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम् ।

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना ददत् ॥ २०६ ॥

सवत्सारोमतुल्यानि वत्सेन सह वर्तत इति सवत्सा तस्या रोमतुल्यानि वत्सस्य गोश्च यावन्ति रोमाणि तावत्संख्याकानि युगानि कृतत्रेतादीनि उभयतो-
मुखीं ददत्स्वर्गमाप्नोत्यनुभवति पूर्वेण विधिना दाता चेत् ॥ २०६ ॥

भाषा—पूर्वोक्त विधि से उभयतोमुखी गाय का दान देने वाला व्यक्ति उतने युग तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोएँ गौ और बछड़े के शरीर में मिलाकर होते हैं ॥ २०६ ॥

का पुनरुभयतोमुखी कथं तावत्तद्दानं महाफलमित्यत आह—

यावद्वत्सस्य पादौ द्वौ मुखं योन्यां च दृश्यते ।

तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ २०७ ॥

गर्भाग्निर्गच्छतो वत्सस्य द्वौ पादौ मुखं च यावत्कालं योन्यां दृश्यते तावत्कालं उभयतोमुखमस्या अस्तीत्युभयतोमुखी । यावत्कालं गर्भं न मुञ्चति तावत्सा गौः पृथिवीसमा ज्ञेया । अतः फलातिशयो युक्तः ॥ २०७ ॥

भाषा—(गर्भ से निकलते हुए) बछड़े के दो पैर और मुख जब तक योनि में दिखाई पड़ते हैं (तब तक वह उभयतोमुखी होती है) जब तक गौ बछड़े का प्रसव नहीं करती तब तक (इस स्थिति में) उसे पृथिवी के समान समझना चाहिए ॥ २०७ ॥

सामान्यगोदाने फलम्—

यथाकथञ्चिद्त्वा गां धेनुं वाऽधेनुमेव वा ।

अरोगामपरिक्लिष्टां दाता स्वर्गे महीयते ॥ २०८ ॥

यथाकथञ्चित् हेमशृङ्गायभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनुं दोग्ध्रीं अधेनुं वा अतन्ध्यां अरोगां रोगरहितां अपरिक्लिष्टां अत्यन्तादुर्बलां गां दत्त्वा दाता स्वर्गे महीयते पूज्यते ॥ २०८ ॥

भाषा—जिस किसी प्रकार हो (सोने से सींग और चाँदी से खुर मढ़ाये बिना भी) दूध देने वाली या अतन्ध्या, रोगहीन, और दुर्बल गाय का दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ २०८ ॥

गोदानसमान्याह—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम् ।

पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥ २०९ ॥

श्रान्तस्यासनशयनाविदानेन श्रमापनयनं श्रान्तसंवाहनम् । रोगिणां परिचर्या यथाशक्त्यौषधादिदानेन । सुरार्चनं हरिहरहिरण्यगर्भादीनां गन्धमाख्यादिभिराराधनम् । पादशौचं द्विजानां समानानामधिकानां च । तेषामेवेच्छिष्टस्य संमार्जनम् । एतान्यन्तरोक्तेन गोदानेन समानि ॥ २०९ ॥

भाषा—थके हुए के खेद को (आसन, बिस्तर आदि देकर) दूर करना, रोगी की सेवा, देवताओं की (माला पुष्प आदि से) पूजा, द्विजों का पैर धोना और उनका जूठा साफ करना ये सभी कर्म गोदान के तुल्य होते हैं ॥ २०९ ॥

भूदीपांश्चान्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिः प्रतिश्रयान् ।

नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥ २१० ॥

भूः फलप्रदा । दीपा देवायतनादिषु । प्रतिश्रयः प्रवासिनामाश्रयः । निवेशानार्थं गार्हस्थ्यार्थं यत्कन्या दीयते तन्नैवेशिकम् । स्वर्णं सुवर्णम् । धुर्यो भारसहो बलीवर्दः, शेषं प्रसिद्धम्, एतान्भूदीपादीन्दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते पूज्यते । स्वर्गफलं च भूमिदानादीनां न फलान्तरव्युदासार्थम् । 'यत्किञ्चित्कुरुते पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥' तथा मनुः (४।२२९)—'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखममृत्यममृदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अन-

१. भूदीपाञ्चाश्ववस्त्रा ।

२. नैवेशिकस्वर्णधुर्यान् ।

३. भू-कृषिफलप्रदा ।

४. भारवाहो ।

कुदः श्रियं पुष्टं मोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥' इत्यादिफलान्तरश्रवणात् । गोचर्मलक्षणं च बृहस्पतिना दक्षितम्—'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डं निवर्तनम् । दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गं महीयते ॥' इति ॥ २१० ॥

भाषा—(उर्वर) भूमि, दीपक, अन्न; वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रयस्थान (गृहस्थाश्रम के लिये) कन्या, सोना और भार ढोने वाले बैल का दान देकर दाता स्वर्ग में सम्माननीय स्थान पाता है ॥ २१० ॥

गृहधान्याभयोपानच्छत्रमात्यानुलेपनम् ।

यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत् ॥ २११ ॥

गृहं प्रसिद्धम्, धान्यानि च शालीगोधूमादीनि, अभयं भीतत्राणम्, उपानहौ, छत्रम्, मात्स्यं मल्लिकादेः, अनुलेपनं कुङ्कुमचन्दनानि, यानं रथादि, वृक्षं उपजीव्यमात्रादिकम्, प्रियं यद्यस्य प्रियं धर्मादिकम्, शय्यां च दत्त्वा, अत्यन्तमतिशयेन सुखी भवति । न च हिरण्यादिवद्भस्ते दातुमशक्यत्वोद्धर्मस्य दानासंभवः । भूमिदानादावपि समानत्वात् । स्मृत्यन्तरेऽपि धर्मदानश्रवणात्—'देवतानां गुरुणां च मातापित्रोस्तथैव च । पुण्यं देयं प्रयत्नेन नापुण्यं चोदितं क्वचित् ॥' अपुण्यदाने^१ तदेव वर्धते प्रतिग्रहीतुरपि लोभादिना प्रवृत्तस्य, 'यः पापमबलं ज्ञात्वा प्रतिगृह्णाति दुर्मतिः । गर्हिताचरणात्तस्य पापं तावत्समाश्रयेत् ॥ समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च प्रदातृषु ॥' इति स्मरणात् । इह च सर्वत्र देशकालपात्रविशेषाद्देयविशेषात्—'दाने फलं मया प्रोक्तं हिंसायां तद्देव हि' इति प्रतिग्रहीतृवृत्तिविशेषाच्च दातृप्रतिगृहीत्रोः फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २११ ॥

भाषा—घर, और धान्य का दान, (डरे हुए को) अभयदान, जूता, छाता कुङ्कुमचन्दन आदि लेपन, रथ इत्यादि सवारी, (आम्नादि फल वाले) वृक्ष, अभीष्ट वस्तु तथा शय्या का दान देकर दाता अत्यन्त सुखी होता है ॥ २११ ॥

दानाफलमुक्तमिदानीं दानफलावासिहेतूनाह—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः ।

तद्देवसमवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥ २१२ ॥

यस्मात्सर्वधर्ममयं ब्रह्म अवबोधकत्वेन तस्मात्तद्दानं सर्वदानेभ्योऽप्यधिकं अतस्तद्देवदध्यापन द्वारेण ब्रह्मलोकमवाप्नोति । अविच्युतं व्युतिर्यथा न भवति । आभूतसंप्लवं ब्रह्मलोकेऽवतिष्ठत इत्यर्थः । अत्र च ब्रह्मदाने परस्वत्वापादनमात्रं दानम् ; स्वत्वनिवृत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २१२ ॥

१. धर्मादीनामसंभवः । २. दानेन । ३. प्रबलं ज्ञात्वा । ४. मविच्युतः ।

भाषा—सब धर्मों के ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद का दान सभी दानों से बढ़कर होता है । इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक में अचल होकर सतत निवास करता है ॥ २१२ ॥

^१दाने फलमुक्तम्, इदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावासेर्हेतुमाह—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।

ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान् ॥ २१३ ॥

यः पात्रभूतोऽपि प्राप्तं प्रतिग्रहं स्ववर्णादिकं नादत्ते न स्वीकरोति, अस्ती यद्यप्राप्तं नोपादत्ते तत्तद्दानशीलानां ये लोकास्तान्तात्समग्रानाप्नोति ॥ २१३ ॥

भाषा—जो व्यक्ति दान लेने का पात्र होते हुए भी दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है जो लोक दान देने वाले को मिलते हैं ॥ २१३ ॥

इदानीं सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादमाह—

कुशाः शाकं पयो मत्स्याः गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः ।

मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥ २१४ ॥

धानाः भृष्टा यवाः, क्षितिर्मृत्तिका, शेषं प्रसिद्धम् । एतत् कुशादिकं स्वयमुपानीतं न प्रत्याख्येयम् । चकाराद्गृहादि (मनुः ४।२५०)—‘शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥’ तथा—‘एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः पतिगृही-
यान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥’ (४।२४७) इति मनुस्मरणात् ॥ २१३ ॥

भाषा—कुश, शाक, दूध, मछली, सुगन्धि, फूल, दही, भूमि, मांस, शय्या, आसन, भूने हुए धान, और जल ये सब बिना माँगे ही मिले तो अस्वीकार न करना चाहिए ॥ २१४ ॥

किमिति न प्रत्याख्येयमित्याह—

अयाचितादृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।

अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥ २१५ ॥

यस्मादयाचितमेतत्कुशाद्यादृतं दुष्कृतकारिणोऽपि संबन्धि ग्राह्यं, किमुत यथोक्तकारिणः । तस्मान्न प्रत्याख्येयम् । अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यः शत्रोश्च । कुलात्कुलमदन्तीति कुलटाः स्वैरिण्यादिकाः, षण्डस्तृतीयाप्रकृतिः ॥ २१५ ॥

१. दातुः फलमुक्त्वेदानीं ।

२. अष्टतन्तुलाः ।

३. मध्वाज्यामयः ।

४. षण्ड ।

भाषा—बिना माँगे ही दुराचारी व्यक्ति द्वारा भी लाई हुई (कुरादि) वस्तुएँ ग्रहण करने योग्य होती हैं; किन्तु कुलटाखी, नपुंसक एवं पतित व्यक्ति द्वारा स्वयं लाई गई (ये वस्तुएँ भी) द्विज न ग्रहण करे ॥ २१५ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादान्तरमाह—

देवातिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव वा ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ २१६ ॥

देवातिथ्यर्चनादेरावरयकत्वात्तदर्थम^१नात्मकारणात् । पतिताद्यत्यन्तकुसित-
वर्जं सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् । गुरवो मातापित्रादयः, भृत्याः भरणीयाः
आर्यापुत्रादयः ॥ २१६ ॥

भाषा—देवता और अतिथि की पूजा एवं सत्कार के लिये अथवा
माता पिता आदि गुरुजनों एवं स्त्री पुत्रादि आश्रित जनों के लिए तथा अपनी
वृत्ति के लिए सभी स्थानों से दान लेना विहित है ॥ ११६ ॥

इति दानप्रकरणम् ।

अथ श्राद्धप्रकरणम्

इदानीं श्राद्धप्रकरणमारभ्यते । श्राद्धं नामादनीयस्य तत्स्थानीयस्य वा
द्रव्यस्य प्रेतोद्देशेन श्रद्धया त्यागः । तच्च द्विविधं—पार्वणमेकोद्दिष्टं चेति । तत्र
त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम् । एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम् ।
पुनश्च त्रिविधं—नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति । तत्र नित्यं नियतनिमित्तोपाधौ चोदि-
तमहरहरमावस्याष्टकादिषु । अनियतनिमित्तोपाधौ चोदितं नैमित्तिकं यथा पुत्र-
जन्मादिषु । फलकामनोपाधौ विहितं^२ काम्यं यथा स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादि-
नक्षत्रेषु, तिथिषु च । पुनश्च पञ्चविधम्—‘अहरहः श्राद्धं पार्वणं वृद्धिश्राद्धमे-
कोद्दिष्टं सपिण्डीकरणं चे’ति । तत्राहरःश्राद्धं—‘अन्नं पितृमनुष्येभ्यः’ इत्यादि-
नोक्तम् । तथा च मनुः (३।८२)—‘कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥’ इति ॥

अधुना पार्वणं वृद्धिश्राद्धं च दर्शयिष्यंस्तयोः कालानाह—

अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।

द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिर्विषुर्वत्सूर्यसंक्रमः ॥ २१७ ॥

व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।

श्राद्धं प्रति रुचिश्चैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ॥ २१८ ॥

१. मानापत्कारणात् ।

२. चोदितं ।

३. विषुवः ।

यत्र दिने चन्द्रमा न दृश्यते सा अमावस्या, तस्यामहर्द्वयव्यापिन्याम-
पराह्व्यापिनी ग्राह्या; 'अपराह्वः पितृणाम्' इति वचनात् । अपराह्वश्च
पञ्चधा विभक्ते दिने चतुर्थो भागस्त्रिमुहूर्तः । अष्टकाश्चतस्रः 'हेमन्तशिशिर-
योश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (गृ. सू. २।४।१) इत्याश्वलायनोक्ताः, षृद्धिः
पुत्रजनमादिः, कृष्णपक्षोऽपरपक्षः, अयनद्वयं दक्षिणोत्तरसंज्ञकम्, द्रव्यं 'कृसर-
माषादिकम्, ब्राह्मणसंपत्तिर्वच्यमाणा, विषुवद्वयं मेषतुलयोः सूर्यगमनम्,
सूर्यसंक्रमः आदित्यस्य राशेः राश्यन्तरगमनम्, अयनविषुवतोः संक्रान्तिखे-
सिद्धेऽपि पृथगुपादानं फलातिशयप्रतिपादनार्थम् । व्यतीपातो योगविशेषः ।
गजच्छाया—'यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः । 'यस्यां तिथिर्भवेत्सा
हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ॥' इति परिभाषिता । हस्तिच्छायेति केचित्,
सेह न गृह्यते; कालप्रक्रमात् । ग्रहणं सोमसूर्ययोरुपरागः । यदा च कर्तुः
श्राद्धं प्रति रुचिर्भवति तदापि । चशब्दाद्युगादिप्रभृतयः । एते श्राद्धकालाः ।
यद्यपि—'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्दोषः,
दातुरभ्युदयः ॥ २१७-१८ ॥

भाषा—अमावस्या अष्टका (हेमन्त और शिशिर ऋतु के कृष्णपक्षों
की चारों अष्टमी तिथियों) को, पुत्र जन्म के अवसर पर, कृष्णपक्ष में,
दोनों (उत्तर एवं दक्षिण) अयनों में, द्रव्य (कृसरमाष) ब्राह्मणसंपत्ति,
मेष और तुला राशि पर सूर्यसंक्रमण, सूर्य की दूसरी राशि पर गमन,
व्यतीपात (एक विशेष योग), गजच्छाया, चन्द्रमा और सूर्य ग्रहण के समय
और जब करने की इच्छा हो तब श्राद्ध का काल होता है ॥ २१७-२१८ ॥

अहरहः श्राद्धव्यतिरिक्तवच्यमाणचतुर्विधश्राद्धेषु ब्राह्मणसंपत्तिमाह—

अग्रथः सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियो ब्रह्मविद्युवा ।

वेदार्थावज्ज्येष्ठसामा त्रिमधुस्त्रिसुपर्णकः ॥ २१९ ॥

सर्वेषु वेदेषु ऋग्वेदादिषु अनन्यमनस्कतयाप्यजस्त्रास्त्रलिताध्ययनक्षम
अग्रथः । श्रोत्रियः श्रुताध्ययनसंपन्नः । वक्ष्यमाणं ब्रह्म यो वेत्ति असौ ब्रह्म-
वित् । युवा मध्यमवयस्कः । सर्वस्येदं विशेषणम् । मन्त्रब्राह्मणयोरर्थं वेत्तीति
वेदार्थवित् । ज्येष्ठसाम सामविशेषः, तदध्ययनाङ्गव्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तद-
धीते स ज्येष्ठसामा । त्रिमधुः ऋग्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन तदधीते
इति त्रिमधुः । त्रिसुपर्ण ऋग्यजुषोरेकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदधीते
स त्रिसुपर्णकः । 'एते ब्राह्मणाः श्राद्धसंपद' इति 'वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ २१९ ॥

१. कृष्णसारमांसादि । २. याग्या तिथि तिथिर्वैश्रवणीया (=त्रयोदशी) ।

३. तद्व्ययासी । ४. वक्ष्यमाणक्रियासंबन्धः ।

भाषा—सभी वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने वाले, श्रुताध्ययनसंपन्न, ब्रह्मज्ञानी, युवक, वेद का अर्थ जानने वाले, ज्येष्ठसाम नाम के साममंत्रों का आचरणपूर्वक अध्ययन करने वाले, (ऋग्वेद के) त्रिमधु मन्त्रों को व्रताचरण सहित पढ़ने वाले (ऋग्यजुस् के) त्रिसर्पण मन्त्रों का नियम के साथ पारायण करने वाले ब्राह्मण—॥ २१९ ॥

स्वस्त्रीयऋत्विग्जामातृयाज्यश्वशुरमातुलाः ।

त्रिणाचिकेतदौहित्रशिष्यसंबन्धिवान्धवाः ॥ २२० ॥

स्वस्त्रीयो भागिनेयः, ऋत्विगुक्तलक्षणः, जामाता दुहितुर्भता, त्रिणाचिकेतं यजुर्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदध्यायी स त्रिणाचिकेतः । अन्य-प्रसिद्धम् । एते च पूर्वोक्ताग्र्यश्रोत्रियाद्यभावे वेदितव्याः, 'एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्योः । अनुकल्पस्त्वयं प्रोक्तः सदा सद्भिरगर्हितः ॥' (मनु, ३:१४७) इत्यभिधाय मनुना स्वस्त्रीयादीनामभिहितत्वात् ॥ २२० ॥

भाषा—भागिनेय, ऋत्विज्, दामाद, यजमान, श्वशुर मामा, (यजुर्वेद के) त्रिणाचिकेत का व्रत एवं अध्ययन करने वाले, दौहित्र (कन्या का पुत्र, नाती) शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव— ॥ २२० ॥

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।

पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्रौद्धसंपदः ॥ २२१ ॥

कर्मनिष्ठा विहितानुष्ठानतत्पराः, तपोनिष्ठास्तपःशीलाः, सम्भावसध्यौ त्रेताग्र्यश्च यस्य सन्ति स पञ्चाग्निः, पञ्चाग्निश्चाध्यायी च, ब्रह्मचारी उप-कुर्वाणको नैष्ठिकश्च, पितृमातृपरास्तःपूजापराः, चकारात् ज्ञाननिष्ठादयः । ब्राह्मणाः न क्षत्रियादयः । श्रौद्धसंपदः श्राद्धेष्वक्षय्यफलसंपत्तिहेतवः ॥ २२१ ॥

भाषा—कर्मनिष्ठ (विहित अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले), तपस्वी, पञ्चाग्नि का आधान करने वाले, ब्रह्मचारी, पिता-माता की सेवा करने वाले ब्राह्मण श्राद्ध में अक्षय फल के हेतु होते हैं (क्षत्रिय आदि नहीं) ॥ २२१ ॥

वर्ज्यानाह—

रोगी ह्रीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ।

अवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखौ श्यावदन्तकः ॥ २२२ ॥

रोगी महारोगोपपृष्टः, हीनमतिरिक्तं वाऽङ्गं यस्यासौ ह्रीनातिरिक्ताङ्गः, एके-नाक्षणा यो न पश्यति स काणः, एतस्मादेवान्धबधिरविद्ध^३प्रजनन^४खलतिदुष्कर्म-

१. ज्ञान । २. श्रौद्धसंपदे (= श्राद्धस्य संपदे समृद्धये) । ३. वृद्धप्रजनन । ४. खलतिर्निष्केशशिराः खलवादः ।

प्रभृतयो निरस्ताः । पुनर्भूकलक्षणा, तस्यां जातः पौनर्भवः, अवकीर्णं ब्रह्मचर्यं एव स्खलितब्रह्मचर्यः, कुण्डगोलौ—‘परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥’ (मनुः ३।१७४) इत्येवमुक्तलक्षणकौ, कुनखी ^१‘कुस्तिनखः’, श्यावदन्तकः स्वभावात्कृष्णदशनः । ‘एते श्राद्धे निन्दिताः’ इति वचनमात्रेण संबन्धः ॥ २२२ ॥

भाषा—रोगी, अश्वहीन या बड़े हुए अंग वाला, काना, पुनर्भू (द्वारा व्याही गई स्त्री) का पुत्र, स्खलितब्रह्मचर्य, कुण्ड (पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न) पुत्र, गोलक (पति के मरने पर दूसरे पुरुष से उत्पन्न) पुत्र, भड़े नाखनों वाला, काले दाँतों वाला, ॥ २२२ ॥

भृतकाध्यापकः क्लीबः कन्यादूष्यभिशस्तकः ।

मित्रधुक् पिशुनः सोमविक्रयी परिविन्दकः ॥ २२३ ॥

वेतनग्रहणेन योऽध्यापयति स भृतकाध्यापकः, वेतनदानेन च योऽधीते सोऽपि, क्लीबो नपुंसकः, असद्भिः सद्भिर्वा दोषैर्यः कन्यां दूषयति स कन्या-दूषी, सताऽसता वा ब्रह्महत्यादिनाभियुक्तोऽभिशस्तः । मित्रधुक् मित्रद्रोही, परदोषसंकीर्तनशीलः पिशुनः, सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता, परिविन्दकः परिवेत्ता, ज्येष्ठेऽकृतदारेऽकृताग्निपरिग्रहे वा यः कनीयान्दारपरिग्रहमग्निपरिग्रहं वा कुर्यात्स परिवेत्तः । ज्येष्ठस्तु परिवित्तिः । यथाह मनुः (३।१७१)—‘दाराग्निहोत्रसंयोगं यः करोत्यग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥’ इति । एवं दातृ-याजकावपि—‘परिवित्तिः परिवेत्ता यथा च परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥’ इति (३।१७२) मनु-वचनात् ॥ २२३ ॥

भाषा—वेतन लेकर पढ़ाने वाला, नपुंसक, कन्या पर झूठे या सही दोष लगाने वाला, ब्रह्महत्यादि के पाप से अभिशस्त, मित्रद्रोही, चुगलखोर, सोमलता का विक्रय करने वाला, बड़े भाई के अविवाहित रहते विवाह करने वाला ॥ २२३ ॥

मातापितृगुरुत्यागी कुण्डाशी वृषलात्मजः ।

परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः ॥ २२४ ॥

विना कारणेन मातापितृगुरून् यस्यजति स मातापितृगुरुत्यागी । एवं भार्यासुतत्याग्यपि, ‘वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्य-

१. संकुचितनखः ।
दोषश्रवणात् ।

२. कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
३. मातृपितृ, मातापित्रोर्गुरोः ।

३. इति समान-

कार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥' (मनुः ११।१०) इति समाननिर्देशात् कुण्डस्यान्नं योऽश्नात्यसौ कुण्डाशी, एवं गोलकस्यापि; 'यस्तयोरन्नमश्नाति सा कुण्डाशी प्रकीर्तितः' इति वचनात् । वृषलो निर्धर्मस्तस्मिन् वृषलात्मजः, पर-पूर्वा पुनर्भूः, तस्याः पतिः, भदत्तादायी स्तेनः, कर्मदुष्टाः शास्त्रविरुद्धकारिणः । चकारारिक्तवदेवलकप्रभृतयः । एते श्राद्धे निन्दिताः प्रतिषिद्धाः । 'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु' (आ. २१७) इत्यादिना श्राद्धयोग्यब्राह्मणप्रतिपादनेनैव तद्व्यतिरिक्तानामयोग्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः केषांचिद्योग्यादीनां प्रतिषेधवचनमुक्त-ब्रह्मणब्राह्मणासंभवे प्रतिषेधरहितानां प्राप्त्यर्थम् ॥ २२४ ॥

भाषा—अकारण माता, पिता और गुरु का त्याग करने वाला, कुण्डे भर अन्न खाने वाला, अधर्मी का पुत्र, पुनर्भू का पति, न दी हुई वस्तु को ग्रहण करने वाला चोर, और शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाला—ये सभी श्राद्धकर्म में निषिद्ध होते हैं ॥ २२४ ॥

एवं श्राद्धकालान्ब्राह्मणांश्चोक्त्वाऽधुना पार्वणप्रयोगमाह—

निमन्त्रयेत् पूर्वद्युर्ब्राह्मणानात्मवाञ्छुचिः ।

तैश्चापि संयतैर्भान्यं मनोवाक्यायकर्मभिः ॥ २२५ ॥

पूर्वोक्तान्ब्राह्मणान् 'श्राद्धे 'क्षणः क्रियताम्' इति पूर्वेषुनिमन्त्रयेत् प्रार्थनया क्षणमभ्युपगमयेत् । अपरेद्युर्वा; 'पूर्वद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्रयेत् त्र्यवरान्सभ्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥' इति (३।१८७) मनुस्मरणात् । आत्मवान् शोकोन्मादादिरहितश्चेत् दोषवाञ्छ भवति । यद्वा,—आत्मवाञ्छयितेन्द्रियो भवेत् । शुचिः प्रयतश्च । तैरपि निमन्त्रितैर्ब्राह्मणैः । मनोवाक्यायव्यापारैः संयतैर्नियतैर्भवितव्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—(श्राद्ध के) पहले दिन स्वस्थ मन एवं पवित्र होकर (पूर्वोक्त प्रकार के) ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे । उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को भी मन, वाणी, शरीर एवं कर्म से पवित्रता रखनी चाहिये ॥ २२५ ॥

अपराह्णे समभ्यर्च्य स्वागतेर्नागतांस्तु तान् ।

पवित्रपाणिराचान्तानासनैषूपवेशयेत् ॥ २२६ ॥

अपरा उत्कलक्षणे समभ्यर्च्य तान्निमन्त्रितान्ब्राह्मणानाहूय स्वागतवचनेन पूजयित्वा कृतपादधावनाचान्तान् क्लृप्तेष्वासनेषु पवित्रपाणिः पवित्रपाणीनुपवेशयेत् । यद्यप्यत्र सामान्येन 'अपराह्णे' इत्युक्तं, तथापि कुतपे प्रारभ्य तदादि पञ्चमुहूर्तेषु परिसमापनं श्रेयस्करम्, 'अहो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च

सर्वदा । तत्राष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः ॥ मध्याह्ने सर्वदा यस्मान्मन्दीभवति भास्करः । तस्मादनन्तफलदस्तत्रारम्भो विशिष्यते ॥ ऊर्ध्वं मुहूर्ताकुतपाद्यन्मुहूर्तचतुष्टयम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतरस्वधाभवनमिष्यते ॥' (मात्स्य. २२।८४-८५, ८८) इति वचानात् । तथान्यदपि श्राद्धोपयोगि कुतपसंज्ञक-मुक्तम्, 'मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलः । रौप्यं दर्भास्तिला गावो दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः ॥ पापं कुत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः । अष्टावेते यतस्तस्मात्कुतपा इति विश्रुताः ॥' (मात्स्य. २२।८६-८७) इति ॥ २२६ ॥

भाषा—उन आये हुए ब्राह्मणों की अपराह्न के समय स्वागत वचन द्वारा अर्चना करके (अपने) हाथों को शुद्ध करके उन्हें आचमन कराकर आसनों पर बैठावे ॥ २२६ ॥

युग्मान्दैवे यथाशक्ति पित्र्येऽयुग्मांस्तथैव च ।

परिस्तृते शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे तथा ॥ २२७ ॥

दैवे आभ्युदयिके श्राद्धे युग्मान् समान्ब्राह्मणानुपवेशयेत् । कथम् ? यथा-शक्ति शक्तिमनतिक्रम्य । तत्र वैश्वदेवे द्वौ द्वौ, मात्रादीनां तिसृणामेकैकस्या द्वौ द्वौ, तिसृणां वा द्वौ । एवं पित्रादीनामेकैकस्य द्वौ द्वौ, त्रयाणां वा द्वौ । एवं मातामहादीनां च वर्गत्रयेऽपि वैश्वदेवं पृथक्, तन्त्रं वा । पित्र्ये पार्वणश्राद्धे अयुग्मान् विषमानुपवेशयेदिति संबध्यते । एतच्च परिस्तृते सर्वतः प्रच्छादिते शुचौ गोमयादिनोपलिप्ते दक्षिणाप्रवणे दक्षिणतोऽवनते देशे कार्यम् ॥ २२७ ॥

भाषा—दैव (आभ्युदयिक) श्राद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार सम संख्यावाले और पित्र्य अर्थात् पार्वण श्राद्ध में विषम संख्या में ब्राह्मणों को चारों ओर से आसनों द्वारा ढके हुए (गोबर आदि से लीप कर) पवित्र किए गये, और दक्षिण की ओर झुके हुए स्थान पर बैठावे ॥ २२७ ॥

'अयुग्मान्पित्र्ये' (श्रौ. २२७) इति पार्वणश्राद्धाङ्गभूते वैश्वदेवेऽप्ययुग्मप्रसङ्गे हृदमारभ्यते—

द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा ।

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ २२८ ॥

द्वौ दैव इति । दैवे वैश्वदेवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राङ्मुखानुपवेश्यौ । पित्र्ये अयुग्मानित्यविशेषप्रसङ्गे विशेष उच्यते—त्रयः पित्र्ये इति । पित्र्ये पित्रादिस्थाने त्रय उदङ्मुखानुपवेश्याः । पक्षान्तरमाह—एकैकमेव वा । वैश्वदेवे पित्र्ये च एकमे-

-
१. पित्र्ये युग्मान् ।
 २. परिश्रिते (= काण्डपटादिना परिवृते) ।
 ३. प्रजतु पित्र्ये त्रीन् ।

कमुपवेशयेत् । संभवतो विकल्पः । मातामहानामप्येवं श्राद्धे निमन्त्रणादि ।
द्वौ देवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वेत्येव मतं पितृश्राद्धवत्कर्तव्यम् । पितृश्राद्धे
मातामहश्राद्धे च वैश्वदेविकं पृथक् तन्त्रेण वा कर्तव्यम् । 'तन्त्र'शब्दः समुदाय-
वाचकः । यदा तु द्वावेव ब्राह्मणौ लब्धौ तदा तु वैश्वदेवे पात्रं प्रकल्प्य उभय-
त्रैकैकं ब्राह्मणं नियुज्यात् । यथाह वसिष्ठः (११३०, ३१)—'यद्येकं भोजये-
च्छ्राद्धे दैवं तत्र कथं भवेत् । अन्नं पात्रे समुदृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवता-
यतने कृत्वा ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नं तदग्नौ तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥'
इति ॥ २२८ ॥

भाषा—दो ब्राह्मणों को विश्वदेवों की ओर पूर्वदिशा में मुख कराके,
पित्रादिस्थान में विषम संख्या वाले ब्राह्मणों को उत्तर की ओर मुख कराके
अथवा वैश्वदेव एवं पित्र्यस्थान में एक-एक ब्राह्मण को बैठावे । मातामह के श्राद्ध में
भी ऐसा ही करे अथवा वैश्वदेविक पृथक् तन्त्र से करे ॥ २२८ ॥

पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशानपि ।

आवाहयेदनुज्ञातो विश्वे देवास इत्यृचा ॥ २२९ ॥

तदनन्तरं वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणस्ते जलं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशांश्च युग्मान्
द्विगुणितानासने दक्षिणतो दत्त्वा 'विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान्
पृष्ट्वा तैः 'आवाहत' इत्यनुज्ञातो 'विश्वे देवास आगत' (ऋ. ४।८।१५)
इत्यनयर्चा 'आगच्छन्तु महाभागाः' इत्यनेन च स्मार्तैः मन्त्रेण तानावाहयेत् ।
एतच्च यज्ञोपवीतिना^१ प्रदक्षिणं च कार्यम्, 'अपसव्यं सतः कृत्वा पितृणामप्र-
दक्षिणम्' (आ. २३२) इति पित्र्ये विशेषस्मरणात् ॥ २२९ ॥

भाषा—तब (विश्वदेव के लिये) ब्राह्मण को हाथ धोने के लिये जल
देकर) बैठने के लिये (जोड़ा) कुश देकर, उनकी आज्ञा से 'विश्वेदेवास आगत'
इत्यादि ऋचा द्वारा (और आगच्छन्तु महाभागाः स्मार्त मन्त्र से) उनका
आवाहन करे ॥ २२९ ॥

यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके ।

शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा ॥ २३० ॥

या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वर्घ्यं विनिक्षिपेत् ।

ततो^२ वैश्वदेवार्थंब्राह्मणसमीपे भूमिं प्रादक्षिण्येन यवैरन्ववकीर्य अनन्तरं
तैजसादिभाजने सपवित्रके कुशयुग्मान्तर्हिते 'शं नो देवीरभिष्टय' (ऋ. ७।६।
५।४) इत्यनयर्चापः क्षिप्त्वा 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण

यवान् ततो गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वाऽनन्तरं अर्घ्यपात्रपवित्रान्तर्हिते ब्राह्मण-
हस्ते 'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादिना मन्त्रेण विश्वेदेवा इदं वोऽर्घ्यं' इत्य-
र्घ्योदकं विनिक्षिपेत् ॥ २३० ॥

भाषा—तब (वैश्वदेव के लिये) ब्राह्मणों के निकट भूमि पर जौ बिखेर
कर पवित्र (दो कुश) से युक्त दो पात्रों में 'शंनो देवीरभिष्टये' इत्यादि
मंत्र के साथ जल डालकर 'यवोऽसि धान्यराजो वा' इत्यादि मन्त्र से यव डाले
(तब उसमें गन्ध, पुष्प डालकर) ॥ २३० ॥

दत्त्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ॥ २३१ ॥

तथाच्छादनदानं च करशौचार्थमम्बु च ।

अथ करशौचार्थमुदकं दत्त्वा यमाक्रमं गन्धपुष्पधूपदीपदानं कुर्यात्,
तथाच्छादनदानं च । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः—'चन्दन-
कुङ्कुमकूर्पूरागरुपद्मान्युपलेपनार्थम्' इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पाणि च—'आढे
जात्यः द्रव्यस्ताः स्युर्मल्लिका श्वेतयूथिका । जलोद्भवानि सर्वाणि कुसुमानि च
अम्पकम् ॥' इत्युक्तानि । वज्र्यानि च—'उग्रगन्धीन्यगन्धीनि चैत्यवृक्षोद्भवानि
च । पुष्पाणि वज्रनीयानि रक्तवर्णानि यानि च ॥', 'न कण्टकिजम् । 'कण्टकिज-
मपि शुक्लं सुगन्धि यत्तद्दद्यात्, न रक्तं दद्यात्, रक्तमपि कुङ्कुमजं जलजं च
दद्यात्' (विष्णु. अ. ६६) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि । धूपे च विशेषो विष्णुनोक्तः—
'प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थं न दद्यात् । घृतमधुसंयुक्तं गुग्गुलुं श्रीखण्डागरुदेवदारुसरलादि
दद्यात्' इति । दीपे च विशेषः शङ्खेनोक्तः—'घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा
पुनः । वसामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' इति । आच्छादनं च शुभ्रं नव-
महतं सदृशं दद्यादिति । एतच्च सर्वं वैश्वदेवानुष्ठानकाण्डमुदङ्मुखः कुर्यात् ।
पित्र्यं काण्डं दक्षिणामुखः । यथाह वृद्धशातातपः—'उदङ्मुखस्तु देवानां पितॄणां
दक्षिणामुखः । प्रदद्यात्पार्वणे सर्वं देवपूर्वं विधानतः ॥' इति ॥ २३१ ॥

भाषा—'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादि मंत्र को कहते हुए ब्राह्मणों के
हाथों पर अर्घ्य गिरावे । तदुपरान्त (हाथ धोने के लिए) जल देकर क्रमशः
गन्ध, पुष्प, धूप, दीप दे ॥ २३१ ॥

अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ॥ २३२ ॥

द्विगुणांस्तु कुशान्दत्त्वा ह्युशन्तस्त्वेतृचा पितॄन् ।

आघाह्य तदनुज्ञातो जपेदायन्तु नस्ततः ॥ २३३ ॥

ततो वैश्वदेवकाण्डानन्तरम् । अपसव्यं यज्ञोपवीतं प्राचीनावीतं कृत्वा ।
अत्र तत इति वदता काण्डानुसमयो दर्शितः । पित्रादीनां त्रयाणामयुग्मान्कु-

शान्द्विगुणभुग्नान् अप्रदक्षिणं वामतो विष्टरार्थमासनेषुदकपूर्वकं दत्त्वा पुनरुदकं दद्यात् ; 'अपः प्रदाय 'दर्भाद्विगुणभुग्नमासनं प्रदायापः प्रदाय' (गृ. सू. ४।७, ५, ६, ७) इत्याश्वलायनस्मरणात् । एतच्चाद्यन्तयोरुदकदानं वैश्वदेवे पिष्ये च प्रतिवदार्थं प्रतिपादनार्थं द्रष्टव्यम् । अथ 'पितॄन् पितामहान् प्रपितामहानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान्पृष्ट्वा 'आवाहय' इति तैरनुज्ञातः 'उशन्तस्त्वा निधीमहि' (ऋ. ७।१।२२।२) इत्यनयर्चा पित्रादीनावाह्य 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादिना मन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—इसके बाद आच्छादन के लिये वस्त्र और फिर हाथ धोने के लिये जल देना चाहिए । (वैश्वदेव के बाद) यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर करके, पितरों को बाई ओर से दोहरे कुश देकर 'उशन्तस्त्वा निधीमहि' ऋचा से पितरों का आवाहन करके ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ २३२-२३३ ॥

(अपहृता इति तिलान्विकीर्य च समन्ततः)

यवार्थस्तु तिलैः कार्याः कुर्यादध्यादि पूर्ववत् ॥ २३४ ॥

दत्त्वाध्वं संस्त्रवांस्तेषां पात्रे कृत्वा विधानतः ।

पितृभ्यः स्थानमसीति न्युञ्जं पात्रं करोत्यधः ॥ २३५ ॥

यवार्था यवसाध्यानि कार्याण्यवकिरणादीनि तिलैः कर्तव्यानि । ततोऽध्वं-पात्रासादनाच्छादनान्तं पूर्ववत्कुर्यात् । तत्रायं विशेषः—'तिलान् 'अपहृता असुरा रक्षांसि' इत्यादिना मन्त्रेण ब्राह्मणान्पितोऽप्रदक्षिणमन्त्रवकीर्य राजतादिषु पात्रेषु त्रिष्वयुग्मकुशनिर्मितकूर्चान्तेषु 'शं नो देवीः' इति मन्त्रेणापः क्षिप्त्वा 'तिलोऽसि सोमदैवत्य' इत्यादिमन्त्रेण तिलान् गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वा 'स्वधाध्याः' इति ब्राह्मणानां पुरतोऽध्वंपात्राणि स्थापयित्वा 'या दिव्या' इति मन्त्रान्ते 'पितरिदं तेऽध्वं पितामहेदं तेऽध्वं प्रपितामहेदं तेऽध्वम्' इति ब्राह्मणानां हस्तेऽध्वं दद्यात् । 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्नपि पक्षे पात्रत्रयं कार्यम् । एवमध्वं दत्त्वा तेषामध्याणां संस्त्रवान्ब्राह्मणहस्तगलिताघोदकानि ^३पितृपात्रे गृहीत्वा दक्षिणाग्रं कुशस्तम्बं भूमौ निधाय तस्योपरि 'पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यनेन मन्त्रेण तत्पात्रं न्युञ्जमवोमुखं कुर्यात् । तस्योपरि अध्वंपात्रपवित्राणि निदध्यात् । अनन्तरं गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानि 'पितरयं ते गन्धः, पितरिदं ते पुष्पम्' इत्यादिना प्रयोगेण दद्यात् ॥ २३४-२३५ ॥

१. द्विकृणभुग्नान्कुशान्दध्यापः ।

२. यवार्थस्तु तिलैः कार्यः ।

३. पात्रे प्रथमे गृहीत्वा ।

भाषा—‘अपहता अग्निरा रक्षांसि’ इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए चारों ओर तिल बिखेरे । इस समय (पहले) यव से किये जाने वाले सभी कर्म तिल द्वारा करने चाहिये और अर्घ्य इत्यादि पूर्वोक्त विधि से ही करना चाहिए (ब्राह्मणों के हाथ में) अर्घ्य देकर (उनके हाथ से) गिरते हुए जल को विधिपूर्वक पितृ पात्र में रोप कर उस पात्र को पितृभ्यः स्थानमसि’ इत्यादि मन्त्र से उलटाकर दे (और उसके ऊपर अर्घ्यपात्र एवं कुशका पवित्र रखें ॥ २३४-२३५ ॥

अग्नौकरणमाह द्वाभ्याम्—

अग्नौ करिष्यन्नादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम् ।

कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो हुत्वाग्नौ पितृत्यज्ञवत् ॥ २३६ ॥

हुतशेषं प्रदद्यात्तु भाजनेषु समाहितः ।

यथालाभोपपन्नेषु रौप्येषु च विशेषतः ॥ २३७ ॥

अनन्तरमग्नौ करिष्यन्घृतप्लुतं घृताक्तमन्नमादाय ब्राह्मणान् पृच्छेत् ‘अग्नौ करिष्ये’ इति । ‘घृत’ ग्रहणं सूपशकादिनिवृत्त्यर्थम् । ततस्तैः कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातः प्राचीनैवीती शुद्धमन्नमुपसमाधाय मेक्षणनादायावदाकसंपत्ता जुहुयात् ‘सोमाय पितृमते स्वधा नमः, अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः’ इति पिण्डपितृत्यज्ञ-कल्पेन अग्नौ हुत्वा मेक्षणमनुग्रह्य हुतशेषं मृन्मयवर्जं यथालाभोपपन्नेषु विशेषतो रौप्येषु पित्रादिभाजनेषु दद्यात्, न वैश्वदेवभाजनेषु । समाहितोऽनन्यमनस्कः । अत्र यद्यप्यग्नावित्यविशेषेणोक्तं तथाप्याहिताग्नेः सर्वाधानपक्षे औपासनाग्नेरभावात् पिण्डपितृत्यज्ञानन्तरभाविनि पार्वणश्राद्धे विहृतदक्षिणाग्नेः संविधानाद्विज्ञाग्नौ होमः ‘कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ’ इत्यस्यापवाददर्शनात् । यथाह मार्कण्डेयः—‘आहिताग्निस्तु जुहुयाद्विज्ञाग्नौ समाहितः । अनाहिताग्नि-स्त्वौपासनेऽन्यभावे द्विजेऽप्यु वा ॥’ इति । अर्धाधानपक्षे त्वौपासनाग्निसद्भावा-दाहिताग्नेनाहिताग्नेरिवौपासनाग्नौकरणहोमः । एवमन्वष्टकादिषु त्रिष्वपि पिण्डपितृत्यज्ञकल्पेतिदेशात् । काम्यादिषु चतुर्षु ब्राह्मणपाणावेव होमः । यथाहु-गृह्यकाराः—‘अन्वष्टक्यं च पूर्वेष्वर्मासि मास्यथ पार्वणम् । काम्यमभ्युदयेऽष्टम्या-मेकोद्विष्टमथाष्टमम् ॥ चतुर्वाद्येषु साग्नीनां वह्नौ होमो विधीयते । पित्र्यब्राह्मणहस्ते स्यादुत्तरेषु चतुर्ष्वपि ॥’ अस्यार्थः—हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमी-ष्वष्टकाः’ (भाश्च. गृ. सू. २।४।१) इत्यष्टका विहिताः । तत्र नक्षत्राणां यत्क्रियते

१. करिष्य आदाय । २. तु । ३. वीतीधमुप- । वीथ्यग्निमुप- ।
४. विहित । ५. त्वौपासनेऽन्यभावे । ६. अग्नौपासना । ७. कल्पे-
नेति निदेशात् ।

तदन्वष्टव्यम् । सप्तम्यां तु क्रियमाणं पूर्वेषु । मासि मासि कृष्णपक्षे पञ्चमीप्रभृ-
तिषु यस्यां कस्यांचित्तिथावन्वष्टव्यातिदेशेन यद्विहितम् । अमावास्यायां पिण्ड-
पितृयज्ञानन्तरं यद्विहितं तत्पार्वणम् । स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादिनक्षत्रेषु यद्वि-
हितं तत्काश्यम् । अभ्युदयेषु पुत्रोत्पत्त्यादिषु तडागारामदेवताप्रतिष्ठादिषु च
यद्विहितं तदाभ्युदयिकम् । अष्टम्यां अष्टका विहिताः । एकोद्दिष्टम् । अत्रैकोद्दिष्ट-
शब्देन सपिण्डीकरणं लक्ष्यते, तत्रैकोद्दिष्टस्यापि सद्भावात्, साक्षादेकोद्दिष्टे
तदभावात् । अथवा,—गृह्यभाष्यकारमते साक्षादेकोद्दिष्टेऽपि पाणिहोमस्य सद्भावा-
त्साक्षादेकोद्दिष्टमेव । एतेषामष्टानामाद्येषु चतुर्थं साम्निकस्याग्नौ होमः । उत्तरेषु
चतुर्थं पित्र्यब्राह्मणहस्ते एव । निरग्निकस्यापि प्रमीतपितृकस्य द्विजस्य पार्वणं
निरग्नमिति तस्यापि पाणावेव होमः, 'न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः ।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्तीयते तु सः ॥' इति वचनात् । एवं काम्याभ्यु-
दयिकाष्टकैकोद्दिष्टेषु पाणावेव होमः—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्'
इति (४।५।१२) मनुस्मरणात् । पाणिदत्तस्य पृथग्भासप्रतिषेधं उच्यते । यथाहु-
गृह्यकाराः—'अन्नं पाणितले दत्तं पृथगश्ननस्यबुद्धयः । पितरस्तेन तृप्यन्ति शेषास्तं
न लभन्ति ते ॥ यच्च पाणितले दत्तं यच्चान्यदुपकल्पितम् । एकीभावेन भोक्तव्यं
पृथग्भावो न विद्यते' इति ॥ २३६-२३७ ॥

भाषा—अग्नौकरण के लिये घी से सना हुआ अन्न लेकर (ब्राह्मणों से
अग्नौकरण के लिए) आज्ञा माँगे, 'करो' ऐसा (ब्राह्मणों द्वारा) आदेश
पाकर पितृयज्ञ के समान (उसका) अग्नि में हवन करे । हवन से अवशिष्ट
(घृताद्र् अन्न) को एकप्रचित्त होकर पितृपात्रों में रखे (वैश्वदेव पात्र में
नहीं) जो आपनों सामर्थ्य के अनुसार चाँदी के बनवाये गये हो (मिट्टी के
नहीं) ॥ २३६-२३७ ॥

उन्ननिवेदनम्—

दत्त्वान्नं पृथिवीपात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम् ।

कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत् ॥ २३८ ॥

अन्नमोदनसूपपायसघृतादिकं भाजनेषु दत्त्वा^१ 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादिना
मन्त्रेण पात्राभिमन्त्रणं कृत्वा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ. १।२।७।२)
इत्यनयर्चा अन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत् । तत्र च वैश्वदेवे यज्ञोपवीती 'विष्णो
हव्यं रत्न' इति । पित्र्ये प्राचीनावीती 'विष्णो कव्यं रत्न' इति, 'विष्णो हव्यं च
कव्यं च ब्रूयाच्चेति वै क्रमात्' इति मनुस्मरणात् ॥ २३८ ॥

१. लक्षयति । २. सद्भावादेको । ३. प्रतिषेधश्च दृश्यते । ४. पूर्वमभ्युदयबु ।
५. पात्रानुमन्त्रणम् । १. कृत्वा ।

भाषा—(चावल, सूप, खीर, घी आदि) अन्न पात्रों में रख कर 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादि मंत्र से पात्रों को अभिमन्त्रित करे और 'इदं विष्णुर्विक्रमे' आदि मन्त्र पढ़ता हुआ (उस अन्न में) ब्राह्मण का अंगूठा डलवावे ॥ २३८ ॥

सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति तृचम् ।

जप्त्वा यथासुखं वाच्यं भुञ्जीरस्तेऽपि वाग्यताः ॥ २३९ ॥

अनन्तरं 'विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं परिविष्टं परिवेद्यमाणं चातृप्तेः' इति यवो-
दकेन दैवे निवेद्य, तथा पित्रे 'अमुकगोत्रायामुकशर्मणे इदमन्नं परिविष्टं परिवेद्य-
माणं चातृप्तेः' इति तिलोदकप्रदानेन पित्रे निवेद्य, एवं पितामहाय प्रपिताम-
हाय च निवेद्यानन्तरमापोशनं दत्त्वा पूर्वोक्ताभिर्व्याहृतिभिः सहितां गायत्रीं
'मधु वाता' (ऋ. १।५।१८) इति तृचं मधु मधु मध्विति त्रिवारं जप्त्वा
'यथासुखं जुषध्वम्' इति ब्रूयात्, 'संकल्प्य पितृदेवेभ्यः सावित्रीं मधुमज्जपः ।
आदधं निवेद्यापोशनं जुषप्रैषोऽथ भोजनम् ॥' तथा—'गायत्रीं त्रिः सकृद्वापि
जपेद्ब्रह्माहृतिपूर्विकम् । मधु वाता इति तृचं मध्वित्येतस्त्रिकं तथा ॥' इति
पारस्करादिवचनात् । भुञ्जीरस्तेऽपि वाग्यताः । तेऽपि ब्राह्मणा वाग्यता
मौनिनो भुञ्जीरन् ॥ २३९ ॥

भाषा—व्याहृतियों के साथ गायत्री का और मधुवाता' आदि तृच का
जप करके आप लोग आनन्दपूर्वक भोजन करे ऐसा कहे और वे (ब्राह्मण) भी
मौन होकर (भोजन करे) ॥ २३९ ॥

अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्यादक्रोधनोऽत्वरः ।

आ तृप्तेस्तु पवित्राणि जप्त्वा पूर्वजपं तथा ॥ २४० ॥

अन्नं भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य-पेयात्मकं पञ्चविधं इष्टं यद्ब्राह्मणाय प्रेताय कर्त्रे
चा रोचते । हविष्यं आहुहविर्योग्यं ब्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्नकालशाक-
महाशाकैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुगुडशर्कराकर्पूरसैन्धवसांभरपनसनालिकेरकदलीबदर-
गव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांसप्रभृति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं वेदितव्यम् । 'हविष्यं'
इत्यनेनैवायोग्यस्य स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धस्य क्रोद्रवमसूरचणककुलित्थपुलाकनिष्पा-
वराजभाषकूष्माण्डवार्तिक' बृहतीद्वयोपोदकीवंशाङ्कुरपिप्पलीवचाशतपुष्पोषधिविड-
लवणम्राहिषचामरक्षीरदधिघृतपायसादीनां निवृत्तिः । सक्रोधनः क्रोधहेतुसंभ-
वेऽपि । अत्वरोऽप्यग्रश्च । आ तृप्तेर्दद्यादिति संबन्धः । 'तु' शब्दाद्यथा किंचिदुच्छि-
ष्यते तथा दद्यात्, उच्छेषणस्य दासवर्गभागधेयत्वात्, 'उच्छेषणं भूमिगतमजि-
ह्वस्याशठस्य च । दासवर्गस्य तत्पिप्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥' इति (३।२४६)

मनुस्मरणात् । तथा आ तृप्तेः पवित्राणि पुरुषसूक्तपाठमूर्धन्यप्रभृतीनि जप्त्वा तृप्तान् ज्ञात्वा पूर्वोक्तं जपं च सव्याहृतिकामित्युक्तं जपेत् ॥ २४० ॥

भाषा—जो अन्न (भोजन) और हविष्य ब्राह्मणों को रुचे उसे (क्रोध का अवसर आने पर भी) क्रोधरहित एवं धैर्ययुक्त होकर देना चाहिए । जब तक वे तृप्त न हो जाय तब तक (पुरुष सूक्त पाठमानी इत्यादि का) जप करे और (वे तृप्तिपूर्वक भोजन कर ले तो) व्याहृतियों सहित पूर्वोक्त जप करे ॥ २४० ॥

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शेषं चैवानुमान्य च ।

तदन्नं विकिरेद्भूमौ दद्याद्वापः सकृत्सकृत् ॥ २४१ ॥

अनन्तरं सर्वमन्नमादाय 'तृप्ताः स्थ' इति तान् पृष्ट्वा 'तृप्ताः स्म' इति तैरुक्तः 'शेषमप्यस्ति किं क्रियताम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टैः सतोपभुज्यताम्' इत्यभ्युपगम्य तदन्नं पितृस्थानब्राह्मणस्य पुरस्तादुच्छिष्टसंनिधौ दक्षिणाप्रदर्भान्तरितायां भूमौ तिलोदकप्रक्षेपपूर्वकं—'ये अग्निदग्धा' इत्यनयर्चा निक्षिप्य पुनस्तिलोदकं प्रक्षिपेत् । तदनन्तरं ब्राह्मणहस्तेषु पिण्डप्रदानम्—गण्डूषार्थं सकृत्सकृदपो दद्यात् ॥ २४१ ॥

भाषा—तब सभी अन्न लेकर (उन ब्राह्मणों से) 'आप लोग तृप्त हुए' ऐसा पूछकर ('हम तृप्त हैं, ऐसा उत्तर पाने पर), शेष के विषय में भी इसी प्रकार आज्ञा लेकर ('जो शेष बचा है उसे क्या करें' ऐसा पूछने पर 'प्रियजनों के साथ ग्रहण करो' ऐसी आज्ञा लेकर) उस अन्न को पृथ्वी पर गिरा दे और (ब्राह्मणों के हाथों पर) थोड़ा थोड़ा जल गिरावे ॥ २४१ ॥

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः ।

उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्दद्याद्वै पितृयज्ञवत् ॥ २४२ ॥

पिण्डपितृयज्ञकल्पातिदेशेन चरुश्रपणसद्भावे अग्नौकरणशिष्टचरुक्षेपेण सह सर्वमन्नमुपादायाग्निसंनिधौ पिण्डान्दद्यात् । तदभावे ब्राह्मणार्थं कृतमन्नं सर्वमुपादाय सतिलं तिलमिश्रं दक्षिणामुख उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डपितृयज्ञकल्पेन पिण्डान्दद्यात् ॥ २४२ ॥

भाषा—तब तिल के साथ सभी अन्न लेकर दक्षिण की ओर मुख करके उच्छिष्ट के निकट पिण्डपितृयज्ञ के समान ही पिण्ड देवे ॥ २४२ ॥

१. प्रकिरेत् । २. सार्ववर्णिकमन्न । २. दद्याद्दि । ४. सार्ववर्णिकमन्नमुपादाय ।

अक्षय्योदकदानम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः ।

स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च ॥ २४३ ॥

मातामहानामपि विश्वेदेवावाहनादिपिण्डप्रदानपर्यन्तं कर्मैवमेव कर्तव्यम् अनन्तरं ब्राह्मणानामाचमनं दद्यात् । स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात् 'स्वस्ति ब्रूत' इति ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयेत् । तैश्च 'स्वस्ति' इत्युक्ते 'अक्षय्यमस्तु' इति ब्रूत' इति ब्राह्मणहस्तेषुदकदानं कुर्यात् तैश्चाक्षय्यमस्त्विति वक्तव्यम् ॥ २४३ ॥

भाषा—मातामह आदि के लिये भी (विश्वेदेव का आवाहन से लेकर पिण्डदान तक के कर्म) इसी प्रकार होता है; इसके बाद ब्राह्मणों को आचमन करावे, तदुपरान्त स्वस्तिवाचन करे और ब्राह्मणों के हाथों पर जल देवे और वे तुम्हारा अक्षय्य (सब प्रकार से कल्याण) हो ऐसा आशीर्वाद देवें ॥ २४३ ॥

स्वधावाचनम्—

दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या स्वधाकारमुदाहरेत् ।

वाच्यतामित्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम् ॥ २४४ ॥

अनन्तरं यथाशक्ति हिरण्यरजतादिदक्षिणां दत्त्वा 'स्वधां वाचयिष्ये' इत्युक्त्वा तैर्ब्राह्मणैः 'वाच्यताम्' इत्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः पित्रादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च 'स्वधोच्यताम्' इति स्वधाकारमुदाहरेत् ॥ २४४ ॥

भाषा—इसके अनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार (ब्राह्मणों को) दक्षिणा देकर उनसे स्वधावाचन की आज्ञा माँगे । 'स्वधावाचन करो' इस प्रकार की उनसे आज्ञा पाकर पिता आदि या मातामह आदि के लिये स्वधा का उच्चारण करे ॥ २४४ ॥

ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम् ।

विश्वे देवाश्च प्रीयन्तां विप्रैश्चोक्त इदं जपेत् ॥ २४५ ॥

ते च ब्राह्मणाः 'अस्तु स्वधा' इति ब्रूयुः । तैरेवमुक्ते अनन्तरं कमण्डलुना उदकं भूमौ सिञ्चेत् । ततो 'विश्वे देवाः प्रीयन्ताम्' इति ब्रूयात्, ब्राह्मणैश्च 'प्रीयन्तां विश्वे देवा' इत्युक्ते इदमनन्तरोच्यमानं जपेत् ॥ २४५ ॥

भाषा—वे ब्राह्मण भी 'स्वधा हो' ऐसा कहें, उनके ऐसा कहने पर (कमण्डलु से) भूमि पर जल छिड़के । तब 'विश्वेदेव प्रसन्न होवें, ऐसा कहे और ब्राह्मणों द्वारा भी ऐसा ही कहने पर आगे कहीं जाने वाली प्रार्थना का जप करे ॥ २४५ ॥

१. कर्मैवं कर्तव्यं ।

ब्राह्मणप्रार्थना—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २४६ ॥

दातारो हिरण्यादेः नोऽस्माकं कुलेऽभिवर्धन्तां बहवो भवन्तु । वेदाश्च
वर्धन्तां अध्ययनाध्यापनतदर्थज्ञानानुष्ठानद्वारेण । संततिश्च पुत्रपौत्रादिपरम्प-
रया । श्रद्धा च पित्र्ये कर्मण्यास्था नोऽस्माकं मा व्यगमत् मा गच्छतु । 'न
माङ्गयोगे' (पा. ६।४।७४) इत्यङ्गभावः । देयं च हिरण्यादि बहु अपर्यन्तं
अस्माकं भवत्विति जपेदित्यर्थः ॥ २४६ ॥

भाषा—हमारे कुल में (हिरण्य आदि) के दाता (दानशील पुरुष)
अनेक होवे, (अध्ययन-अध्यापन द्वारा) वेद की और सन्तान (पुत्र, पौत्र)
की वृद्धि होवे । पितृकर्म (पितरों की पूजा) आदि में हमारी श्रद्धा कम न
होवे, (सोना आदि) दान देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में बना रहें ॥ २४६ ॥

'इत्युक्त्वोत्वा प्रिया वाचः प्रणिपत्य विसर्जयेत् ।

वाजे वाज इति प्रीतः पितृपूर्वं विसर्जनम् ॥ २४७ ॥

एवं पूर्वोक्तं प्रार्थनामन्त्रं जप्त्वा, उक्त्वा च प्रिया वाचः 'धन्या वयं भवच्च-
रणयुगलरजःपवित्रीकृतमस्मन्मन्दिरं शाकाद्यशनक्लेशमविगणय्य भवद्भिरनु-
गृहीता वयम्' इत्येवंरूपाः । प्रणिपत्य प्रदक्षिणापूर्वं नमस्कृत्य विसर्जयेत् ।
कथं विसर्जयेदित्याह—'वाजे वाजेवत वाजिनो नः' (ऋ. ५।४।५।८ इत्यनयर्चा
पितृपूर्वं प्रपितामहादि विश्वेदेवान्तं दर्भान्वारम्भेण 'उत्तिष्ठत पितरः' इति
प्रीतः सुप्रीतमना विसर्जनं कुर्यात् ॥ २४७ ॥

भाषा—इस मन्त्र का जप करके, प्रियवचन कह कर (पितरों को)
प्रणाम करके विसर्जित करे । 'वाजे वाजेवत वाजिनो नः' इस मन्त्र के साथ
प्रसन्नचित्त होकर पितरों से आरम्भ करके (विश्वेदेव तक का) विसर्जन
करना चाहिए ॥ २४७ ॥

'यस्मिंस्तु संस्रवाः पूर्वमर्ध्यपात्रे' निवेशिताः ।

पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत् ॥ २४८ ॥

यस्मिन्नर्ध्यपात्रे पूर्वमर्ध्यं दानान्ते संस्रवा ब्राह्मणहस्तगलिताभ्योदकानि
निवेशिताः स्थापितास्तदर्ध्यपात्रं न्युञ्जं तदुत्तानमूर्ध्वमुखं कृत्वा विप्रान्विसर्ज-

१. रेव नः । २. इत्युक्त्वा तु । ३. विसर्जयेत् । ४. यस्मिंस्ते संस्रवाः पूर्व ।
५. पितृपात्रे । ६. दानानन्तरं ते संस्रवा ।

Seenu

येत् । एतच्चाशीर्मन्त्रजपादूर्ध्वं 'वाजे' इत्यतः प्राग्द्रष्टव्यम् ; 'कृत्वा विसर्ज-
येत्' इति क्त्वाप्रत्ययश्रवणात् ॥ २४८ ॥

भाषा—पहले जिस अर्घ्यपात्र में (ब्राह्मणों के हाथों से) गिरा हुआ
जल रोपा गया था उस औघे किये गये) पितृपात्र का मुँह ऊपर करे और
ब्राह्मणों को बिदा करे ॥ २४८ ॥

प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम् ।

ब्रह्मचारी भवेत्तां तु रजनीं ब्राह्मणैः सह ॥ २४९ ॥

अनन्तरमासीमान्तं ब्राह्मणाननुव्रज्य तैः 'गम्यताम्' इत्यनुज्ञातस्तान्प्रदक्षिणी-
कृत्य प्रतिनिवृत्तः पितृसेवितं श्राद्धशिष्टमिष्टैः सह भुञ्जीत । नियम एवार्थः,
न परिसंख्या । 'मांसे तु यथारुचि' इति 'द्विजकाम्यया' (आ० १७९) इत्यत्रो-
क्तम् । यस्मिन्दिने श्राद्धं कृतं तत्संबन्धिनीं रात्रिं भोक्तृभिर्ब्राह्मणैः सह कर्ता
ब्रह्मचारी भवेत् । तुशब्दात् पुनर्भोजनादिरहितोऽपि भवेत् ; 'दन्तघावनताम्बूलं
स्निग्धस्नानमभोजनम् । रत्यौषधपरास्नानि श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत् ॥ पुनर्भोजन-
मध्वानं भाराप्ययनमैथुनम् । दानं प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभुक्षष्ट वर्जयेत् ॥' इति
वचनात् ॥ २४९ ॥

भाषा—तब ब्राह्मणों को अपने गांव की सीमा तक पहुँचा कर उनकी
आज्ञा मिलने पर प्रदक्षिणा करके लौटे और इष्ट जनों के साथ अवशिष्ट अन्न
का भोजन करे । उस रात्रि ब्राह्मणों के साथ श्राद्धकर्ता ब्रह्मचारी होकर
रहे ॥ २४९ ॥

एवं पार्वणश्राद्धभुक्वेदानीं वृद्धिश्राद्धमाह—

एवं 'प्रदक्षिणावृत्को वृद्धौ नान्दीमुखान्पितृन् ।

यजेत 'दधिकर्कन्धुमिश्रान्पिण्डान्यवैः क्रियाः ॥ २५० ॥

वृद्धौ पुत्रजन्मादिनिमित्ते श्राद्धे एवमुक्तेन प्रकारेण पितृन्यजेत् पूजयेत् ।
तत्र विशेषमाह—प्रदक्षिणावृत्क इति । प्रदक्षिणा आवृत् अनुष्ठानपद्धतिर्यस्यासौ
प्रदक्षिणावृत्कः, प्रदक्षिणप्रचार इति यावत् । 'नान्दीमुखान्' इति पितृणां
विशेषणम् । अतश्चावाहनादौ 'नान्दीमुखान्पितृनावाहयिष्ये नान्दीमुखान्पिता-
महान्' इत्यादिप्रयोगो द्रष्टव्यः । कथं यजेतेत्याह—दधिकर्कन्धुमिश्रान् ।
मिश्रान्पिण्डान्दत्त्वा, 'यजेत' इति
संबद्धयते । तिलसाध्याः सर्वाः क्रिया यवैः कर्तव्याः । अत्र च ब्राह्मणसंख्या
दर्शितैव 'युग्मान्द्वैवे यथाशक्ति' (आ० २२७) इत्यत्र । प्रदक्षिणावृत्कादिपरि-

गणनमन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां विशेषधर्माणां प्रदर्शनार्थम् । यथाहाश्वला-
यनः—‘अथाभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणा अमूला दर्भाः प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती स्या-
त्प्रदक्षिणमुपचारो यवस्तिलार्थो गन्धादिदानं द्विर्द्विः ऋजुदर्भानासने दद्यात् ।
‘यवोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः । प्रत्नवद्भिः प्रत्तः पुष्ट्या नान्दीमुखा-
न्पितृनिर्माँह्लोकान्प्रीणयाहि नः स्वाहा’ इति यवावपनम् । ‘विश्वेदेवा इदं
वोऽर्घ्यं, नान्दीमुखाः पितर इदं वोऽर्घ्यम्’ इति यथालिङ्गमर्घ्यदानम् । पाणौ
होमोऽग्नये कन्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति । ‘मधु वाता
ऋतायते’ (ऋ. स. १।६।१८) इति त्यचःस्थाने ‘उपास्मै गायत’ (ऋ. सं.
६।७।३६) इति पञ्च मधुमतीः श्रावयेत् । ‘अन्नजमीमदन्त’ (ऋ. सं. १।६।३)
इति षष्ठीम् । आचान्तेषु भुक्ताशयान्गोमयेनोपलिप्य प्राचीनाग्रान्दर्भान्संस्तीर्य
तेषु पृषदाज्यमिश्रेण भुक्तशेषेणैकैस्व द्वौ द्वौ पिण्डौ दद्यादित्यादि । यद्यपि
‘पितृन्यजेत’ इति सामान्येनोक्तं, तथापि श्राद्धत्रयं क्रमश्च स्मृत्यन्तरादव-
गन्तव्यः । यथाह शातातपः—‘मातुः श्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितृणां तदनन्तरम् ।
ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥’ इति ॥ २५० ॥

भाषा—पुत्रजन्म आदि प्रसन्नता के अवसर पर भी इसी प्रकार नान्दी
मुख पितरों के लिये दाहिनी ओर से आरम्भ करके पूजन करना चाहिए ।
दही, बदरीफल मिश्रित पिण्ड देना चाहिए और (तिल से की जाने वाली)
क्रियाएँ यव से की जानी चाहिए ॥ २५० ॥

एकोद्दिष्टमह—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम् ।

आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्टं एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम् । ‘शेषं
पूर्ववदाचरेत्’ (आ० २५४) इत्युपसंहारात् । पार्वणसकलधर्मप्राप्तौ विशेषोऽभि-
धीयते । देवहीनं देवरहितं वैश्वदेवरहितं एकार्घ्यपात्रमेकदर्भपवित्रकं च आवाह-
नाग्नौकरणहोमेन च रहितम् । अपसव्यवत् प्राचीनावीतब्रह्मसूत्रवत् । अनेना-
नन्तरश्लोकाभ्युदयिके यज्ञोपवीतित्वं सूचयति ॥ २५१ ॥

भाषा—एकोद्दिष्ट नाम का कर्म बिना विश्वेदेव के एक अर्घ्यपात्र से
एक कुशपवित्र से किया जाता है; इसमें आवाहन और अग्नौकरण नहीं होता
एवं प्राचीनावीत (होके दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत करके) किया
जाता है ॥ २५१ ॥

१. देवहीनं ।

८ या०

उपतिष्ठतामक्षय्यस्थाने विप्रविसर्जने ।

अभिरम्यतामिति वदेषु ऋष्युक्तेऽभिरताः स्म ह ॥ २५२ ॥

किंच, यदुक्तं (आ० २४३)—‘स्वस्तिवाक्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च’ इति तत्राक्षय्यस्थान उपतिष्ठतामिति वदेत् । विप्रविसर्जने कर्तव्ये ‘वाजे वाजे’ इति जपानन्तरं ‘दर्भान्वारम्भेण अभिरम्यताम्’ इति ब्रूयात् । ते च ‘अभिरताः स्मः’ इति ऋष्युः । ह इति प्रसिद्धौ । शेषं पूर्ववदिति यावत् । एतच्च मध्याह्ने कर्तव्यम्, यथाह देवलः—‘पूर्वाह्ने दैविकं कर्म अपराह्ने तु पैतृकम् । एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥’ इति । ‘भुञ्जीत पितृसेवितम्’ (आ० २४९) इत्येकोद्दिष्टविशेषे निषेधो दृश्यते—‘नवश्राद्धेषु यच्छिष्टं गृहे पर्युषितं च यत् । वंस्पयोर्भुक्शिष्टं च न भुञ्जीत कदाचन ॥’ इति । नवश्राद्धं च दर्शितम्—‘प्रथमेऽह्नि तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमे तथा । नवमैकादशे चैव तप्तश्राद्धमुच्यते ॥’ इति ॥ २५२ ॥

भाषा—अक्षय्योदक के समय उपतिष्ठताम् (‘आप लोग बैठें’) ऐसा कहें । ब्राह्मणों के विसर्जन के समय ‘अभिरम्यताम्’ (‘आप लोग आनन्दित हों’) कहे । वे (ब्राह्मण) भी हम आनन्दित हुए (‘अभिरताः’) कहें ॥ २५२ ॥

सपिण्डीकरणमाह—

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम् ।

अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् ॥ २५३ ॥

ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

एतत्सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि ॥ २५४ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयं अर्घ्यसिद्धयर्थं पूर्वोक्तविधिना कुर्यात् । तिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयमिति वदता पितृवर्गे चत्वारो ब्राह्मणा दर्शिताः । वैश्वदेवे द्वौ स्थितावेव । अत्र प्रेतपात्रोदकं किञ्चिदवशेषं त्रिधा विभज्य पितृपात्रेषु सेचयेत् ‘ये समानाः समनसः’ इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । शेषं विवेदेवावाहनादिभिरुत्सर्जनान्तं पूर्ववत्पार्वणवदाचरेत् । प्रेतार्घ्यपात्रावशिष्टोदकेन प्रेतस्थान-ब्राह्मणहस्तेऽर्घ्यं दत्त्वा शेषमेकोद्दिष्टवत्समापयेत् । पित्र्येषु त्रिषु पार्वणवदेव । एतत्सपिण्डीकरणमनन्तरं रोक्तमेकोद्दिष्टं च ततः प्रागुक्तं स्त्रिया अपि मातुरपि कर्तव्यम् । एवं वदता पार्वणे मातृश्राद्धं पृथक्कर्तव्यमित्युक्तं भवति । अत्र ‘प्रेतश्राद्धं पितुः प्रपितामहविषयं केचिद्वर्णयन्ति, तस्य त्रिष्वन्तर्भावेन सपिण्डीकरणोत्तरकालं पिण्डदानादिनिवृत्त्युपपत्तेः । समनन्तरं मृतस्य तत्पुत्रस्य पिण्डोद-

कृदानानुवृत्तेरन्तर्भावो न युक्तः। अत एवाह यमः—‘यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक्पिण्डे नियोजयेत्। विधिद्वयेन भवति पितृहा चोपजायते ॥’ इति प्रकर्षेण इतः गतो प्रेत इति चतुर्थेऽपि ‘प्रेत’ शब्दोपपत्तेः। प्रेतस्य एव निष्पृणीयात्’ इति च प्रयोगदर्शनात्। अपि च—‘सपिण्डीकरणं श्राद्धं देवपूर्वं नियोजयेत्। पितृनेवाशयेत्तत्र पुनः प्रेतं न निर्दिशेत् ॥’ इति सपिण्डीकरणोत्तरकालं प्रेतस्य, श्राद्धादिप्रतिषेधो दृश्यते, स चानन्तरमृतस्य न संभवति, अमावास्यादौ श्राद्धविधानात्। ‘सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते’ (मनः ५।६०) इत्येतदपि वचनं चतुर्थस्य त्रिष्वन्तर्भाव एव घटते, ‘चतुर्थस्य पिण्डत्रयव्यापित्वं, पञ्चमस्य पिण्डद्वयव्यापित्वं, षष्ठस्यैकपिण्डव्यापित्वं सप्तमे निवृत्तिः’ इति। पितृपात्रेष्वित्येतदपि पितृमुखस्यैवादिस्मिन्नेव पक्षे घटते, नान्यथा, प्रपितामहप्रमुखत्वात्। तस्मात्पितृपात्रेषु तत्प्रेतपात्रं प्रसेचयेदिति पितुः प्रपितामहपात्रं पित्रादिपात्रेषु प्रसेचयेदिति,—तदयुक्तम्। नह्यत्र पिण्डसंयोजनमुत्तरत्र पिण्डदानादिनिवृत्तिप्रयोजकम्, अपि तु पितुः प्रेतस्वनिवृत्त्या पितृत्वप्राप्त्यर्थम्। प्रेतत्वं च क्षुत्तृष्णोपजनितात्यन्तदुःखानुभवावस्था। यथाह मार्कण्डेयः—‘प्रेतलोके तु वसतिर्नृणां वर्षं प्रकीर्तिता। क्षुत्तृष्णे प्रत्यहं तत्र भवेतां मृगुनन्दन ॥’ इति। पितृत्वप्राप्तिश्च वस्वादिश्राद्धदेवतासंबन्धः। प्राक्तनैकोद्दिष्टसहितेन सपिण्डीकरणेन प्रेतस्वनिवृत्त्या पितृत्वं प्राप्नोतीत्यवगम्यते—‘यस्यैतामि न दत्तानि प्रेतश्राद्धानि षोडशः। प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तः श्राद्धशतैरपि ॥’ इति। तथा—‘चतुरो निर्वपेत्पिण्डान्पूर्वं तेषु समावपेत्’। ततःप्रभृति वै प्रेतः पितृकामान्यमश्नुते ॥’ इत्यादिवचनात्। ‘यः सपिण्डीकृते प्रेतम्’ इत्यनेनापि पुन्यैकोद्दिष्टविधानेन पिण्डदाननिषेधात्पार्वणविधानेन सह पिण्डदानमवगम्यते। तच्च सांवत्सरिकपाक्षिकैकोद्दिष्टविधानेनापोष्यते। यदपि ‘पुनः प्रेतं न निर्दिशेत्’ इति, तदपि प्रेतशब्दं नोच्चारयेत्, अपि तु पितृशब्दमेवेत्येवमर्थम्। नच प्रकर्षगमनात्तत्रैव ‘प्रेत’शब्दः। यतो विशिष्टदुःखानुभवावस्था ‘प्रेत’शब्देन रुद्धाभिधायित इत्युक्तम्। योऽपि प्रमीतमात्रे प्रेतशब्दप्रयोगः सोऽपि भूतपूर्वगत्वा। ‘सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते’ इति च प्रथमस्य पिण्डस्य चतुर्थव्यापित्वात्, द्वितीयस्य पञ्चमव्यापित्वात्, तृतीयस्य षष्ठव्यापित्वात्, ‘सप्तमे विनिवर्तते’ इत्येवमपि घटते। अपि च निर्वाप्यपिण्डान्वयेन न सापिण्ड्यः, अन्तःपकत्वात्, अपि त्वेकशरीरावयवान्वयेनेत्युक्तम्। पितृशब्दश्च प्रेतस्वनिवृत्त्या श्राद्धदेवताभूयंगतेषु वर्तत इति पितृपात्रेष्वित्यविरुद्धम्। तस्मादनन्तरात्पूर्वम्

१. समानयेत् समापयेत्।
विधानाद्योपपाद्यते।

२. एतच्च।
४. अव्यापित्वादपि तु।

३. विधानेनोपपद्यते
५. देवताभूयंगतेषु।

पूर्वपक्षद्वारेण परमतं दर्शितमित्यर्थः । स्मृतपात्रोदकस्य तत्पिण्डस्य च पितृपात्रेषु तत्पिण्डेषु च संसर्जनमिति स्थितम् । आचार्यस्तु परमतमेवोपन्यस्तवान् । एतच्च पितुः सपिण्डीकरणं पितामहादिषु त्रिषु प्रमीतेषु वेदितव्यम् । पितरि प्रेते पितामहे प्रपितामहे वा जीवति सपिण्डीकरणं नास्त्येव; 'व्युत्क्रमाच्च प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता' इति वचनात् । यत्तु मनुवचनं (३।२२१) 'पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥' इति, तदपि 'शब्दप्रयोगनियमाय न पिण्डद्वयदानार्थम् । कथम् ? 'ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः ॥' सोऽपि पूर्वेषामेव निर्वपेदित्यन्वयः । पक्षद्वयेऽपि कथं निर्वपेदित्याह—'पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्' (मनुः ३।२२०-२१) इत्याद्यन्तग्रहणेन सर्वत्र पितृभ्यः, पितामहेभ्यः, प्रपितामहेभ्यः इत्येवं प्रयोगः, न पुनः कदाचिदपि पितामहस्य प्रपितामहस्य वाऽऽदित्वं वृद्ध-प्रपितामहस्य तत्पितुर्वाऽन्तस्त्वम् । अतश्च पितादिशब्दानां संवन्धिवचनत्वात् ध्रियमाणेऽपि पितरि पितुः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति, पितामहे ध्रियमाणे पितामहस्य पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति । अतश्च पिण्डपितृयज्ञे 'शुन्धन्तां पितरः' इत्यादिमन्त्राणामूहो न भविष्यति । एतदपि विष्णुवचनं 'यस्य पिता प्रेतः स्यात्स पितृपिण्डं निधाय पितामहापराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्' इति, तस्यायमर्थः—पितामहे ध्रियमाणे प्रेते च पितरि पितुरेकं पिण्डमेकोद्दिष्टविधानेन निधाय पितुर्यः पितामहस्ततः पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात् । पितामहस्त्वात्मनः प्रपितामहः संप्रदानभूतः स्थित एवेति । प्रपितामहाय ततः पराभ्यां द्वाभ्यां च दद्यादिति । शब्दप्रयोगनियमस्तु पूर्वोक्त एव । एवं गोब्राह्मणादिहतस्यापि सपिण्डीकरणाभावो वेदितव्यः । यथाह कात्यायनः—'ब्राह्मणादिहते ताते पतिते संगवर्जिते । व्युत्क्रमाच्च स्मृते देयं येभ्य एष ददायसौ ॥' इति । गोब्राह्मणहतस्य पितुः सपिण्डीकरणसंभवे तमुल्लंघ्य पिता महादिभ्यः पार्वणविधानमनुपपन्नमिति सपिण्डीकरणाभावोऽवगम्यते । स्मृत्यन्तरेऽपि—'ये नराः संततिच्छिन्ना नास्ति तेषां सपिण्डता । न चैतैः सह कर्तव्या न्येकोद्दिष्टानि षोडश ॥' इति । मातुः सपिण्डेनादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः; भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा दातव्यमिति, उभयत्र वचनदर्शनात् । 'स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी बिवाहात्सप्तमे पदे । स्वामिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥' इत्यादि-भर्तृगोत्रविषयं वचनम्, 'पितृगोत्रं समुत्सृज्य न कुर्याद्भर्तृगोत्रतः । जन्मन्येव विपत्तौ च नारीणां पैतृकं कुलम् ॥' इत्यादिपितृगोत्रविषयम् । एवं विप्रतिपत्ता-

वासुरादिविवाहेषु पुत्रिकाकरणे च पितृगोत्रमेव, तत्र तत्र विशेषवचनात् दान-
स्यानिवृत्तेश्च । ब्राह्मादिविवाहेषु व्रीहियन्त्रवत् बृहद्रथन्तरसामवत् विकल्प एव ।
तत्र च—‘येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायासतां मार्गं
तेन गच्छन्नु दुष्यति ॥’ इति (मनुः ४।१७८) वचनात् वंशपरम्परायात्समा-
चरणेन व्यवस्था । एवंविधविषयव्यतिरेकेणास्य वचनस्य विषयान्तराभावात् ।
यत्र पुनः शास्त्रतो न व्यवस्था, नाप्याचारस्तत्र ‘आत्मनस्तुष्टिरेव वा’ इति वच-
नादात्मनस्तुष्टिरेव व्यवस्थापिका, यथा—‘गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे’ (आ० १४) इति ।
(यज्ञ) मातुः सपिण्डीकरणेऽपि विरुद्धानि वाक्यानि दृश्यन्ते, तत्र पितामह्या-
दिभिः सार्धं सपिण्डीकरणं स्मृतम् । तथा भर्त्रापि भार्यायाः स्वमात्रादिभिः सह
सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति पैठीनसिराह—‘अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्स-
पिण्डताम् । श्वश्र्वादिभिः सहैवास्याः सपिण्डीकरणं भवेत् ॥’ इति । पत्या सह
सपिण्डीकरणं यम आह—‘पत्या चैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः । सा
मृतापि हि तेनैक्यं गता मन्त्राहुतिव्रतैः ॥’ इति । उशनसा तु मातामहेन सह
सपिण्डीकरणमुक्तम्—पितुः पितामहे यद्वत्पूर्णे संवत्सरे सुतैः । मातुर्मातामहे
तद्वद्देशा कार्या सपिण्डता ॥ तथा—‘पिता पितामहे योज्यः पूर्णे संवत्सरे सुतैः ।
माता मातामहे तद्वदित्याह भगवान्छिवः ॥’ इत्येवंविधेषु वचनेषु सत्सु अपुत्रायां
भार्यायां प्रमृतायां भर्ता स्वमात्रैव सापिण्ड्यं कुर्यात् । अन्वारोहणे तु पुत्रः
स्वपित्रैव मातुः सापिण्ड्यं कुर्यात् । आसुरादिविवाहोत्पन्नः पुत्रिकासुतश्च माताम-
हेनैव ब्राह्मादिविवाहोत्पन्नः पित्रा मातामहेन पितामह्या वा विकल्पेन कुर्यात् ।
भर्त्रापि यदि नियतो वंशसमाचारस्तदानीं तथैव कुर्यात् । वंशसमाचारोऽप्यनि-
यत्तश्चेत्तदा ‘आत्मनस्तुष्टिरेव च’ इति यथारुचि कुर्यात् । तत्र च येन केनापि
मातुः सापिण्ड्येऽपि यत्रान्वष्टकादिषु मातृश्राद्धं पृथग्विहितम्,—‘अवष्टकासु
वृद्धौ च गयायां च क्षहेऽहनि । मातुः श्राद्धं पृथुकुर्यादन्यत्र पतिना सह ॥’ इति,
तत्र पितामह्यादिभिरेव पार्वणश्राद्धं कर्तव्यम्; ‘अन्यत्र पतिना सह’ इति पतिसा-
पिण्ड्ये तदंशभागित्वात् । मातामहसापिण्ड्ये तदंशभागित्वात्तेनैव सह । यथाह
शातातपः—‘एकमूर्तिस्त्वमायाति सपिण्डीकरणे कृते । पत्नी पतिपितृणां च तस्मा-
दंशेन भागिनी ॥’ इति । एवं सति मातामहेन मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं
पितृश्राद्धवन्नित्यमेव । पत्या पितामह्या वा मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं न
नित्यम् । कृते अभ्युदयः, अकृते न प्रत्यवाय इति निर्णयः ॥ २५३-२५४ ॥

भाषा—गन्ध, जल और तिल से युक्त चार पात्र आर्य के लिए बनाना
चाहिए । ये समान समनस;’ इत्यादि दो मन्त्रों से प्रेत पात्र का जल पितृ-

पात्रों में (तीन भाग करके) छोड़े। शेष कर्म पहले के समान ही करे। इस कर्म को सपिण्डीकरण कहते हैं। एकोद्दिष्ट कर्म स्त्री के लिए भी किया जाता है ॥ २५३-२५४ ॥

अर्वाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत् ।

तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥ २५६ ॥

संवत्सरादर्वाक्सपिण्डीकरणं यस्य कृतं तस्य तदुद्देशेन प्रतिदिवसं प्रतिमासं वा यावत्संवत्सरं शक्यनुसारेणाक्षमुदकुम्भसहितं ब्राह्मणाय दद्यात् । 'अर्वाक्स-
वत्सरात्' इति वदता सपिण्डीकरणं संवत्सरे पूर्णं प्राप्तेति दर्शितम् । यथा-
ह्यमलायनः (१।३।११)—'अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरान्ते द्वादशाहे वा' इति ।
कात्यायनोऽप्याह (३।३।११)—'ततः संवत्सरे पूर्णं सपिण्डीकरणं त्रिपक्षे वा
यदहर्वा वृद्धिरापद्यते' इति । द्वादशाहे, त्रिपक्षे, वृद्धिप्राप्तौ, संवत्सरे वेति चत्वारः
पक्षा दर्शिताः । तत्र द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणं सांनिधेन कार्यम्; सपिण्डी-
करणं विना पिण्डपितृयज्ञासिद्धेः, 'सांनिधेस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमान्भवेत् ।
द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥' इति वचनात् । निरग्निस्तु त्रिपक्षे
वृद्धिप्राप्तौ संवत्सरे वा कुर्यात् । यदा प्राक्संवत्सरात्सपिण्डीकरणं तदा षोडश-
श्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणं कार्यम्, उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वस्वकाले तानि
कर्तव्यानीति संशयः; उभयथा वचनदर्शनात्, 'श्राद्धानि षोडशादृत्वा नैव कुर्या-
त्सपिण्डताम् । श्राद्धानि षोडशापाद्य विद्धीत सपिण्डताम् ॥' इति । षोडशश्रा-
द्धानि च—'द्वादशाहे त्रिपक्षे च षण्मासे मासि चाब्दिके । श्राद्धानि षोडशैतानि
संस्मृतानि मनीषिभिः ॥' इति दर्शितानि । तथा—'यस्यापि वत्सरादर्वाक्स-
पिण्डीकरणं भवेत् । मासिकं चोदकुम्भं च देयं तस्यापि वत्सरम् ॥' इति । तत्र
सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाल एवैतानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः, अप्राप्तकाल-
त्वेव प्रागनधिकारात् । यद्यपि वचनं—'षोडशश्राद्धानि कृत्वैव सपिण्डीकरणं संव-
त्सरात्प्रागपि कर्तव्यम्' इति, सोऽयमापत्कल्पः यदा त्वापत्कल्पत्वेन प्राक्सपि-
ण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति, तदेकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात् । यदा तु मुख्य-
कल्पेन स्वकाल एव करोति तदाब्दिकं श्राद्धं यो यथा करोति पार्वणमेकोद्दिष्टं वा
तथा मासिकानि कुर्यात्; 'सपिण्डीकरणादर्वाक्कुर्वन् श्राद्धानि षोडश । एकोद्दिष्ट-
विधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः ।
प्रत्येकं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि ॥' इति स्मरणात् । एतच्च प्रेतश्रा-
द्धसहितं सपिण्डीकरणं संविमफधनेषु बहुषु भ्रातृषु सत्स्वप्येकेनैव कृतेनालं, न
सर्वैः कर्तव्यम्; 'नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश । एकेनैव तु

१. दद्यादूर्ध्वं द्विजन्मने ।

२. करणं भवेत् ।

३. एते तदेति ।

कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि ॥' इति स्मरणात् । इदं च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं असन्यासिनां पुत्रादिभिर्नियमेन कर्तव्यम्, प्रेतस्वविमोक्षार्थत्वात् संख्यासिनां तु न कर्तव्यम् । यथाहोशनाः—'एकोद्दिष्टं न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा । अहन्नेकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥ सपिण्डीकरणं तेषां न कर्तव्यं सुतादिभिः । त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्वं नैव जायते ॥' इति पुत्रासंनिधाने येन सगोत्रादिना दाहसंस्कारः कृतस्तेनैवादशाहान्तं तत्प्रेतकर्म कर्तव्यम्—'असगोत्रः सगोत्रो वा स्त्री दद्याद्यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति स्मरणात् । शूद्राणामप्येतत्कर्तव्यममन्त्रकं द्वादशेऽह्नि—'एवं सपिण्डीकरणं मन्त्रवर्ज्यं शूद्राणां द्वादशेऽह्नि' इति विष्णुस्मरणात् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं सांवत्सरिकपार्वणादीनि पुत्रस्य नियमेनैव कार्याणि, अन्येषामनियतानि ॥ २५५ ॥

भाषा—जिस (द्विज का) सपिण्डीकरण एक वर्ष की अवधि के पूर्व ही हुआ हो तो उसके लिए प्रत्येक दिन और प्रत्येक मास में एक वर्ष तक शक्ति के अनुसार एक घड़े जल के साथ अन्न ब्राह्मण को देना चाहिए ॥ २५५ ॥

एकोद्दिष्टकालानाह—

मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।

प्रतिसंवत्सरं चैत्रमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ २५६ ॥

मृतेऽहनि प्रतिमासं संवत्सरं यावदेकोद्दिष्टं कार्यम् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रति-संवत्सरमेकोद्दिष्टमेव कर्तव्यम् । आद्यं सर्वैकोद्दिष्टप्रकृतिभूतमेकोद्दिष्टमेकादशेऽहनि । मृतदिवसापरिज्ञाने तच्छ्रवणदिवसे अमावास्यायां वा कार्यम् । 'अपरिज्ञाते मृतेऽहनि अमावास्यायां श्रवणदिवसे वा' इति स्मरणात् । अमावास्यायामिति गमनमाससंघट्टिन्यमावास्यायाम्—'प्रवासदिवसे देयं तन्मासेन्दुक्षयेऽपि वा' इति स्मरणात् । 'मृतेऽहनि' इत्यत्राहिताग्नेर्विशेषो जातृकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं त्रिपक्षाद्यच्छ्राद्धं मृतेऽहन्येव तद्भवेत् । अधस्तु कारयेद्दाहादाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥' इति । तत्र त्रिपक्षादवगम्यप्रेतकर्म तद्दाहदिवसादारभ्याहिताग्नेः कार्यम्, त्रिपक्षादूर्ध्वयच्छ्राद्धं तन्मरणदिवस एवेत्यर्थः । अनाहिताग्नेस्तु सर्वं मृताह एव । 'आद्यमेकादशेऽहनि' इत्यां शौचोपलक्षणमिति केचित् ; 'शुचिना कर्म कर्तव्यं' इति शुद्धेरङ्गत्वात्, 'अथा शौचापगमे' (२१११) इति सामान्येन सर्वेषां वर्णानामुपक्रम्यकोद्दिष्टस्य विष्णुना विहितत्वाच्च । तदयुक्तम्,—एकादशेऽह्नि यच्छ्राद्धं तस्मान्मान्यमुदाहृतम् । चतुर्णामपि वर्णानां सूतकं च पृथक्पृथक् ॥' इति पैठीनसिस्मरणविरोधात्, 'आद्यं श्राद्धमशुद्धोऽपि कुर्यादेकादशेऽहनि । कर्तुंस्तात्कालिकी शुद्धि-

१. यथाह शङ्खः ।

२. तु कर्तव्यं मृताहनि तु ।

३. हनीति स्वाशौचोप ।

रशुद्धः पुनरेव सः ॥' इति शङ्खवचनविरोधाच्च । सामान्योपक्रमं विष्णुवचनं दशाहाशौचविषयमपि घटते । 'प्रतिसंवत्सरं चैवम्' इति प्रतिसंवत्सरं मृतेऽह-
न्येकोद्दिष्टमुपदिष्टं योगीश्वरेण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वर्षे वर्षे तु कर्तव्या
मातापित्रोस्तु सत्क्रिया । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥' इति । यमो-
ऽप्याह—'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुतैः । मातापित्रोः पृथक्कार्यमेको-
द्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति व्यासस्तु पार्वणं प्रतिषेधति—'एकोद्दिष्टं परित्यज्य पार्वणं
कुरुते नरः । अकृतं तद्विजानीयात्सं भवेत्पितृघातकः ॥' इति । जमदग्निस्तु पार्वण-
माह—'आपाद्य च सपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः । कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं माता-
पित्रोः ज्ञयेऽहनि ॥' इति । शातातपोऽप्याह—'सपिण्डीकरणं कृत्वा कुर्यात्पार्वण-
वत्सदा । प्रतिसंवत्सरं विद्वांश्छागालेयोदितो विधिः ॥' इति । एवं वचनविप्रति-
पत्तौ दाक्षिणात्या ह्येवं व्यवस्थामाहुः—'औरसक्षेत्रजाभ्यां मातापित्रोः ज्ञयाहे
पार्वणमेव कर्तव्यं, दत्तकादिभिरेकोद्दिष्टम्' इति; जातृकर्ण्यवचनात् 'प्रत्यब्दं
पार्वणेनैव विधिना क्षेत्रजौरसौ । कुर्यातामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥' इति,—
तदसत्; न ह्यत्र ज्ञयाहवचनमस्ति, अपि तु प्रत्यब्दमिति । सन्ति च ज्ञयाहव्य-
तिरिक्तानि प्रत्यब्दश्राद्धान्यक्षयतृतीयामाघीवैशाखीप्रभृतिषु । अतो न ज्ञयाह-
विषयपार्वणैकोद्दिष्टव्यवस्थापनयाऽलम् । यत्तु पराशरवचनम्—'पितुर्गतस्य देव-
स्वमौरसस्य त्रिपौरुषम् । सर्वत्रानेकगोत्राणामेकस्यैव मृतेऽहनि ॥' इति,—तदपि न
व्यवस्थापकम् । यस्मादयमर्थः—देवत्वं गतस्य सपिण्डीकृतस्य पितुः सर्वत्रौर-
सेन त्रिपौरुषं पार्वणं कार्यम्, अनेकगोत्राणां भिन्नगोत्राणां मातुलादीनां ज्ञयेऽहनि
यच्छ्राद्धं तदेकस्यैवैकोद्दिष्टमेवेति । किंच, 'सपिण्डीकरणादूर्ध्वमप्येकोद्दिष्टमेव कर्त-
व्यमौरसेनापि इत्युक्तं पैठीनसिना—'एकोद्दिष्टं हि कर्तव्यमौरसेन मृतेऽहनि ।
सपिण्डीकरणादूर्ध्वं मातापित्रोर्न पार्वणम् ॥' इति । उदीच्याः पुनरेवं व्यवस्था-
पयन्ति—अमावास्यायां भाद्रपदकृष्णपक्षे स्वामृताहे पार्वणम्, अन्यत्र मृताहे
एकोद्दिष्टमेवेति; 'अमावास्याद्यो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः । पार्वणं तत्र कर्तव्यं
नकोद्दिष्टं कदाचन ॥' इति स्मरणात् । तदपि नाद्रियन्ते वृद्धाः । अनिश्रितमूले-
नानेन वचनेन निश्चितमूलानां बहूनां ज्ञयाहमात्रपार्वणविषयाणां वचनानाममावा-
स्याप्रेतपक्षमृताहविषयत्वेनातिसंकोचस्यायुक्तत्वात्, सामान्यवचनानर्थक्याच्च ।
तत्र हि सामान्यवचनस्य विशेषवचनेनोपसंहारः, यत्र सामान्यविशेषसंबन्धज्ञानेन
वचनद्वयमर्थवत् । यथा 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इत्यनारभ्याधीतस्य विकृ-
तिमात्रविषयस्य सप्तदशवाक्यस्य सामिधेनीलक्षणद्वारा संबन्धेनार्थवतो मित्र-

१. पृथक्कुर्यात् ।

२. जानीयाद्भवेच्च ।

३. संकोचः स्यादित्युक्तत्वात् ।

४. सप्तदशपदस्य ।

विन्दादिप्रकरणपठितेन सासदश्यवाक्येन मित्रविन्दाद्यधिकारापूर्वसंबन्धबोधनार्थवता मित्रविन्दादिप्रकरणं उपसंहारः । इह तु द्वयोर्मृताहमात्रविषयत्वाज्ञार्थवत्तेति । अतोऽत्र पात्तिकेकोद्दिष्टनिर्वृत्तिफलकतया पार्वणनियमविधानं युक्तम् । नचैकोद्दिष्टवचनानां मातापितृक्षयाहविषयत्वेन पार्वणवचनानां च तदन्यक्षयाहविषयत्वेन व्यवस्था युक्ताः; उभयत्रापि मातापितृसुतग्रहणस्य विद्यमानत्वात्—‘सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवरसरं सुतेः । मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥’ इति, तथा—‘आपाद्य सहपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः । कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रोः क्षयेऽहनि ॥’ इति । यद्यपि कैश्चिदुच्यते—मातापित्रोः क्षयाहे साग्निः पार्वणं कुर्यान्निरग्निरेकोद्दिष्टमिति,—‘वर्षे वर्षे सुतः कुर्यात्पार्वणं योऽग्निमान्द्विजः । पित्रोरनभिमान्धीर एकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥’ इति सुमन्तुस्मरणादिति,—तदपि सत्प्रतिपक्षत्वादुपेक्षणीयम्; बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये चंकाग्नय एव च । तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥’ इति स्मरणात् । तत्रैवं निर्णयः—सन्यासिनां क्षयाहे सुतेन पार्वणमेव कर्तव्यम्; ‘एकोद्दिष्टं यतेर्नास्ति त्रिदण्डप्रदणादिह । सपिण्डीकरणाभावात्पार्वणं तस्य सर्वदा ॥’ इति प्रचेतःस्मरणात् । अमावास्याक्षयाहे प्रेतपक्षक्षयाहे च पार्वणमेव; ‘अमावास्याक्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः’ (लघुशंख. १७) इत्यादिवचनस्योक्तरीत्या नियमपरत्वात् । अन्यत्र क्षयाहे पार्वणेकोद्दिष्टयोर्वीहियववद्विकल्प एव । तथापि वंशसमाचारव्यवस्थायां सत्यां व्यवस्थिते, असत्यामैच्छिक इत्यलमतिप्रसंगेन ॥

भाषा—(एकोद्दिष्ट कर्म) एक वर्ष तक प्रत्येक महीने में मृत्यु की तिथि को करना चाहिए तथा प्रत्येक वर्ष में करना चाहिए । प्रथम एकोद्दिष्ट कर्म मृत्यु के ग्यारहवें दिन होता है ॥ २५६ ॥

नित्यश्राद्धव्यतिरिक्तसर्वश्राद्धशेषमिदमभिधीयते—

पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा ।

प्रक्षिपेत्सत्सु विप्रेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

पूर्वदत्तानां पिण्डानां पिण्डस्य वा प्रतिपत्तिरियम्—गवे, अजाय, ब्राह्मणाय वा तदर्थिने पिण्डान्दद्यात् । अग्नावगाधे जलेऽपि वा प्रक्षिपेत् । किंच सत्सु विप्रेषु, भोजनदेशावस्थितेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेन्नोद्वासयेत् ॥ २५७ ॥

भाषा—पिण्ड गाय, बकरा, ब्राह्मण के लिये अथवा अग्नि या जल में देना चाहिए । ब्राह्मणों के (भोजन स्थान पर) होने पर उनके उच्छिष्ट को नहीं झाड़ना चाहिए ॥ २५७ ॥

भोज्यविशेषेण फलविशेषमाह—

द्विविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम् ।

मासस्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥ २५८ ॥

ऐणरौरववाराहशाशौर्मासैर्यथाक्रमम् ।

मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः ॥ २५९ ॥

हविष्यं हविर्योग्यं तिलघ्नीद्यादि । यथाह मनुः (३।१६७)—‘तिलैर्घ्नीहि-
यवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैः वा । दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥’
इति । तदन्नं हविष्यान्नं तेन मासं पितरस्तृप्यन्तीत्यनागतेनान्वयः । पायसेन
गव्यपयःसिद्धेन संवत्सरम् ; संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च’ इति
(मनुः ३।२७१) स्मरणात् मत्स्यो भक्ष्यः पाठीनादिस्तस्येदं मास्यम् । हरि-
णस्ताम्रमृगः । एणः कृष्णः, ‘एणः कृष्णमृगो ज्ञेयस्ताम्रो हरिण उच्यते’ इत्या-
युर्वेदस्मरणाद् । तस्येदं हरिणकम् । अविश्वरूपस्तत्संबन्धि औरभ्रम् । शकुनि-
स्तित्तिरिस्तत्संबन्धि शाकुनम्, छागोऽजस्तदीयं छागम्, पृषच्चित्रमृगस्त-
न्मांसं पार्षतम् । एणः कृष्णमृगस्तत्पिशितमैणम्, रुरुः शंवरस्तत्प्रभवं रौरवम्,
वराह आरण्यसूकरस्तज्जं वाराहम् । शशस्येदं शशम्, एभिर्मासैः पितृभ्यो-
‘दत्तैर्हविष्यान्नेन वै मासम्’ इत्युक्तत्वात्तत ऊर्ध्वं यथाक्रममेकैकमासवृद्ध्या
पितरस्तृप्यन्ति ॥ १५८-२५९ ॥

भाषा—पितामह (अर्थात् पितरगण) हविष्य अन्न से एक मास तक,
और खीर से एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं; पाठीन आदि मछली, ताम्रमृग,
उरभ्र (भेंड़ा) तित्तिर, बकरा, चित्रमृग, कृष्णमृग, रुरु, जंगली सुअर और
खरगोस के मांस श्राद्ध में देने पर क्रमशः एक-एक महीने अधिक समय तक
तृप्त रहते हैं ॥ २५८-२५९ ॥

खड्गामिषं महाशल्कं मधु मुन्यन्नमेव वा ।

लौहामिषं महाशाकं मांसं वार्ध्नीणसस्य च ॥ २६० ॥

यद्दाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।

तथा वर्षात्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः ॥ २६१ ॥

किंच, खड्गो गण्डकस्तस्य मांसम्, महाशल्को मत्स्यभेदः, मधु माक्षि-
कम् । मुन्यन्नं सर्वमारण्यं नीवारादि, लोहो रक्तश्छागस्तदामिषं लौहामि-
षम् । महाशाकं कालशाकम् । वार्ध्नीणसो वृद्धः श्वेतच्छागः—‘त्रिपिवं त्विन्द्रि-
यक्षीणं वृद्धं श्वेतं मजापतिम् । वार्ध्नीणसं तु तं प्रादुर्ग्याजिकाः श्राद्धकर्मणि ॥’
इति याज्ञिकप्रसिद्धः । त्रिपिवः पिवतः कर्णौ जिह्वा च यस्य जलं स्पृशति सः,

- | | | | |
|-------------------------------|--------------------------|------------------|--------------------|
| १. फलैस्तथा । | २. मांसं प्रीयन्ते । | ३. अनागतत्वेना । | ४. शाकुनं |
| भक्ष्यपक्षिसंबन्धि । | ५. च । | ६. कालशाकं । | ७. वार्ध्नीणसस्य । |
| ८. वर्षास्वेवं त्रयोदश्याम् । | ९. श्वेतं वृद्धमजापतिं । | | |

त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः, तस्य चार्ध्णिसस्य मांसम् । यद्वदाति गयास्थश्च यत्किञ्चिच्छाकादिकमपि गयास्थो ददाति । चशब्दाद्गङ्गाद्वारादिषु च—‘गङ्गाहारे प्रयागे च नैमिषे पुष्करेऽर्जुदे । सनिहत्यां गयायां च श्राद्धमक्षय्यतां व्रजेत् ॥’, ‘आनन्त्यमश्नुते’ इति ‘अनन्तफलहेतुत्वं प्राप्नोति । ‘आनन्त्यमश्नुते’ इति प्रत्येकमभिसंबद्धयते । तथा वर्षात्रयोदश्यां भाद्रपदकृष्णत्रयोदश्यां विशेषतो मघायुक्तायां यत्किञ्चिद्दीयते तत्सर्वमानन्त्यमश्नुत इति गतेन संबन्धः ॥ अत्र यद्यपि मुन्यन्नमांसमध्वादीनि सर्ववर्णानां सामान्येन श्राद्धे योग्यानि दर्शितानि, तथापि पुलस्योक्ता व्यवस्थादरणीया ।—‘मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः । मधुप्रदानं शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥’ इति । अस्यार्थः—मुन्यन्नं नीवारादि यच्छ्राद्धयोग्यमुक्तं तद्ब्राह्मणस्य प्रधानं समग्रफलदम्, यच्च मांसमुक्तं तत्क्षत्रियवैश्ययोः प्रधानम् । यत्क्षौद्रमुक्तं तच्छूद्रस्य । एतत्त्रितयव्यतिरिक्तं यदविरोधि यदप्रतिषिद्धं वास्तुकादि, यच्च विहितं हविष्यं कालशाकदि, तत्सर्वेषां समग्रफलदमिति ॥ २६०-२६१ ॥

भाषा—जो खड्ग (गैंडा) का मांस, महाशल्क मछली, मधु, या तीनी का चावल, लाल बकरे का मांस, महाशाक, (कालशाक), श्वेतवर्ण के शूद्र बकरे का मांस देता है और गया में (श्राद्ध करते समय) ये पदार्थ देता है, भाद्रपद मास की कृष्ण त्रयोदशी और विशेषतः महानक्षत्र होने पर इनका पिण्ड देता है वह सम्पूर्ण अनन्तफल का भोग करता है ॥ २६०-२६१ ॥

तिथिविशेषात्फलविशेषमाह—

कन्यां कन्यावेदिनश्च पशून्वै सत्सुतानपि ।

घृतं कृषिं वणिज्यां च द्विशफैकशफांस्तथा ॥ २६२ ॥

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सकुप्यके ।

ज्ञातिश्रैष्ठ्यं सर्वकामान्प्राप्नोति श्राद्धदः सदा ॥ २६३ ॥

प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।

शस्त्रेण तु हता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते ॥ २६४ ॥

कन्यां रूपलक्षणशीलवतीम्, कन्यावेदिनो जामातरो बुद्धिरूपलक्षण-संपन्नाः । पशवः क्षुद्रा अजादयः, सत्सुता सन्मार्गवर्तिनः, घृतं घृतविजयः, कृषिः कृषिफलम्, वणिज्या वाणिज्यलाभः, द्विशफा गवादयः, एकशफा अश्वदयः, ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसं

१. आनन्त्यफलं ।
द्विशफैकशफांस्तथा ।

२. पशून्मुख्यान्सुतानपि ।
३. सन्मार्गगाः ।

३. कृषिं च वाणिज्यं

तद्वन्तः, स्वर्णरूप्ये हेमरजते, तद्व्यतिरिक्तं त्रपुसीसकादि कुप्यकम्, जाति-
श्रैष्ठ्यं जातिषूकृष्टवम्, सर्वकामाः काभ्यन्त इति कामाः स्वर्गपुत्रपञ्चादयः,
एतानि कन्यादीनि चतुर्दशफलानि कृष्णपक्षप्रतिपत्प्रभृतिष्वमावास्यापर्यन्तासु
चतुर्दशीवर्जितासु चतुर्दशसु तिथिषु श्राद्धदो यथाक्रममाप्नोति । ये केचन
शस्त्रहतास्तेभ्यः कृष्णचतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधिना श्राद्धं दद्यात्, यदि ब्राह्मणा-
दिहता न भवन्ति; 'समत्वमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य वै । एकोद्दिष्टं सुतैः
कार्यं चतुर्दश्यां महालये ॥' इति स्मरणात् । समत्वमागतस्य सपिण्डीकृतस्य
पितुर्महालये भाद्रपदकृष्णचतुर्दश्यां शस्त्रहतस्यैव श्राद्धं नान्यस्येति नियम्यते,
न पुनः शस्त्रहतस्य चतुर्दश्यामेवेति । अतश्च च्याहादौ शस्त्रहतस्यापि यथ
प्राप्तमेव श्राद्धम् । नच भाद्रपदकृष्णपक्ष एवायं विधिरिति मन्तव्यम्; 'प्रौष्ठ
पथामपरपक्षे मासि मासि चैवम्' इति शौनकस्मरणात् ॥ २६२-२६४ ॥

भाषा—(रूपलक्षणशीलवती) कन्या; योग्य जामाता, पशु, सदाचारी
पुत्र, जुए में विजय, उत्तम फसल, वाणिज्य में लाभ, दो खुर वाले गाय आदि
और एक खुर वाले अश्वदि पशु, वेदाध्ययन से तेजस्वी पुत्र, सोना, चांदी,
तांबा, सीसा, जाति में प्रतिष्ठ और सभी इच्छाओं को श्राद्ध देने वाला व्यक्ति
सदैव प्राप्त करता है । केवल एक चतुर्दशी को छोड़कर प्रतिपद आदि सभी
तिथियों को श्राद्ध कर सकता है । जो लोग शस्त्र से मारे गये होते हैं उन्हीं के
लिए इस दिन (चतुर्दशी को) श्राद्ध किया जाता है ॥ २६२-२६४ ॥

नक्षत्रविशेषाफलविशेषमाह—

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं क्षेत्रं बलं तथा ।

पुत्रं श्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभम् ॥ २६५ ॥

प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि ।

अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम् ॥ २६६ ॥

धनं वेदान्भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम् ।

अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं संप्रयच्छति ॥ २६७ ॥

कृत्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।

आस्तिकः श्रद्धधानश्च व्यपेतमदमत्सरः ॥ २६८ ॥

कृत्तिकामादि कृत्वा भरण्यतं प्रतिनक्षत्रं यः श्राद्धं ददाति स यथाक्रमं
स्वर्गादीनायुःपर्यन्तान्कामानवाप्नोति, यथास्तिकः श्रद्धधानश्चेत् व्यपेतमद-
मत्सरो भवति । आस्तिको विश्वासवान्, श्रद्धधान आदरातिशययुक्तः, व्यपेत-

१. ससौभाग्यं सुसौभाग्यं । २. सुतान् । ३. विधां । ४. श्रद्धधान-
श्चेत् श्राप्यपेतमदमत्सरः ।

मदमत्सरः मदो गर्वः, मत्सर ईर्ष्या, ताभ्यां रहितः । स्वर्गं निरतिशयसुखम् । अपत्यमविशेषेण । ओज आत्मशक्त्यतिशयः । शौर्यं निर्भयत्वम् । क्षेत्रं फलवत् । बलं शारीरम्, पुत्रो गुणवान्, श्रैष्ठ्यं जातिषु, सौभाग्यं जनप्रियता । समृद्धिर्धनादेः, मुख्यता अग्र्यता, शुभं सामान्येन, प्रवृत्तचक्रता अप्रतिहताज्ञता, वाणिज्यप्रभृतयो वाणिज्यकुसीदकृषिगोरक्षाः, अरोगित्वं अनामययोगित्वम्, यशः प्रख्यातिः, वीतशोकता इष्टवियोगादिजनितदुःखाभावः, परमा गति-ब्रह्मलोकप्राप्तिः, धनं सुवर्णादि, वेदा ऋग्वेदादयः, भिषक्सिद्धिरौषधफलावाप्तिः, कुप्यं सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि, गावः प्रसिद्धाः, अजाश्च अवयश्च अश्वश्च, आयुर्दीर्घजीवनम् ॥ २६५-२६८ ॥

भाषा—स्वर्ग, सन्तान (पुत्र), शक्ति, निर्भयत्व, उर्वर खेत, शारीरिक बल, गुणवान् पुत्र, जाति में प्रधानता, जनप्रियता, धनादि समृद्धि, नेतृत्व, सामान्य सुख, अजेयता, यश, शोकनाश, ब्रह्मलोक में परमपद, धन, वेदज्ञान, औषधि की सिद्धि ताम्रादि द्रव्य, गौवें, बकरे, भेंडे, अश्व और दीर्घजीवन, इन सभी फलों को कृत्तिका से आरम्भ करके भरणी तक प्रत्येक नक्षत्र में श्रद्धापूर्वक एवं मानमत्सर छोड़कर विधिपूर्वक श्राद्ध देने वाला व्यक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २६५-२६८ ॥

‘मासवृद्ध्याभिवृष्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः’ (आ० २५९) इत्यनेन पितॄणां श्राद्धेन तृप्तिर्भवतीत्युक्तं, तदनुपपन्नम् ; प्रातिस्विकशुभाशुभकर्मवशेन स्वर्गनरकादिगतानां मनुष्याणां पुत्रादिभिर्दत्तैरन्नपानादिभिस्तृप्यसंभवात् । संभवेऽपि स्वयमात्मनाप्यनीशाः कथं स्वर्गादिफलं प्रयच्छन्तीत्यत आह—

वसुरुद्रादितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः ।

प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृश्राद्धेन तर्पिताः ॥ २६९ ॥

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।

प्रयच्छन्ति तया राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥ २७० ॥

नद्यत्र देवदत्तादय एव श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते किंत्वधिष्ठातृवस्वादिदेवतासहिता एव । यथा देवदत्तादिशब्दैर्न शरीरमात्रं, नाप्यात्ममात्रं, किंतु शरीरविशिष्टा आत्मान उच्यन्ते, एवमधिष्ठातृदेवतासहिता एव देवदत्तादयः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते । अतश्चाधिष्ठातृदेवता चस्वादयः पुत्रादिभिर्दत्तेनान्नपानादिना तृप्ताः सन्तस्तानपि देवदत्तादींस्तर्पयन्ति कर्तृश्च पुत्रादीन्फलले

१. स्वर्गोऽतिशयसुखं । २. अनामयित्वं । ३. शुभाशुभफलकर्मविशेषेण । ४. श्राद्धेषु । ५. नृणां प्रीताः ।

संयोजयन्ति । यथा माता गर्भपोषणायान्यदत्तेन दोहदाक्षपानादिना स्वयमुप-
भुक्तेन तृप्ता सती स्वजठरगतमप्यपत्यं तर्पयति, दोहदाक्षादिप्रदायिनश्च प्रत्युप-
कारफलेन संयोजयति तद्वद्वसवो रुद्रा अदितिमुताः आदित्या एव ये पितरः
पितृ-पितामहप्रपितामहशब्दवाच्याः न केवलं देवदत्तादय एव श्राद्धदेवताः
श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः किन्तु मनुष्याणां पितृदेवदत्तादीन्स्वयं श्राद्धेन
तर्पितास्तर्पयन्ति ज्ञानशक्त्यतिशययोगेन । किञ्च न केवलं पितृस्तर्पयन्ति
अपि तु श्राद्धकारिभ्यः आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि राज्यं च ।
चकारात्तत्र तत्र शस्योक्तमन्यदपि फलं स्वयं प्रीताः पितामहा वस्वादयः
प्रयच्छन्तीति ॥ २६९-२७० ॥

भाषा—वसुदेवता, रुद्र और आदित्यादि एवं पितर ये श्राद्ध के देवता
श्राद्ध से तृप्त होकर मनुष्यों के पितरों को तृप्त (आनन्दित) करते हैं । और
मनुष्यों के पितामह अर्थात् पितर लोग प्रसन्न होकर दीर्घ जीवन, सन्तान,
धन, विद्या, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते हैं ॥ २६९-२७० ॥

इति श्राद्धप्रकरणम् ।

गणपतिकल्पप्रकरणम्

दृष्टादृष्टफलसाधनानि कर्माण्यभिहितान्यप्यभिधास्यन्ते च तेषां स्वरूपनि-
पत्तिः फलसाधनत्वं चाविघ्नेन भवतीत्यविघ्नाय कर्म विधास्यन् विघ्नस्य कार-
कज्ञापकहेतूनाह—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः ।

गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मण तथा ॥ २७१ ॥

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थमित्यादिनोभयविघ्नहेतुपरिज्ञानाद्विघ्नस्य प्राग्भाव
परिपालनायोपस्थितस्य प्रध्वंसाय वा प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवर्तन्ते; रोगस्यैवोभय-
विधहेतुपरिज्ञानात् । विनायको विघ्नेश्वरः पुरुषार्थसाधनानां कर्मणां विघ्नसिद्ध्यर्थं
स्वरूपफलसाधनत्वविघ्नात्सिद्ध्ये विनियोजितः नियुक्तः रुद्रेण ब्रह्मणा चकारा-
द्विष्णुना च गणानां पुष्पदन्तप्रभृतीनामाधिपत्ये स्वाग्ये ॥ २७१ ॥

भाषा—कर्म में विघ्न और उसकी सिद्धि के लिये रुद्र और ब्राह्मण ने
विनायक (गणपति) को पुष्पदन्त आदि गणों का अधिपति बनाकर नियुक्त
किया है ॥ २७१ ॥

एवं विघ्नस्य कारकहेतुमुक्त्वा ज्ञापकहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत ।

स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति ॥ २७२ ॥

काषायवाससश्चैव कन्यादांश्चाधिरोहति ।

अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्टैः सहैकत्रावतिष्ठते ॥ २७३ ॥

ब्रजज्ञपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः ।

तेन विनायकेनोपसृष्टो गृहीतो यस्तस्य लक्षणानि ज्ञापकानि निबोधत जानीध्वं हे मुनयः ! पुनर्मुनीनां प्रत्यवमर्शः शान्तिकरणप्रारम्भार्थः । स्वप्ने स्वप्नावस्थायां जलमत्यर्थमवगाहते स्रोतसा ह्रियते निमज्जति वा । मुण्डित-शिरसः पुरुषान्पश्यति । काषायवाससो रक्तनीलादिवस्त्रावरणांश्च । कन्यादा-नाम मांसाशिनः पक्षिणः गृध्रादीन्मृगांश्च व्याघ्रादीनधिरोहति । तथाऽन्त्यजै-श्चण्डालादिभिः गर्दभैः खरैरुष्टैः क्रमेलकैः सह परिवृतश्चित्तवृत्तिः । ब्रजज्जगच्छ-न्नात्मानं परैः शत्रुभिः पृष्ठतो धावन्निरनुगतमभिभूयमानं मन्यते ॥ २७२-२७३ ॥

भाषा—उस (विघ्नकारक) विनायक से जो प्रस्त होते हैं उनके लक्षण सुनिये । स्वप्न में जल में बहुत स्नान करता है (ऐसा स्वप्न देखता है), सिर मुँडाए हुए पुरुषों को देखता है, गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों को देखता है; मांसभक्षी (गृध्र आदि पक्षी, व्याघ्र आदि पशु) की सवारी करने का स्वप्न देखता है; चाण्डाल, गदहे और ऊँटों के साथ एकत्र निवास और स्वयं चलते समय शत्रुओं द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखता है । (विना यक द्वारा प्रस्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष चिह्न इस प्रकार होते हैं) वह खिन्न रहता है अपना इच्छित फल नहीं पाता और विना कारण ही दुःखी रहता है ॥ २७२-२७४ ॥

एवं स्वप्नदर्शनान्युक्त्वा प्रत्यक्षलिङ्गान्याह—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः ॥ २७४ ॥

तेनोपसृष्टो लभते न राज्ञ्यं राजनन्दनः ।

कुमारी च न भर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना ॥ २७५ ॥

आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च न शिष्योऽध्ययनं तथा ।

वणिग्लाभं न चाप्नोति कृषिं चापि कृषीवलः ॥ २७६ ॥

विमना विक्षिप्तचित्तः, विफलारम्भः विफला आरम्भा यस्य स तथोक्तः न क्वचित्फलमाप्नोति । संसीदत्यनिमित्ततः विना कारणेन दीनमनस्को भवति ।

१. ब्रजज्जन्तं च तथा । २. अनुमन्यते । ३. राष्ट्रं । ४. चैव ।

राजनन्दनो राजकुले जातः श्रुतशौर्यधैर्यादिगुणयुक्तोऽपि राज्यं न लभते ।
कुमारी रूपलक्षणाभिजनादिसंपन्नापीप्सितं भर्तारम्, अङ्गना गर्भिण्यप-
त्यम्, ऋतुमती गर्भम्, अध्ययनतदर्थज्ञाने सत्यपि आचार्यत्वं श्रोत्रियः,
विनयाचारादियुक्तोऽपि शिष्योऽध्ययनं श्रवणं वा, 'न लभते' इति सर्वत्र
संबध्यते । वणिक् वाणिज्योपजीवी तत्र कुशलोऽपि धान्यादिक्रयविक्रयादिषु
लाभम् । कृषीवलः कर्षकस्यत्राभियुक्तोऽपि कृषिफलं नाप्नोति । एवं यो यया
वृत्त्या जीवति स तत्र निष्फलारम्भश्चेत्तेनोपसृष्टो वेदितव्यः ॥ २७४-२७६ ॥

भाषा—विनायक द्वारा अभिभूत होने पर राजा का पुत्र राज्य नहीं पाता,
कुमारी कन्या (अभीष्ट एवं योग्य) वर नहीं पाती, स्त्री को गर्भ नहीं ठहरता,
श्रोत्रिय (वेदपाठी) को आचार्य का पद नहीं मिलता, शिष्य अध्ययन से
वञ्चित रहता है; वणिक् वाणिज्य में लाभ नहीं पाना और न कृषक अच्छी
फसल पाता है ॥ २७४-२७६ ॥

एवं कारकज्ञापकहेतूनभिधाय विघ्नोपशान्त्यर्थं कर्मविधानमाह—

‘स्नापनं तस्य कर्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम् ।

तस्य विनायकोपसृष्टस्याऽनागतविनायकोपसर्गपरिहारार्थिनो वा स्नपन-
मभिषेचनं कर्तव्यम् । पुण्ये स्वानुकूलनक्षत्रादियुक्ते । अह्नि दिवसे न रात्रौ ।
वधिपूर्वकं शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यतासहितम् ॥

स्नपनविधिमाह—

गौरसर्षपकल्केन साज्येनोत्सादितस्य च ॥ २७७ ॥

सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्विलिप्तशिरसस्तथा ।

भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजाः शुभाः ॥ २७८ ॥

गौरसर्षपकल्पेन सिद्धार्थपिष्टेन साज्येन घृतलोलीककेनोत्सादितस्योद्धृति-
ताङ्गस्य तथा सर्वौषधैः प्रियङ्गुनागकेसरादिभिः सर्वगन्धैश्चन्दनागुरुकस्तूरि-
कादिभिरविलिप्तशिरसो वक्ष्यमाणभद्रासनोपविष्टस्य पुरुषस्य द्विजा ब्राह्मणाः
शुभा श्रुताध्ययनवृद्धसंपन्नाः शोभनाकृतयश्चत्वारः 'अस्य स्वस्ति भवन्तो
ब्रुवन्तु' इति वाच्याः । अस्मिन्समये गृह्योक्तमार्गेण पुण्याहवाचनं कुर्यादित्यर्थः ॥

भाषा—विनायक से अभिभूत इस प्रकार के व्यक्ति का शुभतिथि में
पीले सरसों के उबटन घी मिलाकर उस से स्नपन करे (शरीर में लगावे)
उसे भद्र आसन पर बैठा के सभी औषधियों एवं सभी गन्धों का उसके शरीर
पर लेप लगावे (श्रुताध्ययनसंपन्न) श्रेष्ठ ब्राह्मणों उसके लिये स्वस्तिवाचन करें ।
(इस अवसर पर गृह्य में उक्त विधि से पुण्याहवाचन भी करे) ॥ २७७-२७८ ॥

अश्वस्थानाद् गजस्थानाद्बल्मीकात्संगमाद्भद्रात् ।

मृत्तिकां रोचनां गन्धान्गुग्गुलं चाऽप्सु निक्षिपेत् ॥ २७९ ॥

या आहता ह्येकवर्णैश्चतुर्भिः कलशैर्हृदात् ।

चर्मण्यानडुहे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः ॥ २८० ॥

किंच, अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकप्ररिस्संगमाशोष्यहृदेभ्य आहतां पञ्चविधां मृदं गोरोचनं गन्धान् चन्दनकुङ्कुमागुरुप्रभृतीन् गुग्गुलं च तास्वप्सु विनिक्षिपेत् । या आप आहता एकवर्णैः समानवर्णैश्चतुर्भिः १ कुम्भैरमृणास्फुटिताकठकैः, हृदाद-
शोष्यात् संगमाद्वा । ततश्चानडुहे चर्मणि रक्ते लोहितवर्णे उत्तरलोमनि प्राचीन-
ग्रीवे भद्रं मनोरममासनं श्रीपर्णीनिमित्तं स्थाप्यम् । तत उक्तोदकमृत्तिकागन्धा-
दिसहितांश्चतादिपल्लवोपशोभिताननान्त्र्यदामवेष्टितकण्ठांश्चन्दनचर्चितांश्चवाहतव-
स्त्रविभूषितांश्चतसृषु पूर्वादिदिक्षु स्थापयित्वा शुचौ सुलिप्ते स्थण्डिले रक्षितप-
ञ्चवर्णस्वस्तिके लोहितमानडुहं चर्मोत्तरलोम प्राचीनग्रीवमास्तीर्य तस्योपरि
श्वेतवस्त्रप्रच्छादितमासनं स्थापयेदित्येतद्भद्रासनम् । तस्मिन्नुपविष्टस्य स्वस्ति-
वाच्या द्विजाः ॥ २७९-२८० ॥

भाषा—घोड़शाल, गजशाल, बल्मीक (चींटी की बाँबी), नदी के संगम, और पोखरे की मिट्टी, गोरोचन, चन्दन आदि गन्ध, और गुग्गुल उस जल में छोड़े । यह जल एक ही वर्ण के चार घड़ों में गहरे जलाशय (कुण्ड) से लाया गया हो । इसके बाद लाल रंग के बैल के चमड़े पर श्रीपर्णी आदि का बना हुआ भद्रासन (उत्तम आसन) रखना चाहिए ॥ २७९-२८० ॥

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम् ।

तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते ॥ २८१ ॥

किंच, स्वस्तिवाचनान्तरं जीवत्पतिपुत्राभिः रूपगुणशालिनीभिः सुवेषाभिः कृतमङ्गलं पूर्वदिग्देशावस्थितं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेद्गुरुः । सहस्रा-
क्षमनेकशक्तिकं शतधारं बहुप्रवाहमृषिभिर्मन्वादिभिर्यदुदकं पावनं पवित्रं कृतं
उत्पादितं तेनोदकेन त्वां विनायकोपसृष्टं विनायकोपसर्गशान्तये अभिषिञ्चामि ।
पावमान्यश्चैता आपस्त्वां पुनन्तु ॥ २८१ ॥

भाषा—(पूर्वदिशा में रखे हुए पहले कलश को लेकर उसके जल से निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता हुआ अभिषिञ्चन करे) अनेक शक्ति एवं अनेक

१. च विनिक्षिपेत् । २. कुम्भैः शुम्भैरमृणा । ३. शोभितान् नानास्त्रदाम ।
४. ताननाहत ।

प्रवाह वाले मनु आदि ऋषिया ने जिसे पवित्र बनाया है उस जल से (विनायक गृहीत) तुम्हारा अभिषिञ्चन करता हूँ । ये जल तुम्हें पवित्र करें ॥ २८१ ॥

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः ।

भगामिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः ॥ २८२ ॥

तदनन्तरं दक्षिणदेशावस्थितं द्वितीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । भगं कल्याणं ते तुभ्यं वरुणो राजा भगं सूर्यो, भगं बृहस्पतिः भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयश्च ददुरिति ॥ २८२ ॥

भाष—(तब दक्षिण की ओर रखे हुए दूसरे कलश को लेकर उसे अभिषिञ्चित करे) राजा वरुण ने तुझे कल्याण दिया है, सूर्य और बृहस्पति ने कल्याण (प्रदान किया), इन्द्र और वायु ने कल्याण दिया है और सप्तर्षियों ने तुम्हें कल्याण दिया है ॥ २८२ ॥

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।

ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् ध्वन्तु सर्वदा ॥ २८३ ॥

ततस्तृतीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । ते तब केशेषु यद्दौर्भाग्य-मकल्याणं सीमन्ते मूर्धनि च ललाटे कर्णयोरक्ष्णोश्च तत्सर्वमापो देव्यो ध्वन्तु उपशमयन्तु सर्वदा इति ॥ २८३ ॥

भाषा—(तब तीसरे कलश को लेकर इस मन्त्र से अभिषिञ्चन करे) तुम्हारे केशों में, सीमन्त में, शिर, ललाट, कानों और आँखों में जो कुछ भी दौर्भाग्य या अकल्याण हो उसे आप (जल) देवता सदैव नष्ट करें ॥ २८३ ॥

स्नातस्य सार्षपं तैलं सुवेणौदुम्बरेण तु ।

जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सयेन परिगृह्य च ॥ २८४ ॥

ततश्चतुर्थं कलशमादाय पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् । 'सर्वमन्त्रैश्चतुर्थम्' इति मन्त्रलिङ्गात् । उक्तेन प्रकारेण कृताभिषेकस्य मूर्धनि सव्यपाणिगृहीत-कुशान्तर्हिते सार्षपं तैलं उदुम्बरवृक्षोद्भवेन सुवेण वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयादा-चार्यः ॥ २८४ ॥

भाषा—(तब चौथा कलश लेकर तीनों मन्त्रों से उसको स्नान करावे) उसके स्नान कर लेने पर उसके सिर पर बायें हाथ से कुश फेर कर उदुम्बर वृक्ष की सुवा से सरसों के तेल का (आचार्य) हवन करे ॥ २८४ ॥

मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ ।

कुंश्माण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितैः ॥ २८५ ॥

नामभिर्वलिमन्त्रैश्च नमस्कारसमन्वितैः ।

मितसंमितादिभिर्विनायकस्य नामभिः स्वाहाकारान्तैः प्रणवादिभिः 'बुद्ध-
यात्' इति गतेन संबन्धः । स्वाहाकारयोगाच्चतुर्थी विभक्तिः । अतश्च ॐ मिताय
स्वाहा, ॐ संमिताय स्वाहा, ॐ शालाय स्वाहा, ॐ कटङ्कटाय स्वाहा,
ॐ कुंश्माण्डाय स्वाहा, ॐ राजपुत्राय स्वाहेति षण्मन्त्रा भवन्ति । अनन्तरं
लौकिकेऽग्नौ स्थालीपाकविधिना चरुं श्रपयित्वा एतैरेव षड्भिर्मन्त्रैस्तस्मिन्नेवाग्नौ
कृत्वा तच्छेषं बलिमन्त्रैरिन्द्राग्नियमनिर्वृतिवरुणवायुसोमेशानम्रह्मानन्तानां
नामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्वितैस्तेभ्यो बलिं दद्यात् ॥ २८५ ॥

अनन्तरं किं कुर्यादित्याह—

दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे कुशानास्तीर्य सर्वतः ॥ २८६ ॥

कृताकृतास्तण्डुलांश्च पल्लौदनमेव च ।

मत्स्यान्पक्षांस्तथैवान्मांसमेतावदेव तु ॥ २८७ ॥

पुष्पं चित्रं सुगन्धं च सुरां चैत्रिविधमपि ।

मूलकं पूरिकांपूपांस्तथैवोण्डेरकजः ॥ २८८ ॥

दध्यन्नं पायसं चैव गुडपिष्टं समोदकम् ।

एतान्सर्वान्समाहृत्य भूमौ कृत्वा ततः शिरः ॥ २८९ ॥

विनायकस्य जननीमुपतिष्ठत्ततोऽम्बिकाम् ।

कृताकृताद्युपहारद्रव्यजातं विनायकस्योपाहृत्य संनिधानात्तजनन्याश्च शिरसा
भूमिं गत्वा—'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो दन्ती प्रचोदयात्'
इत्यनेन मन्त्रेण विनायकं,—'सुभगायै विद्महे काममालिन्यै धीमहि । तन्नो गौरी
प्रचोदयात्' इत्यनेनाम्बिकां च नमस्कुर्यात् । तत उपहारशेषमास्तीर्णकुशे
शूर्पे निधाय चतुष्पथे निदध्यात्—'बलिं गृह्णन्त्वमे देवा आदिश्या वस-
वस्तथा । मरुतश्चाश्विनौ रुद्राः सुपर्णाः पक्षगा ग्रहाः ॥ असुरा यातुधानाश्च
पिशाचोरगमातरः । शाकिन्यो यक्षवेताला योगिन्यः पूतनाः शिवाः ॥ जृम्भकाः

१. शालकटंकटः ।

२. कुष्मा (श्मा ?) ण्डराज ।

३. दित्याह

दद्यादित्यादिचतुर्भिः ।

४. स्तथा चामान् ।

५. विविधा ।

६. पुष्पं

तथैव । तथैवोण्डेरकजम् ।

७. गुडमिश्रं ।

८. अपरार्कासंमतमिदमर्थम् ।

९. तदाऽम्बिकाम् ।

१०. पिशाचा मातरोरगाः ।

सिद्धगन्धर्वा 'मायाविद्याधरा नराः । दिक्पाला लोकपालाश्च ये च विष्णुविनायकाः ॥ जगतां शान्तिकर्तारो ब्रह्माद्याश्च महर्षयः । मा विष्णो मा च मे पापं मा सन्तु परिपन्थिनः ॥ सौम्या भवन्तु तृप्ताश्च भूतप्रेताः सुखावहाः ॥ इत्येतैर्मन्त्रैः ॥ कृताकृताः सकृदवहतास्तण्डुलाः, पललं तिलपिष्टं तन्मिश्र ओदनः पल्लौदनः, मत्स्याः पक्का अपक्काश्च, मांसमेतावदेव पक्कमपक्कं च, पुष्पं चित्रं रक्तपीतादिनानावर्णम् । चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यम्, सुरा त्रिविधा गौडी माध्वी पैष्टी च मूलकं कन्दाकारो भक्ष्यविशेषः, पूरिका प्रसिद्धा, अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः । उण्डेरकस्रजः उण्डेरकाः पिष्टादिमय्यस्ताः प्रोताः स्रजः, दध्यन्नं दधिमिश्रमन्नं । पायसं पयः पयः शृतम् । गुडपिष्टं गुडमिश्रं शाक्यादिपिष्टम् । मोदकाः लड्डुकाः । अनन्तरं विनायकं तज्जननी-मन्त्रामम्बिकां वक्ष्यमाणमन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २८६-२८९ ॥

किं कृत्वेत्याह—

दूर्वासर्षपपुष्पाणां दत्त्वाऽर्घ्यं पूर्णमञ्जलिम् ॥ २९० ॥

सकृत्सुमोदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्षपपुष्पाणां पूर्णमञ्जलिं दत्त्वा, 'उपतिष्ठेत्' इति गतेन संबन्धः ॥ २९० ॥

भाषा—मित, संमित, शाल, कटहल, कूष्माण्ड और राजपुत्र के अन्त में स्वाहा जोड़कर हवन के मन्त्र होते हैं (यथा-ओं मिताय स्वाहा आदि) इन्हीं मन्त्रों से इन्द्र से लेकर ब्रह्मा तक अनन्त देवताओं के नाम से नमस्कार पूर्वक बलि देवे । (तब बचे हुए अंश को) सूप में कुश बिछाकर चौराहे पर रखे । बनाये गये और न बनाये गये चावल, पीसे हुए तिल से युक्त चावल, पकी-अधपकी मछली, पक्का और न पका हुआ मांस, अनेक वर्ण के फूल, चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य, (गौडी, माध्वी, पैष्टी) तीन प्रकार की सुरा, कन्द के समान मूल फल, पूरी, पूआ, उण्डेरक (छोटे-छोटे रोट) की भौला, दही मिला हुआ अन्न, खीर, गुड से बनाये गये लड्डू-इन सब को लेकर भूमि में शिर लगाकर विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करे । इसके पहले दूब, सरसों और फूल अञ्जलि में लेकर अर्घ्य देवे ॥ २८५-२९० ॥

उपस्थानमन्त्रमाह—

रूपं देहि यशो देहि भगं भवति देहि मे ।

पुत्रान्देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे ॥ २९१ ॥

१. माला विद्या; नागा विद्याधरा ।

२. पललं पिष्टं ।

३. चैरेयी ।

४. जयं देहि ।

५. भगवन् ।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।

ब्राह्मणान्भोजयेद्द्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि ॥ २९२ ॥

विनायकोपस्थाने 'भगवन्' इत्यूहः । ततोऽभिषेकानन्तरं यजमानः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनो ब्राह्मणान्भोजयेत् । यथाशक्ति गुरवे श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्नाय विनायकस्नपनविधिज्ञाय वस्त्रयुग्मं दद्यात् । 'अपि' शब्दाद्यथाशक्ति दक्षिणां विनायकोद्देशेन ब्राह्मणेभ्यश्च । तत्रायं प्रयोगक्रमः—चतुर्भिर्ब्राह्मणैः सार्धमुत्कलक्ष्णो गुरुर्मन्त्रज्ञो भद्रासनरचनानन्तरं तत्सन्निधौ विनायकं तज्जननीं चोक्तमन्त्राभ्यां गन्धपुष्पादिभिः समभ्यर्च्य चरुं श्रपयित्वा भद्रासनोपविष्टस्य यजमानस्य पुण्याहवाचनं कृत्वा, चतुर्भिः कलशैरभिषिच्य, सार्षपं तैलं शिरसि हुत्वा, चरुहोमं विधायामभिषेकशालायां चतुर्दिक्षु इन्द्रादिलोकपालेभ्यो बलिं दद्यात् । यजमानस्तु स्नानानन्तरं शुक्लमाल्याम्बरधरो गुरुणा सहितो विनायकाभिवकाभ्यामुपहारं दत्त्वा शिरसा भूमिं नत्वा कुसुमोदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्षपपुष्पाञ्जलिं च दत्त्वा विनायकमभिवकां चोपतिष्ठेत् । गुरुरुपहारशेषं शूर्पे कृत्वा चत्वरं निदध्यात् । अनन्तरं वस्त्रयुग्मं दक्षिणां ब्राह्मणेभ्यो भोजनं दद्यादिति ॥ २९१-२९२ ॥

भाषा—(नमस्कार का मन्त्र यह है) देवि ! मुझे रूप दो, यश दो, कल्याण दो, पुत्र दो, धन दो और सभी अभिलाषाएँ पूरी करो । इसके बाद श्वेत वस्त्र धारण करके, श्वेत पुष्पों की माला पहन कर, चन्दन आदि का लेप करके, ब्राह्मणों को भोजन करावे और गुरु के लिये भी जोड़ा वस्त्र देवे ॥ २९१-२९२ ॥

इति विनायकस्नपनविधिः ।

अस्यैव विनायकस्नपनस्योक्तोपसंहारेण संयोगान्तरं दर्शयितुमाह—

एवं विनायकं पूज्यं ग्रहांश्चैव विधानतः ।

कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २९३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विनायकं संपूज्य कर्मणां फलमविधेनाप्नोतीत्युक्तोपसंहारः । संयोगान्तरमाह—श्रियं चोत्कृष्टतमामाप्नोतीति । श्रीकामध्वानेनैव विधानेन विनायकं पूजयेदित्यर्थः । आदित्यादिग्रहपीडाशान्तिकामस्य लक्ष्म्यादिदामस्य च ग्रहपूजादिकल्पं विधास्यन् ग्रहपूजामुपनिषति—ग्रहांश्चैव

१. अभिषेकोपस्थाने भवतीत्यूहः ।

२. श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।

३. ग्रहपूजां लक्षयति ।

विधानत इति । ग्रहानादित्यादीन्वच्यमाणेन विधिना संपूज्य कर्मणां सिद्धि-
माप्नोति श्रियं चाप्नोति इति ॥ २९३ ॥

भाषा—इस प्रकार विनायक की पूजा करके और सभी ग्रहों की
विधिपूर्वक पूजा करके सभी कर्मों का फल प्राप्त करता है और उत्कृष्ट
समृद्धि का लाभ करता है ॥ २९३ ॥

नित्यकाम्यसंयोगानाह—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।

महागणपतेश्चैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २९४ ॥

आदित्यस्य भगवतः सदा प्रतिदिवसं रक्तचन्दनकुङ्कुमकुसुमादिभिः पूजां
कुर्वन् स्कन्दस्य महागणपतेश्च नित्यं पूजां कुर्वन् सिद्धि मोक्षमात्मज्ञानद्वारेण
प्राप्नोतीति नित्यसंयोगः । आदित्यस्कन्दगणपतीनामन्यतमस्य सर्वेषां वा
तिलकं स्वर्णनिमित्तं रूप्यनिमित्तं वा कुर्वन् सिद्धिमभिलषितामाप्नोति । तथा
पुष्पी चेति काम्यसंयोगः ॥ २९४ ॥

भाषा—प्रतिदिन सूर्य भगवान् की (लाल चन्दन, कुङ्कुम और पुष्प
आदि से) तथा महागणपति की पूजा करने और इनके लिये (सोने या
चाँदी का) तिलक बनवाने वाला अभिलषित फल प्राप्त करता है (सिद्धि
प्राप्त करता है) ॥ २९४ ॥

इति महागणपतिकल्पः ।

ग्रहशान्तिप्रकरणम्

‘एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः । कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं
चाप्नोत्यनुत्तमाम्’ (भा० २९३) इत्यनेन ग्रहपूजायाः कर्मणामविघ्नेन
फलसिद्धिः श्रीश्च फलमित्युक्तम् । इदानीं फलान्तराण्याह—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।

वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा तथैवाऽभिचरन्नपि ॥ २९५ ॥

श्रीकाम इति पूर्वोक्तस्यानुवादः, शान्तिकाम आपद्पुपशान्तिकामः, सस्या-
दिवृद्धयर्थं प्रवर्षणं वृष्टिः, आयुरपमृत्युजयेन दीर्घकालजीवनम् । पुष्टिरनवय-
शरीरत्वं, एताः कामयत इति वृष्ट्यायुःपुष्टिकामः । एते श्रीकामादयो ग्रहयज्ञं
ग्रहपूजां समाचरेयुः । तथाऽभिचरन्नपि अदृष्टोपायेन परपीडा अभिचारस्तत्कामश्च
ग्रहयज्ञं समाचरेत् ॥ २९५ ॥

भाषा—समृद्धि की इच्छा रखने वाला, आपत्ति से शान्ति चाहने वाला, (खेती के लिये) वृष्टि, दीर्घजीवन, पुष्टि की कामना करने वाला तथा अदृष्ट उपाय से दूसरे (शत्रु आदि) को पीड़ित करने की इच्छा वाला ग्रह यज्ञ करे ॥ २९५ ॥

ग्रहानाह—

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः ।

शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ॥ २९६ ॥

पते सूर्यादयो नव ग्रहाः ॥ २९६ ॥

भाषा—सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध (चन्द्रमा का पुत्र), बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नवग्रह कहे गये हैं ॥ २९६ ॥

‘ग्रहाः पूज्याः’ इत्युक्तं, किं कृत्वेत्याह—

ताम्रकात्स्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्वर्णकादुभौ ।

राजतादयसः सीसात्कांस्यात्कार्या ग्रहाः क्रमात् ॥ २९७ ॥

स्ववर्णैर्वा पटे लेख्या गन्धैर्मण्डलकेषु वा ।

सूर्यादीनां मूर्तयस्ताम्रादिभिर्यथाक्रमं कार्याः । तद्वलाभे स्ववर्णैर्वर्णकैः पटे लेख्याः, मण्डलकेषु वा । गन्धैः रक्तचन्दनादिभिर्बन्धावर्णं लेख्या इत्यन्वयः । द्विभुजत्वादिविशेषस्तु मत्स्यपुराणोक्तो द्रष्टव्यः । यथा—‘पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमष्टुतिः । सप्ताश्वः सप्तरज्जुश्च द्विभुजः स्यात्सदा रविः ॥ श्वेतः श्वेताम्बरधरो दशाश्वः श्वेतभूषणः । गदापाणिर्द्विबाहुश्च कर्तव्यो वरदः शशी ॥ रक्तमाल्याम्बरधरः शक्तिशूलगदाधरः । चतुर्भुजो मेषगमो वरदः स्याद्दरासुतः ॥ पीतमास्याम्बरधरः कर्णिकारसमष्टुतिः । खड्गचर्मगदापाणिः सिंहस्थो वरदो बुधः ॥ देवदैत्यगुरु तद्वत्पीतश्वेतो चतुर्भुजो । दण्डिनौ वरदौ कार्यौ सायसूत्रकमण्डल ॥ इन्द्रनीलद्युतिः शूली वरदो गृध्रवाहनः । बाणबाणासनधरः कर्तव्योऽर्कसुतः सदा ॥ कशालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः । नीलैः सिंहासनरथश्च राहुरत्र प्रशस्यते ॥ धूम्रा द्विबाहुवः सर्वे गदिनो विकृतानना । गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्ध्वप्रदाः ॥ सर्वे किरीटिनः कार्या ग्रहां लोकहितावहाः । स्वाङ्गुलेनोच्छ्रिताः सर्वे शतमष्टोत्तरं सदा’ इति ॥ एतेषां स्थापनवेशश्च तत्रैवोक्तः—‘मध्ये तु भास्करं विद्याहोहितं दक्षिणेन तु । उत्तरेण गुहं विद्याद् बुधं पूर्वोत्तरेण तु ॥ पूर्वेण भार्गवं विद्याः सोमं दक्षिणपूर्वके । पश्चिमेन शनिं विद्याद्वाहुं पश्चिमदक्षिणे ॥ पश्चिमोत्तरतः केतुं स्थाप्या चैव शुक्लतण्डुलैः ॥’ इति ॥ २९७ ॥

१. गन्धमण्डलकेषु वा ।

२. सप्ताश्वरथसंस्थम् ।

३. नीलसिंहासनः ।

पूजाविधिमाह—

यथावर्णं प्रदेयानि वासांसि कुसुमानि च ॥ २९८ ॥

गन्धाश्च बलयश्चैव धूपो देयश्च गुग्गुलुः ।

कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च चरवः प्रतिदैवतम् ॥ २९९ ॥

यथावर्णं यस्य ग्रहस्य यो वर्णस्तद्वर्णानि वस्त्रगन्धपुष्पाणि देयानि । बलयश्च धूपश्च सर्वेभ्यो गुग्गुलुर्देयः । चरवश्च प्रतिदैवतमग्निप्रतिष्ठापनान्वाधानादिपूर्वकं 'चतुरश्चतुरो मुष्टीर्निर्वपति', 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामी'त्यादिविधिना कार्याः । अनन्तरं सुसमिद्धेऽग्नाविध्माधानाद्याधारान्तं कर्म कृत्वा आदित्याद्युद्देशेन यथाक्रमं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्वक्ष्यमाणाः समिधो वक्ष्यमाणप्रकारेण हुत्वा चरवो होतव्याः ॥ २९८-२९९ ॥

भाषा—(सूर्य आदि ग्रहों की मूर्तियाँ) क्रमशः ताँवे, स्फटिक, लाल-चन्दन, सोने की दो, चाँदी, लोहा, सीसा की क्रमशः बनवानी चाहिए । अथवा (इनकी आकृतियाँ) तत्तत् रंगों से वस्त्र पर अथवा मण्डल में चन्दनादि गन्धों से बनावे । ग्रह के वर्ण के अनुसार (उस-उस वर्ण का) वस्त्र और फूल दे । गन्ध, बलि, धूप और गुग्गुलु देना चाहिए और प्रत्येक देवता के लिए मन्त्र के साथ चरु बनाकर (उसका हवन करना चाहिए) ॥ २९७-२९९ ॥

मन्त्रानाह—

आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् ।

उद्बुध्यस्वेति च कचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः ॥ ३०० ॥

बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवान्नात्परिस्तुतः ।

शं नो देवीस्तथा काण्डात्केतुं कृण्वन्निर्मास्तथा ॥ ३०१ ॥

'आकृष्णेन रजसा वर्तमान' (ऋ. १।३।६।२) इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रमादित्यादीनां वेदितव्याः ॥ ३००-३०१ ॥

भाषा—'आकृष्णेन', 'इमं देवा', 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' 'उद्बुध्यस्व', 'बृहस्पते अतियदर्यः', 'अन्नात्परिस्तुतः', 'शं नो देवी', और 'काण्डात्' 'केतुं कृण्वन्' ये यथाक्रम नौ देवताओं के मन्त्र हैं ॥ ३००-३०१ ॥

इदानीं समिध आह—

अर्कः पलाशः खदिर अपामार्गोऽथ पिप्पलः ।

उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात् ॥ ३०२ ॥

१. ऽग्नावन्वाधानादनन्तरं कर्म कृत्वा । २. क्षिमा अपि । ३. औदुम्बर ।

अर्कपलाशादयो यथाक्रमं सूर्यादीनां समिधो भवन्ति । तत्रार्द्रा अभग्नाः सत्वचः प्रादेशमात्राः कर्तव्याः ॥ ३०२ ॥

भाषा—अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा और कुश—ये क्रमशः (इन नौ प्रहों के लिए) समिध् होते हैं ॥ ३०२ ॥

एकैकस्य त्वष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा ।

होतव्या मधुसर्पिर्म्यां दध्ना क्षीरेण वा^१ युताः ॥ ३०३ ॥

किंच, आदित्यादीनामेकैकस्याष्टशतसंख्या अष्टाविंशतिसंख्या वा यथासंभवं मधुना सर्पिषा दध्ना क्षीरेण वा युता युक्ता अर्कादिसमिधो होतव्याः ॥ ३०३ ॥

भाषा—(आदित्यादि में) प्रत्येक प्रह के लिए आठ-आठ सौ या अठाइस-अठाइस समिधाएँ मधु और घी दही या दूध में भिगोकर हवन करे ॥ ३०३ ॥

इदानीं भोजनान्याह—

गुडौदनं पायसं च हविष्यं क्षीरषाष्टिकम् ।

दध्योदनं^२ हविश्चूर्णं मांसं चित्राक्षमेव च ॥ ३०४ ॥

दद्याद् ग्रहक्रमादेवं द्विजेभ्यो भोजनं^३ बुधः ।

शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ३०५ ॥

गुडमिश्र ओदनो गुडौदनः, पायसं पायसाक्षम्, हविष्यं मुख्यन्नादि, क्षीरषाष्टिकं क्षीरमिश्रः षाष्टिकौदनः, दध्ना मिश्र ओदनो दध्योदनः, हविर्घृतौदनः । चूर्णं तिलचूर्णमिश्रं ओदनः, मांसं भक्ष्यमांसमिश्र ओदनः, चित्रौदनो नानावर्णौदनः, एतानि गुडौदनादीनि यथाक्रममादित्याद्युद्देशेन भोजनार्थं द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । ब्राह्मणसंख्या यथाविभवं द्रष्टव्या । गुडौदनाद्यभावे तु यथालाभमोदनादि पादप्रक्षालनादिविधिपूर्वकं सत्कृत्य संमान-पुरःसरं दद्यात् ॥ ३०४-३०५ ॥

भाषा—गुड़ मिला हुआ भात, खीर, हविष्य (तीनी का भात), दूध के साथ साठों का भात, दही-भात, घी-भात, भक्ष्यमांस युक्त भात, तिल युक्त भात, अनेक वर्ण के चारल आदि का भात, ये क्रमशः इन प्रहों के लिये ब्राह्मणों को विद्वान् पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार या अपने लाभ के अनुसार उनका सत्कार करके, विधिपूर्वक भोजन देवे ॥ ३०४-३०५ ॥

१. कस्यात्राष्टशतं । एकैकस्याष्टशतक ।

२. संयुताः ।

३. घृतान्नं

च कृसरामिषचित्रकम् ।

४. द्विजः ।

दक्षिणामाह—

धेनुः शङ्खस्तथानड्वान् हेम वासो हयः क्रमात् ।

कृष्णा गौरायसं छाग एता वै दक्षिणाः स्मृताः ॥ ३०६ ॥

धेनुर्दोग्ध्री, शङ्खः प्रसिद्धः, अनड्वान् भारसहो^१ बलीवर्दः, हेम सुवर्णम्, वासः पीतम्, हयः पाण्डुरः, कृष्णा गौः, ^२आयसं शस्त्रादि, छागप्रसिद्धः, एता धेन्वादयो यथाक्रममादिस्थाद्युद्देशेन ब्राह्मणानां दक्षिणाः स्मृताः उक्ता मन्वादिभिः । एतच्च संभवे सति, असंभवे तु यथालाभं शक्तितोऽन्यदेव यत्किंचिद्देयम् ॥ ३०६ ॥

भाषा—(दूध देने वाली) गाय, शंख, (भार ढोने वाला) बैल, सोना, पीला बकरा, पाण्डुवर्ण का घोड़ा, काली गाय, लोहे के शस्त्र आदि और बकरा—ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये (ब्राह्मण की) दक्षिणा होते हैं ॥

‘शान्तिकामेनःविशेषेण सर्वे ग्रहाः पूजयितव्याः’ (भा० २१५) इत्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

यश्च यस्य यदा दुःस्थ स तं यत्नेन पूजयेत् ।

ब्रह्मणैषां वरो दत्तः पूजिताः पूजयिष्यथ ॥ ३०७ ॥

यस्य पुरुषस्य यो ग्रहो यदा दुःस्थोऽष्टमादिदुष्टस्थानस्थितः स तं ग्रहं तदा यत्नेन विशेषेण पूजयेत् । यस्मादेषां ग्रहाणां ब्रह्मणा पूर्वं वरो दत्तः ‘पूजिताः सन्तो यूयमिष्टप्रापणेनानिरसनेन च पूजयितारं पूजयिष्यथ’ इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—जिस पुरुष के लिए जो प्रतिकूल (अष्टम आदि स्थान में स्थित) हो वह उस-उस ग्रह की विधिपूर्वक पूजा करे । ब्रह्मा ने इन्हें पर दिया है कि तुम्हारी पूजा किये जाने पर तुम लोग पूजा करने वाले को सुखी और प्रसन्न करोगे ॥ ३०७ ॥

अविशेषेण द्विजानधिकृत्य शान्तिकपौष्टिकादीनि कर्माण्यनुक्रान्तानि, तत्राभिषेकं गुणयुक्तस्य राज्ञो विशेषेणाधिकार इति दर्शयति—

ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रायाः पतनानि च ।

भावाभावौ च जगतस्तस्मात्पूज्यत मा ग्रहाः ॥ ३०८ ॥

[ग्रहाणामिदमातिथ्यं कुर्यात्संवत्सरादपि ।

आरोग्यबलसंपन्नो जीवेत्स शरदः शतम् ॥]

नरेन्द्राणामभिषिक्तचक्रियाणां ग्रहाः पूज्यतमाः, इत्यनेनान्येषामपि^१ पूज्या इति गम्यते । उभयत्र कारणमाह—प्राणिनामभ्युदयविनिपाता ग्रहाधीनाः यस्मात्तस्मादधिकारिभिः पूज्याः । किंच जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य भावा-
भावावुत्पत्तिनिरोधौ ग्रहाधीनौ । तत्र यद्येते पूजितास्तदा स्वकाल एवोत्पत्ति-
निरोधौ भवतः, अन्यथा उत्पत्तिसमये नोत्पादः, न काले निरोधश्च । जगदीश्वर-
त्वाच्च नरेन्द्राणां तद्योगक्षेमकारिणां पूज्यतमा ग्रहा इति तेषां विशेषेण शान्ति-
कादिष्वधिकारः । तथा च गौतमेन (११११) —‘राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मण-
वर्ज्यम्’ इति राजानमधिकृत्य ‘वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्’ (गौ. १११९)
चलततश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्’ इत्यादीन्कांश्चिद्धर्मानुक्त्वा—‘यानि च दैवोत्पात-
चिन्तकाः प्रभूयुस्तान्याद्विद्येत् (गौ. ११११०) तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजा-
नते’ इति । शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिधाय ‘शान्तिकपुण्याहस्वस्त्ययना-
युष्यमङ्गलसंयुक्तान्याभ्युदयिकानि विद्वेषणं स्तम्भनाभिचारद्विषद्वृद्धियुक्तानि च
शालाग्नौ कुर्यात्’ (गौ. १११११५-१७) इति शान्तिकादीनि दर्शितानि ॥ ३०८ ॥

भाषा—राजाओं का अभ्युदय और पतन, तथा संसार का अस्तित्व एवं विनाश ग्रहों के अधीन होते हैं; इसलिये ये ग्रह सबसे अधिक पूज्य होते हैं ।

[जो व्यक्ति वर्ष में एक बार भी इन ग्रहों की पूर्वोक्त विधि से पूजा करता है वह स्वास्थ्य और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।] ॥ ३०८ ॥

इति ग्रहशान्तिप्रकरणम् ।

राजधर्मप्रकरणम्

साधारणान्गृहस्थधर्मानुक्त्वेदानीं राज्याभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थस्य विशेषधर्मानाह—

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।

विनीतः सत्त्वसंपन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः ॥ ३०९ ॥

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।

धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ॥ ३१० ॥

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।

विनीतस्त्वथ वार्तायां ग्रय्यां चैव नराधिपः ॥ ३११ ॥

-
- | | | |
|---------------------|-----------------------|-------------------|
| १. अथ चान्येषामपि । | २. स्वकाळावुत्पत्ति । | ३. तस्य नोत्पादो |
| न फाले । | ४. संवननाभिचार । | ५. अदीर्घसूत्री । |

पुरुषार्थसाधनकर्मारम्भाध्यवसाय उत्साहः, महानुत्साहो यस्यासौ महो-
त्साहः, बहुदेयार्थदर्शी स्थूललक्षः, परकृतोपकारापकारौ न विस्मरतीति कृतज्ञः,
तपोज्ञानादिवृद्धानां सेवकः, वृद्धसेवकः, विनयेन युक्तो विनीतः, 'विनय' शब्दे-
नाविरुद्धः पूर्वोक्तस्नातकधर्मकलाप उच्यते—'न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं
वदेत्' (आं. १३२) इत्यादिनोक्तः । सत्त्वसंपन्नः संपदापदोहर्षविषादरहितः,
मातृतः पितृतश्चाभिजनवान् कुलीनः, सत्यवाक् सत्यवचनशीलः । शुचिर्ब्राह्म-
भ्यन्तरशौचयुक्तः अवश्यकार्याणां कर्मणामारम्भे प्रारब्धानां च समापने यो न
विलम्बतेऽसावदीर्घसूत्रः, अधिगतार्थाऽविस्मरणशीलः स्मृतिमान्, अलुब्धोऽसद्-
गुणद्वेषी, अपरुषः परदोषाकीर्तनशीलः, धार्मिको वर्णाश्रमधर्मान्वितः, न विद्यन्ते
व्यसनानि यस्यासावव्यसनः । व्यसनानि षाष्टादश, यथाह मनुः (७।४७-
४८)—'मृगयाऽहो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाटया च
कामजो दशको गणः ॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूर्यार्थदूषणञ्च । दण्डजं च
पाहृष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥' एति तत्र च सप्त कष्टतमानि । यथाह मनुः
(७।५०-५१)—'पानमत्ताः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं
विद्याश्चतुष्कं कामजे गणे ॥ दण्डस्य पातनं चैव वाक्पाहृष्यार्थदूषणे । क्रोधजे-
ऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतन्त्रिकं सदा ॥' इति प्राज्ञो गम्भीरार्थावधारणक्षमः, शूरो
निर्भयः, रहस्यवित् गोपनीयार्थगोपनचतुरः, स्वरन्ध्रगोप्ता स्यस्य सप्तसु
राज्याङ्गेषु यत्परप्रवेशद्वारशैथिल्यं तत्स्वरन्ध्रं तस्य गोप्ता प्रच्छादयिता । आन्वी-
क्षिक्यामात्मविद्यायां, दण्डनीत्यामर्थयोगक्षेमोपयोगिन्यां, वार्तायां कृषिवाणिज्य-
पशुपालनरूपायां धनोपचयहेतुभूतायां, त्रय्यां ऋग्यजुः 'सामाख्यायां च विनी-
तस्तत्तदभिज्ञैः प्रावीण्यं नीतः । यथाह मनुः (७।४३)—'त्रैविद्येभ्यश्चर्यां विद्यां
दण्डनीतिं^१ शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं चात्मविद्भ्यो वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥
इति । नराधिपो 'राज्याभिषिक्तः स्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः ॥ ३०९-३११ ॥

भाषा—राजा को महान् उत्साही, अत्यन्त धन देने वाला, कृतज्ञ, (तप
एवं ज्ञान में बढ़े हुए) वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत, सत्त्वसंपन्न
(सम्पत्ति और विपत्ति में एक सा आचरण करने वाला), कुलीन, सत्य
वचन बोलने वाला, पवित्र, आलस्यरहित, (जाने हुए कार्यों को), स्मरण
रखने वाला, सद्गुणी, दूसरे का दोष न कहने वाला, धार्मिक, (मृगया
आदि) व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य को छिपाने में चतुर,
अपने राज्य के प्रवेशद्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी (आत्म-विद्या)

एवं दण्डनीति (योग क्षेमोपयोगी) विद्या एवं वार्ता (कृषिवाणिज्य) तीनों में प्रवीण होना चाहिए ॥ ३०९-३११ ॥

एवमभिषेकयुक्तस्यान्तरङ्गान्धर्मानभिधायेदानीं बहिरङ्गानाह—

स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्शुचीन् ।

तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम् ॥ ३१२ ॥

महोत्साहादिगुणैर्युक्तो राजा मन्त्रिणः कुर्वीत । कथंभूतान् ? प्राज्ञान् हित-हितविवेककुशलान्, मौलान् स्ववंशपरम्परायातान्, स्थिरान् महत्स्यपि हर्ष-विषादस्थाने विकाररहितान् । शुचीन् धर्मार्थकामभयोपधाशुद्धान्, ते च सप्ताष्टौ वा कार्याः । यथाह मनुः (७।५४)—‘मौलान्शास्त्रविदः शूरान्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् ॥’ इति । एवं मन्त्रिणः पूर्वं कृत्वा तैः सार्धं राज्यं संधिविग्रहादिलक्षणं कार्यं चिन्तयेत् समस्तैर्ग्यस्तैश्च । अनन्तरं तेषामभिप्रायं ज्ञात्वा सकलशास्त्रार्थविचारकुशलेन ब्राह्मणेन पुरोहितेन सह कार्यं विचिन्त्य ततः स्वयं बुद्ध्या कार्यं चिन्तयेत् ॥ ३१२ ॥

भाषा—वह ज्ञानी (विवेकी), वंशपरम्परा से चले आने वाले, धैर्यवान् एवं पवित्र पुरुषों को मन्त्री बनावे; उनके साथ राज्य के (संधि, विग्रह आदि) कार्यों पर विचार करे, फिर ब्राह्मण (पुरोहित) से परामर्श ले और तब स्वयं (अपनी बुद्धि से) कर्तव्य का चिन्तन करे ॥ ३१२ ॥

कीदृशं पुरोहितं कुर्यादित्याह—

पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।

दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥ ३१३ ॥

पुरोहितं च सर्वेषु दृष्टार्थेषु कर्मसु पुरतो निहितं दानमानसत्कारैरात्मसंबद्धं कुर्यात् । कथंभूतम् ? दैवज्ञं ग्रहोत्पाततच्छमनादेर्वेदितारम्, उदितोदितं विद्याभिजनानुष्ठानादिभिरुदितैः शास्त्रोक्तैरुदितं समृद्धम्, दण्डनीत्यामर्थशास्त्रे कुशलम्, अथर्वाङ्गिरसे च शान्त्यादिकर्मणि ॥ ३१३ ॥

भाषा—दैवज्ञ (ग्रहों के उत्पात एवं शमन का ज्ञान रखने वाले) सभी शास्त्रों के ज्ञान एवं अनुष्ठान से समृद्ध, दण्ड और नीति में कुशल तथा अथर्वाङ्गिरस (शान्त और घोर कर्म) में प्रविष्ट ब्राह्मण को पुरोहित बनावे ॥

श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव चर्त्विजः ।

यश्चांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद्भूरिदक्षिणान् ॥ ३१४ ॥

-
१. ततः परम् । २. हर्षविकारस्थाने विषादरहितान् । ३. च कुर्वीत ।
४. कर्मसु पुरो निहितं ।

श्रौताग्निहोत्रादि-स्मार्तोपासनादिक्रियानुष्ठानसिद्धयर्थं ऋत्विजो वृणुयात् । यज्ञांश्च राजसूयादीन् विधिवत् यथाविधानं भूरिदक्षिणान् बहुदक्षिणानेष कुर्यात् ॥ ३१४ ॥

भाषा—(अग्निहोत्रादि) श्रौत एवं (उपासनादि) स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान कराने के लिए ऋत्विजों का वरण करे । विधिपूर्वक प्रचुर दक्षिणा के साथ राजसूय आदि यज्ञ करे ॥ ३१४ ॥

भोगांश्च 'दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च ।

अक्षयोऽयं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम् ॥ ३१५ ॥

किंच, ब्राह्मणेभ्यो भोगान् सुखानि तत्साधनदानद्वारेण दद्यात् । वसूनि च सुवर्णरूप्यभूषभृतीनि विविधानि नानाप्रकाराणि देयानि । यस्मादेव राज्ञा-मभ्यो निधिः शेषधियद् ब्राह्मणेभ्यो दीयते । साधारणधर्मत्वेन दानप्राप्तौ सत्यां राज्ञां दानप्राधान्यप्रतिपादनार्थं पुनर्वचनम् ॥ ३१५ ॥

भाषा—ब्राह्मणों को भोग अर्थात् सुख और (सोना, चाँदी आदि) अनेक प्रकार का धन प्रदान करे; क्योंकि राजा जो कुछ भी ब्राह्मणों को देते हैं वह उनकी अक्षय सम्पत्ति हो जाता है ॥ ३१५ ॥

अस्कन्नमव्ययं चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम् ।

अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥ ३१६ ॥

किंच, अग्नेः सकाशादग्निसाध्याद्भूरिदक्षिणाद्राजसूयादेरपि विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते । यदेतदस्कन्नं चरणरहितं 'अव्ययं पशुहिंसारहितं, प्रायश्चित्तैरदूषितं 'प्रायश्चित्तरहितम् ॥ ३१६ ॥

भाषा—अग्नि में हवन करने की अपेक्षा ब्राह्मण रूपी अग्नि में हवन करना श्रेयस्कर है, क्योंकि वह (ब्राह्मण रूपी अग्नि में हवन दोषादि की शङ्का से शून्य, पशुहिंसादि कष्ट से हीन और प्रायश्चित्त से अदूषित होता है ॥ ३१६ ॥

'वसूनि विप्रेभ्यो दद्यात्' (आ० ३१५) इत्युक्तम् , कया परिपाठ्या दद्यादित्याह—

अलब्धमीदृद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ।

पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ३१७ ॥

अलब्धलाभाय धर्मशास्त्रानुसारेण यतेत । यत्नेन लब्धं तत् परिपालयेत् स्वयमवेक्षया रक्षेत् । पालितं तत्परतया रक्षितं नास्त्य^१ वाणिकपथादिकया वृद्धिं नयेत् । वृद्धं च पात्रेषु त्रिविधेषु धर्मार्थकामयुक्तेषु निक्षिपेद्दद्यात् ॥ ३१७ ॥

भाषा—अप्राप्त लाभ की प्राप्ति के लिये (धर्मानुसार) प्रयत्न करना चाहिए यत्न से प्राप्त वस्तु की रक्षा करना चाहिए । रक्षित वस्तु की नोतिपूर्वक (वाणिज्यादि से) वृद्धि करनी चाहिए और बड़े हुए धनादि को (धर्म अर्थ और काम) पात्रों में लगाना चाहिए ॥ ३१७ ॥

पात्रे निक्षिप्य किं कुर्यादित्याह—

दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत् ।

आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥ ३१८ ॥

यथोक्तविधिना भूमिं दत्त्वा स्वस्वनिवृत्तिं कृत्वा निबन्धं वा एकस्य भाण्ड-भरकस्येयन्तो रूपकाः, एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानीति वा निबन्धं कृत्वा लेख्यं कारयेत् । किमर्थम् ? आगामिनः एष्यन्तो ये भद्राः साधवो नृपतयो भूपास्तेषां 'अनेन दत्तम्, अनेन प्रतिगृहीतम्' इति परिज्ञानाय । पार्थिवो भूपतिः । अनेन भूपतेरेव भूमिदाने निबन्धदाने वाऽधिकारो न भोगपतेरिति दर्शितम् ॥ ३१८ ॥

भाषा—राजा भूमि देकर या उसका निर्धारण करके भविष्य के साधु-वृत्ति वाले राजाओं के ज्ञान के लिये लिखवा दे ॥ ३१८ ॥

'लेख्यं कारयेत्' (आ० ३१८) इत्युक्तं, कथं कारयेदित्याह—

पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम् ।

अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः ॥ ३१९ ॥

प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम् ।

स्वहस्तकालसंपन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम् ॥ ३२० ॥

कार्पासिके पटे ताम्रपट्टे^१ ताम्रफलके वा आत्मनो वंश्यान् प्रपितामहपि-तामहपितृन् बहुवचनस्यार्थवद्वात् वंशवीर्यश्रुतादिगुणोपवर्णनपूर्वकमभिलेख्य आत्मानं च शब्दात् प्रतिग्रहीतारं, प्रतिग्रहपरिमाणं दानच्छेदोपवर्णनं चाभि-लेख्य । प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहो निबन्धस्तस्य रूपकादिपरिमाणम् । दीयत इति दानं चेन्नादि तस्य छेदः छिद्यतेऽनेनेति छेदः^२ नद्याघाटौ^३ निवर्तनं तत्प-

१. तत्परतया रक्षेत् । २. वाणिज्यादिकया । ३. च । ४. पट्टे फलके वा । ५. नद्याघाटौ । ६. निवर्तनपरिमाणं च ।

रिमाणं च तस्योपवर्जनं, 'अमुकनद्या दक्षिणतोऽयं ग्रामः क्षेत्रं वा, पूर्वतोऽमुक-
ग्रामस्य' एतावन्निवर्तनमित्यादिनिवर्तनपरिमाणं च लेख्यम् । एवं आघाटस्य
नदीनगरवर्मादेः संचारित्वेन भूमेन्यूननाधिकभावसंभवात्तन्निवृत्त्यर्थम्, स्वहस्तेन
स्वहस्तलिखितेन मतं मे अमुकनाम्नः अमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितमित्यनेन
संपन्नं संयुक्तं, कालेन च द्विविधेन शकनृपातीतरूपेण संवत्सररूपेण च दानकालेन
चन्द्रसूर्योपरागादिना संपन्नं स्वमुद्रया गरुडवाराहादिरूपयोपरि बहिःश्रितमङ्कितं
स्थिरं दृढं शासनं 'शिष्यन्ते भविष्यन्तो नृपतयोऽनेन 'दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्'
इति शासनं कारयेत्, महीपतिर्न भोगपतिः । संधिविग्रहादिकारिणा 'येन
केनचिल्लेख्यम्; 'संधिविग्रहकारी तु भवेद्यतस्य लेखकः । स्वयं राज्ञा समा
दिष्टः स लिखेद्राजशासनम् ॥' इति स्मरणात् । दानमात्रेणैव दानफले सिद्धे
शासनकरणं भोगाभिवृद्ध्या फलातिशयार्थम् ॥ ३१९-३२० ॥

भाषा—(कपास आदि के) वस्त्र पर या ताम्रपट पर अपनी मुद्रा
(मुहर) अङ्कित करके राजा अपने वंश के पूर्वपुरुषों के नाम तथा अपना
नाम दान के वस्तु को मात्रा और (खेत आदि हो तो) चौहद्दी का विवरण
लिखावे और तब अपने हाथ से पितृनाम सहित अपना नाम एवं तिथि
लिखकर उस राजाज्ञा को पुष्ट (प्रामाणिक) बनावे ॥ ३१९-३२० ॥

इदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह—

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमावसेत् ।

तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ॥ ३२१ ॥

रम्यं रमणीयं अशोकचम्पकादिभिः । पशव्यं पशुभ्यो हितं पशुवृद्धिकरम् ।
आजीव्यमुपजीव्यं कन्दमूलपुष्पफलादिभिः । जाङ्गलं यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतो
देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र 'सजलतरुपर्वतो देशो 'जाङ्गल' शब्देनाभिधीयते । तं
देशमावसेदधिवसेत् । तत्रैवंविधे देशे जनानां कोशस्य सुवर्णादिदात्मनश्च
रक्षणार्थं दुर्गं कुर्वीत । तच्च षड्विधम् । यथाह मनुः (७।७०)—'धन्व-
दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वा वार्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥'
इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—रमणीक, पशुओं की (चारे आदि से) वृद्धि के योग्य जीवन-
निर्वाह में (कन्दमूल, पुष्प और फल से) सहायता देने वाले एवं वनप्राय
देश में निवास करें । उस स्थान पर परिजनों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिये
दुर्ग बनावावे ॥ ३२१ ॥

तत्र तत्र च निष्णातानध्यक्षान्कुशलान्शुचान् ।

प्रकुर्यादायकर्मन्तव्ययकर्मसु चोद्यतान् ॥ ३२२ ॥

किंच, तत्र तत्र 'धर्मार्थकामादिषु अध्यक्षान् योग्यानधिकारिणः प्रकुर्याद्वि-
युक्तीत । यथाहुः—'धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानर्थकृत्येषु पण्डितान् । क्रीडुः क्रीवास्त्रियु-
क्तीत नीचास्त्रिण्येषु कर्मसु ॥' इति । कीदृशान् ? निष्णाताननन्यव्यापारान् ।
कुशलान् तत्तद्व्यापारचतुरान् । शुचीन् चतुर्विधोपधाशुद्धान् । आयकर्मसु
सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु व्ययकर्मसु सुवर्णादिदानस्थानेषु च उद्यताननलसान् ।
चक्षुर्वाग्वाक्स्वादिगुणयुक्तान् । उक्तं च—'प्राज्ञस्वमुपधाशुद्धिरप्रमादोऽभियुक्ता ।
कार्येषु व्यसनाभावः स्वामिभक्तिश्च योग्यता ॥' इति ॥ ३२२ ॥

भाषा—तत्तत् (धर्म, अर्थ, काम आदि) कर्मों में, आयकर्म और व्यय
कर्म में योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ अध्यक्षों को नियुक्त
करे ॥ ३२२ ॥

'भोगाश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च' (आ० ३१५) इति सामा-
न्येन स्वस्वदानमुक्तम् , इदानीं नृपाणां विक्रमार्जितस्य दाने फलातिशयमाह—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम् ।

विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ ३२३ ॥

अस्मादुत्कृष्टतमो धर्मो नृपाणां न विष्यते यद्रणार्जितं द्रव्यं विप्रेभ्यो
दीयते । यच्च प्रजाभ्योऽभयदानम् ॥ ३२३ ॥

भाषा—राजाओं के लिए इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है कि युद्ध में
अपहृत धन ब्राह्मणों को दान करें और अपनी प्रजाओं को अभयदान दें ॥ ३२३ ॥

'रणार्जितं देयम्' इत्युक्तं, द्रव्यार्जनाय रणे प्रवृत्तस्य विपत्तिरपि संभवतीति
न धर्मो नाप्यर्थ इति ततो निवृत्तिरेव श्रेयसीत्यत आह—

य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।

अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥ ३२४ ॥

ये भूम्यार्थमाहवेषु प्रवृत्ता अपराङ्मुखा अभिमुखा वध्यन्ते मार्यन्ते
ते स्वर्गं यान्ति । योगाभ्यासरता यथा । यद्यकूटैरविषदिग्धादिभिरायुधैर्योद्धारो
भवन्ति ॥ ३२४ ॥

भाषा—जो भूमि के लिये युद्ध में सन्मुख लड़ते हुए अकूट (विष से
न बुझे हुए) हथियारों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान (मृत्यु के
उपरान्त) स्वर्ग को जाते हैं ॥ ३२४ ॥

पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम् ।

राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ॥ ३२५ ॥

किंच, स्वबलेषु करितुरगरथपदातिषु भग्नेष्वविनिवर्तिनां परबलाभिमुख-
यायिनां पदानि क्रतुतुल्यान्यश्वमेधतुल्यानि विपर्यये दोषमाह—विपला-
यिनां पराङ्मुखानां हतानां राजा सुकृतमादत्ते ॥ ३२५ ॥

भाषा—अपनी (हार्था, घोड़े, रथ, पैदल आदि) सेना के नष्ट हो जाने
पर भी शत्रु की सेना की ओर लड़ते हुए राजा के प्रत्येक पग यज्ञों के तुल्य होते
हैं (अर्थात् जितने पग जाता है उतने यज्ञों का फल पाता है) और वह
चोट खाकर पलायन करने वालों के शुभ कर्मों के पुण्य प्राप्त करता है ॥ ३२५ ॥

तवाहंवादिनं क्लीबं निर्हेति परसंगतम् ।

न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥ ३२६ ॥

अपि च, तवाहमिति यो वदति तं क्लीबं नपुंसकं निर्हेति निरायुधं
परसंगतमन्येन सह युद्धयमाणं विनिवृत्तं युद्धाद्विनिवृत्तं युद्धप्रेक्षणकं युद्ध-
दर्शिनं । 'न हन्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः । 'आदि' ग्रहणादश्वसारथ्यादीनां ग्रह-
णम् । यथाह गौतमः (१०।१७-१८)—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र
व्यश्वसारथ्यानायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृष्टारूढोन्मत्तदूतगो-
ब्राह्मणादिभ्यः' इति । शङ्खोऽप्याह—'न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ
मुखन्तं नावर्माणं सवर्मानं स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिनं न सुतं न
दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात्' इति ॥ ३२६ ॥

भाषा—'मैं तुम्हारा ही हूँ' ऐसा कहनेवाले, नपुंसक, शस्त्रहीन, दूसरे के
साथ युद्ध में संलग्न, (युद्ध से) निवृत्त और युद्ध देखने के लिये आये हुए
व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए ॥ ३२६ ॥

कृतरक्षः समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम् ।

व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः ॥ ३२७ ॥

कृतरक्षः पुरस्यात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतिदिनं प्रातः काल उत्थाय स्वयमे-
वायव्ययौ पश्येत् । ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा मध्याह्नकाले स्नात्वा कामतो
यथाकालं भुञ्जीत ॥ ३२७ ॥

भाषा—(पुर की और अपनी) रक्षा करके वह स्वयं आय और व्यय
का लेखा देखे, इसके बाद व्यवहार (वाद-मुकदमे) देखे और तब स्नान
करके समय से भोजन करे ॥ ३२७ ॥

‘हिरण्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु’ निक्षिपेत् ।

पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ ३२८ ॥

तदनन्तरं हिरण्यं व्यापृतैर्हिरण्याधानयननियुक्तैरानीतं स्वयमेव निरीक्ष्य भाण्डागारेषु निक्षिपेत् । ततश्चौरान्स्पृशान्प्रस्थागतान् पश्येत् । ये परराज्ये वृत्तान्तपरिज्ञानाय परिव्राजकतापसादिरूपेण गूढचारिणः प्रेषितास्तौश्चरान्दृष्ट्वा क्वचिन्निवेशयेत् । तदनन्तरं दूतांश्च पश्येत् । दूताश्च ये प्रकटमेव राज्यान्तरं प्रति गतागतमाचरन्ति । ते च त्रिविधाः—निसृष्टार्थाः, संदिष्टार्थाः, ‘शासनहराश्चेति । तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं क्षमाः, उक्तमात्रं ये परस्मै निवेदयन्ति ते संदिष्टार्थाः, शासनहरास्तु राजलेखहारिणः, तान्पूर्वप्रेषितानागतान्मन्त्रिसङ्गतः पश्येत् । दृष्ट्वा तद्द्वार्तामाकलय्य पुनः पुनः प्रेषयेत् ॥ ३२८ ॥

भाषा—(स्वर्ण आदि लाने के लिए) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाये गये स्वर्ण को (देखकर) शङ्कार में रखे; तब गुप्तचरों से बातें करे और फिर मन्त्री के साथ बैठकर दूतों को निर्दिष्ट कार्य करने के लिये भेजे ॥ ३२८ ॥

ततः स्वैरविहारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः ।

बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

तदनन्तरमपराह्णे स्वैरं यथेष्टमेकोऽन्तःपुरविहारी स्यात् । मन्त्रिभिर्वा विश्वासिभिः कलाकुशलैः परिहासवेदिभिः परिवृतः स्त्रीभिश्च रूपयौवनवैदग्ध्यशालिनीभिः—‘भुक्त्वान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहस्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥’ इति (७।२२१) मनुस्मरणात् । ततो विशिष्टैर्वस्त्रकुसुमविलेपनालंकृतः हस्त्यश्वरथपदातिबलानि दृष्ट्वा सेनान्या सेनापतिना सह तद्रक्षणदि देशकालोचितं चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

भाषा—तब (अपराह्ण में) इच्छानुसार (अन्तः पुर में) विहार करे अथवा मन्त्रियों के साथ बैठे । पुनः अपनी सेनाओं का निरीक्षण करके सेनापतियों के साथ (देशकालोचित) विचार विमर्श करे ॥ ३२९ ॥

संध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम् ।

गीतनृत्तैश्च भुञ्जीत पटेत्स्वाध्यायमेव च ॥ ३३० ॥

ततः सायंकाले संध्यामुपास्य, सामान्येन प्राप्तस्यापि पुनर्वचनं कार्याकुलत्वादविस्मरणार्थम् । अनन्तरं ये पूर्वदृष्टाः कचिरस्थाने निवेशितास्तेषां चाराणां

१. हिरण्यादिकं ।

२. गारे न्यसेत्ततः ।

३. श्रारान्विष्वस्तान् ।

४. राजान्तं ।

५. शासनहस्ताश्चेति ।

६. नृत्तैश्च ।

गूढभाषितमन्तर्वेश्मनि शास्त्राणिः शृणुयात् । उक्तं च मनुना (७।२२३)—
 'संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शास्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां
 च वेष्टितम् ॥' इति । ततो नृत्यगीतादिभिः कंचित्कालं क्रीडित्वा कक्षान्तरं
 प्रविश्य भुञ्जीत, 'गर्वा कक्षान्तरं स्वन्यस्मनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्धोजनार्थं
 च स्त्रीभिरन्तःपुरं सह ॥' इति (मनुः ७।२२४) स्मरणात् । ततोऽविस्मरणार्थं
 यथाशक्ति स्वाध्यायं पठेत् ॥ ३३० ॥

भाषा—(सायंकाल) सन्ध्योपासना करके गुप्तचरों के रहस्यमय वचनों
 को (अकेले बैठकर) सुने । तब गीत और नृत्य का आनन्द ले, भोजन करे
 और स्वाध्याय का अध्ययन करे ॥ ३३० ॥

संविशेत्तूर्यघोषेण प्रतिबुद्ध्येत्तथैव च ।

शास्त्राणि चिन्तयेद् बुद्ध्या सर्वकर्तव्यतास्तथा ॥ ३३१ ॥

तदनन्तरं तूर्यशङ्खघोषेण संविशेत्स्वप्यात् । तथैव तूर्यादिघोषेण
 प्रतिबुद्ध्येत् । प्रतिबुद्ध्य च शास्त्रविद्विष्विश्वासिभिः सह एकाकी वा पश्चिमे
 यामे शास्त्राणि चिन्तयेत् सर्वकर्तव्यताश्च सर्वकार्याणि च । एतच्च स्वस्थं
 प्रत्युच्यते । अस्वस्थः पुनः सर्वकार्येष्वन्यं नियोजयेत् । यथाह मनुः (७।२२५)
 —'एतद्बृत्तं समातिष्ठेद्वरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्वमेवैतन्मन्त्रिमुख्ये
 निवेशयेत् ॥' इति ॥ ३३१ ॥

भाषा—तदनन्तर तूर्य और शंख ध्वनि के साथ सोवे और इसी प्रकार
 जागे । अपनी बुद्धि से शास्त्रों का और किये जाने वाले सभी कार्यों का
 चिन्तन करे ॥ ३३१ ॥

प्रेषयेच्च ततश्चारान् स्वेष्वन्येषु च सौंदरान् ।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ ३३२ ॥

दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् दद्याद् गां काञ्चनं महीम् ।

नैवेशिकानि च ततः श्रोत्रियेभ्यो गृहाणि च ॥ ३३३ ॥

अनन्तरं तत्रस्थ एव विश्वरूपान्स्वान् चारान् दानमानसत्कारैः पूजितान्
 स्वेषु सामन्ताण्यधिकारिषु अन्येषु च महीपतिषु प्रेषयेत्तन्निष्क्रीडितपरिज्ञानाय ।
 ततः प्रातः संध्यामुपास्याऽग्निहोत्रं हुत्वा पुरोहितस्विगाचार्यादिभिराशीर्भिरभि-
 नन्दितो ज्योतिर्विदो दृष्ट्वा तेभ्यश्च ग्रहादिस्थितिं विदित्वा शान्तिकादीनि च

१. स्त्रीवृत्तोऽन्तःपुरं पुनः ।

२. एतद्विधान ।

३. सर्वमेतत्तु स्मृत्येषु

निष्क्रियोजयेत्

४. सादरम् ।

५. नृणां ।

६. तथा श्रोत्रियाणां ।

पुरोहितायादिश्य वैशांश्च दृष्ट्वा तेभ्यश्च स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधानं चादिश्य गां दोग्ध्रीं काञ्चनं महीं च नैवेशिकानि विवाहोपयोगीनि कन्यालंकारादीनि गृहाणि च सुधावलितादीनि श्रोत्रियेभ्योऽधीतवेदेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः । 'दद्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३२-३३३ ॥

भाषा—तब गुप्तचरों को आदर के साथ अपने मन्त्रियों आदि के निकट अथवा दूसरे राजाओं के समीप भेजे । (प्रातः सन्ध्या और अग्निहोत्र के उपरान्त) ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य से आशीर्वाद ग्रहण करे । ज्योतिषी और वैद्य से मिले (उनसे क्रमशः ग्रहस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य की जानकारी प्राप्त करे), इसके बाद श्रोत्रिय (वेदज्ञ) ब्राह्मणों को दुधार गाय, सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकारादि उपकरण और वासभवन का दान करे ॥ ३३२-३३३ ॥

✓ ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्वः क्रोधनोऽरिषु ।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥

किंच, ब्राह्मणेष्वधिक्षिपस्वपि क्षमी क्षमावान् । स्निग्धेषु स्नेहवत्सु मित्रादिष्वजिह्वः भवक्रः । अरिषु क्रोधनः । भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताचरणेनाहितनिवर्तनेन च पितेव दयावान् । 'स्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३४ ॥

भाषा—राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहि (मित्रादि) अनुराग रखने वालों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं प्रजा के प्रति पिता के समान (दयावान् एवं हितकारी) होना चाहिए ॥ ३३४ ॥

प्रजापालनफलमाह—

पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।

✓ सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ ३३५ ॥

यस्मान्यायेन शास्त्रोक्तमार्गेण प्रजाः परिपालयन् परिपालितप्रजोपहितपुण्यात् षड्भागं षष्ठं भागमादत्ते । यस्माच्च सर्वेभ्यो भूय्यादिदानेभ्यः प्रजानां परिपालनमधिकफलम् । तस्मात् 'प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात्' इति गतेन संबन्धः ॥ ३३५ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठवा भाग प्राप्त करता है । अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से उत्पन्न पुण्यफल से प्रजापालन का फल अधिक होता है ॥ ३३५ ॥

१. भृत्यवर्गं च । २. पुण्यषड्भाग । ३. धर्मशास्त्रोक्तेन ।

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।

पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ ३३६ ॥✓

चाटाः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति, प्रच्छन्नापहारिणस्तस्कराः, दुर्वृत्ता 'इन्द्रजालिककितवादयः, सहो बलं सहसा बलेन कृतं साहसं महच्च तत्साहसं च महासाहसं तेन वर्तन्त इति महासाहसिकाः प्रसह्योपहारिणः, 'आदि'शब्दान्मौलिककुहकदुर्वृत्तयः । एतैः पीड्यमाना बाध्यमानाः प्रजा रक्षेत् । कायस्था लेखका गणकाश्च तैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्, तेषां राजबलभूतयातिमायाचितया च दुर्निवारत्वात् ॥ ३३६ ॥

भाषा—लुटेरों, चोरों, ऐन्द्रजालिक आदि धूर्तों एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीडित प्रजा की रक्षा करे और विशेषतया कायस्थों (लेखकों एवं गणकों) से पीडित व्यक्तियों की रक्षा करे ॥ ३३६ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किञ्चिद्विषं प्रजाः ।

तस्मात्तु नृपतेरर्थं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥ ३३७ ॥

अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किञ्चित्किञ्चिद्विषं चौर्यपरदारगमनादि कुर्वन्ति तस्मात्पापादर्धं नृपतेर्भवति । यस्मादसौ राजा रक्षणार्थं प्रजाभ्यः करान् गृह्णाति ॥ ३३७ ॥

भाषा—राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ (चोरों आदि) पाप करती है, उसमें से आधा पाप उसका ही जाता है; क्योंकि वह रक्षा करने के लिये ही प्रजाओं से कर लेता है ॥ ३३७ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्हत्वा विचेष्टितम् ।

साधून्संमानयेद्राजा विपरीतांश्च^३ घातयेत् ॥ ३३८ ॥

उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।

सर्दानमानसत्काराश्चोत्रियान्वासयेत्सदा ॥ ३३९ ॥✓

राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं चरितं चारैरुत्तलक्षणैः सम्यक् ज्ञात्वा साधून्सुचरितान् संमानयेत् दानमानसत्कारैः पूजयेत् । विपरीतान्दुष्टचरितान्सम्यग्विदित्वा घातयेत् अपराधानुसारेण । ये पुनरुत्कोचजीविनस्तान्द्रव्यरहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । श्रोत्रियान्सदानमानसत्कारैः सहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत् ॥ ३३८-३३९ ॥

भाषा—जो राज्यकार्य में अधिकारयुक्त पदों पर नियुक्त हों उनका आचरण भलीभाँति गुप्तचरों द्वारा जानकर राजा उत्तमचरित्रवालों का

(दान आदि से) सम्मान करे और विपरीत आचरण वालों को (अपराध के अनुसार) दण्ड देवे । जो धूस लेकर जीविका चलाते हैं उनका धन छीन कर उन्हें कंगाल) बनाकर) देश से निकाल देना चाहिए । श्रोत्रिय (वेदाध्ययनरत ब्राह्मणों) को दान, सम्मान और सत्कार के साथ सदा ही (अपने राज्य में) बसाना चाहिए ॥ ३३८-३३९ ॥

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।

सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥ ३४० ॥

योऽसौ राजा स्वराष्ट्रादन्यायेन द्रव्यमादाय स्वकोशं अभिवर्धयेत् सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतश्रीको विनष्टलक्ष्मीको बन्धुभिः सह नाशं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

भाषा—जो राजा अन्यायपूर्वक अपनी प्रजा से (धन लेकर) अपने कोश की वृद्धि करता है वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है ॥ ३४० ॥

प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।

राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चाऽदग्ध्वा न निवर्तते ॥ ३४१ ॥

प्रजानां तस्करादिकृतपीडनेन यः सन्तापस्तस्मादुद्भूतो हुताशन इव सन्तापकारित्वादपुण्यराशिः 'हुताशन'शब्देनोच्यते । स राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा नाशमनीत्वा न निवर्तते नोपशम्यति ॥ ३४१ ॥

भाषा—प्रजापीडन के संताप की अग्नि राजा के कुल, शोभा और प्राणों को नष्ट किये बिना शान्त नहीं होती ॥ ३४१ ॥

य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने ।

तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ॥ ३४२ ॥

न्यायतः स्वराष्ट्रपरिपालने राज्ञो यो धर्मस्तं सकलं वक्ष्यमाणन्यायेन परराष्ट्रं वशं नयन् आत्मसात्कुर्वन्नाप्नोति धर्मषट्भागं च ॥ ३४२ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक अपने राज्य का पालन करने में राजा का जो धर्म होता है वही धर्म वह दूसरे राष्ट्र को वश में करने पर पाता है ॥ ३४२ ॥

यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।

तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥ ३४३ ॥

-
१. योऽभिरक्षयेत् । २. प्राणानदग्ध्वा, प्राणान्नादग्ध्वा । ३. कृच्छ्र ।
४. किं तु यस्मिन्य ।

किंच, यदा परदेशो वशमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिसङ्करः कायः, किं तु यस्मिन्देशे य आचारः कुलस्थितिर्व्यवहारो वा यथैव प्रागासीत्तथैवासौ परिपालनीयो यदि शास्त्रविरुद्धो न भवति । 'यदा वशमुपागतः' इत्यनेन वशोपगमनाप्रागनियम इति दर्शितम् । यथोक्तम् (मनुः ७।१९५)— 'उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं यवसाक्षोदकेन्धनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

भाषा—अपने वश में आ जावे तो जिस देश में जो आचार, व्यवहार और कुल की मर्यादा हो उसका उसी रूप में वह पालन करे ॥ ३४३ ॥

मन्त्रमूलं यतो राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम् ।

कुर्याद्यथाऽस्य न विदुः कर्मणामा फलोदयात् ॥ ३४४ ॥

यस्मात् 'तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यम्' (आ० ३।१२) इत्याद्युक्तं मन्त्रमूलं राज्यं तस्मान्मन्त्रं यत्नेन तथा सुरक्षितं कुर्यात्, यथाऽस्य राज्ञः कर्मणां संधिविग्रहादीनामाफलोदयात् फलनिष्पत्तेः प्रागन्ये मन्त्रं न जानन्ति ॥ ३४४ ॥

भाषा—राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्र (मन्त्रणा, गुप्त परामर्श) है; अतएव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों (सन्धि-विग्रह आदि) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके ॥ ३४४ ॥

अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः परः ।

कमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ३४५ ॥

किंच, अरिः शत्रुः, मित्रं सुहृत्, उभयविलक्षण उदासीनश्च । ते च अयस्त्रिविधाः सहजाः कृत्रिमाः प्राकृताश्चेति । तत्र सहजोऽरिः सापरनपितृव्य-तत्पुत्रादिः । कृत्रिमोऽरिः यस्यापकृतं येन आपकृतम् । प्राकृतस्त्वनन्तर-देशाधिपतिः । सहजं मित्रं भागिनेयपैतृष्वस्त्रीयमातृष्वस्त्रीयादि । कृत्रिमं मित्रं येनोपकृतं यस्य आपकृतम् । प्राकृतमित्रमेकान्तरितदेशाधिपतिः । सहजकृत्रिम-मित्रशत्रुलक्षणरहितौ सहजकृत्रिमोदासीनौ । प्राकृतोदासीनो "द्वयन्तरित-देशाधिपतिः । अरिः पुनश्चतुर्विधः—घातव्योच्छेत्तव्यपीडनीयकर्शनीयभेदेन । तत्र घातव्योऽनन्तरभूमिपतिर्व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः । विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलश्चोच्छेत्तव्यः । पीडनीयो मन्त्रबलहीनः । प्रबलमन्त्रबलयुक्तः कर्शनीयः, 'निर्मूलनास्समुच्छेदं पीडनं बलनिग्रहम् । कर्शनं तु पुनः प्राहुः

१. राज्यमतो मन्त्रं । २. प्राग्यावद्वन्धे । ३. ह्यनन्तरदेशा । मध्यन्तरदेशा ।

४. घातव्योच्छेदनीय ।

कोशदण्डापकर्षणात्^१ ॥' इति । मित्रं द्विविधं—वृंहणीयं, कर्शनीयमिति । कोशबलहीनं वृंहणीयम् । कोशबलाधिकं कर्शनीयम् । 'अनन्तरस्तरः परः' इति प्राकृतारिमित्रोदासीनानाह-अनन्तरः प्राकृतोऽरिः, तस्परः प्राकृतं मित्रं, तस्मात्परः प्राकृत उदीनः, शेषाः पुनः प्रसिद्धत्वात्प्रोक्ताः । एतद्राजमण्डलं क्रमशः पूर्वादिदिक्क्रमेण चिन्त्यं तेषां चेष्टितं ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च सामादिभिरुपायैर्वर्षयमाणैरनुसंधेयम्^२ । एवं पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्च त्रयस्त्रय आत्मा चैक इति त्रयोदशराजकमिदं राजमण्डलं पञ्चाकारम् । पार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारादयस्स्वरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति, संज्ञाभेदमात्रं ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न^३ पृथगुक्ताः ॥ ३४५ ॥

भाषा—(सीमा से) सटे हुए राज्य, उसके बाद के राज्य और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करने वाले राजा क्रमशः शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं । इन राजमण्डलों पर क्रमशः (पूर्वादि दिशा से लेकर) ध्यान रखना चाहिए; और इनके साथ साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४५ ॥

'सामादिभिर्बपक्रमैः' (आ० ३४५) इत्युक्तम् , इदानीं तानुपायानाह—

उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।

सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः ॥ ३४६ ॥

साम प्रियभाषणम् , दानं सुवर्णादिः भेदो भेदकरणं तत्सामन्तादीनां परस्परतो वैरस्योत्पादनेन, दण्ड उपांशु-प्रकाशाभ्यां धनापहारादिर्वधपर्यन्तो-
ऽपकारः । एते सामादयः परिपन्थ्यादिसाधनोपायाः । एते च देशकालाद्यनुसारेण सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुः । तेषां च मध्ये दण्डस्त्वगतिका गतिः, उपायान्तर-
संभवे सति न प्रयोक्तव्यः । एतच्च पीडनीयकर्शनीयाभिप्रायेण । यातव्योच्छे-
त्तव्योस्तु दण्ड एव मुख्यः । एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषयाः अपि तु सकललोकव्यवहारविषयाः यथा—'अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकान् । यद्वाऽन्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते ॥' इति ॥ ३४६ ॥

भाषा—साम (प्रियभाषण), दान (सुवर्णादि उपहार देना,), भेद (फूट डालना), और दण्ड (धनापहरण और वध आदि कर्म) ये चार उपाय हैं; इनका उचित रूप से (देश, काल आदि के अनुसार) प्रयोग

१. पकर्षणात् । २. रभिसन्धेयं । ३. न पृथगुक्तम् । ४. स्योत्पा-
दनम् ।

करने पर सफलता मिलती है। और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है ॥ ३४६ ॥

संधिं च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा ।

द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत्परिकल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

किंच, सन्धिव्यवस्थाकरणम्, विग्रहोऽपकारः, यानं परं प्रति यात्रा, आसनमुपेक्षा, संश्रयो बलवदाश्रयणम्, द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधाकरणम् । एतान्सन्धिप्रभृतीन्गुणान् यथावद्देशकालशक्तिमित्रादिवशेन कल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

भाषा—सन्धि, विग्रह (अपकार), यान (चाढ़ाई), उपेक्षाभाव, बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन—इन गुणों का यथोचित (देश, काल, शक्ति, मित्र आदि का विचार करके) अवलम्बन करे ॥ ३४७ ॥

यानकालानाह—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ।

परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपुरुषः ॥ ३४८ ॥

यदा परराष्ट्रं सस्यैर्वीह्यादिभिर्गुणैश्च समजलेन्धनतृणादिभिरुपेतं सम्पन्नं शत्रुश्च हीनो बलादिभिः, आत्मा च हृष्टवाहनपुरुषः वाहनानि हस्यश्वादीनि तानि च पुरुषाश्च वाहनपुरुषाः हृष्टा वाहनपुरुषा यस्य स तथोक्तः । तदा परराष्ट्रमात्मसात्कर्तुं व्रजेत् ॥ ३४८ ॥

भाषा—जब शत्रु का राज्य अन्न आदि से भरा पूरा हो, शत्रु की सेना दुर्बल हो अपनी सेना के अश्ववादि वाहन एवं सैनिक प्रसन्न (एवं उत्साहपूर्ण) हों तब आक्रमण करे ॥ ३४८ ॥

प्राणिनामभ्युदयविनिपातानां दैवायत्तत्वाच्च दि दैवमस्ति तदा स्वयमेव परराष्ट्रादि वशीभविष्यति, अथ नास्ति कृतेऽपि पौरुषे न भविष्यति, अतो व्यर्थं एवायं यात्राप्रयास इत्यत आह—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।

तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥ ३४९ ॥

कर्मसिद्धिः फलप्राप्तिरिष्टानिष्टलक्षणा । सा न केवलं दैवे व्यवस्थिता । अपि तु पुरुषकारेऽपि, लोके तथा दर्शनात्, चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्याच्च । अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्तीत्याह—तत्र दैवमिति । यतः पूर्वदेहाजितं पौरुषमेव दैवमुच्यते । अल्पपुरुषकारानन्तरं महाफलोदयाभिव्यक्तं पौरुषं

पौर्वदेहिकं कर्म । तस्मात्पुरुषकाराभावे न दैवमस्तीति पुरुषकारे यत्नो विधातव्यः ॥ ३४९ ॥

भाषा—(इष्ट या अनिष्ट) फल की प्राप्ति दैव (भाग्य) और पुरुष (अपने कर्म) से होती है । इसमें दैव (भाग्य) [इस जन्म में अल्प प्रयत्न से अधिक फल के रूप में] अभिव्यक्त पूर्व शरीर द्वारा किया गया कर्म ही होता है ॥ ३४९ ॥

इदानीं मतान्तराण्याह—

केचिद्^१ दैवात्स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः ।

संयोगे^२ केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥ ३५० ॥

केचिदिष्टानिष्टलक्षणं फलं दैवादेवेच्छन्ति । केचित्स्वभावात्स्वयमेव भवति, न कारणमपेक्षत इति । केचित्कालात् । केचित्पुरुषकारत एवेति । इदानीं स्वमतमाह—दैवादीनां संयोगे समुच्चये फलं भवतीति कुशलबुद्धयो मन्वादयो मन्यन्ते ॥ ३५० ॥

भाषा—कुछ लोग (इष्ट या अनिष्ट) फल को भाग्य या स्वभाव से उत्पन्न मानते हैं; कुछ लोग समय को और कुछ लोग पौरुष या कर्म को फल का कारण मानते हैं । कुछ बुद्धिमानों ने इन सबके संयोग (मिलने) से फल की उत्पत्ति मानी है ॥ ३५० ॥

एकैकस्मात्फलं न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।

एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३५१ ॥

नात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥

भाषा—जिस प्रकार एक पहिए से रथ चल सकता, उसी प्रकार पौरुष के विना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३५१ ॥

लाभाय परराष्ट्रं गन्तव्यमित्युक्तम् । लाभश्च त्रिविधः हिरण्यलाभो मूललाभो मित्रलाभश्चेति, तेषु मित्रलाभो ज्यायान् । ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधातव्यः । तत्प्राप्त्युपायश्च सत्यवचनमित्याह—

हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः ।

अतो यतेत^३ तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः ॥ ३५२ ॥

१. केचिद्दैवाद्वात्केचिकेचित् ।

२. सिद्ध्यन्त्यर्था मनुष्याणां तेषां

योनिस्तु पौरुषम् ।

३. लाभेषु (= हिरण्य-भू-मित्रलाभानां मध्ये) ।

४. तत्प्राप्तौ ।

यस्मात् हिरण्यभूमित्रलाभेभ्यो मित्रलब्धिवरा उत्कृष्टा तस्मात्तत्प्राप्त्यै यत्नेन यत्नं कुर्यात् सामादिभिः । सत्यं च रचेत् । समाहितः सावधानः । सत्यमूलत्वा-
न्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥

भाषा—सुवर्ण भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है । अतः
एव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए और सावधान होकर सत्यता
की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३५२ ॥

इदानीं राज्याङ्गान्याह—

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।

मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

‘महोत्साह’ (भा० ३०९) इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः स्वामी, अमात्या
मन्त्रिपुरोहितादयः, जनो ब्राह्मणादिप्रजाः, दुर्गं धन्वदुर्गादि, कोशः सुवर्णादि-
धनराशिः, दण्डो हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणं चतुरङ्गवलम् । मित्राणि सहजकृत्रिम-
प्राकृतानि, एताः स्वाम्याद्याः राज्यस्य प्रकृतयो मूलकारणानि । एवं राज्यं
सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

भाषा—राजा, अमात्य (मन्त्री, पुरोहित आदि), प्रजा, दुर्ग, कोश,
दण्ड (सेना) और मित्र—ये राज्य के मूल कारण हैं; अतः राज्य को सप्ताङ्ग
कहा जाता है ॥ ३५३ ॥

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।

धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥

तदेवंविधं राज्यं प्राप्य दुर्वृत्तेषु वज्रकशठधूर्तपरदारपरद्रव्यापहारिहिसकादिषु
नृपो दण्डं पातयेत् प्रयोजयेत् हि यस्माद्धर्म एव दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा निर्मितः ।
तस्य च दण्ड इति यौगिकी संज्ञा—‘दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्’
(१११२८) इत्यादिगौतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥

भाषा—इस प्रकार का राज्य प्राप्त करके राजा दुराचारियों अर्थात्
अपराधियों को दण्ड देवे; क्योंकि आदि काल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में
धर्म की ही सृष्टि की है ॥ ३५४ ॥

स नेतुं न्यायतोऽशक्योऽलुब्धेनाकृतबुद्धिना ।

सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥

१. स्वाम्यमात्यौ । २. न्यायतः शक्यो (= न्यायतो यथाशास्त्रं नेतुं प्रणेतुं
शक्यः) । ३. अलुब्धेन कृतबुद्धिना (= अलुब्धेन न्यायधनव्ययकारिणा कृत-
बुद्धिना लब्धप्रज्ञेन) ।

स पूर्वोक्तो दण्डो लुब्धेन कृपणेनाकृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना न्यायतो न्यायानुसारेण नेतुं प्रयोक्तुं शक्यो न भवति । कीदृशेन तर्हि शक्य इत्याह—
सत्यसन्धेनाप्रतारकेण । शुचिना जितारिषद्वर्गेण । सुसहायेन पूर्वोक्त-
सहायसहितेन । धीमता नयानयकुशलेन स दण्डो न्यायतो धर्मानुसारेण
नेतुं शक्यः ॥ ३५५ ॥

भाषा—दण्ड को लोभी और चंचल बुद्धि वाला व्यक्ति न्यायपूर्वक नहीं
चला सकता; सत्यशील, पवित्र, उत्तम सहायकों से युक्त एवं नीतिशास्त्र का
बिद्वान् ही उसे (न्याय से) चला सकता है ॥ ३५५ ॥

यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् सदेवासुरमानवम् ।

जनदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

स दण्डः शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमानः सन् देवासुरमानवैः सहितं इदं
सर्वं जगदानन्दयेत् हर्षयेत् । अन्यथा शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्चेज्जगत्प्रको-
पयेत् ॥ ३५६ ॥

भाषा—शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लाये जाने पर दण्ड देवता, राक्षस
और मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण संसार को आनन्दित करता है अन्यथा
(शास्त्र के विपरीत प्रयुक्त होने पर) वह उसे कुपित ही करता है ॥ ३५६ ॥

न केवलमधर्मदण्डेन जगत्प्रकोपः, अपि तु प्रयोक्तुर्दृष्टादृष्टहानिरपीत्याह—

अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ।

सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥

यः पुनः शास्त्रातिक्रमेण लोभादिना दण्डः कृतः स पापहेतुत्वास्वर्ग
कीर्तिं लोकांश्च विनाशयति । शास्त्रोक्तमार्गेण तु कृतो धर्महेतुत्वास्वर्गकीर्ति-
जयानां हेतुर्भवति ॥ ३५७ ॥

भाषा—(लोभ आदि के वशीभूत होकर) शास्त्र के विपरीत दण्ड
देने से राजा के स्वर्ग, कीर्ति और (उत्तम) लोक का नाश हो जाता है ।
सम्यक् (शास्त्रानुसार) दण्ड देना राजा के स्वर्ग, यश और विजय का
कारण होता है ॥ ३५७ ॥

अपि भ्राता सुतोऽप्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा ।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥ ३५८ ॥

१. सुसमानुषम् । २. तु प्रकोपयेत् । ३. प्रकोपनमपि तु । ४. स्वर्ग कीर्ति
लोकांश्च नाशयेत् । ५. कृतः सोऽपापहेतुत्वात् ।

अर्घ्योऽर्घाहः आचार्यादिः । शेषः प्रसिद्धः । एते भ्रातृसुतादयोऽपि स्वधर्मा-
च्चलिता दण्ड्याः, किमुतान्ये । यतः स्वधर्माच्चलितः अदण्ड्यो नाम राज्ञः
कोऽपि नास्ति । एतच्च मातापित्रादिव्यतिरेकेण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—
'अदण्ड्यौ मातापितरौ स्नातक' पुरोहितपरिव्राजकवानप्रस्थाः श्रुतशीलशौचाचार-
वन्तस्ते हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

भाषा—भाई, पुत्र आचार्य आदि व्यक्ति, स्वशुर या मामा—कोई
भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा के लिये अदण्ड्य नहीं होता (अर्थात्
राजा को उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए) ॥ ३५८ ॥

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् ।

इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तचरदक्षिणैः ॥ ३५९ ॥

किंच, यस्तु राजा दण्ड्यान् स्वधर्मचलनादिना दण्डयोग्यान् सम्यक्
शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिक्धनदण्डादिना दण्डयति, वध्यान्वधार्यान् घातयति
तेन राजा भूरिदक्षिणैः क्रतुभिरिष्टं भवति । बहुदक्षिणक्रतुफलं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
न च फलश्रवणादण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम्, अकरणे प्रायश्चित्त-
स्मरणात् । यथाह वसिष्ठः (१९।४०-४४)—'दण्ड्योऽसर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्',
'त्रिरात्रं पुरोहितः', 'कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितः', 'त्रिरात्रं राजा'
इति ॥ ३५९ ॥

भाषा—जो राजा दण्डनीय व्यक्तियों को सम्यक् (शास्त्रानुसार) दण्ड
देता है और वधयोग्य व्यक्तियों को मारता है, वह अधिक दक्षिणा वाले यज्ञों
का फल प्राप्त करता है ॥ ३५९ ॥

'दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्यः' (भा० ३५४) इत्युक्तं, दुष्टपरिज्ञानं
च व्यवहारदर्शनं मन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमहरहः
स्वयं कर्तव्यमित्याह—

इति सञ्चिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ।

व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सम्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥ ३६० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्यं फलं दण्ड्यदण्डने, स्वर्गादिनाशं चादण्ड्य-
दण्डने सम्यग्विचिन्त्य पृथक्पृथग्वर्णादिक्रमेण, सम्यैर्वच्यमाणलक्षणैः परिवृतः,
प्रतिदिनं व्यवहारान्वच्यमाणमार्गेण दुष्टदुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं
पश्येत् ॥ ३६० ॥

भाषा—इस प्रकार यज्ञ के समान फल का विचार करके राजा प्रतिदिन सभ्य अर्थात् श्रेष्ठ जनों के साथ स्वयं पृथक्-पृथक् (वर्ण आदि के क्रम से) व्यवहारों (वादों या मुकदमों) को देखे ॥ ३६० ॥

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाज्ज्ञानपदानपि ।

स्वधर्माच्चलितात्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनाम्, जातयो मूर्धावसिक्तप्रभृतयः, श्रेणयस्ताम्बूलिका-
दीनाम्, गणा हेलावुकादीनाम्, ज्ञानपदाः, कारुकादयः, एतान्स्वधर्माच्च-
लितान्प्रच्युतान् राजा यथापराधं विनीय दण्डयित्वा पथि स्वधर्मे स्थापयेत् ।
'दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्' (आ ३५४) इत्युक्तं, स च दण्डो द्विविधः—
शारीरोऽर्थदण्डश्चेति । यथाह नारदः—'शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डो हि द्विविधः
स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥ कौकिण्यादिस्त्वर्थदण्डः
सर्वस्वान्तस्तथैव च ॥' इति । द्विविधोऽप्यपराधानुसारेणानेकधा भवति ।
आह स्म—'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्त्वेकधा' इति ॥ ३६१ ॥

भाषा—ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त आदि जातियों, ताम्बूलिक
आदि श्रेणियों गणों और जनपदों को अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर राजा दण्ड
देकर पुनः धर्मसंमत मार्ग में प्रतिष्ठित करे ॥ ३६१ ॥

तत्र कृष्णलमाषसुवर्णपलादिशब्दैरर्थदण्डा वक्तव्याः, ते च प्रतिदेशं
भिन्नपरिमाणार्था इत्येकरूपापराधेऽपि देशभेदेन न्यूनाधिकदण्डो मा भूदिति
कृष्णलादिशब्दानां नियतपरिमाणविषयत्वं दण्डव्यवहारे दर्शयितुमाह—

जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् ।

तेऽष्टौ लिखा तु तास्तिष्ठो राजसर्पप उच्यते ॥ ३६२ ॥

गौरस्तु ते त्रयः षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः ।

कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ३६३ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम् ।

जालकान्तरप्रविष्टादित्यरश्मिस्थितं यद्रजस्तत् त्रसरेणुरित्युक्तं योगीश्वरा-
दिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । ते च त्रसरेणवोऽष्टौ लिखा स्वेदजयूकाण्डम् । ता
लिखास्तिष्ठो राजसर्पपो राजिका । ते राजसर्पपास्त्रयो गौरसर्पपः सिद्धार्थः ।
गौरसर्पपाः षट् यवो मध्यः मध्यमः, न स्थूलो न सूक्ष्मः । एतेन गौरसर्पपा
अपि मध्यमा इति गम्यते । तथा राजसर्पपा अपि 'मध्यम' शब्दादेव । सर्पपादि-

शब्दाः न केवलमुन्मानवचनाः किंतु तदुन्मितद्रव्यवचना इति गम्यते, तथा प्रस्थपरिमिता यवाः प्रस्थ उच्यते । एवं सर्ववाद्युन्मितं द्रव्यं सर्वपादिशब्दैः । सर्वपादिशब्दानां च केवलोन्मानवचनत्वे त्रसरेण नुपसंहृत्योन्मातुमशक्यत्वात्तद् द्वारेण कृष्णलादिष्ववहारो न स्यात् । तत्र स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम-मध्यसर्वपाद्युन्मानभेदेन प्रतिदेशं व्यवहारभेदे स्थिते दण्ड-व्यवहारे मध्य इति नियम्यते । ते मध्यमा यवास्त्रय एकः कृष्णलः । ते कृष्णलाः पञ्चैको माषः । ते माषाः षोडशैकः सुवर्णः । ते सुवर्णाश्चत्वारः पलमिति संज्ञाः कथिता इति । पञ्च वापि पलं प्रकीर्तितं नारदादिभिः । तत्र स्थूलैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलपरिकल्पनायां व्यावहारिकनिष्कस्य षोडशांशः कृष्णलो भवति । तैः पञ्चभिर्माषैः । माषैः षोडशभिः सुवर्णः । स च व्यावहारिकैः पञ्चभिर्निष्कैरेकः सुवर्णो भवति । ते चत्वारः पलमिति । निष्काणां विंशतिः पलम् । यदा तु सूक्ष्मैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलः परिकल्प्यते तदा व्यावहारिकनिष्कस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः कृष्णलो भवति । तस्मिन्पक्षे सुवर्णः सार्धं निष्कद्वयं भवति । पलं च दशनिष्कम् । यदा तु मध्यमयवैः कृष्णलपरिकल्पना तदा निष्कस्य विंशतितमो भागः कृष्णलः, सुवर्णश्चतुर्निष्कः, षोडशनिष्कं पलम् । एवं पञ्चसुवर्णं पलमिति । पक्षे विंशतिनिष्कं पलम् । एवमन्यदपि निष्कस्य चत्वारिंशो भागः कृष्णलः, द्विनिष्कः सुवर्णोऽष्टनिष्कं पलमित्यादिलोकव्यवहारानुसारेणास्मादेव सूत्रादूहनीयम् ॥ ३६२-३६३ ॥

भाषा—जाली (खिड़की) से भीतर प्रवेश करने वाली सूर्य-किरण में दिखलाई पड़ने वाले धूलिकण त्रसरेण कहलाते हैं । आठ त्रसरेण मिल कर एक लिखा होती हैं और तीन लिखा का एक राजसर्पष कहा जाता है । तीन राजसर्पष का एक गौरसर्पष होता है, छः गौरसर्पष का एक मध्यमयव और तीन मध्यमयव का एक कृष्णल होता है । पाँच कृष्णल का एक माष और सोलह माष का एक सुवर्ण होता है चार या पाँच सुवर्ण का एक पल कहा गया है ॥ ३६२-३६३ ॥

एवं सुवर्णस्योन्मानं प्रतिपाद्येदानीं रजतस्याह—

द्वे कृष्णले रूप्यमाषो धरणं षोडशैव ते ॥ ३६४ ॥

शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव तु ।

निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः—

द्वे कृष्णले पूर्वोक्ते, रूप्यमाषो रूप्यसंबन्धी माषः । ते रूप्यमाषाः षोडश धरणम् । 'पुराण' इत्यस्यैव संज्ञान्तरम्, 'ते षोडश स्याद्धरणं पुरा-

णश्च राजतः इति (दा१३६) मनुस्मरणात् । दशभिर्धरणः शतमानं पलमिति चाभिधीयते । पूर्वोक्ताश्चत्वारः सुवर्णा एको राजतो निष्को भवति ॥ ३६४ ॥
इदानीं ताम्रस्योन्मानमाह—

कार्षिकस्ताम्रिकः पणः ॥ ३६५ ॥

पलस्य चतुर्थोऽंशः कर्ष इति लोकप्रसिद्धः । कर्षेणोन्मितः कार्षिका । ताम्रस्य विकारस्ताम्रिकः । कर्षसंमितस्ताम्रविकारः पणसंज्ञो भवति, कार्षि-
पणसंज्ञकश्च; 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः' इति । (दा१३६)
मनुवचनात् । पञ्चसुवर्णपलपक्षो विंशतिमाषः पणो भवति । तथा सति—
'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इत्यादिव्यवहारः सिद्धो भवति ।
चतुःसुवर्णपलपक्षे तु षोडशमाषः पणो भवति । अस्मिन् पक्षे सुवर्ण-कार्षि-
पण-पणशब्दानां समानार्थत्वेऽपि पण-कार्षापणशब्दौ ताम्रविषयावेव । एवं
तावद्धेरूप्यताम्राणामुन्मानमुक्तम् ; दण्डव्यवहारोपयोगित्वात् । कांस्यरी-
तिकादीनामपि लोकव्यवहारार्हं भूतानामेवोन्मानं द्रष्टव्यम् ॥ ३६५ ॥

भाषा—दो कृष्णल का एक रूप्यमाप होता है । सोलह रूप्यमाप
का एक धरण होता है । दश धरणों का एक सौ मान वाला पल होता है ।
(पूर्वोक्त) चार सुवर्ण का एक निष्क कहलाता है । एक कर्ष
(पल के चतुर्थांश) के बराबर ताँबे के सिक्के या तोल को पण कहा
जाता है ॥ ३६४-३६५ ॥

स्वशास्त्रपरिभाषामाह—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।

तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः ॥ ३६६ ॥

पणानां सहस्रं पणसहस्रम्; तत्परिमाणमस्येति पणसाहस्रः । आशीत्या
सह वर्तते इति साशीतिः । आशीत्यधिकपणसहस्रपरिमितो यो दण्डः स
'उत्तमसाहस' संज्ञो वेदितव्यः । तदर्धं मध्यमः तस्य साशीतिपणसहस्रस्यार्थ-
चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो 'मध्यमसाहस' संज्ञः । तदर्धमधमः
तस्य चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपणस्यार्थं सप्तत्यधिकपणशतद्वयपरिमितो दण्डः
'अधमसाहस' संज्ञः स्मृत उक्तो मन्वादीभिः । यत्—'पणानां द्वे शते सार्धं
प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यम पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः' इति
(दा१३८) मनुनोक्तं तत्पक्षान्तरमपि पूर्वापराधविषयं द्रष्टव्यम् ॥ ३६६ ॥

भाषा—एक हजार अस्सी पण का दण्ड उत्तम साहस में होता है, उससे
भी आधा मध्यम साहस में दण्ड होता है । मध्यम साहस के आधा दण्ड अधम
या प्रथम साहस के लिये होता है ॥ ३६६ ॥

दण्डभेदानाह—

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।

योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्डो धिग्धिगिति कुत्सनम्, वाग्दण्डस्त, परुषशापवचनात्मकः, धन-
दण्डो धनापहारात्मकः, वधदण्डः शरीरोऽवरोधादिजीविताप्तः, एते चतु-
र्विधा दण्डाः व्यस्ता एकैकशः समस्ताः द्विधाः त्रिचतुरो वाऽपराधानुसारेण
प्रयोक्तव्याः । उक्तक्रमेण पूर्वपूर्वासाध्ये उत्तर उत्तरः प्रयोक्तव्यः । यथाह मनुः
(८।१२६) 'धिग्दण्डं प्रथमे कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीये धनदण्डं तु
वधदण्डमतः परम् ॥' इति ॥ ३६७ ॥

भाषा—धिग्दण्ड (धिक्कार के वचन), वाग्दण्ड (कठोर वचनों द्वारा
फटकारना), धन दण्ड, और वध (शारीरिक दण्ड)—इन दण्डों में सबका
या एक एक का अपराध के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६७ ॥

दण्डव्यवस्थानिमित्तान्याह—

जात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।

वयः कर्म च पित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ ३६८ ॥

यथापराधं जात्वा तदनुसारेण दण्डप्रणयनं कुर्वीत । एवं देशकालवयः-
कर्मवित्तानि जात्वा तदनुसारेण दण्डयेषु दण्डार्हेषु दण्डप्रणयनं कुर्यात् ।
तथा बुद्धिपूर्वबुद्धिपूर्वमकृदावृत्त्यनुसारेण च । यद्यपि राजानमधिकृत्यायं
राजधर्मकलाप उक्तस्तथापि वर्णान्तरस्यापि विषयमण्डनादिपरिपालनाधि-
कृतस्यायं धर्मो वेदितव्यः । 'राजधर्मप्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः'
(मन्. ७।१) इत्यत्र पृथङ्नुपग्रहणात्करग्रहणस्य रक्षार्थत्वात्, रक्षणस्य च
दण्डप्रणयनायतत्वादिति ॥ ३६८ ॥

भाषा—अपराध, देश, समय, शक्ति, आयु, कार्य और धन का पता
लग करके ही दण्डनीय व्यक्तियों को (अपराधियों को) दण्ड देना
चाहिए ॥ ३६८ ॥

इति श्रीपद्मानाभमहोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वर-

भट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविवृतौ

सदाचारः प्रथमाध्यायः ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः ।

धर्मशास्त्रस्य विवृतिविज्ञानेश्वरयोगिनः ।

व्यवहाराध्यायः

साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः । तच्च दुष्टनिग्रह-
मन्तरेण न संभवति । दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण संभवति ।
तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं (भा० ३६०)—‘व्यवहारान्स्वयं
पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्’ इति । स च व्यवहारः कीदृशः, कतिविधः, कथं
चेतीति कर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तदभिधानाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥

व्यवहारानिति । अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः ।
यथा कश्चिदिदं चेन्नादि मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति ।
तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन । नृप इति न सन्नियमात्रस्यायं धर्मः किंतु
प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति । पश्येदिति पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्म-
विशेषविधानार्थः । विद्वद्भिर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः । ब्राह्मणैर्न सन्निया-
दिभिः । ‘ब्राह्मणैः सह’ इति तृतीयानिर्देशादेष्टमप्राधान्यम् । ‘सहयुक्तेऽप्रधाने’
(पा. २।३।१९) इति स्मरणात् । अतश्चादर्शनेऽन्यथादर्शने वा राज्ञो दोषो न
ब्राह्मणानाम् । यथाह मनुः (८।१२८)—‘अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवा-
प्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥’ इति । कथम् ? धर्मशा-
स्त्रानुसारेण, नार्थशास्त्रानुसारेण । देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य
धर्मशास्त्रविषयत्वाच्च पृथगुपादानम् । तथा च वचयति (व्य० १८६)—‘निजधर्मा-
विरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् । सोऽपि यस्तेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥’
इति क्रोधलोभविवर्जित इति । ‘धर्मशास्त्रानुसारेण’ इति सिद्धे ‘क्रोधलोभवि-
वर्जितः’ इति वचनमादरार्थम् । क्रोधोऽमर्षः, लोभो लिप्सातिशयः ॥ १ ॥

भाषा—राजा क्रोध और लोभ त्यागकर (नीति के) विद्वान् ब्राह्मणों
के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारों (यादों, मुकदमों) पर विचार
करे ॥ १ ॥

१. दर्शनेन विनेति व्यवहारदर्शनं ।

२. चाभिपश्यति ।

सम्पादमाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।

राजा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

किंच, श्रुताध्ययनसंपन्नाः श्रुतेन मीमांसाव्याकरणादिश्रवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, धर्मज्ञाः, धर्मशास्त्रज्ञाः, सत्यवादिनः सत्यवचन-
शीलाः, रिपौ मित्रे च ये समाः रागद्वेषादिरहिताः, एवंभूताः सभासदः सभायां
संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसत्कारैः राज्ञा कर्तव्याः । यद्यपि
'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यविशेषणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कात्या-
यनः—'स तु सम्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थ-
शास्त्रविशारदैः ॥' इति । ते च त्रयः कर्तव्याः; बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् 'यस्मिन्देशे
निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः' इति (८।११) मनुस्मरणाच्च । बृहस्पतिस्तु सप्त
पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि
वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥' (१।११) इति । नच
'ब्राह्मणैः सह' इति पूर्वश्लोकोक्तानां ब्राह्मणानां 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यादि विशेष-
णमिति मन्तव्यम् ; तृतीयाप्रथमान्तनिर्दिष्टानां विशेषणविशेष्यभावासंभवात्,
'विद्वज्जिः' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । तथा च कात्यायनेन ब्राह्मणानां सभासदां
च स्पर्ष्टं भेदो दर्शितः—'सप्राद्विवाकः सामात्यः सत्राह्वगपुरोहितः । ससभ्यः
प्रेषको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ॥' इति । तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः, सभासद-
स्तु नियुक्ता इति भेदः । अत एवोक्तम्—'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो
वक्तुमर्हति' इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा
करोति तदाऽसौ निवारणीयः, अन्यथा दोषः । उक्तं च कात्यायनेन—'अन्या-
वेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः । तेऽपि तज्जागिनस्तस्माद्वोधनीयः स
तैर्नृपः ॥' इति । अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो ननु
राज्ञोऽनिवारणे—'सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्या वा समञ्जसम् । अनुवन्विन्नुव-
न्वापि नरो भवति क्लिबषी ॥' इति (८।१३) मनुस्मरणात् 'रिपौ मित्रे च'
इति चकाराहोकरजनार्थं कतिपयैर्वणिगिभरप्यधिष्ठितं सदः कर्तव्यम् । यथाह
कात्यायनः—'कुलशीलवयोवृत्तवित्तवज्जिरमसरैः । वणिगिभः स्यात्कतिपयैः
कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥' इति ॥ २ ॥

भाषा—राजा वेदादि के अध्ययन से युक्त, धर्मशास्त्र के ज्ञाता, सत्यवादी
तथा शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव वाले (रागद्वेषरहित) पुरुषों को
सभासद बनावे ॥ २ ॥

१. च भेदः स्पष्टो ।

२. सभा वा न प्रवेष्टव्या ।

‘व्यवहारान्नृपः पश्येत्’ (व्य० १) इत्युक्तं, तत्रानुक्षेपमाह—

अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु ।

सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥

कार्यान्तरव्याकुलतया व्यवहारानपश्यता नृपेण पूर्वोक्तैः सभ्यैः सह सर्वधर्मवित् सर्वान्धर्मशास्त्रोक्तान्सामयिकांश्च धर्मान्वेत्ति विचारयतीति सर्वधर्मवित् ब्राह्मणो न क्षत्रियादिनियोक्तव्यो व्यवहारदर्शने । तं च कात्यायनोक्तगुणविशिष्टं कुर्यात् । यथाह—‘दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम् । परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥’ इति । एवंभूतब्राह्मणासंभवे क्षत्रियं वैश्यं वा नियुज्यते, न शूद्रम् । यथाह कात्यायनः—‘ब्राह्मणो यत्र न स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥’ इति । नारदेन त्वयमेव मुख्यो दर्शितः—‘धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥’ इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थितः, राजा चारचक्षुषा परसैन्यं पश्यतीतिवत् । तस्य चेयं यौगिकी संज्ञा । अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचनं विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यैः सह विवि-
नक्ति विवेचयति वेति विवाकः, प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः । उक्तं च—
‘विवादानुगतं पृष्ट्वा ससभ्यस्तत्प्रयत्नतः । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥’ इति ॥ ३ ॥

भाषा—किसी कार्यवश (या अस्वस्थता आदि से) व्यवहार न देख सकने पर राजा को सभासदों के साथ सभी धर्मों को जानने वाला ब्राह्मण इस कार्य के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेतं व्यवहारं विचारयन्ति तदा राज्ञा किं कर्तव्यमित्यत आह—

रागालोभाद्व्याघादपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।

सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥

अपि च, पूर्वोक्ताः सभ्या रजसो निरङ्कुशत्वेन तदभिभूता रागास्नेहाति-
शयालोभाद्व्याघातिशयाद्व्यासंभ्रासास्मृत्यपेतं स्मृतिविरुद्धं, ‘आदि’ शब्दादा-
चारापेतं कुर्वन्तः पृथक्पृथगैकैकशो विवादाद्विवादपराजयनिमित्तादमाद्विगुणं
दमं दण्ड्याः, न पुनर्विवादास्पदीभूताद् दण्ड्यात् । तथा सति स्त्रीसंग्रहणादिवृ-
द्धदण्डाभावप्रसङ्गः । रागालोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाज्ञान-

१. व्यग्रतया । २. धर्मान् शास्त्रोक्तान् । ३. ब्राह्मण एव । ४. यिवक्ति विवेचयति वा ।

मोहादिष्विति नियमार्थम् । नच 'राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्' (११११) इति गौतमवचनात् ब्राह्मणा दण्ड्या इति मन्तव्यम् ; तस्य प्रशंसार्थत्वात् ॥ यत्तु 'षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चावध्यश्चादण्ड्यश्चावहिकार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्च' (गौ. ८, १२-१३) इति, तदपि 'स एष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्वृत्तिश्चाष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतक्षिप्तु कर्मस्वभिरतः षट्सु वा सामयाचारिकेष्वभिविनीत' (गौ. ८।४-११) इति, प्रतिपादितबहुश्रुतविषयः न ब्राह्मणमात्रविषयम् ॥ ४ ॥

भाषा—(किसी के प्रति) स्नेह, लोभ या भय के वशीभूत होकर व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले समासदों से उस विवाद के पराजय के निमित्त जितना द्रव्य हो उसके दुगुना द्रव्य पृथक् पृथक् दण्डस्वरूप लेना चाहिए ॥ ४ ॥

व्यवहारविषयमाह—

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः ।

आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥ ५ ॥

। धर्मशास्त्रसमाचारविरुद्धेन मार्गेण परैराधर्षितोऽभिभूतो यद्राज्ञे प्राड् वाकाय वा आवेदयति विज्ञापयति चेद्यदि, तदावेद्यमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसंशयहेतुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः । तस्य चेदं सामान्यलक्षणम् । स च द्विविधः—शङ्काभियोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति । यथाह नारदः (१।२७)—'अभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः । शङ्काऽसतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात् ॥' इति । होढा लोप्त्वं, लिङ्गमिति यावत् । तेन दर्शनं, साक्षाद्वा दर्शनं होढाभिदर्शनं तस्मात् । तत्त्वाभियोगोऽपि द्विविधः—प्रतिषेधात्मको विध्यात्मकश्चेति । यथा—'मत्तो हिरण्यादिकं गृहीत्वा न प्रचच्छति', 'चेन्नादिकं ममायमपहरति' इति च । उक्तं च कात्यायनेन—'न्याय्यं स्वं नेच्छते कर्तुमन्याय्यं वा करोति यः' इति । स पुनश्चाष्टादशधा भिद्यते । यथाह मनुः (८।४-७)—'तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः । संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ वेतनस्यैव चाऽऽदानं संविदश्च स्वतिक्रमः । क्रयविक्रयानुज्ञयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ स्त्रीपुंघर्मो विभागश्च घृतमाह्वय एव च । पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥' इति ॥

१. न ब्राह्मणो दण्ड्य इति । २. राज्ञा अवध्यश्चावध्यश्च । ३. वेदाङ्गविद्वाक्येतिहास । ४. सामयाचार ।

एतान्यपि साध्यभेदेन पुनर्वहुत्वं गतानि । यथाह नारदः (१।२०)—‘एषामेव प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं भवेत् । क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशालो निगद्यते ॥’ इति ॥ ‘आवेदयति चेद्राज्ञे’ इत्यनेन स्वयमेवागत्यावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरुषप्रेरितो वेति दर्शयति । यथाह मनुः (८।४३)—‘नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पुरुषः । नच प्रापितमन्येन प्रसेतार्थं कथंचन ॥’ इति ॥ परैरिति परेण पराभ्यां परैरित्येकस्यैकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति दर्शयति ॥ यत्पुनः—‘एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेषजनस्य च । अनादेशो भवेद्वादो धर्मविद्भिर्रुदाहृतः ॥’ इति नारद (कार्यायन १) वचनं, तज्जिज्ञासाध्यद्वयविषयम् । ‘आवेदयति चेद्राज्ञे’ इत्यनेनैव राजा पृष्ठो विनीतवेष आवेदयेत् । आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थ्याह्वानमकल्पादीनां चानाह्वानमिष्यार्थसिद्धमिति नोक्तम् । स्मृत्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा ‘काले कार्याधिपं पृच्छेद् गृणन्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥ केन कस्मिन्कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतम् । एवं पृष्ठः स यद्ब्रूयात्स सभ्यैर्ब्राह्मणैः सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रां वा निषिषेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥ अकल्पाद्यवस्थाविरविषमस्थक्रियाकुलान् । कार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् । मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तान्भृत्यान्नाह्वानयेन्नुपः ॥ न हीनपक्षां युवतिं कुले जातां प्रसूतिकाम् । सर्ववर्णोत्तमां कन्यां वा ज्ञातिप्रभुकाः स्मृताः ॥ तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः । निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमिष्यते ॥ कालं देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले । अकल्पादीनपि शनैर्यानैराह्वानयेन्नुपः ॥ ज्ञात्वाभियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजितादयः । तानप्याह्वानयेद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥’ इति । आसेधव्यवस्थाप्यार्थसिद्धेव नारदेनोक्ता (१।४७ ५३)—‘वक्तव्येऽर्थे ह्यतिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः । आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥ स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा । चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत् ॥ आसेधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते । स विनेयोऽन्यथाकुर्वन्नासेद्धा दण्डभागभवेत् ॥ नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराधनुयात् ॥ निर्वेष्टुकामो रोगार्तो यियञ्जुर्व्यसने स्थितः । अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥ गवां प्रचारे गोपालाः सस्यावापे कृषीवलाः । शिल्पिनश्चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ॥’ इति । आसेधो राजाज्ञयाऽवरोधः । अकल्पादयः पुत्रादिकमन्यं वा सुहृदं प्रेषयेयुः, नच ते परार्थवादिनः; ‘यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न

नियोगकृत् । परार्थवादी दण्डयः स्याद्व्यवहारेषु विभ्रुवन् ॥' (२।२३) इति नारदनचनात् ॥ ५ ॥

भाषा—यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध ढंग से दूसरों द्वारा पीडित होकर राजा निवेदन करे तो वह व्यवहार का विषय होता है ॥ ५ ॥

प्रत्यर्थिनि मुद्रालेख्यपुरुषाणामन्यतमेनानीते किं कुर्यादित्यत आह—

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना ।

समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ ६ ॥

अर्थ्यते इत्यर्थः साध्यः, सोऽस्यास्तीत्यर्थः, तत्प्रतिपक्षः प्रत्यर्थी, तस्याग्रतः पुरतो लेख्यं लेखनीयम् । यथा येन प्रकारेण पूर्वमावेदनकाले आवेदितं तथा, न पुनरन्यथा; अन्यथावादित्वेन व्यवहारस्य भङ्गप्रसङ्गात् ।—‘अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः ।’ आहुतः प्रपलापी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥’ (नारदः २।३३) इति । आवेदनकाल एवार्तिवचनस्य लिखितत्वात्पुनर्लेखन-मनर्थकमित्यत आह—समामासेत्यादि । संवत्सरमासपक्षतिथिवारादिना-अर्थिप्रत्यर्थिनामब्राह्मणजात्यादिचिह्नितम् । ‘आदि’ शब्देन द्रव्यतत्संख्यास्थान-वेलाचमालिङ्गादीनि गृह्यन्ते ॥ यथोक्तम्—‘अर्थबद्धमसंयुक्तं परिपूर्णमनाकुलम् । साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुबन्धि च ॥ प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं साधन-क्षमम् । संक्षिप्तं निखिलार्थं च देशकालाविरोधि च । वर्षर्तुमासपक्षाहोवेलादेश-प्रदेशवत् । स्थानावसथसाध्याख्याजात्याकारवयोर्युतम् ॥ साध्यप्रमाणसंख्यावदा-त्मप्रत्यर्थिनामवत् । परात्मपूर्वजानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥ चमालिङ्गात्मपीडाव-स्थिताहर्तृदायकम् । यदावेदयते राज्ञे तज्जापेत्यभिधीयते ॥’ इति । भाषा ‘प्रतिज्ञा’ ‘पक्ष’ इति नार्थान्तरम् । आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समा-मासादिविशिष्टं लिख्यत इति विशेषः । संवत्सरविशेषणं यद्यपि सर्वव्यवहारेषु नोपयुज्यते, तथाप्याधिप्रतिग्रहक्रमेषु निर्णयार्थमुपयुज्यते; आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा’ इति वचनात् । अर्थव्यवहारोऽपि एकस्मिन्संवत्सरे यत्संख्याकं यद्द्रव्यं यतो येन गृहीतं प्रत्यर्पितं च पुनरन्यस्मिन्वसरे तद्द्रव्यं तत्संख्याकं तत्-स्तेन गृहीतं, याच्यमानो यदि ब्रूयात्सत्यं गृहीतं प्रत्यर्पितं चेति । वत्सरान्तरे गृहीतं प्रत्यर्पितं नास्मिन्वत्सरे इत्युपयुज्यते । एवं मासाद्यपि योज्यम् । देश-स्थानादयः पुनः स्थावरेष्वेवोपयुज्यन्ते—‘देशश्चैव तथा स्थानं संनिवेशस्तथैव च ।

१. आहुतप्रपलापी ।

२. साधने क्षमम् ।

३. नियतार्थः ।

जातिः संज्ञाऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥ पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्त-
नम् । स्थावरेषु विवादिषु दशैतानि निवेशयेत् ॥ इति स्मरणात् । देशो मध्य-
देशादिः । स्थानं वाराणस्यादि । संनिवेशः तत्रैव पूर्वापरदिग्विभागपरिच्छिन्नः
सम्यङ्निविष्टो गृहक्षेत्रादिः । जातिः अर्थिप्रत्यर्थिनोर्भाक्षणत्वादिः । संज्ञा च देव-
दत्तादिः । अधिवासः समीपदेशनिवासी जनः । प्रमाणं निवर्तनादि भूपरिमाणम् ।
क्षेत्रनाम शालिक्षेत्रं क्रमुकक्षेत्रं कृष्णभूमः पाण्डुभूमः इति । पितुः पितामहस्य च
नामार्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वेषां त्रयाणाम् । राज्ञां नामकीर्तनं चेति । समामासादीनां
यस्मिन् व्यवहारे यावदुपयुज्यते तत्र तावत्लेखनीयमिति तात्पर्यार्थः । एवं पञ्च-
लक्षणे स्थिते पञ्चलक्षणरहितानां पञ्चवदवभासमानानां पञ्चाभासत्वं सिद्धमेवेति
योगीश्वरेण न पृथक्पञ्चाभासा उक्ताः । अन्यैस्तु विस्पष्टार्थमुक्ताः ।—अप्रसिद्धं
निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्यं वा विरुद्धं वा पञ्चाभासं विवर्जयेत् ॥
इति । अप्रसिद्धं 'मदीयं शशविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि । निराबाधं
अस्मद्गृहदीपप्रकाशेनायं स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । निरर्थं अभिधेयरहितं कच-
टतपगजदन्तेश्यादि । निष्प्रयोजनं यथा—अयं देवदत्तोऽस्मद्गृहसंनिधौ सुस्वरम-
धीत इत्यादि । असाध्यं यथा—अहं देवदत्तेन सभूमङ्गमुपहसित इत्यादि । एतत्सा-
धनासंभवादसाध्यम् । अहरकालत्वाच्च साक्षिसंभवो लिखितं दूरतोऽप्यप्युक्त-
दिध्यमिति । विरुद्धं यथाहं मूकेन शस इत्यादि । पुरराष्ट्रादिविरुद्धं वा—'राज्ञा
विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत् । राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च ॥
अन्ये वा ये पुरग्राममहाजनविरोधकाः । अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकी-
र्तिताः ॥' इति ॥ यत्तु—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्ध्यति' इति, तत्र
यद्यनेकवस्तुसंकीर्णं इत्युच्यते, तदा न दोषः; मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूप-
कादि वाऽपहतमित्येवंविधस्याहुष्टत्वात् । ऋणादानादिपदसंकरे पञ्चाभास इति
चेत्तदपि न । मदीया रूपका अनेन वृद्ध्या गृहीताः सुवर्णं चास्य हस्ते निक्षि-
प्तम्, मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पक्षत्वमिष्यत एव । किंतु क्रियाभेदात्क-
मेण व्यवहारो न युगपदित्येतावत् ॥ यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं यत्कार्यं
व्यवहारे सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृहीयाद्राजा तत्त्वबुभुक्षया ॥' इति तस्मा-
दनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो युगपच्च सिद्ध्यतीति तस्यार्थः । अर्थिग्रहणात्पुत्रपित्रादि-
ग्रहणं तेषामेकार्थत्वात् । नियुक्तस्यापि नियोगेनैव तदेकार्थत्वाच्चेपात् ॥
—'अधिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिग्रहितोऽपि वा । यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जय-
पराजयौ ॥' इति स्मरणात् नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव । एतच्च भूमौ
फलके वा पाण्डुलेखेन लिखित्वा आवापोद्धारेण विशोधितं पश्चात्पत्रे निवेशयेत् ।

पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं प्राद्विवाकोऽभिलेखयेत् । पाण्डुलेखेन कलके ततः पत्रे विशोषितम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्यं वातः परम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्ववादं तु यावदुत्तरदर्शनम् । अवष्टब्धस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनं भवत् ॥' इति । पूर्वपक्षम-
शोधयित्वैव यदोत्तरं दापयन्ति सभ्यास्तदा 'रागाहोभात्' इत्युक्तदण्डेन सभ्यान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति ॥ ६ ॥

भाषा—पहले प्रत्यर्थी, (प्रतिपक्षी, प्रतिवादी या मुद्दई) के विषय में अर्थी (वादी, मुद्दालेह) द्वारा पहले बताया गया (अभियोग) लिखे, और उसके आगे वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि अङ्कित करे ॥ ६ ॥
एवं शोधितपत्रारूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ ।

श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिनाऽसौ श्रुतार्थः, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरत्र भवतीत्युत्तरं लेख्यं लेखनीयम् । पूर्वावेदकस्यार्थिनः संनिधौ समीपे उत्तरं च यत्पूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते । यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमना-
कुलम् । अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥' इति पक्षस्य व्यापकं निराकरणसमर्थम् । सारं न्याय्यं न्यायादनपेतम् । असंदिग्धं संदेहरहितम् । अनाकुलं पूर्वापराविरुद्धम् । अव्याख्यागम्यं अप्रसिद्धपदप्रयोगेण दुःश्लिष्ट-
विभक्तिसमासाध्याहारमिधानेन वा अन्यदेशभाषाभिधानेन वा यद् व्याख्येयार्थं न भवति तत्सदुत्तरम् ॥ तच्च चतुर्विधम्—संप्रतिपत्तिः, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दनं पूर्व-
न्यायश्चेति । यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा । पूर्व-
न्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम् ॥' इति । तत्र सत्योत्तरं यथा—'रूपकशतं मद्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति । यथाह—'साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता' इति । मिथ्योत्तरं तु नाहं धारयामीति । तथा च कात्यायनः—
'अभियुक्तोऽभियोगस्य यदि कुर्यादपह्नवम् । मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः ॥' इति ॥ तच्च मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्—'मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः । अज्ञातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधम् ॥' इति । प्रत्यवस्कन्दनं नाम 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं प्रतिग्रहेण लब्धम्' इति वा । यथाह नारदः—'अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा । प्रपद्य कारणं ब्रूयात्-
प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम् ॥' इति । प्राङ्न्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एवं ब्रूयात् 'अस्मिन्नर्थेऽनेनाहमभियुक्तस्तत्र चायं व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति । उक्तं

१. अभियुक्तस्य ।

य कात्यायनेन—‘आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लैख्यते यदि । सोऽभिधेयो जितः
पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते ॥’ इति । एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहिता-
नामुत्तरवदवभासमानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम् । स्पष्टीकृतं च स्मृत्यन्तरे—
‘संदिग्धमन्यप्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च । पक्षैकदेशव्याप्यन्यत्तया नैवोत्तरं
भवेत् ॥ यद्व्यस्तपदमव्यापि निगूढार्थं तथाकुलम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं
स्वार्थसिद्धये ॥ इति । तत्र संदिग्धं—‘सुवर्णशतमनेन गृहीत’मित्युक्ते ‘सत्यं
गृहीतं सुवर्णशतं माषशतं वे’ति । प्रकृतादन्यथा—‘सुवर्णशताभियोगे पणशतं
धारयामी’ति । अत्यल्पं—‘सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी’ति । अति-
भूरि—‘सुवर्णशताभियोगे द्विशतं धारयामी’ति । पक्षैकदेशव्यापि—‘हिरण्य-
वस्त्राद्यभियोगे हिरण्यं गृहीतं नान्यदि’ति । व्यस्तपदं—ऋणादानाभियोगे
पदान्तरेणोत्तरम्, यथा ‘सुवर्णशताभियोगे अनेनाहं ताडितः’ इति । अव्यापि—
देशस्थानादिविशेषणाव्यापि यथा—‘मध्यदेशे वाराणस्यां पूर्वस्थां दिशि
क्षेत्रमनेनापहत’मिति पूर्वपक्षे लिखिते, ‘क्षेत्रमपहतमि’ति । निगूढार्थं यथा—
‘सुवर्णशताभियोगे किमहमेवास्मै धारयामी’त्यत्र ध्वनिना प्राङ्निवाकः सम्भ्यो
वा अर्थी वा अन्यस्मै धारयतीति सूचयतीति निगूढार्थम् । आकुलं पूर्वापरविरुद्धं
यथा—‘सुवर्णशताभियोगे कृते, सत्यं गृहीतं न धारयामी’ति । व्याख्यागम्यं—
दुःश्लिष्टविभक्तिसमाससाध्याहाराभिधानेन व्याख्यागम्यम्, अदेशभाषाभिधानेन
वा । यथा—‘सुवर्णशतविषये पितृऋणाभियोगे, ‘गृहीतशतवचनात् सुवर्णानां
पितुर्न जानामी’ति । अत्र गृहीतशतस्य पितुर्द्वचनात् ‘सुवर्णानां शतं गृहीत-
मि’ति न जानामीति । असारं—न्यायविरुद्धं, यथा ‘सुवर्णशतमनेन वृद्ध्या
गृहीतं वृद्धिरेव दत्ता न मूल’मित्यभियोगे, ‘सत्यं वृद्धिर्दत्ता न मूलं गृहीत’
मिति । उत्तरमित्येकवचननिर्देशादुत्तराणां संकरो निरस्तः । यथाह कात्यायनः—
‘पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् । मिथ्या चैकदेशे च संकरात्तदनुत्तरम् ॥’
इति । अनुत्तरत्वे च कारणं तेनैवोक्तम्—‘न चैकस्मिन्निवादे तु क्रिया
स्याद्वादिनोर्द्वयोः । न चार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् ॥’ इति ।
मिथ्याकारणोत्तरयोः संकरे अर्थिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि क्रिया प्राप्नोति—‘मिथ्या
क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि’ इति स्मरणात् । तदुभयमेकस्मिन्व्यवहारे
विरुद्धम् । यथा—‘सुवर्णं रूपकशतं चानेन गृहीत’मित्यभियोगे, ‘सुवर्णं न
गृहीतं, रूपकशतं गृहीतं प्रतिदत्तं चे’ति । कारणप्राङ्न्यायसंकरे तु प्रत्यर्थिन
एव क्रियाद्वयम्—‘प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्’ इति । तथा
सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं,—रूपके व्यवहारमार्गेण पराजितः’ इति । अत्र च प्राङ्-

न्याये जयपत्रेण वा प्राङ्न्यायदर्शिभिर्वा भावीयतव्यम्, कारणोक्तौ तु साक्षिलेखादिभिर्भावयितव्यमिति विरोधः । एवमुत्तरत्रयसंकरेऽपि द्रष्टव्यम् । यथा—‘अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे, ‘सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं रूपकशतं न गृहीतं, वस्त्रविषये तु पूर्वन्यायेन पराजितः’ इति । एवं चतुःसंकरेऽपि । एतेषां चानुत्तरत्वं यौगपद्येन तस्य तस्यांशस्य तेन तेन विनाऽसिद्धेः क्रमेणोत्तरत्वमेव । क्रमश्चार्थिनः प्रत्यर्थिनः सस्यानां चेच्छ्रुया भवति । यत्र पुनरुभयोः संकरे तत्र यस्य प्रभूतार्थविषयत्वं तत्क्रियोपादानेन पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः, पश्चाद्वस्त्रविषयोत्तरोपादानेन च व्यवहारो द्रष्टव्यः । यत्र तु संप्रतिपत्तेरुत्तरान्तरस्य च संकरस्तत्रोत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः । संप्रतिपत्तौ क्रियाभावात् ॥ यथा हारीतेन—‘मिथ्योत्तरं कारणं च स्यातामेकत्र चेदुभे । सत्यं चापि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम् ॥’ इत्युक्तम्—‘यत्प्रभूतार्थविषयं यत्र वा स्यात्क्रियाफलम् । उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतोऽन्यथा ॥’ संकीर्णं भवतीति शेषः । शेषोपेक्षया ऐच्छिकक्रमं भवतीत्यर्थः । तत्र प्रभूतार्थं यथा—‘अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे, ‘सत्यम्, सुवर्णं रूपकशतं च न गृहीतं, वस्त्राणि तु गृहीतानि प्रतिदत्तानि चे’ति । अत्र मिथ्योत्तरस्य प्रभूतविषयत्वादर्थिनः क्रियामादाय प्रथमं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चाद्वस्त्रविषयो व्यवहारः । एवं मिथ्याप्राङ्न्यायसंकरे कारणप्राङ्न्यायसंकरे च योजनीयम् । तथा तस्मिन्नेवाभियोगे, ‘सत्यं सुवर्णं रूपकशतं च गृहीतं प्रति दास्यामि, वस्त्राणि तु न गृहीतानि, गृहीतानि प्रतिदत्तानी’ति वा वस्त्रविषये पूर्वं पराजित इति चोत्तरे संप्रतिपत्तेर्भूरविषयत्वेऽपि तत्र क्रियाभावान्मिथ्या-पुनरुत्तरक्रियामादाय व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । यत्र तु मिथ्याकारणोत्तरयोः कृत्स्न-पक्षव्यापित्वं यथा—शृङ्गप्राहिकतया कश्चिद्वदति ‘इयं गौर्मदीवा अमुकस्मिन्काले नष्टा, अद्यास्य गृहे दृष्टे’ति । अन्यस्तु ‘मिथ्यैतत्, प्रेदशितकालापूर्वमेवास्म-द्गृहे स्थिता मम गृहे जाता वे’ति वदति । इदं तावत्पक्षनिराकरणसमर्थत्वाच्चा-नुत्तरम् । नापि मिथ्यैव; कारणोपन्यासात् । नापि कारणम्; एकदेशस्याप्य-भ्युपगमाभावात् । तस्मात्सकारणं मिथ्योत्तरमिदम्—अत्र च प्रतिवादिनः क्रिया, ‘कारणे प्रतिवादिनि’ इति वचनात् ॥ ननु ‘मिथ्या क्रिया पूर्ववादे’ इति पूर्ववा-दिनः कस्मात्क्रिया न भवति ? तस्य शुद्धमिथ्याविषयत्वात् । ‘कारणे प्रति-वादिनी’त्येतदपि कस्माच्छुद्धकारणविषयं न भवति । नैतत्; सर्वस्यापि कारणो-त्तरस्य मिथ्यासहचरितरूपत्वाच्छुद्धकारणोत्तरस्याभावात् ॥ प्रसिद्धकारणोत्तरे

१. कारणोत्तरे तु । २. प्रतिदास्यामि । ३. ऐच्छिकक्रममपेक्षाक्रमं
भवतीत्यर्थः । ४. ऐच्छिकः क्रमो भवतीत्यर्थः । ५. एतत्प्रदर्शित ।

प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमेनैकदेशस्य मिथ्यात्वम्—यथा 'सत्यं रूपकशतं गृहीतं न धारयामि, प्रतिदत्तत्वादि'ति । प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमो नास्तीति विशेषः ॥ एतच्च हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'मिथ्याकारणयोर्वापि ग्राह्यं कारणमुत्तरम्' इति । यत्र मिथ्याप्राङ्न्याययोः पक्षव्यापित्वं यथा—'रूपकशतं धारयतीत्यभियोगे, 'मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमयं पराजितः' इति । अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्' इति वचनात्, शुद्धस्य प्राङ्न्यायस्याभावादनुत्तरत्वप्रसङ्गात्, संप्रतिपक्षेऽपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वोपन्यासेन साध्यत्वनिराकरणादेवोत्तरत्वम् । यदा तु कारणप्राङ्न्यायसंकरः यथा—'शतमनेन गृहीतं'मित्यभियुक्तः प्रतिवदति 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं चेत्तस्मिन्नेवार्थे प्राङ्न्यायेनायं पराजितः' इति । तत्र प्रतिवादिनो यथावचीति न कचिद्वादिप्रतिवादिनोरेकस्मिन्व्यवहारे क्रियाद्वयप्रसङ्ग इति निर्णयः ॥

एवमुत्तरे पत्रे निवेशिते साध्यसिद्धेः साधनायत्तत्वासाधननिर्देशं कः कुर्यादित्यपेक्षित आह—

ततोऽर्थी लेखयेत् सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ ७ ॥

तत उत्तरानन्तरम्, अर्थी साध्यवान् सद्य एवानन्तरमेव प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेत् । प्रतिज्ञातः साध्यः स चासावर्थश्चेति प्रतिज्ञातार्थः तस्य साधनं साध्यतेऽनेनेति साधनं प्रमाणम् । अत्र 'सद्यो लेखयेत्' इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमप्यङ्गीकृतमिति गम्यते । तच्चोत्तरत्र विवेचयिष्यते । अर्थी प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदिति वदता यस्य साध्यमस्ति स प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदित्युक्तं, अतश्च प्राङ्न्यायोत्तरे प्राङ्न्यायस्यैव साध्यत्वात्प्रत्यर्थ्येवार्थी जात इति स एव साधनं लेखयेत् । कारणोत्तरेऽपि कारणस्यैव साध्यत्वात्कारणवाद्येवार्थीति स एव लेखयेत् । मिथ्योत्तरे तु पूर्ववाद्येवार्थी स एव साधनं निर्दिशेत् । ततोऽर्थी लेखयेदिति वदता अर्थ्यैव लेखयेन्नान्य इत्युक्तम् । अतश्च संप्रतिपक्ष्युत्तरे साध्याभावेन भाषोत्तरत्वादिनोर्द्वयोरप्यर्थित्वाभावात्साधननिर्देश एव नास्तीति तावत्तैव व्यवहारः परिसमाप्यत इति गम्यते । एतदेव हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥' इति ॥ ७ ॥

भाषा—प्रत्यर्थी द्वारा सुनी हुई बात और उसका उत्तर अर्थी की उपस्थिति में लिखावे । (उत्तर के बाद) अर्थी अभियोग को सिद्ध करने वाला प्रमाण तत्काल लिखावे ॥ ७ ॥

ततः किमित्यत आह—

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ।

तस्य साधनस्य प्रमाणस्य वक्ष्यमाणलिखितसाध्यादिलक्षणस्य सिद्धौ निर्वृत्तौ सिद्धि साध्यस्य जयलक्षणां प्राप्नोति । अतोऽस्मात्प्रकारादन्यथा प्रकाशान्तरेण साधनासिद्धौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति संबन्धः ॥

एवं व्यवहाररूपमभिधायोपसंहरति—

चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विधादेषूपदर्शितः ॥ ८ ॥

‘व्यवहारान्तुपः पश्येत्’ (व्य० १) इत्युक्तो व्यवहारः सोऽयमित्थं चतुष्पाच्चतुरंशकल्पनया विधादेषु ऋणादानादिषूपदर्शितो वर्णितः । तत्र ‘प्रत्यर्थिनोऽप्रतो लेख्यं’ इति भाषापादः प्रथमः । ‘श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम्’ इत्युत्तरपादो द्वितीयः । ततः ‘अर्थी लेखयेत्सद्यः’ इति क्रियापादस्तृतीयः । ‘तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति’ इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः । यथोक्तम्—‘परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यन्यायाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥ भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमवृत्तिभिः । आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते ॥’ इति । संप्रतिपत्युत्तरे तु साधनानिर्देशाद्भाषार्थस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिलक्षणः पादोऽस्तीति द्विपात्वमेव । उत्तराभिधानानन्तरं सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिनोः कस्य क्रिया स्यादिति परामर्शलक्षणस्य प्रत्याकलितस्य योगीश्वरेण व्यवहारपादत्वेनानभिधानाद् व्यवहर्तृसंबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

भाषा—उस साधन या प्रमाण की सिद्धि होने पर वह विजयी होता है, अन्यथा हार जाता है । यह व्यवहार चतुष्पद (पूर्वोक्त चार स्तर वाला) होता है जो ऋणदान आदि के विवादों में प्रदर्शित किया गया है ॥ ८ ॥

इति साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

एवं सर्वव्यवहारोपयोगिनी व्यवहारमातृकामभिधायानुना क्वचिद्व्यवहारविशेषे कंचिद्विशेषं दर्शयितुमाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

१. इति व्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

२. साधारणासाधारणव्यवहार ।

अभियुज्यत इति अभियोगोऽपराधः तमभियोगमनिस्तीर्त्वापरिहृत्य पुनमभियोक्तारं न प्रत्यभियोजयेत् अपराधेन न संयोजयेत् । यद्यपि प्रत्यवस्कन्दनं प्रत्यभियोगरूपं तथापि स्वापराधपरिहारात्मकत्वात्तस्य प्रतिषेधविषयत्वम् । अतः स्वाभियोगानुपमर्दनरूपस्य प्रत्यभियोगस्यायं निषेधः । इदं प्रत्यर्थिनमधिकृत्योक्तम् ॥—

अथ अर्थिनं प्रत्याह—

अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

अभियुक्तं च नान्येनेति । अन्येनाभियुक्तमनिस्तीर्णाभियोगमन्योऽर्थी नाभियोजयेत् । किं च, उक्तमावेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतिं विरुद्धभावं न नयेत् न प्रापयेत् । एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेणावेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु तथैव भाषाकालेऽपि लेखनीयं, नान्यथेति ॥ ननु 'प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यत्रैवेदमुक्तं, किमर्थं पुनरुच्यते 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इति ? उच्यते,—'यथावेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यनेनाऽऽवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि तथैव लेखनीयम् । एकस्मिन्नपि पदे न वस्त्वन्तरमियुक्तम् । यथा—'अनेन रूपकशतं वृद्धया गृहीतम्' इत्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसंनिधौ भाषासमये 'वस्त्रशतं वृद्धया गृहीतम्' इति न वक्तव्यम् । तथा सति पदान्तरागमनेऽपि वस्त्वन्तरागमनाद्धीनवादी दण्ड्यः स्यादिति 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इत्यनेनैकवस्तुत्वेऽपि पदान्तरागमनं निषिध्यते । यथा 'रूपकशतं वृद्धया गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छति' इत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले 'रूपकशतं बलादपहृतवान्' इति वदतीति । तत्र वस्त्वन्तरागमनं निषिद्धम्, इह तु पदान्तरागमनं निषिध्यत इति न पौनरुक्त्यम् । एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'पूर्वपादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः । पदसंक्रमणाऽज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥' इति । हीनवादी दण्ड्यो भवति, न प्रकृतादर्थाद्धीयते । अतः प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्च प्रमादपरिहारार्थमेवायम् 'अभियोगमनिस्तीर्त्वा' इत्याद्युपदेशो न प्रकृतार्थसिद्धयसिद्धिविषयः । अत एव वक्ष्यति (व्य० १९) 'कुलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेत्' इति । एतच्चार्थव्यवहारे द्रष्टव्यम् । मन्युकृते तु व्यवहारे प्रमादाभिधाने प्रकृतादपि व्यवहाराद्धीयत एव । यथाह नारदः—'सर्वेष्वर्थविवादेषु वाक्छले नावसीदति । परस्त्रीभूष्यणादाने शास्योऽप्यर्थाच्च हीयते ॥' इति । अस्यार्थः—सर्वेष्वर्थविवादेषु न मन्युकृतेषु वाक्छले प्रमादाभिधानेऽपि नावसीदति न पराजीयते । न प्रकृतादर्थाद्धीयत इत्यर्थः । अत्रोदाहरणं परस्त्रीत्यादि । परस्त्रीभूष्यणादाने प्रमादाभिधानेन दण्ड्योऽपि यथा प्रकृता-

दर्शान् हीयते, एवं सर्वेष्वर्थविवादेष्विति । अर्थविवादग्रहणान्मन्युक्तविवादेषु प्रमादाभिधाने प्रकृतादप्यर्थादीयत इति गम्यते । यथा—‘अहमनेन शिरसि पादेन ताडित’ इत्यावेदनसमयेऽभिधाय भाषाकाले ‘पादेन हस्ते ताडित’ इति वदन् केवलं दण्ड्यः । पराजीयते च ॥ ९ ॥

भाषा—अभियोग (अपराध) का उत्तर दिये विना अभियोग करने वाले पर उल्टा अभियोग न करे । जिस पर किसी दूसरे ने अभियोग किया हो उस पर अभियोग न करे और न कही हुई बात को बाद में बदले ॥ ९ ॥

‘अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्’ (व्य० ९) इत्यस्यापवादमाह—
कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ।

कलहे वाग्दण्डपारुष्यात्मके साहसेषु विषयज्ञादिनिमित्तप्राणव्यापादनादिषु प्रत्यभियोगसंभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्याप्यभियोक्तारं प्रत्यभियोजयत् । नन्वत्रापि पूर्वपक्षानुपमर्दनरूपत्वेनानुत्तरत्वात्प्रत्यभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरत्वे युगपद्यवहारसंभवः समानः । सत्यम् । नात्र युगपद्यवहाराय प्रत्यभियोगोपदेशः, अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डनिवृत्तये वा । तथा हि—‘अनेनाहं ताडितः शसो वा’ इत्यभियोगे, ‘पूर्वमहमनेन ताडितः शसो वा’ इति प्रत्यभियोगे दण्डात्पक्षम् । यथाह नारदः (१५।९) ‘पूर्वमाचारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् । पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः ॥’ इति । यदा पुनर्द्वयोर्युगपत्ताडनादिप्रवृत्तिस्तत्राधिकदण्डनिवृत्तिः—‘पारुष्ये साहसे वापि युगपत्संप्रवृत्तयोः । विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥’ इति । एवं युगपद्वयवहारप्रवृत्त्यसंभवेऽपि कलहादौ प्रत्यभियोगोऽर्थवानृणादानादिषु तु निरर्थक एव ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विधिमुक्त्वा ससभ्यस्य सभापतेः कर्तव्यमाह—

उभयोः प्रतिभूमाहः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः सर्वेषु विवादेषु निर्णयस्य कार्यं कार्यनिर्णयः । आहिताभ्यादिषु पाठात्कार्यशब्दस्य पूर्वनिपातः । निर्णयस्य च यत्कार्यं साधितधनदानं दण्डदानं च तस्मिन्समर्थः प्रतिभूः प्रतिभवति तत्कार्यं सद्भवतीति प्रतिभूमाहः ससभ्येन सभापतिना । तस्यासंभवेऽर्थिप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषा नियोक्तव्याः । तेभ्यश्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम् । यथाह कात्यायनः—‘अथ चेत्प्रतिभूनास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः । स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृत्याय वेतनम् ॥’ इति ॥ १० ॥

१. वदन्केवलं ।

२. एवं सति ।

३. निर्णयस्य कार्यं च ।

भाषा—किन्तु कलह और साहस के अपराध में अभियोग करने वाले पर भी अभियोग चला सकता है। दोनों कार्य के निर्णय (या निर्णय के कार्य) में समर्थ प्रतिभू (जमानतदार) लेना चाहिए ॥ १० ॥

अधिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससम्येन सभापतिना प्रतिभूर्भाष्य इत्युक्तम्, किं तन्निर्णयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूगृह्यत इत्यपेक्षित आह—

निह्वे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् ।

मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत् ॥ ११ ॥

अर्थिना निवेदितस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिनाऽपह्वे कृते यदाऽर्थिना साक्ष्यादिभिर्भावितोऽङ्गीकारितः प्रत्यर्थी तदा दद्याद्धनं प्रकृतमर्थिने राज्ञे च तत्सममपलापदण्डम् । अर्थार्थी भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगी जात इत्यभियोगादभियुक्तधनाद् द्विगुणं धनं दद्यात् राज्ञे । प्राङ्ग्याये प्रत्यवस्कन्दने चेदमेव योजनीयम् । तत्रार्थेवाऽपह्ववादी प्रत्यर्थिना भावितो राज्ञे प्रकृतधनसमं दण्डं दद्यात् । अथ प्रत्यर्थी प्राङ्ग्यायं कारणं वा भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगीति राज्ञे द्विगुणं धनं दद्यात् । अर्थिने च प्रकृतं धनम् । संप्रतिपत्युत्तरे तु दण्डाभाव एव । एतच्च ऋणादानविषयमेव । पदान्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानाद्धनव्यवहारेष्वस्यासंभवाच्च न सर्वविषयत्वम् । 'राज्ञाऽधर्मणिको दाप्यः' (व्य० ४२) इत्यस्य ऋणादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेषं वक्ष्यामः । यद्वा,—एतदेव सर्वव्यवहारविषयत्वेनापि योजनीयम् । कथम् ? अभियोगस्य निह्वेऽभियुक्तेन कृते यद्यभियोगत्रा साक्ष्यादिभिर्भावितोऽभियुक्तस्तदा तत्समं तत्र तत्र प्रतिपदोक्तमेव । च-शब्दोऽवधारणे । धनं दण्डं दद्याद्राज्ञे इत्यनुवादः । अथाभियोक्ता अभियोगं भावयितुं न शक्नोति तदा मिथ्याभियोगीति प्रतिपदोक्तं धनं दण्डं द्विगुणं दद्यादिति विधीयते । अत्रापि प्राङ्ग्याये प्रत्यवस्कन्दने च पूर्ववदेव योजनीयम् ॥ ११ ॥

भाषा—अर्थी द्वारा लगाये गये अभियोग का निह्व (छिपाने या अस्वीकार) करने पर प्रत्यर्थी (उस वाद के मूल्य के) समान धन राजा को दण्डस्वरूप देवे । और झूठा अभियोग चलाने वाला अभियोग के मूल्य से दूना धन देवे ॥ ११ ॥

१. प्रतिभूर्भाष्य इत्यत आह । २. धनं दद्याद्राज्ञे । ३. तत्राप्यर्थेऽपह्ववादी प्रत्य । ४. वक्तुं ।

ततः 'अर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इति वदतोत्तरपाद-
लेखने कालप्रतीक्षणं दर्शितं तत्रापवादमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशपात्यये स्त्रियाम् ।

विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

साहसं विषशस्त्रादिनिमित्तं प्राणव्यापादनादि, स्तेयं चौर्यम्, पारुष्यं चाग्दण्डपारुष्यं वक्ष्यमाणलक्षणम्, गौर्दोग्ध्री, अभिशापः पातकाभियोगः, अत्ययः प्राणधनातिपातस्तस्मिन्, द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम् । स्त्रियां कुलस्त्रियां दास्यां च कुलस्त्रियां चारित्रविवादे, दास्यां स्वस्वविवादे, विवादयेत् उत्तरं दापयेत्, सद्य एव, न कालप्रतीक्षणं कुर्यात् । अन्यत्र विवादान्तरेषु, काल उत्तरदानकालः, इच्छयाऽर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसमापतीनां स्मृत उक्तः ॥ १२ ॥

भाषा—साहस (विष, शस्त्र आदि से प्राण लेना), चोरी, कठोर भाषण, दूध वाली गौ के महापातक, प्राण और धन का नाश तथा स्त्रियों के (हरण या चरित्रविषयक) विवादों में तत्काल उत्तर देना चाहिए । अन्य विवादों में इच्छानुसार समय बताया गया है ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणमाह—

देशाद् देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च ।

ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥ १३ ॥

परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषते ।

वाक्चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि ॥ १४ ॥

स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः ।

अभियोगेऽर्थं साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

मनोवाक्कायकर्मभिर्यः स्वभावादेव न भयादिनिमित्ताद्विकृतिं विकारं याति गच्छति असावभियोगे साक्ष्ये वा दुष्टः परिकीर्तितः । तां विकृतिं विभज्य दर्शयति—देशादेशान्तरं याति न कचिदवतिष्ठते । सृक्किणी ओष्ठपर्यन्तौ परिलेढि जिह्वाग्रेण स्पर्शयति घट्टयतीति कर्मणो विकृतिः । अस्य ललाटं स्विद्यते स्वेदविन्द्वङ्कितं भवति, मुखं च वैवर्ण्यं विवर्णत्वं पाण्डुरत्वं कृष्णत्वं वा एति गच्छतीति कायस्य विकृतिः । परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यः परिशुष्यत्सगद्गदं स्खलद्द्वयस्यस्तं वाक्यं यस्य स तथोक्तः । विरुद्धं पूर्वापरविरुद्धं बहु च भाषते इति वाचोविकृतिः । परोक्षां वाचं प्रतिवचनदानेन न पूजयति, चक्षुर्वा प्रतिवीक्षणेन न पूजयतीति मनसो विकृतेर्लिङ्गम् । तथा

१. योगे च ।

२. य वा साक्ष्ये ।

३. विन्दुचितं ।

ओष्ठौ निर्भुजति वक्रयतीत्यपि कायस्य विकृतिः । एतच्च दोषसंभावनामात्र-
मुच्यते, न दोषनिश्चयाय; स्वाभाविकनेमित्तिकविकारयोर्विवेकस्य 'दुर्जेयत्वात् ।
अथ कश्चिन्निपुणमतिर्विवेकं प्रतिपद्येत, तथापि न पराजयनिमित्तं कार्यं भवति ।
नहि मरिष्यतो लिङ्गदर्शनेन मृतकार्यं कुर्वन्ति । एवमस्य पराजयो भविष्यतीति
लिङ्गादवगतेऽपि न पराजयनिमित्तकार्यप्रसङ्गः ॥ १३-१५ ॥

भाषा—जो इधर-उधर घूमता रहता है (एक स्थान पर स्थिर नहीं
रहता) ओठों को जीभ से चाटता है, ललाट से पसीना निकलता है, जिसके
मुख का रंग उतरा रहता है । जिसका मुँह बोलते समय सूखने लगता है,
रुक-रुक कर वाणी निकलती है, अपने विरुद्ध बहुत सी बातें कहता है (पूर्व
काल में कही हुई बात के विरोध में कह ले जाता है) पूछने पर तत्काल
उत्तर नहीं देता; देखने पर सामने आँख उठा कर नहीं देखता, ओठों को
टेढ़ा करता रहता है (काटा करता है) मन, वाणी, शरीर और कर्म के
स्वभाव से परिवर्तित हो गया हो—इस प्रकार के व्यक्ति अभियोग और
साक्ष्य में दुष्ट कहे गये हैं ॥ १३-१५ ॥

संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत् ।

न चाहूतो वदेत्किंचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः ॥ १६ ॥

किंच, संदिग्धमर्थमधमर्णेनानङ्गीकृतमेव यः स्वतन्त्रः साधननिरपेक्षः
साधयत्यासेधादिना स हीनो दण्ड्यश्च भवति । यश्च स्वयं संप्रतिपक्षं
साधनेन वा साधितं याच्यमानो निष्पतेत् पलायेत, यश्चाभियुक्तो राजा
चाहूतः सदसि न किंचिद्वदति 'सोऽपि हीनो दण्ड्यश्च स्मृतः' इति संब-
ध्यते । 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः' इति प्रस्तुतत्वाद्धीनपरि-
ज्ञानमात्रमेव सा भूदिति 'दण्ड्य'ग्रहणम् । दण्ड्यस्य चापि 'शास्योऽप्यर्थाज्ञ
हीयत' इत्यर्थादहीनत्वदर्शनादत्र तन्मा भूदिति 'हीन' ग्रहणम् ॥ १६ ॥

भाषा—जो सन्दिग्ध धन अपनी इच्छा से (विना किसी प्रमाण के)
लेना चाहे और जो व्यक्ति स्वयं स्वीकार किये गये या प्रमाणित हुए धन
के माँगने पर भाग जाय, जो अभियुक्त राजा द्वारा बुलाये जाने पर कुछ
भी उत्तर न दे, वे सभी पराजित होते हैं और दण्ड के भागी कहे गये हैं ॥ १६ ॥

अथ यत्र द्वावपि युगपद्वर्माधिकरणं प्राप्तौ भाषावादिनौ । तद्यथा—कश्चि-
त्प्रतिग्रहेण क्षेत्रं लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तरं
गतः । अन्योऽपि तदेव क्षेत्रं प्रतिग्रहेण लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य देशान्तरं

गतः । ततो द्वावपि युगपदागत्य 'मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम्' इति परस्परं विवदमानौ धर्माधिकरणं प्राप्तौ तत्र कस्य क्रियेत्याकाङ्क्षित आह—

साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः ।

पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः ॥ १७ ॥

उभयतः उभयोरपि वादिनोः साक्षिषु संभवत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः 'पूर्वस्मिन्काले मया प्रतिगृहीतमुपभुक्तं च' इति यो वदत्यसौ पूर्ववादी, न पुनर्यः पूर्व निवेदयति तस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः । यदा त्वन्य एवं वदति 'सत्यमनेन पूर्व प्रतिगृहीतमुपभुक्तं च किंतु राज्ञेदमेव क्षेत्रमस्मादेव क्रयेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति, 'अनेन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षोऽसाध्यतयाऽधरीभूतैस्तस्मिन्पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तरकालं प्रतिगृहीतमुपभुक्तं चेति वादिनः साक्षिणः प्रष्टव्या भवन्ति ॥ इदमेव व्याख्यानं युक्ततरम् । मिथ्योत्तरे पूर्ववादिनः साक्षिणो भवन्ति ॥ प्राङ्न्यायकारणोक्तौ पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तरवादिनः साक्षिणो भवन्तीति व्याख्यानमयुक्तम् । अस्यार्थस्य 'ततोऽर्थो लेख्येऽस्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्यनेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । पूर्वव्याख्यानमेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि । प्राङ्न्यायविधिसिद्धौ तु जयपत्रं क्रिया भवेत् ॥' इत्युक्त्वा—'द्वयोर्विवदतोरर्थं द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥' इति वदता । एतस्य च पूर्वव्यवहारविलक्षणत्वाद् भेदेनोपन्यासः ॥ १७ ॥

भाषा—दोनों ओर के साक्षी आये हों तो पहले अपना पूर्वकाल में अधिकार बताने वाले साक्षी की बात सुने । यदि पूर्वपक्ष कमजोर हो तो बाद के समय में अपना अधिकार बताने वाला साक्षियों से पूछना चाहिए ॥ १७ ॥

सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत् ।

दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च ॥ १८ ॥

अपि च, यदि विवादो व्यवहारः सपणः—पणनं पणः, तेन सह वर्तते इति सपणः, स्यात्तदा तत्र तस्मिन्सपणे व्यवहारे हीनं पराजितं पूर्वोक्तं दण्डं स्वकृतं पणं राज्ञे, धनिने च विवादास्पदीभूतं धनं दापयेद्वाजा । यत्र पुनरेकः कोपावेशघशात् 'यद्यहमत्र पराजितो भवामि तदा पणशतं दास्यामि' इति प्रतिजानीते, अन्यस्तु न किञ्चित्प्रतिजानीते तत्रापि व्यवहारः प्रवर्तते । तस्मिन् प्रवृत्ते पणप्रतिज्ञावादी यदि हीयते तदा स एव सपणं दण्डं दाप्यः । अन्यस्तु पराजितो दण्डं दाप्यः, न पणम्; 'स्वपणं च' इति विशेषोपादानात् । यत्र त्वेकः

शतम्, अन्यस्तु पञ्चाशत् प्रतिजानीते तत्रापि पराजये स्वकृतमेव पणं दाप्यौ ।
'सपणश्चेद्विवादः स्यात्' इति वदता पणरहितोऽपि विवादो दर्शित इति ॥ १८ ॥

भाषा—यदि सपण (शर्त लगाकर) विवाद हो रहा हो और पण की प्रतिज्ञा करने वाला हारता है तो उससे प्रतिज्ञात धन (राजा) दिलावे । वे दोनों ही यदि कम और अधिक धन की शर्त लगावें तो पराजय स्वीकार करने वाले से पण दिलवाये और धन के अधिकारी को धन दिलवाये ॥ १८ ॥

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः ।

भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥

किंच, छलं प्रमादाभिहितं निरस्य परित्यज्य भूतेन वस्तुतत्त्वानुसारेण व्यवहारान्नयेदन्तं नृपः । यस्माद् भूतमपि वस्तुतत्त्वमपि अनुपन्यस्तमनभिहितं हीयते हानिमुपगच्छति व्यवहारतो व्यवहारेण साक्ष्यादिभिः । तस्माद् भूतानुसरणं कर्तव्यम् । यथार्थिप्रत्यर्थिनौ सत्यमेव वदतस्तथा ससभ्येन सभापतिना यत्तितव्यं सामादिभिर्रूपायैः । तथा सति साक्ष्यादिनैरपेक्ष्येणैव निर्णयो भवति ॥ अथ सर्वथापि भूतानुसरणं न शक्यते कर्तुं, तथा सति साक्ष्यादिभिर्निर्णयः कार्य इत्यनुकल्पः । यथोक्तम्—'भूतच्छलानुसारित्वादिद्वगतिः समुदाहृतः । भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम् ॥' इति । तत्र भूतानुसारी व्यवहारो मुख्यः, छलानुसारी त्वनुकल्पः । साक्षिलेख्यादिभिर्गव्यवहारनिर्णये कदाचिद्वस्त्वनुसरणं भवति, कदाचिन्न भवति; साक्ष्यादीनां व्यभिचारस्यापि संभवात् ॥ १९ ॥

भाषा—छल (प्रमाद से कही हुई बात) को छोड़कर राजा वस्तुस्थिति के अनुसार व्यवहारों का निर्णय करे । सच्ची बात होने पर भी उसे न कहने पर व्यवहार में पराजित ही होता है ॥ १९ ॥

'भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः' (व्य० १९) इत्यत्रोदाहरणमाह—

निहुते^१ लिखितं नैकमेकदेशे विभावितः ।

दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥

नैकमनेकं सुवर्णरजतवस्त्रादि लिखितमभियुक्तमर्थिना प्रत्यर्थी यदि सर्वमेव निहुतेऽपजानीते तदार्थिनैकदेशे हिरण्ये साक्षादिभिः प्रत्यर्थी भावितोऽङ्गीकारितः सर्वं रजताद्यर्थं पूर्वलिखितं दाप्योऽर्थिने नृपेण । न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः 'पूर्व भाषाकाले अनिवेदितः पश्चादर्थिना पूर्वं मया विस्मृतः' इति निवेद्यमानो

१. तस्मात् । २. तत्त्वार्थयुक्तं यत्प्रमादाभि । ३. निहुते लिखितेऽनेकमेकदेशविभा ।

न ग्राह्यो नोदत्तव्यो नृपेण । एतच्च न केवलं वाचनिकम् । एकदेशे प्रत्यर्थिनो मिथ्यावादित्वनिश्चयादेकदेशान्तरेऽपि मिथ्यावादित्वसंभवात् । एवं तर्कापरनामसंभावनाप्रत्ययानुगृहीतादस्मादेव योगीश्वरवचनात्सर्वं दापनीयं नृपेणेति निर्णयः । एवं च तर्कवाक्यानुसारेण निर्णये क्रियमाणे वस्तुनोऽन्यथात्वेऽपि व्यवहारदर्शिनां न दोषः । तथा च गौतमः (११।२३, २४)—‘न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायस्तेनाभ्युह्य यथास्थानं ‘गमयेत्’ इत्युक्त्वा, ‘तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ’ (११।३२) इत्युपसंहरति । न चैकदेशभावितोऽनुपादेयवचनः प्रत्यर्थीत्येतावदिह गम्यते । ‘एकदेशविभावितो नृपेण सर्वं दाप्यः’ इति वचनात् ॥ यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—‘अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयेद्धनी । साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम् ॥’ इति, तत्पुत्रादिदेयपित्राद्युणविषयम् । तत्र हि बहूनर्थानभियुक्तः पुत्रादिर्न जानामीति प्रतिवदन्निहववादी न भवतीत्येकदेशविभावितोऽपि न क्वचिदसत्यवादीति ‘निहते लिखितं नैकम्’ (व्य० १९) इति शास्त्रं तत्र न प्रवर्तते । निहवाभावादपेक्षिततर्काभावाच्च !—‘अनेकार्थाभियोगेऽपि’ इति कात्यायनवचनं तु सामान्यविषयं, विशेषशास्त्रस्य विषयं निहवोत्तरं परिहृत्याऽज्ञानोत्तरे प्रवर्तते ॥ अनु ‘ऋणादिषु विवादिषु स्थिरप्रायेषु निश्चितम् । ऊने वाऽप्यधिके वार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिद्ध्यति ॥’ इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोगे साक्षिभिरेकदेशे भावितेऽधिके वा भाविते साध्यं सर्वमेव न सिद्ध्यतीत्युक्तम् । तथा सत्येकदेशे भाविते अभावितैकदेशसिद्धिः कुतस्तथा ? उच्यते,—लिखितसर्वार्थसाधनतयोपन्यस्तैः साक्षिभिरेकदेशाभिधानेऽधिकाभिधाने वा कृत्स्नमेव साध्यं न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः । तत्रापि निश्चितं न सिद्ध्यतीति वचनात्पूर्ववत्संशय एवेति प्रमाणान्तरस्यावसरोऽस्त्येव; ‘छलं निरत्य’ इति नियमात् । साहसादौ तु सकलसाध्यसाधनतयोद्दिष्टैः साक्षिभिरेकदेशेऽपि साधिते कृत्स्नसाध्यसिद्धिर्भवत्येव; तावतैव साहसादेः सिद्धत्वात्, कात्यायनवचनाच्च—‘साध्यार्थांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत् । स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकीर्तितम् ॥’ इति ॥ २० ॥

भाषा—अर्थी द्वारा लिखाई गई (सुवर्ण, रजत आदि) वस्तुओं में यदि प्रत्यर्थी अनेक का लेना अस्वीकार करता है और इसका एक भी वस्तु लेना सिद्ध हो जाता है तो राजा उससे सभी धन या वस्तुएँ दिलवाये । अर्थी को भी वे वस्तुएँ नहीं लेनी चाहिए, जिनके लिये उसने निवेदन न किया हो ॥ २० ॥

१. न दापयितव्यो । २. न्यायज्ञाने तर्क उपायस्तेन तर्केण न्यायमभ्युह्य निश्चित्य नाभ्युपेत्य । ३. तत्पुत्राद्युण । ४. मीति वदन् । ५. उपदिष्टैः ।

ननु 'निहुते लिखितं नैकम्' (व्य० २०) इतीयं स्मृतिस्तथा 'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इतीयमपि स्मृतिरेव तत्रानयोः स्मृत्योः परस्परविरोधे सतीतरेतरबाधनादप्रामाण्यं कस्मान्न भवति, विषयव्यवस्था किमित्याश्रीयत इत्यत आह—

१स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।

यत्र स्मृत्योः परस्परतो विरोधस्तत्र विरोधपरिहाराय विषयव्यवस्थापनादावुत्सर्गापवादादिलक्षणो न्यायो बलवान् समर्थः । स च न्यायः कुतः प्रयेतव्य इत्यत आह—व्यवहारत इति । व्यवहाराद् वृद्धव्यवहारादन्वयव्यतिरेकलक्षणादवगम्यते । अतश्च प्रकृतोदाहरणेऽपि विषयव्यवस्थैव युक्ता । एवमन्यत्रापि विषयव्यवस्थाविकल्पादि यथासंभवं योज्यम् ॥

एवं सर्वत्र च प्रसङ्गेऽपवादमाह—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥ २१ ॥

'धर्मशास्त्रानुसारेण' इत्यनेनैवौशनसाद्यर्थशास्त्रस्य निरस्तत्वात् धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिह विवक्षितम् । अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्मृत्योर्विरोधे अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवदिति स्थितिर्मर्यादा । यद्यपि समानकर्तृकतया अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपगतो विशेषो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य प्राधान्यादर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्रं बलवदित्यभिप्रायः । धर्मस्य च प्राधान्यं शास्त्रादौ दर्शितम् । तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधेऽर्थशास्त्रस्य बाध एव न विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः । किमत्रोदाहरणम् ? न तावत्—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युश्च्छति ॥' (मनुः ८।३५०-५१) तथा—'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तर्गारे । जिघांसन्तं जिघांसीयाज्ज तेन ब्रह्महा भवेत् ।' इत्याद्यर्थशास्त्रम्, 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाण्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' (मनुः ११।८९) इत्यादि धर्मशास्त्रं, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्रं बलवदिति युक्तम् ॥ अनयोरेकविषयत्वासंभवेन विरोधाभावाच्च बलाबलचिन्ताऽवतरति । तथा हि—'शास्त्रं द्विजातिभिर्प्राङ् धर्मो यत्रोपहृष्यते' (मनुः ८।३४८) इत्युपक्रम्य—'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च हनन्धर्मेण न दण्डभाक् ॥' (मनुः ८।३४९) इत्यात्मरक्षणे दक्षिणादीनां यज्ञोपकरणानां च रक्षणे युद्धे च स्त्रीब्राह्मणहिंसायां च—'आततायिनमकूट-

१. स्मृतेर्विरोधे । २. परस्परविरोध । ३. प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा । ४. वेदान्तपारगम् । ५. न हुष्यति ।

शस्त्रेण चनक्ष दण्डभाक्' इत्युक्त्वा तस्यार्थवादार्थमिदमुच्यते 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि । गुर्वादीनस्यन्तावधानप्याततायिनो हन्यास्किमुतान्यानि । 'वा'शब्दश्रवणात् 'अपि वेदान्तपारगम्' इत्यत्र 'अपि'शब्दश्रवणान्न गुर्वादीनां बध्यस्वप्रतीतिः; 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात्' इति सुमन्तुवचनाच्च, 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम् । न हि स्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वाश्चैव तपस्विनः ॥' इति (४।१६२) मनुवचनाच्च । आचार्यादीनामाततायिनां हिंसाप्रतिषेधेनेदं वचनमर्थवज्ञान्यथा; हिंसामात्रप्रतिषेधस्य सामान्य-शास्त्रेणैव सिद्धत्वात् । 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इत्येतदपि ब्राह्मणादिव्यतिरिक्तविषयमेव । यतः 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । चैत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' यथा—'उद्यतासिविषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ इति सामान्ये-नाततायिनो दर्शिताः । अतश्च ब्राह्मणादय आततायिनश्च आत्मादित्राणार्थं हिंसानभिसंधिना निवार्यमाणाः प्रमादाद्यदि विपद्येरंस्तत्र लघु प्रायश्चित्तं राजदण्डाभावश्चेति निश्चयः । तस्मादभ्यदिहोदाहरणं वक्तव्यम् । तदुच्यते,— 'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः । अतो यतेत तत्प्राप्तौ' (आ० ३५१) इत्यर्थशास्त्रम् ।—'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' (व्य० १) इति धर्मशास्त्रम् । तयोः कचिद्विषये विरोधो भवति । यथा—'चतुष्पाद्व्यवहारे प्रवर्तमाने एकस्य जयेऽवधार्यमाणे मित्रलब्धिर्भवति, न धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति । अन्यस्य जयेऽवधार्यमाणे धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति, मित्रलब्धिर्विपरीता, तत्रार्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवत् । अत एव 'धर्मार्थसंनिपाते अर्थ-प्राहिण एतदेव' इति प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वं दर्शितमापस्तम्बेन । एतदेवेति द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं परास्मृत्यते ॥ २१ ॥

भाषा—जब दो स्मृतियों (धर्मशास्त्र के वचनों) में परस्पर विरोध हो तो व्यवहार से दिया गया न्याय बलवान् होता है । अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र का प्रमाण अधिक सबल होता है, ऐसी ही व्यवस्था है ॥ २१ ॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्युक्तं, किं तत्साधनमित्यपेक्षित आह—

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।

एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥ २२ ॥

प्रतीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम् । तच्च द्विविधं—मानुषं दैविकं चेति । तत्र मानुषं प्रमाणं त्रिविधं—लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति । कीर्तितं मह-

पिभिः । तत्र लिखितं द्विविधं—शासनं चीरकं चेति । शासनमुक्तलक्षणम् । चीरकं तु वक्ष्यमाणलक्षणम् । भुक्तिरूपभोगः । साक्षिणो वक्ष्यमाणस्वरूपप्रकाराः । ननु लिखितस्य साक्षिणां च शब्दाभिव्यक्तिद्वारेण शब्देऽन्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम् । भुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यम् ? उच्यते—भुक्तिरपि कैश्चिद्विशेषेणैर्युक्ता स्वस्वहेतुभूत-क्रियादिकमव्यभिचारादनुमापयन्त्यनुपपद्यमाना वा कल्पयन्तीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ चान्तर्भवतीति प्रमाणमेव । एषां लिखितादीनां त्रयाणामन्यतमस्याप्यभावे दिव्यानां वक्ष्यमाणस्वरूपभेदानामन्यतमं जातिदेशकालद्रव्याद्यपेक्षया प्रमाणमुच्यते । मानुषाभाव एव दिव्यस्य प्रामाण्यमस्मादेव वचनादवगम्यते; दिव्यस्य स्वरूपप्रामाण्ययोरगमगम्यत्वात् । अतश्च यत्र परस्परविवादेन युगपद्धर्माधिकारिणं प्राप्तयोरेको मानुषीं क्रियामपरस्तु दैवीमवलम्बते तत्र मानुष्येव ग्राह्या । यथाह कात्यायनः—‘यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम् । मानुषीं तत्र गृह्णीयात्तु दैवीं क्रियां नृपः ॥’ इति । यत्रापि प्रधानैकदेशसाधनं मानुषं संभवति तत्रापि न दैवमाश्रयणीयम् । यथा ‘रूपकशतमनया वृद्धया गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छतीत्यभियोगापह्नवे—‘ग्रहणे साक्षिणः सन्ति नो संख्यायां वृद्धिविशेषे वा, अतो दिव्येन भावयामीत्युक्ते तत्रैकदेशविभावितन्यायेनापि संख्यावृद्धिविशेषसिद्धेर्न दिव्यस्यावकाशः । उक्तं च कात्यायनेन—‘यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी । सा ग्राह्या ननु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम् ॥’ इति । यत्तु—‘गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्’ इति, तदपि मानुषासंभवकृतनियमार्थम् । यदपि नारदेनोक्तम्—‘अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेशमनि साहसे । न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या संभवति क्रिया ॥’ इति; तदपि मानुषासंभव एव । तस्मान्मानुषाभाव एव दिव्येन निर्णय इत्यौत्सर्गिकम् । अस्य चापवादो दृश्यते—‘प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके । बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव च ॥’ इति । तथा लेख्यादीनामपि क्वचिन्नियमो दृश्यते । यथा—‘पूगश्रेणीगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता । तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः ॥’ तथा—‘द्वारमार्गक्रियाभोगजलवाहादिषु क्रिया । भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः ॥’ तथा—‘दत्तादत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिनां निर्णये सति । विक्रयादानसंबन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति ॥ धूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते । साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम् ॥’ इति ॥ २२ ॥

भाषा—लिखित, भुक्ति (उपभोग, कब्जा) और साक्षी-ये प्रमाण होते हैं । इनमें से कोई (प्रमाण) न होये तब दिव्यों (एक प्रकार के शपथ) को प्रमाण विहित किया गया है ॥ २२ ॥

उभयत्र प्रमाणसद्भावे प्रमाणगतबलावलविवेके चासति पूर्वापरयोः कार्ययोः कस्य बलीयस्त्वमित्यत आह—

सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्पुत्तरा क्रिया ।

ऋणादिषु सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया—क्रियत इति क्रिया कार्यं बलवती । उत्तरकार्ये साधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्ये सिद्धेऽपि तद्वादी पराजीयते । तद्यथा—कश्चिद् ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम्, तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी जयिष्यति । तथा पूर्वं द्विकं शतं गृहीत्वा कालान्तरे त्रिकं शतमङ्गीकृतवान्, तत्रोभयत्र प्रमाणसद्भावेऽपि त्रिकशतग्रहणं बलवत् । पश्चाद्भावित्वात्पूर्वाबाधेनानुत्पत्तेः । उक्तं च—‘पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति’ इति ॥

अस्यापवादमाह—

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥

आध्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं बलवत् । तद्यथा—एकमेव क्षेत्रमन्यस्याऽऽधिं कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्यस्याप्याधाय किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वस्यैव तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं प्रतिग्रहे क्रये च ॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानमेव न संभवति । एवं दत्तस्य क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते तस्मादिदं वचनमनर्थकम् । उच्यते—अस्वत्वेऽपि यदि मोहात्कश्चिद्भोक्ता पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्वं बलवदिति न्यायमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यम् ॥ २३ ॥

भाषा—(ऋण आदि) धन के सभी विवादों में उत्तर कार्य (बाद का प्रमाण) बलवान् होता है; किन्तु आधि (बन्धक, रेहन), दान और क्रय में पूर्व कार्य (अपना अधिकार पहले का बताने वाला पक्ष) ही बलवान् होता है ॥ २३ ॥

मुक्तेः कैश्चिद्विशेषणैर्युक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्याश्चिदुक्तेः कार्यान्तरमाह—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विशतिवार्षिकी ।

परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥

परेणासंबद्धेन^१ भुज्यमानां भुवं धनं वा पश्यतः अब्रुवतः ‘मदीयेयं भूः न त्वया भोक्तव्या’ इत्यप्रतिषेधयतः तस्या भूमेर्विशतिवार्षिकी अप्रतिरवं विशतिवर्षोपभोगनिमित्ता हानिर्भवति । धनस्य तु हस्यश्चादेर्दशवार्षिकी हानिः । नन्वेतदनुपपन्नम्, ननुप्रतिषेधात्स्वत्वमपगच्छति । अप्रतिषिद्धस्य^२ दान-

१. सर्वेष्वेव विवादेषु । २. जयति । १. असंबन्धेन । २. अप्रतिषेधस्य ।

विक्रयादिवस्त्वनिवृत्तिहेतुत्वस्य लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात् । नापि विंशतिवर्षोप-
भोगास्त्वस्वम् ; उपभोगस्य स्वत्वे प्रमाणत्वात्, प्रमाणस्य च प्रमेयप्रत्यनुत्पादक-
त्वात्, रिक्थक्रयादिषु स्वत्वकारकहेतुत्वपाठाच्च । तथा हि—स्वामी रिक्थक्रय-
संविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं, क्षत्रियस्य वर्जितम्, निर्विष्टं वैश्य-
शूद्रयोः (गौ. २।१०, ३९-४२) इत्यष्टावेव स्वत्वकारकहेतून् गौतमः पठति न
भोगम् । नचैदमेव वचनं विंशतिवर्षोपभोगस्य स्वत्वापत्तिहेतुत्वं प्रतिपादयतीति
युक्तम् । स्वत्वस्य स्वत्वहेतूनां च लोकप्रसिद्धत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाभावात् ।
एतच्च विभागप्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते, गौतमवचनं तु नियमार्थम् ॥
अपि च 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डये-
त्पृथिवीपतिः ॥' इत्येतदनागमोपभोगस्य स्वत्वहेतुत्वे विरुद्धयते । नच 'अनागमं
तु यो भुङ्क्ते' इत्येतत्परोक्षभोगविषयम्, 'पश्यतोऽब्रुवत्' इति प्रत्यक्षभोगविषय-
मिति युक्तं वक्तुम् । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्यविशेषाभिधानात्, नोपभोगे बलं
कार्यमाहर्त्रा तत्सुतेन वा । पशुस्त्रीपुरुषादीनामिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति
कार्यायनवचनाच्च । समक्षभोगे च हानिकारणाभावेन हानेरसंभवात् । न चैत-
न्मन्तव्यम्—आधिप्रतिग्रहक्रयेषु पूर्वस्याः क्रियायाः प्राबल्यादपवादेन भूविषये
विंशतिवर्षोपभोगयुक्तायाः, धनविषये दशवर्षोपभोगयुक्तायाः, उत्तरस्याः क्रियायाः
प्राबल्यमनेनोच्यत इति । यतस्तेषूत्तरैव क्रिया तत्त्वतो नोपपद्यते, स्वमेव ह्याधेयं
देयं विक्रेयं च भवति । न चाहितस्य दत्तस्य विक्रोतस्य वा स्वत्वमस्ति । 'अस्वत्व-
दाने प्रतिग्रहे च दण्डः स्मर्यते—'अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति ।
उभौ तौ चौरवच्छास्थौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम् ॥' इति । तथाऽऽध्यादीनां त्रया-
णामपवादत्वेऽस्य श्लोकस्याधिसीमादीनामुत्तरश्लोकेऽपवादो नोपपद्यते । तस्मा-
च्छ्रयादीनां हानिरनुपपन्नैव; नापि व्यवहारहानिः, यतः—'उपेक्षां कुर्वतस्तस्य
तूष्णींभूतस्य तिष्ठतः । काले विपन्ने पूर्वोक्ते व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥' इति नार-
देनोपेक्षालिङ्गाभावकृता व्यवहारहानिरुक्ता, ननु वस्त्वभावकृता । तथा मनुनापि
(८।१४८) 'अजडश्चेदपौगण्डो विपर्यंश्चास्य भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्ध-
नमर्हति ॥' इति व्यवहारतो भङ्गो दर्शितो न वस्तुतः । व्यवहारभङ्गश्चैव—भोक्ता
किल वदति 'अजडोऽयमपौगण्डोऽबालोऽयमस्य संनिधौ विंशतिवर्षाण्यप्रतिरवं
मया भुक्तं, तत्र बहवः साक्षिणः सन्ति; यद्यस्य स्वमन्यायेन मया भुज्यते तदायं
किमित्येतावन्तं कालमुदास्ते' इति, तत्र चायं निरुत्तरो भवतीति । एवं निरुत्तर-

१. विजितं । विनिर्जितम् । २. नचैदं वचनं । ३. उत्तरविषयक्रियायाः ।
४. स्वत्वविशिष्टमेव—स्वयमेव । ५. अस्वत्वस्य । ६. विषये चास्य
भुञ्जते । ७. समत्वेनापवादासंभवात् ।

स्यापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव । 'द्वलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' (व्य० १९) इति नियमात् ॥ अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिस्तथापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो व्यवहारहानिशङ्का भवतीति तन्निवृत्तये तूष्णीं न स्थातव्यमित्युपदिश्यत इति । तच्च न-स्मार्तकालाया भुक्तेर्हानिशङ्काकारणत्वाभावात्, तूष्णीं न स्थातव्यमित्येतावन्मात्राभिधिरसायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । अथोच्यते-विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थम् । यथाह कात्यायनः- 'शक्तस्य संनिधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते । विंशतिवर्षाण्यतिक्रान्तं तत्पत्रं दोषवर्जितम् ॥' इति, तदपि न'-आध्यादिष्वपि विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणस्य समत्वेनाधिषीमेत्याद्यपवादासंभवात् । यथाह कात्यायनः—'अथ विंशतिवर्षाणि आधिर्भुक्तः सुनिश्चितः । तेन लेख्येन तस्मिन्निर्लेख्यदोषविवर्जिता ॥' तथा—सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते । तस्य दोषाः प्रवक्तव्या यावद्वर्षाणि विंशतिः ॥' इति । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी' इत्येतदपि प्रयुक्तम् । तस्मादस्य श्लोकस्य 'सम्योऽर्थो वक्तव्यः' । उच्यते-भूमेर्धनस्य च फलहानिरिह विवक्षिता, न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिः । तथा हि-निराक्रोशं विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं यद्यपि स्वामी न्यायतः क्षेत्रं लभते, तथापि फलानुसरणं न लभते; अप्रतिषेधलक्षणा-स्वापराधादस्माच्च वचनात् । परोक्षभोगे तु विंशतेरूर्ध्वमपि फलानुसरणं लभत एव; 'पश्यतः' इति वचनात् । प्रत्यक्षभोगे च साक्रोशे, 'अब्रुवतः' इति वचनात् । विंशतेः प्राक् प्रत्यक्षे निराक्रोशे च लभते; विंशतिग्रहणात् । ननु तदुत्पन्नस्यापि कुलस्य स्वत्वात्तद्वानिरनुपपन्नैव । बाढम्, तस्य स्वरूपाविनाशेन तथैवावस्थाने यथा—तदुत्पन्नपूगपनसंवृत्तादीनां यत्पुनस्तदुत्पन्नमुपभोगान्नष्टं तत्र स्वरूपनाशादेव स्वत्वनाशः । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्यनेन वचनेन निष्क्रयरूपेण गणयित्वा चौरवत्तत्समं द्रव्यदानं प्राप्तं, 'हानिविंशतिवार्षिकी' इत्यनेनापोद्यते । राजदण्डः पुनरस्त्येव विंशतेरूर्ध्वमपि, अनागमोपभोगादपवादाभावाच्च । तस्मात्स्वाम्युपेक्षालक्षणस्वापराधादस्माच्च वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति स्थितम् । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी, इत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

भाषा—स्वामी के देखते रहने और आपत्ति न करने पर भूमि दूसरे व्यक्ति द्वारा जोती जाने पर बीस वर्ष में उसके (स्वामी के) अधिकार से निकल जाती है और इस प्रकार धन का उपभोग दूसरा करे तो दस वर्ष के बाद स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना ।

^१तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ २५ ॥

आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपाः । जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धने जडबालधने; आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालधने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनानि तैर्विना । उपनिक्षेपो नाम रूपकसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहितं द्रव्यम् । यथाह नारदः—‘स्वं द्रव्यं यत्र विस्र-
भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः । निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः ॥’ इति उप-
निधानमुपनिधिः । आध्यादिषु पश्यतोऽब्रुवतोऽपि भूमेर्विशतेरुर्ध्वं धनस्य च दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमप्युपचयहानिर्न भवति; पुरुषापराधस्य तथाविधस्या-
भावात्, उपेक्षाकारणस्य तन्न तत्र संभवात् । तथा हि—आधेरधिस्त्वोपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीमनश्चिरकृततुषाङ्गारादिचिह्नैः सुसाध्यत्वादुपेक्षा संभवति; उपनिक्षेपोपनिध्योर्भुक्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, प्रतिषेधाति-
क्रमोपभोगे च सोदैयफललाभादुपेक्षोपपत्तिः । जडबालयोर्जडत्वाद्बालत्वादुपेक्षा युक्तैव; राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्रागल्भ्याच्च । श्रोत्रिय-
स्याध्ययनाध्यापनतदर्थविचारानुष्ठानव्याकुलत्वादुपेक्षा युक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसंभवात्समच्चभोगे निराक्रोशे च न कदाचिदपि फलहानिः॥२५॥

भाषा—आधि (बन्धक), सीमा, उपनिक्षेप, जड (मन्दबुद्धि), बालक का धन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन, श्रोत्रिय का धन दूसरे द्वारा दस या बीस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से हीन नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम् ।

दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

य आध्यादीनां श्रोत्रियद्रव्यपर्यन्तानां चिरकालोपभोगबलेनापहर्ता तं विवा-
दास्पदीभूतं धनं स्वामिने दापयेदित्यनुवादः । दण्डं च तत्समं विवादा-
स्पदीभूतद्रव्यसमं राज्ञे दापयेदिति विधिः । यद्यपि गृहक्षेत्रादिषु तत्समो दण्डो न संभवति तथापि—‘मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा’ (व्य० १५५)
इत्यादिर्वच्यमाणो दण्डो द्रष्टव्यः । अथ तत्समदण्डेनापहर्तुर्दमनं न भवति बहु-

- | | | |
|-----------------|---|--------------|
| १. तस्योपनिधि । | २. आधित्वनिमित्तकः | ३. सोदयफलभा- |
| वात् । | ४. आध्यादीनां निहन्तारं दापयेद्धनिने धनम् । | |

धनत्वेन, तदा शक्त्यपेक्षं धनं दापयेत् । यावता तस्य द्रव्योपशमो भवति तावद्दापयेत् । 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (गौ० ११।२८) इति दण्डग्रहणस्य दमनार्थत्वात् । यस्य तु तत्सममपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि यावता पीडयते तावद्दाप्यः । यस्य पुनः किमपि धनं नास्ति असौ धिग्दण्डादिना दमनीयः । तथा च मनुः (८।१२९)—'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति । वधदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां दशधा दर्शितः । तथाह मनुः (८।१२५)—'दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरर्हन्तो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥' इति । एतेषां यन्निमित्तापराधस्तत्रैवोपस्थादौ निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम् । कर्म वा कारयितव्यो बन्धनागारं वा प्रवेशयितव्यः । यथोक्तं कात्यायनेन—'धनदानासहं बुद्ध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत् । अशक्तौ बन्धनागारं प्रवेश्यो ब्राह्मणाहते ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनर्द्रव्याभावे कर्मवियोगादीनि प्रयोज्यानि । यथाह गौतमः (१२।४७)—'कर्मवियोगविख्यापननिर्वासनाङ्ककरणान्यवृत्तौ ।' इति । नारदेनापि (१४।४)—'वधः सर्वस्वहरणं पुरास्त्रिर्वासनाङ्कने । तदङ्गच्छेद् इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः ॥' इत्युक्तवोक्तम्—'वधाहते ब्राह्मणस्य, न वधं ब्राह्मणोऽर्हति ॥' इति ।—शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् । ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥ (नारदः १४।९) इति ॥ अङ्कने च व्यवस्था दर्शिता (९।२३७)—'गुरुत्वे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति । यत्तु—'चक्षुर्निरोधो ब्राह्मणस्य' (२।२७।१७) इत्यापस्तम्बवचनं, ब्राह्मणस्य पुरास्त्रिर्वासनसमये वस्त्रादिना चक्षुर्निरोधः कर्तव्य इति तस्यार्थः, न तु चक्षुरुद्धरणम् ; 'अज्ञतो ब्राह्मणो ब्रजेत्' (मनुः ८।१२३) 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' (गौतमः १२।४६) इत्यादिमनुगौतमादिवचनविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ २६ ॥

भाषा—आधि (उन्धक) आदि के हरण करने वाले से धन के अधिकारी को धन दिलवाये; उसके समान ही दण्ड राजा को दिलवाये अथवा उसकी शक्ति देखकर उसके अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २६ ॥

स्वत्वाव्यभिचारत्वेन भोगस्य स्वत्वे प्रामाण्यमुक्तम् । भोगमात्रस्य स्वत्वव्यभिचारित्वात्कीदृशो भोगः प्रमाणमिष्यत आह—

आर्गमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् ।

१. आर्गमोऽभ्यधिको ।

स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिः आगमः । स भोगादप्यधिको बलीयान्; स्वत्व-
बोधने भोगस्यागमसापेक्षत्वात् । यथाह नारदः (१।८५)—‘आगमेन विशुद्धेन
भोगो याति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नैव गच्छति ॥’ इति ।
नच भोगमात्रात्स्वत्वागमः; परकीयस्याप्यपहारादिनोपभोगसंभवात् । अतएव—
‘भोगं केवलतो यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित् । भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयः स तु
तस्करः ॥’ (नारदः १।८।६) इति स्मर्यते । अतश्च सागमो दीर्घकालो निरन्तरो
निराक्रोशः प्रत्यर्थिप्रत्यक्षश्चेति पञ्चविशेषणयुक्तो भोगः प्रमाणमित्युक्तं भवति ।
तथा च स्मर्यते—‘सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽर्परवोद्भिन्नः । प्रत्यर्थिसंनिधानश्च
परिभोगोऽपि पञ्चधा ॥’ इति । क्वचिच्चागमननिरपेक्षस्यापि भोगस्य प्रामाण्य-
मित्याह—विना पूर्वक्रमागतादिति । पूर्वेषां पित्रादीनां त्रयाणां क्रमः
पूर्वक्रमः, तेनागतो यो भोगस्तस्माद्विना । आगमोऽभ्यधिक इति संबन्धः । स
पुनरागमादभ्यधिकः आगमनिरपेक्षः । प्रमाणमित्यर्थः । तत्राप्यागमोऽज्ञातनिर-
पेक्षो न सत्तानिरपेक्षः । सत्ता तु तेनैवावगम्यत इति बोद्धव्यम् । ‘विना पूर्व-
क्रमागतात्’ इत्येतच्च स्मार्तकालप्रदर्शनार्थम् । ‘आगमोऽभ्यधिको भोगात्’ इति च
स्मार्तकालविषयम् । अतश्च स्मरणयोग्ये काले योग्यानुपलब्ध्या आगमाभाव-
निश्चयसंभवादागमज्ञानसापेक्षस्यैव भोगस्य प्रामाण्यम् । अस्मार्ते तु काले योग्या-
नुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादागमज्ञाननिरपेक्ष एव संततो भोगः
प्रमाणम् । एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन—‘स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा
भुक्तिरिष्यते । अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमास्त्रिपुरुषागता ॥’ इति । स्मार्तश्च कालो
वर्षशतपर्यन्तः; ‘शतायुर्वै पुरुषः’ इति श्रुतेः । अनुगमाभावादिति योग्यानु-
पलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादित्यर्थः । अतश्च वर्षशताधिको भोगः
संततोऽप्रतिरवः प्रत्यक्षश्चागमाभावे वाऽनिश्चितेऽव्यभिचारादाक्षिसागमः स्वत्वं
गमयति । अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमस्मृतिपरम्परायां सत्यां न भोगः प्रमाणम् ।
अत एव ‘अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ॥ चौरदण्डेन तं पापं
दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥’ इत्युक्तम् । नच ‘अनागमं तु यो भुङ्क्ते’ इत्येकवचननिर्देशात्
‘बहून्यब्दशतान्यपि’ इति ‘अपि’शब्दप्रयोगात्प्रथमस्यैव पुरुषस्य निरागमे चिर-
कालोपभोगेऽपि दण्डविधानमिति मन्तव्यम् । द्वितीये वा पुरुषे निरागमस्य
भोगस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतद्विषयते—‘आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु
सागमा’ (नारदः २।८७) इति नारदस्मरणात् । तस्मात्सर्वत्र निरागमापभोगे
‘अनागमं तु यो भुङ्क्ते’ इत्येतद् द्रष्टव्यम् । यदपि ‘अन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा पूर्व-
तरैस्त्रिभिः । न तच्छ्रव्यमपाहर्तुं क्रमास्त्रिपुरुषागतम् ॥’ इति, तदपि पित्रा सह

पूर्वतरैस्त्रिभिरिति योज्यम् । तत्रापि 'क्रमास्त्रिपुरुषागत'मित्यस्मार्तकालोपभोग-
लक्षणम् । त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवात्, द्वितीये
वर्षे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसंगः । तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सा-
गमा भुक्तिरिष्यते' इति स्मृतिविरोधः, 'अन्यायेनापि यजुक्तम्' इत्येतच्चाभ्याये-
नापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यं, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्; 'अपि' शब्द-
श्रवणात् । यच्चोक्तं हारीतेन—'यद्विनाऽऽगममभ्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् । न
तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमास्त्रिपुरुषागतम् ॥' इति, तत्राप्यभ्यन्तन्तमागमं विनेति ।
अत्यन्तमुपलभ्यमानमागमं विनेति व्याख्येयं, न पुनरागमस्वरूपं विनेति ।
आगमस्वरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तम् । 'क्रमास्त्रिपुरुषागतमि-
त्येतदुक्तार्थम् । ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् ।
तथा हि—यद्यागमः प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वत्वावगमान्न भोगस्य
स्वत्वं आगमे वा प्रामाण्यम् । अथ प्रमाणान्तरेणागमो नावगतः कथं तद्विशिष्टो
भोगः प्रमाणम् ? उच्यते,—प्रमाणान्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो
भोगः कालान्तरे स्वत्वं गमयति । अवगतोऽप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे
स्वत्वं गमयितुमलम् । मध्ये दानविक्रयादिना स्वत्वापगमसंभवादिति सर्व-
मनवद्यम् ॥

आगमसापेक्षो भोगः प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव
प्रमाणमित्यत आह—

आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥ २७ ॥

यस्मिन्नागमे स्वल्पापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे बलं संपूर्णं नैवा-
स्ति । अयमभिसंधिः—स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम् ; परस्व-
त्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा । स्वीकारश्च त्रिविधः—
मानसः, वाचिकः, कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति संकल्परूपः । वाचिकस्तु
ममेदमित्याद्यभिध्याहारोक्तेस्त्री सविकल्पकः प्रत्ययः । कायिकः पुनरुपादानाभिमर्श-
नादिरूपोऽनेकविधः । तत्र च नियमः स्मर्यते—'दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्ठे गां पुच्छे
करिणं करे । केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत् ॥' इति । आश्वलायनोऽ-
प्याह—'अनुमन्त्रयेत् प्राण्यभिमृद्वेष्टप्राणि कन्यां च' इति । तत्र हिरण्यवस्त्रादा-
बुद्धकदानानन्तरमेवोपादानादिसंभवात् त्रिविधोऽपि स्वीकारः संपद्यते । चेन्नादौ
पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासंभवात्स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवित-
व्यम् ; अन्यथा दानक्रयादेः संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिक-

स्वीकारविकल आगमो दुर्बलो भवति तत्सहितादागमात् । एतच्च द्वयोः पूर्वापर-
कालापरिज्ञाने । पूर्वापरकालपरिज्ञाने तु विगुणोऽपि पूर्वकालागम एव बलीया-
निति । अथवा—‘लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधम्’ इत्युक्तं एतेषां
समवाये कुत्र यस्य वा प्राबल्यमित्यत्रेदमुपतिष्ठते—‘आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना
पूर्वक्रमागतात् । आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥’ इति । अय-
मर्थः—आद्ये पुरुषे साक्षिभिर्भाषित आगमो भोगादभ्यधिको बलवान् । पूर्वक्रमा-
गतान्नोगाद्विना । स पुनः पूर्वक्रमागतो भोगश्चतुर्थे पुरुषे लिखितेन भावितादा-
गमाद्बलवान् । मध्यमे तु भोगसहितादागमास्तोकभोगसहितोऽप्यागमो बलवा-
निति । एतदेव नारदेन स्पष्टीकृतम्—‘आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु
सागमा । कारणं भुक्तिरेवैका संतता या चिरन्तनी ॥’ इति ॥ २७ ॥

भाषा—तीन पीढी पहले से चले आते हुए भोग (कब्जे) की अपेक्षा
आगम (लेख) अधिक प्रामाणिक होता है । (आगम-सापेक्ष भोग ही
प्रमाण होता है । किन्तु जहाँ थोड़ा भी भोग नहीं होता वहाँ आगम में वो
दम नहीं रह जाता है) ॥ २७ ॥

‘पश्यतोऽनुव्रत’ (व्य० २४) इत्यत्र विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं भूमेर्धनस्या-
पि दशवर्षोपभोगादूर्ध्वं फलानुसरणं न भवतीत्युक्तम्, तत्र फलानुसरणवद्दण्डा-
नुसरणमपि न भविष्यतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यवस्थया च दण्डव्यवस्थां दर्शयि-
तुमाह—

आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत् ।

न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी ॥ २८ ॥

येन पुरुषेण भूम्यादेरागमः स्वीकारः कृतः स पुरुषः ‘कुतस्ते चेन्नादिकम्’
इत्यभियुक्तस्तमागमं प्रतिग्रहादिकं लिखितादिभिरुद्धरेत् भावयेत् । अनेन चाद्य-
स्य पुरुषस्यागममनुद्धरतो दण्ड इत्युक्तं भवति । तत्सुतो द्वितीयोऽभियुक्तो
नागममुद्धरेत्, किन्तु अविच्छिन्नाऽप्रतिरव-समञ्च भोगम् । अनेन चागममनु-
द्धरतो द्वितीयस्य न दण्डोऽपि तु विशिष्टं भोगमनुद्धरतो इति प्रतिपादितम् ।
तत्सुतस्तृतीयो नागमं नापि विशिष्टं भोगमुद्धरेत्, अपि तु क्रमागतं भोगमा-
श्रम् । अनेनापि तृतीयस्य क्रमायातभोगानुद्धरणे दण्डो नागमानुद्धरणे न विशि-
ष्टभोगानुद्धरणे चेत्यभिहितम् । तत्र तयोर्द्वितीयतृतीययोर्भुक्तिरेव गरीयसी ।
तत्रापि द्वितीये गुरुस्तृतीये गरीयसीति विवेक्तव्यम् । त्रिष्वप्यागमानुद्धरणेऽर्थ-
हानिः समानैव, दण्डे तु विशेष इति तात्पर्यार्थः । उक्तं च हारीतेन—‘आगमस्तु

कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरेत् । न तत्सुतस्तत्सुतो वा भोग्यहानिस्तयोरपि ॥
इति ॥ २८ ॥

भाषा—जिस व्यक्ति ने आगम (लेख) करवाया है वह अभियोग चलाये जाने पर उसे प्रस्तुत करे । उसके पुत्र या पौत्रों को वह आगम प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं रहता, उनके संबंध में भोग ही प्रमाण होता है ॥ २८ ॥

अस्मार्तकालोपभोगस्यागमज्ञाननिरपेक्षस्य प्रामाण्यमुक्तं 'विना पूर्वक्रमाग-
तात्' (व्य० २७) इत्यत्र, तस्यापचादमाह—

योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् ।

न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥

यदा पुनराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेतः स्यात् परलोकं
गतो भवेत्तदा तस्य रिक्थी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् । यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे
भुक्तिरागमरहिता साक्ष्यादिभिः साधितापि न प्रमाणम् ; पूर्वाभियोगेन भोगस्य
सापवादत्वात् । नारदेनाप्युक्तम् (१।९३)—'तथा'रूढविवादस्य प्रेतस्य व्यव-
हारिणः । पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगो निर्वर्तयेत् ॥' इति ॥ २९ ॥

भाषा—यदि अभियुक्त (अभियोग चलते समय ही) मर जावे तब
उसके उत्तराधिकारी (पुत्र इत्यादि) उस आगम को प्रस्तुत करें । उस
स्थिति में विना आगम के भोग प्रमाण नहीं माना जाता ॥ २९ ॥

अनिर्णीतव्यवहारे व्यवहर्तरि प्रेते व्यवहारो न निर्वर्तत इति स्थितम् ।
निर्णीतेऽपि व्यवहारे, स्थिते च व्यवहर्तरि व्यवहारः क्वचित्प्रवर्तते क्वचिन्न प्रवर्तत
इति व्यवस्थालिङ्ग्ये व्यवहारदर्शिनां बलाबलमाह—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च ।

पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राजा अधिकृताः व्यवहारदर्शने नियुक्ताः—'राज्ञा सभासदः कार्याः'
(व्य० २) इत्यादिनोक्ताः पूगाः समूहाः, भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनां एकस्था-
ननिवासिनां,—यथा ग्रामनगरादयः, श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीनामप्येक-
सौंपजीविनां संघाताः,—यथा हेडालुकादीनां ताम्बूलिककुविन्दचर्मकारादीनां च,
कुलानि जातिसंबन्धिवन्धूनां समूहाः, एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णां पूर्वं पूर्वं
यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवज्ज्ञेयं वेदितव्यम् । नृणां व्यवहर्तृणां, व्यवहारविधौ
व्यवहारदर्शनकार्ये । एतदुक्तं भवति—नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे पराजितस्य
यद्यप्यसंतोषः कुदृष्टिबुद्ध्या भवति, तथापि न पूगादिषु पुनर्व्यवहारो भवति ।

एवं पूगनिर्णीतेऽपि न श्रेण्यादिगमनम् । तथा श्रेणिनिर्णीते कुलगमनं न भवति । कुलनिर्णीते तु श्रेण्यादिगमनं भवति । श्रेणिनिर्णीते पूगादिगमनम् । पूगनिर्णीते नृपाधिकृतगमनं भवतीति । नारदेन पुनर्नृपाधिकृतैर्निर्णीतेऽपि व्यवहारे नृपगमनं भवतीत्युक्तम्—‘कुलानि श्रेण्यश्चैव गणाश्चाधिकृता नृपाः । प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्’ इति । तत्र च नृपगमने सोत्तरसभ्येन राज्ञा पूर्वं सभ्यैः सपणव्यवहारे निर्णीयमाने यद्यसौ कुदृष्टवादी पराजितस्तदाऽसौ दण्ड्यः । अथासौ जयति तदाऽधिकृताः सभ्या दण्ड्याः ॥ ३० ॥

भाषा—मनुष्यों का व्यवहार देखने के कार्य में राजा द्वारा नियुक्त व्यक्ति, पूगा (समूह), एक कार्य करने वालों की विरादरी और जाति तथा संबन्धियों का समूह (कुल) को क्रमशः श्रेष्ठ समझना चाहिए ॥ ३० ॥

दुर्बलैर्व्यवहारदृशिभिर्दृष्टो व्यवहारः परावर्तते, प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तत इत्युक्तम् ; इदानीं प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहारः कश्चिन्निवर्तत इत्याह—

बलापौधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत् ।

स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतांस्तथा ॥ ३१ ॥

बलेन बलात्कारेण उपधिना भयादिना विनिर्वृत्तान्निष्पन्नान्व्यवहारान्निवर्तयेत् । तथा स्त्रीभिः, नक्तं रात्रावस्त्रीभिरपि, अन्तरागारे गृहाभ्यन्तरे, बहिर्ग्रामादिभ्यः, शत्रुभिश्च कृतान् व्यवहारान् ‘निवर्तयेत्’ इति संबन्धः ॥ ३१ ॥

भाषा—बलपूर्वक एवं भय आदि द्वारा निष्पन्न व्यवहारों एवं स्त्रियों के साथ, रात्रि को, घर के भीतर, ग्राम आदि के बाहर और शत्रुओं द्वारा किये गये व्यवहारों पर पुनः विचार करे ॥ ३१ ॥

असिद्धव्यवहारिण आह—

मत्तोऽन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः ।

असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

अपि च, मत्तो मदनीयद्रव्येन, उन्मत्त उन्मादेन पञ्चविधेन वातपित्तश्लेष्म-संनिपातग्रहसंभवेनोपसृष्टः, आतों व्याध्यादिना, व्यसनमिष्टवियोगाऽनिष्टप्राप्ति-जनितं दुःखं, तद्वान्व्यसनी; बालो व्यवहारायोग्यः, भीतोऽरातिभ्यः, ‘आदि’ ग्रहणापुरराष्ट्रादिविरुद्धः ।—‘पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विसर्जितः । अनादेयो भवेद्वादो धर्मविरुद्धाहतः ॥’ इति मनुस्मरणात् । एतैर्योजितः कृतो

१. नृपैः । २. सोत्तरेति उत्तरश्चासौ सभ्यश्चेति तत्सहितेन-स्वोत्तर ।

३. बलोपधि । तत्रोपधिः कैतवं ४. उपधिना भयेन । ५. असंबन्धकृतः ।

६. वियोगोऽनिष्टप्राप्तिस्तज्जनितं ।

१३ या०

व्यवहारो न सिद्ध्यति । अनियुक्तसंबद्धकृतोऽपि व्यवहारो न सिद्ध्यतीति संबन्धः । यत्तु स्मरणम्—‘गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः । विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥’ इति, तदपि गुरुशिष्यादीना-
मात्यन्तिकव्यवहारप्रतिषेधपरं न भवति; तेषामपि कथंचिद्व्यवहारस्येष्टत्वात् ।
तथा हि—‘शिष्यादिशिष्टिरवधेन शक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यां, अन्येन
घ्नन् राज्ञा शास्यः’ (२।४२।४) इति गौतमस्मरणात् । ‘नोत्तमाङ्गे कथंचन’
(८।३००) इति मनुस्मरणाच्च । यदि गुरुः कोपावेशवशान्महता दण्डेनोत्तमाङ्गे
ताडयति, तदा स्मृतिव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति,
तदा भवत्येव व्यवहारपदम् ॥ तथा—‘भूर्या पितामहोपात्ता’ (व्य० १२१)
इत्यादिवचनात्पितामहोपात्ते भूर्यादौ पितापुत्रयोः स्वाभ्ये समाने, यदि पिता
विक्रयादिना पितामहोपात्तं भूर्यादि नाशयति तदा पुत्रो यदि धर्माधिकरणं
प्रवेशयति तदा पितापुत्रयोरपि भवत्येव व्यवहारः ॥ यथा—‘दुर्भिचे धर्मकार्ये च
व्याधौ संप्रतिरोधके । गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामो दातुमर्हति ॥’ इति
स्मरणात्, दुर्भिचादिव्यतिरेकेण यदि स्त्रीधनं भर्ता व्ययीकृत्य विद्यमानधनोऽपि
याच्यमानो न ददाति तदा दम्पत्योरपीष्यत एव व्यवहारः । तथा भक्तदासस्य
स्वामिना सह व्यवहारं वक्ष्यति । गर्भदासस्यापि, गर्भदासादीनधिकृत्य—
‘यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात् । दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं
लभेत च ॥’ इति नारदोक्तत्वात्, तदमोचने पुत्रभागादाने च स्वामिना सह
व्यवहारः केन वार्यते ? तस्मादृष्टादृष्टयोः श्रेयस्करो न भवति गुर्वादिभिर्व्यवहार
इति प्रथमं शिष्यादयो निवारणीयाः राज्ञा ससभ्येनेति ‘गुरोः शिष्ये’ इत्यादि-
श्लोकस्य तात्पर्यार्थः । अत्यन्तनिर्वन्धे तु शिष्यादीनामप्युत्तरीत्या प्रवर्तनीयो
व्यवहारः । यदपि—‘एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेक्ष्यजनस्य च । अनादेयो
भवेद्वादो धर्मविद्भिर्दाहृतः ॥’ इति नारदवचनम्, तत्रैकस्यापि—‘गणद्वयं
हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः’ । (व्य० १८७) तथा—‘एकं श्वगतां बहूनां च’
(व्य० २२१) इत्यादिस्मरणादेकार्थैर्बहुभिः सार्धं व्यवहार इष्यत एवेति
भिन्नार्थैर्बहुभिरेकस्य युगपद्व्यवहारो न भवतीति द्रष्टव्यम् । स्त्रीणामित्यपि
गोपशौण्डिकादिस्त्रीणां स्वातन्त्र्याद्व्यवहारो भवत्येवेति, तदन्यासां कुलस्त्रीणां
पतिषु जीवैस्तु तत्पारतन्त्र्यादनादेयो व्यवहार इति व्याख्येयम् । ‘प्रेक्ष्यजनस्य
स्वामिपारतन्त्र्यात्स्वार्थव्यवहारेऽपि स्वाभ्यनुज्ञयैव व्यवहारो नान्यथेति
व्याख्येयम् ॥ ३२ ॥

१. धिकारिणं प्रविशति । २. व्यवहारान् । व्यवहारपदं । ३. जीवस्तु
सस्तु । ४. योजनीयम् ।

भाषा—मत्त (नशे में बुत), उन्मत्त (पागल), रोगी, प्रियजन की मृत्यु आदि से विपत्तिग्रस्त, बालक, त्रस्त (शत्रु से भयातुर) व्यक्तियों के ऊपर चलाया गया व्यवहार एवं असंबद्ध व्यक्ति द्वारा चलाया गया व्यवहार सिद्ध या विचारणीय नहीं होता ॥ ३२ ॥

परावर्त्य व्यवहारमुक्त्वा इदानीं परावर्त्य द्रव्यमाह—

प्रनष्टाधि गतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।

विभावयेन्न चेत्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्टं हिरण्यादि शौल्हिकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्वाज्ञा धनिने दातव्यम् । यदि धनी रूपसंज्ञादिभिलिङ्गैर्भावयति । यदि न भावयति तदा तत्समं दण्डयः; असत्यवादित्वात् । अधिगमस्य स्वत्वनिमित्तत्वात्स्वत्वे प्राप्ते तत्परावृत्तिरेवोक्ता । अत्र च कालावधिं वक्ष्यति (व्य० १७३)—‘शौल्हिकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहतमाहृतम् । अर्वाक्संवत्सरास्त्वामी हरेत परतो नृपः ॥’ इति । मनुना पुनः संवत्सरत्रयमवधित्वेन निर्दिष्टम् (८।३०)—‘प्रनष्टस्वामिकं रिवथं राजा व्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् व्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥’ इति । तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम् । तत्र यदि संवत्सरादर्वाक् स्वाश्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुनः संवत्सरादूर्ध्वमागच्छति, तदा किंचिद्भागं रक्षण-मूल्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात्, यथाह—‘आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधि-गतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥’ (मनु० ८।३०) इति । तत्र प्रथमे वर्षे कृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीये द्वादशं भागं, तृतीये दशमं, चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृहीत्वा शेषं दद्यात् । राजभागस्य चतुर्थोऽंशोऽधिगन्त्रे दातव्यः । स्वाश्यानागमे तु कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं राजा गृह्णीयात् । तथाह गौतमः (१०।३६-३८)—‘प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य संवत्सरं राजा रक्षयम् । ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थोऽंशो राज्ञः शेषम्’ इत्यत्र संवत्सरमित्येक-वचनमविवक्षितम् । ‘राजा व्यब्दं निधापयेत्’ इति स्मरणात् ‘हरेत परतो नृपः’ इत्येतदपि स्वामिन्यनागते व्यब्दादूर्ध्वं व्ययीकरणाभ्यनुज्ञानपरम् । ततः परमागते तु स्वामिनि व्ययीभूतेऽपि द्रव्ये राजा स्वांशमवतार्य तत्समं दद्यात् । एतच्च हिरण्यादिविषयम् । गवादिविषये वक्ष्यति (व्य० १७४)—‘पणानेकशफे दद्यात्’ इत्यादिना ॥ ३३ ॥

भाषा—किसी की खोई हुई वस्तु पाकर राजा उस धन के अधिकारी को वह वस्तु (धन) देवे और यदि वह चिह्नों द्वारा उसे (अपना) प्रमाणित न कर सके तो उसके समान दण्ड का भागी होता है ॥ ३३ ॥

१. रूपकसंख्या । २. षड्भागं । ३. चतुर्थो भागः शेषं राज्ञ इति ।

रथ्याशुलकशालादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नष्टस्याधिगमे विधिमुक्त्वा अधुना
भूमौ चिरनिखातस्य सुवर्णादेर्निधिशब्दवाच्यस्याधिगमे विधिमाह—

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।

विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥

इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।

अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा शेषं कोशे निवेशयेत् ।
ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव
गृहीयात्, यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः । इतरेण तु राजनिवृद्धब्राह्मणव्यति-
रिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणचत्रियादिना निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं
निधिं स्वयमाहरेत् । यथाह वसिष्ठः—‘अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्ध-
रेत्, अधिगन्त्रे षष्ठमंशं, प्रदद्यात्’ इति । गौतमोऽपि (१०।३३।५)—‘निध्य-
धिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठमंशं
लभेत्तेत्येके’ इति । अनिवेदित इति कर्तरि निष्ठा । अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च
राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्वा राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च
राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो दण्डं च शक्यपेक्षया । अथ निधेरपि स्वाभ्यागत्य
रूपकसंख्यादिभिः स्वयं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दत्त्वा षष्ठं द्वादशं
षांशं स्वयमाहरेत् । यथाह मनुः (८।३५)—‘समायमिति प्रो ब्रूयान्निधिं
सत्येन मानवः । तस्याददत्त षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥’ इति । अंशविकल्प-
स्तु वर्णकालाद्यपेक्षया वेदितव्यः ॥ ३४-३५ ॥

भाषा—राजा (इस प्रकार का) धन लेकर उसका आधा ब्राह्मणों को
दान कर दे । विद्वान् ब्राह्मण यदि ऐसी निधि पावे तो सम्पूर्ण स्वीकार करे,
क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होता है । (राजा, विद्वान् ब्राह्मण के
अतिरिक्त) किसी और से धन लेवे तो उसका छठा अंश लाने वाले को
देकर शेष राजा स्वयं ले लेवे । न बताई गई निधि ज्ञात हो जाय तो उसे
सम्पूर्ण निधि दण्ड के रूप में दिलवाये ॥ ३४-३५ ॥

चौरहृतं प्रत्याह—

देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु ।

अददद्भिः समाप्नोति कितिषण्णं यस्य तस्य तत् ॥ ३६ ॥

चौरैर्हृतं द्रव्यं चौरैर्भ्यो विजित्य जानपदाय स्वदेशनिवासिने यस्य तत्
द्रव्यं तस्मै राजा दातव्यम् । हि यस्मात् अददत् अप्रयच्छन् यस्य तदपहृतं

१. दद्याद्विभ्योऽर्धं । २. राजधनं न ब्राह्मणस्य । ३. रूपकसंख्यादिभिः ।

द्रव्यं तस्य किञ्चिदप्यप्यनोति । तस्य चौरस्य च । यथाह मनुः (८।४०)—
'दातव्यं सर्ववर्णभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राज्ञा तदुपर्युजानश्चौरस्याप्यनोति
किञ्चिदप्यम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य
किञ्चिदप्यप्यनोति । अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किञ्चिदप्यम् । अथ चौर-
हृताहरणाय यतमानोऽपि न शक्नुयादाहृतं तदा तावद्धनं स्वकोशाद्व्यात् ।
यथाह गौतमः—(१।१४६) 'चौरहृतमवजित्थ यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्'
इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहृतं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशा-
तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता ॥' इति ॥ ३६ ॥

भाषा—चोरों से छीने गये धन को राजा अपने देश के निवासी को
(जिसका वह धन हो) देवे । यदि उसका धन नहीं देना तो उस धन के
अधिकारी के सभी पाप उसे लग जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्यसाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

अथ ऋणादानप्रकरणम् ३

साधारणासाधारणरूपां व्यवहारमातृकामभिधायाधुनाष्टादशानां व्यवहार-
पदानामाद्यमृदणादानपदं दर्शयति—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्' इत्यादिना,
'मोक्ष्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने' (व्य० ६४) इत्येवमन्तेन । तस्य
ऋणादानं सप्तविधम्—ईदृशमृदणं देयं, ईदृशमदेयं, अनेनाधिकारिणादेयं, अस्मिन्
समये देयं, अनेन प्रकारेण देयम्, इत्यधमर्णं पञ्चविधम् । उत्तमर्णं दानविधिः,
आदानविधिश्चेति द्विविधमिति । एतच्च नारदेन स्पष्टीकृतम् (१।१।४)—'ऋणं
देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्मभ्यामृदणादानमिति स्मृतम् ॥'
इति । तत्र प्रथममुत्तमर्णस्य दानविधिमाह, तत्पूर्वकत्वादितरेषाम्—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।

वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥

मासि मासि प्रतिमासं बन्धकं विश्वासार्थं यदाधीयते, आधिरिति यावत् ।
बन्धकेन सह वर्तते इति सबन्धकः प्रयोगः, तस्मिन्सबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तस्य
द्रव्यस्य अशीतितमो भागो वृद्धिर्धर्म्यं भवति । अन्यथा बन्धकरहिते प्रयोगे
वर्णानां ब्राह्मणादीनां क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चकं शतं धर्म्यं भवति । ब्राह्मणेऽधमर्णं
द्विकं शतं, क्षत्रिये त्रिकं, वैश्ये चतुष्कं, शूद्रे पञ्चकम् । मासि मासीत्येव द्वौ
वा प्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा द्वित्रिचतुःपञ्चाः, अस्मिन् शते वृद्धिर्दीयते इति

द्वित्रिचतुःपञ्चकं क्षतम् । 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (पा. ५।१।२२) इत्यनुवृत्तौ 'तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुकोपदा दीयते' (पा. ५।१।४७) इति कन् । (वृद्धेर्वृद्धिश्चकवृद्धिः प्रतिमासं तु कालिका । इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका कार्षकर्मणा) इयं च वृद्धिर्मासि मासि गृह्यत इति कालिका । इयमेव वृद्धिर्द्विचसगणनया विभज्य प्रतिदिवसं गृह्यमाणा कायिका भवति । तथा च नारदेन (१।१०२, ४)—'कायिका कालिका चैव कारिता च तथा परा । चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेषु तस्य वृद्धिश्चतुर्विधा ॥' इत्युक्तस्वोक्तम्—'कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादिकायिका । प्रतिमासं भवन्ती या वृद्धिः सा कालिका मता ॥ वृद्धिः सा कारिता याऽधमर्णिकेन स्वयं कृता । वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चकवृद्धिरुदाहृता ॥' (१।१०३-४) इति ॥ ३७ ॥

भाषा—बन्धक रखे हुए धन पर उसका अरसीवाँ भाग प्रत्येक मास में ब्याज होता है । अन्यथा (बन्धक न होने पर) वर्ण के अनुसार (ब्राह्मण आदि से क्रमशः) दो, तीन, चार और पाँच प्रतिशत ब्याज लेना चाहिए ॥ ३७ ॥

गृहीतुविशेषेण दूद्वेः प्रकारान्तरमाह—

कान्तारमास्तु दशकं सामुद्रा विशकं शतम् ।

कान्तारमरण्यं तत्र गच्छन्तीति कान्तारगाः । ये वृद्ध्या धनं गृहीत्वाधिक-काभायंमतिगहनं प्राणधनविनाशशङ्कःस्थानं प्रविशन्ति ते दशकं शतं दद्युः । ये च सामुद्रमास्ते विशकं शतम् । मासि मासीत्येव । एतदुक्तं भवति—कान्तार-गेभ्यो दशकं शतं, सामुद्रेभ्यः विशकं शतं, उत्तमर्ण आदद्यात् ; मूलविनाश-स्वापि शङ्कितत्वादिति ॥

इदानीं कारितां वृद्धिमाह—

दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥ ३८ ॥

सर्वे वा ब्राह्मणादयोऽधमर्णाः अग्रन्धके सबन्धके वा स्वकृतां स्वाभ्यु-पगतां वृद्धिं सर्वासु जातिषु दद्युः । क्वचिद्वृत्तापि वृद्धिर्भवति; यथाह नारदः (१।१०८)—'न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित् । अनकारित-मप्यूर्ध्वं वसराधाद्विवर्धते ॥' इति । यस्तु यादितकं गृहीत्वा; देशान्तरं गतस्तं प्रति कारयायनेनोक्तम्—'यो याचितकमादाय तमदत्त्वा दिशं ब्रजेत् । ऊर्ध्वं संवसरात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यः याचितकमादाय याचितोऽ-व्यदत्त्वा देशान्तरं ब्रजेति तं प्रति तेनैवोक्तम्—कृतोद्धारमदत्त्वा यो याचितस्तु

दिशं ब्रजेत् । ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितकं न ददाति तं याचितकालादारभ्याकारितां वृद्धिं दापयेद्राजा । यथाह—'स्वेदेशेऽपि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित् । तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत् ॥' इति । अनाकारितवृद्धेरपवादो नारदेनोक्तः—'पण्यमूल्यं भृतिन्यासो दण्डो यश्च प्रकल्पितः । वृथादानास्तिकपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः ॥' इति । अविवक्षिता अनाकारिता इति ॥ ३८ ॥

भाषा—(अधिक लाभ के लिये ऋण लेकर) गहन वन में जाने वाले से दश प्रतिशत और समुद्र की यात्रा करने वाले से बीस प्रतिशत वृद्धि (व्याज) लेनी चाहिए । अथवा सभी जातियों के लिये जो जितनी वृद्धि देना स्वीकार करे उतनी देवे ॥ ३८ ॥

अनुना द्रव्यविशेषेण वृद्धिविशेषमाह—

सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां—

पशुस्त्रीणां सन्ततिरेव वृद्धिः । पशूनां स्त्रीणां दोषणासमर्थस्य तत्पुष्टिसन्ततिकामस्य प्रयोगः संभवति । ग्रहणं च क्षीरपरिचर्याधिः ॥

अधुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य वृद्धिग्रहणमन्तरेणापि चिरकालावस्थितस्य कस्य द्रव्यस्य कियती परा वृद्धिरित्यपेक्षित आह—

—रसस्याष्टगुणा परा ।

वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिगुणा परा ॥ ३९ ॥

रसस्य तैलघृतादेर्वृद्धिग्रहणमन्तरेण चिरकालावस्थितस्य स्वकृतया वृद्ध्या वर्धमानस्य अष्टगुणा वृद्धिः परा, नातः परं वर्धते । तथा वस्त्रधान्यहिरण्यानां यथासंख्यं चतुर्गुणा । त्रिगुणा द्विगुणा च वृद्धिः परा । वसिष्ठेन तु रसस्य त्रैगुण्यमुक्तम् (२।४४।७) 'द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं । धान्येनैव रसा व्याख्याताः पुष्पमूलफलानि च । तुलाघृतमष्टगुणम्' इति । अनुना तु धान्यस्य पुष्पमूलफलादीनां च पञ्चगुणत्वमुक्तम्—'धान्ये शदे लवे बाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्' इति । शदः क्षेत्रे फलं पुष्पमूलफलादि, लवो मेषोर्णाचमरीकेशादिः, बाह्यो बलीवर्द्धतुरगादिः । धान्वशदलववाह्यविषया वृद्धिः पञ्चगुणत्वं नातिक्रामतीति । तन्नाधमर्णयोग्यतावशेन दुर्भिक्षादिकालवशेन च व्यवस्था द्रष्टव्या । एतच्च सकृदप्रयोगे सकृदाहरणे च वेदितव्यम् । पुरुषान्तरसंक्रमणेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव

१. याचन । २. रभ्य वृद्धि । ३. विशेषे । ४. तुलघृतं त्रितय ।
तृतीयमष्ट । ५. वृक्षफलं ।

वा, पुरुषे अनेकशः रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिकं द्वैगुण्याद्यतिक्रम्य पूर्ववद्वर्धते । सकृत्प्रयोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा वृद्ध्याहरणे-
ऽधमर्णदेयस्य द्वैगुण्यासंभवात्पूर्वाहृतवृद्ध्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धत
एव । यथाह मनुः (८।१५१)—‘कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदा-
हिता ।’ इति । सकृदाहतेत्यपि पाठोऽस्ति । उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुसीदं, तस्य
वृद्धिः कुसीदवृद्धिः, सा द्वैगुण्यं नात्येति नातिक्रामति । यदि सकृदाहिता सकृत्प्र-
युक्ता । पुरुषान्तरसंक्रमणादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति । सकृदाहतेति
पाठे तु शनैः शनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वाऽधमर्णादाहिता द्वैगुण्य-
मत्येतीति व्याख्येयम् । तथा गौतमेनाप्युक्तम् (१२।३१)—‘चिरस्थाने द्वैगुण्यं
प्रयोगस्य’ इति । ‘प्रयोगस्य’ हत्येकवचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्याति-
क्रमोऽभिप्रेतः । ‘चिरस्थान’ इति निर्देशात् शनैः शनैर्वृद्धिग्रहे द्वैगुण्यातिक्रमो
दर्शितः ॥ ३९ ॥

भाषा—पशु और स्त्री के लिये उनकी सन्तान ही वृद्धि (व्याज) होती है । रस (तेल, घृत आदि) लेने पर उसकी वृद्धि स्वीकृत वृद्धि से अधिक से अधिक अठगुना हो सकती है । चक्र, धान्य और सोने का वृद्धि अधिक से अधिक क्रमशः चौगुनी, तिगुनी या दुगुनी होती है ॥ ३९ ॥

ऋणप्रयोगधर्मा उक्ताः; सांप्रतं प्रयुक्तस्य धनस्य ग्रहणधर्मा उच्यन्ते—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत् ।

साध्यमानो नृपं गच्छेद्वण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् ॥ ४० ॥

प्रपन्नमभ्युपगतमधमर्णेन धनं साधयादिभिर्भावितं वा साधयन् प्रत्याह-
रन् धर्मादिभिरुपायैरुत्तमर्णो नृपतेर्वाच्यो निवारणीया न भवति ॥ धर्मा-
द्यश्रोपाया मनुना दर्शिताः (मनुः ८।४९)—‘धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन
च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥’ इति । धर्मेण प्रीतियुक्तेन सत्यवच-
नेन, व्यवहारेण साक्षिलेख्याद्युपायेन, छलेन उत्सवादिब्याजेन भूषणादिग्रह-
णेन, अचरितेन अभोजनेन, पञ्चमेनोपायेन बलेन निगडवन्धनादिना, उप-
चयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरारम्भात्कुर्यादिति । ‘प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्य’
इति वदन् अप्रतिपन्नं साधयन् राज्ञा निवारणीय इति दर्शयति । एतदेव स्पष्टी-
कृतं कार्यायनेन—‘पीडयेद्यो धनी कश्चिद्वणिक् न्यायवादिनम् । तस्मादार्थात्स
हीयेत तत्समं चाप्नुयादमम् ॥’ इति । यस्तु धर्मादिभिरुपायैः प्रपन्नमर्थं साध्य-

१. गान्तरीकरणे ।

२. गच्छेत् ।

३. प्रपन्नं साधयन्नर्थं ।

४. लेखाद्युपन्यासेन ।

५. प्राप्नुयात् ।

मानो याच्यमानो नृपं गच्छेद्वाजानमभिगम्य साधयन्तमभियुङ्क्ते स दण्ड्यो भवति, शक्यनुसारेण धनिने तद्धनं दाप्यश्च । राज्ञा दापने च प्रकारा दर्शिताः— 'राजा तु स्वामिने विप्रं सान्त्वेनैव प्रदापयेत् । देशाचारेण चान्यास्तु दुष्टान्सं-पीड्य दापयेत् ॥ रिक्थिनं सुहृदं वापि छलेनैव प्रदापयेत् ॥' इति । 'साध्यमानो नृपं गच्छन्' इत्येतत् 'स्मृत्याचारव्यपेतेन' इत्यस्य प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम् ॥ ४० ॥

भाषा—दिये गये धन को धर्मपूर्वक लेने का प्रयत्न करने वाले के बीच में राजा दखल न देवे । यदि वह उसके लिये राजा के समीप निवेदन करता है तो दण्ड्य होता है और राजा को धनी के धन दिला देना चाहिए ॥ ४० ॥

बहूपूतमर्णिकेषु युगपत्प्राप्तेष्वेकोऽधमर्णिकः केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेत्यपेक्षित आह—

गृहीतानुकमादाप्यो धनिनामधमर्णिकः ।

दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धनं गृहीतं तेनैव क्रमेणाधम-र्णिको राज्ञा दाप्यः । भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

भाषा—समान जाति के धनियों में जिस क्रम से (जिस-जिस का) धन लिया हो उस-उस को ऋणी से दिलवाये । (यदि भिन्न जाति के ऋणदाता हों तो) पहले ब्राह्मण का धन दिलवा कर तब क्षत्रिय आदि का दिलावे ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बलः प्रतिपन्नमर्थं धर्मादिभिरुपायैः साधयितुमशक्नु-वन् राज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च श्रुतिदानमाह—

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद् दशकं शतम् ।

पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राज्ञा प्रतिपन्नार्थसाधिताद् दशकं शतं दाप्यः । प्रतिपन्नस्य साधितार्थस्य दशममंशं राज्ञाऽधमर्णिकाद्दण्डरूपेण गृहीयादित्यर्थः । उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थः पञ्चकं शतं श्रुतिरूपेण दाप्यः । साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्त-मर्णाद्वाजा श्रुत्यर्थं गृहीयादित्यर्थः । अप्रतिपन्नार्थसाधने तु दण्डविभागो दर्शितः—'निह्वे भावितो दद्यात्' (व्य० ५) इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषा—यदि राजा ऋणी से वसूल करके ऋणदाता को धन दिलावे तो ऋणी से दस प्रतिशत और धन पाने वाले धनी से पाँच प्रतिशत श्रुति-रूप में ले ॥ ४२ ॥

सधनमधमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अधुना निर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।

ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम् ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणादिजातिरुत्तमर्णो हीनजातिं क्षत्रियादिजातिं परिक्षीणं निर्धनमृणार्थं ऋणनिवृत्त्यर्थं कर्म स्वजात्यनुरूपं कारयेत् तत्कुटुम्बाविरोधेन । ब्राह्मणस्तु पुनः परिक्षीणो निर्धनः शनैःशनैः यथोदयं यथासंभवमृणं दाप्यः । अत्र च 'हीनजाति' ग्रहणं समानजातेरप्युपलक्षणम् । अतश्च समानजातिमपि परिक्षीणं यथोचितं कर्म कारयेत् । 'ब्राह्मण'ग्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम् । अतश्च क्षत्रियादिरपि परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम् । एतदेव मनुना स्पष्टीकृतम् (८।१७७)—'कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकेनाधमर्णिकः । समोऽपकृष्टजातिश्च दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छूनैः ॥' इति । उत्तमर्णेन समं निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेश-
मारमानमधमर्णः कर्मणा कुर्यादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

भाषा—(धनी से) निर्धनजाति के ऋणी से जिसके पास ऋण लौटाने के लिए धन न हो, धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी जाति के अनुरूप कार्य करावे । यदि इस प्रकार का असमर्थ ऋणी ब्राह्मण हो तो शनैः-शनैः (थोड़ा-थोड़ा करके) उसकी आय के अनुसार धन वसूल करे ॥ ४३ ॥

मध्यस्थस्थापितं न वर्धते—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ।

मध्यस्थस्थापितं चेत्स्याद्वर्धते न ततः परम् ॥ ४४ ॥

किंच, उपचयार्थं प्रयुक्तं धनं अधमर्णेन दीयमानमुत्तमर्णो वृद्धिोभाषादि न गृह्णाति तदाऽधमर्णेन मध्यमहस्ते स्थापितं यदि स्यात्तदा ततः स्थापनादूर्ध्वं न वर्धते । अथ स्थापितमपि याच्यमानो न ददाति ततः पूर्ववद्वर्धत एव ॥ ४४ ॥

भाषा—यदि धन देने वाला व्यक्ति व्याज के लिये ऋण दिये गये धन को ऋणी द्वारा लौटाये जाने पर भी (व्याज के लोभ से) ग्रहण नहीं करता और उस धन को ऋणी किसी मध्यस्थ के पास जमा कर दे तो उसके बाद उसकी वृद्धि (व्याज) नहीं लगती ॥ ४४ ॥

इदानीं देयमृणं यदा येन च देयं तदाह—

अविभक्तैः कुटुम्बार्थं यदृणं तु कृतं भवेत् ।

दद्युस्तद्विक्रयनः प्रेते प्रोपिते वा कुटुम्बिनि ॥ ४५ ॥

-
१. मृणार्थं कर्म । २. दनिकायाधमर्णिकः । ३. पितं वत्स्यात्
४. तत्स्यात् । ५. पूर्व वर्धत एव ।

अविभक्तैर्बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यदणं कृतं तदणं कुटुम्बी दद्यात् । तस्मिन्प्रेते प्रोषिते वा तद्विनिधनः सर्वे दद्युः ॥ ४५ ॥

भाषा—संयुक्त परिवार में (एक साथ रहने वाले) अनेक व्यक्तियों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब के पालन के लिये लिया गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके सभी उत्तराधिकारी (सम्पत्ति के भागीदार) लौटावें ॥ ४५ ॥

येन देयमित्यत्र प्रत्युदाहरणमाह—

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।

दद्यादते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

पत्या कृतमृणं योषिन्नार्या नैव दद्यात् । पुत्रेण कृतं योषिन्माता न दद्यात् । तथा पुत्रेण कृतं पिता न दद्यात् । तथा भार्याकृतं पतिर्न दद्यात् । 'कुटुम्बार्थादते' इति सर्वशेषः । अतश्च कुटुम्बार्थं येन केनापि कृतं तत् कुटुम्बिना देयम् । तदभावे तदायहरैर्देयमित्युक्तमेव ॥ ४६ ॥

भाषा—जो ऋण कुटुम्ब के भरणपोषण के लिये नहीं लिया गया हो (किसी अन्य प्रयोजन से लिया गया हो) ऐसे पति द्वारा लिये गये ऋण को स्त्री न लौटावे, पुत्र द्वारा लिये गये ऋण को माता न भरे, पिता न भरे, और पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को पति लौटाने का अधिकारी नहीं होता ॥ ४६ ॥

'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (४० ५०) इति वचयति तस्य पुरस्तादपवादमाह—

सुराकामद्युतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् ।

वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतमृणं कामकृतं स्त्रीव्यसननिमित्तं द्यूते पराजयनिमित्तं दण्डशुल्कयोरवशिष्टं वृथादानं धूर्तबन्दिमह्लादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्—'धूर्तं बन्दिनि मण्डले च कुर्वैषे कितवे शठे । चाटचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥' इति स्मरणात् । एतदणं पित्रा कृतं पुत्रादिः शौण्डिकादिभ्यो न दद्यात् । अत्र 'दण्डशुल्कावशिष्टक' मित्यवशिष्टग्रहणात्सर्वं दातव्यमिति न मन्तव्यम् ।—'दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा । न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम् ॥' इत्यौशनसस्मरणात् । गौतमेनाप्युक्तम्—'मद्यशुल्कद्युतदण्डा न पुत्रानधिभवेयुः' इति । न पुत्रस्योपरि भवन्तीत्यर्थः । अनेनादेयमृणमुक्तम् ॥ ४७ ॥

भाषा—मदिरापान एवं जुआ खेलने के निमित्त लिये गये ऋण, दण्ड और शुल्क की निधि के अवशिष्ट भाग, वृथादान के (धूर्त बन्दी, मण्डल आदि

के लिये प्रतिज्ञात) धन—इन पैतृक (पिता द्वारा लिये गये) ऋणों को चुकाने का अधिकारी पुत्र नहीं होता ॥ ४७ ॥

‘न पतिः स्त्रीकृतं तथा’ (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम् ।

ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपालः, शौण्डिकः सुराकारः, शैलूषो नटः, रजको वस्त्राणां रजकः, व्याधो मृगयुः, एतेषां योषिर्द्विर्दणं कृतं तत्तत्पतिभिर्देयम् । यस्मात्तेषां वृत्ति-जीवनं तदाश्रया योषिदधीन । ‘यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया’ इति हेतुव्यपदेशादन्येऽपि ये योषिदधीनजीवनास्तेऽपि योषिकृतमृणं दद्युरिति गम्यते ॥ ४८ ॥

भाषा—गोप (अहीर, खाले), कलारी (सुराकार), नट, रंगरेज और बहेलिया की स्त्रियों द्वारा लिये गये ऋण उनके पति दें क्योंकि उनकी जीवनवृत्ति स्त्रियों के ही अधीन होती है ॥ ४८ ॥

‘पतिकृतं भार्या न दद्यात्’ (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम् ।

स्वयंकृतं वा यदृणं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

सुमूर्धुणा प्रवक्ष्यता वा पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्पतिकृत-मृणं देयम् । यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्राभावे भार्यया अपुत्रया देयम् । यच्च स्वयंकृतं ऋणं तदपि देयम् । ननु ‘प्रतिपन्नादि त्रयं स्त्रिया देयम्’ इति वक्तव्यम् ; संदेहाभावात् । उच्यते—‘भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥’ इति वचना-स्त्रिधनत्वेन प्रतिपन्नादिवदानां शङ्कायामिदमुच्यते—‘प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं’ मित्यादि । न चानेन वचनेन श्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते; पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपादन-परत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरिष्यते । ‘नान्यत् स्त्री दातुमर्हति’ इत्येतत्तर्हि न वक्तव्यम् ; विधानेनैवान्यत्र प्रतिषेधसिद्धेः । उच्यते—‘प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्’ इत्येतयोरेवार्थमुच्यते । अन्यत्सुरा-कामादिवचनोपात्तं प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि न देयमिति ॥ ४९ ॥

भाषा—(मरणासन्न या विदेश जाने वाले) पति द्वारा लिये गये या पति के साथ लिये गये ऋण को अथवा स्वयं लिये गये ऋण को ही स्त्री लौटा सकती है अन्य ऋणों को नहीं ॥ ४९ ॥

पुनरपि यद्वं दातव्यं, येन च दातव्यं, यत्र च काले दातव्यं, तत्रितयमाह—

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्वे साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥

पिता यदि दातव्यमृणमदत्त्वा प्रेतः, दूरदेशं गतः, अचिकित्सनीयव्याध्याद्य-
भिभूतो वा तदा तत्कृतमृणमाख्यापनेऽवश्यं देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृवना-
भावेऽपि पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च, तत्र क्रमोऽप्ययमेव—पित्रभावे पुत्रः, पुत्राभावे
पौत्र इति । पुत्रेण पौत्रेण वा निह्वे कृते अयिना साक्षादिभिर्भावितमृणं देयं
पुत्रपौत्रैरित्यन्वयः । अत्र 'पितरि प्रोषिते' इत्येतावदुक्तम्, कालविशेषस्तु नारदे-
नोक्तो द्रष्टव्यः—'नार्वक्संवत्सराद्विंशात्पितरि प्रोषिते सुतः । ऋणं दद्यात्पितृव्ये
वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा ॥' इति । प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालो न दद्यात्, प्राप्त-
व्यवहारकालस्तु दद्यात् । स च कालस्तेनैव दर्शितः—गर्भस्थः सदृशो ज्ञेय आष्ट-
माद्वत्सराच्छिशुः । बाल आ षोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्दयते ॥ परतो व्यव-
हारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते ॥' इति । यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रो
जातस्तथापि नर्णभागभवति । यथाह—'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्स्वतन्त्रोऽपि हि नर्ण-
भाक् । स्वानन्वयं हि स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम् ॥' इति । तथा आसे-
धाह्वाननिषेधश्च दृश्यते—'अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती । विषम-
स्थाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेन्मृपः ॥' इति । तस्मात् 'अतः पुत्रेण जातेन
स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः । ऋणात्पिता मोक्षनीयो यथा नो नरकं व्रजेत् ॥' इति ।
पुत्रेण व्यवहारज्ञतया जातेन निष्पन्नेनेति व्याख्येयम् । श्राद्धे तु बालस्याप्य-
धिकारः—'ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्' इति गौतमस्मरणात् ।
'पुत्रपौत्रै'रिति बहुवचननिर्देशाद्बहवः पुत्रा यदि विभक्ताः स्वांशानुरूपेण ऋणं
दद्युः । अविभक्ताश्चेत्संभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन वर्तमानानां प्रधानभूत
एव वा दद्यादिति गम्यते । यथाह नारदः (१।१४)—'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा
ऋणं दद्युर्यथाशतः । अविभक्ता विभक्ता वा यस्तावद्ब्रह्मते धुरम् ॥' इति । अत्र
च यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं'मित्यविशेषोक्तं, तथापि पुत्रेण यथा पिता सवृद्धिकं
ददाति तथैव देयम् । पौत्रेण तु समं मूलमेव दातव्यं, न वृद्धिरिति विशेषोऽवग-
न्तव्यः । ऋणमात्मीयवत्पिश्यं देयं पुत्रैर्विभावितम् । पैतामहं समं देयमदेयं
तत्सुतस्य तु ॥' इति बृहस्पतिवचनात् । अत्र 'विभावित'मित्यविशेषोपादानात्सा-
क्षिभावितमित्यत्र साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणम् । समं यावद्ब्रूहीतं तावदेव,

१. कृतमृणमवश्यं । २. अष्टमात् । १. व्याहरेदन्यत्र । २. यस्तां
बोद्धवते । ३. तथैव ऋणं ।

देयं, न वृद्धिः । तत्सुतस्य प्रपौत्रस्यादेयमगृहीतधनस्य । एतच्चोत्तरश्लोके स्पष्टी-
क्रियते ॥ ५० ॥

भाषा—पिता के परदेश जाने पर, मर जाने पर या व्यसन में (असाध्य
रोग से पीड़ित) होने पर पुत्र और पौत्र उसके द्वारा लिया गया ऋण देवें । यदि
वे अस्वीकार करें तो साक्षियों द्वारा प्रमाणित होने पर दें ॥ ५० ॥

ऋणापाकरणे ऋणी तत्पुत्रः पौत्र इति त्रयः कर्तारो दर्शितास्तेषां च समवाये
क्रमोऽपि दर्शितः । इदानीं कर्त्तृन्तरसमवाये च क्रममाह—

रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च ।

पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ॥ ५१ ॥

अन्यदीयं द्रव्यमन्यस्य क्रयादिव्यतिरेकेण यत्स्वीयं भवति तद्रिक्थम् ।
विभागात् रिद्धं गृह्णातीति रिक्थग्राहः, स ऋणं दाप्यः । एतदुक्तं भवति—
'यो यदीयं द्रव्यं रिक्थरूपेण गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यो न चौरादिरिति । योषितं
भार्या गृह्णातीति योषिद्ग्राहः, स तथैवर्णं दाप्यः । यो यदीयां योषितं गृह्णाति स
तत्कृतमृणं दाप्यः । योषितोऽविभाज्यद्रव्यत्वेन रिक्थव्यपदेशानर्हत्वाद्भेदेन निर्देशः ।
पुत्रश्चानन्याश्रितद्रव्य ऋणं दाप्यः, अन्यामाश्रितमन्याश्रितं, अन्याश्रितं मातृपि-
तृसंबन्धि द्रव्यं यस्यासावन्याश्रितद्रव्यः, न अन्याश्रितद्रव्योऽनन्याश्रितद्रव्यः,
पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ऋणं दाप्य इति संबन्धः । एतेषां समवाये क्रमश्च
पाठक्रम एव । 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः, तदभावे योषिद्ग्राहः, तदभावे पुत्र
इति । तन्वेतेषां समवाय एव नोपपद्यते; 'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः
पितुः' इति पुत्रे सत्यन्यस्य रिक्थग्रहणासंभवात् । योषिद्ग्राहोऽपि नोपपद्यते;
(मनुः ५।१६२)—'न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्धर्तौपदिश्यते' इति स्मरणात् ।
तथा तदृणं पुत्रो दाप्य इत्यप्ययुक्तम् ; 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्यु-
क्त्वात् । 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति विशेषणमप्यनर्थकम् ; पुत्रे सति द्रव्यस्यान्या-
श्रयणासंभवात्, संभवे च रिक्थग्राह इत्यनेनैव गतार्थत्वात् । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः'
इत्येतदपि न वक्तव्यम् । पुत्रे सत्यपि 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः' इति स्थितम् ।
असति पुत्रे रिक्थग्राहः सुतरां दाप्य इति सिद्धमेवेति । अत्रोच्यते—पुत्रे सत्य-
प्यन्यो रिक्थग्राही संभवति; क्लीबान्धवधिरादीनां पुत्रत्वेऽपि रिक्थैर्हरत्वाभावात् ।
तथा च क्लीबादीननुक्रम्य 'भर्तव्याः स्थुनिरंशकाः' (व्य० १४०) इति वच्यनि । तथा
'सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तिर्न लभेतैकेषाम्' इति गौतमस्मरणात् । अतश्च क्लीबादिषु
पुत्रेषु सत्सु अन्यायवृत्ते च सवर्णापुत्रे सति रिक्थग्राही पितृव्यतत्पुत्रादिः । योषि-

१. स्पष्टयिष्यते । २. ऋक्थिनः । ३. रिक्थग्राहाभावात् । ४. भर्तव्यास्तु ।
भर्तव्याश्च ।

द्वग्राहो यद्यपि शास्त्रविरोधेन न संभवति तथाप्यतिक्रान्तनिषेधः पूर्वपतिकृत-
णांपाकरणाधिकारी भवत्येव । योषिद्-ग्राहो यश्चतसृणां स्वैरिणीनामन्तिमां गृह्णाति,
यश्च पुनर्भुवं तिसृणां प्रथमाम् , यथाह नारदः—‘परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त
प्रोक्ता यथाक्रमम् । पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा ॥ कन्यैवाक्षतयो-
निर्या पाणिग्रहणदूषिता । पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा ॥ देशधर्मा-
नवेच्य स्त्री गुरुभिर्यां प्रदीयते । उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥’
उत्पन्नसाहसा उत्पन्नव्यभिचारा ।—‘असत्सु देवेषु स्त्री बान्धवैर्यां प्रदीयते ।
सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु
जीवति । कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥ कौमारं पतिमुत्सृज्य या
स्वन्यं पुरुषं श्रिता । पुनः पत्युर्ग्रहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥ मृते भर्तरि
तु प्राप्तान्देवरादीनपात्य या । उपगच्छेत्परं कामात्सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ प्राप्ता
देशाद्धनक्रीता क्षुरिपपासातुरा च या । तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥
अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम् । ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ता
उपाश्रितः ॥’ इति । तथाऽन्योऽपि योषिद्ग्राह ऋणापाकरणेऽधिकारी तेनैव
दर्शितः—‘या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या वाऽन्यमाश्रयेत् । सोऽस्या दद्यादणं भर्तु-
रुत्सृजेद्वा तथैव ताम् ॥’ प्रकृष्टेन धनेन सह वर्तते इति सप्रधना, बहुधनेति
यावत् । तथा ‘अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम् । ऋणं बौधुः स
भजते सैव चास्य धनं स्मृतम् ॥’ इति पुत्रस्य पुनर्वचनं क्रमार्थम् । ‘अनन्या-
श्रितद्रव्य’ इति बहुषु पुत्रेषु रिक्ताभावेऽप्यंशग्रहणयोग्यस्यैवर्णापाकरणेऽधिकारो
नायोग्यस्यान्धादेरित्येवमर्थम् । ‘पुत्रहीनस्य रिक्थिनः’ इत्येतदपि पुत्रपौत्रहीनस्य
प्रपौत्रादयो यदि रिक्थं गृह्णन्ति तदा ऋणं दाप्याः, नान्यथेत्येवमर्थम् । पुत्रपौत्रौ
च रिक्थग्रहणाभावेऽपि दाप्यावित्युक्तम्, यथाह नारदः (१।४)—‘क्रमद्वया-
हतं प्राप्तं पुत्रैर्यज्जर्णमुद्धृतम् । दधुः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते ॥’ इति
सर्वं निरवद्यम् ॥ यद्वा,—योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो दाप्य इत्युक्तम् । पुत्राभावे
योषिद्ग्राहो दाप्य इत्युच्यते । ‘पुत्रहीनस्य रिक्थिनः’ इति ‘रिक्थ’शब्देन
योषिदेवोच्यते । ‘सैव चास्य धनं स्मृतम्’ इति स्मरणात्, ‘यो यस्य हरते
दारान्स तस्य हरते धनम्’ इति च ॥ ननु योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो ऋणं दाप्यः,
पुत्राभावे योषिद्ग्राह इति परस्परविरुद्धम् । उभयसद्भावे न कश्चिद्दाप्य इति ।
नैष दोषः; अन्तिमस्वैरिणीग्राहिणः प्रथमपुनर्भूग्राहिणः सप्रधनस्त्रीहारिणश्चाभावे
पुत्रो दाप्यः; पुत्राभावे तु निर्धननिरपत्ययोषिद्ग्राही दाप्य इति । एतदेवोक्तं
नारदेन (१।२३)—‘धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धनं हरेत् । पुत्रोऽसतोः

स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः ॥ इति । धनस्त्रीहारिपुत्राणां समवायै बो धनं हरेत्स ऋणभाक् पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः, स्त्री च धनं च स्त्रीधने, ते विद्येते ययोस्तौ स्त्रीधनिनौ, तयोः स्त्रीधनिनोरसतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति । धनिपुत्रयोरसतोः स्त्रीहार्यवर्णभाक् । स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभासपरिहारः पूर्ववत् । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्यस्याग्या व्याख्या—एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायां उत्तमर्णस्य दाप्याः; तदभावे तैःपुत्रादेः, पुत्राद्यभावे कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते—'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति । पुत्राद्यन्वयहीनस्योत्तमर्णस्य यो रिक्थी रिक्थ-ग्रहणयोग्यः सपिण्डादिस्तस्य रिक्थिनो दाप्याः । तथा च नारदेन (१।१।१२) 'ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य च नास्ति चेत् । निर्वपेत्तत्सकुल्येषु तदभावेऽस्य बन्धुषु ॥' इत्यभिहितम्—'यदा तु न सकुल्याः स्युर्न च संबन्धिवान्धवाः । तदा दद्याद् द्विजेभ्यस्तु तेऽवसस्त्वप्सु निक्षिपेत् ॥' नारदः (१।१।१३) इति ॥ ५१ ॥

भाषा—रिक्थ (सम्पत्ति का भाग) लेने वाले (सम्पत्ति के स्वामी द्वारा लिये गये) ऋण को लौटावें, स्त्री को ग्रहण करने वाला उसके मृत पति का लिया ऋण भी दे । जिसका धन पुत्र के अतिरिक्त अन्य को न मिला हो उसका ऋण पुत्र देवे और पुत्रहीन ऋणी का धन उसकी सम्पत्ति का भाग लेने वाले चुकावें ॥ ५१ ॥

अधुना पुरुषविशेषे ऋणग्रहणं प्रतिषेधयन्प्रसङ्गादन्यदपि प्रतिषेधति—

भ्रातृणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।

प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥

प्रतिभुवो भावः प्रातिभाव्यं, भ्रातृणां दम्पत्योः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्रव्ये द्रव्यविभागात्प्राक्प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यं च न स्मृतं मन्वादिभिः । अपि तु प्रतिषिद्धं, साधारणधनत्वात् । प्रातिभाव्यसन्धित्वयोः पक्षे द्रव्यावसानत्वात्, ऋणस्य चावश्यप्रतिदेयत्वात् । एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परा-नुमत्या त्वविभक्तानामपि प्रातिभाव्यादि भवत्येव । विभागादूर्ध्वं तु परस्परा-नुमतिव्यतिरेकेणापि भवति ॥ ननु दम्पत्योर्विभागात्प्राक्प्रातिभाव्यादिप्रतिषेधो न युज्यते; तयोर्विभागाभावेन विशेषणानर्थक्यात् । विभागाभावश्चापस्तत्त्वेन दर्शितः (आप० ध० २।१४-१६)—'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति । सत्यम्; श्रौतस्मार्ताग्निसाध्वेषु कर्मसु तत्फलेषु च विभागाभावो न पुनः

१. विरोधप्रतिभासः ।

२. इति विवक्षायां ।

३. तस्त्रीपुत्रादेः ।

४. न नास्ति चेत् ।

५. भावे स्वबन्धुषु ।

६. द्रव्यग्न्यावसानत्वात् ।

सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा । तथा हि—‘जायापत्योर्न विभागो विद्यते’ इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान्—‘पाणिग्रहणाद्धि सहस्वं कर्मसु’, ‘तथा पुण्यफलेषु च’ (आप० ध० २।१४, १७-१८) इति । हि यस्मात्पाणिग्रहणादारभ्य कर्मसु सहस्वं श्रूयते—‘जायापती अग्निमादधीयाताम्’ इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादावानसिद्धाग्निसाध्यकर्मसु सहाधिकारः । तथा ‘कर्म स्मार्तं विवाहारौ’ (आ० ९७) इत्यादिस्मरणाद्विवाहसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकार एव । अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पृथगेवाधिकारः संपद्यते । तथा पुण्यानां फलेषु स्वर्गादिषु जायापत्योः सहस्वं श्रूयते—‘दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्’ इत्यादि । येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोद्धव्यं, न पुनः पूर्वानां भर्तृनुज्ञयानुष्ठितानां फलेष्वपि ॥ ननु द्रव्यस्वामित्वेऽपि सहत्वमुक्तम् ; ‘द्रव्यपरिग्रहेषु च’ ‘नहि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति’ (आप० ध० २।१४।१८-२०) इति । सत्यम् ; द्रव्यस्वामित्वं परन्त्या दर्शितमनेन, न पुनर्विभागाभावः । यस्मात् ‘द्रव्यपरिग्रहेषु च’ इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम्—‘भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिकेऽवश्यकर्तव्ये दानेऽतिथिभोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मान्न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वादयस्तस्माद्भार्याया अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति, अन्यथा स्तेयं स्यात्’ इति । तस्माद्भर्तुर्निच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया । यथा वक्ष्यति (व्य० १।५)—‘यदि कुर्यात्समानंशान्परन्त्यः कार्याः समांशिकाः’ इति ॥ ५२ ॥

भाषा—अविभक्त (संयुक्त) रहने वाले भाइयों, पति-पत्नी, पिता और पुत्र का प्रातिभाष्य (जामिन) एवं ऋण और साक्ष्य का विधान (मनु आदि ने) नहीं किया है ॥ ५२ ॥

अधुना प्रातिभाष्यं निरूपयितुमाह—

दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाष्यं विधीयते ।

आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥ ५३ ॥

प्रातिभाष्यं नाम विश्वसार्थं पुरुषान्तरेण सह समयः, तच्च विषयभेदाद्विधा विद्यते । यथा दर्शने ‘दर्शनापेक्षायां एनं दर्शयिष्यामी’ति । प्रत्यये-विश्वासे, ‘मम प्रत्ययेनास्य धनं प्रयच्छ, नायं त्वां वञ्चयिष्यते, यतोऽमुकस्य पुत्रोऽयं, उर्वरा-प्रायभूरस्य ग्रामवरोऽस्ती’ति । दाने ‘यद्ययं न ददाति तदानीमहमेव दास्यामी’ति । ‘प्रातिभाष्यं विधीयत’ इति प्रत्येकं संबध्यते । आद्यौ तु दर्शनप्रत्यय-

१. भार्यायामपि । २. वरोऽस्तीति । ३. संबन्धः ।

प्रतिभुवौ वितथे अन्यथाभावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुतं धनमुत्तमर्णस्य । इतरस्य दानप्रतिभुवः सुता अपि दाप्याः ॥ वितथ इत्येव शाठ्येन निर्धनत्वेन वाऽधमर्णेऽप्रतिकुर्वति 'इतरस्य सुता अपि' (११११९) इति वदता पूर्वयोः सुता न दाप्या इत्युक्तम् । 'सुता' इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

भाषा—दर्शन (दिखा देना), प्रत्यय (विश्वास दिलाना) और दान (स्वयं देने की प्रतिज्ञा) को प्रातिभाव्य (प्रतिभू या जामिन होना) कहते हैं । प्रथम दो प्रकार का प्रातिभाव्य करने वाले झूठा पड़े तो राजा उनमें से धनी व्यक्ति का धन दिलावे, तीसरे प्रकार का प्रातिभाव्य करने वाले के झूठा पड़ने पर उसके पुत्रों से भी वह धन वसूल करे ॥ ५३ ॥

एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा ।

न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय र्यः स्थितः ॥ ५४ ॥

यदा तु दर्शनप्रतिभूः प्रात्ययिको वा प्रतिभूर्दिवं गतस्तदा तयोः पुत्राः प्रातिभाव्यायातं पैतृकमृणं न दद्युः । यस्तु दानाय स्थितः प्रतिभूर्दिवं गतस्तस्य पुत्रा दद्युः, न पौत्राः । ते च मूलमेव दद्युर्न वृद्धिम् । 'ऋणं पैतामहं पौत्रः प्रातिभाव्यागतं सुतः । समं दद्यात्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चयः ॥' इति व्यासवचनात् । प्रातिभाव्यव्यतिरिक्तं पैतामहमृणं पौत्रः सः यावद्गृहीतं तावदेव दद्यान्न वृद्धिम् । तथा तत्सुतोऽपि प्रातिभाव्यागतं पित्र्यमृणं सममेव दद्यात् । तयोः पौत्रपुत्रयोः सुतौ प्रपौत्रं पौत्रावप्रातिभाव्यायातं प्रातिभाव्यायातं च ऋणं यथाक्रममगृहीतधनौ न दाप्याविति । यदपि स्मरणम्—'खादको वित्तहीनः स्याल्लग्नको वित्तवान्यदि । मूलं तस्य भवेद् देयं न वृद्धिं दातुमर्हति ॥' इति,—तदपि लग्नकः प्रतिभूः, खादकोऽधमर्णः; लग्नको यदि वित्तवान्मृतस्तदा तस्य पुत्रेण मूलमेव दातव्यं न वृद्धिरिति व्याख्येयम् । यत्र दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धकं पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिभूर्जातस्तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाव्यायातमृणं दद्युरेव । यथाह कार्यायनः—'गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शनेऽस्य स्थितो भवेत् । विना पित्रा धनात्तस्माद्दाप्यः स्यात्तदृणं सुतः ॥' इति । 'दर्शन' ग्रहणं प्रत्ययस्योपलक्षणम् । विना पित्रा पितरि प्रेते दूरदेशं गते वेति ॥ ५४ ॥

भाषा—यदि दर्शनप्रतिभू या प्रत्ययप्रतिभू की मृत्यु हो गयी हो तो उसके पुत्रों से ऋण न दिलावे; किन्तु दानप्रतिभू के मरने पर उसके पुत्र से ही धनी को धन दिलावे ॥ ५४ ॥

यस्मिन्ननेकप्रतिभूसंभवस्तत्र कथं दाप्यस्तत्राह—

बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम् ।

एकच्छायाश्रितेष्वेव धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

यद्येकस्मिन्प्रयोगे द्वौ बहवो वा प्रतिभुवः स्युस्तर्दणं संविभज्य स्वांशेन दद्युः । एकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु एकस्याधमर्णस्य छाया सादृश्यं तामाश्रिता एकच्छायाश्रिताः । अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवोऽपि प्रत्येकं कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिताः । एवं दर्शने प्रत्यये च । तेष्वेकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु सत्सु धनिकस्योत्तमर्णस्य यथारुचि यथाकामम् । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षया स्वार्थं यं प्रार्थयते स एव कृत्स्नं दाप्यः, नांशतः । एकच्छायाश्रितेषु यदि कश्चिद् देशान्तरं गतस्तत्पुत्रश्च संनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्यः । मृते तु कस्मिंश्चित्तत्सुतः स्वपित्रंशमवृद्धिकं दाप्यः । यथाह कात्यायनः—‘एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र दृश्यते । प्रोषिते तत्सुतः सर्वं पित्रंशं तु मृते समम् ॥’ इति ॥ ५५ ॥

भाषा—यदि अनेक प्रतिभू होंवे तो वे ऋण को आपस में बाँटकर अपना-अपना अंश चुकावें और यदि अनेक प्रतिभू (जामिनों) में सभी ऋणी के समान होकर पूरा धन देने को उद्यत हों तो धनी अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक से ले लेवे ॥ ५५ ॥

प्रातिभावे ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिमाह—

प्रतिभूर्दापितो यत्तु प्रकाशं धनिनो धनम् ।

द्विगुणं ^{१०}प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत् ॥ ५६ ॥

यद्द्रव्यं प्रतिभूस्तत्पुत्रो वा धनिकेनोपपीडितः प्रकाशं सर्वजनसमक्षं राज्ञा धनिनो दापितो न पुनर्द्वैगुण्यलोभेन स्वयमुपैत्य दत्तम् । यथाह नारदः (१।१२१) ‘यं चार्थं प्रतिभूर्दद्याद्धनिकेनोपपीडितः । ^{११}ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं ^{१२}प्रतिदापयेत् ॥’ इति । ऋणिकैरधमर्णैस्तस्य प्रतिभुवस्तद् दायं द्विगुणं

१. दातव्यमित्यत आह । २. दाने प्रतिभुवः । ३. तथैकच्छाया । ४. वित्ताद्यपेक्षया । ५. यः प्रार्थयते । ६. दद्यान्नांशतः । ७. तेष्वेकच्छाया । ८. मृते सति । ९. धनिनां । धनिने धनम् ; १०. तत्र दातव्य । ११. ऋणिकं तं । १२. प्रतिपादयेत् ।

प्रतिदातव्यं स्यात् । तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम् ; वचनारम्भसामर्थ्यात् । एतच्च हिरण्यविषयम् । ननु 'इदं प्रतिभूरिति वचनं द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमाबाधेनाप्युपपद्यते । यथा जातेष्टिविधानं शुचित्वाबाधेन । अपि च सद्यः सवृद्धिकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः संतत्यभावान्मूलदानमेव प्राप्नोतीति,—तदसत् ; 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुःस्त्रिद्विगुणा परा' (व्य० ३९) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धेः द्वैगुण्यमात्रविधाने चेदं वचनमनर्थकं स्यात् । पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि संतत्यभावे स्वरूपदानमेव । यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधमर्णेन संघटते तदा संततिरपि^३ संभवत्येव । यद्वा पूर्वसिद्धसंतत्या सह पशुस्त्रियो दास्यन्तीति न किञ्चिदेतत् । अथ प्रातिभाव्यं^४ प्रीतिकृतम्, अतश्च प्रतिभुवा दत्तं प्रीतिदत्तमेव । नच प्रीतिदत्तस्य याचनाप्राप्तवृद्धिरस्ति; यथाह (नारदः १११०९)—'प्रीतिदत्तं तु यस्मिन्निद्वर्धते न त्वयाचितम् । याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति । अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिवसादारभ्य यावद् द्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोच्यत इति, तदप्यसत्,—अस्यार्थस्यास्माद्वचनादप्रतीतेः 'द्विगुणं प्रतिदातव्यम्' इत्येतावदिह प्रतीयते । तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति सुष्ठुक्तम् ॥ ५६ ॥

भाषा—जिस प्रतिभू (या उसके पुत्र) से राजाने धनी का धन सबके सामने दिखाया हो उसको ऋण लेने वाले दूना देकर चुकावें ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्तेऽपवादमाह—

संततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च ।

वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा ॥ ५७ ॥

हिरण्यद्वैगुण्यवत्कालानादरेणैव स्त्रीपशूनादयः प्रतिपादितवृद्ध्या दाप्याः । श्लोकस्तु व्याख्यात एव । यस्य द्रव्यस्य यावती वृद्धिः पराकाष्ठोक्ता तद्द्रव्यं प्रतिभूदत्तं स्वादकेन तया वृद्ध्या सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति तात्पर्याभिः । यदा तु दर्शनप्रतिभूः संप्रतिपन्ने काले अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थस्तदा तदन्वेषणाय तस्य पञ्चत्रयं दातव्यम् । तत्र यदि तं दर्शयति तदा मोक्तव्योऽन्यथा प्रस्तुतं धनं दाप्यः; 'नष्टस्यान्वेषणार्थं तु दाप्यं पञ्चत्रयं परम् । यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् ॥ काले व्यतीते प्रतिभूर्यदि तं नैव

१. इदं वचनं । २. वस्त्रदान । ३. संततिरेवं । ४. प्रीतिकृतं च । ५. तद्वन्वेषणाच्च । ६. मोक्तव्यो नान्यथा ।

दर्शयेत् । निबन्धं दापयेत्तु प्रेते चैव विधिः स्मृतः ॥' इति कात्यायनवचनात् । लग्नके विशेषनिषेधश्च तेनैवोक्तः—'न स्वामी न च वै शत्रुः स्वामिनाऽधिकृतस्तथा । निरुद्धो दण्डितश्चैव संदिग्धश्चैव न क्वचिद् ॥ नैव रिक्थी न मित्रं च न चैवात्यन्तवासिनः । राजकार्यनियुक्ताश्च ये च प्रव्रजिता नराः ॥ न शक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्समम् । जीवन्वापि पिता यस्य तथैवेच्छाप्रवर्तकः ॥ नाविज्ञाय ग्रहीतव्यः प्रतिभूः स्वक्रियां प्रति ॥' इति । संदिग्धोऽभिज्ञस्तः । अत्यन्तवासिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ॥ इति प्रतिभूविधिः ॥

धनप्रयोगे द्वौ विश्वासहेतू—प्रतिभूराधिश्च । यथाह नारदः (११११९)—'विस्तरभहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव च' इति । तत्र प्रतिभूर्निरूपितः, इदानीमाधिर्निरूप्यते । आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णोऽधिक्रियते, आधीयत इत्याधिः । स च द्विविधः—कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो द्विविधः—गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारदः (१११२४-२५)—'अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः । कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देहोद्यतस्तथा ॥ स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥' इति । कृते काले आधानकाल एवामुष्मिन्काले दीपोत्सवादौ 'मयायमधमर्णिको मोक्तव्योऽन्यथा तवैवाधिर्भविष्यती'त्येवं निश्चिते काले उपनेय आत्मसमीपं नेतव्यः, मोचनीय इत्यर्थः । देयं दानम् । देयमनतिक्रम्य यावद् देयम् । उद्यतः नियतः, स्थापित इत्यर्थः । यावद् देयमुद्यतो यावद्देहोद्यतः, गृहीतधनप्रत्यर्पणावधिरनिरूपितकाल इत्यर्थः । गोप्यो रक्षणीयः ॥ ५७ ॥

भाषा—यदि प्रतिभू से स्त्री और पशु दिलाया गया हो तो संतति सहित स्त्री और पशु दे । धान्य का तिगुना, वस्त्र हो तो चौगुना और तेल-घृत आदि रस हो तो उसका आठगुना प्रतिभू को शीघ्र देवे ॥ ५७ ॥

एवं चतुर्विधस्याधेर्विशेषमाह—

आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।

काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥ ५८ ॥

प्रयुक्ते धने स्वकृतया वृद्धया कालक्रमेण द्विगुणीभूते यद्याधिरधमर्णेन द्रव्यदानेन न मोक्ष्यते तदा नश्यति । अधमर्णस्य धनं प्रयोक्तुः स्वं भवति । कालकृतः कृतकालः, आहिताग्न्यादिषु पाठात् कालशब्दस्य पूर्वनिपातः । स तु काले निरूपिते प्राप्ते नश्येत् द्वैगुण्याप्रागूर्ध्वं वा । फलभोग्यः फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः—चेत्रारामादिः, स कदाचिदपि न नश्यति । कृतकालस्य गोप्यस्य

-
१. दापयेत्तु प्रेते चैव । २. प्रयुक्तास्तु । ३. नाविज्ञातो ।
४. माधिर्मो । ५. निरूपिते ।

भोगस्य च तत्कालातिक्रमे नाश उक्तः—‘काले कालकृतो नश्ये’दिति । अकृत-
कालस्य भोगस्य नाशाभाव उक्तः—‘फलभोग्यो न नश्यती’ति । पारिशेष्यादाधिः
प्रणश्येदित्येतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते । द्वैगुण्यातिक्रमेण निरूपितकाला-
तिक्रमेण च विनाशे चतुर्दशदिवसप्रतीक्षणं कर्तव्यं, बृहस्पतिवचनात् (११।२७-
२८) ‘हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतावधेः । बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताहं
प्रतीक्ष्य च ॥ तदन्तरा धनं दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात् ॥’ इति ॥ नन्वाधिः
प्रणश्येदित्यनुपपन्नम् । अधमर्णस्य स्वत्वनिवृत्तिहेतोर्दानविक्रयादेरभावात् ।
धनिनश्च स्वत्वहेतोः प्रतिग्रहक्रयादेरभावात् मनुवचनविरोधाच्च । (८।१४३)—
‘न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः’ इति । कालेन संरोधः कालसंरो-
धश्चिरकालमवस्थानं तस्मात्कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानादाधेर्न निसर्गोऽस्ति,
नान्यत्राधीकरणमस्ति, न च विक्रयः । एवामाधीकरणविक्रयप्रतिषेधाद्धनिनः
स्वत्वाभावोऽवगम्यत इति । उच्यते—आधीकरणमेव लोके सोपाधिकस्वत्व-
निवृत्तिहेतुः । आधिस्वीकारश्च सोपाधिकस्वत्वापत्तिहेतुः प्रसिद्धः । तत्र धनद्वैगुण्ये
निरूपितकालप्राप्तौ च द्रव्यदानस्यात्यन्तनिवृत्तेरनेन वचनेनाधमर्णस्यात्यन्तिकी
स्वत्वनिवृत्तिः उत्तमर्णस्य चात्यन्तिकं स्वत्वं भवति । न च मनुवचनविरोधः ।
यतः मनुः (८।१४३)—‘नस्वेवाधौ सोपकारे कौसीर्दी वृद्धिमाप्नुयात्’ इति ।
भोग्याधिं प्रस्तुत्येदमुच्यते—‘न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः’ इति ।
भोग्यस्याधेश्चिरकालावस्थानेऽप्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिनः स्वत्वं नास्तीति ।
इहाप्युक्तं ‘फलभोग्यो न नश्यती’ति । गोप्याधौ तु पृथगारब्धं मनुना
(८।१४४)—‘न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्’ इति । इहापि
वच्यते—गोप्याधिभोगे नो वृद्धिरिति । आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे इति तु
गोप्याधिं प्रत्युच्यत इति सर्वमविरुद्धम् ॥ ५८ ॥

भाषा—यदि कालक्रम से व्याज द्वारा बढ़कर ऋण के दूना हो जाने पर
बन्धक रखे हुए द्रव्य को न छुड़ावे तो वह अपने समय से प्रणष्ट हो जाता
है (उस पर ऋणों का अधिकार नहीं रह जाता) किन्तु जिस आधि
(बन्धक) का फल धनी व्यक्ति को मिलता हो (जैसे खेत आदि) उस पर
से बन्धक रखने वाले का अधिकार समाप्त नहीं होता ॥ ५८ ॥

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे च हापिते ।

नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते ॥ ५९ ॥

१. कृतावधौ । २. काले प्राप्ते च । ३. शिरन्तनकाला । ४. स्वत्वं
न भवति । ५. उथ हापिते ।

किंच, गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन वृद्धिर्भवति । अल्पेऽप्युपभोगे महत्यपि वृद्धिर्हातव्या; समयातिक्रमात् । तथा सोपकारे उपकारकारिणि बलीवर्दताम्रकटाहादौ भोग्याधौ सवृद्धिके हापिते हानिं व्यवहाराच्चमत्वं गमिते नो वृद्धिः इति संबन्धः । नष्टो विकृतिं गतः ताम्रकटाहादिश्लुद्रभेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देयः । तत्र गोप्याधिर्नष्टश्चेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः । उपभुक्तोऽपि चेद्-वृद्धिरपि हातव्या । भोग्याधिर्यदि नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः । वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या । विनष्ट आत्यन्तिकं नाशं प्राप्तः, सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्दाने सवृद्धिकं मूल्यं लभते धनी । यदा न ददाति तदा मूलनाशः; 'विनष्टे मूलनाशः स्यादैवराजकृतादृते' (१।१२६) इति नारदवचनात् । दैवराजकृता-दृते—दैवमग्न्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्विनाशाद्विना, तथा स्वापराधरहि-ताद्राजकृतात् । दैवराजकृते तु विनाशे सवृद्धिकं मूल्यं दातव्यमधमर्णेनाऽऽध्य-न्तरं वा । यथाह—'स्त्रोतसापहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते । आधिरन्योऽथ कर्तव्यो देयं वा धनिने धनम् ॥' इति । तत्र 'स्त्रोतसापहृत' इति दैवकृतोप-लक्षणम् ॥ ५९ ॥

भाषा—(वृद्धि पर रखी गई) गोप्य आधि के उपभोग किये जाने पर वृद्धि (व्याज) न देवे, उपकारक आधि (बैल आदि) में हानि होने पर भी वृद्धि न दें । दैव और राजोपद्रव के विना ही बन्धक रखी हुई वस्तु नष्ट हो जाय या खो जाय तो बन्धक रखी हुई वस्तु के समान वस्तु देवे ॥ ५९ ॥

आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।

यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत् ॥ ६० ॥

अपि च, आधेर्भोग्यस्य गोप्यस्य च स्वीकरणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धि-र्भवति, न सात्तिलेख्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण । यथाह नारदः (१।१३८)—'आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा । सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा ॥' इति । अस्य च फलं—'आधौ प्रतिग्रहे कृते पूर्वा तु बल-वत्तरा' (व्य० २३) इति । या स्वीकारान्ता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वी-काररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स चाधिः प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि काल-वशेन यद्यसारतामविकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापर्याप्ततां गतस्तदाधिरन्यः कर्तव्यः, धनिने धनं वा देयम् । 'रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्' इति वदता आधिः प्रयत्नेन रक्षणीयो धनिनेति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

-
१. नष्टश्चेत्तदा । २. वृद्धिर्हातव्या । ३. गोप्यस्य भोग्यस्य च ।
४. स्वीकारान्तक्रिया पूर्वा ।

भाषा—भोग्य आधि स्वीकार करने पर उसका भोग करने पर ही उसकी सिद्धि होती है। प्रयत्नपूर्वक रखी जाने पर भी यदि आधि असार (वृद्धि युक्त और मूल्यद्रव्य मिलाकर अपर्याप्त हो जाय, या नष्ट) हो जाय तो दूसरी आधि रखनी चाहिए, अथवा धन दाता को उसका धन लौटा देना चाहिए ॥ ६० ॥

‘आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे’ (व्य० ५८) इत्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्ध्या दापयेद्धनम् ।

सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्रं शोभनाचरितं चरित्रेण बन्धकं चरित्रबन्धकं तेन यद् द्रव्यमात्मसा-
कृतं पराधीनं वा कृतम् । एतदुक्तं भवति—धनिनः स्वच्छाशयत्वेन बहुमू-
ल्यमपि द्रव्यमाधोक्त्याधमर्णनात्पमेव द्रव्यमात्मसाकृतम्, यदि बाधमर्णस्य
स्वच्छाशयत्वेनाल्पमूल्यमाधि गृहीत्वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीनं कृत-
मिति । तद्धनं स नृपो वृद्ध्या सह दापयेत् । अयमाशयः—एवं च बन्धकं द्विगु-
णीभूतेऽपि द्रव्ये न नश्यति, किंतु द्रव्यमेव द्विगुणं दातव्यमिति । तथा सत्यं-
कारकृतं । करणं कारः । भावे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यंकारः—‘कारे सत्या-
गदस्य’ (पा. ६।३।७०) इति मुम् । सत्यंकारेण कृतं सत्यंकारकृतम् । अयमभि-
सन्धिः—यदा बन्धकार्पणसमय एवेत्थं परिभाषितं द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये मया
द्विगुणं^१ द्रव्यमेव दातव्यं नाधिनाशः’ इति, तदा तद् द्विगुणं दापयेदिति । अन्यो-
ऽर्थः । चरित्रमेव बन्धकं चरित्रबन्धकं । ‘चरित्र’ शब्देन गङ्गास्नानाग्निहोत्रा-
दिजनितमपूर्वमुच्यते । यत्र तदेवाधीकृत्य यद् द्रव्यमात्मसाकृतं^२ तत्र तदेव द्विगु-
णीभूतं दातव्यम्, नाधिनाश इति । आधिप्रसङ्गादन्यदुच्यते—सत्यंकारकृत-
मिति । क्रयविक्रयादिव्यवस्थानिर्वाहाय यदङ्गुलीयकादि परहस्ते कृतं तद्व्यवस्था-
तिक्रमे द्विगुणं दातव्यम् । तत्रापि येनाङ्गुलीयकाद्यर्पितं स एव चेद् व्यवस्थातिवर्ती
तेन तदेव दातव्यम् । “इतरंश्चेद् व्यवस्थातिवर्ती तदा तदेवाङ्गुलीयकादि द्विगुणं
प्रतिदापयेदिति ॥ ६१ ॥

भाषा—चरित्र बन्धक (स्वेच्छा से कम मूल्य की वस्तु बन्धक लेकर अधिक धन देना या अधिक मूल्य की वस्तु बन्धक रखकर कम धन ऋण लेना) होने पर वृद्धि के साथ धन दिलावे । सत्यंकार (धन के दूना होने पर बन्धक नष्ट न होकर दूना धन देने की शर्त) किया गया हो तो दूना धन दिलवाये ॥ ६१ ॥

१. प्रतिपादयेत् । २. एवंविधं । ३. द्विगुणीभूतमेव द्रव्यं । ४. कृतं तदा तत्र । ५. इतरं चेत् ।

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ।
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

किंच, धनदानेनाधिमोक्षणायोपस्थितस्याधिमोक्तव्यो धनिना, न वृद्धिलो-
भेन स्थापयितव्यः, अन्यथा अमोक्षणे स्तेनश्चौरवद्वण्ड्यः भवेत् । असंनिहिते
पुनः प्रयोक्तारि कुले तदासहस्ते सवृद्धिकं धनं विधायोधमर्णकः स्वीयं बन्धकं
गृहीयात् ॥ ६२ ॥

भाषा— ऋणी के बन्धक छुड़ाने आने पर उसकी वस्तु दे देने चाहिए ।
(व्याज के लोभ से टालना नहीं चाहिए) अन्यथा चोर के समान दण्ड का
भागी होता है । जिसके पास बन्धक रखा हो उसके अनुपस्थित होने पर
व्याज सहित धन उसके कुल के किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप कर बन्धक प्राप्त
कर ले ॥ ६२ ॥

अथ प्रयोक्ताऽप्यसंनिहितस्तदासाश्च धनस्य ग्रहीतारो न सन्ति, यदि वा
असंनिहिते प्रयोक्तार्याधिविक्रयेण धनदत्साधमर्णस्य तत्र किं कर्तव्यमित्यपेक्षित
आह—

तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेद्वृद्धिकः ।

तस्मिन्काले यत्तस्याधेमूल्यं तत्परिकल्प्य तत्रैव धनिनि तमाधिं वृद्धि-
रहितं स्थापयेत् तत ऊर्ध्वं विवर्धते । यावद्धनी धनं गृहीत्वा तमाधिं मुञ्चति,
यावद्वा तन्मूल्यद्रव्यमृणे^१ प्रवेशयति ॥

यदा तु द्विगुणीभूतेऽपि धने द्विगुणं धनमेव ग्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति
विचारितमृणग्रहणकाल एव तदा द्विगुणीभूते द्रव्ये असंनिहिते चाऽधमर्णे
धनिना किं कर्तव्यमित्यत आह—

विना धारणैकाद्यापि विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥ ६३ ॥

धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णेऽसंनिहिते साक्षिभिस्तदाप्तैश्च सह तमाधिं
विक्रीय तद्धनं गृहीयाद्धनी । 'वा' शब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः । यदर्णग्रहणकाले
द्विगुणीभूतेऽपि धने धनमेव ग्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति न विचारितं,
तदा 'आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे' (व्य० ५८) इत्याधिनाशः । विचारिते स्वयं पक्ष
इति ॥ ६३ ॥

-
१. दण्ड्यो भवति । २. कल्पते तत्रैव । ३. ऊर्ध्वं धनं वर्धते ।
४. मृणिने । ५. धारणिकात् ।

भाषा—अथवा उस बन्धक का उस समय जितना मूल्य लगता हो वह कह कर विना व्याज के ही बन्धक को वहीं रहने दे (उसके बाद उसकी वृद्धि नहीं होती) । यदि ऋण धन दूना हो जाय तो विना ऋणी के भी साक्षियों के समक्ष उस बन्धक की वस्तु को धनी बेच सकता है ॥ ६३ ॥

भोग्याधौ विशेषमाह—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ।

मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥ ६४ ॥

यदा प्रयुक्तं धनं स्वकृतया वृद्धया द्विगुणीभूतं तदाधौ कृते तदुत्पन्ने आधुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिनः प्रविष्टे धनिनाऽऽधिर्मोक्तव्यः । यदि वादावेवाधौ दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्वयाधिर्मोक्तव्यः' इति, परिभाषया कारणान्तरेण वा भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतमृणं तदा, आधौ भोगार्थं धनिनि प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे सत्याधिर्मोक्तव्यः । अधिकोपभोगे तदपि देयम् । सर्वथा सवृद्धिकर्मूलर्णापाकरणार्थाध्युपभोगविषयमिदं वचनम् । तमेनं सत्याधिमचक्षते लौकिकाः । यत्र तु वृद्धयर्थ एवाध्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्त एवाधिम । एतदेव स्पष्टीकृतं बृहस्पतिना (११।३३-४)—'ऋणी बन्धमवाप्नुयात् । फलभोग्यं पूर्णकालं दत्त्वा द्रव्यं तु सामकम् ॥ यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा न धनभाग्धनी । ऋणी च न लभेद्वन्धं परस्परमतं विना ॥' इति । अस्यार्थः—फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः बन्धक आधिः । स च द्विविधः—सवृद्धिकर्मूलापाकरणार्थं वृद्धिमात्रापाकरणार्थश्च । तत्र च सवृद्धिकर्मूलापाकरणार्थं बन्धं पूर्णकालं पूर्णः कालो यस्यासौ पूर्णकालस्तमाप्नुयादणी । यदा सवृद्धिकं मूलं फलद्वारेण धनिनः प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थः । वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धकं सामकं दत्त्वाप्नुयादणी । समं मूलं, सममेव सामकम् ॥ अस्यापवादमाह—यदि प्रकर्षितं तत्स्यात् । तत् बन्धकं प्रकर्षितमतिशयितं वृद्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात् 'तदा न धनभाग्धनी' सामकं न लभेत धनी । मूलमदस्यैव ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत् । अथ त्वप्रकर्षितं तद्वन्धकं वृद्धयेऽप्यपर्याप्तं, तदा सामकं दत्त्वापि बन्धं न लभेताधमर्णः । वृद्धिशेषमपि दत्त्वैव लभेतेत्यर्थः । पुनरुभयत्रापवादमाह—'परस्परमतं विना' उत्तमर्णाधमर्णयोः परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परा-नुमतौ तत्कृष्टमपि बन्धकं यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्ते धनी, निकृष्टमपि मूलमात्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

१. मूल्यापाकरणार्था, मूलर्णापाकरण । २. मूल्यदानं । ३. बन्धः
आधिः । ४. मूल्यमदस्यैव । ५. वृद्धिशेषमदस्यैव ।

भाषा—(भोग्य आधि होने पर) ऋण दूना होने पर ऋणी व्यक्ति जब दूना धन प्राप्त कर ले तो बन्धक की वस्तु छोड़ देवे ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

अथ 'उपनिधिप्रकरणम्' ४

उपनिधिं प्रत्याह—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।

द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षेपद्रव्यस्याधारभूतं द्रव्यान्तरं वासनं करणहादि, तत्स्थं वासनस्थं यद्द्रव्यं रूपसंख्यादिविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यस्य हस्ते रक्षणार्थं विस्रग्भादर्प्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनिधिकमुच्यते । यथाह नारदः—‘असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते । तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥’ इति । प्रतिदेयं तथैव तत् । यस्मिन्स्थापितं तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिह्नितमर्पितं तथैव स्थापकाय प्रतिदेयं प्रत्यर्पणीयम् ॥ ६५ ॥

भाषा—जब किसी पात्र में रखकर रूप या संख्या आदि बताये बिना कोई वस्तु दूसरे को (निक्षेप के रूप में) दी जाती है तब वह द्रव्य उपनिधि कहलाता है; उसे ज्यों के त्यों लौटाना होता है ॥ ६५ ॥

‘प्रतिदेयम्’ (व्य० ६५) इत्यस्यापवादमाह—

न दाप्योऽपहृतं तं तु राजदैविकतत्करैः ।

तमुपनिधिं राज्ञा दैवेनोदकादिना तत्करैर्वाऽपहृतं नष्टं न दाप्योऽसौ यस्मिन्नुपनिहितम् । धनिन एव तद्द्रव्यं नष्टं यदि जिह्मकारितं न भवति । यथाह नारदः (१।९)—‘ग्रहीतुः सह योऽर्थेन नष्टो नष्टः स दायिनः । दैवराजकृते तद्भज चेत्तज्जिह्मकारितम् ॥’ इति ॥—

अस्थापवादमाह—

भ्रैष्वश्वेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥ ६६ ॥

स्वामिना मार्गिते याचिते यदि न ददाति तदा तदुत्तरकालं यद्यपि राजादिभिर्भ्रैषो नाशः संजातस्तथापि तद्द्रव्यं मूल्यकल्पनया धनिने ग्रहीता दाप्यो राज्ञे च तत्समं दण्डम् ॥ ६६ ॥

-
१. निक्षेप । २. तत्तु । ३. तद्भजवेत्तज्जिह्म तद्भजवेदाजिह्म ।
४. अंशश्चेन्मा ।

भाषा—किन्तु उसके राजा, दैविक उत्पात द्वारा नष्ट या चोरों द्वारा चुरा लिये जाने पर वह (उपनिधि द्रव्य) प्रतिदेय नहीं होता । और यदि उपनिधि रखने वाले के मांगने पर भी वह वस्तु नहीं लौटाई जाती एवं उसके बाद राजा आदि द्वारा नष्ट हो जाती है तो उसे देना होता है और साथ ही उसके बराबर दण्ड भी चुकाना होता है ॥ ६६ ॥

भोक्तारं प्रति दण्डमाह—

आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

यः स्वेच्छया स्वाम्यननुज्ञयोपनिहितं द्रव्यमाजीवन्नुपभुङ्क्ते व्यवहरति वा प्रयोगादिना लाभार्थमसावुपभोगानुसारेण लाभानुसारेण च दण्ड्यः, तं चोपनिधिं सोदयमुपभोगे सवृद्धिकं व्यवहारे सलाभं धनिने दाप्यः । वृद्धिप्रमाणं च कात्यायनेनोक्तम्—‘निक्षेपं वृद्धिशेषं च क्रयं विक्रयमेव च । याच्यमानो न चेद्दद्याद्दर्थते पञ्चकं शतम् ॥’ इति । एतच्च भक्षिते द्रष्टव्यम् । उपेक्षाज्ञाननष्टे तु तेनैव विशेषो दर्शितः—‘भक्षितं सोदयं दाप्यः समं दाप्य उपेक्षितम् । किञ्चिन्मयूनं प्रदाप्यः स्याद् द्रव्यमज्ञानमाश्रितम् ॥’ इति । ‘किञ्चिन्मयूनम्’ इति चतुर्थांशहीनम् ॥

उपनिधेर्धर्मान्याचितादिष्वतिदिशति—

याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपादिष्वयं विधिः ॥ ६७ ॥

विवाहाद्युत्सवेषु वस्त्रालंकारादि याचिष्वऽऽनीतं याचितम् । यदेकस्य हस्ते निहितं द्रव्यं तेनाप्यनु पश्चादन्यहस्ते स्वामिने देहीति निहितं तदन्वाहितम् । न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति । समक्षं तु समर्पणं निक्षेपः । ‘आदि’शब्देन सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय न्यस्तस्य सुवर्णादेः, प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोजनोपेत्या ‘त्वयेदं मदीयं रक्षणीयं, मयेदं त्वदीयं रक्षयते’ इति न्यस्तस्य ग्रहणम् । यदाह नारदः (२।१४)—‘एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु । शिल्पिषूपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥’ इति । एतेषु याचितान्वाहितादिष्वयं विधिः उपनिधेर्यः प्रतिदानादिविधिः स एव वेदितव्यः ॥ ६७ ॥

भाषा—जो अपनी इच्छा से उपनिधि द्रव्य का भोग करता है उसे उसके लाभ के साथ उपनिधि दिलावे और साथ ही दण्ड भी दे । यही नियम याचित (मगनी), अन्वाहित (मांगने वाले से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा स्वामी के पास भिजवाई गई), न्यास (परोक्ष में घर के किसी अन्य व्यक्ति के

हाथ में सौपी गई) और निक्षेप (सन्मुख दी हुई) वस्तुओं के विषय में भी लागू होते हैं ॥ ६७ ॥

इति उपनिधिप्रकरणम् ।

अथ साक्षिप्रकरणम् ५

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्' (व्य० २२) इत्युक्तं, तत्र भुक्तिर्निरूपिता; सांप्रतं साक्षिस्वरूपं निरूप्यते । साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति । यथाह मनुः (८।७४)—'समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति' इति । स च द्विविधः—कृतोऽकृतश्चेति । साक्षित्वेन निरूपितः कृतः । अनिरूपितोऽकृतः । तत्र कृतः पञ्चविधोऽकृतश्च षड्विध इत्येकादशविधः । यथाह नारदः (१।१७८)—'एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । कृतः पञ्चविधो ज्ञेयः षड्विधोऽकृत उच्यते ॥' इति । तेषां च भेदस्तेनैव दर्शितः—'लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृतः ॥' (नारदः १।१४०) इति । लिखितादीनां च स्वरूपं कात्यायनेनोक्तं—'अर्थिना स्वयमानीतो यो लेख्ये संनिवेश्यते । स साक्षी लिखितो नाम स्मारितः पत्रकादते ॥' इति । 'स्मारितः पत्रकादते' इत्यस्य विवरणं तेनैव कृतम्—'यस्तु कार्यप्रसिद्धयर्थं दृष्ट्वा कार्यं पुनः पुनः । स्मारयते ह्यर्थिना साक्षी स स्मारित इहोच्यते ॥' इति । यस्तु यदृच्छयागतः साक्षी क्रियते स यदृच्छाभिज्ञः । अनयोः पत्रानारुढत्वेऽपि भेदस्तेनैव दर्शितः—'प्रयोजनार्थमानीतः प्रसङ्गादागतः यः । द्वौ साक्षिणौ त्वलिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकौ ॥' इति, तथा—'अर्थिना स्वार्थसिद्धयर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम् । यः श्राव्यते स्थितो गूढो गूढसाक्षी स उच्यते ॥' इति, तथा—'साक्षिणामपि यः साक्ष्यमुपर्युपरि भाषते । श्रवणाच्छ्रावणाद्वापि स साक्ष्युत्तरसंज्ञितः ॥' इति । षड्विधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शितः (१।१५१)—'ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् । कार्येष्वधिकृतो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः ॥ कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिणः ॥' इति । 'प्राड्विवाक'ग्रहणं लेखकसम्भोषलक्ष्णार्थम्; 'लेखकः प्राड्विवाकश्च सभ्याश्चैवानुपूर्वशः । नृपे पश्यति तत्कार्यं साक्षिणः समुदाहृताः ॥' इति ।

तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः, कियन्तश्च भवन्तीत्यत आह—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।

धर्मप्रधाना क्रजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८ ॥

व्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।

यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६९ ॥

तपस्विनस्तपःशीलाः, दानशीला दाननिरताः, कुडीना महाकुलप्रसूताः, सत्यवादिनः सत्यवदनशीलाः, धर्मप्रधाना न स्वार्थकामप्रधानाः, ऋजवोऽ-
कुटिलाः, पुत्रवन्तो विद्यमानपुत्राः, धनान्विता बहुसुवर्णादिधनयुक्ताः, श्रौतस्मा-
र्तक्रियापराः नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरताः, एवंभूताः पुरुषास्व्यवराः साक्षिणो
भवन्ति । त्रयः अवरा न्यूना येषां ते व्यवराः त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति । परतस्तु
यथाकामं भवन्तीत्यर्थः । जातिमनतिक्रम्य यथाजाति । जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः
अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च । तत्र मूर्धावसिक्तानां मूर्धावसिक्ताः साक्षिणो भवन्ति ।
एवमग्निष्टादिष्वपि द्रष्टव्यम् । वर्णमनतिक्रम्य यथावर्णम् । वर्णा ब्राह्मणादयः ।
तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मणा एवोक्तलक्षणा उक्तसंख्याकाः साक्षिणो भवन्ति । एवं
क्षत्रियादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय एव कुर्युः । यथाह मनुः
(८।६८)—‘स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः’ इति । सजातिसवर्णासंभवे सर्वे
मूर्धावसिक्तादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु ब्राह्मणादिषु च यथा-
संभवं साक्षिणो भवन्ति । उक्तलक्षणानां साक्षिणामसंभवे प्रतिषेधरहिता-
नामन्येषामपि साक्षित्वप्रतिपादनादर्थमसाक्षिणो वक्तव्याः । ते च पञ्च-
विधा नारदेन दर्शिताः—‘असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः ।
वचनाहोषतो भेदात्स्वयमुक्तिर्मृतान्तरः ॥’ इति । के पुनर्वचनात् असा-
क्षिण इत्यत आह—‘श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजितादयः । असाक्षि-
णस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥’ (१।१५८) इति । तापसा वानप्रस्थाः ।
‘आदि’शब्देन पित्रा विवदमानादीनां ग्रहणम् । यथाह शङ्खः—‘पित्रा विवद-
मानगुरुकुलवासिपरिव्राजकवानप्रस्थनिर्ग्रन्था असाक्षिणः’ इति । दोषादसाक्षिणो
दर्शिताः—‘स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा वैचकास्तथा । असाक्षिणस्ते
दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते ॥’ (नारदः १।१५९) । चण्डाः कोपनाः, कितवा
धूतकृतः । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेनैव दर्शितम्—‘साक्षिणां लिखितानां
च निर्दिष्टानां च वादिनाम् । तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात्सर्वे न साक्षिणः ॥’
इति । तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्—‘स्वयमुक्तिर्निर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो
वदेत् । सूचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति ॥’ (१।१६१) इति ।

-
१. सत्यवादन । २. दानपराः । ३. स्वयमुक्तिर्मृतान्तरम् ; स्वयमुक्तेः ।
४. वानप्रस्था निर्ग्रन्थाश्चासाः ; निर्ग्रन्था निगडस्थाः । ५. वधकास्तथा ।
६. वादिना । ७. असाक्षिणः । ८. मुक्तिर्हि निर्दिष्टः ।

मृतान्तरस्यापि लक्षणमुक्तम्—‘योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि ।
 क तद्वदनु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरः ॥’ (१।१६२) इति । येनार्थिना
 प्रत्यर्थिना वा साक्षिणां योऽर्थः श्रावयितव्यो भवेत् ‘यूयमत्रार्थे साक्षिणः’ इति
 तस्मिन्नर्थिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृतेऽर्थे चानिवेदिते, ^१साक्षी क कस्मिन्नर्थे
 कस्य वा कृते साक्ष्यं वदस्विति मृतान्तरः साक्षी न भवति । यत्र तु मुमूर्षुणा
 स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादयः श्राविता ‘अस्मिन्नर्थेऽमी साक्षिणः’ इति तत्र मृता-
 न्तरोऽपि साक्षी । यथाह नारदः (१।९६)—‘मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षु-
 श्राविताहते’ । तथा—‘श्रावितोऽनातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः । मृतेऽपि तत्र
 साक्षी^२ स्यात्पृष्टु चान्वाहितादिषु ॥’ इति ॥ ६८-६९ ॥

भाषा—तपस्वी, दानी, कुलीन, सत्यवादी, (अर्थ और काम को छोड़
 कर) धर्म में प्रमुख रूप से रत, सरल, पुत्रवान्, धनवान् और श्रौत एवं
 स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले तीन से अधिक साक्षी जानने चाहिए जो
 ब्राह्मणादि वर्ण एवं मूर्धावसिक्त आदि जातियों के अनुसार सबका सबके लिये
 साक्षी बनना विहित है ॥ ६८-६९ ॥

तानेतानसाक्षिणो दर्शयति—

स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिश्चस्तकाः ।

रक्तावतारिपाखण्डिकूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥ ७० ॥

पतितासार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः ।

साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ ७१ ॥

स्त्री प्रसिद्धा, बालोऽप्राप्तव्यवहारः, वृद्धोऽशीतिकारः, ‘वृद्ध’ग्रहणं वचन-
 निषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम् ; कितवोऽक्षदेवी, मत्तः
 पानादिना, उन्मत्तो ग्रहाविष्टः, अभिशस्तोऽभियुक्तो ब्रह्महत्यादिना, रक्ताव-
 तारी चारणः । पाखण्डिनो निर्ग्रन्थप्रभृतयः । कूटकृत् कपटलेख्यादिकारी ।
 विकलेन्द्रियः श्रोत्रादिरहितः, पतितो ब्रह्महादिः, आसः सुहृत्, अर्थ-
 संबन्धी विप्रतिपद्यमानार्थसंबन्धी, सहाय एककार्यः, रिपुः शत्रुः, तस्करः
 स्तेनः, साहसी बलावष्टम्भकारी । दृष्टदोषो दृष्टविरुद्धवचनः, निर्धूतो
 बन्धुभिस्त्यक्तः, ‘आद्य’शब्दादन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषादसाक्षिणां भेदाद-
 साक्षिणां स्वयमुक्तेर्मृतान्तरस्य च ग्रहणम् । एते स्त्रीबालादयः साक्षिणो न
 भवन्ति ॥ ७०-७१ ॥

१. साक्षित्वं कस्मिन्नर्थे । २. साक्षात्स्यात् । ३. वतारपाखण्डिकूट ।

४. पाषाण्डि । ५. निर्धूतश्चेत्यसा । ६. भूताविष्टः । ७. स्वबला ।

८. दृष्टवितथवचनः ।

स्त्री, बालक (८० वर्ष से ऊपर का), वृद्ध, जुआरी, मत्त (मदिरा पीने वाला), उन्मत्त (पागल), महापातकी, रंगावतारी, पाखण्डी, झूठा लेख लिखने वाला, विकलेन्द्रिय (बहरा या गूंगा), ब्रह्म-हत्यादि महापाप करने वाला पतित, मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (बलपूर्वक किसी वस्तु का अपहरण करने वाला), प्रत्यक्ष दोष से युक्त, और बन्धुओं द्वारा परित्यक्त व्यक्ति साक्षी नहीं होते हैं ॥ ७०-७१ ॥

‘श्रवराः साक्षिणो ज्ञेयाः’ (व्य० ६९) इत्यस्यापवादमाह—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमत-
श्चेत्साक्षी भवति । ‘अपि’शब्दबलाद् द्वावपि । यद्यपि ‘श्रौतस्मार्तक्रियापराः’
(व्य० ६९) इति श्रवराणामपि धर्मवित्त्वं समानं, तथापि तेषामुभयानुमत्यभा-
वेऽपि साक्षित्वं भवति । एकस्य द्वयोर्वोभयानुमत्यैव साक्षित्वं भवतीत्यर्थवत्
‘श्रवरा’ग्रहणम् ॥—

‘तपस्विनो दानशीलाः, (व्य० ६८) इत्यस्यापवादमाह—

सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषु सर्वे वचननिषिद्धास्तपःप्रभृतिगुण-
रहिताश्च साक्षिणो भवन्ति । दोषादसाक्षिणो भेदादसाक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि
साक्षिणो न भवन्ति; सत्याभावादिति हेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् ।—‘मनुष्यमा-
रणं चौर्यं परदारभिमर्शनम् । पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम् ॥’
(नारदः १४१) इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि
तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां
तु ‘संग्रहणादि’शब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसापृथगुपादानम् ॥ ७२ ॥

भाषा—दोनों पक्ष स्वीकार करें तो धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति
साक्षी हो सकता है । चोरी और कठोर वचन के निर्जन स्थान पर करने
अर्थात् संग्रहण में और इनके खुल्लमखुल्ला करने पर अर्थात् साहस में सभी
साक्षी हो सकते हैं ॥ ७२ ॥

साक्षिश्रावणमाह—

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अधिप्रत्ययिसंनिधौ साक्षिणः समवेतान् ‘नासमवेताः पृष्टाः प्रब्रूयुः’ (१३५)
इति गौतमवचनात्, वक्ष्यमाणं श्रावयेत् । तत्रापि कात्यायनेन विशेषो

१. अपिशब्दाद् द्वावपि । २. त्यर्थं च श्रवरा । ३. सत्यवादिस्वहेतोः ।

४. पृथगपृष्टाः ।

दर्शितः—‘सभान्तः साक्षिणः सर्वानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ । प्राङ्मिवाको
नियुज्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् । देवब्राह्मणसंनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदतं
द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्ने वै शुचिः शुचीन् ॥’ (मनुः ८।७९,
८७) ‘आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियस्य शापथैर्भृशम् । समस्तान्विदिताचारान्वि-
ज्ञातार्थान्पृथक्पृथक् ॥’ (नारदः १।१९८) इति । तथा ब्राह्मणादिषु श्रावणे
मनुना नियमो दर्शितः (८।११३)—‘सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥’ इति । ब्राह्मणमन्यथा ब्रुवतः सत्यं
ते नश्यतीति शापयेत् । क्षत्रियं वाहनायुधानि तव विफलानीति, गोबीजकाञ्च-
नादीनि तव विफलानि भविष्यन्तीति वैश्यम्, शूद्रमन्यथा ब्रुवतस्तव सर्वाणि
पातकानि भविष्यन्तीति शापयेत् । अत्र चापवादस्तेनैव दर्शितः (८।१०२)—
‘गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुण्शीलवान् । प्रेष्यान्वारुषिकांश्चैव विप्रान्शूद्र-
चदाचरेत् ॥’ इति । ‘विप्र’ ग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणार्थम् । कुशीलवा गाय-
काः । प्रतिवादिना साक्षिदूषणे दत्ते प्रत्यक्षयोग्यदूषणेषु बाह्यादिषु तथैव निर्णयः ।
अयोग्येषु तु तद्वचनालोकतश्च निर्णयो न साध्यन्तरेणेति नानवस्था । यदि
साक्षिदोषमुद्गाढ्य साधयितुं न शक्नोति प्रतिवादी, तदाऽसौ दोषानुसारेण
दण्ड्यः । अथ साधयति, तदा न साक्षिणः । यथाह—‘असाध्यन्दमं दाप्यो
दूषणं साक्षिणां स्फुटम् । भाविते साक्षिणो वज्याः साक्षिधर्मनिराकृताः ॥’ इति ।
उद्दिष्टेषु च सर्वेषु साक्षिषु दुष्टेष्वर्थी यदा क्रियान्तरनिरपेक्षस्तदा पराजितो
भवति; ‘जितः स विनयं दाप्यः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा । यदि वादी निराकाङ्क्षः
साक्षिसत्ये व्यवस्थितः ॥’ इति स्मरणात् । साकाङ्क्षश्चेत्क्रियान्तरमवलम्बेतेत्य-
भिप्रायः ॥—

कथं श्रावयेदित्यत आह—

ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ॥ ७३ ॥

अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ।

स तान्सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ७४ ॥

सुकृतं यत्त्वया किञ्चिज्जन्मान्तरशतैः कृतम् ।

तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥ ७५ ॥

‘पातकोपपातकममहापातककारिणामग्निदानां स्त्रीबालघातिनां च ये लोका-
स्तान्सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदति । तथा जन्मान्तरशतैर्यत्सुकृतं
कृतं, तत्सर्वं तस्य भवति, यस्तेऽनृतवदनेन पराजितो भवति’ इति, ‘इति

१. ब्रुवन्तं ।

२. सारानुसारेण ।

३. असाध्यन् अभवयन् ।

४. ये च पातकिनां लोकाः ।

५. तान्सर्वान्समवा ।

६. यथा ।

७. यस्तेऽनृतवचनेन । यस्तेनोऽनृतवदनेन ।

श्रावयेत्' इति संबन्धः । एतच्च शूद्रविषयं द्रष्टव्यम् ; 'शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः' (मनुः ८।१२३) इति शूद्रे सर्वपातकश्रावणस्य विहितत्वात् । गोरक्षकादि-
द्विजातिविषयं च; 'गोरक्षकान्वाणिजिकान्' (मनुः ८।१०२) इत्युक्तत्वात् ।
अन्यानेकजन्मार्जितसुकृतसंक्रमणस्य महापातकादिफलप्राप्तेश्चानृतवचनमात्रेणानु-
नुपपत्तेः, साक्षिसंत्रासार्थमिदमुच्यते । यथाह नारदः (१।२००)—'पुराणै-
र्धर्मवचनैः सत्यमाहास्यकीर्तनैः । अनृतस्यापवादैश्च भृशमुत्रासयेदिमान् ॥'
इति ॥ ७३-७५ ॥

भाषा—वादी और प्रतिवादी के समीप स्थित साक्षियों को सम्बोधित
कर उन्हें इस प्रकार सुनावे—जो लोक पातक करने वाले एवं महापातकियों
को मिलते हैं, जो लोक आग लगाने वालों को एवं जो लोक स्त्री एवं बालकों
की हत्या करने वालों को मिलते हैं उन सभी लोकों को वह व्यक्ति प्राप्त करता
है जो साक्ष्य में झूठ बोलता है । तुम लोगों ने सौ जन्म-जन्मान्तर में जो कुछ
भी पुण्यार्जन किया है उन सबको उस व्यक्ति का समझना जिसे तुम झूठे ही
पराजित करोगे ॥ ७३-७५ ॥

यदा तु श्राविताः साक्षिणः कथंचिन्न ब्रूयुस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम् ।

राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात्षट्चत्वारिंशकेऽहनि ॥ ७६ ॥

यः साक्ष्यमङ्गीकृत्य श्रावितः सन् कथंचिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सवृद्धिक-
मृणं धनिने दाप्यः, सदशबन्धकं दशमांशसहितम् । दशमांशश्च राज्ञो भवति;
'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधितादशकं शतम्' (व्य० ४२) इत्युक्तत्वात् ।
एतच्च षट्चत्वारिंशकेऽहनि प्राप्ते वेदितव्यम् । ततोऽर्वाग्वदन्न दाप्यः, इदं च
व्याध्याद्युपप्लवरहितस्य । यथाह मनुः (८।१०७)—'त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्य-
मृणादिषु नरोऽगदः । तदणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वशः ॥' इति । 'अगद'
इति राजदैवोपप्लवविरहोपलक्षणम् ॥ ७६ ॥

भाषा—जो साक्ष्य स्वीकार करके उसके अनन्तर कुछ न बोले उससे
राजा वृद्धि के साथ सम्पूर्ण ऋण का धन धनी को दिलावे तथा साथ ही
उसका दशमांश वसूल करे । इन सभी धनों को राजा छियालिसवें दिन
दिलावे ॥ ७६ ॥

१. श्रावणस्य । २. विहितं च । ३. अस्यानेक । ४. मृशं
संत्रासयेत् । ५. प्रदाप्यः षट् । ६. चत्वारिंशत्तमेऽहनि ।

यस्तु जानन्नपि साक्ष्यमेव नाङ्गीकरोति दौराख्यात्तं प्रस्थाह—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।

स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७० ॥

यः पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो जानन्नपि साक्ष्यं न ददाति नाङ्गीकरोति स कूटसाक्षिणां तुल्यः पापैः दण्डेन च । कूटसाक्षिणां च दण्डं वक्ष्यति । कूटसाक्षिणश्च दण्डयित्वा पुनर्व्यवहारः प्रवर्तनीयः । कृतोऽपि वा, कौटसाक्ष्ये विदिते निवर्तनीयः । यथाह मनुः (८।११७)—‘यस्मिन्मस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥’ इति ॥ ७७ ॥

भाषा—जो नीच मनुष्य जानता हुआ भी साक्ष्य (गवाही) नहीं देता है वह कूटसाक्षियों का पाप करता और उस उन्हीं के समान दण्ड देना चाहिए ॥ ७७ ॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।

गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचनं ग्राह्यम् । समेषु समसंख्येषु द्वैधे ये गुणिनस्तेषां वचनं प्रमाणम् । यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणवत्तमाः श्रुताध्ययनतदर्थानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां वचनं ग्राह्यम् । यत्र तु गुणिनः कतिपये, इतरे च बहवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम् ; ‘उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्’ (व्य० ७२) इति गुणातिशयस्य मुख्यत्वात् । यत्तु ‘भेदादसाक्षिणः’ (व्य० ६८।६९) इत्युक्तं, तत्सर्वसाध्येनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

भाषा—साक्षियों के कथनों में अन्तर (द्वैध) हो तो उनमें से अधिकांश की बात को, दोनों ओर समान हों तो गुणियों के कथन को और गुणियों में भी परस्पर विरोध हो तो जो सर्वाधिक गुणवान् साक्षी हों उनके वचन को ग्रहण करना चाहिए ॥ ७८ ॥

साक्षिभिश्च कथमुक्ते जयः कथं वा पराजय इत्यत आह—

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् ।

अन्यथा वादिनो यस्य भ्रुवस्तस्य पराजयः ॥ ७९ ॥

यस्य वादिनः प्रतिज्ञां द्रव्यजातिसंख्यादिविशिष्टां साक्षिणः सत्यां चदन्ति सत्यमेवं जानीमो वयमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञा-

मन्यथा वैपरीत्येन मिथ्यैतदिति वदन्ति तस्य पराजयो ध्रुवो निश्चितः । यत्र तु प्रतिज्ञातार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावौ साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति, तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः । न च राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः । स्वभावोक्तमेव वचनं ग्राह्यम् । यथाह—‘स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यदोष-
वर्जितम् । उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ॥’ इति ॥ ७९ ॥

भाषा—जिसकी (जिस वादी की) प्रतिज्ञा (दावे) को साक्षी सत्य करार दें वह विजयी होता है और जिस (वादी) की प्रतिज्ञा को वे असत्य बताते हैं उसकी निश्चित पराजय होती है ॥ ७९ ॥

‘अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः’ (व्य० ७९) इत्यस्यापवादमाह—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः ।

द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥ ८० ॥

पूर्वोक्तलक्षणैः साक्षिभिः साक्ष्ये स्वाभिप्राये’ प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्येनाभिहिते यद्यन्ये पूर्वभ्यो गुणवत्तमाः द्विगुणा वा अन्यथा प्रतिज्ञातार्थाननुगुण्येन साक्ष्यं ब्रूयुस्तदा पूर्वं साक्षिणः कूटा मिथ्यावादिनो भवेयुः । नन्वेतदनुपपन्नम् ; अर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसभापतिभिः परीक्षितैः प्रमाणभूतैः साक्षिभिर्निगदिते प्रमाणान्तरान्वेषणेऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्—‘निर्णिके व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत् । लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥’, ‘यथा पक्षेषु धान्येषु निष्फलाः प्रावृषो गुणाः । निर्णिकव्यवहाराणां प्रमाणमफलं तथा ॥’ (मा० १।६३-६२) इति नारदवचनाच्च । उच्यते,—यदाऽर्थी प्रतिज्ञातार्थस्यान्तरात्मसाक्षित्वेनानाविष्कृतदोषाणामपि साक्षिणां वचनमर्थविसंवादिस्त्वेनाप्रमाणं मन्यमानः साक्षिण्वपि दोषं कल्पयति तदा प्रमाणान्तरान्वेषणं केन वार्यते ? उक्तं च—‘यस्य चे दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः’ इति ॥ यथा चक्षुरादिकरणदोषानध्यवसायेऽप्यर्थविसंवादात्तज्जनितस्य ज्ञानस्याप्रामाण्येन करणदोषकल्पना तथेहापि; साक्षिपरीक्षातिरेकेण वाक्यपरीक्षोप-
देशाच्च ।—‘साक्षिभिर्भाषितं वाक्यं सह सभ्यैः परीक्षयेत्’ इति । कात्यायनेनाप्युक्तम्—‘यदा शुद्धा क्रिया न्यायात्तदा तद्वाक्यशोधनम् । शुद्धाच्च वाक्याद्यः शुद्धः स शुद्धोऽर्थ इति स्थितिः ॥’ इति । क्रिया साक्षिलक्षणा, ‘नार्थसंबन्धिनो नासां’ (मनुः ८।६४) इति न्यायाद्यदा शुद्धा तदा तद्वाक्यशोधनं साक्षिवा-
क्यशोधनं कर्तव्यम् ; वाक्यशुद्धिश्च सत्यार्थप्रतिपादनेन; ‘सत्येन शुद्धयते

१. स्वाभिप्रायेण प्रतिज्ञा । २. मिथ्यासाक्षिणो । ३. कारणं दुष्टं ।

४. ज्ञानस्य प्रामाण्य । ५. वाक्यपरीक्षोप ।

वाक्यम्' इति स्मरणात् । एवं शुद्धायाः क्रियायाः शुद्धवाक्याच्च यः शुद्धोऽव-
गतोऽर्थः स शुद्धस्तथाभूत इति स्थितिरीदृशी मर्यादा न्यायविदाम् । कारण-
दोषषाधकप्रत्ययाभावे सत्यवितथ एवार्थ इत्यर्थः । ननु स्वयमर्थिना प्रमाणीकृ-
तान्साक्षिणोऽतिक्रम्य कथं क्रियान्तरं प्रमाणीक्रियते ? नैष दोषः; यतः—'क्रियां
बलवतीं मुक्त्वा दुर्बलां योऽवलम्बते । स जयेऽवधृते सभ्यैः पुनस्तौ
नाप्नुयात्क्रियाम् ॥' इति कार्यायनेन जयावधारणोत्तरकालं क्रियान्तरपरिग्रह-
निषेधाज्जयावधारणात्प्राक् क्रियान्तरपरिग्रहो दर्शितः । नारदेनापि (मा०
१।६२)—'निर्णिके व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्' इति वदता जयावधार-
णोत्तरकालमेव प्रमाणान्तरं निषिद्धं न प्रागपि । तस्मादुक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्येऽ-
परितुष्यता क्रियान्तरमङ्गीकर्तव्यमिति स्थितम् । एवं स्थिते यद्यभिहितवचनेभ्यः
साक्षिभ्यो गुणवत्तमा द्विगुणा वा पूर्वनिर्दिष्टा असन्निहिताः साक्षिणः सन्ति तदा
त एव प्रमाणीकर्तव्याः; 'स्वभावेनैव यद्भूयुस्तद्प्राज्ञं व्यावहारिकम्' इत्यस्य
सर्वव्यवहारशेषत्वात्, 'निर्णिके व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत् । लिखितं
साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥' (मा० १।६२) इति नारदवचनाच्च ।
पूर्वनिर्दिष्टानामसंभवे त्वनिर्दिष्टा अपि तथाविधाः साक्षिण एव प्राज्ञा न दिव्यं;
'संभवे साक्षिणां प्राज्ञो वर्जयेद्देविकीं क्रियाम्' इति स्मरणात् । तेषामसंभवे दिव्यं
प्रमाणीकर्तव्यम् । अतः परमपरितुष्यताप्यर्थिना न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमवच-
नादिति परिसमापनीयो व्यवहारः । यत्र तु प्रत्यर्थिनः स्वप्रत्ययविसंवादिस्त्वेन
साक्षिवचनस्याप्रामाण्यं मन्यमानस्य साक्षिषु दोषारोपणेनापरितोषस्तत्र प्रत्यर्थिनः
क्रियोपन्यासावसराभावात्ससाहावधिकदैविकराजिकव्यसनोद्भवेन साक्षिपरीक्षणं
कर्तव्यम् । तत्र च दोषावधारणे साक्षिणो विवास्पदीभूतमृणं दाप्याः, सारा-
सारेण दण्डनीयाः । अथ दोषानवधारणं, तदा प्रत्यर्थिना तावता संतोष्यम् ।
यथाह मनुः (८।१०८)—'यस्य दृश्येत ससाहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥' इति । एतच्च 'यस्योन्तुः साक्षिणः
सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्' इत्यस्य अपरितुष्यत्प्रत्यर्थिविषयेऽपवादो द्रष्टव्यः ।
केचित्तु 'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' (व्य० ८०) इत्येतद्वचनमर्थिना निर्दिष्टेषु
साक्षिष्वर्थ्यनुकूलमभिहितवस्तु यदि प्रत्यर्थी गुणवत्तमान्द्विगुणान्वाऽन्यान्साक्षिणः
पूर्वोक्तविपरीतं संवादयति तदा पूर्ववादिनः साक्षिणः कूटा इति व्याचक्षते,—
तदसत्; प्रत्यर्थिनः क्रियानुपपत्तेः । तथा हि—अर्थी नाम साध्यस्यार्थस्य

१. शुद्धाच्च वाक्याद्यः शुद्धो । २. कृताः साक्षिणो । ३. तथाविधा एव
साक्षिणो प्राज्ञाः । ४. प्रमाणं कर्तव्यं । ५. मनुवचनात् . यमवचनात् ।
६. दोषावधारणं ।

निर्देष्टा, तत्प्रतिपक्षस्तदभाववादी प्रत्यर्थी, तत्राभावस्य भावसिद्धिसापेक्षसिद्धि-
त्वाद्भावस्य चाभावसिद्धिनिरपेक्षसिद्धित्वाद्भावस्यैव साध्यत्वं युक्तम् ; अभावस्यै
स्वरूपेण साक्ष्यादिप्रमेयत्वाभावात् । अतश्चार्थिन एव क्रिया युक्ता । अपि
चोत्तरानुसारेण सर्वत्रैव क्रिया नियता स्मर्यते; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी
निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपक्षौ न सा भवेत् ॥' इति । न
चैकस्मिन्व्यवहारे द्वयोः क्रिया; 'नचैकस्मिन्निवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः'
इति स्मरणात् । तस्मात्प्रतिवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वाऽन्यथा
ब्रूयुरित्यनुपपन्नम् ॥ अथ मतम्—यत्र द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनौ 'मदीयमिदं
दायादप्राप्तं मदीयमिदं दायादप्राप्त'मिति प्रतिज्ञावादिनोः पूर्वापरकालविभागा-
नाकलितमेव वदतस्तत्र द्वयोः साक्षिषु सत्सु कस्य साक्षिणो ग्राह्या इत्या-
काङ्क्षायां—'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवे-
युस्तस्य साक्षिणः ॥' इति वचनेन यः पूर्व निवेदयति, तस्य साक्षिणो ग्राह्या
इति स्थिते, तस्यापवादः—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इति । अतश्च पूर्वोत्त-
रयोर्वादिनोः समसंख्येषु समगुणेषु साक्षिषु सत्सु पूर्ववादिन एव साक्षिणः
प्रष्टव्याः । यदा तु उत्तरवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रति-
वादिनः साक्षिणः प्रष्टव्याः । एवं च नाभावस्य साध्यता; उभयोरपि भाववादि-
त्वात्, चतुर्विधोत्तरविलक्षणत्वाच्च प्रकृतोदाहरणे न क्रियाव्यवस्था । एकस्मिन्व्य-
वहारे तु यथैकस्यार्थिनः क्रियाद्वयं परमते तथा वादिप्रतिवादिनोः क्रियाद्वयेऽ-
प्यविरोध इति । तदप्याचार्यो नानुमन्यते—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इत्यपि-
शब्दादर्थोत्पत्तिरिति द्वाऽस्यार्थस्यानवगमादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८० ॥

भाषा—साक्षियों के अपना वक्तव्य (बयान) दे लेने पर जो दूसरी
प्रकृष्ट गुणवाले व्यक्ति या उनसे दूने व्यक्ति अन्यथा (उनके वक्तव्य के विप-
रीत) कहें तो वे पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिणो दर्शितास्तेषां दण्डमाह—

पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृतसाक्षिणस्तथा ।

विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः ॥ ८१ ॥

यो धनदानादिना कूटान्साक्षिणः करोति स कूटकृत, साक्षिणश्च ये तथा
कूटास्ते विवादान्नाम विवादपराजयात्पराजये यो दण्डस्तत्र तत्रोक्तस्तं दण्डं

- | | | |
|--------------------|------------------------------|-------------------------|
| १. वाभावनिरपेक्ष । | २. अभावस्वरूपेण । | ३. कस्मिन्निवादे । |
| ४. पवादमाह । | ५. प्याचार्या नानुमन्यन्ते । | ६. विवादाद्विवादपराजये, |
| विवादात्पराजये । | | |

द्विगुणं पृथक्पृथगेकैकशो दण्डनीयाः । ब्राह्मणस्तु विवाहस्यो राष्ट्राजिर्वास्यः, न दण्डनीयः । एतच्च लोभादिकारणविशेषपरिज्ञाने अनभ्यासे च वेदितव्यम् । लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽभ्यासे च मनुनोक्तम् (८।१२०-२१)—‘लोभा-
स्सहस्रं दण्डयः स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं
चतुर्गुणम् ॥ कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णं
बालिश्याच्छतमेव तु ॥’ इति । तत्र लोभोऽर्थलिप्सा, मोहो विपर्ययज्ञानम्,
भयं संत्रासः, मैत्री स्नेहातिशयः, कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषः, क्रोधोऽमर्षः ।
अज्ञानमस्फुटज्ञानम्, बालिश्यं ज्ञानानुत्पादः । सहस्रादिषु तान्त्रिकाः पणा
गृह्यन्ते । तथा (मनुः ८।१२३)—‘कौटसाद्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥’ इति, एतच्चाभ्यासविषयम् ; कुर्वा-
णानिति वर्तमाननिर्देशात् । स्त्रीन्वर्णान्चत्रियादीन् पूर्वोक्तं दण्डं दण्डयित्वा प्रवा-
सयेन्मारयेत् । अर्थशास्त्रे ‘प्रवास’शब्दस्य मारणे प्रयोगात्, अस्य चार्थशास्त्ररूप-
त्वात् । तत्रापि प्रवासनमोष्ठच्छेदनं जिह्वाच्छेदनं प्राणवियोजनं च कौटसाद्य-
विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणं तु दण्डयित्वा विवासयेत् स्वराष्ट्राजिष्कासयेत् ।
यद्वा,—वाससो विगतो विवासाः । विवाससं करोतीति णिचि कृते ‘णाविष्टव-
स्पातिपदिकस्य’ इति टिलोपे रूपम् । विवासयेत् नग्नीकुर्यादित्यर्थः । अथवा
वसत्यस्मिन्निति वासो गृहम् । विवासयेत् भग्नगृहं कुर्यादित्यर्थः । ब्राह्मणस्यापि
लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तो दण्ड एव । अभ्यासे स्वर्थ-
दण्डो विवासनं च । तत्रापि जातिद्रव्यानुबन्धाद्यपेक्षया विवासनं नग्नीकरणं गृह-
भङ्गो देशाजिर्वासनं चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽ-
नभ्यासे चाद्यविषये कौटसाद्ये ब्राह्मणस्यापि चत्रियादिवदर्थदण्ड एव ।
महाविषये तु देशाजिर्वासनमेव । अत्राप्यभ्यासे सर्वेषामेव मनूक्तं द्रष्टव्यम् ।
न च ब्राह्मणस्यार्थदण्डो नास्तीति मन्तव्यम् । अर्थदण्डाभावे शारीरदण्डे
च निषिद्धे स्वरूपेऽप्यपराधे नग्नीकरणगृहभङ्गाङ्ककरणविप्रवासनं दण्डाभावो
वा प्रसज्येत; ‘चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं
दण्डं धर्मं प्रकल्पयेत् ॥’ इति स्मरणाच्च । तथा (मनुः ८।३७८)—‘सहस्रं
ब्राह्मणो दण्डयो गुप्तं विप्रां बलाद् व्रजन्’ इति स्मरणात् । यत्तु शङ्खवचनम्—
‘त्रयाणां वर्णानां धनापहारवध-बन्धक्रिया विवासनाङ्ककरणं ब्राह्मणस्य’
इति, तत्र धनापहारः सर्वस्वापहारो विवक्षितः वधसाहचर्यात् ; ‘शारीर-
स्त्ववरोधादिर्जीवितान्तः प्रकीर्तितः । काकिण्यादिरस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्त-

१. न दण्डयाः । २. द्रष्टव्यम् । ३. भयादौ मध्यमो दण्डो । ४. स्त्रीव्य-
तिकराभि । ५. वर्तमानकाक । ६. साहस्यरूप ।

स्तथैव च ॥' (नारदः परि० ५४) इति वधसर्वस्वहरणयोः सहपाठात् ।
यदप्युक्तम्—'राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समप्रधनमक्षतम्' इति, तत्प्रथम-
कृतसाहसविषयं; न सर्वविषयम् । शारीरस्तु ब्राह्मणस्य न कदाचिद्वति ।
'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (मनुः ८।३८०) इति सामा-
न्येन मनुस्मरणात् । तथा मनुः (८।३८१)—'न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते
भुवि । तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥' इति ॥ ८१ ॥

भाषा—(धन लेकर) मिथ्या बोलने वाले कूट-साक्षियों में प्रत्येक
से उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दूना धन दण्ड के
रूप में लेवे और यदि वह कूटसाक्षी ब्राह्मण हो तो उसे अपने राज्य से
निर्वासित करे ॥ ८१ ॥

जानतः साक्ष्यान्ङ्गीकारे आह—

यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निहृते तत्तमोवृतः ।

स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च, यस्तु साक्षित्वमङ्गीकृत्यान्यैः साक्षिभिः सह साक्ष्यं श्रावितः
सज्जिगदनकाले तमोवृतो रागाद्याक्रान्तचित्तस्तत्साक्ष्यमन्येभ्यः साक्षिभ्यो
निहृते—'नाहमत्र साक्षी भवामि' इति, स विवादपराजये यो दण्डस्तं दण्ड-
मष्टगुणं दाप्यः । ब्राह्मणं पुनरष्टगुणद्रव्यदण्डदानासमर्थं विवासयेत् ।
विवासनं च नग्रीकरणगृहभङ्गदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । इत-
रेषां त्वष्टगुणद्रव्यदण्डदानासंभवे स्वजात्युचितकर्मकरणनिगडबन्धनकारागृहप्रवे-
शादि द्रष्टव्यम् । एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुसर्तव्यम् । यदा सर्वे साक्ष्यं निहृवते तदा
सर्वे समानदोषाः । यदा तु साक्ष्यमुक्त्वा पुनरन्यथा वदन्ति, तदानुबन्धाद्यपे-
क्षया दण्डयाः । यथाह कात्यायनः—'उदत्त्वाऽन्यथा ब्रुवाणाश्च दण्डयाः स्युर्वा-
क्छलान्विताः' इति । न चान्येनोक्ताः साक्षिणोऽन्येन रहस्यनुसर्तव्याः । यथाह
नारदः (१।१६५)—'न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः । भेदयेज्जैव चान्येन
'हीयेतैवं समाचरन् ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—जो साक्षी होना स्वीकार करके अन्य साक्षियों के साथ जपथ
दिलाये जाने पर साक्षी होने से विरत होता है उससे विवाद के हारने पर
जो दण्ड हो उसका आठ गुना धन दण्ड के रूप में ले और यदि वह ब्राह्मण
हो तो उसे राज्य से निर्वासित करे ॥ ८२ ॥

साक्षिणामवचनमसत्यवचनं च सर्वत्र प्रतिषिद्धं, तदपवादार्थमाह—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यं नृतं वदेत् ।

१. दण्डासंभवे । २. हीयेत्येवं । ३. वदेत् । साक्ष्यमनृतम् ।

यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन वधः संभाव्यते तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् सत्यं न वदेत् । अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते । यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनो वधोऽनृतवचने कस्यापि वधस्तत्रानृतवचनमभ्यनुज्ञायते । यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्य वधोऽसत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णीं-भावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते । अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदादसाक्षित्वं कर्तव्यम् । तस्याप्यसंभवे सत्यमेव वदितव्यम् । असत्यवचने वर्णिवधदोषोऽसत्यवचनदोषश्च । सत्यवचने तु वर्णिवधदोष एव, 'तत्र च यथा-शास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् ॥—

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्यनुज्ञानाप्रत्यवायाभाव इत्यत आह—

तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ ८३ ॥

तत्पावनाय अनृतवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्च-रुद्विजैरेकैकशो निर्वाप्यः कर्तव्यः । सरस्वती देवता अस्येति सारस्वतः । अनवस्त्रावितान्तरूपमपक्वौदने 'चरु'शब्दः प्रसिद्धः । इहायमभिसन्धिः—'साक्षि-णामनृतवचनमवचनं च यक्षिषिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम् । यत्तु—'नानृतं वदेत् । अत्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किंविषी' (मनुः ८।१३) इति सामान्येनानृत-वचनमवचनं च प्रतिषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम् । नच मन्तव्यं साक्षिणामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधातिक्रम-निमित्तकप्रत्यवायस्य तादृक्^१स्थ्यादभ्यनुज्ञावचनमनर्थकमिति । यैतः साक्ष्यनृत-वचनावचनयोर्भूयान्प्रत्यवायः साधारणानृतवचनावचनयोरक्षीयानित्यर्थवदभ्य-नुज्ञावचनम् । यद्यपि भूयसः प्रत्यवायस्य निवृत्त्या आनुषङ्गिकस्याक्षीयसः प्रत्य-वायस्य निवृत्तिरन्यत्र तथापीहाभ्यनुज्ञावचनाप्रायश्चित्तविधानाच्च भूयसो निवृ-त्त्याक्षीयानप्यानुषङ्गिकोऽपि प्रत्यवायो न निवर्तत इति गम्यते । एतदेवान्यत्र प्रश्नेषु वर्णिवधाशङ्कायां पान्थादीनामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानं वेदितव्यम् । नच तत्र प्रायश्चित्तमस्ति; प्रतिषेधान्तराभावात् । निमित्तान्तरेण कालान्तरेऽर्थतत्त्वा-वगमेऽपि साक्षिणामन्येषां च दण्डाभावोऽश्मादेव वचनाद्वगम्यत इति ॥ ८३ ॥

भाषा—जहाँ सत्य बोलने से चारों वर्णों में किसी वर्ण के व्यक्ति के वध की संभावना हो वहाँ साक्षी झूठ बोले । उस (असत्यभाषण) की शुद्धि के लिए द्विज सरस्वती देवी के लिये चरु बनाकर चढ़ावे ॥ ८३ ॥

इति साक्षिप्रकरणम् । १

१. भ्यनुज्ञा । २. नाभूतं । ३. निषिद्धं । ४. स्थ्यादवचनाभ्य-नुज्ञा । ५. साक्षिणामसत्यवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमयोः ।

अथ लेख्यप्रकरणम् ६

भुक्तिसाक्षिणौ निरूपितौ, सांप्रतं लेख्यं निरूप्यते । तत्र लेख्यं द्विविधम्—
शासनं जानपदं चेति । शासनं निरूपितम् । जानपदमभिधीयते । तच्च द्विवि-
धम्—स्वहस्तकृतमन्यकृतं चेति । तत्र स्वहस्तकृतमसाक्षिकं, अन्यकृतं ससाक्षि-
कम् अनयोश्च देशाचारानुसारेण प्रामाण्यम् । यथाह नारदः (१।१३५)—
'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्ताऽन्यकृतं तथा । असाक्षिमसाक्षिमच्च सिद्धिर्देश-
स्थितेस्तयोः ॥' इति । तत्रान्यकृतमाह—

यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरूपा तु परस्परम् ।

लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥

धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थो हिरण्यादिः परस्परं स्वरूपा 'इयता कालेनैतावदे-
यम्', 'इयती च प्रतिमासं वृद्धिः' इति निष्णातो व्यवस्थितः तस्मिन्नर्थे कालान्तरे
विप्रतिपत्तौ वस्तुतत्त्वनिर्णयार्थं लेख्यं साक्षिमदुक्तलक्षणसाक्षियुक्तं धनिकपूर्वकं
धनिकः पूर्वो यस्मिन्स्तद्धनिकपूर्वकम् । धनिकनामलेखनपूर्वकमिति यावत् ।
कार्यं कर्तव्यम् । उक्तलक्षणाः साक्षिणो वा कर्तव्याः; 'कर्ता तु यस्कृतं कार्यं
सिद्धयर्थं तस्य साक्षिणः । प्रवर्तन्ते विवादेषु स्वकृतं वाऽथ लेख्यकम् ॥' इति
स्मरणात् ॥ ८४ ॥

भाषा—जब धनी और अधमर्ण (ऋण) में अपनी इच्छा से परस्पर
कोई बात तय हुई हो (जैसे ऋण भुगतान का समय, वृद्धि की दर आदि)
तो साक्षियों के सामने उसे लिख देना चाहिए । लेख में धनिक (ऋणदाता)
का उल्लेख करें ॥ ८४ ॥

समामासतर्द्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः ।

सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम् ॥ ८५ ॥

अपि च, समा संवत्सरः, मासश्चैत्रादिः, तदर्धं पक्षः—शुक्लः कृष्णो वा,
अहस्तिथिः प्रतिपदादिः, नाम धनिकर्णिकयोः, जातिर्ब्राह्मणस्वादिः, स्वगोत्रं
वासिष्ठादिगोत्रम्, एतैः समादिभिश्चिह्नितम्, तथा सब्रह्मचारिकं बह्वृचादि-
शाखाप्रयुक्तं गुणनाम बह्वचः कठ इति । आत्मीयपितृनाम धनिकर्णिकपितृनाम,
'आदि'ग्रहणाद् द्रव्यजातिसंख्याचारादेर्ग्रहणम् । 'एतैश्च चिह्नितं लेख्यं कार्यम्'
इति गतेन संबन्धः ॥ ८५ ॥

१. मन्यहस्तकृतं ।
२. सगोत्रकैः ।
३. धनिकाऽधमर्णिकयोः ।
४. संख्यावारादेः ।

भाषा—वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र के साथ लिखना चाहिए । तथा बह्वृच आदि वेद की शाखा, और अपने पिता का नाम लिखना चाहिए ॥ ८५ ॥

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ।

मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम् ॥ ८६ ॥

किंच, धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थः स्वरूच्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे समाप्ते लिखिते ऋणी अधमर्णो नामात्मीयं स्वहस्तेनास्मिन्लेख्ये यदुपरि लेखितं तन्ममामुक-पुत्रस्य मतं अभिप्रेतमिति निवेशयेत् पत्रे विलिखेत् ॥ ८६ ॥

भाषा—ऋणदाता और ऋणी में तय हुई बात लिखने के उपरान्त ऋणी अपने हाथ से अपना नाम लिखे और यह भी लिखे कि अमुक के पुत्र मुझको ऊपर लिखी हुई बात स्वीकार है ॥ ८६ ॥

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् ।

अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः ॥ ८७ ॥

तथा, तस्मिन्लेख्ये ये साक्षिणो लिखितास्तेऽध्यात्मीयपितृनामलेखनपूर्वकं अस्मिन्नर्थेऽयममुको देवदत्तः साक्षी इति स्वहस्तेनैकैकशो लिखेयुः । ते च समाः संख्यातो गुणतश्च कर्तव्याः । यद्यधमर्णः साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदा-धमर्णोऽन्येन साक्षी च साक्ष्यन्तरेण सर्वसाक्षिसंनिधौ स्वमतं लेखयेत् । यथाह नारदः—‘अलिपिज्ञ ऋणी यः स्यात्स्वमतं तु स लेखयेत् । साक्षी वा साक्षिणा-ऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः ॥’ इति ॥ ८७ ॥

भाषा—साक्षी लोग भी अपने हाथ से अपने पिता के नाम के साथ अपना नाम लिखे कि इस समय मैं अमुक के यहाँ साक्षी के रूप में उपस्थित हूँ । साक्षियों की संख्या सम होनी चाहिए ॥ ८७ ॥

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ।

लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

अपि च, ततो लेखक उभयाभ्यां धनिकाधमर्णिकोभ्यां प्रार्थितेन मयाऽमुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतत्लेख्यं लिखितमिहान्ते लिखेत् ॥ ८८ ॥

भाषा—तब अन्त में लेखक लिखे कि धनिक और ऋणी दोनों की प्रार्थना से अमुक के पुत्र अमुक नाम के मैंने यह लेख लिखा ॥ ८८ ॥

सांप्रतं स्वकृतं लेख्यमाह—

विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ।

तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ ८९ ॥

यत्लेख्यं स्वहस्तेन लिखितमधमर्णेन तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः । बलोपधिकृतादृते बलेन बलात्कारेण उपधिना छललोभक्रोधभय-मदादिलक्षणेन यत्कृतं तस्माद्विना । नारदोऽप्याह (१।१३७)—‘मत्ताभिर्युक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत् । तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिकृतं तथा ॥’ इति तत्त्वैतत्स्वहस्तकृतं परहस्तकृतं परहस्तकृतं च यत्लेख्यं देशाचारानुसारेण संबन्धक व्यवहारेऽव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम् । यथाह नारदः (१।१३६)—‘देशाचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥’ इति । विधानं विधिः, आधेर्विधिराधिविधिराधीकरणं तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमित्यादि तद् व्यक्तं विस्पष्टं यस्मिन् स्तद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमाक्षरम् । अर्थानां क्रमः क्रमश्चाक्षराणि च क्रमाक्षराणि अविलुप्तानि क्रमाक्षराणि यस्मिन् स्तदविलुप्तक्रमाक्षरं । तदेवंभूतं लेख्यं प्रमाणम् । राजशासनवज्र साधुशब्दनियमोऽन्त्रेत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥

भाषा—जो लेख अपने हाथ से लिखा होता है वह साक्षियों के विना भी प्रमाण होता है; बशर्ते वह बलपूर्वक या छल या लोभ से न लिखा गया हो ॥ ८९ ॥

लेख्यप्रसङ्गेन लेख्यारूढमप्यृणं त्रिभिरेव देयमित्याह—

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ।

यथा साक्ष्यादिकृतमृणं त्रिभिरेव देयं, तथा लेख्यकृतमप्याहर्तृत्तु पुत्रतः पुत्रैस्त्रिभिरेव देयं, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते । ननु ‘पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्’ (व्य० ५०) इत्यविशेषेण ऋणमात्रं त्रिभिरेव देयमिति नियतमेव । बाढम् । अस्त्यैवोत्सर्गस्य पत्रारूढणं विषये स्मृत्यन्तरप्रभवामपवादशङ्कामपनेतुमिदं वचनमारब्धं । तथा हि—पत्रलक्षणमभिधाय कात्यायनेनाभिहितम्—‘एवं कालमतिक्रान्तं पितृणां दाप्यते ऋणम्’ इति । इत्थं पत्रारूढमृणमतिक्रान्तकालमपि पितृणां संबन्धि दाप्यते । अत्र ‘पितृणाम्’ इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तमिति

१. विना तु । २. तत्रैतत् । ३. कृतं च लेख्यं । ४. संबन्धव्यवहारे च । ५. तत्पुत्रपौत्रैः ।

वचनाच्चतुर्थादिर्दाप्य इति प्रतीयते । तथा हारीतेनापि—‘लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते
लाभं तस्य विनिर्दिशेत्’ इति । अत्रापि यस्य हस्ते लेख्य (पत्र) मस्ति तस्य-
र्णलाभः इति सामान्येन चतुर्थादिभ्योऽप्यणलाभोऽस्तीति प्रतीयते । अतश्चैत-
दाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्वचनमित्युक्तम् । वचनद्वयं च योगीश्वरवचनानुसारेण
योजनीयम् ॥—

अस्यापवादमाह—

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

सबन्धकेऽपि पत्रारूढं ऋणं त्रिभिरेव देयमिति नियमाद्व्यापाकरणानधि-
कारेणौध्याहरणेऽप्यनधिकारप्राप्ताविदमुच्यते । यावच्चतुर्थेन पञ्चमेन वा ऋणं
न दीयते तावदेवाधिर्भुज्यत इति वदता सबन्धकर्णापाकरणे चतुर्थादेरप्य-
धिकारो दर्शितः । नन्वेतदप्युक्तमेव ‘फलभोग्यो न नश्यति’ (व्य० ५८)
इति । सत्यम् । तदप्येतस्मिन्नसत्यपवादवचने पुरुषत्रयविषयमेव स्यादिति
सर्वमनवद्यम् ॥ ९० ॥

भाषा—लिखा गया ऋण तीन पीढ़ी तक ही देय होता है । और आधि
(बन्धक) का भोग उस समय तक किया जाता है जब तक कि ऋण न
लौटाया जाय ॥ ९० ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमेवानुसरति—

देशान्तरस्थे दुर्लभ्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ।

भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

व्यवहाराक्षमे पत्रे पत्रान्तरं कुर्यादिति विधीयते । व्यवहाराक्षमत्वं चात्यन्त-
व्यवहितदेशान्तरस्थे पत्रे दुर्लभ्ये दुष्टानि संदिह्यमानानि अवाचकानि वा
लेख्यानि लिप्यक्षराणि पदानि वा यस्मिन्तत् दुर्लभ्यं तस्मिन्दुर्लभ्ये, नष्टे
कालवशेन, उन्मृष्टे मणीदौर्बल्यादिना मृदितलिप्यक्षरे, हृते तस्करादिभिः, भिन्ने
विदलिते, दग्धे अग्निना प्रज्वलिते, छिन्ने द्विधाभूते सति पत्रं द्विर्भवति । एत-
च्चार्थिप्रत्यर्थिनोः परस्परानुमतौ सत्याम् । विमर्त्यां तु व्यवहारप्राप्तौ देशान्तर-
स्थपत्रानयनं याध्वापेक्षया कालो दातव्यः । दुर्गदेशावस्थिते नष्टे वा पत्रे
साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णयः कार्यः । यथाह नारदः (१।१४२)—‘लेख्ये देशा-

-
१. वचनाच्च चतुर्थादिः । २. पत्रारूढे ऋणे । ३. कारणापहरणे ।
४. दग्धे तथा छि । छिन्ने भिन्ने तथा दग्धे । ५. तस्करादिना । ६. द्वितीयपत्रं
भवति । ७. नाय दुर्गाध्वापेक्षया । ८. दुर्गदेशावस्थिते ।

न्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते हते । सतस्तत्कालकरणमप्रतो द्रष्टृदर्शनम् ॥' इति । सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्थस्यानयनाय कालकरणं कालावधिर्दातव्यः । असतः पुनरविद्यमानस्य पत्रस्य पूर्वं ये द्रष्टारः साक्षिणस्तैर्दर्शनं व्यवहारपरि-
समापनं कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिव्येन निर्णयः कार्यः—
'अलेख्यसाक्षिके दैवी व्यवहारे विनिर्दिशेत्' इति स्मरणात् । एतच्च ज्ञानपदं व्यवस्थापत्रम् । राजकीयमपि व्यवस्थापत्रमीदृशमेव भवति । इयांस्तु विशेषः—
'राजः स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा । राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमत् ॥' इति । तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेनोक्तम्—'यथोप-
न्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम् । सावधारणकं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥ प्राङ्-
विवाकादिहस्ताङ्कमुद्रितं राजमुद्रया । सिद्धेऽर्थेवादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम् ॥'
इति । तथा सभासदोऽपि मृतं मेऽमुकपुत्रस्येति स्वहस्तं दद्युः ।—'सभासदश्च ये
तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः । यथालेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युरेव ते ॥' इति
स्मरणात् । सभासदां च परस्पराभ्युपनिषत्पद्धतिरेकेण न व्यवहारो निःशक्यो
भवति । यथाह नारदः—'यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते । स
निःशक्यो विवादः स्यात्सशक्यस्त्वस्यथा भवेत् ॥' इति । एतच्चतुष्पाद्व्यवहार
एव ।—'साधयेत्साध्यमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत् । राजमुद्रान्वितं चैव
जयपत्रकमिष्यते ॥' (कात्यायनः ?) इति स्मरणात् । यत्र तु हीनता । यथा—
'अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः । आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः
स्मृतः ॥' (नारदः मा० २३३) इति । तत्र न जयपत्रकमस्ति, अपि तु
हीनपत्रकमेव । तच्च कालान्तरे दण्डप्राप्त्यर्थं, जयपत्रं तु प्राङ्गन्यायविधिसिद्धय-
र्थमिति विशेषः ॥ ९१ ॥

भाषा—लेख के कहीं दूसरे देश में छूट जाने पर, पढ़ने योग्य न रह
जाने पर खो जाने, मिटजाने, चुरा लिये जाने, गल जाने, जल जाने अथवा
फट जाने पर दूसरा लेख बनवाना चाहिए ॥ ९१ ॥

लेख्यसंदेहे निर्णयनिमित्तान्याह—

संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः ।

युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

'शुद्धमशुद्धं वा' इति संदिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिः स्वहस्तलिखितादिभिः
स्यात् । स्वहस्तेन लिखितं यल्लेख्यान्तरं तेन शुद्धिः । यदि सदृशान्यत्तराणि

-
१. दृष्टदर्शनं । २. व्यवहारे । ३. दत्तं मे । ४. मुद्राङ्कितं ।
५. व्यपलापी । ६. संदिग्धलेख्ये शुद्धिः ।

भवन्ति तदा शुद्धिः स्यादित्यर्थः । 'आदि' शब्दात् साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति । युक्त्या प्राप्त्युक्तिप्राप्तिः, देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सहसंबन्धः प्राप्तिः । 'अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽस्य पुरुषस्येदं द्रव्यं घटते' इति युक्तिप्राप्तिः, क्रिया तत्साध्युपन्यासः, चिह्नमसाधारणं श्रीकारादि, 'संबन्धोऽर्थप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणादिसंबन्धः, आगमोऽस्यैतावतोऽर्थस्य संभावितः प्राप्त्युपायः, एते एव हेतवः । एभिर्हेतुभिः संविग्धलेख्यस्य शुद्धिः स्यात्' इत्यन्वयः । यदा तु लेख्यसंदेहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिर्निर्णयः कार्यः । यथाह कात्यायनः—'दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत्' इति । साक्षिसंभवविषयमिदं वचनम् । साध्यसंभवविषयं तु हारीतवचनम्—'न सयैतत्कृतं पत्रं कृतमेतेन कारितम् । अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः ॥' इति ॥ ९२ ॥

भाषा—लेख्य के विषय में सन्देह हो तो अपने हाथ से लिखे हुए लेख्य से युक्तिप्राप्ति (इस देश में इस समय पर इस व्यक्ति पर इतना द्रव्य होता है), क्रिया (उसके साक्षी का उपन्यास), चिह्न (श्रीकार आदि) संबन्ध (धनी और ऋणी का पहले का पारस्परिक संबन्ध) और आगम (द्रव्यप्राप्ति का उपाय) हेतुओं से शुद्धि होती है ॥ ९२ ॥

एवं शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृत्स्नमेव ऋणं दातुमसमर्थस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम् ।

धनी चोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ ९३ ॥

यदाऽधमर्णिकः सकलमृणं दातुमसमर्थस्तदा शक्यनुसारेण दत्त्वा पूर्वकृतस्य लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् 'एतावन्मया दत्तम्' इति । उत्तमर्णो वा उपगतं प्राप्तं धनं तस्यैव लेख्यस्य पृष्ठे दद्यादभिलिखेत्—'एतावन्मया लब्धम्' इति । कथम् ? स्वहस्तपरिचिह्नितं स्वहस्तलिखितान्तरचिह्नितम् । यद्वा, उपगतं प्रवेशपत्रं स्वहस्तलिखितं चिह्नितमधमर्णोऽप्युत्तमर्णो दद्यात् ॥ ९३ ॥

भाषा—ऋणी धन देकर लेख्य के पीछे लिख दिया करे । धनी भी धन प्राप्त करके अपना हस्तान्तर करके उपगत (प्राप्तपत्र, रसीद) देवे ॥ ९३ ॥

ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्यं किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्त्वर्णं पाटयेत्लेख्यं शुद्धयै वाऽन्यत्तु कारयेत् ।

क्रमेण सकृदेव वा कृत्स्नमृणं दत्त्वा पूर्वकृतं लेख्यं पाटयेत् । यदा तु दुर्गदेशावस्थितं लेख्यं नष्टं वा तदा शुद्धयै अधमर्णत्वनिवृत्त्यर्थमन्यत्लेख्यं

कारयेदुत्तमर्णेनाधमर्णः । पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्णो विशुद्धिपन्नमधमर्णाय दद्याद्वि-
त्यर्थः ॥—

ससाक्षिके ऋणे कृत्स्ने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमन्त्र भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

यत्तु ससाक्षिकमृणं तत्पूर्वसाक्षिसमन्त्रमेव दद्यात् ॥ ९४ ॥

भाषा—ऋण देकर लेख को काट दे अथवा ऋणी की निवृत्ति के लिए धनी दूसरा लेख्य लिखावे । जो ऋण साक्षियों के सामने लिया गया हो उसे उन्हीं साक्षियों के सामने ही लौटाना चाहिए ॥ ९४ ॥

इति लेख्यप्रकरणम् ।

अथ दिव्यप्रकरणम् ७

लिखितसाक्षिभुक्तिलक्षणं त्रिविधं मानुषं प्रमाणमुक्तम् । अथावसरप्राप्तं दिव्यं
प्रमाणमभिधास्यन् 'तुलाग्न्याप' इत्यादिभिराद्यैः पञ्चभिः श्लोकैर्दिव्यमातृकां
कथयति । तत्र तावद्विद्यान्युपदिशति—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ।

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च दिव्यानीह धर्मशास्त्रे विशुद्धये संदिग्धस्यार्थस्य
संदेहनिवृत्तये दातव्यानीति ॥—

नन्वन्यत्रान्यान्यपि तण्डुलादीनि दिव्यानि सन्ति—'घटोऽग्निरुदकं चैव
विषं कोशस्तथैव च । तण्डुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमस्तप्तमाषकः ॥' इति पितामह-
स्मरणात् । अतः कथमेतावन्त्येवेत्यत आह—

महाभियोगेष्वेतानि

एतानि महाभियोगेष्वेव नान्यत्रेति नियम्यते न पुनरिमान्येव दिव्या-
नीति । महत्त्वावधि च वक्ष्यति । नन्वल्पाभियोगेऽपि कोश^१ इत्यते; 'कोश-
मल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् । सत्यम् । कोशस्य तुलादिषु पाठो न महा-
भियोगेष्वेवेति नियमार्थः, किंतु सावष्टम्भाभियोगेऽपि प्राप्त्यर्थः । अन्यथा
शङ्काभियोगे एव स्यात् ; 'अवष्टम्भाभियुक्तानां घटादीनि विनिर्दिशेत् । तण्डु-
लाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशयः ॥' इति स्मरणात् ॥

-
१. उत्तमर्ण अध । २. विभिरारभ्य । ३. संदिग्ध । ४. अन्यत्रान्या ।
५. योगे स्वेतानि । ६. कोशोऽस्त्येव ।

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्भेषु चाविशेषेण प्राप्तावपवादमाह—

—शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ ९५ ॥

एतानि तुलादीन्यभियोक्तरि शीर्षकस्थेऽभियोक्तस्य भवन्ति । शीर्षकं शिरो व्यवहारस्य चतुर्थः पादो जयपराजयलक्षणस्तेन च दण्डो लक्ष्यते, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः तत्प्रयुक्तदण्डभागित्यर्थः ॥ ९५ ॥

भाषा—तुला, अग्नि, जल, विष और कोश ये शुद्धि (संदेह-निवृत्ति) के लिये दिव्य कहे गये हैं । इनका प्रयोग महाभियोगों में होता है और वह भी प्रमुख अभियुक्त के लिए अभियोक्ता के शीर्षकस्थ होने पर किया जाता है (शीर्षकस्थ = जय-पराजय का भागी ।) ॥ ९५ ॥

‘ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्’ (व्य० ७) इति भावप्रतिज्ञावादिन एव क्रियेति व्यवस्था दर्शिता तदपवादाद्यर्थमाह—

रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियोक्तयोः परस्परसंप्रतिपत्त्याऽन्यतरोऽभियोक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यात् । इतरोऽभियोक्तोऽभियोक्ता वा शिरः शारीरमर्थदण्डं वा वर्तयेदङ्गीकुर्यात् । अयमभिसन्धिः—न मानुषप्रमाणवद्विष्यं प्रमाणं भावैकगोचरं अपि तु भावाभावावविशेषेण गोचरयति । अतश्च मिथ्योत्तरे प्रत्यवस्कन्दने प्राङ्म्याये वाऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्येच्छया दिव्यं भवतीति ॥—

अल्पाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्भयोरप्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्तं, तुलादीनि विषयान्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्भेष्वेवेति च नियमो दर्शितः । तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेत्यस्यापवादमाह—

विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिशङ्कायां ब्रह्महत्यादिपातकाभिशङ्कायां च शिरःस्थापिना विनापि तुलादीनि कुर्यात् महाचौर्याभिशङ्कायां च । यथाह—‘राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः । आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विना ॥’ इति । तण्डुलाः पुनरल्पचौर्यशङ्कायामेव ।—‘चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः’ इति पितामहवचनात् । तप्तमाषस्तु महाचौर्याभिशङ्कायामेव; ‘चौर्य-शङ्काभियुक्तानां तप्तमाषो विधीयते’ इति स्मरणात् । अन्ये पुनः शपथा अल्पा-र्थविषयाः, ‘सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च । देवतापितृपादांश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ स्पृशेच्छिरांसि पुत्राणां दाराणां सुहृदां तथा । अभियोगेषु

१. क्रियाव्यवस्था । २. भवतीति युक्तं । ३. राजद्रोहे ।

सर्वेषु^१ कोशपानमथापि वा ॥ इत्येते शपथाः प्रोक्ता मनुना स्वरूपकारणे ॥' इति नारदस्मरणात् ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णयस्य निर्णायकं यत्तद्विव्यमिति लोकप्रसिद्धया शपथानामपि दिव्यत्वं तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो धटादिभ्यो दिव्येभ्यो भेदत्वव्यपदेशो ब्राह्मणपरिव्राजक-वत् । कोशस्य तु शपथत्वेऽपि धटादिषु पाठो महाभियोगविषयत्वेनावष्टम्भाभियो-गविषयत्वेन च धटादिसाम्याज्जतु समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन । तण्डुलानां तस-मापस्य च समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेऽत्यल्पविषयत्वेन शङ्काविषयत्वेन च धटादि-वैलक्षण्यात्तेष्वपाठ इति संतोष्यम् । एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासंभवमृणा-दिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि । यत्तु—पितामहवचनम् 'स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्' इति, तदपि लिखितसामन्तादिसद्भावे दिव्यानि परिवर्जयेदिति व्याख्येयम् । ननु विवादान्तरेष्वपि प्रमाणान्तरसंभवे दिव्यानामनवकाश एव । सत्यम् । ऋणादिषु विवादेषु उक्तलक्षणसाध्युपन्यासेऽर्थिना कृतेऽपि प्रत्यर्थी यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्ब्यते तदा दिव्यमपि भवति । 'साक्षिणामाशयदोषसंभवादिव्यस्य च निर्दोषत्वेन वस्तुतत्त्वविष-यत्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य । यथाह नारदः—'तत्र सत्यं स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिणि । दैवसाध्ये पौरुषेयी न लेख्यं वा प्रयोजयेत् ॥' इति । स्थावरेषु च विवादेषु प्रत्यर्थिना दण्डावष्टम्भेन दिव्यावलम्बने कृतेऽपि सामन्तादिदृष्टप्रमाणसद्भावे न दिव्यं ग्राह्यमिति विरूपनिराकरणार्थं 'स्थावरेषु विवादेषु' इत्यादिपितामहवचनं नात्यन्तिकदिव्यनिराकरणार्थम्; लिखितसा-मन्ताद्यभावे स्थावरविवादेष्वनिर्णयप्रसङ्गात् ॥ ९६ ॥

भाषा—अथवा इच्छानुसार इन्हें अभियुक्त और अभियोक्ता दोनों में किसी के लिये किया जाता है; अथवा वे दोनों ही शारीरिक या आर्थिक दण्ड स्वीकार करें। राजद्रोह और ब्रह्महत्यादि पातक में विना जय-पराजय के विचार के इनका प्रयोग किया जाता है ॥ ९६ ॥

दिव्ये साधारणविधिः—

सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम् ।

कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ९७ ॥

किंच, पूर्वेषुरूपोषितमुदिते सूर्ये सचैलं स्नातं दिव्यग्राहिणमाहूय नृपस्य सभ्यानां च ब्राह्मणानां संनिधौ सर्वाणि दिव्यानि कारयेत्प्राड्विवाकः—'त्रिरात्रो-

१. साध्येषु । सर्वेषु कोशयान । २. नारदादि । ३. नन्तरनिमित्तनिर्ण-येभ्यो । ४. न्तरसद्भावे । ५. उक्तलक्षणे । ६. माशये दोष । ७. सचैलस्नान-माहूय ।

पोषिताय स्युरेकरात्रोपिताय वा । तित्यं दिव्यानि देयानि शुचये चार्द्रवाससे ॥
इत्युपवासविकल्पः पितामहेनोक्तो बलवद्वलवन्महाकार्याल्पकार्यविषयत्वेन
व्यवस्थितो द्रष्टव्यः । उपवासनियमश्च कारयितुः प्राङ्द्विवाकस्यापि—‘दिव्येषु
सर्वकार्याणि प्राङ्द्विवाकः समाचरेत् । अध्वरेषु यथाध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया ॥’
इति पितामहवचनात् ॥ अत्र यद्यपि सूर्योदय इत्यविशेषणोक्तं, तथापि शिष्ट-
समाचाराङ्गानुवासे दिव्यानि देयानि । तत्रापि—‘पूर्वाह्णेऽग्निपरीक्षा स्यात्पू-
र्वाह्णे च धृतो भवेत् । मध्याह्ने तु जलं देयं धर्मतत्त्वमभीप्सताम् ॥ दिवसस्य
तु पूर्वाह्णे कोशशुद्धिर्विधीयते । रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सुशीतलम् ॥’
इति पितामहोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः ॥ अनुक्तकालविशेषाणां तण्डुलतप्तमाष-
प्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रदानम् ; ‘पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानं परिकीर्ति-
तम्’ इति सामान्येन नारदस्मरणात् । अहनि त्रिधा विभक्ते पूर्वो
भागः पूर्वाह्णः, मध्यमो मध्याह्णः, उत्तरोऽपराह्णः । तथापरोऽपि काल-
विशेषो विधिप्रतिषेधमुखेन दर्शितः । त्रिधियुक्ततावत्—‘अग्नेः शिशि-
रहेमन्तौ वर्षाश्चैव प्रकीर्तिताः । शरद्ग्रीष्मेषु सलिलं हेमन्ते शिशिरे विषम् ॥
चैत्रो मार्गशिरश्चैव वैशाखश्च तथैव च । एते साधारणा मासा दिव्यानामविरो-
धिनः ॥ कोशस्तु सर्वदा देयस्तुला स्यात्सार्वकालिकी ॥’ इति । ‘कोश’ ग्रहणं
सर्वशपथानामुपलक्षणम् । तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सार्वकालिकत्वम् ।
प्रतिषेधमुखोऽपि—‘न शीते तोयशुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रावृषि
विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां तथा ॥ नापराह्णे न सन्ध्यायां न मध्याह्ने कदाचन ॥’
इति । ‘न शीते तोयशुद्धिः स्यात्’ इत्यत्र ‘शीत’ शब्देन हेमन्त-शिशिर-वर्षाणां
ग्रहणम् । ‘नोष्णकालेऽग्निशोधनम्’ इत्यत्र ‘उष्णकाल’ शब्देन ग्रीष्मशरदोः
विधानलब्धस्यापि पुनर्निषेध आदरार्थः ; प्रयोजनं तु वक्ष्यते ॥ ९७ ॥

भाषा—(शपथ लेने वाले को) पहले दिन उपवास कराके सूर्योदय के
समय वस्त्र सहित स्नान कराके बुलावे और राजा तथा ब्राह्मणों के समस्त सभी
दिव्य करावे ॥ ९७ ॥

अधिकारिव्यवस्थामाह—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ।

अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ ९८ ॥

स्त्री स्त्रीमात्रं जातिवयोवस्थाविशेषानादरेण, बाल आ षोडशाद्वर्षाज्जाति-

१. कोशसिद्धिः । २. अनुक्तवेला । ३. प्रथमो भागः । ४. उत्तमो ।
५. तोयसिद्धिः स्यात् ।

विशेषानादरेण, वृद्धोऽशीतिकावरः, अन्धो नेत्रविकलः, पङ्गुः पादविकलः, ब्राह्मणो जातिमात्रम्, रोगी व्याधितः, एतेषां शोधनार्थं तुलैवेति नियम्यते । अग्निः फालस्तप्तमाषश्च क्षत्रियस्य । जलमेव वैश्यस्य । 'वा' शब्दोऽवधारणे । विषस्य यवा उक्तपरिमाणाः सप्तैव शूद्रस्य शोधनार्थं भवन्ति । ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् 'शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा' इति विषविधानादग्निजलं वेति क्षत्रियवैश्यविषयमुक्तम् । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'ब्राह्मणस्य धटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः । वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत् ॥' इति । यत्तु श्यादीनां दिव्याभावस्मरणम्, 'सत्रतानां श्रुशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम् । स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्वपेक्षितः ॥' इति, तत् 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' (व्य० ९६) इति विकल्पनिवृत्त्यर्थम् । एतदुक्तं भवति—'अवष्टम्भाभियोगेषु श्यादीनामभियोकृत्वेष्वभियोज्यानामेव दिव्यं, एतेषामभियोज्यत्वेऽप्यभियोक्तृणामेव दिव्यम् । परस्पराभियोगे तु विद्वत् एव । तत्रापि तुलैवेति कार्यायनवचनेन नियम्यते । तथा महापातकादिशङ्काभियोगे श्यादीनां तुलैवेति एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु श्यादीनां सर्वदिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत् । न च सर्वकालं स्त्रीणां तुलैवेति, 'स्त्रीणां तु न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम् । धटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्त्वं विचारयेत् ॥' इति विषसलिलव्यतिरिक्तधटकोशाग्न्यादिभिः शुद्धिविधानात् । एवं बालादिष्वपि योजनीयम् । १ तथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः; 'सर्वेषामेव वर्णानां कोशशुद्धिर्विधीयते । सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विना ॥' इति पितामहस्मरणात् । तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमार्थमेवेदं वचनम् । कालान्तरे तु तत्कालविहितं सर्वेषाम् । तथाहि—वर्षास्वग्निरेव सर्वेषाम् । हेमन्तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्निविषयोर्विकल्पः । ब्राह्मणस्य त्वग्निरेव न कदाचिद्विषम् ; 'ब्राह्मणस्य विषं विना' इति प्रतिषेधात् । ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव । येषां तु व्याधिविशेषेणाग्न्यादिनिषेधः—'कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम् । पित्तश्लेष्मवतां निरयं विषं तु परिवर्जयेत् ॥' इति तेषामग्न्यादिकालेऽपि साधारणं तुलाद्येव^३ दिव्यं भवति ॥ तथा 'तोयमग्निर्विषं चैव दातव्यं बलिनां नृणाम्' इति^४ वचनाद् दुर्बलानामपि सर्वथा विधिप्रतिषेधादतुकालानतिक्रमेण जातिवयोर्वस्थाश्रितानि दिव्यानि देयानि ॥ ९८ ॥

१. सार्वकालं । २. यथा । ३. तुला दिव्यं । ४. दुर्बलानामिति सर्वदा । ५. प्रतिषेधादते उक्तकालानति । ६. वस्थानाश्रितानि ।

भाषा—स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्ध, पंगु, ब्राह्मण एवं रोगी के लिए तुला का दिव्य करे । अत्रिय के लिए अग्नि का, वैश्य के लिए जल का, और शूद्र के लिये सात यव के बराबर विष का दिव्य होता है ॥ ९८ ॥

‘महाभियोगेष्वेतानि’ (व्य० ९५) इत्युक्तं, तत्राभियोगस्य यदपेक्षं महत्त्वं तदिदानीमाह—

नासहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ।

पणसहस्रादवाक् फालं विषं तुलां वा न कारयेत् । मध्यवर्ति जलमपि । यथोक्तम्—‘तुलादीनि विष्णुस्तानि गुरुष्वर्थेषु दापयेत्’ इति । अत्र कोशस्याग्रहणं ‘कोशमल्पेऽपि दापयेत्’ इत्यल्पाभियोगेऽपि तस्य स्मरणात् । एतानि चत्वारि दिव्यानि पणसहस्रादूर्ध्वमेव भवन्ति नार्वागित्यर्थः ॥ नन्वर्वागप्यग्न्यादीनि पितामहेन दर्शितानि—‘सहस्रे तु धटं दद्यात्सहस्रार्धे तथायसम् । अर्धस्यार्धे तु सलिलं तस्यार्धे तु विषं स्मृतम् ॥’ इति सत्यम् ।—तत्रैतत् व्यवस्था यद्द्रव्यापहारे पातिस्यं भवति तद्विषयं पितामहवचनं, इतरद्रव्यविषयं योगीश्वरवचनमिति । एतच्च वचनद्वयं स्तेयसाहसविषयम्, अपहारे तु विशेषो दर्शितः कार्यायनेन—‘दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्पयेत् । स्तेयसाहसयोर्दिव्यं स्वल्पेऽप्यर्थे प्रदापयेत् ॥ सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् । हेमप्रमाणयुक्तं तु तदा दिव्यं नियोजयेत् ॥ ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां शतनाशे विषं स्मृतम् । अशीतेस्तु विनाशे वै दद्याच्चैव हुताशनम् ॥ षष्ठ्या नाशे जलं देयं चत्वारिंशति वै धटम् । विंशद्दशविनाशे तु कोशपानं विधीयते ॥ पञ्चाधिकस्य वा नाशे ततोऽर्धार्धस्य तण्डुलाः । ततोऽर्धार्धविनाशे हि स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकान् ॥ ततोऽर्धार्धविनाशे तु लौकिक्यश्च क्रियाः स्मृताः । एवं विचारयन् राजा धर्मार्थाभ्यां न ह्रीयते ॥ इति ‘ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानाम्’ इत्यत्र ‘सुवर्णशब्दः षोडश भाषाः सुवर्णः’ (भा० ३६३) इत्युक्तपरिमाणवचनः । ‘नाश’शब्दश्चाप्रापह्नववचनः । ‘नासहस्राद्धरेत्फालम्’ इत्यत्र तु तान्त्रिकपणसहस्रं बोद्धव्यम् ॥—

ननु नृपद्रोहे महापातके चैतानि दिव्यान्युक्तानि, तत्कथं ‘नासहस्राद्धरेत्फालम्’ (व्य० ९९) इत्यत्राह—

नृपार्थेष्वभिशापे च वहेयुः शुचयः सदा ॥ ९९ ॥

नृपद्रोहेषु महापातकाभियोगे च सदा द्रव्यसंख्यामनपेक्षयैवैतानि दिव्यानि वहेयुः कुर्युरपवासादिना शुचयः सन्तः । तथा देशविशेषोऽपि नारदे-

१. यदपेक्ष्य । २. तत्रैवं व्यवस्था । ३. दद्यादेव । ४. दद्यात् त्रिंशद्विनाशे तु । ५. अभिशापेषु । ६. नृपद्रोहेषु ।

नोक्तः—‘सभाराजकुलद्वारदेवायतनचत्वरे । निधेयो निश्चल पूज्यो धूपमात्म्या-
नुलेपनैः ॥’ इति । निधेयो धटः । व्यवस्था च कात्यायनेनोक्ता—‘इन्द्रस्थानेऽ-
भिज्ञस्तानां महापातकिनां नृणाम् । नृपद्रोहे प्रवृत्तानां राजद्वारे प्रयोजयेत् ॥
प्रतिलोम्यप्रसूतानां दिव्यं देयं चतुष्पथे । अतोऽन्येषु सभामध्ये दिव्यं देयं
विदुर्बुधाः । अस्पृश्याधमदासानां श्लेच्छानां पापकारिणाम् । प्रातिलो-
म्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि । तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु
निर्दिशेत् ॥’ इति ॥ ९९ ॥

भाषा—सहस्र पण से कम के दिवाद में तप्तफाल, विष या तुला का
(तथा जल का) दिव्य न करावे । राजद्रोह और महापातक के अभियोग में ये
दिव्य सदैव पवित्रता के साथ करावे ॥ ९९ ॥

इति दिव्यमातृका ॥

एवं सर्वदिव्योपयोगिनीं दिव्यमातृकामभिधायेदानीं धटादिदिव्यानां
प्रयोगमाह—

तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः ।
प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः ॥ १०० ॥
‘त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता ।
तत्सत्यं वद कल्याणि ! संशयान्मां विमोचय ॥ १०१ ॥
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय ।
शुद्धश्चेद् गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ १०२ ॥

तुलाया धारणं तोलनं ये विदन्ति सुवर्णकारप्रभृतयस्तैः प्रतिमानेन
मृदादिना समीभूतः समीकृतस्तुलामाश्रितोऽधिरूढोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा
दिव्यकारी रेखां कृत्वा येन संनिवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिष्यतलेऽ-
वस्थितस्तस्मिन्पाण्डुलेखेनाङ्कयित्वाऽवतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत् । प्रार्थयेतानेन
मन्त्रेण—हे तुले ! त्वं सत्यस्य स्थानमसि, पुरा आदिष्टौ देवैर्हिरण्यगर्भप्र-
भृतिभिर्विनिर्मितोत्पादिता । तत्तस्मात्सत्यं संदिग्धस्यार्थस्य स्वरूपं वद दर्शय;
कल्याणि शोभने ! अस्मात्संशयान्मां विमोचय । हे मातः ! यद्यहं पापकृ-
त्सत्यवाद्यस्मि ततो मां त्वमधो नय । अथ शुद्धः सत्यवाद्यस्मि ततो मामूर्ध्वं

१. ततोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधाः । २. श्लेच्छानामपकारिणां ।
३. दापयेत् । ४. रेखाः । ५. विशोधय । ६. पाण्डुलेख्येन ।

गमयेति ॥ प्राङ्बिवाकस्य तुलाभिमन्त्रणमन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः, अयं तु दिव्य-
कारिणः । जयपराजयलक्षणं तु मन्त्रलिङ्गादेवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् ॥
धटनिर्माणं पुनरारोहणाद्यर्थविद्धमेव पितामहनारदादिभिः स्पष्टीकृतम् । तद्यथा-
'क्षिप्वा तु यज्ञियं वृक्षं यूपवन्मन्त्रपूर्वकम् । प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या
मनीषिभिः ॥ मन्त्रः सौम्यो वानस्पत्यश्छेदने जप्य एव च । चतुरस्रा तुला
कार्या दृढा ऋज्वी तथैव च । कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत् ।
चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समौ ॥ अन्तरं तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्ध-
मेव वा । हस्तद्वयं निख्यं तु पादयोरुभयोरपि । तोरणे च तथा कार्यं पार्श्व-
योरुभयोरपि । धटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ॥ अवलम्बौ च कर्तव्यौ
तोरेणाभ्यामधोमुखौ । मृन्मयौ सूत्रसंबद्धौ धटमस्तकचुम्बिनौ ॥ प्राङ्मुखो
निश्चलः कार्यः शुचौ देशे धटस्तथा । शिष्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरपि ॥
प्राङ्मुखान्कल्पयेद्दर्भाक्षिक्ययोरुभयोरपि । पश्चिमे तोलयेत्कर्तृनन्यस्मिन्मृत्तिकां
शुभाम् ॥ पिटकं पूरयेत्तस्मिन्निष्टकाप्रावपांसुभिः । अत्र च मृत्तिक्षेष्टकाप्राव-
पांसूनां विकल्पः । 'परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः ॥ वणिजो हेम-
काराश्च कांस्यकारास्तथैव च । कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्ब्यसमो धटः ॥ उदकं
च प्रदातव्यं धटस्योपरि पण्डितैः । यस्मिन् प्लवते तोयं स विज्ञेयः समो
धटः ॥ तोलयित्वा नरं पूर्वं पश्चात्तमवतार्य तु । धटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्व-
जशोभितम् ॥ तत आवाहयेद् देवान्विधिनानेन मन्त्रवित् । वादित्रतूर्यघोषैश्च
गन्धमास्थानुलेपनैः ॥ १ प्राङ्मुखः प्राञ्जलिभूत्वा प्राङ्बिवाकस्ततो वदेत् । एहोहि
भगवन्धर्मं अस्मिन्दिव्ये समाविश ॥ सहितो लोकपालैश्च वस्वादित्यमरुद्गणैः ।
आवाह्य तु धटे धर्मं पश्चादङ्गानि विन्यसेत् ॥ इन्द्रं पूर्वं तु संस्थाप्य प्रेतेशं
दक्षिणे तथा । वरुणं पश्चिमे भागे कुबेरं चोत्तरे तथा ॥ अग्न्यादिलोकपालांश्च
कोणभागेषु विन्यसेत् । इन्द्रः पीतो यमः श्यामो वरुणः स्फटिकप्रभः ॥ कुबेरस्तु
सुवर्णभो वह्निश्चापि सुवर्णभः । तथैव निर्हतिः श्यामो वायुर्धूम्रः प्रशस्यते ॥
ईशानस्तु भवेद्रक्त एवं ध्यायेत्क्रमादिमान् । इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे वसूना-
राधयेद् बुधः ॥ धरो भ्रुवस्तथा सोम आपश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभा-
सश्च वासवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ देवेशेशानयोर्मध्य १ आदित्यानां तथा गणम् ॥
धाताऽर्यया च मित्रश्च वरुणोऽशुभगस्तथा ॥ इन्द्रो विवस्वान्पूषा च पर्ज-
न्यो दशमः स्मृतः । ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ॥ इत्येते

१. मन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः । २. प्रान्तरं । ३. हेमकारश्च कांस्यकारः ।
४. प्राञ्जलिः प्राङ्मुखो भूत्वा । ५. भ्रुवोऽध्वरस्तथा सोमः । धरो भ्रुवश्च सोमश्च ।
६. आदित्यानां तथायनं । आदित्याराधनं तथा । ७. वरुणोऽशो भग ।

द्वादशादित्या नामभिः परिकीर्तिताः । 'अग्नेः पश्चिमभागे तु रुद्राणाम-
 यनं विदुः ॥ वीरभद्रश्च शम्भुश्च गिरिशश्च महायशः । अजैकपादहिर्बुध्न्यः
 पिनाकी चापराजितः ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विशांपतिः । स्थाणुर्भवश्च
 भगवान् रुद्रास्त्वेकादश स्मृताः ॥ प्रेतेशरक्षोमध्ये तु मातृस्थानं प्रकल्पयेत् ।
 ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥ वाराही चैव माहेन्द्री
 चामुण्डा गणसंयुता । निर्ऋतेरुत्तरे भागे गणेशायतनं विदुः ॥ वरुणस्यो-
 त्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । पवनः स्पर्शनो वायुरनिलो मारुतस्तथा ॥
 प्राणः प्राणेशजीवी च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिताः । धृत्स्योत्तरभागे तु दुर्गामावाहयेद्
 बुधः ॥ एतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजनं विदुः । भूषावसानं धर्माय दत्त्वा
 चार्घ्यादिकं क्रमात् ॥ अर्घ्यादिपश्चादङ्गानां भूषान्तमुपकल्पयेत् । गन्धादिकां
 नैवेद्यान्तां परिचर्यां प्रकल्पयेत् ॥' इति । अत्र च तुलां पताकाध्वजालंकृतां
 विधाय तस्यां 'एहोही'ति मन्त्रेण धर्ममावाह्य 'धर्मायार्घ्यं कल्पयामि नमः'
 इत्यादिना प्रयोगेणार्घ्यपाद्याचमनीयमधुपर्काचमनीयस्नानवस्त्रयज्ञोपवीताचमनी-
 यमुकुटकटादिभूषान्तं दत्त्वा इन्द्रादीनां दुर्गान्तानां प्रणवाद्यैः स्वनामभिश्च-
 तुर्थ्यन्तैर्नमोन्तैरर्घ्यादिभूषान्तं पदार्थानुसमयेन दत्त्वा धर्माय गन्धपुष्पधूपदीप-
 नैवेद्यादि दत्त्वा इन्द्रादीनां गन्धादीनि पूर्ववद्दद्यात् । गन्धपुष्पाणि च धृत्पूजायां
 रक्तानि कार्याणि । यथाह नारदः—'रक्तैर्गन्धैश्च मातृयैश्च दध्यपूपाक्षतादिभिः ।
 अर्चयेत्तु धृत् पूर्वं ततः शिष्टांस्तु पूजयेत् ॥' इति । इन्द्रादीनां तु विशेषानभि-
 धानाद्यथालाभं रक्तैरन्यैर्वा पूजनमिति पूजाक्रमः ॥ एतच्च सर्वं प्राद्विवाकः
 कुर्यात् । यथोक्तम्—'प्राद्विवाकस्ततो विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः । श्रुतवृत्तोप-
 संपन्नः शान्तचित्तो विमत्सरः ॥ सत्यसंधः शुचिर्दक्षः सर्वप्राणिहिते रतः । उपो-
 पितः शुद्धवासाः कृतदन्तानुधावनः ॥ सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥'
 तथा । ऋत्विग्भिश्चतुर्भिश्चतसृषु दिक्षु लौकिकाम्नो होमः कार्यः । यथाह—
 'चतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः । आज्येन हविषा चैव समिद्धिर्होम-
 साधनैः ॥ सावित्र्या प्रणवेनाथ स्वाहान्तेनैव होमयेत् ॥' प्रणवादिकां गायत्री-
 मुच्चार्य पुनः स्वाहाकारान्तं प्रणवमुच्चार्य समिदाज्यचरुप्रत्येकमष्टोत्तरशतं
 जुहुयादित्यर्थः । एवं हवनान्तां देवपूजां विधायानन्तरमभियुक्तमर्थं वचयमाण-
 मन्त्रसहितं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं शोध्य शिरोगतं कुर्यात् । यथाह—'यदर्थम-
 भियुक्तः स्याद्विखित्वा तं तु पत्रके । मन्त्रेणानेन सहितं तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥'
 मन्त्रश्चायम्—'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च

१. अग्नेः पश्चिमदिग्भागे रुद्राणां स्थापनं विदुः । २. निवेद्यान्तां परि-
 चर्या । ३. न चार्थमभियुक्तः स्यात् ।

रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । एतच्च धर्मावा-
हनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिव्यसाधारणम् । यथोक्तम्—
'हमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव
परिकल्पयेत् ॥' इति । अनन्तरं प्राड्विवाको घटमामन्त्रयेत्; 'घटमामन्त्रयेच्चैव
विधिनानेन शास्त्रवित्' इति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः—'त्वं घट ! ब्रह्मणा
सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् ॥ घृतो
भावयसे यस्माद्धटस्तेनाभिधीयते । त्वं वेत्सि सर्वजन्तूनां पापानि सुकृतानि
च ॥ त्वमेव देव ! जानीषे न विदुर्यानि मानवाः । व्यवहाराभिज्ञस्तोऽयं
मानुषः शुद्धिमिच्छति ॥ तदेनं संशयादस्माद्धर्मतत्त्वात्तुमर्हसि ॥' इति । शोधयस्तु
'त्वं तुले' इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुलामामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राड्विवाकः
शिरोगतपत्रकं शोधय यथास्थानं निवेश्य च घटमारोपयति; 'पुनरारोपयेत्त-
स्मिन्निद्धरोवस्थितपत्रकम्' इति स्मरणात् । आरोपितं च विनाडीपञ्चकं यावत्त-
थैवावस्थापयेत् । तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात्; 'ज्योतिर्विद्
ब्राह्मणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाडयः पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकाल-
कोविदैः ॥' इति स्मरणात् । दशगुर्वक्षरोच्चारकालः प्राणः । षट्प्राणा
विनाडी । उक्तं च—'दशगुरुवर्णः प्राणः षट् प्राणाः स्याद्दिनादिका तासाम् ।
षष्ट्या घटी घटीनां षष्ट्याहः स्वामिभिर्विनैर्मासः ॥' इति । तस्मिन् काले
शुद्धयशुद्धिपरीक्षणार्थं शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः । ते च शुद्धयशुद्धी
कथयन्ति । यथोक्तं पितामहेन—'साक्षिणो ब्राह्मणाः श्रेष्ठा यथादृष्टार्थवादिनः ।
ज्ञानिनः शुचयोऽलुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु ॥ शंसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठैः
शुद्धयशुद्धी नृपे तदा ॥' इति । शुद्धयशुद्धिनिर्णयकारणं चोक्तम् (नारदः
१।२८३)—'तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः । समो वा हीयमानो
वा न स शुद्धो भवेन्नरः ॥' इति । यत्तु पितामहवचनम्—'अल्पदोषः समो
ज्ञेयो बहुदोषस्तु हीयते' इति, तत्र यद्यप्यभियुक्तस्यार्थस्याल्पत्वं बहुत्वं च न
विष्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनाल्पत्वमसकृन्मतिपूर्वत्वेन
च महत्त्वमिति दण्डप्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्त्वमवधार्यते । तदा चानुपलक्ष्यमाण-
दृष्टकारण एव कक्षादीनां छेदो भङ्गो वा भवति तदाप्यशुद्धिरेव—(नारदः
१।२८४) 'कष्टच्छेदे तुलाभङ्गे घटककटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च तथैवा-
शुद्धिमादिशेत् ॥' इति स्मरणात् । कष्टं शिक्यतलम् । कर्कटौ तुलान्तयोः

१. सर्वभूतानां । २. त्वमेव सर्वं । ३. यथानिवेशं च । ४. षष्ट्या-
होरात्र उक्तम् । ५. शोधयशुद्धि । ६. सर्वे । ७. वेशुद्धो ।
८. छेदे च भङ्गे च ।

शिक्याधारावीपद्मकावायसक्रीलकौ कर्कटशृङ्गसंनिभौ । भक्षः पादस्तम्भयो-
रुपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः । यदा तु दृश्यमानकारणक एषां भङ्गस्तदा पुनरा-
रोपयेत् ; 'शिक्यादिच्छेदभङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरम्' इति स्मरणात् । ततश्च—
'ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दिक्षिणाभिश्च तोषयेत् । एवं कारयिता राजा भुक्त्वा
भोगान्मनोरमान् ॥ महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' यदा तूक्तलक्षणं
धटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा वायसाद्युपघातनिरासार्थं कपाटादिसहितां
शालां कुर्यात् ; 'विशालामुज्जतां' शुभ्रां धटशालां तु कारयेत् । यत्रस्था नोप-
हन्येत श्वभिश्चण्डालवायसैः ॥ तत्रैव लोकपालादीन्सर्वान्दिक्षु निवेशयेत् ।
त्रिसन्ध्यं पूजयेदतान्गन्धमाद्यानुलेपनैः ॥ कपाटबीजसंयुक्तां परिचारकर-
चिताम् । मृत्पानीयामिसंयुक्तामशून्यां कारयेन्नृपः ॥' इति स्मरणात् ।
बीजानि यवव्रीह्यादीनि ॥ १००-१०२ ॥

भाषा—तौलने में जो निपुण (सुवर्णकार आदि) हों, उनसे अभियुक्त
को तुला पर चढ़ा कर तौलावे और उसके बराबर जो मिट्टी आदि वस्तु हो
उसके बराबर रेखा बनाकर उसे तुला से उतारे । इसके बाद दिव्य करने वाला
तुला की इस प्रकार प्रार्थना करे—हे तुला ! तुम सत्य के स्थान हो । आदि-
काल में देवताओं ने तुम्हारी सृष्टि की है । हे कल्याणी ! तुम सत्य को प्रकट
करो और मुझे इस संशय से विमुक्त करो । हे माता, यदि मैं पापी हूँ तो
मुझे नीचे ले जाओ और यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊपर उठाओ ॥ १००-१०२ ॥

इति धटविधिः ॥

इदानीं अकमप्राप्तमग्निदिव्यमाह—

करौ विमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत् ।

सप्तोऽश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत् ॥ १०३ ॥

दिव्यमातृकोक्तसाधारणधर्मेषु सत्सु तुलाविधानोक्तधर्मावाहनादिशिरःपत्रा-
रोपणान्ते च विध्यन्ते सत्ययमग्निविधौ विशेषः । विमृदितव्रीहेर्विमृदिता
विचर्षिता व्रीहयः ४ ॥ १०३ ॥ येनासौ विमृदितव्रीहस्तस्य करौ लक्षयित्वा
तिलकालकव्रणक्रिणादिस्थानेष्वलक्तकरसादिनाऽङ्कयित्वा । यथाह नारदः
(१।३०।)—'हस्तेक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धंसपदानि तु' इति । अनन्तरं सप्ताश्वत्थस्य
पत्राणि हस्तयोरञ्जलीकृतयोन्यसेत्—'पत्रैरञ्जलिमापूर्य आश्वत्थैः सप्तभिः समैः'

१. भङ्गे तु । २. मुच्छितां । ३. अग्निविधिं । अग्निविधानं ।

४. तव्रीही लक्ष । ५. सप्त चाश्वत्थपत्राणि । ६. तावत्सूत्राणि वेष्टयेत् ।

७. पत्राणि ।

इति स्मरणात् । तानि च 'हस्तसहितानि सूत्रेण तावद्वेष्टयेत् । यावन्त्यश्वत्थप-
र्णानि सप्तकृत्वो वेष्टयेदित्यर्थः । सूत्राणि च सप्त शुक्लानि भवन्ति—वेष्टयित
सितैर्हस्तौ सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः' इति नारदवचनात् । तथा सप्त शमीपत्राणि
सप्तैव दूर्वापत्राणि चाक्षतांश्च दध्यक्तानक्षतांश्चाश्वत्थपत्राणामुपरि विन्यसेत् ;
'सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् । दूर्वायाः सप्त पत्राणि दध्यक्तांश्चाक्ष-
तान्यसेत् ॥' इति स्मरणात् । तथा कुसुमानि च विन्यसेत् ; 'सप्त पिप्पलप-
त्राणि अक्षतान्मुमनो दधि । हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणावेष्टनं तथा ॥' इति पिता-
महवचनात् । मुमनसः पुष्पाणि । यदपि स्मरणम्—'अयस्तप्तं तु पाणिभ्याम-
र्कपत्रैस्तु सप्तभिः । अन्तर्हितं हरन् शुद्धस्त्वदग्धः सप्तमे पदे ॥' इति, तदप्यश्व-
त्थपत्राभावेऽर्कपत्रत्रिपयं वेदितव्यम्; अश्वत्थपत्राणां पितामहप्रशंसावचनेन मुख्य-
त्वावगमात्—'पिप्पलाज्जायते वह्निः पिप्पलां वृक्षराट् स्मृतः । अतस्तस्य तु
पत्राणि हस्तयोर्विन्यसेद् बुधः ॥' इति १०३ ॥

भाषा—अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवा कर
हथेलियों पर बने हुए त्रणादि के स्थानों पर अलक्तक रस से चिह्न बनवाकर
उसके ऊपर पीपल के सात पत्ते रखे और उन्हें (सात श्वेत) धागों से लपेट
देवे ॥ १०३ ॥

कर्तुरग्न्यभिमन्त्रणमाह—

त्वमग्ने ! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक ! ।

साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे ! मम ॥ १०४ ॥

हे अग्ने ! त्वं सर्वभूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोन्निजानामन्तः शरी-
राभ्यन्तरे चरसि उपयुक्ताक्षपानादीनां पावकत्वेन वर्तसे । पावक शुद्धिहेतो !
कवे क्रान्तदर्शिन् । साक्षिवत् पुण्यपापेभ्यः सत्यं ब्रूहि । 'पुण्यपापेभ्यः' इति
तद्यबलोपे पञ्चमी । पुण्यपापान्यवेचय सत्यं ब्रूहि दर्शयेत्यर्थः । अयःपिण्डे त्रिभि-
स्तापैः संतप्ते संदंशेन पुरत आनीते कर्ता पश्चिममण्डले प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अनेन
मन्त्रेणार्गिं अभिमन्त्रयेत् । यथाह नारदः (१।२८८-८९)—'अग्निवर्णमयःपिण्डं
सस्फुल्लिङ्गं सुरजितम् । तापे तृतीये संताप्य ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम् ॥' इति ।
अस्यार्थः—लोहशुद्धयर्थं सुतप्तं लोहपिण्डमुदके निक्षिप्य पुनः संताप्योदके निक्षि-
प्य तृतीये तापे संताप्य संदंशेन गृहीत्वा पुरत आनीते सत्यपुरस्कृतं सत्यशब्द-
युक्तं 'त्वमग्ने सर्वभूतानाम्' इत्यादिमन्त्रं कर्ता ब्रूयादिति ॥ प्राङ्मुखस्तु मण्ड-
लभूमागादक्षिणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय 'अग्नये पावकाय स्वाहा' इत्या-

१. स्वहस्तसहितानि । २. अन्तर्हितं रहः शुद्धमदग्धः । अन्तर्हितैर्हरन् ।

ज्वेनाष्टोत्तरशतवारं जुहुयात् ; 'शान्त्यर्थं जुहुयादग्नौ घृतमष्टोत्तरं शतम्' इति स्मरणात् । हुत्वा च तस्मिन्मृगनावयःपिण्डं प्रक्षिप्य तस्मिन्स्ताप्यमाने धर्मावाहनादिहवनान्तं पूर्वोक्तं विधिं विधाय तृतीये तापे वर्तमाने अयःपिण्डस्यमग्निमेभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रयेत्—'त्वमग्ने ! वेदाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे । त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम् ॥ जठरस्थो हि भूतानां ततो वेसि शुभाशुभम् । पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक ! उच्यसे । पापेषु दर्शयात्मानमर्चिष्मान्भव पावक ! । अथवा शुद्धभावेषु शीतो भव हुताशन ! ॥ त्वमग्ने ! सर्वदेवानामन्तश्चरसि साक्षिवत् । त्वमेव देव ! जानीषे न विदुर्यानि 'मानुषाः ॥ व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति । तदेनं संशयादस्माद्धर्मतत्त्वात्तुमर्हसि ॥' इति ॥ १०४ ॥

भाषा—(इसके बाद दिव्य करने वाला प्रार्थना करे)—हे अग्नि ! तुम सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो । हे पवित्र करने वाले, क्रान्तदर्शी कवि पुण्य और पाप के साक्षी होकर सत्य को प्रकाशित करो ॥ १०४ ॥

तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम् ।

अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥ १०५ ॥

अपि च, तस्य कर्तुरित्युक्तवतः 'त्वमग्ने सर्वभूतानामि'त्यादिभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रणं कृतवतो लौहं लोहविकारं पिण्डं पञ्चाशत्पलिकं पञ्चाशत्पलसंमितं सममक्षरहितम् । सर्वतश्च समं वृत्तं श्लक्ष्णं तथाऽष्टाङ्गुलमायामम् ; 'अक्षहीनं समं कृत्वा अष्टाङ्गुलमयोमयम् । पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं समम् ॥ इति पितामहस्मरणात् । अग्निवर्णमग्निसदृशमुभयोर्हस्तयोरश्वत्थपत्रदधिदूर्वाद्यन्तरितयोन्यसेज्जिपेत्प्रादिववाकः ॥ १०५ ॥

भाषा—उसके ऐसा कहने के बाद उसके दोनों हाथों पर पचास पल तौल का लोहे का पिण्ड अग्नि के समान लाल करके रखे ॥ १०५ ॥

ततः किं कुर्यादित्यत आह—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्ब्रजेत् ।

स पुरुषस्तं तसलोहपिण्डं अञ्जलिना गृहीत्वा सप्त मण्डलानि शनैर्ब्रजेत् । एवकारेण मण्डलेष्वेव पद्व्यासं मण्डलानतिक्रमणं च दर्शयति । यथाह पितामहः—'न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाक्स्थापयेत्पदम्' इति ॥—

सप्तैव मण्डलानि शनैर्ब्रजेदित्युक्तं, तत्रैकैकं मण्डलं किंप्रमाणकं मण्डलयोरन्तरं च कियत्प्रमाणकमित्यत आह—

^१ षोडशाङ्गुलकं क्षेत्रं मण्डलं तावदन्तरम् ॥ १०६ ॥

षोडश अङ्गुलानि यस्य तत् षोडशाङ्गुलकम् । षोडशाङ्गुलप्रमाणं मण्डलं बोद्धव्यम् । मण्डलयोरन्तरं मध्यं च तावदेव षोडशाङ्गुलकमेव ।—सप्त मण्डलानि व्रजेदिति वदता प्रथममवस्थानमण्डलमेकमुक्तम् । अत आष्टमण्डलानि षोडशाङ्गुलकानि मण्डलानामन्तराणि मध्यानीत्यर्थः । मण्डलान्तराणि तु सप्त तावत्प्रमाणानि ॥ एतदेव नारदेन परिसंख्यायोक्तम् (१।२७५, ७६)—‘द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् । चत्वारिंशत्समधिकं भूमेरङ्गुलमानतः ॥’ इति । अयमर्थः—अवस्थानमण्डलाः षोडशाङ्गुलान्मण्डलान्तरमन्यन्मण्डलम् । द्वितीयाद्येकमेकं द्वात्रिंशदङ्गुलं सान्तरालं, तदेवमवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलम् । गन्तव्यानि च सप्त मण्डलानि सान्तरालानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि । एवमष्टाभिर्मण्डलैश्चत्वारिंशदधिकं शतद्वयं भूमेरङ्गुलमानतोऽङ्गुलमानमिति सार्वविभक्तिकस्तसिः । अस्मिन्स्तु पक्षेऽवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलं विधाय द्वात्रिंशदङ्गुलप्रमाणानां सप्तानां सान्तरालमण्डलभूभागानामेकमेकं भूभागं द्विधा विभज्यान्तरालभूभागान्षोडशाङ्गुलप्रमाणान्विहाय मण्डलभूभागेषु द्विषोडशाङ्गुलप्रमाणेषु गन्तृपदप्रमाणानि सप्त मण्डलानि कार्याणि । यथा तेनैवोक्तम् (नारदः १।२९९)—‘मण्डलस्य प्रमाणं तु कुर्यात्तत्पदसमितम्’ इति । यत्तु पितामहेनोक्तम्—‘कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्ताच्चवमं तथा । आग्नेयं मण्डलं चाद्यं द्वितीयं वारुणं स्मृतम् ॥ तृतीयं वायुदैवस्थं चतुर्थं यमदैवतम् । पञ्चमं विन्द्रदैवस्थं षष्ठं कौबेरमुच्यते । सप्तमं सोमदैवस्थं सावित्रं स्वष्टमं तथा । नवमं सर्वदैवस्थमिति दिव्यविदो विदुः ॥ द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥ षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना । कर्तुः पदसमं कार्यं मण्डलं तु प्रमाणतः ॥ मण्डले मण्डले देयाः कुशाः शास्त्रप्रचोदिताः ॥’ इति ।—तत्र नवमं सर्वदैवस्थमपरिमिताङ्गुलप्रमाणं मण्डलं विहायाष्टाभिर्मण्डलैरष्टाभिश्चान्तरालैः प्रत्येकं षोडशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं संपद्यते । तत्रापि गन्तव्यानि सप्तैव मण्डलानि । यतः प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति न विरुद्ध्यते । अङ्गुलप्रमाणं च—‘तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्धा वा ब्रीहयस्त्रयः । प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुला ॥ हस्तो वितस्तिर्द्वितयं दण्डो हस्तचतुष्टयम् । तत्सहस्रद्वयं क्रोशो योजनं तच्चतुष्टयम् ॥’ इति बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

भाषा—वह उस तप्त लौहपिण्ड को लेकर धीरे-धीरे सात मण्डल चले ।

१. परिसंख्ययोक्तम् ।
२. द्वादशाङ्गुलप्रमाणानां ।
३. तच्चवमं ।
४. द्वादशाङ्गुलः ।

एक मण्डल सोलह अङ्गुल का होता है और दो मण्डलों के बीच इतना ही (सोलह अङ्गुल) अन्तर रहता है ॥ १०६ ॥

सप्त मण्डलानि गत्वा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ।

अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे मण्डलेऽग्निस्तप्तमयःपिण्डं त्यक्त्वा व्रीहीन् कराभ्यां मर्दयित्वाऽदग्धहस्तश्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् । दग्धहस्तश्चेदशुद्ध इत्यर्थसिद्धम् । यस्तु संत्रासात्प्रस्खलन्हस्ताभ्यामन्यत्र दह्यते तथाप्यशुद्धो न भवति । यथाह कात्यायनः—‘प्रस्खलन्नभिश्चस्तश्चेत्स्थानादन्यत्र दह्यते । अदग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूयोऽपि दापयेत् ॥’ इति ॥—

अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥

यदा गच्छतोऽन्तराष्टममण्डलादवागेव पिण्डः पतति दग्धादग्धत्वे वा संशयस्तदा पुनर्हरेत् इत्यर्थप्राप्त्युक्तम् । तत्र चायमनुष्ठानक्रमः—पूर्वेद्युर्भूशुद्धिं विधायापरेद्युर्मण्डलानि यथाशास्त्रं निर्माय मण्डलाधिदेवताश्च मन्त्रैस्तत्र तत्र संपूज्याग्निमुपसमाधाय शान्तिहोमं निर्वर्त्याग्नावयःपिण्डं निधाय धर्मावाहनादिसर्वदेवतापूजां हवनान्तां निर्वर्त्य उपोषितस्य स्नातस्यार्द्रवाससः पश्चिमे मण्डले तिष्ठतो व्रीहिमर्दनादिकरसंस्कारं विधाय प्रतिज्ञापत्रं समन्त्रकं कर्तुः शिरसि बद्ध्वा प्राङ्निवाकस्तृतीये तापेऽग्निमभिमन्त्र्य तप्तमयःपिण्डं संदंशेन गृहीत्वा कर्त्रभिमन्त्रितं तस्याञ्जलौ निदध्यात् । सोऽपि मण्डलानि सप्त गत्वा नवमे मण्डले प्रक्षिप्यादग्धः शुद्धो भवतीति ॥ १०७ ॥

भाषा—(उसके बाद) अग्नि को गिराकर फिर व्रीहि हाथों से मले । यदि जला नहीं रहता है तो शुद्ध होता है । यदि जलने के सन्देह से लौह-पिण्ड बीच ही में गिर जाय तो उसे पुनः उठाकर ले चले ॥ १०७ ॥

इत्यग्निविधिः ॥

संप्रत्युदकविधिमाह—

सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिर्शौष्य कम् ।

नाभिदध्नुोदकस्थस्य गृहीत्वोरु जलं विशेत् ॥ १०८ ॥

हे वरुण ! ‘सत्येन मामभिरक्ष त्वम्’ इत्यनेन मन्त्रेण कमुदकमभिशाप्याभिमन्त्र्य नाभिदध्नुोदकस्थस्य नाभिप्रमाणोदकस्थितस्य पुरुषस्योरु गृहीत्वा

१. कराभ्यां व्रीहीन् । २. भूतशुद्धि । ३. पश्चिममण्डले । ४. संदंश दंश । ५. अभिशय । अभिशाय ।

शोधयो जलं प्रविशेत् जले निमज्जेत् । एतच्च वरुणपूजायां सत्याम् ; 'गन्ध-
माह्वयैः सुरभिर्मधुक्षीरघृतादिभिः । वरुणाय प्रकुर्वीत पूजामादौ समाहितः ॥'
इति नारदस्मरणात् । तथा साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकल^१देवतापूजाहो-
मसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु च । तथा—'तोय ! त्वं प्राणिनां
प्राणः सृष्टेराद्यं तु निर्मितम् । शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनां तथा ॥
अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे ॥' इति प्राङ्निवाकेनोदकाभिमन्त्रणे कृते
शोधयः 'सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुण !' इति जलं प्रार्थयेत् । उदकस्थानानि च
नारदेनोक्तानि (१।३०५)—'नदीषु तनुवेगासु सागरेषु वहेषु च । हृदेषु देव-
खातेषु तडागेषु सरःसु च' इति । तथा पितामहेनापि—'स्थिरतोये निमज्जेत
न ग्राहिणि न चारुपके । तृणशैवालरहिते जलौकामस्यवर्जिते ॥ देवखातेषु
यत्तोयं तस्मिन्कुर्वाद्दिशोधनम् । आहार्यं वर्जयेन्नित्यं शीघ्रगासु नदीषु च ॥
आविशेत्सलिले नित्यमूर्मिपङ्कविवर्जिते ॥' इति । आहार्यं तडागादिभ्य आहतं
ताम्रकटाहादित्सं जलम् । नाभिप्रमाणोदकस्थश्च यज्ञियवृक्षोद्भवां धर्मस्थूणाम-
वष्टभ्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत् ; 'उदके प्राङ्मुखस्तिष्ठेद्धर्मस्थूणां प्रगृह्य च ।' इति
स्मरणात् ॥ १०८ ॥

भाषा—'हे वरुण ! तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो' इस प्रकार जल का
आवाहन कर के नाभि तक जल में खड़े हुए पुरुष की जाँघों को पकड़कर
जल में डुबकी लगावे ॥ १०८ ॥

ततः किं कर्तव्यमित्यत आह—

समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवी नरः ।

गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

निमज्जनसमकालं गते तस्मिन् जविन्येकस्मिन्पुरुषे अन्यो जवी शरपात-
स्थानस्थितः पूर्वमुक्तमिषुमानीय जले निमग्नाङ्गं यदि पश्यति तदा स शुद्धो
भवति । एतदुक्तं भवति—त्रिषु शरेषु मुक्तेष्वेको वेगवान्मध्यमशरपातस्थानं
गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति । अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरण-
मूले तिष्ठति । एवं स्थितयोस्तृतीयस्यां करतालिकायां शोधयो निमज्जति ।
तत्समकालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि द्रुततरं मध्यशरपातस्थानं गच्छति । शर-
ग्राही च तस्मिन्प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति ^{१०}तदा

- | | | | |
|----------------|---------------------------|----------------------------|--------------|
| १. देवपूजा । | २. इत्युक्तं प्रार्थयते । | ३. निमज्जेत्तु । | ४. जल्लूका । |
| ५. मानयेद्यो । | ६. गतेऽन्यस्मिन् । | ७. तदा शुद्धो । | ८. स्थितयो- |
| स्तयोस्तृतीय । | ९. मध्यमशर । | १०. तदा शुद्धिं व्रजतीति । | |

शुद्धो भवतीति । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—‘गन्तुश्चापि च कर्तुंश्च समं गमनमज्जनम् । गच्छेत्तोरणमूलात्तु लघ्वस्थानं जवी नरः ॥ तस्मिन्गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् । गच्छेत्तोरणमूलं तु यतः स पुरुषो गतः ॥ आगतस्तु शरग्राही न परयति यदा जले । अन्तर्जलगतं सम्यक्कदा शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥’ इति । जविनोश्च पुरुषयोर्निर्धारणं कृतं नारदेन—‘पञ्चाशतो धावकानां यौ स्यातामधिकौ जवे । तौ च तत्र नियोक्तव्यौ शरानयनकारणात् ॥’ इति । तोरणं च निमज्जनसमीपस्थाने समे शोध्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम् ; ‘गत्वा तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् । कुर्वीत कर्णमात्रं तु भूमिभागे समे शुचौ ॥’ इति नारदस्मरणात् । शरत्रयं वैणवं च धनुर्मङ्गलद्रव्यैः श्वेतपुष्पादिभिः प्रथमं संपूजयेत् ; ‘शरान्संपूजयेत्पूर्वं वैणवं च धनुस्तथा । मङ्गलैर्धूपपुष्पैश्च ततः कर्म समाचरेत् ॥’ इति पितामहवचनात् । धनुषः प्रमाणं लघ्वस्थानं च नारदेनोक्तम्—‘क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् । मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेष ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम् । हस्तानां तु शते सार्धं लघ्वं कृत्वा विचक्षणः ॥ न्यूनाधिके तु दोषः स्यात्क्षिपतः सायकांस्तथा ॥’ इति । अङ्गुलानां सप्तधिकं शतं सप्तशतं क्रूरं धनुः । एवं षट्शतं पञ्चशतं च । एवं चैकादशाङ्गुलाधिकं हस्तचतुष्टयं क्रूरस्य धनुषः प्रमाणम्, मध्यमस्य दशाङ्गुलाधिकम्, मन्दस्य नवाङ्गुलाधिकमित्युक्तं भवति । शराश्चानायसाम्रा वैणवाः कार्याः ; ‘शरांश्चानाय साम्रास्तु प्रकुर्वीत विशुद्धये । वेणुकाण्डमयांश्चैव क्षेप्ता तु सुदृढं क्षिपेत् ॥’ इति स्मरणात् । क्षेप्ता क्षत्रियस्तद्वृत्तिर्वा ब्राह्मणः सोपवासो नियोक्तव्यः । यथाह—‘क्षेप्ता च क्षत्रियः प्रोक्तस्तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽपि वा । अक्रूरहृदयः शान्तः सोपवासस्ततः क्षिपेत् ॥’ इति । त्रिषु मुक्तेषु मध्यमः शरो ग्राह्यः ; तेषां च प्रोषितानां च शराणां शास्त्रचोदनात् । मध्यमस्तु शरो ग्राह्यः पुरुषेण बलीयसा ॥’ इति वचनात् । तत्रापि पतनस्थानादानेतव्यः ; न सर्पणस्थानात्, ‘शरस्य पतनं ग्राह्यं सर्पणं तु विवर्जयेत् । सर्पन्सर्पन्शरो यायाद् दूराद्दूतरं यतः ॥’ इति वचनात् । वाते च प्रवायति विषमादिदेशे च शरमोक्षो न कर्तव्यः ; ‘इधुं न प्रक्षिपेद्विद्वान्मारुते चातिवायति । विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थानसमाकुले ॥ तृणगुरुमलताचञ्चीपङ्कपाषाणसंयुते ॥’ इति पितामहवचनात् । निमगनाङ्गं पश्येच्चच्छुद्धिमानुयादिति वदता वन्मज्जिताङ्गस्याशुद्धिर्दर्शिता । स्थानान्तरगमने चाशुद्धिः पितामहेनोक्ता ; ‘अन्यथा न विशुद्धिः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ॥’ इति ‘स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाद्यस्मिन्पूर्वं निवेशितः ॥’ इति एकाङ्गस्यापि दर्शनादिति च

कर्णाद्यभिप्रायेण । 'शिरोमात्रं तु दृश्यते न कर्णौ नापि नासिका । अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥' इति विशेषाभिधानात् । अयमत्र प्रयोगक्रमः— 'उक्तलक्षणजलाशयसंनिधाबुक्तलक्षणं तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणसंनिधौ' सशरं धनुः संपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान्हवनान्तमिष्ट्वा शोधयस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्वा प्राड्विवाको जलमभिमन्त्रयते—'तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना मन्त्रेण । अथ शोधः—'सत्येन' इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य नाभिमात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य समीपमुपसर्पति । अथ शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यमं शरं गृहीत्वा जविन्धेकस्मिन्पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विवाकेन तालत्रये दत्ते युगपद्रमनमज्जनमथ शरानयनमिति ॥ १०९ ॥

भाषा—उसके डूबकी लगाने के समय ही छोड़े गये बाण को लानेके लिए एक तेज दौड़ने वाला व्यक्ति जावे; लौटने पर यदि वह दिख्य करने वाले व्यक्ति को जल डूबा हुआ ही पावे तो वह शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥

इत्युक्तविधिः ॥

इदानीं विषविधानमाह—

त्वं विष ! ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे व्यवस्थितः ।

प्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥ ११० ॥

एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ।

यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ १११ ॥

'त्वं विष' इत्यादिमन्त्रेण विषमभिमन्त्र्य कर्ता विषं हिमशैलजं शृङ्गभवं भक्षयेत् । तच्च भक्षितं सत् यस्य विषं वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति । विषवेगो नाम धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिः । 'धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः' इति वचनात् । धातवश्च स्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्त । एवं च सप्तैव विषवेगा भवन्ति । तेषां च लक्षणानि पृथगेव विषतन्त्रे कथितानि—'वेगो रोमाञ्चमाक्षो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ तस्योर्ध्वस्तपरा द्वौ वपुषि जनयतो वर्णमेदप्रवेपौ । यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयति विवशतां कण्ठभङ्गं च हिकां पृष्ठो निःश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो भवकस्य ॥' इति । अत्र च महादेवस्य

१. समीपे सशरं । २. सत्ये धर्मे, ; सत्यधर्मव्यवस्थितः । ३. व्यवस्थितम् । ४. जीर्णं तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत् । ५. नयनविवशतां ।

पूजा कर्तव्या । यथाह नारदः—‘दद्याद्विषं सोपवासो देवब्राह्मणसंनिधौ ।
 धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥’ इति ग्राह्विवाकः कृतोपवासो महादेवं
 पूजयित्वा तस्य पुरतो विषं व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजां हवनान्तां विधाय प्रति-
 ज्ञापत्रं शोध्यस्य शिरसि निधाय विषमभिमन्त्रयते—‘त्वं विष ! ब्रह्मणा
 सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । पापानां दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतं भव ॥ मृत्युमूर्ते
 विष ! त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम् । त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतं भव ॥’
 इति । एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखावस्थिताय दद्यात् ; ‘द्विजानां संनिधावेव
 दक्षिणाभिमुखे स्थिते । उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा विषं दद्यात्समाहितः ॥’ इति
 नारदवचनात् । विषं च वत्सनाभादि ग्राह्यम् ; ‘शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य
 विषस्य वा ॥’ इति पितामहवचनात् । वज्यानि च तेनैवोक्तानि—‘चारितानि च
 जीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च । भूमिजानि च सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेत् ॥’
 इति । तथा नारदेनापि (१।३२१)—‘अष्टं च चारितं वैव धूपितं मिश्रितं
 तथा । कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेत् ॥’ इति । कालश्च नारदेनोक्तः
 (१।३१९)—‘तोलयिष्वेप्सितं काले देयं तद्धि हिमागमे । नापराह्णे न
 मध्याह्णे न संध्यायां तु धर्मवित् ॥’ इति । कालान्तरे तूक्तप्रमाणादल्पं देयम् ;
 ‘वर्षे चतुर्यथा मात्रा ग्रीष्मे पञ्चयवा स्मृता । हेमन्ते सा सप्तयवा शरदरूपा
 ततोऽपि हि ॥’ इति स्मरणात् । अल्पेति षड्व्यवेत्यर्थः । ‘हेमन्त’ग्रहणेन
 शिशिरस्यापि ग्रहणम् । ‘हेमन्तशिशिरयोः समासेन’ इति श्रुतेः । वसन्तस्य
 च सर्वदिव्यसाधारणत्वात्तत्रापि सप्त यवा विषं च घृतप्लुतं देयं ; नारदवचनात् ।
 ‘विषस्य पलषट्भागान्नागो विंशतिमस्तु यः । तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्याद्घृत-
 प्लुतम् ॥’ (नारदः १।३२३) इति । पलं चात्र चतुःसुवर्णकम् । तस्य षष्ठो
 भागो दश माषाः दश यवाश्च भवन्ति । ‘त्रियवं स्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको
 माषः’ इत्येको माषः पञ्चदश यवा भवन्ति । एवं दशानां माषाणां यवाः
 सार्धशतं भवन्ति । पूर्वं च दश यवा इति षष्ठ्यधिकं शतं यवाः पलस्य षष्ठो
 भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यवास्तस्याष्टभाग एकयवः, तेन हीनं विंशति-
 तमं भागं सप्तयवं घृतप्लुतं दद्यात् । घृतं च विषाद्विंशद्गुणं ग्राह्यम् ; ‘पूर्वाह्णे
 क्षीतले देशे विषं देयं तु देहिनाम् । घृते नियोजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिंशद्गुणा-
 न्वितम् ॥’ इति कात्यायनवचनात् । त्रिंशद्गुणेन घृतेनान्वितं विषम् । शोध्यश्च
 कुहकादिभ्यो रक्षणीयः ; ‘त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैः स्वैरधिष्ठितम् । कुहकादि-
 भयाद्वाजा रक्षयेद्दिव्यकारिणम् ॥ ओधधीमन्त्रयोगांश्च मणीनथ विषापहान् ।
 कर्तुः शरीरसंस्थांस्तु गूढोत्पन्नान्परीक्षयेत् ॥’ इति पितामहस्मरणात् । तथा

विषमपि रक्षणीयम्—‘शाङ्गं हैमवतं शस्तं गन्धवर्णरसान्वितम् । अकृत्रिमम-
संमूढममन्त्रोपहतं च यत् ॥’ (१।३२२) इति नारदस्मरणात् । तथा विषे
पीते यावत्करतालिकाशतपञ्चकं तावत्प्रतीक्षणीयोऽनन्तरं चिकित्सनीयः । यथाह
नारदः—‘पञ्चतालशतं कालं निर्विकारो यदा भवेत् । तदा भवति संशुद्धस्ततः
कुर्याच्चिकित्सितम् ॥’ इति । पितामहेन तु दिनान्तोऽवधिरुक्तोऽल्पमात्रा-
विषयः—‘भक्षिते तु यदा स्वस्थो मूर्च्छाच्छर्दिर्विवर्जितः । निर्विकारो दिनस्यान्ते
शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥’ इति । अत्र च प्राड्विवाकः सोपवासो महादेवं संपूज्य
तत्पुरतो विषं स्थापयित्वा धर्मादीनिष्ट्वा शोधयस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रं निधाय
विषमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखस्थिताय विषं प्रयच्छति । स च शोधो विषम-
भिमन्त्र्य भक्षयतीति क्रमः ॥ ११०-१११ ॥

भाषा—‘हे विष ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो और सत्यधर्म में प्रतिष्ठित हो ।
इस अभिशाप से सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो और मेरे लिये अमृत बनो’
इस प्रकार विष से प्रार्थना करके दिव्य करने वाला व्यक्ति हिमालय से उत्पन्न
एवं शृङ्गसे निकले हुए विष का भक्षण करे । यदि विष बिना प्रभाव दिखाये
ही पच जाय तो वह उसकी शुद्धि प्रकट करता है ॥ ११०-१११ ॥

इति विषविधानम् ॥

अथ कोशविधिमाह—

देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् ।

संस्त्राव्य^१ पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥ ११२ ॥

उग्रान्देवान्दुर्गादिद्यादीन् समभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभिः पूजयित्वा संस्नाप्य
तत्स्नानोदकमाहरेत् । आहत्य च ‘तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः’ इत्यादिना
तत्तोयं प्राड्विवाकः संस्त्राव्य शोधयेन च तत्तोयं पात्रान्तरे कृत्वा ‘सत्येन माभि-
रक्ष त्वं वरुण !’ इत्यनेनाभिमन्त्रितं पाययेत्प्रसृतित्रयम् । एतच्च साधारण-
धर्मेषु धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु
संस्तु । अत्र च स्नाप्यदेवतानियमः कार्यनियमोऽधिकारिनियमश्च पितामहादि-
भिरुक्तः—‘भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तज्जलम् । समभावे तु देवाना-
मादित्यस्य च पाययेत् ॥ दुर्गायाः पाययेच्चौरान्ये च शस्त्रोपजीविनः । भास्कर-
स्य तु यत्तोयं ब्राह्मणं तज्ज पाययेत् ॥ दुर्गायाः स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु
मण्डलम् । अन्येषामपि देवानां स्नापयेदायुधानि तु ॥’ इति देवतानियमः ।

१. परीक्षणीयं । २. तथापि । ३. भिमुखाय स्थिताय । मुखाय विष ।
४. संस्त्राव्य । ५. पितामहनारदादिभिः । ६. दापयेत् ।

‘विर्जम्भे सर्वशङ्कासु संधिकार्ये तथैव च । पशु कोशः प्रदातव्यो नित्यं चित्तवि-
शुद्धये ॥’ इति कार्यनियमः । ‘पूर्वाह्णे सोपवासस्य ज्ञातस्यार्द्रपटस्य च । सशू-
कस्याभ्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥’ (नारदः १।३२८) सशूकं आस्तिकः ।
‘मणपस्त्रीभ्यसनिनां कितवानां तथैव च । कोशः प्राज्ञैर्न दातव्यो ये च नास्तिक-
वृत्तयः ॥ महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते । नास्तिकव्रात्यदेशेषु कोशपानं
विषर्णयेत् ॥’ इति । महापराधो महापातकको, निर्धर्मो वर्णाश्रमधर्मरहितः
पाखण्डी, कुत्सितः प्रतिलोमजः । दाशाः कैवर्ताः, इत्यधिकारिनियमः । तथा
गोमयेन मण्डलं कृत्वा तत्र शोध्यमादित्याभिमुखं स्थापयित्वा पाययेदिति
नारदवचनादवगन्तव्यम् । यथाह—‘तमाहुयाभिशास्तं तु मण्डलाभ्यन्तरे
स्थितम् । आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रसूतित्रयम् ॥’ इति ॥ ११२ ॥

भाषा—(दुर्गा आदि) उग्रदेवताओं की गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करके
उनके स्नान का जल लेवे; उसे दूसरे पात्र में रखकर तीन अंजलि जल दिव्य
करने वाले को पिलावे ॥ ११२ ॥

ननु तुलादिषु विधान्तेषु समनन्तरमेव शुद्धयशुद्धिभावना, कोशे तु कथमि-
त्यत आह—

अर्वाक् चतुर्दशादहो यस्य नो राजदैविकम् ।

व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादहः पूर्वं यस्य राजिकं राजनिमित्तं दैविकं देवप्रभवं व्यसनं दुःखं
घोरं महत् नो नैव जायते अल्पस्य देहिनामपरिहार्यत्वात् स शुद्धो वेदितव्यः ।
ऊर्ध्वं पुनरवधेर्न दोषः । यथाह नारदः (१।३३१)—‘ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहा-
द्वैकृतं तु महद्भवेत् । नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् ॥’ इत्यर्थ-
सिद्धमेवोक्तम् । ‘अर्वाक् चतुर्दशादहः’ इत्येतन्महाभियोगविषयम्; ‘महाभियोगे-
ष्वेतानि’ इति प्रस्तुत्याभिधानात् । अवध्यन्तराणि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि,
‘कोशमल्पेऽपि दापयेत्’ इति स्मरणात् तानि च—‘त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा द्वाद-
शाहाद् द्विसप्तकात् । वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥’ इति । महा-
भियोगोक्तद्रव्यादर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा विभज्य त्रिरात्राद्यपि पञ्चत्रयं व्यवस्थापनी-
यम् ॥ ११३ ॥

भाषा—जिस (इस दिव्य को करनेवाले) व्यक्ति पर चौदह दिन के भीतर
राजकृत या दैवकृत घोर दुःख नहीं गिरता वह शुद्ध होता है, इसमें
संशय नहीं ॥ ११३ ॥

इति कोशविधिः ॥

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च महादिव्यानि यथोद्देशं योगीश्वरेण व्याख्या-
तानि । स्मृत्यन्तरे स्वस्वाभियोगविषयाण्यन्यान्यपि दिव्यानि कथितानि ।
यथाह पितामहः—‘तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणनोदितम् । चौरै तु
तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥ तण्डुलान्कारयेच्छुक्लान्कालेनान्यस्य
कस्यचित् । मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतः शुचिः ॥ स्नानोदकेन संमि-
श्रान्नात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्राङ्मुखोपोषितं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् ॥ तण्डु-
लान्भक्षयित्वा तु पत्रे निष्टीवयेत्ततः । पिप्पलस्य तु नान्यस्य अभावे भूर्ज एव
तु ॥ लोहितं दृश्यते यस्य हनुस्तालु च क्षीर्यते । गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं
विनिर्दिशेत् ॥’ इति । शिरोरोपितपत्रकं तण्डुलान्भक्षयित्वा निष्टीवयेत्प्राङ्नि-
वाकः ॥ भक्षयित्वेति च ण्यन्तात्सिचि रूपम् । सर्वदिव्यसाधारणं च धर्मावा-
हनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥

इति तण्डुलविधिः ॥

तप्तमाषविधिः पितामहेनोक्तः । तथा हि—‘सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा
षोडशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ॥’ वर्तुलमित्यर्थः ।
‘पूरयेद्धृतैलाभ्यां विशाया तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमाषकं तस्मिन्सुतसे निक्षि-
पेत्ततः ॥ अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन उद्धरेत्तप्तमाषकम् । कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा
न जायते । शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलिः ॥’ इति । ‘उद्धरेत्’ इति
वचनात्प्रात्रादुक्षेपणमात्रं, न बहिः प्रक्षेपणमादरणीयम् ॥

अपरः कल्पः—‘सौवर्णे राजते ताम्रे आयसे मृन्मयेऽपि वा । गव्यं घृतमु-
पादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः । सौवर्णी राजती ताम्रीमायसी वा सुशोधिताम् ।
सलिलेन सकृद्धौतां प्रक्षिपेत्ताम्रमुद्रिकाम् ॥’ (नारदः १।३३४) ‘अमङ्गीचित-
रङ्गाढये ह्यनस्वस्पर्शगोचरे । परीक्षेताद्रूपेण च चूडकारं सुवोषकम् ॥ ततश्चानेन
मन्त्रेण सकृत्तदभिमन्त्रयेत् ॥ परं पवित्रममृतं घृतं त्वं यज्ञकर्मसु । दह पावक !
पापं त्वं हिमशीतं शुचौ भव ॥ उपोषितं ततः स्नातमार्द्रवाससमागतम् । प्राहये-
न्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा ॥ प्रदेशिनीं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षकाः ।
यस्य विस्फोटका न स्युः शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिः ॥’ इति । अत्रापि धर्मावाह-
नाद्यनुसंधातव्यम् ॥ घृतानुमन्त्रणं प्राङ्निवाकस्य । ‘स्वमग्ने ! सर्वभूतानाम्’
इति शोधयस्याग्न्यभिमन्त्रणमन्त्रः । ‘प्रदेशिनीं परीक्षेयुः’ इति वचनात् प्रदेशिन्यैव
मुद्रिकोद्धरणम् ॥

इति तप्तमाषकविधिः ॥

१. कल्पयेद्यस्य । २. न प्रक्षेपणं । ३. माहरणीयं । ४. चूडकारं ।

धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥ धर्माधर्मादिव्यविधिश्च पितामहेनोक्तः । तथाच—
 ‘अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां
 नृणाम् ॥’ इति । हन्तृणामिति साहसाभियोगेषु, याचमानानामिति अर्थाभियोगेषु,
 प्रायश्चित्तार्थिनामिति पातकाभियोगेषु; ‘राजतं कारयेद्धर्ममधर्मं सीसकायसम्’
 इति प्रतिमाविधानं सीसकं वा आयसं वेति ॥ पञ्चान्तरमाह—‘लिखेद्भूर्जे पटे
 वापि धर्माधर्मौ सितासितौ । अशुद्धय पञ्चगव्येन गन्धमाह्वयैः समर्चयेत् ॥
 सितपुष्पस्तु धर्मः स्यादधर्मोऽसितपुष्पपट्टकम् । एवंविधायोपलिख्य पिण्डयोस्तौ
 निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा वापि पिण्डौ कार्यौ समन्ततः । मृद्गाण्डकेऽनुपहते
 स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवब्राह्मणसंनिधौ । आवाहयेत्तौ
 देवाँल्लोकपालांश्च पूर्ववत् ॥ धर्मावाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ॥’ ततः—
 ‘यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे । अशुद्धश्चेन्मम करे पापं आयातु
 धर्मतः ॥’ इति ॥ अभिशस्तोऽभिमन्त्रयते—‘अभियुक्तस्तयोश्चैकं प्रगृहीताविल-
 म्बितः । धर्मे गृहीते शुद्धः स्यादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं
 धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥’ इति ॥

इति धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥

अन्ये च शपथा द्रव्यात्पस्वमहवविषया जातिविशेषविषयाश्च मन्वादि-
 भिरुक्ताः । ते यथा—‘निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम् । त्रिकाद-
 चाक्तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥’ (मनुः ८।११३) ‘सत्येन शापयेद्विप्रं
 क्षत्रियं वाहनायुधैः । गाबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥’ (मनुः
 ८।११३) इत्यादयः । अत्र च शुद्धिविभावना मनुनोक्ता (८।११५)—‘न
 चाऽऽर्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः’ इति । आर्तिरपि ‘यस्य नो राज-
 दैविकं व्यसनं जायते घोरम्’ इत्युक्तैव । कालनियमश्च एकरात्रमारभ्य त्रिरात्र-
 पर्यन्तं त्रिरात्रमारभ्य पञ्चरात्रपर्यन्तम् । एकरात्रप्रभृतिस्त्वं कार्यलाघवगौरवप-
 र्यालोचनया द्रष्टव्यम् ॥ एवं दिव्यैर्जयपराजयावधारणे दण्डविशेषोऽपि दर्शितः
 कात्यायने—‘शतार्धं दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभागभवेत्’ इति । तं दण्डमाह—
 ‘विषे तोये हुताशे च तुलाकोशे च तण्डुले । तसमाषकदिव्ये च क्रमादण्डं
 प्रकल्पयेत् ॥ सहस्रं षट्शतं चैव तथा पञ्चशतानि च । चतुस्त्रिद्वयेकमेवं च हीनं
 हीनेषु कल्पयेत् ॥’ इति ॥ ‘निह्वे भावितो दद्याद्’ इत्युक्तदण्डेनायं दिव्य-
 निबन्धनो दण्डः समुच्चीयते ॥

इति दिव्यप्रकरणम् ॥

१. पापमायतु ।

अथ दायविभागप्रकरणम् ८

प्रमाणं मानुषं दैवमिति भेदेन वर्णितम् ।

अधुना वर्ण्यते दायविभागो योगमूर्तिना ॥

तत्र 'दाय' शब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते । स च द्विविधः—अप्रतिबन्धः, सप्रतिबन्धश्च । तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामहधनं च स्वं भवतीत्यप्रतिबन्धो दायः । पितृव्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धो दायः । एवं तत्पुत्रादिष्वप्युहनीयः । विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम् । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं नारदेन—'विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्र कल्प्यते । दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः (ना० १३।१) ॥' इति । पित्र्यस्येति स्वत्वनिमित्तसंबन्धोपलक्षणम् । 'तनयैः' इत्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम् । इदमिह निरूपणीयम्,—कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्तव्य इति । तत्र कस्मिन्काले कथं कैश्चेति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव वच्यते । कस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते । किं विभागास्वत्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र स्वत्वमेव तावन्निरूप्यते—किं शास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमुत प्रमाणान्तरसमधिगम्यमिति । तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावच्छुक्तं; गौतमवचनात्—'स्वामी रिव्यक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥' (गौ० १०।३९-४२) इति । प्रमाणान्तरगम्ये स्वत्वे नेदं वचनमर्थवत्स्यात् । तथा स्तेनातिदेशे मनुः (८। ३४०)—'योऽदत्तादायिनो हस्ताक्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥' इति । अदत्तादायिनः सकाशाद्याजनादिद्वारेणापि द्रव्यमर्जयतां दण्डविधानमनुपपन्नं स्यात्स्वत्वस्य लौकिकत्वे । अपि च, लौकिकं चेत्स्वत्वं मम स्वमनेनापहतमिति न ब्रूयात् ; अपहर्तुरेव स्वत्वात् । अन्यथाऽन्यस्य स्वं तेनापहतमिति नापहर्तुः स्वम् । एवं तर्हि सुवर्णरजतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमन्यस्य वा स्वमिति संशयो न स्यात् । तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमिति । अत्रोच्यते—'लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् ब्रह्मादिवत् । आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति ॥ नन्वाहवनीयादीनामपि पाकादिसाधनत्वमस्त्येव । नैतत्—नहि तत्राहवनीयादि-

१. अत्र पुत्रसद्भावः स्वामिसद्भावश्च प्रतिबन्धः, तदभावे पितृव्यत्वेन भातृत्वेन च स्वं भवतीति विशेषः । २. द्रव्यस्य व्यवस्थापनं । ३. पैत्रस्य । ४. अदत्तदायिनश्चौरस्य । ५. याजनाध्यापनाद्वापि । ६. अन्यथास्वं ।

रूपेण पाकादिसाधनत्वम् । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिपरिदृश्यमानाग्न्यादिरूपेण । इह तु सुवर्णादिरूपेण न क्रयादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव । नहि यस्य यस्त्वं न भवति तत्तस्य क्रयाद्यर्थक्रियां साधयति ॥ अपि च,—प्रत्यन्तवासिनामप्यदृष्टशास्त्रव्यवहाराणां स्वत्वव्यहारो दृश्यते; क्रयविक्रयादिदर्शनात् । किंच,—नियतोपायकं स्वत्वं लोकसिद्धमेवेति न्यायविदो मन्यन्ते । तथा हि—लिप्सासूत्रे तृतीये वर्णके द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न स्यात् । स्वत्वस्यालौकिकत्वादिति पूर्वपक्षासंभवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिग्रहादिना स्वत्वसाधनत्वं लोकसिद्धमिति पूर्वपक्षः समर्थितो गुरुणा—ननु च द्रव्यार्जनस्य क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न भवतीति याग एव न संवर्तेत । प्रलपितमिदं केनापि 'अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धम्' इति वदता । तथा सिद्धान्तेऽपि स्वत्वस्य लौकिकत्वमङ्गीकृत्यैव विचारप्रयोजनमुक्तम्, अतो 'नियमातिक्रमः पुरुषस्य न क्रतोः' इति । अस्य चार्थ एव विवृतः—यदा द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं तदा नियमार्जितेनैव द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्न नियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति न पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः पूर्वपक्षे । राक्षान्ते त्वर्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिक्रमेणार्जितेनापि द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्भवति, पुरुषस्यैव नियमातिक्रमदोष इति नियमातिक्रमार्जितस्यापि स्वत्वमङ्गीकृतम्,—अन्यथा क्रतुसिद्धयभावात्, न चैतावता चौर्यादिप्राप्तस्यापि स्वत्वं स्यादिति मन्तव्यम् । लोके तत्र स्वत्वप्रसिद्धयभावात्, व्यवहारविसंवादाच्च एवं प्रतिग्रहाद्युपायके स्वत्वे लौकिके स्थिते—'ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादय उपायाः, क्षत्रियस्य विजितादयः, वैश्यस्य कृष्यादयः, शूद्रस्य शुश्रूषादयः' इत्यदृष्टार्था नियमाः । रिक्त्यादयस्तु सर्वसाधारणाः—'स्वामी रिक्त्यक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ० १०।३९) इत्युक्ताः । तत्राप्रतिषन्धो दायो रिक्त्यम् । क्रयः प्रसिद्धः । संविभागः सप्रतिषन्धो दायः । परिग्रहोऽनन्यपूर्वस्य जलतृणकाष्ठादेः स्वीकारः । अधिगमो निध्यादेः प्राप्तिः । एतेषु निमित्तेषु सत्सु स्वामी भवति । ज्ञातेषु ज्ञायते स्वामी । 'ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम्' (गौ० १०।४०) इति ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना यद्बन्धं तदधिकमसाधारणम् । 'क्षत्रियस्य विजितम्' (गौ० १०।४१) इत्यत्राधिकमित्यनुवर्तते । क्षत्रियस्य विजयदण्डादिलब्धमसाधारणम् । 'निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः' (गौ० १०।४२) इत्यत्राप्यधिकमित्यनुवर्तते । वैश्यस्य कृषिगोरक्षादिलब्धं निर्विष्टं तदसाधारणम् । शूद्रस्य द्विजशुश्रूषादिना भृतिरूपेण यद्बन्धं तदसाधारणम् । एवमनुलोमजानां प्रतिलोमजानां च

१. नियतोपाधिकं । २. क्रतुसिद्धिनियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति । ३. दोष इति पूर्वपक्षे । ४. क्रतेषु ।

लोकप्रसिद्धेषु स्वस्वहेतुषु यद्यदसाधारणमुक्तं 'सूतानामश्वसारथ्यम्' इत्यादि तत्तत्सर्वं निर्विघ्नशब्देनोच्यते सर्वस्यापि श्रुतिरूपत्वात् ॥ 'निर्वेशो श्रुतिभोगयोः' (तृ० ना० २१४) इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । तत्तदसाधारणं वेदितव्यम् । यदपि 'पत्नी दुहितरश्चैव' (व्य० १३५) इत्यादिस्मरणं तत्रापि स्वामिसंबन्धितया बहुषु दायविभागतया प्राप्तेषु लोकप्रसिद्धेषु स्वस्वे व्यामोहनिवृत्त्यर्थं स्मरणमिति सर्वमनवद्यम् ॥ यदपि मम स्वमनेनापहतमिति न ब्रूयात्स्वस्वस्य लौकिकत्व इति;—तदप्यसत् ; स्वस्वहेतुभूतक्रयादिसंदेहास्वस्वसंदेहोपपत्तेः । विचारप्रयोजनं तु—'यद्वर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्धयन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति । शास्त्रैकसमधिगम्ये स्वस्वे । गर्हितेनासत्प्रतिग्रहवाणिज्यादिना लब्धस्य स्वस्वमेव नास्तीति तत्पुत्राणां तदविभाज्यमेव । यदा तु लौकिकं स्वत्वं तदाऽसत्प्रतिग्रहादिलब्धस्यापि स्वत्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव । 'तस्योत्सर्गेण शुद्धयन्ति' इति प्रायश्चित्तमर्जयितुरेवं, तत्पुत्रादीनां तु दायत्वेन स्वस्वमिति न तेषां दोषसंबन्धः; 'सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः । प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥' इति (१०११५) मनुस्मरणात् ॥

इदानीमिदं संदिश्यते—'किं विभागास्वस्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र विभागास्वस्वमिति तावद्युक्तम् ; जातपुत्रस्याधानविधानात् । यदि 'जन्मनैव स्वत्वं स्यात्तदोत्पन्नस्य पुत्रस्यापि तत्त्वं साधारणमिति द्रव्यसाध्येष्वाधानादिषु पितुरनधिकारः स्यात् । तथा विभागात्प्राक् पितृप्रसादलब्धस्य विभागप्रतिषेधो नोपपद्यते; सर्वानुमत्या दत्तत्वाद्विभागप्राप्त्यभावात् । यथाह—'शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत् । त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥' (ना० १३१६) इति ॥ तथा 'भर्त्रा प्रीतेन यद्वत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत् । सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावराहते ॥' इति प्रीतिदानवचनं च नोपपद्यते-जन्मनैव स्वस्वे । नच 'स्थावराहते यद्वत्तम्' इति संबन्धो युक्तः; व्यवहितयोजनाप्रसङ्गात् । यदपि—'मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः । स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥' तथा—'पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते वस्त्राण्याभरणानि च । स्थावरं तु न भुज्येत प्रसादे सति पैतृके ॥' इति स्थावरस्य प्रसाददानप्रतिषेधवचनं, तत्पितामहोपात्तस्थावरविषयम् । अतीते पितामहे तद्वचनं पित्रापुत्रयोः साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव, स्थावरं तु साधारणमित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्माच्च जन्मना स्वत्वं किंतु स्वामिनाशाद्विभागाद्वा स्वस्वम् । अतः

१. न विभाज्यमेव । २. स्वत्वं लौकिकं तदा । ३. स्वस्वमुत । ४. प्रसादादिह न प्रति । प्रसाददाने प्रति । ५. सामानमपि ।

एव पितुरुर्ध्वं विभागात्प्राग्द्रव्यस्वत्वस्य प्रहीणत्वादन्वेन गृह्यमाणं न निवार्यत
इति चोद्यस्यानवकाशः । तथैकपुत्रस्यापि पितृप्रयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न
विभागमपेक्षत इति । अत्रोच्यते—लोकप्रसिद्धमेव स्वत्वमित्युक्तम् । लोके च
पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति । 'विभाग'शब्दश्च बहुस्वा-
मिकधनविषयो' लोकप्रसिद्धः, नान्यदीयविषयो न प्रहीणविषयः; तथा 'उत्प-
त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च । 'मणिमुक्ताप्रवाला-
नाम्' इत्यादिवचनं च जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपद्यते । नच पितामहो-
पात्स्थायवरविषयमिति युक्तम् ; 'न पिता न पितामहः' इति वचनात् ।
पितामहस्य हि स्वाजितमपि पुत्रे पौत्रे च सत्यदेयमिति वचनं जन्मना
स्वत्वं गमयति । तथा परमते मणिमुक्ताप्रवालवस्त्राभरणादीनां पैतामहाना-
मपि पितुरेव स्वत्वं; वचनात्, एवमस्मन्मतेऽपि पित्रार्जितानामप्येतेषां^१
पितुर्दानाधिकारः, वचनादित्यविशेषः ॥ यत्तु 'भर्त्रा प्रीतेन' इत्यादिविष्णु-
वचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं तत्स्वोपार्जितस्यापि पुत्राद्यभ्यनुज्ञयै-
वेति व्याख्येयम् ; पूर्वोक्तैर्मणिमुक्तादिवचनैः स्थावरव्यतिरिक्तस्यैव प्रीति-
दानयोग्यत्वनिश्चयात् ॥ यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेषु कर्मस्वनधिकार इति,
तत्र तद्विधानबलादेवाधिकारो गम्यते । तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्म-
नैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकु-
टुम्बभरणापद्मिमुखादिषु^२ च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति
स्थितम् । स्थावरे तु स्वाजिते पित्रादिप्राप्ते चपुत्रादिपारतन्त्र्यमेव; 'स्थावरं द्विपदं
चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् । असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥ ये
जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्ताः । वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं
न च विक्रयः ॥' इत्यादिस्मरणात् । अस्यापवादः—'एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दा-
नाधमनविक्रयम् । आपत्काले कुटुम्बार्थं धर्मार्थं च विशेषतः ॥' इति । अस्यार्थः-
अप्राप्तव्यवहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वाऽनुज्ञानादावसमर्थेषु भ्रातृषु वा तथाविधेष्व-
विभक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वाऽवश्यं कर्तव्येषु च पितृ-
श्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः कुर्यादिति । यत्तु वच-
नम्—'विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः । एको ह्यनीशः सर्वत्र
दानाधमनविक्रये ॥' इति, तदप्यविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्थत्वादेकस्यानीश्वर-
त्वात् सर्वाभ्यनुज्ञाऽवश्यं कार्या । विभक्तेषु तूत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयव्यु-

१. प्रसिद्धो । २. न्यदीयधनविषयो । ३. तं तथोत्पत्येव । ४. पितृपि-
तामहस्य । ५. मुक्तावस्त्राभरणा । ६. एतेषां मणिमुक्तादीनां । ७. विमोक्ष-
णादिषु । ८. वा अनुज्ञावा । अनुज्ञादानादावः ९. अनीशकत्वात् ।

दासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानीश्वरत्वेन, अतो विभक्तानुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहारः सिद्धस्येवेति व्याख्येयम् । यदपि—‘स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी ॥’ इति, तत्रापि ग्रामानुमतिः; ‘प्रतिग्रहप्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः’ (व्य० १७६) इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते, न पुनर्ग्रामानुमत्या विना व्यवहारासिद्धिः । सामन्तानुमतिस्तु सीमाविप्रतिपत्तिनिरासाय । ज्ञातिदायादानुमतेस्तु प्रयोजनमुक्तमेव ‘हिरण्योदकदानेन’ इति; ‘स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञया’ इति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात्, ‘भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ ॥’ इति दानप्रशंसादर्शनाच्च । विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्त्वा दानरूपेण स्यावरविक्रयं कुर्यादित्यर्थः । पैतृके पैतामहे च धने जन्मनैव स्वत्वेऽपि विशेषं ‘भूर्या पितामहोपात्ता’ (व्य० १२१) इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ इदानीं यस्मिन्काले येन च यथा विभागः कर्तव्यस्तद्वक्ष्यन्नाह—

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ।

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्युः समांशिनः ॥ ११४ ॥

यदा विभागं पिता चिकीर्षति तदा इच्छया विभजेत् पुत्रानात्मनः सकाशात् पुत्रं पुत्रौ पुत्रान् । इच्छया निरङ्कुशत्वादनियमप्राप्तौ नियमार्थमाह— ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेनेति । ज्येष्ठं श्रेष्ठभागेन, मध्यमं मध्यभागेन, कनिष्ठं कनिष्ठभागेन, ‘विभजेत्’ इत्यनुवर्तते । श्रेष्ठादिविभागश्च मनुनोक्तः (१।१।२)— ‘ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥’ इति । ‘वा’ शब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षः । सर्वं वा स्युः समांशिन इति । सर्वं वा ज्येष्ठादयः समांशभाजः कर्तव्याः । अयं च विषमो विभागः स्वार्जितद्रव्यविषयः । पितृक्रमायाते तु समस्वाभ्यस्य वक्ष्यमाणत्वान्नेच्छया विषमो विभागो युक्तः । विभागं चेत्पिता कुर्यादिति । यदा पितुर्विभागेच्छा स तावदेकः कालः । अपरोऽपि जीवत्यपि पितरि द्रव्यनिःस्पृहे निवृत्तरमणे मातरि च निवृत्तरजस्कायां, पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति । यथोक्तं नारदेन (१।३।३)—‘अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेयुर्धनं समम्’ इति पित्रो-रूर्ध्वं विभागं प्रतिपाद्य—‘मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च । निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपपत्तस्पृहे ॥’ इति दर्शितः । अत्र ‘पुत्रा धनं समं विभजेयुः’ इत्यनुषज्यते । गौतमेनापि—‘ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिवं विभजेरन्’ (२।८।१)

इत्युक्त्वा 'निवृत्ते चापि रजसि' (गौ० २८।२) इति द्वितीयः कालो दर्शितः ।
'जीवति चेच्छ्रुति' (गौ० २८।२) इति तृतीयः कालो दर्शितः । तथा सरज-
स्कायामपि मातर्यनिच्छ्रुत्यपि पितर्यधर्मवर्तिनि दीर्घरोगग्रस्ते च पुत्राणामिच्छया
भवति विभागः । यथाह शङ्खः—'अकामे पितरि रिक्थविभागो बृद्धे विपरीत-
चेतसि रोगिणि च' इति ॥ ११४ ॥

भाषा—यदि पिता (संपत्ति का) विभाग करे तो उसे अपनी इच्छानुसार
पुत्रों में बाँटे । ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठभाग (मझले को मध्यम और
सबसे छोटे को कनिष्ठभाग) देकर विभाजन करे अथवा सबको समान
अंश देवे ॥ ११४ ॥

पितुरिच्छया विभागो द्विधा दर्शितः—समो विषमश्च; तत्र समविभागे
विशेषमाह—

यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः ।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥

यदा स्वेच्छया पिता सर्वानेन सुतान् समविभागिनः करोति तदा पत्न्यश्च
पुत्रसमांशभाजः कर्तव्याः, यासां पत्नीनां भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम् ।
दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वचयति (व्य० १४८)—'दत्ते स्वर्धं प्रकल्पयेत्' इति ॥
यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्यः श्रेष्ठादिभागान्न
लभन्ते, किंतूद्धृतोद्धारात्समुदायात्समानेषां शांस्तुल्यं लभन्ते स्वेद्धारं च ॥
यथाहापस्तम्बः (ध० २।१४।९)—'परीभाण्डं च गुहेऽलङ्कारो भार्यायाः'
इति ॥ ११५ ॥

भाषा—यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता
है तो उसे उन पत्नियों को भी समान भाग देना चाहिए, जिन्हें अपने
पति से या श्वशुर स्त्रीधन नहीं मिला है ॥ ११५ ॥

'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वं वा स्युः समांशिनः' (व्य० ११४) इति
पक्षद्वयेऽप्यपवादमाह—

शक्तस्यानीहमानस्य किञ्चिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया ।

स्वयमेव द्रव्यार्जनसमर्थस्य पितृद्रव्यमनीहमानस्यानिच्छृतोऽपि यत्किञ्चिद्-
सारमपि दत्त्वा पृथक्क्रिया विभागः कर्तव्यः पित्रा । तत्पुत्रादीनां नादजिघृक्षा
मा भूदिति ॥—

‘ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन’ (व्य० ११४) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शितः । तत्र शास्त्रोक्तोद्गारादिविषमविभागव्यतिरेकेणान्यथाविषमविभागनिषेधार्थमाह—

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः ॥ ११६ ॥

न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि धर्म्यः शास्त्रोक्तो भवति तदाऽसौ पितृकृतः कृत एव न निवर्तत इति मन्वादिभिः स्मृतः । अन्यथा तु पितृकृतोऽपि निवर्तत इत्यभिप्रायः । यथाह नारदः (१३।६)—‘व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः । अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः ॥’ इति ॥ ११६ ॥

भाषा—जो पुत्र स्वयं द्रव्यार्जन करने में समर्थ हो उसे उसके न चाहने पर भी कुछ देकर बँटवारा करना चाहिए । यदि पिता द्वारा पुत्रों में किया गया न्यून या अधिक विभाजन धर्म के अनुसार है तो वह परिवर्तनीय नहीं होता ॥ ११६ ॥

इदानीं विभागस्य कालान्तरं कर्त्तृन्तरं प्रकारनियमाह—

विभजेरनुसुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम् ।

पित्रोर्मातापित्रोरूर्ध्वं प्रयाणादिति कालो दर्शितः । सुता इति कर्तारो दर्शिताः । सममिति प्रकारनियमः । सममेवेति रिक्थमृणं च विभजेरन् । ननु—‘ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च’ (मनुः ९।१०४) इत्युपक्रम्य (मनुः ९।१०५)—‘ज्येष्ठ एव तु गृहीयात्पितृयं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥’ इत्युक्तत्वात् (मनुः ९।११२)—‘ज्येष्ठस्य विंश उद्गारः सर्वद्रव्याणां यद्द्वारम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥’ इति । सर्वस्माद्द्रव्यसमुदायाद्विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठाय दातव्यम् ; तदूर्ध्वं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यमं च द्रव्यं मध्यमाय दातव्यम् ; तुरीयमशीतितमो भागो हीनं द्रव्यं च कनिष्ठाय दातव्यमिति मातापित्रोरूर्ध्वं विभजतामुद्गाराविभागो मनुना दर्शितः । तथा (९।११६।११७)—‘उद्गारेऽनुद्घृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना । एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽर्धं ततोऽनुजः ॥ अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥’ इति । ज्येष्ठस्य द्वौ भागौ, तदनन्तरजातस्य सार्धं एको भागः ततोऽनुजानामेकैको विभाग इत्युद्गारव्यतिरेकेणापि विषमो विभागो

१. धर्मः । २. विभजेयुः । ३. ऊर्ध्वमृणं । ४. प्रायणात् ।
५. तदूर्ध्वं मध्यमस्य स्यात्तदूर्ध्वं तु कनीयस इति । ६. दानसमुच्चयत् ।

दर्शितः पित्रोरुर्ध्वं विभजताम् । जीवद्विभागे च स्वयमेव विषमो विभागो दर्शितः—‘ज्येष्ठो वा श्रेष्ठभागेन’ (व्य० ११४) इति । अतः सर्वस्मिन्नपि काले विषमो विभागोऽस्तीति कथं सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥ अत्रोच्यते—सत्यम्, अयं विषमो विभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टस्वानुष्ठेयः; ‘अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु’ (आ० १५६) इति निषेधात् । यथा ‘महोत्तं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्’ (आ० १०९) इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । यथा वा—‘मैत्रावरुणीं गां वशामनुबन्ध्यामालभेत’ इति गवालम्भनविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम् । उक्तं च—‘यथा नियोगधर्मो नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा । तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्तते ॥’ इति । (नियोगमनतिक्रम्य यथानियोगं, नियोगाधीनो यो धर्मो ‘देवराच्च सुतोत्पत्तिरित्यादिः स नो भवति) आपस्तम्बोऽपि (आ० ध० २।१४।१)—‘जीवपुत्रेभ्यो दायं विभजेत्समम्’ इति ‘समतामुक्त्वा—‘ज्येष्ठो दायाद् इत्येके’ (आ० ध० २।१४।५) इति ‘कृत्स्नधन’ ग्रहणं ज्येष्ठस्यैकीयमतेनोपन्यस्य देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य रथः पितुः परीमाण्डं च गृहेऽलंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चेत्येके’ (ध० २।१४।६-९) इत्येकीयमतेनैवमुद्धारविभागं दर्शयित्वा ‘तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्’ (आ० ध० २।१४।१०) इति निराकृतवान् । तं च ‘शास्त्रविप्रतिषेधं स्वयमेव दर्शयति स्म ‘मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते’ (अ० २।१४।११) इति । तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधाच्छ्रुतविरोधाच्च नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥—

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्तं, तत्र मातृधनेऽपवादमाह—

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्

मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन् । ऋणाच्छेषं मातृकृतर्णापाकरणावशिष्टम् । अतश्चर्णसमं न्यूनं वा मातृधनं सुता विभजेरन्नित्यस्य विषयः । एतदुक्तं भवति—मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीयं, न दुहितृभिः । ऋणावशिष्टं तु धनं दुहितरो गृह्णीयुरिति । युक्तं चैतत्—‘पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः’ (मनुः ३।४९) इति स्थवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि, पितृधनं पुत्रगामि; पितृवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति । तत्र च गौतमेन विशेषो

१. दर्शितो मनुना । २. कथं विभजेरन्निति सममेव नियम्यते । ३. शास्त्रदृष्टोऽस्ति । ४. धर्मोऽन्यो । ५. स्वमतमुक्त्वा । ६. विशेषेषु । विशेषेण । ७. परीमाण्डं । ८. विप्रतिषिद्धं । ९. कृतर्णं ।

दर्शितः (२८।२४)—‘स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च’ इति ।
अस्यार्थः—प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेऽप्रत्तानामेव स्त्रीधनम् । प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रति-
ष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठितानां चेवेति । अप्रतिष्ठिता निर्धनाः ॥—

दुहितृभावे मातृधनमृणावशिष्टं को गृहीयादित्यत आह—

ताभ्य ऋतेऽन्वयः ॥ ११७ ॥

ताभ्यो दुहितृभ्यो विना दुहितृणामभावे अन्वयः पुत्रादिगृहीयात् ।
एतच्च—‘विभजेरन्सुताः पित्रोरुर्ध्वम्’ (व्य० ११७) इत्यनेनैव सिद्धं स्पष्टार्थ-
मुक्तम् ॥ ११७ ॥

भाषा—माता और पिता की मृत्यु के बाद सभी पुत्र मिल कर पिता की
सम्पत्ति एवं ऋण का बराबर-दरावर विभाजन कर लें । माता का धन पुत्रियों
बाँट लें और पुत्रियों न हों तो (माता का धन भी) पुत्र ग्रहण करें ॥११७॥

अविभाज्यमाह—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।

मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥ ११८ ॥

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हतमप्युद्धरेत्तु यः ।

दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यत्स्वयमर्जितं, मैत्रं मित्रसकाशाद्यल्लब्धं,
औद्वाहिकं विवाहलब्धं दायादानां भ्रातृणां तन्न भवेत् । क्रमात्पितृक्रमादायातं
यत्किञ्चिद्द्रव्यं अन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं यः पुत्राणां मध्य
इतराभ्यनुज्जयोद्धरति तदायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात्, उद्धर्तैव गृहीयात् ।
तत्र क्षेत्रे तुरीयांशमुद्धर्ता लभते, शेषं तु सर्वेषां सममेव । यथाह शङ्खः—‘पूर्वं
नष्टं तु यो भूमिमेष्येदुद्धरेत्क्रमात् । यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्त्वांशं तु तुरीय-
कम् ॥’ इति । क्रमादभ्यागतमिति शेषः । तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाध्यापनेन
वेदार्थग्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात्, अर्जक एव
गृहीयात् । अत्र च ‘पितृद्रव्याविरोधेन यत्किञ्चित्स्वयमर्जितम् ॥’ इति सर्वत्र
शेषः । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं,
पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमादायातमुद्धृतं, पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति
प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्,
आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा
पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च

विभजनीयम् । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्य-
विरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम् । अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वा-
हिकमित्यादिनारब्धव्यम् । अथ पितृद्रव्यविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्या-
विभाज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थवदित्युच्यते । तथा सति समाचारविरोधः, विद्या-
लब्धे नारदवचनविरोधश्च ।—'कुटुम्बं विभृयाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः ।
भागं विद्याधनान्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन् ॥' (नारदः १३।१०) इति । तथा
विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्तं कात्यायनेन—'परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ता-
न्यतस्तु या । तथा लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥' इति । तथा 'पितृ-
द्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्ध-
मापद्येत । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना (१।२०८)—'अनुपपन्नपितृद्रव्यं श्रमेण
यदुपार्जितम् । दायादेश्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥' इति श्रमेण सेवा-
युद्धादिना । ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तदविभाज्यमिति न
वक्तव्यम् ; विभागप्राप्त्यभावात् । यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, नान्यस्येति प्रसिद्ध-
तरम् । प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः । अत्र कश्चिदित्यं प्राप्तिमाह—'यत्किञ्चित्पितरि
प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥'
(मनुः १।२०४) इति । ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते
वा यवीयसां वर्षीयसां चेति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां
विभाज्यत्वं प्राप्तं प्रतिषिद्धयत इति,—तदसत् ; नह्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेधः, किंतु
सिद्धस्यैवानुवादोऽयम् । लोकसिद्धस्यैवानुवादकान्येव प्रायेणास्मिन्प्रकरणे
वचनानि । अथवा 'समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वं तत्र समांशिनः ।' इति प्राप्तस्या-
पवाद इति संतुष्यतु भवान् । अतश्च 'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते' इत्यस्मिन्वचने
ज्येष्ठादिपदाविवक्षया प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम् । अतो मैत्रादिवचनैः पितुः
प्रागूर्ध्वं वा विभाज्यत्वेनोक्तस्य 'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते' इत्यपवाद इति व्याख्ये-
यम् । तथाऽन्यदप्यविभाज्यमुक्तं मनुना (१।२१९)—'वस्त्रं पत्रमलंकारं कृता-
श्चमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥' इति । धनानामेव
वस्त्राणामविभाज्यत्वं, यद्येन धृतं तत्तस्यैव । पितृधृतवस्त्राणि तु पितुरुर्ध्वं विभ-
जतां श्राद्धभोक्त्रे दातव्यानि । यथाह बृहस्पतिः—'वस्त्रालंकारशय्यादि पितुर्य-
द्वाहनादिकम् । गन्धमाख्यैः समभ्यर्च्य श्राद्धभोक्त्रे समर्पयेत् ॥' इति । अभिन-
वानि तु वस्त्राणि विभाज्यान्येव । पत्रं वाहनमश्वशिविकादि, तदपि यद्येनारुढं
तत्तस्यैव । पिश्रुं तु वस्त्रवदेव, अश्वादीनां बहुत्वे तु तद्विक्रयोपजीविनां विभा-

१. समं विभजनीयं । २. विरोधश्चापद्येत । ३. निषेधः । ४. चाविभाज्य ।

५. इत्यस्यापवाद । ६. पितृधृतानि ।

उप्यस्वमेव । वैषम्येणाविभाज्यत्वे ज्येष्ठस्य (मनुः १।११९)—‘अजाविकं सैक-
शफं न जातु विषमं भजेत् । अजाविकं सैकशफं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥’ इति
मनुस्मरणात् । अलंकारोऽपि यो येन धृतः स तस्यैव । अधृतः साधारणो
विभाज्य एव । (मनुः १।२००)—‘पर्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो
भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥’ इति । ‘अलंकारो धृतो
भवेत्’ इति विशेषेणोपादानादधृतानां विभाज्यत्वं गम्यते । कृताद्यं तदुल्लोमोद-
कादि तदप्यविभाज्यं यथासंभवं भोक्तव्यम् । उदकं उदकाधारः कृपादि, तच्च
विषमं मूल्यद्वारेण न विभाज्यं पर्यायेणोपभोक्तव्यम् । स्त्रियश्च दास्यो विषमाः
न मूल्यद्वारेण विभाज्याः, पर्यायेण कर्म कारयितव्याः । अवस्तुदास्तु पित्रा
स्वैरिण्याद्याः समा अपि पुत्रैर्न विभाज्याः । ‘स्त्रीषु च संयुक्तास्वविभागः’ (२८।-
४६) इति गौतमस्मरणात् । योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमम् । ‘योग’शब्देनालब्धलाभ-
कारणं श्रौतस्मार्ताग्निसाध्यं इष्टं कर्म लक्ष्यते । ‘क्षेम’शब्देन लब्धपरिरक्षणहेतुभूतं
अहिर्वेदिदानतडागारामनिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते । तदुभयं पैतृकमपि
पितृद्वयविरोधार्जितमप्यविभाज्यम् । यथाह लौगाक्षिः—‘क्षेमं पूर्तं योगमिष्ट-
मित्याहुस्तत्त्वदर्शिनः । अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च ॥’ इति ।
‘योगक्षेम’ शब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते—इति
केचित् । छत्रचामरशस्त्रोपानस्रभृतय इत्यन्ये । प्रचारो गृहाराभादिषु
प्रवेशनिर्गममार्गः सोऽप्यविभाज्यः । यत्तूशनसा क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमुक्तम्—
‘अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि । याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृताञ्च-
मुदकं स्त्रियः ॥’ इति, तद्ब्राह्मणोत्पन्नक्षत्रियादिपुत्रविषयम् । ‘न प्रतिग्रह-
भूदेया क्षत्रियादिसुताय वै । यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥’
इति स्मरणात् । याज्यं याजनकर्मलब्धम् । पितृप्रसादलब्धस्याविभाज्यत्वं
वक्ष्यते । नियमातिक्रमाजितस्याविभाज्यत्वमनन्तरमेव न्यरासि । पितृद्वय-
विरोधेन यदजितं तद्विभजनीयमिति स्थितं, तत्रार्जकस्य भागद्वयं; वसिष्ठ-
वचनात्—‘येन चैषां स्वयमुपार्जितं स्यात्स द्वयंशमेव लभेत’ (१७।५१)
इति ॥ ११८-११९ ॥

भाषा—माता पिता के धन की सहायता के बिना स्वयं कहीं से स्वयं
उपार्जित धन, मित्र से मिले हुए तथा विवाह में प्राप्त धन में भाइयों का
हिस्सा नहीं होता । पितृ परम्परा से आया हुआ धन, जिसे किसी और ने
बलपूर्वक अधिकार में किया हो, छुड़ाने वाले पुत्र का होता है, उसमें से

१. तु विषमं—मनुस्मृतिः । २. पतन्त्यधः । ३. विशेषस्योपादाना ।
४. करणं ।

माइयों को अंश न देवे; तथा अपनी विद्या के द्वारा प्राप्त धन में भी दायादों का अंश नहीं होता ॥ ११८-११९ ॥

अस्थापवादमाह—

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः ।

अविभक्तानां आतृणां सामान्यस्यार्थस्य कृषिवाणिज्यादिना संभूय समुत्थाने सम्बन्धवर्धने केनचित्कृते सम एव विभागो नार्जयितुरंशद्वयम् ॥—

पित्र्ये द्रव्ये पुत्राणां विभागो दर्शितः; इदानीं पैतामहे पौत्राणां विभागो विशेषमाह—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना ॥ १२० ॥

यद्यपि पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वत्वं पुत्रैरविशिष्टं, तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पैतामहद्रव्ये^३ विभागकल्पना, न स्वरूपापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदाऽविभक्ता आतरः पुत्रानुत्पाद्य दिवं गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रौ, अन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावेकं^४ स्वपित्र्यमंशं लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं, चत्वारोऽप्येकमेवांशं पित्र्यं लभन्त इति । तथा केषुचि-
त्पुत्रेषु द्वित्रयमाणेषु केषुचित्पुत्रानुत्पाद्य विनष्टेष्वप्ययमेव न्यायः । द्वित्रयमाणाः स्वानंशानेव लभन्ते, नष्टानामपि पुत्राः पित्र्यानेवांशं लभन्त इति वाचनिकी व्यवस्था ॥ १२० ॥

भाषा—विभाजन के पहले माइयों के एक में रहते समय के सामान्य धन की कृषि व्यापार आदि से वृद्धि होने पर उसमें सबका समान अंश होता है । पितामह के धन में पिता के अंश के आधार पर ही पुत्र के अंश का निर्धारण होता है (अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में अपने-अपने पिता का भाग लगाकर और फिर अपने-अपने पिता के भाग में अपने अंश का भाग लगाने पर ही पौत्र का भाग आता है ॥ १२० ॥

अधुना विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति ।^५ अद्वित्रयमाणे पितरि 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) द्रष्टुं कृत्वा । भवतु ना स्वाजितवत्पितुरिच्छयैवेत्याशङ्कित आह—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।

तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥ १२१ ॥

१. साधारणस्यार्थस्य । २. भागद्वयम् । ३. द्रव्यविभाग । ४. पित्रंशं । ५. स्वयमेव । ६. द्वित्रयमाणे तु पितरि । ७. चोभयोः ।

भूः शालिक्षेत्रादिका । निबन्ध एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानि, तथा एकस्य क्रमुकफलभरकस्येयन्ति क्रमुकफलानीत्याद्युक्तलक्षणः । द्रव्यं सुवर्णरज-
तादि यत्पितामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्धं तत्र पितुः पुत्रस्य च स्वोऽयं
लोकप्रसिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति । हि यस्मात्तत्सदृशं समानम्, तस्मान्न
पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम् । अतश्च 'पितृतो भागकल्पना'
(व्य० १२०) इत्येतस्त्वाभ्ये समेऽपि वाचनिकम् । 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्'
(व्य० ११४) इत्येतस्त्वाजितविषयम् । तथा—'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभज्या-
स्मनः पिता' (नारदः १३।१२) इत्येतदपि स्वाजितविषयम् । 'जीवतोरस्व-
तन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतन्त्र्यं मातापित्रर्जितद्रव्यवि-
षयम् । तथा—'अनीशास्ते हि जीवतोः' इत्येतदपि । तथा सरजस्कायां मातरि
सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति ।
तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽ-
प्यधिकारः, पित्रर्जिते न तु निषेधाधिकारः, तत्परतन्त्रत्वात् । अनुमतिस्तु
कर्तव्या । तथा हि—पैतृके पैतामहे च स्वाभ्यं यद्यपि जन्मनैव, तथापि पैतृके
पितृपरतन्त्रत्वात् पितृश्चार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वाजिते
द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या । पैतामहे तु द्वयोः स्वाभ्यमविशिष्टमिति निषेधा-
धिकारोऽप्यस्तीति विशेषः । मनुवरि (१।२०९) 'पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवार्यं
यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥' इति । यत्पितामहर्जितं
केनाव्यपहृतं पितामहेनानुद्धृतं यदि पितोद्धरति तस्त्वाजितमिव पुत्रैः सार्ध-
मकामः स्वयं न विभजेदिति वदन् पितामहर्जितमकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह
विभजेदिति दर्शयति ॥ १२१ ॥

भाषा—जो भूमि, निबन्ध (जुझी आदि) एवं धन पितामह ने उपा-
र्जित किये हों उसमें भी उपरोक्त के समान ही पहले पिता का भाग लगाकर
फिर उसके अन्तर्गत पुत्र का भाग होता है ॥ १२१ ॥

विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक् । विभज्यत
इति विभागः । पित्रोर्विभागस्तं भजतीति विभागभाक्; पित्रोरुर्ध्वं तयोरंशं
लभत इत्यर्थः । मातृभागं चासत्यां दुहितरि, 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य०

११७) इत्युक्तत्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते, मातृकं तु सर्वमेव । एतदेव मनुनोक्तम् (१।२।१६)—‘ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्’ इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम् ; ‘अनीशः पूर्वजः पित्रोर्भातु-भागे विभक्तजः’ इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागादूर्ध्वमुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातृभागे न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किंचिदुद्धृतं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव; ‘पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वय-मर्जितम् । विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशः पूर्वजाः स्मृताः ॥’ इति स्मरणात् । ये च विभक्ताः पित्रा सह संसृष्टाः पितरूर्ध्वं तैः सार्धं विभक्तजो विभजेत् । यथाह मनुः (१।२।१६)—‘संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह’ इति ॥—

पितरूर्ध्वं पुत्रेषु विभक्तेषु पश्चादुत्पन्नस्य कथं विभागकरणेत्यत आह—

दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ १२२ ॥

तस्य पितरि प्रेते भ्रातृविभागसमयेऽस्पृष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तर-कालमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभागः कुत इत्यत आह । दृश्याद्वातृभिर्गृहीता-द्धनात् । कीदृशात् ? आयव्ययविशोधितात् । आयः प्रतिदिवसं प्रतिमासं प्रत्यब्दं वा यदुत्पद्यते, व्ययः पितृकृतर्णापाकरणं, ताभ्यामायव्ययाभ्यां यच्छो-धितं तत्तस्मादुद्धृत्य तद्भागो दातव्यः स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्थमायं प्रवेश्य पितृकृतं चर्णमपनीयावशिष्टेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यो भागेभ्यः^१ किंचिदुद्धृत्य विभक्तजस्य भागः स्वभागसमः कर्तव्य इति । एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातृभार्यायामस्पृष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्न-स्यापि वेदितव्यम् । स्पृष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीच्य विभागः कर्तव्यः । यथाह बसिष्ठः (१७।४१)—‘अथ भ्रातृणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासा-मापुत्रलाभात्’ इति । गृहीतगर्भायामाप्रसवात्प्रतीचनमिति योजनीयम् ॥ १२२ ॥

भाषा—पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन होने के कुछ कालोपरान्त यदि सवर्णा पत्नी से पुत्र उत्पन्न होता है तो वह भी भाग का अधिकारी होता है । पिता के मरने पर यदि भाइयों के विभाग के समय माता को गर्भ हो किन्तु वह ज्ञात न हो और उससे विभाग होने के कुछ कालोपरान्त पुत्र होवे तो आय-व्यय का हिसाब करके उसमें से उसे भाग देना चाहिए ॥ १२२ ॥

१. मातृभागं तु सर्वमेव । मातृभागं । २. कृतमृणं । ३. भागेभ्यो यत्किंचिदुद्धृत्य । ४. समये भ्रातृभार्यामप्रजायामस्पृष्टगर्भायां स्वभागा । समये भ्रातृभार्यामप्रजस्य स्पृष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वं ।

विभक्तजः पित्र्यं मातृकं च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्तः पिता माता वा विभक्ताय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति, तदा विभक्तजेन दानप्रतिषेधो न कर्तव्यः; नापि दत्तं प्रत्याहर्तव्यमित्याह—

पितृभ्यां यस्य यद् दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलंकारादि, तत्तस्यैव पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्वं भवति । न्यायसाध्याद्विभागाध्यागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव । तथा असति विभक्तजे विभक्तयोः पित्रोरंशं तदूर्ध्वं विभजतां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव, नान्यस्येति वेदितव्यम् ॥—

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमांशित्वं पत्नीनामुक्तं, 'यदि कुर्यात्समानंशान्' (व्य० ११५) इत्यादिना । पितरूर्ध्वं विभागेऽपि पत्नीनां स्वपुत्रसमांशित्वं दर्शयितुमाह—

पितरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

पितरूर्ध्वं पितुः प्रायणादूर्ध्वं विभजतां मातापि स्वपुत्रांशसममंशं हरेत्,— यदि स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते स्वर्धांशहारिणीति वक्ष्यते ॥ १२३ ॥

भाषा—माता-पिता जिस (विभक्त) पुत्र को जो वस्तु देते हैं वह उसी का धन होता है । पिता की मृत्यु के बाद (यदि स्त्रीधन न मिला हो) तो विभाग के समय माला भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे ॥ १२३ ॥

पितरि प्रेते यद्यसंस्कृता भ्रातरः सन्ति, तदा तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्यत आह—

“असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।

पितरूर्ध्वं विभजद्विभ्रातृभिरसंस्कृता भ्रातरः समुदायद्रव्येण संस्कर्तव्याः ॥—

असंस्कृतासु भगिनीषु विशेषमाह—

भगिन्यश्च निजादंशाद् दत्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्यार्थः—भगिन्यश्चासंस्कृताः संस्कर्तव्या भ्रातृभिः । किं कृत्वा ? निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्त्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितरूर्ध्वमंशभगिन्य इति गम्यते । तत्र 'निजादंशात्' इति प्रत्येकं परिकल्पितादंशादुद्धृत्य चतुर्थांशो दातव्य इत्येवमर्थो न भवति, किंतु यज्जातीया कन्या, तज्जातीयपुत्रभागाच्चतु-

१. तस्यैव । २. मातुः स्वपुत्र । ३. प्रायणा । ४. वक्ष्यति । ५. असंस्कृताः । ६. संस्कार्याः । ७. इत्येवमर्थो । इत्यर्थो ।

यांशभागिनी सा कर्तव्या । एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य यावानंशो भवति, तस्य चतुर्थांशस्तस्या भवति । तद्यथा—यदि कस्यचिद् ब्राह्मणस्यैका पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका, तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका, तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा विभज्य तत्रैकं भागं विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं पुत्रो गृह्णीयात् ; यदा तु द्वौ पुत्रौ एका च कन्या, तदा पितृधनं सर्वं त्रिधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीतः; अथ स्वेकः पुत्रो द्वे कन्ये, तदा पित्र्यं धनं त्रिधा विभज्य एकं चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्यां कन्याभ्यां दत्त्वाऽवशिष्टं सर्वं पुत्रो गृह्णीतीत्येवं समानजातीयेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनीयम् । यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एकः क्षत्रिया-कन्या चैका, तत्र पितृधनं सप्तधा विभज्य क्षत्रियापुत्रभागांश्चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णीति । यदा तु द्वौ ब्राह्मणी-पुत्रौ क्षत्रियाकन्या चैका, तत्र पित्र्यं धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रीनंशान् क्षत्रियापुत्रभागांश्चतुर्धा विभज्य चतुर्थमंशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणीपुत्रा विभज्य गृह्णीतः ॥ एवं जातिवैषम्ये भ्रातॄणां भगिनीनां च संख्यायाः साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोहनीयम् । नच^१ 'निजादंशादत्त्वांशं तु तुरीयक'मिति तुरीयांशविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं दत्त्वेति व्याख्यानं युक्तम् । मनुवचनविरोधात् (१।१।१८)—'स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् । स्वास्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥' इति । अस्यार्थः—ब्राह्मणादयो भ्रातरौ ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्यः स्वेभ्यः स्वजातिविहितेभ्योऽंशेभ्यः 'चतुरी-ऽंशानहरेद्विप' (मनुः १।१।५३) इत्यादिवक्ष्यमाणेभ्यः स्वास्वादंशादारमीया-दारमीयाङ्गागाच्चतुर्थं चतुर्थं भागं दद्युः । न चात्रारमीयभागादुद्धृत्य चतुर्थांशो देय इत्युच्यते, किंतु स्वजातिविहितादेकस्मादेकस्मादंशात्पृथक्पृथगेकस्याप्येकस्यै कन्यायै चतुर्थोऽंशो देय इति जातिवैषम्ये संख्यावैषम्ये च विभागवत्कृतिरुक्तैव । 'पतिताः स्युरदित्सव' इत्यकरणे प्रत्यवायश्रवणादवश्यदातव्यता प्रतीयते । अत्रापि चतुर्थभागवचनमविवक्षितं संस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न । स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानविवक्षायां प्रमाणाभावाददाने प्रत्यवा-यश्रवणाच्चेति । यदपि कैश्चिदुच्यते—अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकायाः धृ-धनत्वं, बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तीत्या परिहृतमेव ।

१. कस्यचिद्ब्राह्मण्येवैका । २. अथ तु । ३. गृह्णीयात् एवं । ४. पित्र्यं धनं । ५. गृह्णीयात् । ६. गृह्णीयाताम् । ७. नच दत्त्वांशं तु । ८. संस्कारोप-योगि । ९. बहुधनकत्वं ।

नहन्नास्मीयाद्वागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात् ; अतोऽस-
हायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव चतुर्गुणं, न भारुचेः । तस्मात्पितुर्पूर्वं
कन्याप्यंशभागिनी पूर्वं चेद्यत्किंचिद्विपिता ददाति, तदेव लभते; विशेषवचना-
भावादिति सर्वमनवद्यम् ॥ १२४ ॥

भाषा—पिता की मृत्यु के बाद यदि भाई विभाजन करें तो जिन
भाइयों का संस्कार न हुआ हो उनका संस्कार सबके सम्मिलित धन द्वारा
होना चाहिए और बहनों का विवाह-संस्कार न हुआ हो तो सभी भाई अपने
भाग से चतुर्थांश देकर उनका संस्कार करें ॥ १२४ ॥

एवं 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्' (व्य० ११४) इत्यादिना प्रबन्धेन समा-
नजातीयानां भ्रातृणां परस्परं पित्रा च सह विभागश्चलृप्तिरुक्ता; अधुना भिन्न-
जातीयानां विभागमाह—

चतुस्त्रिद्वयेकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ।

क्षत्रजास्त्रिद्वयेकभागा विड्जास्तु द्वयेकभागिनः ॥ १२५ ॥

'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (भा० १७) इति ब्राह्मणस्य चतस्रः, क्षत्रियस्य
तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैकेति भार्या दर्शिताः । तत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणो-
त्पन्ना वर्णशः—'वर्ण' शब्देन ब्राह्मणादिवर्णाः स्त्रिय उच्यन्ते । 'संख्यैकवचनाच्च
वीप्सायाम्' (पा० ५।४।४३) इत्यधिकरणकारकादेकवचनाद्वीप्सायां शस् ।
अतश्च वर्णे वर्णे ब्राह्मणोत्पन्नाः यथाक्रमं चतुस्त्रिद्वयेकभागाः स्युर्भवेयुः । एत-
दुक्तं भवति—ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशश्चतुरश्वतुरो भागांश्चलृप्ते ।
तेनैव क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति ।
क्षत्रजाः क्षत्रियेणोत्पन्नाः, 'वर्णशः' इत्यनुवर्तते; यथाक्रमं; त्रिद्वयेकभागाः ।
क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन्, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमे-
कम् । विड्जाः वैश्येणोत्पन्नाः । अत्रापि 'वर्णशः' इत्यनुवर्तते, यथाक्रमं द्वयेक-
भागिनः । वैश्येन वैश्यायामुत्पन्नाः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भागौ लभन्ते । शूद्राया-
मेकमेकम् । 'शूद्रस्यैकैव भार्या' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्तत्पुत्राणां पूर्वोक्त
एव विभागः; यद्यपि 'चतुस्त्रिद्वयेकभागा' इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि प्रतिग्रह-
प्राप्तभूयतिरिक्तविषयमिदं द्रष्टव्यम् । यतः स्मरन्ति—'न प्रतिग्रहभूदेया
क्षत्रियादिसुताय वै । यद्यप्येषा पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥' इति ।
प्रतिग्रहग्रहणात्कयादिना लब्धा भूः क्षत्रियादिसुतानामपि भवत्येव । शूद्रापुत्रस्य

१. वरिष्ठ, न भागुरेः । २. विड्जौ तु द्वयेकभागिनौ । ३. वर्णास्त्रिय
उच्यन्ते । ४. त्पन्ना एकैकशश्चतुस्त्रि ।

विशेषप्रतिषेधाच्च । 'शूद्राणां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति' इति । यदि क्रयादिप्राप्ता भूः क्षत्रियादिसुतानां न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते । यत्पुनः (मनुः १।१५५)—'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थ-भाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥' इति, तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्तं स्यात्तद्विषयम् । यदा तु प्रसाददानं नास्ति, तदैकांशभागिरयविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

भाषा—वर्णानुसार ब्राह्मण के (क्रमशः चार वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न) पुत्रों के चार, तीन, दो और एक भाग होते हैं; क्षत्रिय के (क्रमशः क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) पुत्रों का तीन, दो और एक भाग, वैश्य के (क्रमशः वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न) पुत्रों के दो और एक भाग होते हैं ॥ १२५ ॥

अथ सर्वविभागशेषे किञ्चिदुच्यते—

अन्योन्यापहतं 'द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते ।

तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ १२६ ॥

परस्परापहतं समुदायद्रव्यं विभागकाले चाज्ञातं विभक्ते पितृधने यद्-दृश्यते, तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येवं स्थितिः शास्त्रमर्यादा । अत्र 'समैरंशैः' इति वदतोद्धारविभागो निषिद्धः । विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितम् । एवं च वचनस्यार्थवत्त्वाच्च समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपरत्वम् । ननु मनुना ज्येष्ठस्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषो दर्शितो न कनीयसाम् (मनुः १।२१३) 'यो' ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातृन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥' इति वचनात् । नैतत् ; यतः संभावितत्वात्तन्व्यस्य पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्यापि दोषं वदता ज्येष्ठपरतन्त्राणां कनीयसां पुत्रस्थानीयानां दण्डापूर्विकनीत्यां सुतरां दोषो दर्शित एव । तथा चाविशेषेणैव दोषः श्रूयते । गौतमः—'यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते चैनं स यदि चैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयत' इति । यो भागिनं भागाहं भागान्नुदते भागादपाकरोति भागं तस्मै न प्रयच्छति, स भागान्नुदत एनं नोत्तारं चयते नाशयति दोषिणं करोति; यदि तं न नाशयति, तदा तस्य पुत्रं पौत्रं वा नाशयतीति, ज्येष्ठविशेषमन्तरेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दोषः श्रुतः । अथ साधारणं द्रव्यमात्मनोऽपि स्वं भवतीति स्वत्वबुद्ध्या गृह्यमाणं न दोषमावहतीति मतम् । तदसत् ,

१. प्रसं । २. यदि दृश्यते । ३. वा ज्ञातं । ४. ज्ञातं । ५. यो लोभाद्वि-
निकुर्वीत । ५. नोत्तारं । ६. श्रूयते ।

स्वबुद्ध्या गृहीतेऽप्यवर्जनीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुप्रवेशाद्दोष-
मावहस्येव । यथा मौद्रे चरौ विपक्षे सदृशतया माषेषु गृह्यमाणेषु 'अयज्ञिया
वै माषाः' इति निषेधो न प्रविशति, मुद्रावयवबुद्ध्या गृह्यमाणत्वादिति पूर्वप-
क्षिणोक्ते मुद्रावयवेषु गृह्यमाणेष्ववर्जनीयतया माषावयवा अपि गृह्यन्त एवेति
निषेधः प्रविशत्येवेति राद्धान्तिनोक्तम् । तस्माद्वचनतो न्यायतश्च साधारणद्र-
व्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

भाषा—विभाग के समय आपस में छिपाकर रखा गया धन यदि पितृ-
धन के विभाग के उपरान्त दिखाई पड़े तो वे सभी भाई उसका समान अंश
करके विभाजन कर लें; यही नियम है ॥ १२६ ॥

द्वयामुष्याद्यणस्य भागविशेषं दर्शयंस्तस्य स्वरूपमाह—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।

उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ १२७ ॥

'अपुत्रां गुर्वनुज्ञातः' (आ० ६८) इत्याद्युक्तविधिना अपुत्रेण देवरादिना
परक्षेत्रे परभार्यायां गुरुनियोगेनोत्पादितः पुत्रः उभयोर्बीजक्षेत्रिणोरसौ
रिक्थी रिक्थहारी पिण्डदाता च धर्मत इति । अस्यार्थः—यदाऽसौ
नियुक्तो देवरादिः स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य^१ क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो यं जनयति, स
द्विपितृको द्वयामुष्याद्यणो द्वयोरपि रिक्थहारी पिण्डदाता च । यदा तु नियुक्तः
पुत्रवान् केवलं क्षेत्रिणः पुत्रार्थं प्रैयतते, तदा तदुत्पन्नः क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति,
न बीजिनः । स च न नियमेन बीजिनो रिक्थहारी पिण्डदो वेति ।
यथोक्तं मनुना (१।५३)—'क्रियाभ्युपगमाक्षेत्रं बीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह
भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥' इति । क्रियाभ्युपगमादिति अत्रोत्पन्न-
मपत्यमावयोरुभयोरपि भवत्विति संविदङ्गीकर्णायक्षेत्रं क्षेत्रस्वामिना^२ बीजाव-
पनार्थं बीजिने दीयते तत्र तस्मिन्क्षेत्रे उत्पन्नस्यापत्यस्य बीजिक्षेत्रिणौ भागिनौ
स्वामिनौ दृष्टौ महर्षिभिः । तथा (मनुः १।५२)—'फलं त्वनभिसंधाय
क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥' इति ।
फलं त्वनभिसंधायेति । अत्रोत्पन्नमपत्यमावयोरुभयोरस्त्वित्येवमनभिसंधाय
परक्षेत्रे यदपत्यमुत्पाद्यते तदपत्यं क्षेत्रिण एव । यतो बीजाद्योनिर्बलीयसी;
गवाश्वादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि^३ नियोगो वाग्दत्ताविषय एव; इतरस्य
नियोगस्य मनुना निषिद्धत्वात् (१।५९, ६०)—'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया

१. अपरस्य । २. प्रवर्तते । ३. पिण्डदाता च । ४. करणेन यत्क्षेत्रं ।
५. बीजावपनार्थं । ६. तथानियोगो ।

सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिच्छेदे ॥ विधवायां
 नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥
 इत्येवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति (९।६४, ६८)—‘नान्य-
 स्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन्निह नियुज्जाना
 धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
 न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो
 विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ स महीमखिलां
 भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ततः
 प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपत्निकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं गर्हन्ते तं
 हि साधवः ॥’ इति ॥ न च विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति मन्तव्यम् ;
 नियोक्तृणां निन्दाश्रवणात्, स्त्रीधर्मेषु व्यभिचारस्य बहुदोषश्रवणात्, संयमस्य
 प्रशस्तत्वाच्च । यथाह मनुरेव (५।१५७)—‘कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः
 शुभैः । नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥’ इति जीवनार्थं पुरुषान्त-
 राश्रयणं प्रतिषिध्य (मनुः ५।१५८।१६१)—‘आसीतामरणान्त्वान्ता नियता
 ब्रह्मचारिणी । यो धर्मं एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ अनेकानि सहस्राणि
 कौमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ मृते
 भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यं व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते
 ब्रह्मचारिणः ॥ अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दासमाप्नोति
 परलोकाच्च ह्रीयते ॥’ इति पुत्रार्थमपि पुरुषान्तराश्रयणं निषेधति । तस्माद्-
 विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे
 कस्तर्हि धर्म्यो नियोग इत्यत आह (मनुः ९।६९।७०)—‘यस्या त्रियेत
 कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ यथा-
 विध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिब्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्वतावृतौ ॥’
 इति । यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरित्यस्मादेव
 वचनादवगम्यते । तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्य उयेष्टः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत
 परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घृताभ्य-
 ङ्गवाङ्मन्यमादिनां शुक्लवस्त्रां शुचिब्रतां मनोवाक्कायसंयतां मिथो रहस्यागर्भग्रह-
 णात्प्रत्यवेकवारं गच्छेत् । अयं च विवाहो वाचनिको घृताभ्यङ्गादिनियमवत्,
 नियुक्ताभिगमनाङ्गमिति न देवरस्य; भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पन्नमपत्यं
 चैत्रस्वामिन एव भवति, न देवरस्य संविदा तूभयोरपि ॥ १२७ ॥

भाषा—पुत्रहीन देवर भादि द्वारा दूसरे की पत्नी से नियोग विधि से

उत्पन्न पुत्र दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है और धर्मानुसार पिण्ड-दान देने वाला होता है ॥ १२७ ॥

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागवृत्तिरुक्ता, अधुना मुख्यगौण-पुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यंस्तेषां स्वरूपं तावदाह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ।

क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥ १२८ ॥

उरसो जात औरसः पुत्रः, स च धर्मपत्नीजः—सवर्णा धर्मविवाहोऽहो धर्मपत्नी, तस्यां जात औरसः पुत्रो मुख्यः । तत्समः पुत्रिकासुतः तत्सम औरससमः, पुत्रिकायाः सुतः पुत्रिकासुतः । अत एव औरससमः । यथाह वसिष्ठः—‘अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥’ इति । अथवा पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुतः; सोऽप्यौरससम एव पित्रवयवानामल्पत्वात्, मात्रवयवानां बाहुल्याच्च; यथाह वसिष्ठः (१७।१५)—‘तृतीयः पुत्रिकैव’ इति । तृतीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः । ब्राम्हण-यणस्तु जनकस्यौरसादपकृष्टः; अन्यक्षेत्रोत्पन्नत्वात् । ‘क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा । इतरेण सपिण्डेन देवरेण वोत्पन्नः पुत्रः क्षेत्रजः ॥ १२८ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक विवाहिता सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र औरस होता है पुत्रिकासुत (पुत्रों का पुत्र, नाती अथवा एकमात्र पुत्रो जो पुत्र सी होती है) उस (औरस पुत्र) के समान ही होता है । क्षेत्रज और क्षेत्रजात पुत्र सगोत्र या दूसरे सपिण्ड आदि द्वारा उत्पन्न होता है ॥ १२८ ॥

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।

कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥ १२९ ॥

गूढजः पुत्रो भर्तृगृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो हीनाधिकजातीयपुरुषजत्वपरिहारेण पुरुषविशेषजत्वनिश्चयाभावेऽपि सवर्णजत्वनिश्चये सति बोद्धव्यः । कानीनस्तु कन्यकायामुत्पन्नः पूर्ववत्सवर्णात्स मातामहस्य पुत्रः । यद्यनूढा सा भवेत्तथा पितृगृह एव संस्थिता, अथोऽहो तदा वोढुरेव पुत्रः । यथाह मनुः (९।१७२)—‘पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाग्ना वोढुः कन्यास-मुद्भवम् ॥’ इति ॥ १२९ ॥

भाषा—घर में (निम्न जाति के पुरुष संसर्ग के कारण) प्रच्छन्न रूप से उत्पन्न पुत्र गूढज कहलाता है और कुंवारी कन्या से उत्पन्न कानीन मातामह अर्थात् नाना का पुत्र होता है ॥ १२९ ॥

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥

पौनर्भवस्तु पुत्रोऽक्षतायां क्षतायां वा पुनर्भवां सवर्णादुत्पन्नः । मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रोषिते प्रेते वा भर्तरि पित्रा वोभाभ्यां वा सवर्णाय यस्मै दीयते, स तस्य दत्तकः पुत्रः । यथाह मनुः (९।१६८)—‘माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥’ इति । आपद्प्रहणादनापदि न देयः; दातुरयं प्रतिषेधः । तथा एकपुत्रो न देयः । ‘न स्वेवैकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा’ (१।५।३) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाऽनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः । ‘ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः’ (मनुः ९।१०६)—इति तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारश्च ‘पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजानि चावेद्य निवेशनमध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूर-बान्धवं बन्धुसंनिष्ट एव प्रतिगृह्णीयात्’ इति वसिष्ठेनोक्तः । ‘अदूरबान्धवम्’ इत्यत्यन्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः । एवं क्रीतस्वयंदत्तकृत्रिमेवपि योजनीयम् ; समानन्यायत्वात् ॥ १३० ॥

भाषा—अक्षता (पहले पुरुष सम्पर्क से वञ्चित) या क्षता (जो पहले यौन संबन्ध का अनुभव कर चुकी हो) सवर्णा पुनर्भू (पुनः विवाहिता) का पुत्र पौनर्भव होता है; जिस पुत्र को माता और पिता किसी को दे देवे वह दत्तकपुत्र कहलाता है ॥ १३० ॥

क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विघ्नः सहोदजः ॥ १३१ ॥

क्रीतस्तु पुत्रस्ताभ्यां मातापितृभ्यां मात्रा पित्रा वा विक्रीतः पूर्ववत्, तथैकं पुत्रं ज्येष्ठं च वर्जयित्वा आपदि सवर्णं इत्येव । यत्तु मनुनोक्तम् (९।१७४)—‘क्रीणीयाद्यस्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥’ इति, तद्गुणैः सदृशोऽसदृशो वेति व्याख्येयं, न जात्या; ‘सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु’ (व्य० १३३) इत्युपसंहारात् । कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः । कृत्रिमस्तु पुत्रः स्वयं पुत्रार्थिना धनत्वेनप्रदर्शनादि-प्रलोभनैः पुत्रीकृतो मातापितृविहीनः तत्सद्भावे तत्परतन्त्रत्वात् । दत्तात्मा तु पुत्रो यो मातापितृविहीनस्ताभ्यां त्यक्तो वा तवाहं पुत्रो भवामिति स्वयंदत्तस्व-

१. निषेधः । २. गर्भे विघ्नः । ३. प्रलोभन । ४. स्वयंदत्त उपनतः ।

मुपगतः । सहोदजस्तु गर्भे स्थितो गर्भिण्यां परिणीतायां यः परिणीतः स चोदुः पुत्रः ॥ १३१ ॥

भाषा—माता-पिता द्वारा (या उनमें से किसी एक द्वारा) धन लेकर दूसरे के हाथ बेचा गया पुत्र क्रीतपुत्र होता है और स्वयं बनाया गया पुत्र कृतिम कहलाता है । (माता पिता से त्यक्त या हीन होकर) स्वयं को पुत्र के रूप में अर्पित करने वाला दत्तात्मा और विवाह के समय जो गर्भ में रहा हो वह सहोदज पुत्र कहलाता है ॥ १३१ ॥

उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ।

अपविद्धो मातापितृभ्यामुत्सृष्टो यो गृह्यते, स ग्रहीतुः पुत्रः सर्वत्र सवर्ण इत्येव ॥—

एवं मुख्यामुख्यपुत्राननुक्रम्यैतेषां दायग्रहणे क्रममाह—

पिण्डद्वौऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ॥ १३२ ॥

एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां पूर्वस्य पूर्वस्याभावे उत्तर उत्तरः श्राद्धद्वौऽशहरो धनहरो वेदितव्यः । औरसपौत्रिकेयसमवाये औरसस्यैव धनग्रहणे प्राप्ते मनुपवादात्माह (९।१३४)—‘पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥’ इति । तथा अन्येषामपि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सत्यप्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागित्वमुक्तं वसिष्ठेन । ‘तस्मिन् श्वेत्पतिगृहीते औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः’ (१।५।९) इति । ‘दत्तक’ग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थम् ; पुत्रीकरणाविशेषात् । तथा च कात्यायनः—‘उत्पन्ने स्त्रीरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः । सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजनाः ॥’ इति । सवर्णा दत्तकक्षेत्रजादयस्ते सत्यौरसे चतुर्थांशहराः । असवर्णाः कानीनगूढोत्पन्नसहोदजपौनर्भवास्ते स्त्रीरसे सति न चतुर्थांशहराः, किंतु ग्रासाच्छादनभाजनाः । यदपि विष्णुवचनम्—‘अग्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोदजाः । पौनर्भवश्च नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिनः ॥’ इति, तदप्यौरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव; औरसाद्यभावे तु कानीनादीनामपि सकलपितृधनग्रहणमस्येव । ‘पूर्वाभावे परः परः’ इति वचनात् ॥ यदपि मनुवचनम् (९।१६३)—‘एक एवौरसः पुत्रः पितृस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥’ इति, तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यम् । तत्र क्षेत्रज्ञस्य विशेषो दर्शितस्तेनैव (मनुः९।१६४)—

‘षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥’ इति प्रतिकूलत्वनिर्गुणत्वसमुच्चये षष्ठमंशम् , एकतरसद्भावे पञ्चममिति विवेक्तव्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां षट्कद्वयमुपन्यस्य पूर्वषट्कस्य दायादबान्धवत्वमुक्तम् , उत्तरषट्कस्यादायादबान्धवत्वमुक्तम् (मनुः १।१५१।१६०)— ‘औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ कानीनश्च सहोदृश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षट्दायादबान्धवाः ॥’ इति, तदपि स्वपितृसपिण्डसमानोदकानां संनिहितरिक्थहरान्तराभावे पूर्वषट्कस्य तद्विक्थहरत्वम् , उत्तरषट्कस्य तु तन्नास्ति । बान्धवत्वं पुनः समानगोत्रत्वेन सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यंकरत्वं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति व्याख्येयम् ॥ (मनुः १।१४२)—‘गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्त्रिमः सुतः । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥’ इत्यत्र ‘दत्त्रिम’ग्रहणस्य पुत्रप्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात् । पितृधनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषामन्विशिष्टम् । (मनुः १।१८५)—‘न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।’ इत्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वप्रतिपादनपरत्वात् । औरसस्य तु (मनुः १।१३६)—‘एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।’ इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात् । ‘दायाद’शब्दस्य ‘दायादानपि दापयेत्’ इत्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभागविषयत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च । वासिष्ठादिषु वर्गद्वयेऽपि कस्यचिद्व्यत्ययेन पाठो गुणवदगुणवद्विषयो वेदितव्यः । गौतमीये तु ‘पौत्रिके यस्य दशमत्वेन पाठो विजातीयविषयः । तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे परः परोऽंशभागिति ॥ यत्तु (१।१८२)—‘भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् । सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥’ इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसंभवेऽन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम् , न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादनाय । ‘तत्सुता गोत्रजा वन्धुः—’ (व्य० १३५) इत्यनेन विरोधात् ॥ १३२ ॥

भाषा—माता पिता द्वारा छोड़ा जाने पर जो पुत्र ग्रहण किया जाता है वह अपविद्ध पुत्र होता है । इन पृथों में पहले-पहले के अभाव में बादवाले पिण्ड, दान एवं सम्पत्ति के अंशग्रहण के अधिकारी होते हैं ॥ १३२ ॥

इदानीमुक्तोपसंहारव्याजेन तत्रैव नियममाह—

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ।

समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं ‘पूर्वाभावे परः पर’ इत्युक्तो विधिः, न भिन्नजातीयेषु । तत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोदजपौनर्भवाणां सवर्णत्वं जनकद्वारेण,

न स्वरूपेण; तेषां वर्णजातिलक्षणाभावस्योक्तत्वात् । तथानुलोमजनानां सूखाव-
सिकादीनामौरसेष्वन्तर्भावात्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दासहरत्वं बोद्धव्यम् ।
शूद्रापुत्रस्त्वौरसोऽपि कृत्स्नं भागमन्याभावेऽपि न लभते । यथाह मनुः (१।१५४)
—‘यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमाहृष्टाच्छूद्रा-
पुत्राय धर्मतः ॥’ इति । यदि सत्पुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्यपुत्रोऽविद्यमान-
द्विजातिपुत्रो वा स्यात्तस्मिन्मृते क्षेत्रजादिर्वाऽन्यो वा सपिण्डः शूद्रापुत्राय तद्ध-
नादशमांशादधिकं न दद्यादित्यस्मादेव क्षत्रियावैश्यापुत्रयोः सवर्णापुत्राभावे
सकलधनग्रहणं गम्यते ॥

अधुना शूद्रधनविभागो विशेषमाह—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥

मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम् ।

अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितृणां सुतादृते ॥ १३४ ॥

शूद्रेण दास्यामुत्पन्नः पुत्रः कामतः पितुरिच्छया भागं लभते । पितुरुर्ध्वं
तु यदि परिणीतापुत्राः सन्ति तदा ते भ्रातरस्तं दासीपुत्रं अर्धभागिनं कुर्युः,
स्वभागादर्थं दद्युरित्यर्थः । अथ परिणीतापुत्रा न सन्ति तदा कृत्स्नं धनं दासी-
पुत्रो गृह्णीयात् यदि परिणीतादुहितरस्तत्पुत्रा वा न सन्ति । तत्सद्भावे स्वर्ध-
भागिक एव दासीपुत्रः । अत्र च ‘शूद्र’ग्रहणाद् द्विजातिना दास्यामुत्पन्नः
पितुरिच्छयाऽप्यंशं न लभते नाप्यर्धं, दुहितर एव कृत्स्नम् । किंत्वन्नकूल-
श्रेजीवनमात्रं लभते ॥ १३३-१३४ ॥

भाषा—मैंने समान जाति के पुत्रों के विषय में यह पूर्व और परभाव
का उल्लेख किया है । शूद्र द्वारा दासी से भी उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा से
अंशग्राही होता है । पिता की मृत्यु के बाद भाई (= परिणीता पत्नी के
पुत्र) उस दासीपुत्र को आधा भाग प्रदान करें । भाई (परिणीतापुत्र) न
हों और विवाहिता पुत्रियाँ एवं उनके पुत्र न हों तो दासीपुत्र सम्पूर्ण धन
ले लेवे ॥ १३३-१३४ ॥

मुख्यगौणसुता दायं गृह्णतीति निरूपितम्, तेषामभावे सर्वेषां दाय्यावक्रम
उच्यते—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।

तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः ॥ १३५ ॥

-
१. स्वरूपद्वारेण । २. प्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् । ३. विभागोऽपि ।
४. धनं गृह्णीयात् । ५. कृत्स्नं धनं, दूरत एव । ६. बन्धुशिष्याः सब्रह्म ।

एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।

स्वर्थातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्ता द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति असावपुत्रः, तस्यापुत्रस्य स्वर्थातस्य पर-
लोकं गतस्य धनभाक् धनग्राही एषां पत्न्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य
पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनभागिति संबन्धः । सर्वेषु द्यूषावसिक्तादिषु अनुलो-
मजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु अयं दायग्रहणविधिर्दायग्रह-
णक्रमो वेदितव्यः । तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक् । पत्नी विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो
यज्ञसंयोगे' (अ० ४।१।३३) इति स्मरणात् । एकवचनं च जात्यभिप्रायेण ।
ताश्च बह्वयश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य धनं गृह्णन्ति । वृद्ध-
मनुरपि पत्न्याः समग्रधनसंबन्धं वक्ति—'अपुत्रा दायनं भर्तुः पालयन्ती व्रते
स्थिता । पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत् च ॥' इति । वृद्धविष्णुरपि—
'अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे
भ्रातृगामि' इति । कात्यायनोऽपि—'पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी ।
तदभावे तु दुहिता यद्यनूदा भवेत्तदा ॥' इति । तथा 'अपुत्रस्याथ कुलजा पत्नी
दुहितरोऽपि वा । तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिताः ॥' इति । बृह-
स्पतिरपि (बृह. २।५।४८)—'कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु । असुतस्य
प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥' एतद्विरुद्धानीर्वै वाक्यानि लक्ष्यन्ते (ना० १३।-
२५-२६) 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेयास्कश्चिच्छेत्प्रमृजेत् वा । विभजेरन्धनं तस्य
शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥ भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात् । रक्षन्ति
शय्यां भर्तुश्चेदानीञ्छुरितरासु तु ॥' इति पत्नीसद्भावेऽपि भ्रातृणां धनग्रहणं
पत्नीनां च भरणमात्रं नारदेनोक्तम् । मनुना तु (१।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य
रिक्थं भ्रातर एव वा' इत्यपुत्रस्य धनं पितृभ्रातृवैति दर्शितम् । तथा (मनुः १।-
२।१७)—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितु-
र्माता हरेद्धनम् ॥' इति मातुः पितामह्याश्च धनसंबन्धो दर्शितः । शङ्खेनापि—
'स्वर्थातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी'
इति भ्रातृणां पित्रोर्ज्येष्ठयाश्च पत्न्याः क्रमेण धनसंबन्धो दर्शितः । कात्यायने-
नापि—'विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत् । भ्राता वा जननी वाऽथ
माता वा तत्पितुः क्रमात् ॥' इत्येवमादीनां विरुद्धानां वाक्यानां धारेश्वरेण
व्यवस्था दर्शिता—'पत्नी गृह्णीयात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृस्त्रोविषयम् ।

१. दिव्यनुलोमजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु ब्राह्मणादिषु अयं । २. भाक्
विवाह । ३. गृह्णन्ति यथा । ४. धनग्रहणं । ५. स्यार्थकुलजा ।
६. विरुद्धानि च वाक्यानीह ।

सा च यदि नियोगार्थिनी भवति । कुत एतत् नियोगसव्यपेक्षायाः पत्न्या धनग्रहणं न स्वतन्त्रायां इति । 'पिता हरेदपुत्रस्य' (मनुः ९।१८५) इत्यादिवचनात्तत्र व्यवस्थाकारणं वक्तव्यम् । नान्यद् व्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च (२९।५।६) 'पिण्डगोत्रर्विसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' इति । अस्यार्थः—पिण्डगोत्रर्विसम्बन्धा अनपत्यस्य रिक्थं भजेरन् स्त्री वा रिक्थं भजेत् यदि बीजं लिप्सेतेति । मनुरपि (९।१४६)—'धनं यो विभृयाद् भ्रातृमृतस्य स्त्रियमेव वा । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥' इति । अनेनैतद्दर्शयति विभक्तधनेऽपि भ्रातृपुत्रेऽपत्यद्वारेणैव पत्न्या धनसंबन्धो नान्यथेति । तथाऽविभक्तधनेऽपि (मनुः ९।१२०)—'कनीयाऽप्येष्टभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति । तथा वसिष्ठोऽपि (१७।४८) 'रिक्थलोभाच्चास्ति नियोगः' इति रिक्थलोभाज्जियोगं प्रतिषेधयन् नियोगद्वारक एव पत्न्याः धनसंबन्धो नान्यथेति दर्शयति । नियोगाभावेऽपि पत्न्या भरणमात्रमेव नारदवचनात् 'भरणं चास्य कुवीरस्त्रीणामाजीवनव्यात्' इति । योगीश्वरेणापि किल वक्ष्यते (व्य० १४२)—'अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः । निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥' इति । अपि च, द्विजातिधनस्य यथार्थत्वात् स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकारादनग्रहणमयुक्तम् । यथा च केनापि स्मृतम्—'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तन्नामधिकृतास्तु ये । अरिक्थभाजस्ते सर्वे प्रासाच्छादनभाजनाः ॥ यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद्विनियोजयेत् । स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु ॥' इति,—तदनुपपन्नम् ; 'पत्नी दुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र नियोगस्याप्रतीतेरप्रस्तुतत्वाच्च । अपि चेदमत्र वक्तव्यम्,—पत्न्याः धनग्रहणे नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपत्यं वा । तत्र नियोगस्यैव निमित्तत्वे अनुत्पादितपुत्राया अपि धनसंबन्धः प्राप्नोति । उत्पन्नस्य च पुत्रस्य धनसंबन्धो न प्राप्नोति अथ तदपत्यस्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसंबन्धापत्नीति नारदव्यम् ॥

अथ स्त्रीणां पतिद्वारको धनसंबन्धः पुत्रद्वारको वा नान्यथेति मतम्,—तदप्यसत् ; (मनुः ९।१९४)—'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥' इत्यादिविरोधात् । किंच; सर्वथा पुत्राभावे 'पत्नी दुहितरः' इत्यारब्धम् । तत्र नियुक्ताया धनसंबन्धं वदता क्षेत्रज्ञस्यैव धनसंबन्धो उक्तो भवति । स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी'ति नारदव्यम् । अथ पिण्डगोत्रर्विसंबन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' (गौ० २९।५) इति गौतमवचनाज्जियुक्ताया धनसंबन्ध इति । तद-

प्यसत्,—नहि यदि बीजं लिप्सेत तदाऽनपत्यस्य स्त्री धनं गृह्णीयादित्ययमर्थो-
ऽस्मात्प्रतीयते । किंतु 'अनपत्यस्य धनं पिण्डगोत्रविसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा सा
स्त्री बीजं वा लिप्सेत संयता वा भवेत्' इति तस्या धर्मान्तरोपदेशः; 'वा'शब्दस्य
पदान्तरवचनत्वेन यद्यर्थाप्रतीतेः । अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न
नियुक्तायाः स्मृतिलोकनिन्दितायाः । 'अपुत्रा ज्ञयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते
स्थिता । पत्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥' इति संयताया एव धन-
ग्रहणमुक्तम् ॥

तथा नियोगश्च निन्दितो मनुना (१।६४)—'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियो-
क्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुज्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥' इत्यादिना
यत्तु वसिष्ठवचनम् (१७।६५) 'रिक्थलोभाज्जास्ति नियोगः' इति, तद्विभक्ते
संसृष्टिनि वा भर्तरि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नास्तीति स्वापत्यस्य धनसंबन्धार्थं
नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम् । यदपि नारदवचनम् (१३।२६)—'भरणं
चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति, तदपि 'संसृष्टानां तु यो भागरस्तेषामेव
स इष्यते' इति 'संसृष्टानां प्रस्तुतत्वात्तस्त्रीणामनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादन-
परम् । नच 'आतृणामप्रजाः प्रेयात्' (ना० १३।२४) इत्येतस्य संसृष्टिविषयत्वे
'संसृष्टानां तु यो भागः' (ना० १३।२४) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् ।
यतः पूर्वोक्तविवरणेन स्त्रीधनस्याविभाज्यत्वं तस्त्रीणां च भरणमात्रं विधीयते ।
यदपि 'अपुत्रा योषितश्चैवाम्' (व्य० १४०) इत्यादिवचनं, तत् बलीबादिस्त्रीवि-
षयमिति वक्ष्यते । यत्तु 'द्विजातिधनस्य यज्ञार्थत्वास्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्धन-
ग्रहणमयुक्तमिति,—तदसत्; सर्वस्य द्रव्यजातस्य यज्ञार्थत्वे दानहोमाद्यसिद्धेः ।
अथ यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणत्वाद्दानहोमादीनामपि धर्मत्वात्तदर्थत्वमविरुद्धमिति
मतम् । एवं तदर्थकामयोर्धनसाध्ययोरसिद्धिरेव स्यात् । तथा सति 'धर्मार्थका-
मान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत्' (आ० ११५) । तथा 'न पूर्वार्द्धमध्यन्दिनापरा-
ह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः' (गौ० १।२४) । तथा 'न तथैतानि
शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया' (मनुः २।९६) इत्यादियाज्ञवल्क्यगौतममनुवचन-
विरोधः । अपि च धनस्य यज्ञार्थत्वे 'हिरण्यं धार्थम्' इति हिरण्यसाधारणस्य
कृत्वर्थतानिराकरणेन पुरुषार्थत्वमुक्तं तत्प्रयुद्धृतं स्यात् । किंच यज्ञशब्दस्य धर्मो-
पलक्षणपरत्वे स्त्रीणामपि पूर्वधर्माधिकाराद्धनग्रहणं युक्ततरम् । यत्तु पारतन्त्र्यवचनं
'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनुः १।३) इत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्यं, धनस्वीकारे तु
को विरोधः ॥ कथं तर्हि 'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नम्' इत्यादिवचनम् ? उच्यते—
'यज्ञार्थमेवाजितं यद्धनं तद्यज्ञ एव नियोक्तव्यं पुत्रादिभिरपीत्येवं परं तत् ।—

‘यज्ञार्थं लब्धमददन्नासः काकोऽपि वा भवेत्’ (भा० १२७) इति दोषश्रवणस्य पुत्रादिध्वंष्यविशेषात् । यदपि कात्यायनेनोक्तम्—‘अर्द्धाधिकं राजगामि योषिद्वृत्त्यौर्ध्वदेहिकम् । अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ॥’ इति । अर्द्धाधिकं दद्यादरहितं यद्धनं तद्राजगामि राज्ञो भवति, योषिद्वृत्त्यौर्ध्वदेहिकमपास्य, तस्त्रीणामशनाच्छादनोपयुक्तं और्ध्वदेहिकं धनिनः श्राद्धाद्युपयुक्तं चापरस्य परिहृत्य राजगामि भवतीति संबन्धः । अस्यापवाद उतरार्धे । श्रोत्रियद्रव्यं च योषिद्वृत्त्यौर्ध्वदेहिकमपास्य ‘श्रोत्रियायोपपादये’दिति, तदप्यवरुद्धस्त्रीविषयम्; योषिद्वृत्त्युपपादयेति । नारदवचनं च (१३।५२)—‘अन्यत्र ब्राह्मणार्थितु राजा धर्मपरायणः । तस्त्रीणां जीवनं दद्यादेव दायविधिः स्मृतः ॥’ इत्यवरुद्धस्त्रीविषयमेव । स्त्रीशब्दग्रहणात् । इह तु ‘पत्नी’शब्दादूढायाः संयताया धनग्रहणमविरुद्धम् । तस्माद्विभक्तासंसृष्टिन्यपुत्रे स्वयंते पत्नी धनं प्रथमं गृह्णातीत्ययमर्थः सिद्धो भवति । विभागस्योक्तत्वात्संसृष्टिनां तु वच्यमाणत्वात् । एतेनारुपधनविषयत्वं श्रीकैरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम् । तथा द्यौरसेषु पुत्रेषु सस्त्वपि जीवद्विभागे अजीवद्विभागे च पत्न्याः पुत्रसमांशग्रहणमुक्तम् (व्य० ११५)—‘यदि कुर्यात्समानं शान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः’ इति । तथा—‘पितरुर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्’ इति च, तथास्यपुत्रस्य स्वयंतस्य धनं पत्नी भरणादतिरिक्तं न लभत इति व्यामोहमात्रम् । अथ ‘पत्न्यः कार्याः समांशिका’ (व्य० ११५) इत्यत्र ‘माताप्यंशं समं हरेत्’ (व्य० १२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं;—तदसत्; ‘अंश’शब्दस्य ‘सम’शब्दस्य चानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्यान्मतम्—बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति । तच्च न विधिवैषम्यप्रसङ्गात् । तथा हि ‘पत्न्यः कार्याः समांशिकाः’ ‘माताप्यंशं समं हरेत्’ इति च बहुधने जीवनमात्रोपयुक्तं वाक्यान्तरमपेक्ष्य प्रतिपादयति, अल्पधने तु पुत्रांशसममं प्रतिपादयतीति । ‘यथा चातुर्मास्येषु द्वयोः प्रणयन्ति’ इत्यत्र पूर्वपक्षिणा सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन प्राप्ताया उत्तरवेद्या ‘न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपकरिन्ति’ ‘न शुनासीरीये’ इत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते राधान्तैकदेशिना ‘न सौमिकप्रणयनातिदेशप्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरथं प्रतिषेधः किंतुपार्त्रं वपन्तीति प्राकरणिकेन वचनेन प्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रतिषेधोऽयमित्यभिहिते पुनः पूर्वपक्षिणा ‘उपार्त्रं वपन्ति’ इति प्रथमोत्तमयोः पर्वणोः प्रतिषेधमपेक्ष्य पाक्षिकीमुत्तरवेदिं प्रोपयति । मध्यमयोस्तु निरपेक्षमेव निश्चयवदुत्तरवेदिं प्रापयति’ (जै० ७।३।२३-२५) इति विधिवैषम्यं दर्शितम् ।

१. द्विष्वविशेषात् । २. आदायकं । ३. ऽपवादः । श्रोत्रिय ।
४. श्रीकारादिभिः । ५. तथा पत्न्यः । ६. स्त्रीधनमिति मतं । ७. तथा ।
८. तूपाच, तूपात्र । ९. प्रतिपादयति ।

राद्धान्तेऽपि विधिवैषम्यभयात्प्रमथोत्तमयोः पर्वणोरुत्तरवेदिप्रतिषेधो नित्यानु-
वाको 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यस्याद्यर्थवादपर्यालोचनया 'उपात्रं वपन्ति' इति मध्य-
मयोरेव वरुणप्रघाससाकमेधपर्वणोरुत्तरवेदिं विधत्त इति दर्शितम् । यदपि
मतम् (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं आतर एव वा' इति
मनुस्मरणात्, तथा—स्वर्यातस्य अपुत्रस्य आतृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ
हरेयांतां ज्येष्ठा वा पत्नी' इति शङ्करस्मरणाच्च अपुत्रस्य धनं आतृगामीति
प्राप्तं, 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनस्ययात्' (ना० १३।२६) इत्यादि-
वचनाच्च भरणोपयुक्तं धनं पत्नी लभत इत्यपि स्थितम् । एवं स्थिते बहुधने
अपुत्रे स्वर्याते भरणोपयुक्तं पत्नी गृह्णाति, शेषं च आतरः । यदा तु पत्नीभरण-
मात्रोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो न्यूनं वा तदा किं पत्न्येव गृह्णात्युत आत-
रोऽपीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तद-
प्यत्र भगवानाचार्यो न श्रुत्यति । यतः (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य
रिक्थं आतर एव वा' इति विकल्पस्मरणात्नेदं क्रमपरं वचनम्, अपि तु
धनग्रहणेऽधिकारप्रदर्शनमात्रपरम् । तच्चासत्यपि पत्न्यादिगणे घटत इति
व्याचक्षे । शङ्कवचनमपि संसृष्टआतृविषयमिति । अपि चातृविषयत्वमस्मा-
द्वचनात्प्रकरणाद्वा नावगम्यते । 'धनभागुत्तरोत्तरः' (व्य० १३६) इत्यस्य
च 'पत्नी दुहितर' इति विषयद्वये वाक्यान्तरमपेक्षयात्पधनविषयत्वम्,
पित्रादिषु तु धनमात्रविषयत्वमिति पूर्वोक्तं विधिवैषम्यं तदवस्थमेवेति । यत्तु
हारीतवचनम्—विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा । आयुषः क्षप-
णार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा ॥' इति,—तदपि शङ्कितव्यभिचारायाः सकल-
धनग्रहणनिषेधपरम् । अस्मादेव वचनादनाशङ्कितव्यभिचारायाः सकलधन-
ग्रहणं गम्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं शङ्केन 'ज्येष्ठा वा पत्नी' इति । ज्येष्ठा
गुणज्येष्ठा अनाशङ्कितव्यभिचारा, सा सकलं धनं गृहीत्वाऽन्या कर्कशामपि
मातृवत्पालयतीति सर्वमनवयम् । तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासं-
ष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम् ।

तदभावे दुहितरः । 'दुहितर' इति बहुवचनं समानजातीयानामसमान-
जातीयानां च समविषयमाश्रयात्पर्यम् । तथा च कात्यायनः—'पत्नी भर्तुर्धनहरी
वा स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यनूहा भवेत्तदा ॥' इति बृहस्प-
तिरपि (२।५।५-५६)—'भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता । अङ्गाद-
ङ्गात्संभवति पुत्रवद् दुहिता नृणाम् ॥ तस्मात्पितृधनं त्वन्य- कथं गृह्णीत मानवः ॥'

१. हरेतां । २. अपुत्रधनं । ३. अत्रणात् । ४. अधिकारमात्रप्रदर्शनपरं ।
५. संसृष्टविषयं । ६. वचनादशङ्कित ।

इति । तत्र चोदानूदासमवायेऽनूदैव गृह्णाति । 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूदा भवे-
त्तदा' इति विशेषस्मरणात् । तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तद-
भावे प्रतिष्ठिता; 'स्त्रीधनं दुहितृणामप्रदानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ. २.१।६) इति
गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात् । न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मन्तव्यम् ।
'तत्समः पुत्रिकासुतः' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधा-
नात् । 'च'शब्दाद्दुहितृभावे दौहित्रो धनभाक् । यथाह विष्णुः—'अपुत्रपौत्रसंताने
दौहित्रा धनमाप्नुयुः । पूर्वेषां तु स्वधकारे पौत्रा दौहित्रिका मताः ॥' इति मनु-
रपि (१।१३६)—'अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सहशात्सुतम् । पौत्री
मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥' इति ॥

तदभावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ । यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां
द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते, तथापि
विग्रहवाक्ये 'मातृ'शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति
'मातृ'शब्दस्य पूर्वं श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रममावगमाद्धनसंबन्धेऽपि क्रमापेक्षायां,
प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्, तदभावे पितेति गम्यते । किञ्च
पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणः; माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयात्
'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः १।१८७) इति वचनान्मा-
तुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम् । नच सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु
समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेयस्मादेव
वचनादवगम्यत इति । मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्ततरम् ।
तदभावे पिता धनभाक् ।

पित्रभावे भ्रातरौ धनभाजः । तथा च (मनुः १।१८५)—'पिता हरेत्पु-
त्रस्य रिक्तं भ्रातर एव वा' इति । यत्पुनर्धारेत्पुत्रेणोक्तम् (१।२१७)—'अन-
पत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्ध-
नम् ॥' इति मनुवचनाऽजीवत्यपि पितरि मातरि वृत्तायां पितुर्माता पितामही
धनं हरेत् पिता । यतः पितृगृहीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति, पितामही-
गृहीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति । एतदप्याचार्यो नानु-
मन्यते । विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युः'
(१५० १२५) इत्यादिनेति । यत्पुनः (मनुः १।१८९)—'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं
राज्ञा निरप्यमिति स्थितिः' इति मनुस्मरणं तन्नृपाभिप्रायं, नतु पुत्राभिप्रायम् ।
भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः भिक्षोदराणां मात्रा विप्रकर्षात् । 'अनन्तरः
सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः १।१८७) इति स्मरणात् ।

सोदाराणामभावे भिक्षोदरा धनभाजः, आतृणामप्यभावे तत्पुत्राः पितृक्रमेण धनभाजः । आतृआतृपुत्रसमवाये आतृपुत्राणामनधिकारः; आत्रभावे आतृपुत्राणामधिकारवचनात्; यदा त्वपुत्रे आतरि स्वयति तद्भातृणामविशेषेण धनसंबन्धे जाते आतृधनविभागात्प्रागेव यदि कश्चिद्भाता मृतस्तदा तत्पुत्राणां पितृतोऽधिकारे प्राप्ते तेषां आतृणां च विभज्य धनग्रहणे 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इति युक्तम् ॥

आतृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाजः । गोत्रजाः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च । तत्र पितामही प्रथमं धनभाक् । 'मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत्' (मनुः ९।२।१७)—इति मात्रनन्तरं पितामह्या धनग्रहणे प्राप्ते पित्रादीनां आतृसुतपर्यन्तानां बद्धक्रमत्वेन मध्येऽनुप्रवेशाभावात्, 'पितुर्माता धनं हरेत्' इत्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रपरत्वादुत्कर्षे तत्सुतानन्तरं पितामही गृह्णातीत्यविरोधः ॥ पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः पितामहादयो धनभाजः; भिन्नगोत्राणां सपिण्डानां 'बन्धु'शब्देन ग्रहणात् । तत्र च पितृसन्तानाभावे पितामही पितामहः पितृव्यास्तत्पुत्राश्च क्रमेण धनभाजः । पितामहसन्तानाभावे प्रपितामही प्रपितामहस्तत्पुत्रास्तत्सूनवश्चेत्येवमासप्तमासमानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम् । तेषामभावे समानोदकानां धनसंबन्धः ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः । जन्मनामज्ञानावधिका वा । यथाऽऽह बृहन्मनुः—'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु निवर्तेतात्तदुद्भात् ॥ जन्मनारनोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥' इति ।

गोत्रजाभावे बन्धवो धनभाजः । बन्धवश्च त्रिविधाः—आत्मबन्धवः, पितृबन्धवः, मातृबन्धवश्चेति । यथोक्तम्—'आत्मपितृवसुः पुत्रा आत्ममातृवसुः सुताः । आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः ॥ पितुः पितृवसुः पुत्राः पितुर्मातृवसुः सुताः । पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥ मातुः पितृवसुः पुत्रा मातुर्मातृवसुः सुताः । मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः ॥' इति ॥ तत्र चान्तरङ्गत्वात्प्रथममात्मबन्धवो धनभाजस्तदभावे पितृबन्धवस्तदभावे मातृबन्धव इति क्रमो वेदितव्यः । बन्धूनामभावे आचार्यः, तदभावे शिष्यः—'पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः, तदभावे आचार्यः, आचार्याभावेऽन्तेवासी' इत्यापस्तम्बस्मरणात् ॥

शिष्याभावे सन्नह्यचारी धनभाक् । येन सहैकस्मादाचार्यादिपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः, स सन्नह्यचारी । तदभावे ब्राह्मणद्वयं यः कश्चित् श्रोत्रियो गृहीयात् 'श्रोत्रिया ब्राह्मणश्चानपत्यस्य रिषयं भजेरम्' (२।५।४१) इति गीतमस्मरणात् । तदभावे ब्राह्मणमात्रम् । यथाऽऽह मनुः (९।१।८८)—'सर्वेषामप्यभावे तु

ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥' इति । न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृहीयात् ; 'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राजा निस्थ-मिति स्थितिः' (९।१८९) इति मनुवचनात् । नारदेनाप्युक्तम्—'ब्राह्मणार्थस्य तन्नाशे दायादश्चेन्न कश्चन । ब्राह्मणायैव दातव्यमेनस्वी स्यान्नृपोऽन्यथा ॥' इति ॥ चित्रियादिधनं सब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा हरेत् । न ब्राह्मणः । यथाऽऽह मनुः (९।१८९)—'इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप' इति ॥ १३५-१३६ ॥

भाषा—जिसके पूर्वोक्त बारह प्रकार के पुत्रों में से किसी भी प्रकार का पुत्र न होवे उस पुत्रहीन के सर जाने पर पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, भाई, भाइयों के पुत्र, गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति, बन्धु, शिष्य और ब्रह्मचारी में पहले-पहले के न होने पर उसके बाद वाले धन के अधिकारी होते हैं । यह विधि सभी वर्णों के लिये है ॥ १३५-१३६ ॥

पुत्राः पौत्राश्च दायं गृह्णन्ति तदभावे पत्न्यादय इत्युक्तं, इदानीं तदुभयाप-वादमाह—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः ।

क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ १३७ ॥

वानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिलोमक्रमेणाचार्यः, सच्छिष्यः, धर्मभ्रात्रेकतीर्थी च, रिक्थस्य धनस्य भागिनः । ब्रह्मचारी नैष्ठिकः । उपकुर्व-णस्य तु धनं मात्रादय एव गृह्णन्ति । नैष्ठिकस्य तु धनं तदपवादत्वेन वर्यो गृह्णातीत्युच्यते । यतेस्तु धनं सच्छिष्यो गृह्णाति । सच्छिष्यः पुनरध्यात्मशास्त्र-श्रवणधारणतदर्थानुष्ठानक्षमः; दुर्बुद्धस्याचार्यादेरपि भागानर्हत्वात् । वानप्रस्थस्य धनं धर्मभ्रात्रेकतीर्थी गृह्णाति । धर्मभ्राता प्रतिपन्नो भ्राता, एकतीर्थी एकाश्रमी, धर्मभ्राता चासावेकतीर्थी च धर्मभ्रात्रेकतीर्थी । एतेषामाचार्यादीनामभावे पुत्रा-दिषु सस्वप्येकतीर्थ्येव गृह्णाति । ननु 'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति वसिष्ठ-स्मरणादाश्रमान्तरगतानां रिक्थसंबन्ध एव नास्ति कुतस्तद्विभागः ? वच नैष्ठि-कस्य स्वार्जितधनसंबन्धो युक्तः; प्रतिग्रहादिनिषेधात् । 'अनिचयो भिद्युः' (३।७) इति गौतमस्मरणात् । भिद्योरपि न स्वार्जितधनसंबन्धसंभवः । उच्यते—वान-प्रस्थस्य तावत्—'अहो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा । अर्थस्य निचयं कुर्यात्कृतमाश्रयुजे त्यजेत् ॥' (प्राय० ४७) इति वचनाद्धनसंबन्धो-ऽस्त्येव । यतेरपि—'कौपीनाच्छादनार्थं वा वासोऽपि बिभृयात्तथा । योगसंभार-

१. संबन्धः प्रतिग्रहादिः । २. धनसंभवः । ३. हि वासोऽपि बिभृयात्तथा ।

भेदाश्च गृह्णीयात्पादुके तथा ॥ इत्यादिवचनाद्वस्त्रपुस्तकसंबन्धोऽस्त्येव; नैष्ठिकस्यापि शरीरयात्रार्थं वस्त्रादिसंबन्धोऽस्त्येवेति तद्विभागकथनं युक्तमेव ॥१३७॥

भाषा—वानप्रस्थ, यति और ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का अधिकारी क्रमशः धर्मभ्राता और एकतीय^१ (उसी आश्रम में निवास करने वाला धर्मभ्राता), सविवृष्य (अध्यात्मशास्त्र में निपुण शिष्य) और आचार्य होते हैं ॥१३७॥

इदानीं स्वर्गातस्य पुत्रस्य पत्न्यादयो धनभाज इत्युक्तस्यापवादमाह—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी—

विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी; संसृष्टत्वं च न येन केनापि, किंतु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा; यथाऽऽह बृहस्पतिः (२५।७२)—
'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः । पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते ॥' इति । तस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं विभागं विभागकाले भविज्ञातगर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात् । पुत्राभावे संसृष्ट्येवापहरेद् गृह्णीयात्, न पत्न्यादिः ॥

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी' इत्यस्यापवादमाह—

—सोदरस्य तु सोदरः ।

दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिनः संसृष्टीत्यनुवर्तते । अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं सोदरः संसृष्टी अनुजातस्य सुतस्य दद्यात् ; तदभावे अपहरेदिति^२ पूर्ववत् संबन्धः । एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदर एव संसृष्टी गृह्णाति न भिन्नोदरः संसृष्टयपीति पूर्वोक्तस्यापवादः ॥ १३८ ॥

भाषा—विभाजन के बाद पुनः एक साथ धन मिलाकर रहने वाले संसृष्टी कहलाते हैं संसृष्टी का धन संसृष्टी लेता है; सोदर (सगे) भाई का धन उसके मरने पर सोदर भाई को ही मिलता है । सोदर संसृष्टी की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र जन्म ले तो उसे उसका अंश दे, यदि कोई पुत्र न हो तो उस धन को ले लेवे ॥ १३८ ॥

इदानीं संसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्गाते संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य सोदरस्य चासंसृष्टिनः सज्जावे, कस्य धनग्रहणमिति विवक्षायां द्वयोर्विभज्य ग्रहणे कारणमाह—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत् ।

असंसृष्ट्यपि वाऽऽद्यात्संसृष्टो नान्यमातृजः ॥ १३९ ॥

१. च सोदरः । २. संसृष्टिनो धनं संसृष्टयनुजातस्य । ३. दिति संबन्धः । ४. भिन्नोदरस्यासंसृष्टिनः सोदरस्य च । ५. वा दद्यात् । ६. नान्यमातृजः ।

अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता संसृष्टी धनं हरेत् , न पुनरन्योदर्यो धनं हरेत्-
संसृष्टी । अनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्योदर्यस्य संसृष्टित्वं धनग्रहणे कारणमुक्तं
भवति । असंसृष्टीत्येतदुत्तरेणापि संबध्यते । अतश्चासंसृष्टयपि संसृष्टिनो धन-
माददीत । कोऽसावित्यत आह—संसृष्ट इति । संसृष्टः एकोदरसंसृष्टः । सोदर
इति यावत् । अनेनासंसृष्टस्यापि सोदरस्य धनग्रहणे सोदरत्वं कारणमुक्तं,
'संसृष्ट' इत्युत्तरेणापि संबध्यते । तत्र च संसृष्टः संसृष्टीत्यर्थः । नान्य-
मातृजः । अत्र 'एव' शब्दाध्याहारेण व्याख्यानं कार्यम् , संसृष्ट्यप्यन्यमा-
तृज एव संसृष्टिनो धनं नाददीतेति एवं चासंसृष्टयपि वाऽऽद्यादित्यपिशब्द-
श्रवणात् 'संसृष्टो नान्यमातृज एव' इत्यवधारणनिषेधोच्चासंसृष्टसोदरस्य
संसृष्टैभिन्नोदरस्य च विभज्य ग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । द्वयोरपि धनग्रहण-
कारणस्यैकैकस्य सद्भावात् । एतद्वैव स्पर्ष्टीकृतं मनुना (१।२।१०)—'विभक्ताः
सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि' इति संसृष्टिविभागं प्रक्रम्य 'येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो
वा ह्यीयेतांशप्रदानतः । त्रियेताभ्यस्तरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥
सोदर्या विभजेयुस्तं समेत्य सहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च
सनाभयः ॥ (१।२।१।२१२) इति वदता । येषां भ्रातृणां संसृष्टिनां मध्ये ज्येष्ठः
कनिष्ठो मध्यमो वांशप्रदानतोंऽशप्रदाने । सार्वविभक्तिकस्तसिः । विभागकाल
इति यावत् । ह्यीयेत स्वांशात् अश्येत आश्रमान्तरपरिग्रहेण ब्रह्महत्यादिना
वा त्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते । अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिन एव
गृह्णीयुरित्यर्थः । तस्योद्धृतस्य विनियोगमाह—सोदर्या विभजेयुस्तमिति ।
तमुद्धृतं भागं सोदर्याः सहोदरा असंसृष्टा अपि समेत्य देशान्तरगता अपि
समागम्य सहिताः संभूय समं न न्यूनाधिकभावेन; ये च भ्रातरो भिन्नोदराः
संसृष्टाः, ते च सनाभयो भगिन्यश्च समं विभजेयुः । समं विभज्य गृह्णीयुरिति
तस्यार्थः ॥ १३९ ॥

भाषा—यदि सौतेला भाई संसृष्टी हो तो धन ले यदि सौतेला भाई
संसृष्टी न हो तो वह धन न लेवे । किन्तु एक ही माता से उत्पन्न सगे भाई
असंसृष्ट भी हो तो धन पाता है । यदि सौतेला भाई संसृष्ट रहता हो तो
वह अकेले सब धन न ले, (मृत व्यक्ति के) सगे भाइयों में भी उसका विभाग
करे ॥ १३९ ॥

१. मुक्तं । असंसृष्टी । २. निषेधादसंसृष्ट । ३. संसृष्टिनो भिन्नो-
दरस्य च । ४. संसृष्टाः सहजीवन्त । ५. सममन्यूनाधिक । ६. भगिन्यश्च
विभजेयुः ।

पुत्रपत्न्यादिसंस्पृष्टिनां यदायग्रहणमुक्तं, तस्यापवादमाह—

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्कः उन्मत्तको जडः ।

अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः ॥ १४० ॥

क्लीबस्तृतीया प्रकृतिः । पतितो ब्रह्महादिः, तज्जः पतितोत्पन्नः, पङ्कः पादविकलः, उन्मत्तकः वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसोनिपातिकग्रहावेशलक्षणैर्हन्मा-
दैरभिभूतः, जडो विकलान्तःकरणः, हिताहितावधारणाऽक्षम इति यावत् ।
अन्धो नेत्रेन्द्रियविकलः, अचिकित्स्यरोगोऽशक्तिसमाधेय्यचमादिरोगग्रस्तः,
'आद्य'शब्देनाश्रमान्तरगतपितृद्वेष्ट्युपपातकिबधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ग्रहणम् ।
यथाऽऽह वसिष्ठः (१७।५२)—'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति । नारदोऽपि
(१३।२१)—'पितृद्विद् पतितः षण्ढो यश्च ऋष्यादौपपातिकः । औरसा अपि
नैतेश्च लभेरन्ध्रेत्रजाः कुतः ॥' इति । मनुरपि (१।२०१)—'अनंशौ
क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥'
इति । निरिन्द्रियो निर्गतमिन्द्रियं यस्माद् व्याध्यादिना स निरिन्द्रियः । एते
क्लीबाद्योऽनंशाः रिक्तभाजो न भवन्ति । केवलमशनाच्छादनदानेन पोषणीया
भवेयुः । अभरणे तु पतितत्वदोषः । 'सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्या
मनीषिणा । प्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥' (१।२०२)—इति
मनुस्मरणात् । अत्यन्तं यावज्जीवमित्यर्थः । एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्राप्तावन-
शाद्यमुपपन्नं न पुनर्विभक्तस्य । विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे
भागप्राप्तिरस्येव ।—'विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् (व्य०
१२२) इत्यस्य समानन्यायत्वात् । पतितादिषु तु पुंस्त्रिङ्गत्वमविवक्षितम् ।
अतश्च पत्नीदुहितृमात्रादीनामप्युक्तदोषैर्दुष्टानामनंशित्वं वेदितव्यम् ॥ १०४ ॥

भाषा—नपुंसक, पतित, पतित का पुत्र, पङ्क, पागल, जड, अन्धा,
असाध्य रोग से ग्रस्त (औरस आइयों को भी) अंश न देकर केवल उनका
भरण-पोषण करना चाहिए ॥ १४० ॥

क्लीबादीनामनंशित्वात्तत्पुत्राणामप्यनंशित्वे प्राप्ते इदमाह—

औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः ।

एतेषां क्लीबादीनामौरसाः क्षेत्रजा वा पुत्रा निर्दोषा अंशग्रहणविरोधिकलै-
व्यादिदोषरहिता भागहारिणोऽशप्राहिणो भवन्ति । तत्र क्लीबस्य क्षेत्रजः
पुत्रः संभवत्यन्येषामौरसा अपि । 'औरस-क्षेत्रज'योर्ग्रहणमितरपुत्रव्युदासार्थम् ॥

१. भर्तव्यास्तु निरंशकाः । २. संनिपातग्रहा । ३. व्यादिरोग ।

४. स्वादुपयात्रितः । ५. दोषाणामनंशित्वं ।

कलीबादिबुद्धितृणां विशेषमाह—

सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः ॥ १४१ ॥

एषां कलीबादीनां सुता बुद्धितरो यावद्विवाहसंस्कृता भवन्ति, तावद्भरणीयाः 'च'शब्दात्संस्कार्याश्च ॥ १४१ ॥

भाषा—इन (नपुंसक आदि) में यदि औरस या क्षेत्रज्ञ पुत्र निर्दोष होते हैं तो अंगग्राही होते हैं । इन नपुंसक आदि पुत्रों का उस समय तक भरण-पोषण करना चाहिए जब तक उनके पुत्रियों का विवाह न हो जाय ॥ १४१ ॥

कलीबादिपत्नीनां विशेषमाह—

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः ।

निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

एषां कलीबादीनामपुत्राः पत्न्यः साधुवृत्तयः सदाचाराश्चेद्भर्तव्या भरणीयाः व्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्याः । प्रतिकूलास्तथैव च निर्वास्या भवन्ति, भरणीयाश्चाव्यभिचारिण्यश्चेत् । न पुनः प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥ १४२ ॥

भाषा—इनकी पुत्रहीना पत्नियाँ यदि सदाचारिणी हों तो उनका भरण करना चाहिए, यदि व्यभिचारिणी और प्रतिकूल आचरण करने वाली होंवे तो उन्हें निर्वासित कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥

‘विभजेरनुताः पित्रोः’ (व्य० ११७) इत्यत्र स्त्रीपुंजनविभागं संक्षेपेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः, इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधास्यंस्त्वस्वरूपं तावदाह—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।

आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्वत्, यच्च विवाहकालेऽप्रावधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तम्, आधिवेदनिकं अधिवेदननिमित्तं ‘अधिविज्ञप्तिर्यै दद्यात्’ (व्य० १४८). इति वक्ष्यमाणं । ‘आद्य’शब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम् । ‘स्त्रीधन’शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः । योगसंभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात् । यत्पुनर्मनुजोक्तम् (९।१९४) —‘अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥’ इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं, तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय ॥ अध्यग्न्यादिस्वरूपं च कात्यायनेनाभिहितम्—‘विवाहकाले यस्त्रीभ्यो दीयते अग्निमसंनिधौ । तदध्यग्निकृतं सन्निः स्त्रीधनं परिकीर्ति-

तम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् । अध्यावह्निकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम् ॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा वा श्वशुरेण वा । पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते । ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । औतुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥' इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह में अग्नि के निकट मिला हुआ धन, आधिवेदनिक (दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिये प्रदत्त) धन इत्यादि स्त्रीधन कहे गये हैं ॥ १४३ ॥

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।

किञ्च बन्धुभिः कन्याया मातृबन्धुभिः पितृबन्धुभिश्च यद्वत्तम्, शुल्कं यद् गृहीत्वा कन्या दीयते । अन्वाधेयकं परिणयनादनु पश्चादाहितं दत्तम् । उक्तं च कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तुकुलास्त्रिया । अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा ॥' इति स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति गतेन संबन्धः ॥

एवं स्त्रीधनमुक्तं, तद्विभागमाह—

अतीतायामप्रजसि बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥ १४४ ॥

तत्पूर्वोक्तं स्त्रीधनमप्रजसि अनपत्यायां दुहितृदौहित्रीदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बान्धवा भर्त्रादयो वक्ष्यमाणा गृह्णन्ति ॥ १४४ ॥

भाषा—स्त्री के मातृपक्ष एवं पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, शुल्क (जो धन लेकर कन्या दी जाय), और अन्वाधेयक (विवाह के बाद पतिकुल या पितृकुल से प्राप्त) धन भी स्त्रीधन कहलाता है । स्त्री के विना सन्तान (पुत्री, नाती, नाती के पुत्र आदि) मर जाने पर पति आदि बान्धव स्त्रीधन ग्रहण करते हैं ॥ १४४ ॥

सामान्येन बान्धवा धनग्रहणाधिकारिणो दर्शिताः । इदानीं विवाहभेदेनाधिकारिभेदमाह—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्वर्षि ।

दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अप्रजसः स्त्रियाः पूर्वोक्तायाः ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्षु विवाहेषु भार्यात्वं प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं धनं प्रथमं भर्तुर्भवति । तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां सपिण्डानां भवति । शेषेष्वामुरगान्धर्वराक्षसपैशाचेषु विवाहेषु

तदप्रजस्त्रीधनं पितृगामि । माता च पिता च पितरौ तौ गच्छतीति पितृ-
गामि । एकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्रथमं धनग्रहणं पूर्वमेवोक्तम् । तदभावे
तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणम् । सर्वेष्वेव विवाहेषु प्रसूतापत्यवती चेद् दुहितृणां
तद्धनं भवति । अत्र 'दुहितृ'शब्देन दुहितृदुहितर उच्यन्ते । साक्षाद् दुहितृणां
'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य० ११७) इत्यत्रोक्तत्वात् । अतश्च मातृधनं मातरि
वृत्तायां प्रथमं दुहितरो गृह्णन्ति; तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति; तदभावे
च परिणीता; तत्रापि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति, तदभावे
प्रतिष्ठिता; यथाह गौतमः (२९।६)—'स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां
च' इति । तत्र 'च'शब्दात्प्रतिष्ठितानां च । अप्रतिष्ठिता अनपत्या निर्धना वा ।
एतच्च शुल्कव्यतिरेकेण । शुल्कं तु सोदर्याणामेव; 'भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं
मातुः' (२९।६) इति गौतमवचनात् । सर्वासां दुहितृणामभावे दुहितृदुहितरो
गृह्णन्ति; 'दुहितृणां प्रसूता चेत्' इत्यस्माद्वचनात् । तासां भिन्नमातृकाणां विष-
माणां समवाये मातृद्वारेण भागकल्पना; 'प्रतिमातृ वा स्ववर्गेण भागविशेषः'
(२९।५) इति गौतमस्मरणात् ॥ दुहितृदौहित्रीणां समवाये दौहित्रीणां किञ्चि-
देव दातव्यम्; यथाह मनुः (९।१९३)—'यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि
यथाऽर्हतः । मातामह्या धनार्त्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥' इति ॥ दौहित्रीणाम-
प्यभावे दौहित्रा धनहारिणः; यथाह नारदः—(१३।२) 'मातुर्दुहितरोऽभावे
दुहितृणां तदन्वयः' इति । तच्छब्देन संनिहितदुहितृपरामर्शात् ॥ दौहित्राणाम-
भावे पुत्रा गृह्णन्ति । 'ताभ्य ऋतेऽन्वय' (व्य० ११७) इत्युक्तत्वात् । मनुरपि
दुहितृणां पुत्राणां च मातृधनसंबन्धं दर्शयति (९।१९२)—'जनन्यां संस्थि-
तायां तु सर्वे सहोदराः । समं भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥' इति ।
मातृकं रिक्थं सर्वे सहोदराः समं भजेरन्, सनाभयो भगिन्यश्च समं भजेरन्निति
संबन्धः; न पुनः सहोदरा भगिन्यश्च संभूय भजेरन्निति इतरेतरयोगस्य द्वन्द्वैक-
शेषाभावादप्रतीतेः । विभागकर्तृत्वान्वयेनापि 'च'शब्दोपपत्तेः; यथा देवदत्तः कृषिं
कुर्याद्यज्ञदत्तश्चेति । 'सम'ग्रहणमुद्धारविभागनिवृत्त्यर्थम् । 'सोदर'ग्रहणं भिन्नोदर-
निवृत्त्यर्थम् । अनपत्यहीनजातिस्त्रीधनं तु भिन्नोदराप्युत्तमजातीयसपत्नीदुहिता
गृह्णाति, तदभावे तदपत्यम्; यथाऽऽह मनुः (९।१९८)—'स्त्रियास्तु यज्ञवे-
दित्तं पित्रा दत्तं कथंचन । ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥' इति ।
'ब्राह्मणी'ग्रहणमुत्तमजात्युपलक्षणम् । अतश्चानपत्यवैश्याधनं कृत्रियाकन्या
गृह्णाति । पुत्राणामभावे पौत्राः पितामहीधनहारिणः । 'रिक्थभाज ऋणं प्रति-
कुर्युः' (२९।७) इति गौतमस्मरणात्, 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इति

पौत्राणामपि ^१पितामहृणापाकरणेऽधिकारात् । पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्ता भर्त्रा-
दयोऽवान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

भाषा—ब्राह्म, दैव, भार्य और प्राजापत्य विवाह हो तो स्त्री के निःसन्तान
मरने पर उसका धन पति को मिलता है । शेष विवाहों में वह धन स्त्री के
पिता का हो जाता है । किन्तु इन सभी विवाहों में यदि उस स्त्री के पुत्रियाँ
हों तो उसका धन उन पुत्रियों को ही मिलता है ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किञ्चिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्डयो व्ययं दद्याच्च सोदयम् ।

कन्यां वाचा दत्त्वाऽपहरन् दद्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा दण्डनीयः ।
एतच्चापहरणकारणाभावे; सति तु कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्द्वार आत्र-
जेत्' (आ० ६५) इत्यप्रहाराभ्यनुज्ञानान्न दण्डयः । यच्च वाग्दाननिमित्तं
वरेण स्वसंबन्धिनां कन्यासंबन्धिनां चोपचारार्थं धनं व्ययीकृतं, तत्सर्वं सोदयं
संवृद्धिं कन्यादाता वराय दद्यात् ॥—

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारात्प्राङ् ज्ञियेत, तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मृतायां ^२दत्तमावद्यात् परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता मृता तदा यत्पूर्वमङ्गुलीयकादि शुल्कं वरेण दत्तं, तद्द्वार आद-
दीत परिशोध्योभयव्ययम् । उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययः, तं परि-
शोध्य विगमय्यावशिष्टमाददीत । यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरोभूषणा-
दिकं वा क्रमायातं, तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः; 'रिक्थं मृतायाः कन्याया
गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः' इति बौधायनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—कन्या का वाग्दान करके पुनः उसका हरण करने (दान न
करने) वाले को उसके लिये व्यय किया गया धन वृद्धि सहित दण्ड लेकर
वर को दिलावे । वाग्दत्ता कन्या के मरने पर दोनों (पिता और वर) के
व्यय का शोध करके जो शेष बचे वह वर को देवे ॥ १४६ ॥

मृतप्रजास्त्रीधनं भर्तृगामीत्युक्तम्, इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया अपि स्त्रिया
धनग्रहणे कचिद्भर्तुरभ्यनुज्ञामाह—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके ।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ १४७ ॥

१. पितामहृणापाकरणाधिकारात् । २. दद्यात्सहोदयम् । ३. ज्ञियते
तदा । ४. सर्वमादद्यात् । ५. शुल्कं वा वरेण । ६. विगणय्य ।
७. क्रमागतं । ८. भर्त्रा, भर्त्रा न स्त्रियो ।

दुर्भिक्षे कुटुम्बभरणार्थं, धर्मकार्ये अवश्यकर्तव्ये, व्याधौ च संप्रतिरोधके, बन्दिग्रहणनिग्रहादौ, द्रव्यान्तररहितः स्त्रीधनं गृह्णन्भर्ता न पुनर्दातुमर्हति; प्रकारान्तरेणापहरन्दद्यात् । भर्तृव्यतिरेकेण जीवन्त्याः स्त्रिया धनं केनापि दायादेन न ग्रहीतव्यम्; 'जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्ववान्धवाः । ताञ्छ्रियाञ्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥' (मनुः ८।२९) इति दण्डविधानात् । तथा—'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥' (मनुः ९।२००) इति दोषश्रवणाच्च ॥ १४७ ॥

भाषा—दुर्भिक्ष के समय, धर्म-कार्य में, रोग में और बन्दी होने पर लिये गये स्त्री-धन को पति स्त्री को पुनः देने का भागी नहीं होता ॥ १४७ ॥

आधिवेदनिकं स्त्रीधनमुक्तं, तदाह—

अधिविन्नस्त्रियैर्दद्यादाधिवेदनिकं समम् ।

न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत् ॥ १४८ ॥

यस्या उपरि विवाहः साऽधिविन्ना, सा चासौ स्त्री च; तस्यै अधिविन्नस्त्रियै, आधिवेदनिकमधिवेदननिमित्तं धनं समं यावदधिवेदनार्थं व्ययीकृतं तावद्दद्यात् । यस्यै भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते पुनः स्त्रीधने आधिवेदनिक-द्रव्यस्यार्थं दद्यात् । 'अर्ध' शब्दश्चात्र समविभागवचनो न भवति, अतश्च यावता तत्पूर्वदत्तमाधिवेदनिकसमं भवति तावद् देयमित्यर्थः ॥ १४८ ॥

भाषा—जिस स्त्री के रहते दूसरा विवाह करे तो उस पहली स्त्री को यदि उसे स्त्री-धन न मिला हो तो दूसरे विवाह में व्यय किये गये धन के बराबर आधिवेदनिक (सन्तोषार्थ) धन देवे; यदि उसे स्त्री-धन मिला हो तो दूसरे विवाह के व्यय का आधा धन ही देना विहित है ॥ १४८ ॥

एवं विभागमुक्त्वा हृदानीं तत्संदेहे निर्णयहेतूनाह—

विभागनिह्वे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः ।

विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥

विभागस्य निह्वे अपलापे ज्ञातिभिः पितृबन्धुभिर्मातृबन्धुभिः मातुलादिभिः साक्षिभिः पूर्वोक्तलक्षणैर्लेख्येन च विभागपत्रेण विभागभावना विभाग-निर्णयो ज्ञातव्यः । तथा यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृत्यादिकार्यप्रवर्तनं पृथक्पञ्चमहायज्ञादिधर्मानुष्ठानं च । नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् (११।३७, ३९)—इति । 'विभागधर्मसंदेहे दायादानां विनिर्णयः । ज्ञातिभिर्भगलेख्येन पृथक्-

१. णापहतं दद्यात् । २. देयमाधि । ३. प्रकीर्तितम् । ४. श्वशुरेण भर्त्रा वा । ५. ज्ञेया क्षेत्रकगृहयौतकैः ।

कार्यप्रवर्तनात् ॥ भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक् पृथक् ॥' तथाऽपराण्यपि विभागलिङ्गानि तेनैवोक्तानि— 'साक्षित्वं प्रातिभाष्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ता आतरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथंचन ॥' (ना० १३।४२, ४३) इति ॥ १४९ ॥

भाषा—विभाग को अस्वीकार करने पर जाति के लोगों, वन्धुओं, साक्षियों, लेख और पृथक् किये गये घर और खेत से विभाग का निर्णय होता है ॥ १४९ ॥

इति दायविभागप्रकरणम् ।

अथ सीमाविवादप्रकरणम् ९

अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते—

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः ।

गोपाः सीमाकृपाणां ये सर्वे च वनगोचराः ॥ १५० ॥

नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ।

सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥ १५१ ॥

ग्रामद्वयसंबन्धिनः क्षेत्रस्य सीम्नो विवादे तथैकग्रामान्तर्वर्तिक्षेत्रमर्यादाविवादे च सामन्तादयः स्थलाङ्गारादिभिः पूर्वकृतैः सीमालक्षणैरुपलक्षितां चिह्नितां सीमां नयेयुर्निश्चिनुयुः । सीमा क्षेत्रादिमर्यादा; सा चतुर्विधा—जनपदसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमा, गृहसीमा चेति । सा च यथासंभवं पञ्चलक्षणा । तदुक्तं नारदेन—'ध्वजिनी मस्तिष्यनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥' इति ॥ ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता; वृक्षादीनां प्रकाशकत्वेन ध्वजतुल्यत्वात् । मस्तिष्यनी सलिलवती; 'मस्तिष्य' शब्दस्य स्वाधारजललक्षकत्वात् । नैधानी निखाततुषाङ्गारादिमती; तेषां निखातत्वेन निधानतुल्यत्वात् । भयवर्जिता अर्थिप्रत्यर्थिपरस्परसंप्रतिपत्तिनिर्मिता । राजशासननीता ज्ञातृचिह्नाभावे राजेच्छया निर्मिता । एवंभूतायां षोढा विवादः संभवति । यथाऽऽह कात्यायनः—'आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तिवमेव च । अभोगभुक्तिः सीमा च षड् भूवादस्य हेतवः ॥' इति ॥ तथा हि—'ममात्र पञ्चनिवर्तनाया भूमेरधिका भूस्ति' इति केनचिदुक्ते पञ्चनिवर्तनैव नाधिके-

१. स्थविरा गणाः ।

२. कृपाणाश्च (= वृद्धशालिका) । ३. चान्ये ।

४. उपलक्षितम् ।

स्याधिक्ये विवादः । 'पञ्चनिवर्तना मदीया भूमिः' इत्युक्ते न ततो न्यूनैवेति न्यूनतायाम् । 'पञ्चनिवर्तनो ममांश' इत्युक्ते अंश एव नास्तीत्यस्तिनास्तित्व-
विवादः संभवति । 'मदीया भूः प्रागविद्यमानभोगैव भुज्यते' इत्युक्ते न संतता
चिरंतन्येव मे 'भुक्ति' रित्यभोगभुक्तौ विवादः । इयं मर्यादेयं वेति सीमाविवाद
इति षट्प्रकार एव विवादः संभवति । षट्प्रकारेऽपि भूविवादे श्रुत्यर्थाभ्यां
सीमाया अपि निर्णयमानत्वात्सीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भावः । समन्ताद्भवाः
सामन्ताः । चतसृषु दिक्ष्वनन्तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं व्यवस्थिताः; 'ग्रामो
ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितम् । गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात्परिरक्ष्य
हि ॥' इति कात्यायनवचनात् । 'ग्रामादि'शब्देन तस्याः पुरुषा लक्ष्यन्ते ।
ग्रामः पलायित इति यथा । 'सामन्त'ग्रहणं च तत्संसक्तद्युपलक्षणार्थम् ।
उक्तं च कात्यायनेन—'संसक्तकास्तु सामन्तास्तत्संसक्तास्तथोत्तराः । संसक्तस-
क्तसंसक्ताः पञ्चाकाराः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ स्थविरा वृद्धाः । 'आदि'ग्रहणेन
मौलौद्धृतयोर्ग्रहणम् । वृद्धादिलक्षणं च तेनैवोक्तम्—'निष्पद्यमानं यैर्दृष्टं तत्कार्यं
तद्गुणान्वितैः । वृद्धा वा यदि वाऽवृद्धास्ते तु वृद्धाः प्रकीर्तिताः ॥ ये तत्र पूर्वं
सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः । तन्मूलत्वात् ते मौला ऋषिभिः परिकीर्तिताः ॥
उपश्रवणसंभोगकार्याख्यानोपचिह्निताः । उद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतास्ते ततः
स्मृताः ॥' इति ॥ गोपा गोचारकाः । सीमाकृषाणाः सीमासंनिहितक्षेत्रकर्षकाः ।
सर्वे च वनगोचरा वनचारिणो व्याधादयः । ते च मनुनोक्ताः (८।२६०)—
'व्याधाऽन्नाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखातकान् । व्यालग्राहानुच्छ्वृत्तीनन्यांश्च
वनगोचरान् ॥' इति ॥ स्थलमुन्नतो भूपदेशः, अङ्गारोऽग्नेरुच्छिष्टम्, तुषा
धान्यत्वचः, द्रुमा न्यग्रोधादयः, सेतुर्जलप्रवाहबन्धः, चैत्र्यं पाषाणादिवन्धः,
आदिशब्देन वेणुवालुकादीनां ग्रहणम्, एतानि च प्रकाशाप्रकाशभेदेन द्विप्र-
काराणि । यथाऽऽह मनुः (८।२४६-२४८) 'सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्च-
किंशुकान् । शास्मलीशालतालंश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ गुल्मान्वेणूश्च विविधा-
न्शमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुब्जकगुल्मांश्च यथा सीमा न नश्यति ॥
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्त्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि
च ॥' इति प्रकाशरूपाणि । (मनुः ८।२४९-२५२)—'उपच्छद्धानि चान्यानि
सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥
अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः । करीषमिट्टकाङ्गारशर्करावा-
लुकास्तथा ॥ यानि चैवंप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत् । तानि संधिषु
सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ॥'

१. पञ्चाकाराः । २. ग्राहानुच्छ्वृत्तीन् । ३. कुब्जकगुल्मांश्च ।

इति प्रच्छल्लिङ्गानि ॥ एतैः प्रकाशाप्रकाशरूपैर्लिङ्गैः सामन्तादिप्रदर्शितैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्याद्वाजा ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—(दो गाँव की अथवा) खेत की सीमा के विवाद में सामन्त, वृद्धपुरुष, गोप (चरवाहे), सीमा पर के खेत जोतने वाले, और सभी वनचारी (व्याध आदि)-ये ऊँची भूमि, कोयला, भूँसी, वृक्ष, सेतु (जल-प्रवाहबन्ध), चीटियों की बाँधी, गड्ढों, हड्डियों और पत्थर आदि से चिह्नित करके सीमा का निर्धारण करें ॥ १५०-१५१ ॥

यदा पुनश्चिह्नानि न सन्ति, विद्यमानानि वा लिङ्गालिङ्गतया संदिग्धानि, तदा निर्णयोपायमाह—

सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा ।

रक्तस्रग्वसनाः सीमां नयेयुः क्षितिवारिणः ॥ १५२ ॥

सामन्ताः पूर्वोक्तलक्षणाः, समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वेत्येवं समसंख्याः प्रत्यासन्नग्रामीणाः । रक्तस्रग्विणो रक्ताम्बरधराः मूर्धन्यारोपितक्षितिखण्डाः सीमानं नयेयुः प्रदर्शयेयुः । 'सामन्ता वा' इति विकल्पाभिधानं स्मृत्यन्तरोक्त-साक्ष्यभिप्रायम् । यथाऽऽह मनुः (८।२५३)—'साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमा-वादविनिर्णये' इति ॥ तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं मुख्यम् ; तदभावे सामन्तानाम् । तदुक्तम् (मनुः ८।२५८)—'साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्राम्याः सीमान्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥' इति; तदभावे तत्सत्कादीनां निर्णेतृत्वम् । यथाऽऽह कात्यायनः—'स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात् । तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः ॥ संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः । कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राजा धर्मं विजानता ॥' इति । सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः; 'तेषामभावे सामन्त-मौलवृद्धोद्धृतादयः । स्थावरे षट्प्रकारेऽपि कार्या नात्र विचारणा ॥' इति कात्या-यनेन क्रमविधानात् । एते च सामन्तादयः संख्यागुणातिरेकेण संभवन्ति । 'सामन्ताः साधनं पूर्वं निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः । द्विगुणास्तृत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मताः ॥' इति स्मरणात् ॥ ते च साक्षिणः सामन्तादयश्च स्वैः स्वैः शपथैः स्थापिताः सन्तः सीमां नयेयुः; (मनुः ८।२५६)—'क्षिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वी' स्रग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः स्थापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समंजसम् ॥' इति स्मर-णात् । नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैकस्य । 'एकश्चेदुच्चयेत्सीमां सोपवासः

१. प्रकाशितैः । २. समा ग्रामा । ३. कुर्वीत । ४. दोषेषु ।
५. क्रमाभिधानात् ।

समुच्चयेत् । रक्तमाख्याम्बरधरो भूमिमादाय मूर्धनि ॥' (ना० १११०।९)
इति नारदेनैकस्याभ्यनुज्ञानात् ॥ योऽयं—'नैकः समुच्चयेत्सीमां नरः प्रत्ययवा-
नपि । गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता ॥' इत्येकस्य निषेधः स उभया-
नुमतधर्मविद्वद्यतिरिक्तविषय इत्यविरोधः ॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्ता-
दीनां सीमाज्ञाने उपायविशेषो नारदेनोक्तः—'निम्नगापहतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु
भूमिषु । तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाज्ज्ञेयदर्शनात् ॥' (ना. ११।६) इति ।
निम्नगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोत्सृष्टानि स्वस्थानात्प्रच्युतानि नष्टानि वा
लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुत्सृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीन-
प्रदेशानुमानात् ग्रामादारभ्य सहस्रदण्डपरिमितं क्षेत्रमस्य ग्रामस्य पश्चिमे भागे
इत्येवंविधाप्रमाणाद्वा प्रत्यर्थिसमक्षमविप्रतिपन्नाया अस्मार्तकालोपलक्षितभुक्तेर्वा
निश्चिनुयुः ॥ बृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शितः—'भागं च प्रमाणं च भोगं
कालं च नाम च । भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः ॥' इति । एते च
साक्षिसामन्तादयः शपथैः श्राविताः सन्तः कुलादिसमक्षं राज्ञा प्रष्टव्याः । यथाह
मनुः (८।२५४)—'ग्रामेयककुलानां तु समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीम-
लिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥' इति । ते च पृष्टाः साक्ष्यादयः समस्ता
ऐकमयेन सीम्नि निर्णयं ब्रूयुः । तैर्निर्णीतां सीमां तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां
साक्ष्यादिनामान्वितां चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत् । उक्तं च मनुना
(८।२६१)—'ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निर्णयम् । निबध्नी-
यात्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः ॥' इति । एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां
सीमाचङ्क्रमणदिनादारभ्य यावत्त्रिपक्षं राजदैविकव्यसनाव्यसनं चेद्धोत्पद्यते
तदा तत्प्रदर्शनात्सीमानिर्णयः । अयं च राजदैविकव्यसनावधिः कारयायने-
नोक्तः—'सीमाचङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च । त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजि-
कमिष्यते ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—(यदि कोई चिह्न न हो तो) सामन्त, आसपास के चार, आठ
या दस ग्रामवासी लाल रंग का वस्त्र धारण करके एवं शिर पर मिट्टी का
ढेला रखकर सीमा निर्धारित करें ॥ १५२ ॥

यदा स्वमीषामुक्तसाक्ष्यवचसां त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादि दृश्यते, अथवा प्रति-
धादिनिर्दिष्टाभ्यधिकसंख्यागुणसाक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते मृषाभाषितषा
दण्डनीयास्तदह—

अनृते तु पृथग्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ।

४. पलक्षितैर्भुक्तेर्वा । ५. साक्षिणः सामन्तादयः । ६. सीमानं ।

अनृते मिथ्यावदने निमित्तभूते सति सर्वे सामन्ताः प्रत्येकं मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणपञ्चशतेन दण्डनीयाः । सामन्तविषयता चास्य साक्षि-
मौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादवगम्यते । यथाऽऽह मनुः (८।२५७) —
‘यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्वि-
शतं दमम् ॥’ इति ॥ नारदोऽपि (११।७) — ‘अथ चेदनृतं ब्रूयुः सामन्ताः
सीमनिर्णये । सर्वे पृथक्पृथग्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥’ इति सामन्तानां
मध्यमसाहसं दण्डमभिधाय — ‘शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि । प्रत्येकं तु
जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ॥’ इति, तत्संस्क्रादिषु प्रथमं साहसमुक्तवान् ।
मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह — ‘मौलवृद्धाद्यस्त्वन्ये दण्डगत्या पृथक् पृथक् ।
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः ॥’ (ना० ११।८) इति । ‘आदि’-
शब्देन गोपशाकुनिकव्याधवनगोचराणां ग्रहणम् । यद्यपि शाकुनिकादीनां
पापरतत्वालिङ्गप्रदर्शन एवोपयोगो न साक्षात्सीमानिर्णये तथाऽपि लिङ्गदर्शन एव
मृषाभाषित्वसंभवाद्दण्डविधानमुपपद्यत एव । ‘अनृते तु पृथग् दण्डया’ इत्येत-
द्दण्डविधानमज्ञानविषयम् ; ‘बहूजां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णयं यदि । कुर्युर्भ-
याद्वा लोभाद्वा दण्डयास्तूत्तमसाहसम् ॥’ इति ज्ञानविषये साक्ष्यादीनां कार्या-
यनेन दण्डान्तरविधानात् । तथा साक्षिवचनभेदेऽप्ययमेव दण्डस्तेनैवोक्तः —
‘कीर्तिते यदि भेदः स्याद्दण्डयास्तूत्तमसाहसम्’ इति । एवमज्ञानादिनानृतवदने
साक्ष्यादीन्दण्डयित्वा पुनः सीमाविचारः प्रवर्तयितव्यः । ‘अज्ञानोक्तौ दण्डयित्वा
पुनः सीमां विचारयेत्’ इत्युक्त्वा ‘त्यक्त्वा दुष्टास्तु सामन्तानन्यान्मौलादिभिः
सह । संमिश्रय कारयेत्सीमामेवं धर्मविदो विदुः ॥’ इति निर्णयप्रकारस्तेनैवोक्तः ॥ -

यदा पुनः सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारश्चिह्नानि च न सन्ति, तदा कथं निर्णय
इत्यत आह —

अभावे ज्ञातृचिह्नानां राज्ञा सीम्नः प्रवर्तिता ॥ १५३ ॥

ज्ञातृणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनां च वृत्तादीनामभावे राजैव सीम्नः
प्रवर्तिता प्रवर्तयिता । अन्तर्भावितोऽत्र प्यर्थः । ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादा-
स्पदीभूतां भुवं समं प्रविभज्य ‘अस्येयं भूरस्येयम्’ इत्युभयोः समर्प्य तन्मध्ये
सीमालिङ्गानि कुर्यात् । यदा तस्यां भूमावन्यतरस्योपकारातिशयो दृश्यते, तदा
तस्यैव ग्रामस्य सकला भूः समर्पणीया । यथाऽऽह मनुः (८।२६५) — ‘सीमा-
यामविषद्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति
स्थितिः ॥’ इति ॥ १५३ ॥

१. मिथ्यावदने । २. साक्ष्यमौलादीनां । ३. प्रवर्तकः ।

भाषा—इन (सामन्त आदि) के झूठ बोलने पर राजा को इन्हें मध्यमसाहस का दण्ड देना चाहिए । जानने वाले सामन्त आदि और वृक्ष आदि चिह्न न हों तो राजा ही सीमा निश्चित करे ॥ १२३ ॥

असत्यामप्यतद्भावाशङ्कामस्याः स्मृतेन्यायमूलतां दर्शयितुमितिदेशमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेशमसु ।

एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाभ्युपवर्हादिषु ॥ १५४ ॥

आरामः पुष्पफलोपचयहेतुर्भूभागः, आयतनं निवेशनं ^१पलालकूटाद्यर्थं विभक्तो भूप्रदेशः, ग्रामः प्रसिद्धः, 'ग्राम' ग्रहणं च नगराद्युपलक्षणार्थम्, निपानं पानीयस्थानं वापीकूपप्रभृतिकम्, उद्यानं क्रीडार्था भूमिः, वेशम गृहम्, एतेष्वारामादिष्वयमेव सामन्तसाध्यादिलक्षणां विधिर्ज्ञातव्यः । तथा प्रवर्षणोद्भूतजलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्येन जलौघः प्रवहति अनयोर्वैत्येवंप्रकारे विवादे 'आदि' ग्रहणात्प्रासादादिष्वपि प्राचीन एव विधिर्वेदितव्यः । तथा च कात्यायनः—'क्षेत्रकूपतडागानां केदारारामयोरपि । गृहप्रासादावसथनृपदेवगृहेषु च ॥' इति ॥ १५४ ॥

भाषा—यही विधि वाटिका, आयतन (बैठक), गाँव, वापी, कूप आदि जलस्थल, उद्यान और घर की सीमा का निर्धारण करने में भी होती है । वर्षा का जल जिस मार्ग से बहता हो उसके संबन्ध में भी यह विधि समझनी चाहिए ॥ १५४ ॥

सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन मर्यादाप्रभेदनादौ दण्डमाह—

मर्यादायाः प्रभेदे च ^३सीमातिक्रमणे तथा ।

क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रव्यवच्छेदिका साधारणा भूमर्यादा, तस्याः प्रकर्षण भेदेन सीमातिक्रमणे सीमांतिलङ्घ्य कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिप्रदर्शनेन हरणे यथाक्रमेण अधमोत्तममध्यमसाहसा दण्डा वेदितव्याः । 'क्षेत्र' ग्रहणं चात्र गृहाराद्याद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनः स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिकमपहरति, तदा द्विशतो दमो वेदितव्यः । यथाऽऽह मनुः (८।२६४)—'गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् । शतानि पञ्च दण्डयः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥' इति ।

१. प्रवहेषु च । २. पलालादिकूटाद्यर्थं । ३. तु । ४. क्षेत्रस्य हरणे तथा । ५. सीमातिक्रमणे दण्डया । ६. साधारणी । ७. सीमान्तिलङ्घ्य ।

अपहियमाणक्षेत्रादिभूयस्वपर्यालोचनया कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः ।
अत एवाह—'वधः सर्वस्वहरणं पुरास्त्रिंशत्सनाङ्कने । तदङ्गच्छेद् दृश्युक्तो दण्ड
उत्तमसाहसः ॥' इति ॥ १५५ ॥

भाषा—मर्यादा (खेतों के बीच से बनी हुई मेंड़) को तोड़ने और
सीमा को पार करने (अधिक जोतने) और धमकी देकर खेत छीन लेने पर
क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यमसाहस का दण्ड समझना चाहिए ॥ १५५ ॥

य; पुनः परक्षेत्रे सेतुकूपादिकं प्रार्थनयार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमि-
च्छति तन्निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह—

न निषेधोऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।

परभूमि हर्णकूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिमपहरन्नाशयन्नपि सेतुर्जलप्रवाहबन्धः क्षेत्रस्वामिना न
प्रतिषेध्यः स चेदीषःपीडाकरो बहूपकारकश्च भवति । कूपश्चाल्पक्षेत्रव्यापिस्वेना-
ल्पबाधो बहूदकत्वेन कल्याणकारकश्चेतो बहूदको नैव निवारणीयः । 'कूप'
ग्रहणं च वापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनरसौ सर्वक्षेत्रवर्तितया बहु-
बाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया वाऽल्पोपकारकस्तदासौ निषेध्य इत्यर्थादुक्तं
भवति । सेतोश्च द्वैविध्यमुक्तं नारदेन (१५।१८)—'सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः
खेत्यो बन्धस्तथैव च । तोयप्रवर्तनाखेत्यो बन्धः स्यात्तन्निवर्तनात् ॥' इति
यदा स्वयन्निर्मितं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करोति तदा पूर्वस्वामिनं
तद्वंश्यं नृपं वा पृष्ट्वैव संस्क्रियात् । यथाऽऽह नारदः (११।२०-२१)—'पूर्व-
प्रवृत्तमुत्सन्नमपृष्ट्वा स्वामिनं तु यः । सेतुं प्रवर्तयेत्कश्चिन्न स तत्फलभारभवेत् ॥
मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वाऽपि मानवे । राजानमामन्य ततः कुर्यात्सेतु-
प्रवर्तनम् ॥' इति ॥ १५६ ॥

भाषा—थोड़ी भूमि के लगने से बहुत कल्याण देने वाला सेतु दूसरे
के भूमि में बनाने पर भी भूमि का स्वामी मनाना न करे । दूसरे की
भूमि लेकर कुत्राँ बनवाने पर भूमि की हानि कम होती है और उससे जल
का लाभ अधिक होता है ॥ १५६ ॥

क्षेत्रस्वामिनं प्रत्युपदिष्टम्, हदानीं सेतोः प्रवर्तयितारं प्रत्याह—

स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयेत् ।

उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः ॥ १५७ ॥

१. हरेत् । २. बहूपकारको नैव । ३. समग्रक्षेत्र । ४. अविनिवेद्यैव ।

क्षेत्रस्वामिनमनभ्युपगम्य तदभावे राजानं वा यः परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्त-
यत्यसौ फलभाङ् न भवति, अपि तु तदुत्पन्ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तद-
भावे राज्ञः । तस्मात्प्रार्थनया अर्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिनं तदभावे राजानं
चाऽनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतुः प्रवर्तनीय इति तात्पर्यार्थः ॥ १५७ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी से बिना पूछे ही खेत में सेतु बनाता है,
उससे फल होने पर खेत का स्वामी ही उसका अधिकारी होता है । उसके न
होने पर वह लाभ राजा को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रतिषेध्य इत्युक्तम्, इदानीं तस्यैव प्रसक्तानुप्रसक्त्या
कचिद्विध्यन्तरमाह—

फालाहतमपि क्षेत्रं न कुर्याद्यो न कारयेत् ।

स^३ प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

यः पुनः क्षेत्रस्वामिपार्श्वे 'अहमिदं क्षेत्रं कृषामि' इत्यङ्गीकृत्य पश्चादुत्प-
जति, न चान्येन कर्षयति, तच्च क्षेत्रं यद्यपि फालाहतं ईषद्वलेन विदारितं
न सस्यग्रीवावापाहं तथाऽपि तस्याकृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पश्यहं सामन्तादि-
कल्पितं तावदसौ कर्षको दापनीयः । तच्च क्षेत्रं पूर्वकर्षकावाच्छिष्टान्येन
कारयेत् ॥ १५८ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी से खेत लेकर थोड़ा जोतकर फिर न
अपने जोतता है और न किसी दूसरे को जोतने देता है उससे उस खेत में
जितना पैदा होता है उतना अन्न दिलावे और खेत दूसरे को जोतने के
लिए देवे ॥ १५८ ॥

इति सीमाविवादप्रकरणम् ।

अथ स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०

व्यवहारपदानां परस्परहेतुहेतुमज्ञावाभावात् 'तेषामाद्यमृणादानम्' इत्यादि-
पाठक्रमो न विवक्षित इति व्युत्क्रमेण स्वामिपालविवादोऽभिधीयते—

माषानद्यौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी ।

दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम् ॥ १५९ ॥

१. भ्युपगमय । २. यो न कुर्यान्न । ३. तं प्रदाप्या-
कृष्टशदं (= शदः क्षेत्रस्य फलं, अकृष्टस्य क्षेत्रस्य शदः । अकृष्टेऽपि क्षेत्रे
तं प्रदाप्य क्षेत्रमन्यस्याप्येतत्) । ४. हेतुमज्ञावात् ।

परस्यविनाशकारिणी महिषी अष्टौ माषान्दण्डनीया । गौस्तर्धं चतुरो माषान् । अजा मेघाश्च माषद्वयं दण्डनीयाः । महिष्यादीनां धनसंबन्ध-भावात्तस्वामी पुरुषो लक्ष्यते । माषश्चात्र तान्त्रिकपणस्य विंशतितमो भागः । 'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इति नारदस्मरणात् । एत-च्चाज्ञानविषयम्; ज्ञानपूर्वं तु 'पणस्य पादौ द्वौ गां तु द्विगुणं महिषीं तथा । तथाऽजाविकचरसानां पादौ दण्डः प्रकीर्तितः ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्नारदेनोक्तम् (११।३१)—'माषं गां दापयेद्दण्डं द्वौ माषौ महिषीं तथा । तथाऽजाविकचरसानां दण्डः स्यादर्धमाधिकः ॥' इति तत्पुनःप्ररोहयोग्यमूला-वशेषभक्षणविषयम् ॥ १५९ ॥

भाषा—यदि किसी की भैंस दूसरे की फसल नष्ट करे तो उससे आठ माष दण्ड लेना चाहिए, गाय चरे तो उसके आधे चार माष दण्ड ले और बकरा तथा भेंड़ चरे तो उसके भी आधा (दो माष) दण्ड वसूल करे ॥ १५९ ॥

अपराधातिशयेन कचिद्दण्डद्वैगुण्यमाह—

भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

यदि पशवः परक्षेत्रे सस्यं भक्षयित्वा तत्रैवानिवारिताः शेरते तदा यथो-क्तादण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । सवस्सानां पुनर्भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तदण्डाच्चतुर्गुणो दण्डो वेदितव्यः । 'वसतां द्विगुणः प्रोक्तः सवस्सानां चतुर्गुणः' इति वचनात् ॥

क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे वातिदेशमाह—

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विवीतः प्रचुरवृणकाष्ठो रक्ष्यमाणः परिगृहीतो भूपदेशः, तदुपघातेऽपीत-रक्षेत्रदण्डेन समं दण्डमेषां महिष्यादीनां विद्यात् । खरश्च उष्ट्रश्च खरोष्ट्रं तन्महिषीसमम् । महिषी यत्र यादशेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र तादृशेनैव दण्डेन खरोष्ट्रमपि प्रत्येकं दण्डनीयम् । सस्योपरोधकत्वेन खरोष्ट्रयोः प्रत्येकं महिषीतु-द्वयवाद्दण्डस्य चापराधानुसारिस्वाखरोष्ट्रमिति समाहारो न विवक्षितः ॥ १६० ॥

भाषा—यदि पशु किसी दूसरे की फसल चरकर वहाँ बैठा भी हो तो, भी बंताये गये दण्ड का दूना दण्ड होता है । विवीत (बाड़े) में भैंस आदि प्रवेश करे तो पहले के समान ही दण्ड ले । इस संबन्ध में गदहा और ऊँट के लिये भी भैंसे के समान दण्ड होता है ॥ १६० ॥

१. गां तद्द्विगुणं ।

परसस्यविनाशे गोस्वामिनो दण्ड उक्तः, इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह—

यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम् ।

गोपस्ताड्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

‘सस्य’ग्रहणं क्षेत्रोपचयोपलक्षणार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे यावत्पलालधान्यादिकं गवादिभिर्विनाशितं तावत्क्षेत्रफलं ‘एतावति क्षेत्रे एतावद्भवति’ इति सामन्तैः परिकल्पितं तत्क्षेत्रस्वामिने गोमी दापनीयः । गोपस्तु ताडनीय एव, न फलं दापनीयः । गोपस्य च ताडनं पूर्वोक्तधनदण्डसहितमेव पालदोषेण सस्यनाशे दृष्टव्यम् । ‘या नष्टा पालदोषेण गौस्तु सस्यानि नाशयेत् । न तत्र गोमिनां दण्डः पालस्तं दण्डमर्हति ॥’ इति वचनात् ॥ गोमी पुनः स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्तं दण्डमेवाहति, न ताडनम् । फलदानं पुनः सर्वत्र गोस्वामिन एव; तत्फलपुष्टमहिष्यादिक्षारेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागित्वात् । गवादिभक्षितावशिष्टं पलालादिकं गोमिनेव ग्रहीतव्यम् । मध्यस्थकल्पितमूल्यदानेन क्रीतप्रायस्वात् । अत एव नारदः—गोभिस्तु भक्षितं सस्यं यो नरः प्रतियाचते । सामन्तानुमतं देयं धान्यं यच्चत्र वापितम् ॥ पलालं गोमिने देयं धान्यं वै कर्षकस्य तु ॥’ इति ॥ १६१ ॥

भाषा—गाँव के निकट के मार्ग में, और पशुओं के बाड़े के निकट के जितनी फसल चरे या नष्ट किये हो उतने का फल खेत के स्वामी को मिले । चरवाहे को पीटना चाहिए और गाय के स्वामी से उपरोक्त दण्ड ही लेना चाहिए ॥ १६१ ॥

क्षेत्रविशेषे अपवादमाह—

पथि ग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।

अकामतः कामचारे चौरवदण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

पथि मार्गसमीपवर्तिनि क्षेत्रे ग्रामविवीतसमीपवर्तिनि च क्षेत्रे अकामतो गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरप्यदोषः । दोषाभावप्रतिपादनं च दण्डाभावार्थं विनष्टसस्यमूल्यदानप्रतिषेधार्थं च । कामचारे कामतश्चरणे चौरवत् चौरस्य यादृशो दण्डस्तादृशं दण्डमर्हति । एतच्चानावृत्तक्षेत्रविषयम् ; ‘तत्रापरिवृत्तं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥

१. विनश्येत् तावत्क्षेत्री फलं लभेत् । २. पालस्ताड्येत गोमी तु पूर्ववदण्ड । पालस्ताड्योऽथ गोमी तु पूर्वोक्तः । ३. गोमिन एव । ४. मूल्यद्वारेण । ५. गोमिनो देयं ।

८।२३८) — इति दण्डाभावस्यानावृतचेत्रविषयत्वेन मनुनोक्तत्वात् । आवृते पुनर्मार्गादिवेत्त्रेऽपि दोषोऽस्त्येव । वृत्तिकरणं च तेनैवोक्तम् । 'वृत्तिं च तत्र कुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत् । छिद्रं निवारयेत्सर्वं श्वसूकरमुत्थानुगम् (मनुः ८।२३९) इति ॥ १६२ ॥

भाषा—गाँव के निकट के मार्ग में और पशुओं के बाड़े से सटे हुए खेत में भूल से पशुओं के पद जाने पर कोई दोष नहीं होता । जानबूझ कर पशुओं को छोड़ने वाला चोर के समान दण्डनीय होता है ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपि दण्डाभावमाह—

महोक्षोत्सृष्टपशवः सूतिकागन्तुकादयः ।

पालो येषां न ते मोच्या दैवराजपरिप्लुताः ॥ १६३ ॥

महांश्चासावुष्ठा च महोक्षो वृषः सेका । उत्सृष्टपशवः वृषोत्सर्गादिविधा-
नेन देवतोद्देशेन वा त्यक्ताः । सूतिका प्रसूता अनिर्देशाहा; आगन्तुकः
स्वयूथात्परिभ्रष्टो देशान्तरादागतः । एते मोच्याः परसस्यभक्षणेऽपि न दण्डयाः ।
येषां च पालो न विद्यते तेऽपि दैवराजपरिप्लुताः दैवराजोपहताः सस्यविनाश-
कारिणो न दण्डयाः । आदिशब्दग्रहणादस्यश्वादयो गृह्यन्ते । ते चोशन-
सोक्ताः—'अदण्डया हस्तिनो ह्यश्वाः प्रजापाला हि ते स्मृताः ।' अदण्डयो
काणकुञ्जौ च ये शश्वत्कृतलक्षणाः ॥ अदण्डयागन्तुकी गौश्च सूतिका वाऽभिसा-
रिणी । अदण्डयाश्चोत्सवे गावः श्राद्धकाले तथैव च ॥' इति । अत्रोत्सृष्टपशूनाम-
स्वामिकत्वेन दण्डयत्वासंभवात् दण्डान्तार्थमुपादानम् । यथोत्सृष्टपशवो न
दण्डया एवं महोक्षादय इति ॥ १६३ ॥

भाषा—साँड, यज्ञ विधि से छोड़े पड़े पशु, दस दिन से कम की ब्याई हुई गाय, अपने गिरोह से भटक कर आये हुए पशु को छोड़ देना चाहिए (दण्ड नहीं देना चाहिए) । जिसको पालने वाला न हो और जो राजा या दैव से पीड़ित हो ऐसे पशु को (खेत चरने पर भी) छोड़ देना चाहिए ॥ १६३ ॥

गोस्वामिन उक्तम्, हृदानीं गोपं पशुपदिश्यते—

यथार्पितान्पशून्गोपः सार्यं प्रत्यर्पयेत्तथा ।

प्रमादमृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः ॥ १६४ ॥

१. सूतिकागन्तुकी च गौः । २. च । ३. राजदेवपरि । ४. अदण्डयाः
काणकुञ्जाश्च वृताश्च कृतलक्षणाः ।

गोस्वामिना प्रातःकाले यथा गणयित्वा समर्पिताः पशवस्तथैव सायंकाले गोपो गोस्वामिने पशून् विगणय्य प्रत्यर्पयेत् । प्रमादेन स्वापराधेन मृताष्ट-
ष्टांश्च पशून् कृतवेतनः कल्पितवेतनो गोपः स्वामिने दाप्यः । वेतनकल्पना च नारदेनोक्ता (६।१०)—‘गवां शताद्व्यसतरी धेनुः स्याद् द्विशतामृतिः ।
प्रतिसंवत्सरं गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि ॥’ इति । प्रमादनाशश्च मनुना स्पष्टी-
कृतः (८।२३२)—‘नष्टं जग्धं च कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् । हीनं पुरुष-
कारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥’ इति ॥ प्रसज्य चौरैरपहतं न दाप्यः । यथाऽऽह
मनुः (८।२३३)—‘विक्रम्य^३ तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च
काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥’ इति । ‘दैवमृतानां पुनः कर्णादि प्रदर्श-
नीयम् । ‘कर्णौ चर्म च वालांश्च वर्तित स्नायुं च रोचनाम् । पैशुषु स्वामिनां
दद्यान्मृतेष्वङ्गानि^४ दर्शयन् ॥’ (८।२३४) इति मनुस्मरणात् ॥ १६४ ॥

भाषा—प्रातःकाल जैसा पशु स्वामी ने गोप (चरवाहे) को सौंपा हो
वैसा ही (उतने ही) पशु सन्ध्या को वह (गोप) स्वामी को लौटावे । यदि
पशु उसकी असावधानी से मर गया हो या खो गया हो तो स्वामी उसका
वेतन ठहरा कर उसमें से उस पशु का मूल्य ले लेवे ॥ १६४ ॥

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ।

अर्धत्रयोदशपणः स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच, ‘पालदोषेणैव पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपणं दण्डं पालो दाप्यः ।
स्वामिनश्च द्रव्यं विनष्टपशुमूल्यं मध्यस्थकल्पितम् । दण्डपरिमाणार्थः श्लोकः,
अन्यत्पूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

भाषा—चरवाहे के दोष से पशु का नाश होने पर चरवाहे से सादे
तेरह पण दण्ड स्वामी को दिल्वाये ॥ १६५ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह—

ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेन वा ।

द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

ग्राम्येच्छया ग्राम्यजनेच्छया भूम्यल्पत्वमहरवापेक्षया राजेच्छया वा गोप्र-
चारः कर्तव्यः । गवादीनां^१ प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्टः परिकल्पनीय

१. द्विशतामृतिः । २. अपहतान् । ३. विघुष्य खिति । ४. दैव-
राजमृतानां । ५. पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्गानि । पशुस्वामिषु दद्यात्तु
मृतेष्वङ्गानि । ६. अङ्गादि दर्शयेत् । ७. स्वामिने । ८. दोषेण पशु ।
९. ग्राम्येच्छया । १०. सर्वतः समुपाहरेत् । ११. चरणार्थ ।

इत्यर्थः । द्विजस्तृणेऽधनाद्यभावे गवाग्निदेवतार्थं तृणकाष्ठकुसुमानि सर्वतः स्वव-
दनिवारित आहरेत् । फलानि स्वपवृतादेव । 'गोऽन्यथं तृणमेधांसि वीरुद्धन-
स्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृत्तानाम्' (गौ. १२।२८)
इति गौतमस्मरणात् । एतच्च परिगृहीतविषयम् । अपरिगृहीते तु द्विजव्यति-
रिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वस्वसिद्धेः । यथा तेनैवोक्तम्—'स्वामी रिक्थक्रय-
संविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ. १३।३९) इति । यत्पुनरुक्तम्—'तृणं वा
यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् । अनापृच्छन्नि गृहानो हस्तच्छेदन-
मर्हति ॥' इति, तद्द्विजव्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिव्यतिरिक्तविषयं
वेति ॥ १६६ ॥

भाषा—गाँव के लोगों की इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा से गौओं
के चरागाह के लिये भूमि बनानी चाहिए । द्विज जलाने के लिये ईंधन और
पुष्प सभी स्थानों से सदा बे रोक टोक ले सकता है ॥ १६६ ॥

इदमपरं गवादीनां स्थानासनसौकर्यार्थमुच्यते—

धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।

द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

ग्रामक्षेत्रयोरन्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहः सर्वतोदिर्शमनुससस्यं का-
र्यम् । खर्वटस्य प्रचुरकण्टकसन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शते परीणाहः । नगरस्य
बहुजनसंकीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं कार्यम् ॥ १६७ ॥

भाषा—गाँव के चारों ओर सौ धनु स्थान छोड़े, खर्वट (कस्बे) के
चारों ओर दो सौ धनुष और नगर के चारों ओर चार सौ धनुष स्थान
छोड़ देना चाहिए ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ।

अथास्वामिविक्रयप्रकरणम् ११

संप्रत्यस्वामिविक्रयाख्यं व्यवहारपदमुपक्रमते । तस्य च लक्षणं नारदेनो-
क्तम् (७।१)—'निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहत्य वा । विक्रीयतेऽसमत्वं
यस्य ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥' इति, तस्मिन्मिथ्याह—

स्वं लभेतान्यविक्रीतं केतुर्वोपोऽप्रकाशिते ।

हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥

१. स्वपरिवृतादेव । २. परीहारः (= परिहृतं कृष्यादिकं) । ३. ग्राम-
क्षेत्रान्तरं । ४. कर्पटस्य (= ग्रामनगरोभयधर्मयुक्तस्य) । ५. परि-
णाहः । ६. दिव्यनुससस्यं ।

स्वमात्मसंबन्धि द्रव्यं अन्यविक्रीतमस्वामिविक्रीतं यदि पश्यति, तदा लभेत गृहीयात् ; अस्वामिविक्रयस्य स्वस्वहेतुत्वाभावात् । 'विक्रीत' ग्रहणं दत्ता-हितयोरुपलक्षणार्थम् ; अस्वामिविक्रीतत्वेन तुल्यत्वात् । अत एवोक्तम्—'अस्वामिविक्रयं दानमाधि च विनिवर्तयेत्' इति । क्रेतुः पुनरप्रकाशिते गोपिते क्रये दोषो भवति । तथा हीनात्तत्तद्द्रव्यागमोपायहीनाद्रहसि चैकान्ते संभाव्य-द्रव्यादपि हीनमूल्येनाल्पतरेण च मूल्येन क्रये वेलाहीने वेलया हीनो वेला-हीनः, क्रयो राश्यादौ कृतस्तत्र च क्रेता तस्करो भवति । तस्करवद्दण्डभा-गभवतीत्यर्थः । यथोक्तम् (ना० ७।१।३-५)—'द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुयात् । प्रकाशं क्रयतः शुद्धिः क्रेतुः स्तेयं रहःक्रयात् ॥' इति ॥ १६८ ॥

भाषा—अपनी वस्तु किसी दूसरे के पास बेची हुई देखे तो उसे ले लेवे । चोरी छिपे क्रय करने में क्रेता को दोष होता है । हीन (जिसके पास वह वस्तु सामान्यतः नहीं होनी चाहिए) व्यक्ति से एकान्त में कममूल्य पर और अयुक्त समय पर (रात्रि में) खरीदे तो क्रेता चोर होता है ॥ १६८ ॥

स्वास्थ्यभियुक्ते क्रेत्रा किं कर्तव्यमित्यत आह—

नष्टापहतमासाद्य हतारं ग्राहयेन्नरम् ।

देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥

नष्टमपहतं वाऽन्यदीयं क्रयादिना प्राप्य हतारं विक्रेतारं नरं ग्राहयेत् चौरौद्धरणकादिभिः आत्मविशुद्धयर्थं राजदण्डप्राप्त्यर्थं च । अथाविदितदेशान्तरं गतः कालान्तरे वा विपन्नस्तदा मूलसमाहरणाशक्तेर्विक्रेतारमदर्शयित्वैव स्वयमेव तद्धनं नाष्टिकस्य समर्पयेत् । तावत्तैवासौ शुद्धो भवतीति श्रीकराचार्येण व्याख्यातं,—तदिदमुपपन्नम्, विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः' (व्य० १७०) इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । अतोऽन्यथा व्याख्यायते नष्टापहतमिति । नाष्टिकं प्रत्यय-मुपदेशः । नष्टमपहतं वाऽऽत्मीयद्रव्यमासाद्य क्रेतृहस्तस्थं ज्ञात्वा तं हतारं क्रेतारं स्थानपालादिभिर्ग्राहयेत् । देशकालातिपत्तौ देशकालातिक्रमे स्थानपालाद्यसंनिधाने तद्विज्ञापनकालात्पाक् पलायनाशङ्कायां स्वयमेव गृहीत्वा तेभ्यः समर्पयेत् ॥ १६९ ॥

भाषा—अपनी खोई हुई या चोरी गई हुई वस्तु देखे तो उसके विक्रेता को पकड़वाये; यदि उसके कहीं भाग जाने या देर होने की आशंका हो तो स्वयं पकड़ कर स्थानपाल के पास ले जावे ॥ १६९ ॥

१. अस्वामिक्रीतेन । २. क्रये । ३. वा । ४. विक्रेतारं ग्राहयेत् । ५. तद्विज्ञापकात्पाक् ।

प्राहिते हर्तरि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ।

क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥ १७० ॥

यद्यसौ गृहीतः क्रेता 'न मयेदमपहनम्, अन्यसकाशास्कीतम्' इति वक्ति, तदा तस्य क्रेतुर्विक्रेतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति । न पुनरसावभियोज्यः, किंतु तत्प्रदर्शितेन विक्रेत्रा सह नाष्टिकस्य विवादः; यथाऽऽह बृहस्पतिः—'मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन । मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते ॥' इति ॥ तस्मिन् विवादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भवति, तदा तस्य नष्टापह- तस्य गवादिद्रव्यस्य यो विक्रयी विक्रेता तस्य सकाशास्वामी नाष्टिकः स्वीयं द्रव्यमवाप्नोति; नृपश्चापराधानुरूपं दण्डं; क्रेता च मूल्यमवाप्नोति । अथासौ देशान्तरगतस्तदा योजनसंख्यया आनयनार्थं कालो देयः; 'प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत् । मूलानयनकालश्च देयस्तत्राध्वसंख्यया ॥' इति स्मरणात् ॥ अथाविज्ञातदेशतया मूलमाहर्तुं न शक्नोति, तदा क्रयं शोधयिष्वैव शुद्धो भवति; 'असमाहार्यमूलस्तु क्रयमेव विशोधयेत्' इति वचनात् ॥ यदा पुनः साक्ष्यादिभिर्द्रव्येन वा क्रयं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति, तदा स एव दण्डभागभवति ॥ इति; 'अनुपस्थापयन्मूलं क्रयं वाऽप्यविशोधयन् । यथाऽ- भियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च सः' ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—यदि ऐसी वस्तु को बेचने वाला अपने पूर्व के विक्रेता को दिखा दे तो छूट जाता है । राजा इस विक्रेता से स्वामी को वस्तु दिखावे क्रेता अपना मूल्य उस व्यक्ति से प्राप्त कर लेता है जिसने उसे पहले बेचा हो ॥ १७० ॥

'स्वं लभेतान्यविक्रीतम्' (व्य० १६८) इत्युक्तं, तद्विलम्बुना किं कर्तव्य- मित्यत आह—

आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।

पञ्चबन्धो दमस्तस्य राज्ञे तेनाविभाविते ॥ १७१ ॥

आगमेन रिक्तक्रयादिना उपभोगेन च 'मदीयमित्यं द्रव्यं तच्चैवं नष्टमप- हृतं वा इत्यपि' भाव्यं साधनीयं तस्वामिना । अतोऽन्यथा तेन स्वामिना अविभाविते पञ्चबन्धो नष्टद्रव्यस्य पञ्चमांशो दमो नाष्टिकेन राज्ञे देयः । अत्र चायं क्रमः—पूर्वस्वामी नष्टमारमीयं साधयेत्, ततः क्रेता चौर्यपरिहारार्थं मूल्यलाभाय च विक्रेतारमानयेत्, अथानेतुं न शक्नोति तदाभ्रदोषपरिहाराय क्रयं साधयित्वा द्रव्यं नाष्टिकस्य समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

१. स्तत्र ।

२. स्तत्र राज्ञस्तेनापि भाव्यते ।

३. शोधयित्वा ।

४. वेति भाव्यं ।

भाषा—आगम (लेख) और उपभोग द्वारा खोई हुई वस्तु पर अपने स्वत्व को प्रमाणित करे, अन्यथा प्रमाणित न कर सकने पर वस्तु के मूल्य का पञ्चमांश राजा दण्ड के रूप में उससे वसूल करे ॥ १७१ ॥

तस्करस्य प्रच्छादकं प्रत्याह—

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ।

अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु पण्णवर्ति पणान् ॥ १७२ ॥

हृतं प्रनष्टं वा चौरादिदस्तस्थं द्रव्यं 'अनेन मदीयं द्रव्यमपहतम्' इति नृपस्थानिवेद्यैव दर्पादिना यो गृह्णाति असौ पण्डितराजवर्ति पणान्दण्डनीयः; तस्करप्रच्छादकत्वेन दुष्टत्वात् ॥ १७२ ॥

भाषा—जो अपनी चोरी गई हुई या खोई हुई वस्तु दूसरे व्यक्ति के हाथ से राजा से बिना प्रार्थना किये ही लेता है तो उसे छियानवे पणों का दण्ड देना होता है ॥ १७२ ॥

राजपुरुषानीतं प्रत्याह—

शौलिकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहतमाहतम् ।

अर्वाक् संवत्सरास्वामी हरेत् परतो नृपः ॥ १७३ ॥

यदा तु शुल्काधिकारिभिः स्थानरक्षिभिर्वा नष्टमपहतं द्रव्यं राजपार्श्वं प्रत्यानीतं, तदा संवत्सरादर्वाक् प्राप्तश्चेत् नाष्टिकस्तद्द्रव्यमवाप्नुयात्; ऊर्ध्वं पुनः संवत्सराद्राजा गृह्णीयात् । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनसमूहेषूद्योष्य यावत्संवत्सरं राज्ञा रक्षणीयम्; यथाऽऽह गौतमः (१०-३६।३०)—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः । विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्षयम्' इति । यत्पुनर्मनुनाऽवध्यन्तरमुक्तम् (८।३०)—'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा व्यब्धं निधापयेत् । अर्वाक् व्यब्धाद्धरेस्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति,—तच्छ्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणविषयम् । रक्षणनिमित्तपट्टभागादिग्रहणं च तेनैवोक्तम् (मनुः ८।३३) 'आददीताथ पट्टभागं प्रनष्टाधिगतानृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' इति ॥ तृतीय-द्वितीय-प्रथमसंवत्सरेषु यथाक्रमं षष्टादयो भागा वेदितव्याः । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ॥ १७३ ॥

भाषा—शुल्क लेने वाले अधिकारी और स्थानपाल यदि किसी की खोई हुई या चोरी गई वस्तु लेकर राजा को दें। यदि उस का स्वामी उसे एक वर्ष के भीतर ही लेने आवे तब तो वह पाता है अन्यथा (एक वर्ष के बाद) वह राजा का हो जाता है ॥ १७३ ॥

१. लभेत ।

मनूक्तषड्भागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषोऽपवादमाह—

पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ।

महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥

एकशफे अश्वादीं प्रनष्टाधिगते तस्त्वामी राज्ञे रक्षणनिमित्तं चतुरः पणान्दद्यात् । मानुषे मनुष्यजातीये द्रव्ये पञ्च पणान्, महिषोष्ट्रगवां रक्षणनिमित्तं प्रत्येकं द्वौ द्वौ पणौ, अजाविके पुनः प्रत्येकं पादं पादम् । 'दद्यात्' इति सर्वत्रानुषज्जते । अजाविकमिति समासनिर्देशोऽपि 'पादं पादम्' इति वीप्साबलाप्रत्येकं संबन्धोऽवगम्यते ॥ १७४ ॥

भाषा—एक खुरवाले घोड़े आदि पशुओं के खो जाने के बाद पुनः मिलने पर चार, खोये हुए मनुष्य के मिलने पर पाँच, भैंस, ऊँट और गाय के मिलने पर दो-दो पण और बकरा तथा भेड़ के मिलने पर चौथाई पण राजा को देवे ॥ १७४ ॥

इत्यस्वामिविक्रयप्रकरणम् ।

अथ दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२

अधुना विहिताविहितमार्गद्वयाश्रयतया दत्तानपकर्म दत्ताप्रदानिकमिति च लब्धाभिधानद्वयं दानाख्यं व्यवहारपदमभिधीयते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (४११)—'दत्त्वा द्रव्यमसम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति । दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदं हि तत् ॥' इति । असम्यगविहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादातुमिच्छति यस्मिन्निर्वादापदे तद्दत्ताप्रदानिकम्—दत्तस्याप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दानाख्ये तद्दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदम् । विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतं तदेव व्यवहारपदं दत्तानपकर्मैत्यर्थादुक्तं भवति । दत्तस्यानपकर्म अपुनरादानाख्यं यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपकर्म । तच्च देयादेयादिभेदेन चतुर्विधम् । यथाऽऽह नारदः (४१२)—'अथ देयमदेयं च दत्तं वाऽदत्तमेव च । व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥' इति । तत्र देयमित्यनिषिद्धदानक्रियायोग्यमुच्यते । अदेयमस्वतया निषिद्धतया वा दानानर्हम् । यत्पुनः प्रकृतिस्थेन दत्तमव्यावर्तनीयं तद्दत्तमुच्यते । अदत्तं तु यत्प्रत्याहरणीयं तत्कथ्यते । तदेतत्संक्षेपतो निरूपयितुमाह—

स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं

स्वमात्मीयं कुटुम्बाविरोधेन कुटुम्बानुपरोधेन, कुटुम्बभरणावशिष्टमिति यावत् । तद्दद्यात् ; तत्प्रणस्यावश्यकत्वात् । यथाऽऽह मनुः (१११:०)—

१. माहिषोष्ट्र । २. दत्तानपकर्म । ३. व्यवहारपदे । ४. दानम् ।

‘वृद्धौ च मानापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुजव्रीत् ॥’ इति । ‘कुटुम्बाविरोधेन’ इत्यनेनादेयमेकविधं दर्शयति । ‘स्वं दद्यात्’ इत्यनेन चास्वभूतानामन्वाहितयाचितकाधिसाधारणनिक्षेपाणां पञ्चानामप्यदेयत्वं व्यतिरेकतो दर्शितम् ॥ यत्पुनर्नारदेनाष्टविधस्वमदेयानामुक्तम् (४।३-४) — ‘अन्वाहितं याचितक्रमाभिः साधारणं च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति ॥ आपस्वपि हि कष्टासु वर्तमानेन देहिना । अदेयान्यादुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥’ इति, — एतददेयत्वमात्राभिप्रायेण, न पुनः स्वस्वाभावाभिप्रायेण; पुत्रदारसर्वस्वप्रतिश्रुतेषु स्वत्वस्य सद्भावात् । अन्वाहितादीनां स्वरूपं च प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥

‘स्वं दद्यात्’ इत्यनेन दारसुतादेरपि स्वत्वाविशेषेण देयत्वप्रसङ्गे प्रतिषेधमाह—
दारसुतादृते ।

नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥

दारसुतादृते दारसुतव्यतिरिक्तं स्वं दद्यात्, न दारसुतमिदमर्थः । तथा पुत्रपौत्राद्यन्वये विद्यमाने सर्वं धनं न दद्यात्; ‘पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वृत्ति चैषां प्रकल्पयेत्’ इति स्मरणात् । तथा हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम् ॥ १७५ ॥

भाषा—दान इतना ही देना चाहिए जिससे अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में कठिनाई न हो । पुत्र और स्त्री दान में न देवे । यदि पुत्र और पौत्र आदि हों तो सब कुछ दान नहीं करना चाहिए ॥ १७५ ॥

एवं दारसुतादिव्यतिरिक्तं देयमुक्त्वा प्रसङ्गादेयधनग्रहणं च प्रतिग्रहीत्रा प्रकाशमेव कर्तव्यमित्याह—

प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थायरस्य विशेषतः ।

प्रतिग्रहणं प्रतिग्रहः सः प्रकाशः कर्तव्यो विवादनिराकरणार्थम् । स्थावरस्य च विशेषतः प्रकाशमेव ग्रहणं कार्यम् ; तस्य सुवर्णादिवदात्मनि स्थितस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥—

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरन्नाह—

देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः ॥ १७६ ॥

देयं प्रतिश्रुतं चैव—यद्यस्मै धर्मार्थं प्रतिश्रुतं तत्तस्मै देयमेव यद्यसौ ‘धर्मो-
न्मथ्युतो न भवति । प्रच्युते न पुनर्दातव्यम्; ‘प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न

१. नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंज्ञितम् । २. धर्मप्रच्युतो ।
२१ या०

दद्यात्' (गौ० ५।२३) इति गौतमस्मरणात् । दत्त्वा नापहरेत्पुनः न्यायमार्गेण
 दत्तं तत्सप्तविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम्; किंतु तथैवानुमन्तव्यम् । यत्पुनरन्यायेन
 दत्तं तद्दत्तं षोडशप्रकारमपि प्रत्याहर्तव्यमेवेत्यर्थादुक्तं भवति । नारदेन च
 (४।३) - 'दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम्' इति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः
 स्वरूपं विवृतम् - 'पण्यमूल्यं श्रुतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः । स्त्रीशुल्कानु-
 ग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः ॥ अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः । तथो-
 ल्कोचपरीहासव्यस्यासच्छ्रुत्योगतः ॥ बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम् ।
 कर्ता ममेदं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥ अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये चार्धम-
 संहिते । यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम् ॥' (ना० ४।८, १९, १९)
 इति । अयमर्थः - पण्यस्य क्रीतद्रव्यस्य यन्मूल्यं दत्तम्, श्रुतिर्वेतनं कृतकर्मणे
 दत्तम्, तुष्ट्या वन्दिचारणादिभ्यो दत्तम्, स्नेहाद् दुहितृपुत्रादिभ्यो दत्तम्, प्रत्यु-
 पकारतः उपकृतवते प्रत्युपकाररूपेण दत्तम्, स्त्रीशुल्कं परिणयनार्थं कुन्याज्ञाति-
 भ्यो यद्दत्तम्, यच्चानुग्रहार्थमदृष्टार्थं दत्तम्; तदेतत्सप्तविधमपि दत्तमेव न
 प्रत्याहरणीयम् । भयेन वन्दिग्राहादिभ्यो दत्तम्, क्रोधेन पुत्रादिभ्यो वैरनिर्घात-
 नायान्यस्मै दत्तम्, पुत्रवियोगादिनिमित्तशोकावेशेन दत्तम्, उत्कोचेन कार्द-
 प्रतिबन्धनिरासार्थमधिकृतेभ्यो दत्तम्, परिहासेनोपहासेन दत्तम् । एकः स्वं
 द्रव्यमन्यस्मै ददात्यन्योऽपि तस्मै ददातीति दानव्यवस्थाः । छलयोगतः शतदान-
 मभिसंधाय सहस्रमिति परिभाष्य ददाति । बालेनोप्राप्तषोडशवर्षेण, मूढेन
 लोकवादानभिज्ञेन, अस्वतन्त्रेण पुत्रदासादिना, भार्तेन रोगाभिभूतेन, मत्तेन
 मदनीयमत्तेन, उन्मत्तेन वातिकाद्युन्मादग्रस्तेन वा, अपवर्जितं दत्तम्, तथा-
 'अयं मेदीयमिदं कर्म करिष्यति' इति प्रतिलाभेच्छया दत्तम्, अचतुर्वेदाय
 'चतुर्वेदोऽहम्' इत्युक्तवते दत्तम्, 'यज्ञं करिष्यामि'ति धनं लब्ध्वा द्यूतादौ
 विनियुज्जानाय दत्तम्, इत्येवं षोडशप्रकारमपि दत्तमदत्तमित्युच्यते; प्रत्याहरणी-
 यत्वात् । भार्तादत्तस्यादत्तत्वं धर्मकार्यव्यतिरिक्तविषयम्; 'स्वस्थेनार्तेन वा
 दत्तं श्रावितं धर्मकारणात् । अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः ॥'
 इति कार्यायनस्मरणात् ॥ तथेदमपरं संक्षिप्तार्थवचनं सर्वविवादसाधारणम् ॥
 (मनुः ८।१६५) - 'योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यस्य चाऽप्युपधि-
 पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥' इति ॥ योग उपाधिः । येनागामिनोपाधिविशेषे-
 णाधिविक्रयदानप्रतिग्रहाः कृतास्तदुपाधिविगमे तान् क्रयादीन्विनिवर्तयेदित्य-

१. धर्मसंयुते । २. उपकृते । ३. पुत्रादिवैर । ४. एकोऽपि स्वं
 द्रव्य । ५. अप्राप्तव्यवहारेण । ६. लोकवेदा । ७. मदीयं कर्म । ८. येनो-
 पाधि । ९. धिगमे क्रयादीन् ।

स्यार्थः । यः पुनः षोडशप्रकारमपि अदत्तं गृह्णाति, यश्चादेयं प्रयच्छति, तयो-
र्दण्डो नारदेनोक्तः (८११६५) — 'गृह्णात्यदत्तं यो लोभाद्यश्चादेयं प्रयच्छति ।
अदेयदायको दण्ड्यस्तथा दत्तप्रतीच्छकः ॥' इति ॥ १७६ ॥

भाषा—दानं सवके समस्तं लेना चाहिए और वह भी विशेषतः स्थावर
(भूमि आदि) का दान तो सवके सामने लेना चाहिए । जो वस्तु जिसको देने
का संकल्प किया हो उसे वह वस्तु अवश्य देवे और देकर पुनः अपहरण
न करे ॥ १७६ ॥

इति दत्ताप्रदानिकं नाम प्रकरणम् ।

अथ क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

अथ क्रीतानुशयः कथ्यते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (९११) — 'क्रीत्वा
मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहु मन्यते । क्रीतानुशय इत्येतद्विवादमुच्यते ॥'
इति । तत्र च यस्मिन्नहनि पण्यं क्रीतं तस्मिन्नेवाहि तद्विकृतं प्रत्यर्पणीयमिति
तेनैवोक्तम् — 'क्रीत्वा मूल्येन यत्पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी । विक्रेतुः प्रतिदेयं
तत्तस्मिन्नेवाहयविचनम् ॥ (ना० ९१२ इति) । द्वितीयादिदिने तु प्रत्यर्पणे
विशेषस्तेनैवोक्तः — 'द्वितीयेऽहि ददक्रेता मूल्यास्त्रिंशंशमाहरेत् । द्विगुणं तु तृती-
येऽहि परतः क्रतुरेव तत् ॥' (ना० ९१३) इति ॥ परतोऽनुशयो न कर्तव्य
इत्यर्थः । एतच्च बीजादिव्यतिरिक्तोपभोगादिविनश्वरवस्तुविषयम् ॥

बीजादिक्रये पुनरन्य एव प्रत्यर्पणावधिरित्याह—

दशैकपञ्चसताहमासत्र्यहार्धमासिकम् ।

बीजायोवाह्यरत्नस्त्रीदोह्यपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥

बीजं व्रीह्यादिवीजम्, अयो लोहम्, वाह्यो बलीवर्दादिः, रत्नं मुक्ताप्रवा-
लादि, स्त्री दासी, दोह्यं महिष्यादि, पुमान् दासः; एषां बीजादीनां यथाक्रमेण
दशाहादिकः परीक्षाकालो विशेषः । परीक्ष्यमाणे च बीजादौ यद्यप्यवस्तुद्वयाऽ-
नुशयो भवति तदा दशाहाद्यभ्यन्तर एव क्रयनिवृत्तिः, न पुनरुर्ध्वमित्युपदेश-
प्रयोजनम् । यत्तु मनुवचनम् (८१२२२) — 'क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानु-
शयो भवेत् । सोऽन्तर्दशाहात्तद्व्ययं दद्याच्चैवावदीत च ॥' इति, — तदुक्तलोहादिव्य-
तिरिक्तोपभोगविनश्वरगृह्येयानशयनासनादिविषयम् । सर्वं चैतदपरीक्षित-
क्रीतविषयम् । यत्पुनः परीक्षितं 'न पुनः प्रत्यर्पणीयम्' इति समयं कृत्वा क्रीतं-

१. तस्मिन्नहि वीक्षितम् । २. मावहेत् । ३. लोहादि । ४. माहि-
ष्यादि । ५. उपभोगविनश्वर । ६. परीक्ष्य ।

तद्विक्रेत्रे न प्रत्यर्पणीयम्; तदुक्तम्—'क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः । परीक्षयाभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः ॥' (ना० १।८) इति ॥ १७७ ॥

भाषा—ब्रीहि आदि का बीज, लोहा, भार ढोने वाले बैल आदि पशु, रत्न, स्त्री (दासी) भैंस आदि दूध देने वाले पशु और पुरुष (दास) का क्रय के उपरान्त परीक्षण का काल क्रमशः दस, एक, पाँच, सात, दिन, एक मास, ३ दिन और एक पक्ष का होता है । (अर्थात् निर्दिष्ट समय के भीतर ही फेर बदल हो सकता है) ॥ १७७ ॥

दोह्यादिपरीक्षाप्रसङ्गेन स्वर्णादिरपि परीक्षामाह—

अथौ सुवर्णमक्षीणं 'रजते द्विपलं शते ।

अथौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि ॥ १७८ ॥

वहौ प्रताप्यमानं सुवर्णं न क्षीयते, अतः कटकदिनिर्माणार्थं यावत्स्वर्ण-कारहस्ते प्रक्षिप्तं तावत्तुलितं तैः प्रत्यर्पणीयम्; इतरथा क्षयं दाप्या दण्ड्याश्च । रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पलद्वयं क्षीयते । अथौ त्रपुणि सीसे च, 'शते' इत्यनुवर्तते । त्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽथौ पलानि क्षीयन्ते । ताम्रे पञ्च, दशायसि,—ताम्रे शतपले पञ्चपलानि, अयसि दशपलानि क्षीयन्ते । अत्रापि 'शते' इत्येव । कांस्यस्य तु त्रपुणामन्योनित्वात्तदनुसारेण क्षयः कल्पनीयः । ततोऽधिकक्षयकारिणः शिष्टिपनो दण्ड्याः ॥ १७८ ॥

भाषा—भाग में तपाने पर सोना कम नहीं होता, चाँदी सौ में दो पल कम हो जाती है, पीतल और शीशा सौ में आठ पल, ताम्र पाँच पल और लोहा दस पल घट जाता है ॥ १७८ ॥

कचिकम्बलादौ वृद्धिमाह—

शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पाससौत्रिके ।

मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥ १७९ ॥

स्थूलेनौर्णसूत्रेण यत्कम्बलादिकं क्रियते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धि-वेदितव्या । एवं कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादौ वेदितव्यम् । मध्ये अनतिसूक्ष्म-सूत्रनिर्मिते पटादौ पञ्चपला वृद्धिः । सुसूक्ष्मसूत्ररचिते शते त्रिपला वृद्धिर्वेदि-तव्या । एतच्चाप्रचलितवासोविषयम् ॥ १७९ ॥

१. द्विपलं रजते शतम् । अथौ तु त्रपुणसीसे च । २. तदनुसारेण । ३. इतोऽधिक । ४. कार्पासिके तथा, कार्पासकेऽथ वा । मध्ये पञ्चपला हानिः ।

भाषा—ऊन और कपास के मोटे सूत से कम्बल आदि बनाने में सौ पल में दस पल, मोटाई में मध्यम श्रेणी के सूत में पाँच पल और पतले सूत से बनी वस्तु में सौ पल में तीन पल की वृद्धि समझनी चाहिए ॥ १७९ ॥

द्रव्यान्तरे विशेषमाह—

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ।

न क्षयो न च वृद्धिश्च कौशेये वारकलेषु च ॥ १८० ॥

कार्मिकं कर्मणा चित्रेण निर्मितम् । यत्र निष्पन्ने पटे चक्रस्-स्तिकादिकं चित्रं सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमित्युच्यते । यत्र प्रावारादौ^४ रोमाणि बध्यन्ते स रोमबद्धः^५ तत्र त्रिंशत्तमो भागः क्षयो वेदितव्यः कौशेये कोशप्रभवे वारकलेषु वृक्षवल्निर्मितेषु वस्त्रेषु वृद्धिहासौ न स्तः, किंतु यावद्द्वयनार्थं कुविन्दादिभ्यो दत्तं तावदेव प्रत्यादेयम् ॥ १८० ॥

भाषा—कसीदाकारी, और किनारों में रोम बाँधने में तीसवें भाग का क्षय बताया जाता है । कौशेय और वारकल के वस्त्र बनवाने में न तो कमी होती है और न वृद्धि ही होती है ॥ १८० ॥

द्रव्यानन्तर्याप्रतिद्रव्यं क्षयवृद्धिप्रतिपादनाशक्तेः सामान्येन हासवृद्धिज्ञानोपायमाह—

देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् ।

द्रव्याणां कुशला^६ द्रव्युत्तदाप्यमसंशयम् ॥ १८१ ॥

शाणक्षौमादौ द्रव्ये नष्टे हासमुपगते द्रव्याणां कुशलाः द्रव्यवृद्धिक्षयाभिज्ञाः देशं कालमुपभोगं तथा नष्टद्रव्यस्य बलाबलं सारासारतां च परीक्ष्य यत्कल्पयन्ति तदसंशयं शिल्पिनो दाप्याः ॥ १८१ ॥

भाषा—द्रव्य के नष्ट हो जाने पर देश, काल, भोग उस वस्तु की सारता और असारता जानकर उस द्रव्य के विषय में विशेष ज्ञान रखने वाले जितना कहें उतना ही (शिल्पियों को) दिलाना चाहिए ॥ १८१ ॥

इति क्रोतानुशयप्रकरणम् ।

अथाभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४

सांप्रतमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यमपरं विवादपदमभिधातुमुपक्रमते तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (५११)—'अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते । अशु-

१. वृद्धिः स्यात् । २. वारकले तथा. वरकलेषु । ३. चित्रं सूत्रैः । ४. प्रावारादौ । ५. रोमबन्धः । ६. यावद्द्वयनार्थं । ७. यत्तदाप्या असंशयम् यत्तदाप्यमृणद्वयम् ।

श्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । 'आज्ञावरणं शुश्रूषा, तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न संपादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम् । शुश्रूषकश्च पञ्चविधः— शिष्योऽन्तेवासी भृतकोऽधिकर्मकृदास इति । तेषामाद्याश्चत्वारः कर्मकरा इत्युच्यन्ते । ते च शुभकर्मकारिणः । दासाः पुनर्गृहजातादयः पञ्चदशप्रकाराः— गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनाद्यशुभकर्मकारिणः । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम्—'शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । चतुर्विधः कर्मकरस्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः ॥ शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वंधिकर्मकृत् । एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥ सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेवामाहुर्मनीषिणः । जाति-कर्मकृतरत्नको^१ विशेषो वृत्तिरेव च ॥ कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च । अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥ गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् । गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम् ॥ इच्छतः^२ स्वामिनश्चाङ्गैरुप-स्थानमथान्ततः । अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् ॥' (ना० ५।२-७) इति ॥ तत्र शिष्यो वेदविद्यार्थी, अन्तेवासी शिष्यपक्षिचार्थी, मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः, कर्मकुर्वतामधिष्ठाताऽधिकर्मकृत्, अशुचिस्थानमुच्छिष्टप्रक्षेपार्थं गतादिकम्, अवस्करो गृहमार्जितपांस्वादिनिचैयस्थानम्, उज्झनं रथागः । भृतकश्चात्र त्रिविधः । तदुक्तम्—'उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः । अधमो भारवाही स्वादित्येवं त्रिविधो भृतः ॥' (ना० ५।२२) इति । दासाः पुनः—'गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः । अनाकालमृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥ मोक्षितो महतश्चर्णाशुद्रप्रासः पणे जितः । तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥ भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः । विक्रेता चाधमनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः ॥' (ना० ५।२६) गृहे दास्यां जातो गृहजातः, क्रीतो मूल्येन, लब्धः प्रतिग्रहादिना, दायादुपागतः पित्रादिदासः, अनाकालमृतो दुर्मिते यो दासत्वाय मरणादक्षितः, आहितः स्वामिना धनग्रहणेनाधितां नातः, ऋणमोचनेन दासत्वमभ्युपगतो ऋणदासः, युद्धप्रासः समरे विजित्य गृहीतः, पणे जितः—'यद्यस्मिन्निववादे पराजितोऽहं तदा स्वदासो भवामि' इति परिभाष्य जितः, तवाहमित्युपगतः 'तवाहं दासः' इति स्वयं संप्रतिपन्नः, प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्यातश्च्युतः, कृतः 'एतावत्कालं स्वदासः' इत्यभ्युपगमितः, भक्तदासः सर्वकालं भक्तार्थमेव दासत्वमभ्युपगम्य यः प्रविष्टः, वडवाहृतः—वडवा गृहदासी तया हृतः तल्लभेन तामुद्धृत्य दासत्वेन प्रविष्टः, य आरमानं विक्रीणीतेऽसावाप्तमविक्रेता, इत्येवं पञ्चदश प्रकाराः ॥ यत्तु मनुना (८।४१५)—'ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदस्त्रिमौ । पैतृको वण्डदासश्च

१. आज्ञाकारणं । २. आधिकर्मकृत् । ३. कर्मकरस्तृको । ४. स्वामिनः स्वाङ्गै । ५. निर्वापस्थानम् । ६. मृतश्चैव । ७. मोक्षितो ।

ससैते दासयोनयः ॥' इति सप्तविधस्वमुक्तं,—तत्तेषां दासस्वप्रतिपादनार्थं, न तु परिसंख्यार्थम् । तत्रैषां शिष्यान्तेवासिभृतकाधिकर्मकृद्दासानां मध्ये शिष्यवृत्तिः प्रागेव प्रतिपादिता ।—'आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्' (आ० २७) इत्यादिना । अधिकर्मकृद्भृतकानां तु भृतिं वेतनादानप्रकरणे वक्ष्यते ।—'यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्' (व्य० १९६) इत्यादिना ॥

दासान्तेवासिनोस्तु धर्मविशेषं वक्तुमाह—

बलाहासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।

स्वामिप्राणप्रदो भक्तस्यागात्तन्निष्क्रयादपि ॥ १८२ ॥

बलात् बलावष्टम्भेन यो दासीकृतः, यश्चौरैरपहृत्य विक्रीतः, 'अपि'शब्दा-
दाहितो दत्तश्च; स मुच्यते । यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्यः ।
उक्तं च नारदेन (५।३८)—'चौरापहतविक्रीता ये च दासीकृता बलात् ।
राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यं तेषु हि नेष्यते ॥' इति । चौरव्याघ्राद्यवरुद्धस्य
स्वामिनः प्राणान्यः प्रददाति रक्षयसावपि मोचयितव्यः । तदिदं सर्वदासानां
साधारणं दास्यनिवृत्तिकारणम् ।—'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात् ।
दासस्वास विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥' (५।३०) इति नारदस्मरणात् ॥
भक्तदासादीनां प्रातिस्विकमपि मोक्षकरणमुच्यते । अनाकालभृतभक्तदासौ
भक्तस्य त्यागादासभावादारभ्य स्वामिद्वयं यावदुपभुक्तं तावद्दत्त्वा मुच्येते ।
आहितर्णदासौ तु तन्निष्क्रयात् यद्गृहीत्वा स्वामिना आहितः, यच्च दत्त्वा
धनिनोत्तमर्णान्मोचितः, तस्य निष्क्रयात्सवृद्धिकस्य प्रत्यर्पणान्मुच्यते । नारदेन
विशेषोऽप्युक्तः—'अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत् । संभञ्जितं
यदुभिर्वे न तच्छुद्ध्येत कर्मणा ॥' 'भक्तस्योत्प्रेषणात्सद्यो भक्तदासः प्रमुच्यते ।',
'आहितोऽपि धनं दत्त्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत् ॥', 'ऋणं तु सोदयं दत्त्वा ऋणी
दास्यात्प्रमुच्यते (ना० ५।३१, ३६, ३२, ३३) ॥' इति ॥ तथा 'तवाहम्'
इत्युपगतयुद्धप्राप्तपणजितकृतकवडवाहतानां च प्रातिस्विकं मोचनकारणं
च 'तेनैवोक्तम्—'तवाहमित्युपगतो युद्धप्राप्तः पणे जितः । 'प्रतिशीर्षप्रदानेन
मुच्येरँस्तुत्यकर्मणा ॥', 'कृतकालव्यपगमात्कृतकोऽपि विमुच्यते ।', 'निग्रहाद्-
डवायास्तु मुच्यते वडवाहतः ॥' (ना० ५।३४, ३३, ३७) इति । दासेन सह
संभोगनिरोधादित्यर्थः । तदेवं गृहजातक्रीतलब्धदायप्राप्तास्मविक्रयिणां स्वामिप्रा-
णप्रदानतत्प्रसादरूपसाधारणकारणव्यतिरेकेण मोक्षो नास्ति; विशेषकारणानभि-

३. प्रतिपादनपरम् । ४. भक्तस्यागात् । भाक्तस्तस्यागात्तन्निष्क्रयादपि
(= भाक्तः भक्तदासः) । ५. मोचनीयः । ६. कृतवडवा । ७. नारदेनैव ।
८. प्रदानात्तत्प्रसाद ।

धानात् । दासमोक्षश्चानेन क्रमेण कर्तव्यः—‘स्वं दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं
गीतमानसः । स्कन्धादाय तस्यासौ भिन्धात्कुम्भं सहाभसा ॥ साक्षताभिः
सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिरवाकिरेत् । अदास इत्यथोक्त्वा त्रिः प्राङ्मुखं तमवासृजेत् ॥’
(ना० ५।४२, ४३) इति तेनैवोक्तम् ॥ १८२ ॥

भाषा—दलपूर्वक बनाया गया और चोरो द्वारा बेचा गया दास स्वामी
का प्राण बचाने पर, स्वामी के खाये हुए धन को लौटाने पर अथवा निष्क्रय
का मूल्य चुका देने पर (दासता से) मुक्त हो जाता है ॥ १८२ ॥

प्रव्रज्यावसितस्य तु मोक्षो नास्तीत्याह—

प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दासः आमरणान्तिकम् ।

प्रव्रज्या संन्यासः, ततोऽवसितः प्रच्युतः । अनभ्युपगतप्रायश्चित्तश्चेद्राज्ञ एव
दासो भवति । मरणमेव तद्दासत्वस्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति ॥—

वर्णापेक्षया दास्यव्यवस्थामाह—

वर्णानामानुलोभ्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥ १८३ ॥

ब्राह्मणादीनां वर्णानामानुलोभ्येन दास्यम्—ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयः, क्षत्रियस्य
वैश्यशूद्रौ, वैश्यस्य शूद्र इत्येवमानुलोभ्येन दासभावो भवति, न प्रतिलोभ्येन ।
स्वधर्मत्यागिनः पुनः परिव्राजकस्य प्रतिलोभ्येनापि दासत्वमिष्यत एव;
यथाह नारदः (५।३९)—‘वर्णानां प्रतिलोभ्येन दासत्वं न विधीयते ।
स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद् दासता मता ॥’ इति ॥ १८३ ॥

भाषा—संन्यास से च्युत व्यक्ति जीवन भर राजा का दास होकर रहता
है । दास्य भाव वर्णों के आनुलोभ्य से ही होता है अर्थात् अपने से निम्नवर्ण
का ही दास होता है । प्रतिलोभ्य नहीं होता (निम्नवर्ण के व्यक्ति का दास
उससे उच्चवर्ण वाला नहीं होता) ॥ १८३ ॥

अन्तेवासिधर्मानाह—

कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे ।

अन्तेवासी गुरुप्राप्तं भोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥

अन्तेवासी गुरोर्गृहे कृतकालं—‘वर्षचतुष्टयमायुर्वेदादिशिल्पशिक्षार्थं स्वर्गृहे
वसामि’ इति यावदङ्गीकृतं तावत्कालं वसेत्,—यद्यपि वर्षचतुष्टयादवगमिव
लब्धापेक्षितशिल्पविद्यः । कथं निवसेत् ? गुरुप्राप्तं भोजनः गुरोः सकाशात्प्राप्तं
भोजनं येन स तथोक्तः, तत्फलप्रदः तस्य शिल्पस्य फलमाचार्याय प्रददातीति

१. मरणान्तिकः । २. स्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति । ३. भोजनं
तत्फलप्रदः ।

तत्फलप्रदः, एवंभूतो वसेत् । नारदेन विशेषोऽप्यत्र दर्शितः—‘स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया । आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम् ॥ आचार्यः शिष्येदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम् । न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चेनमाचरेत् ॥ शिष्यन्तमसंदुष्टं य आचार्यं परित्यजेत् । बलाद्वासयितव्यः स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति ॥ शिष्योऽपि कृतं कालमन्तेवासी समाप्नुयात् । तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥ गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम् । शिष्यश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते ॥’ (ना० पा० १६-२८) इति । ‘वध’शब्दोऽत्र ताडनार्थः; दोषस्यात्यत्वात् ॥ १८४ ॥

भाषा—पहले निवास की अवधि निश्चित करके गुरु के घर रहने वाला ब्रह्मचारी उसके पूर्व विद्या समाप्त कर लेने पर भी अपनी जीविका का शिल्प सीखकर उसका फल गुरु को देते हुए और गुरु द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करता हुआ उन्हीं के निकट निवास करे ॥ १८४ ॥

इत्यभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यं विवादप्रकरणम् ।

अथ संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५

संप्रति संविद्व्यतिक्रमः कथ्यते; तस्य च लक्षणं नारदेन व्यतिरेकमुखेन दर्शितम्—‘पाण्डिनेगमादीनां स्थितिः समय उच्यते । समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥’ इति पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयः, तस्यानपाकर्मव्यतिक्रमः परिपालनं तद्व्यतिक्रम्यमाणं विवादपदं भवतीत्यर्थः ॥

तदुपक्रमार्थं किञ्चिदाह—

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्यस्य तत्र तु ।

त्रैविद्यं वृत्तिमग्र्यात्स्वधर्मः पाल्यतामिति ॥ १८५ ॥

राजा स्वपुरे दुर्गादौ स्थानं धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान्यस्य स्थापयित्वा तद्ब्राह्मणजातं त्रैविद्यं वेदत्रयसंपन्नं वृत्तिमद्भूतिरण्यादिसंपन्नं च कृत्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमनिमित्तः श्रुतिस्मृतिविहितो भवन्निरनुष्ठीयतामिति तान्ब्राह्मणान्ब्रूयात् ॥ १८५ ॥

भाषा—राजा अपने दुर्ग में स्थान बनाकर उसमें तीनों वेदों के अध्ययन से संपन्न, ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें कुछ वृत्ति देकर उनसे कहे कि आप लोग अपने धर्म का पालन करें ॥ १८५ ॥

१. व्यवहारपदं । २. त्रैविद्यात् । ३. तद्ब्राह्मणजातं ।

एवं निशुक्तैस्तैर्यत्कर्म कर्तव्यं तदाह—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।

सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥ १८६ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मानुपमर्देन समयाज्ञिष्यन्नो यो धर्मो गोप्रचारोदकरक्षण-
देवगृहपालनादिरूपः सोऽपि यत्नेन पालनीयः । तथा राजा च निजधर्मा-
विरोधेनैव यः सामयिको धर्मो 'यावत्पथिकं भोजनं देयमस्मदरातिर्मण्डलं
तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया' इत्येवंरूपः कृतः सोऽपि रक्षणीयः ॥ १८६ ॥

भाषा—अपने धर्म के अनुकूल जो धर्म सामयिक हो तथा राजा द्वारा
निर्दिष्ट धर्म की यत्नपूर्वक रक्षा करें ॥ १८६ ॥

एवं समयधर्मः परिपालनीय इत्युक्त्वा तदतिक्रमादौ दण्डमाह—

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।

सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्रद्विप्रवासयेत् ॥ १८७ ॥

यः पुनर्गणस्य ग्रामादिजनसमूहस्य संबन्धि साधारणं द्रव्यमपहरति,
संवित् समयस्तां समूहकृतां राजकृतां वा यो लङ्घयेदतिक्रामेत्, तदीयं सर्वं
धनमपहृत्य, स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेन्निकासयेत् ॥ अयं च दण्डोऽनुबन्धाद्यः
तिशये द्रष्टव्यः ॥ अनुबन्धादपत्वे तु (मनुः ८।२१९-२२०)—'ग्रो ग्रामदेश-
संघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
निगृह्य दापयेदेनं समयव्यभिचारिणम् । चतुःसुवर्णं षणिष्काञ्छतमानं च राज्ञ-
तम् ॥' इति मनुप्रतिपादितदण्डानां निर्वासनचतुःसुवर्णषणिष्कशतमानानां
चतुर्णामन्यतमो जातिशक्त्याद्यपेक्षया कल्पनीयः ॥ १८७ ॥

भाषा—जो गण के अर्थात् सबके सामूहिक धन का अधर्मपूर्वक अपहरण
करे अथवा राजा द्वारा या समूह द्वारा दी गई व्यवस्था का
उल्लंघन करे उसका सम्पूर्ण धन छीनकर उसे राज्य से निर्वासित कर
देना चाहिए ॥ १८७ ॥

इदं च तैः कर्तव्यमित्याह—

कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम् ।

गणिनां मध्ये ये समूहहितवादनशीलास्तद्वचनमितरैर्गणानामन्तर्गतैर-
नुसरणीयम् ॥—

अन्यथा दण्ड इत्याह—

यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम् ॥ १८८ ॥

१. मण्डले । २. राजा विप्रवासयेत् । ३. राजा कृता । ४. हितवदन ।

यस्तु गणिनां मध्ये समूहहितवादिवचनप्रतिबन्धकारी स राज्ञा प्रथम-
साहसं दण्डनीयः ॥ १८८ ॥

भाषा—(गण के व्यक्तियों में) समूह का हित कहे उनका अनुसरण
सभी को करना चाहिए । जो उसके (समूह के हित के) विपरीत बोले
उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ १८८ ॥

राज्ञा चैत्थं गणिषु वर्तनीयमित्याह—

समूहकार्यं आयातान्कृतकार्यान्विसर्जयेत् ।

स दानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यनिर्वृत्त्यर्थं स्वपार्श्वं प्राप्तान् गणिनो निर्वर्तितारमीयप्रयोजनान्
दानमानसत्कारैः स राजा परितोष्य विसर्जयेत् ॥ १८९ ॥

भाषा—समूह के कार्य के लिये आये हुए व्यक्तियों का कार्य करके
राजा उन्हें दान, ज्ञान और सत्कार द्वारा संतुष्ट करके विदा करे ॥ १८९ ॥

समूहदत्तपहारिणं प्रत्याह—

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत् ।

एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहकार्यार्थं महाजनैः प्रेरितो राजपार्श्वे यवसहिरण्यादिकं लभते तद-
प्रार्थित एव महाजनेभ्यो निवेदयेत् । अन्यथा लब्धादेकादशगुणं दण्डं
दापनीयः ॥ १९० ॥

भाषा—समूह के कार्य से भेजा गया व्यक्ति जो कुछ पावे उसे समूह
के श्रेष्ठ जनों के समक्ष अर्पित करे । यदि वह ऐसा धन नहीं अर्पित करता
है तो उससे उसका ग्यारह गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ १९० ॥

एवंप्रकाराश्च कार्यचिन्तकाः कार्या हस्याह—

धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ।

कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥ १९१ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मज्ञा बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्ता अर्थेऽलुब्धाः कार्यविचारकाः
कर्तव्याः । तेषां वचनमितरैः कार्यमित्येतदादरार्थं पुनर्वचनम् ॥ १९१ ॥

भाषा—श्रौत और स्मार्त धर्म-ज्ञानने वाले, पवित्र, लोभहीन कार्य-
विचारक बनाने चाहिए । उन समूह का हित कहने वालों के वचनों का पालन
करना चाहिए ॥ १९१ ॥

इदानीं त्रैविद्यानां प्रतिपादितं धर्मं श्रेण्यादिष्वतिदिशन्नाह—

श्रेणिनैगमपाखण्डिगणानामप्ययं विधिः ।

भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

एकपण्यशिल्पोपजीविनः श्रेणयः, नैगमाः ये वेदस्यासप्रणीतत्वेन प्रामाण्य-
मिच्छन्ति पाशुपतादयः, पाखण्डिनो ये वेदस्य प्रामाण्यमेव नेच्छन्ति नरनाटक-
सौगतादयः, गणो व्रातः आयुधीयादीनामेककर्मोपजीविनां, एषां चतुर्विधाना-
मप्ययमेव विधिः—यो 'निजधर्माविरोधेन' (व्य० १८६) इत्यादिना प्रतिपा-
दितः । एतेषां श्रेण्यादीनां भेदं धर्मव्यवस्थानं नृपो रक्षेत् । पूर्वोपात्तां वृत्तिं च
पालयेत् ॥ १९२ ॥

भाषा—श्रेणी (एक व्यापार या शिल्प करने वाले), नैगम (एक ही
वेद को पढ़ने वाले), पाखण्डी (वेद को प्रमाण न मानने वाले) और गण
(शस्त्रादि विषयक एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वालों) के विषय
में भी यही नियम है । राजा इन सबके भेद की रक्षा करे और उनकी
पूर्ववृत्ति का पालन करे ॥ १९२ ॥

इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् ।

अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्यानपाकर्माख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते । तत्स्वरूपं च नारदे-
नोक्तम् (६।१)—भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः । वेतनस्यान-
पाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥' इति । अस्यार्थः—भृत्यानां वेतनस्य वक्ष्यमाण-
श्लोकैरुक्तो दानादानविधिक्रमो यत्र विवादपदे तद्वेतनस्यानपाकर्मैर्युज्यते; तत्र
निर्णयमाह—

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन् द्विगुणमावहेत् ।

अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं येनासौ स्वाङ्गीकृतं कर्म त्यजन् अकुर्वन् द्विगुणं भृतिं
स्वामिने दद्यात् । यदा पुनरभ्युपगतं कर्म अगृहीते एव वेतने त्यजति तदा
समं यावद्वेतनमभ्युपगतं तावदाप्यो न द्विगुणम् । यद्वाऽङ्गीकृतां भृतिं दत्त्वा
बलात्कारयितव्यः; 'कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्त्वा भृतिं बलात्' (६।५) इति
नारदवचनात् । भृतिरपि तेनैवोक्ता—'भृत्याय वेतनं दद्यात्कर्मस्वामी यथा-

१. पाखण्डि । २. भृतानां । ३. समं कार्यं रक्ष्यैः पालय उपस्करः ।

४. भृताय ।

क्रमम् । आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् ॥' (ना० ६।२) इति ।
तैश्च भृत्यैरुपस्कर 'उपकरणं लाङ्गलादीनां प्रग्रहयोक्त्रादिकं यथाशक्त्या रत्तणी-
यम् ; इतरथा कृष्यादिनिष्पत्यनुपपत्तेः ॥ १९३ ॥

भाषा—वेतन लेकर काम छोड़ देने वाले से दूना वेतन स्वामी को
दिलावे । विना वेतन लिये ही कार्य करना स्वीकार करके न करे तो वेतन के
बराबर धन दिलावे । वे भृत्य भी उपस्करण (हल आदि औजार की) यत्न-
पूर्वक रक्षा करें ॥ १९३ ॥

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह—

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।

अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु स्वामी वणिक् गोमी क्षेत्रिको वा अपरिच्छिद्यवेतनमेव भृत्यं कर्म
कारयति स तस्माद्वाणिज्यपशुसस्यलक्षणात् कर्मणो यल्लब्धं तस्य दशमं भागं
भृत्याय महीक्षिता राज्ञा दापनीयः ॥ १९४ ॥

भाषा—जो भृति ठहरावे विना भृत्यों से कार्य लेता है व्यापार,
पशुपालन या खेती का काम लेता है उससे राजा तत्तत् कार्यों से होने
वाले लाभ का दसवाँ भाग भृत्यों को दिलावे ॥ १९४ ॥

अनाज्ञसकारिणं प्रत्याह—

देशं कालं च योऽतीयाल्लभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।

तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥ १९५ ॥

यस्तु भृत्यः पण्यविक्रयाद्युचितं देशं कालं च पण्यविक्रयाद्यकुर्वन्दर्पादि-
नोल्लङ्घयेत्तस्मिन्नेव वा देशे काले च लाभमन्यथा व्ययाद्यतिशयसाध्यतया हीनं
करोति तस्मिन्भृतके भृतिदानं प्रति स्वामिनश्छन्द इच्छा भवेत् यावदि-
च्छति तावद्दद्यात् पुनः सर्वमेव भृतिमित्यर्थः । यदा पुनर्देशकालाभिज्ञतयाऽ-
धिको लाभः कृतस्तदा पूर्वपरिच्छिन्नाय भृतेरधिकमपि धनं स्वामिना भृत्याय
दातव्यम् ॥ १९५ ॥

भाषा—जो भृत्य (व्यापार योग्य) स्थान और समय का उल्लंघन
करके लाभ के स्थान पर हानि कराता है तो उसके वेतन के विषय में स्वामी
अपने इच्छानुसार करे; किन्तु जब देश और समय के ज्ञान से वह अधिक
लाभ कराता है तो उसे वेतन से अधिक धन देना चाहिए ॥ १९५ ॥

१. उपस्करणं । २. दाप्यस्तद्वशमं । ३. भृत्यकर्म । ४. यो यावत्कर्म
कुर्यात् । ५. वर्षादिनमुल्लङ्घयेत् । ६. भृतेरपि किमपि धनमधिकं ।

अनेकभृत्यसाध्यकर्मणि भृतिदानप्रकारमाह—

या यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।

उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥ १९६ ॥

यदा पुनरेकमेव कर्म नियतवेतनमुभाभ्यां क्रियमाणं उभयोरप्यसाध्यं चेद्व्याध्याद्यभिभवादुभाभ्यामपिशब्दाद्बहुभिरपि यदि न परिसमापितं तदा यो भृत्यो यावत्कर्म करोति, तावत्तस्मै तत्कृतकर्मानुसारेण मध्यस्थकल्पितं वेतनं देयं, न पुनः समम् । नचावयवशः कर्मणि वेतनस्योपरिभाषितत्वाददान-मिति मन्तव्यम् । साध्ये तूभाभ्यां कर्मणि निर्वर्तिते यथाश्रुतं यावत्परिभाषितं तावदुभाभ्यां देयं, न पुनः प्रत्येकं कृत्स्नं वेतनं, नापि कर्मानुरूपं परिकल्प्य देयम् ॥ १९६ ॥

भाषा—यदि एक ही कार्य को दो भृत्य करें और (व्याधि एवं आधि के कारण) वह समाप्त न हो सके तो जो जितना कार्य किये हो उसी के अनुसार उसका वेतन होता है और कार्य पूरा हो जाने पर जितना बताया जाय उतना उन दोनों को देना चाहिए ॥ १९६ ॥

आयुधीयभारवाहकौ प्रत्याह—

अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ।

प्रस्थानविघ्नं कृत्तुं चैव प्रदाप्यो द्विगुणं भृतिम् ॥ १९७ ॥

न विद्यते राजदैविकं यस्य भाण्डस्य तत्तथोक्तम् । तद्यदि प्रज्ञाहीनतया वाहकेन नाशितं तदा नाशानुसारेणासौ तद्भाण्डं दापनीयः । तदाह नारदः (६।९)—‘भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः । दाप्यो यत्तत्र नश्येत्तु देवराजकृतादृते ॥’ इति । यः पुनर्विवाहाद्यर्थं मङ्गलवति वासरे प्रतिष्ठमानस्य तत्प्रस्थानौषधिकं कर्म प्रागङ्गीकृत्य तदानीं ‘न करिष्यामि’ इति प्रस्थानविघ्नमाचरति तदासौ द्विगुणं भृतिं दाप्यः । अत्यन्तोत्कर्षहेतुकर्मनिरोधात् ॥ १९७ ॥

भाषा—राजा और दैव के उत्पात के बिना ले जाने वाले भृत्य से भाण्ड का नाश हो जाय तो उससे भाण्ड दिलावे; जो (विवाहादि मंगलकार्य के) प्रस्थान के समय विघ्न करे (जाने को कहकर न जावे) उससे वेतन का दूना धन दिलावे ॥ १९७ ॥

प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संत्यजन् ।

भृतिमर्धपथे सर्वां प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च ॥ १९८ ॥

१. च । २. उभयोरप्यशाठ्यं चेच्छाठ्ये कुर्याद्यथाश्रुतम्) यथाकृतम् ।
३. अराजदैविकाण्डं । ४. विघ्नकर्ता च । ५. संत्यजेत् ।

किंच,—प्रक्रान्ते अध्यवसिते प्रस्थाने स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्यजति, असौ मृत्युः सप्तमं भागं दाप्यः । नन्वत्रैव विषये 'प्रस्थानविभक्तम्' (व्य० १९७) इत्यादिना द्विगुणभृतिदानमुक्तं, इदानीं सप्तमो भाग इति विरोधः । उच्यते,—मृत्यन्तरोपादानावसरसंभवे स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्यजति तस्य सप्तमो विभागः । यस्तु प्रस्थानलभसमय एव त्यजति, तस्य द्विगुणभृतिदानमित्यविरोधः । यः पुनः पथि प्रक्रान्ते गमने वर्तमाने सति कर्म त्यजति, स मृत्युश्चतुर्थं भागं दाप्यः । अर्धपथे पुनः सर्वा भृति दाप्यः । यस्तु त्याजकः कर्मात्यजन्तं त्याजयति स्वामी पूर्वोक्तप्रदेशेष्वसावपि पूर्वोक्तसप्तमभागादिकं मृत्याय दापनीयः; एतच्चाव्याधितादिविषयम् । 'अर्थोऽनातो न कुर्याद्यो दर्पाकर्म यथोचितम् । स दण्डयः कुण्डलान्यष्टौ न देयं तस्य वेतनम् ॥' (८।२।१५)—इति मनुवचनात् । यदा 'पुनर्व्याधावपगतेऽन्तरितदिवसान्परिगणय्य पूरयति, तदा लभत एव वेतनम् । 'आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः । स दीर्घस्यापि कालस्य स्वं लभेतैव वेतनम् ॥' (८।२।१६) इति मनुस्मरणात् ॥ यस्त्वपगतव्याधिः स्वस्थ एवालस्यादिना स्वारब्धं कर्मात्पोनं न करोति, परेण वा न समापयति, तस्मै वेतनं न देयमिति । यथाह मनुः (८।२।१७)—'यथोक्तमार्तः स्वस्थो वा यस्त-कर्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं देयमत्पोनस्यापि कर्मणः ॥' इति ॥ १९८ ॥

भाषा—प्रस्थान के समय कार्य करके जो मार्ग में छोड़ दे तो उस मृत्यु से वेतन का सातवाँ भाग ले और आधे मार्ग में कार्य छोड़ दे तो उससे संपूर्ण भृति दिलानी चाहिए और जो उससे काम छोड़वाता है उससे भी सारी भृति दिलावे ॥ १९८ ॥

इति वेतनादानप्रकरणम् ।

अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदमधिक्रियते; तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम् (१६।१)—'अक्षबध्नशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम् । पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् ॥ इति । अक्षाः पाशकाः, बध्नश्चर्मपट्टिका, शलाका दन्तादि मय्यो दीर्घचतुरस्ताः, 'आद्य'ग्रहणाच्च तुरङ्गादिक्रीडासाधनं करितुरङ्गरथादिकं गृह्यते । तैरप्राणिभिर्यद्देवनं क्रीडा पणपूर्विका क्रियते । तथा वयोभिः पक्षिभिः कुक्कुटपारावतादिभिः 'च' शब्दान्मल्लमेषमहिषादिभिर्यच्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते, तदुभयं यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदम् । द्यूतं च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम् । तदुक्तं मनुना (९।२२३)—'अप्राणिभिर्यत्क्रियते तन्नोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥' इति ॥

१. व्याध्याद्यपगमे । २. व्यवहारपदमपि । ३. अपवध्न ।

तत्र धृतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—

गृह्ये शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।

गृहीयाद् धूर्तकितवादित्रादशकं शतम् ॥ १९९ ॥

परस्परसंप्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो गृह्य इत्युच्यते । तत्र गृह्ये तदाश्रया शतिका शतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिः, तस्माद् धूर्तकितवापञ्चकं शतमात्मवृत्त्यर्थं सभिको गृहीयात् । पञ्च पणा आयो यस्मिन् शते तत् पञ्चकं शतम् । 'तदस्मिन्वृद्धयायलाभ—' (पा० ५।१।-४७) इत्यादिना कन् । जितगृह्यस्य विंशतितमं भागं गृहीयादित्यर्थः । सभा-कितवनिवासार्था यस्यास्त्यसौ सभिकः । कल्पिताद्यादिनिखिलक्रीडोपकरणस्त-दुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । इतरस्मात्पुनरपि पूर्णशतिकवृद्धेः कितवा-दशकं शतं जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृहीयादिति यावत् ॥ १९९ ॥

भाषा—जुआ के खेल में धूर्त जुआरी (जीतने वाले) के धन में पाँच प्रतिशत सभिक (जुवा चलाने वाला) लेवे और दूसरों से दस प्रतिशत वसूल करे ॥ १९९ ॥

एवं क्लृप्तवृत्तिना सभिक्तेन किं कर्तव्यमित्याह—

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।

जितमुद्ग्राहयेज्जेतरे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥

य एवं क्लृप्तवृत्तिर्धृताधिकारी स राज्ञा धूर्तकितवैभ्यो रक्षितस्तस्मै राज्ञे यथा संप्रतिपन्नमंशं दद्यात् ; तथा जितं यद् द्रव्यं तदुद्ग्राहयेत् बन्धकग्रहणेन-सेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत् । उद्धृत्य च तद्धनं जेत्रे जयिने सभिको दद्यात् । तथा क्षमी भूत्वा सत्यं वचो विश्वासार्थं धृतकारिणां दद्यात् । तदुक्तं नारदेन (१६।२)—'सभिकः कारयेद् धृतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्' इति ॥ २०० ॥

भाषा—वह सभिक राजा द्वारा संरक्षित होने पर उसे यथोचित अंश प्रदान करे और जीतने वाले को जीता हुआ धन दिलावे तथा क्षमाशील होकर दूसरे धृतकर्तों के विश्वास के लिये सत्य वचन देवे ॥ २०० ॥

यदा पुनः सभिको दापयितुं न शक्नोति, तदा राजा दापयेदित्याह—

प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले ।

जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा नै तु ॥ २०१ ॥

१. भागं राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् । २. जितमुद्ग्राहयेज्जेतरे दद्यात्सत्यवचः क्षमी । ३. जितं द्रव्यमुद्ग्राहयेत् । ४. प्राप्ते भागे च नृपतिः । ५. तु न ।

प्रसिद्धे अप्रच्छन्ने राजाध्यक्षसमन्विते ससभिके सभिकसहितं कितवस-
माजे सभिकेन च राजभागे दत्ते राजा धूर्तकितवमविप्रतिपन्नं जितं पणं दाप-
येत् । अन्यथा प्रच्छन्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे 'घूते जितपणं जेत्रे न
दापयेत् ॥ २०१ ॥

भाषा—राजा (सभिक से) अपना अंश प्राप्त करने पर ज्ञात (गुप्त
नहीं अपितु राजा द्वारा संरक्षित) घूतकरी के मण्डल में सभिक के निरीक्षण
में जीता हुआ धन जीतने वाले को दिलावे अन्यथा (संरक्षित घूतकरमण्डल
न होने पर) न दिलावे ॥ २०१ ॥

जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—

द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि ।

घूतव्यवहाराणां द्रष्टारः सभ्यास्त एव कितवा एव राज्ञा नियोक्तव्याः;
न तत्र 'श्रुताध्ययनसंपन्ना' (व्य० २) इत्यादिर्नियमोऽस्ति । साक्षिणश्च घूते
घूतकारा एव कार्याः न तत्र 'स्त्रीबालवृद्धकितव-' (व्य० ७०) इत्यादि-
निषेधोऽस्ति ॥—

कचिद्घूतं निषेद्धुं दण्डमाह—

राज्ञा संचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः ॥ २०२ ॥

कूटैरादिभिरुपधिना च मतिवञ्चनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दीव्यन्ति
तान् शपदादिनाऽङ्कयित्वा राजा स्वराष्ट्राजिर्वासयेत् । नारदेन तु निर्वासने
विशेष उक्तः (१६।६)—'कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् ।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥' इति । यानि च मनुवचनानि
घूतनिषेधपराणि (मनुः ९।२२४)—'घूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत्
वा । तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥' इत्यादीनि, तान्यपि कूटा-
क्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितघूतविषयतया च योज्यानि ॥ २०२ ॥

भाषा—जुए के व्यवहार को देखने-वाले एवं साक्षी वे ही (घूतकर ही)
होते हैं । कपटपूर्वक (मणि, मंत्र, औषध आदि से) जुआ खेलने वाले को
कुत्ते के पंजे आदि चिह्न से दागकर राज्य से निर्वासित कर देवे ॥ २०२ ॥

घूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।

किंच, यत्पूर्वोक्तं घूतं तदेकमुखं एकं मुखं प्रधानं यस्य घूतस्य तत्तथोक्तं
कार्यम्, राजाध्यक्षाधिष्ठितं राज्ञा कारयितव्यमित्यर्थः; तस्करज्ञानकारणात् ।

१. घूते पणं जेत्रे । २. सचिह्ना ।

२२ या०

तत्करज्ञानस्य प्रयोजनं पर्यालोच्य प्रायशश्चौर्याजितधना एव कितवा भवन्ति,
अतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुलं कार्यम् ॥—

धूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशन्नाह—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिधूते समाह्वये ॥ २०३ ॥

‘गृहे शक्तिकवृद्धेः’ (व्य० १९९) इत्यादिना यो धूतधर्म उक्तः, स एव
प्राणिधूते मलमेपमहिषादिनिर्वर्त्ये समाह्वयसंज्ञके ज्ञातव्यः ॥ २०३ ॥

भाषा—चोरों के पहिचान के लिये एक व्यक्ति को धूत का प्रधान
(मध्यव) नियुक्त कर देना चाहिए । प्राणिधूत (पहलवान, भेंड़ा, भैंसा
आदि को कड़ाकर खेले जाने वाले जुए) में भी ये नियम समझने चाहिए ॥

इति धूतसमाह्वयाख्यं प्रकरणम् ।

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तूयते; तत्तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन (१५१)—‘देश-
जातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥’
इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्गमवयवं तदु-
भययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्देशगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र ‘कलह-
प्रियाः खलु गौडाः’ इति देशाक्रोशः । ‘नितान्तं लोलुपाः खलु विप्राः’ इति
जात्याक्रोशः । ‘क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्राः’ इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणास्व-
विद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पपादिपुरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारत-
म्यार्थं निष्ठुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तत्तल्लक्षणं तेनैवोक्तम् (१५१२)—
‘निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वादपि तत्त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि
स्यात्क्रमाद् गुरुः ॥ साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशै-
स्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥’ इति । तत्र ‘धिक्मूर्खं जातममितायादि साक्षेपम् । अत्र
न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवयवं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोऽसीत्या-
दिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् ॥

तत्र निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह—

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।

क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धं त्रयोदशान् ॥ २०४ ॥

न्यूनाङ्गाः कश्चरणादिविकलाः, न्यूनेन्द्रिया नेत्रश्रोत्रादिरहिताः, रोगिणो
दुश्चर्मप्रभृतयः, तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थया स्तुत्या ।

१. लोलुपाः । २. शिल्पादि । ३. धिक्मूर्खं जातममितायादि ।

४. प्रतीदृशः ।

यत्र नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते तत्सत्यम् । यत्र पुनश्चक्षुस्मानेवान्ध इत्युच्यते तदसत्यम् । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदस्य-
थास्तोत्रम् । एवंविधैर्यः शेषं निर्भर्त्सनं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्ड-
नीयः । (मनुः ८।२७४)—‘काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।
तथ्येनापि भुवन्द्याप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥’ इति यन्मनुवचनं, तदतिदुर्वृत्तव-
र्णविषयम् । यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति
तेनैवोक्तम् । (मनुः ८।२७५)—‘मातरं पितरं जायां आतरं श्वशुरं गुरुम् ।
आचार्यञ्जतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥’ इति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु
गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

भाषा—जो किसी विकलेन्द्रिय और रोगी आदि को सच्चे या झूठे ही
निन्दापरक वचनों से आक्षेप करता है तो उससे साढ़े तेरह पण दण्ड लेना
चाहिए ॥ २०४ ॥

अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह—

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति हं ।

शपन्तं दापयेद्वाजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥

‘एवदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्तास्मि’ इति शपन्तं अन्यां वा ‘एव-
ज्जायामभिगन्ताऽस्मि’ इत्येवं शपन्तं राजा पञ्चविंशतिकं पणानां पञ्चाधिका
विंशतिर्यस्मिन्दण्डे स तथोक्तस्तं दमं दापयेत् ॥ २०५ ॥

भाषा—‘तुम्हारी बहन या माँ का मैं अभिगन्ता (जार) हूँ’ इस प्रकार
का वचन कहकर गाली देने वाले से राजा पच्चीस पण दण्ड ले ॥ २०५ ॥

एवं समानगुणेषु वर्णेषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिपादयि-
तुमाह—

अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च ।

अधमेष्वाक्षेत्रपेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्वर्धो दण्डः । पूर्ववाक्ये पञ्चविं-
शतेः प्रकृतत्वात्तदपेक्ष्यार्धः सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्यः । परभार्यासु पुनर-
विशेषेण द्विगुणः पञ्चविंशत्यपेक्ष्यैव पञ्चाशत्पणात्मको वेदितव्यः । तथोत्त-
मेषु च स्वापेक्षयाधिकश्रुतवृत्तेषु दण्डः पञ्चाशत्पणात्मक एव ॥

वर्णानां मूर्धावसिकादीनां च परस्पराक्षेपे दण्डकरपनामाह—

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः ॥ २०६ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्तायाः । वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः । उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, तैः वर्णजात्युत्तराधरैः परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकर्षेण नयनमूहनं वेदितव्यम् । तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति विशेषेणोपादानादुत्तराधरभात्रापेक्षयैव कर्तव्यमित्यवगम्यते । यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं क्षत्रियादुत्कृष्टं चाक्रुश्य ब्राह्मणः क्षत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चाशत्पणदण्डात्किञ्चिदधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति, क्षत्रियोऽपि तमाक्रुश्य ब्राह्मणाक्षेपनिमित्ताच्छतदण्डादूनं पञ्चसप्ततिमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्तोऽपि तावाक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताम्बुधयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् ॥ २०६ ॥

भाषा—हीन वर्ण की स्त्रियों के विषय में ऐसी गाली देने पर उपरोक्त दण्ड आधा होता है और उत्तम वर्ण की परस्त्री के लिये कहने पर दूना होता है । इसी प्रकार वर्ण और जाति की उच्चता एवं निम्नता का विचार करके दण्ड देना चाहिए ॥ २०६ ॥

एवं सर्ववर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह—

प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः ।

वर्णानामानुलोम्येन तस्माद्वार्धहानितः ॥ २०७ ॥

अपवादा अधिक्षेपाः । प्रातिलोम्येनापवादाः प्रातिलोम्यापवादाः, तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोर्थयाक्रमेण पूर्ववाक्याद् द्विगुणपदोपात्तपञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणाः शतपणाः, त्रिगुणाः सार्धशतपणा दण्डा वेदितव्याः । शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे ताडनं जिह्वाच्छेदनं वा भवति; यथाह मनुः (८।२६७) —‘शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु षधमर्हति ॥’ इति; विट्शूद्रयोरपि क्षत्रियादनन्तरैकान्तरयोस्तुल्यन्यायतया शतमध्यर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यम् । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां क्षत्रियविट्शूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणाक्रोशनिमित्ताच्छतपरिमितार्क्षत्रियदण्डात्प्रतिवर्णमर्धस्यार्धस्य हानिं कृत्वावशिष्टं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना (८।२६८)—‘पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्डयः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्ये

१. विशेषोपादानात् । २. दण्डाद्धीनं । ३. सर्ववर्ण । ४. प्रतिलोमापवादेषु । ५. वर्णान्त्याद्यानुलोम्येन तस्मादेवार्धहानतः । ६. पञ्चविंशत्यर्धद्वादश । ७. वैश्यस्य चार्धपञ्चाशत् ।

स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥' इति ॥ क्षत्रियेण वैश्ये शूद्रे वाक्रुष्टे यथा-
क्रमं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिकौ दमौ । वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम्;
'ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्ययोः' (१२।२४) इति गौतमस्मरणात् ।—'विट्शू-
द्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः' इति (८।२७७) मनुस्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

भाषा—वर्णों की प्रतिलोमता से दोष लगाने पर (अर्थात् जब छोटी
जाति वाला बड़ी जाति वाले को दोष लगावे तो) दूना, तिगुना दण्ड होता
है और वर्णों की अनुलोमता से (बड़ी जाति वाले पर मिथ्या आरोप लगावे
तो) वर्णानुसार दण्ड आधा कम होता जाता है ॥ २०७ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—

बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः ।

शतयस्तदर्थिकः पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्यादीनां प्रत्येकं विनाशे वाचिके वाचा प्रतिपादिते 'तव बाहु छिनशि'
इत्येवंरूपे शतयः शतपरिमितो दण्डो वेदितव्यः । पादनासाकर्णकरा-
दिषु 'आदि'ग्रहणास्त्रिंशदिषु वाचिके विनाशे तदर्थिकः तस्य शतस्यार्धं तदर्थं
तद्यस्यास्यसौ तदर्थिकः, पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्यः ॥ २०८ ॥

भाषा—बाहु, गर्दन, आँख, हड्डी, तोड़ने की धमकी देने पर सौ पण
और पैर, नाक, कान और हाथ आदि तोड़ने की धमकी देने पर उसके आधा
अर्थात् पचास पण दण्ड होता है ॥ २०८ ॥

अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश ।

तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किंच, यः पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्तिः 'त्वद्बाह्याद्यङ्गभङ्गं करोमि' इत्येवं शप-
त्यसौ दश पणान्दण्डनीयः । यः पुनः समर्थः क्षीणशक्तिं पूर्ववदाक्षिपत्यसौ
पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकालं तस्याशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुवं दापनीयः ॥ २०९ ॥

भाषा—यदि अशक्त (ज्वरादि से क्षीण शक्ति वाला) इस प्रकार का
वचन बोले तो उसे दस पण का दण्ड देना चाहिए और यदि शक्तिशाली
व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति से ऐसा वचन कहे तो उससे सौ पण दण्ड लेवे और
उस (दुर्बल व्यक्ति) की रक्षा के लिये उससे प्रतिभू (जामिन) उपस्थित
करावे ॥ २०९ ॥

तीव्राक्रोशे दण्डमाह—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।

उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥

पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे कृते मध्यमसाहसं दण्डः ।
उपपातकसंयुक्ते पुनः 'गोघ्नस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहसं
दण्डनीयः ॥ २१० ॥

भाषा—घो ऐसा (ब्रह्महत्यादि) मिथ्या आरोप लगावे जिससे पतित
होने की संभावना हो तो मध्यम साहस का दण्ड और उपपातक (गोवध
आदि का दोष) लगाने पर प्रथम (अधम) साहस का दण्ड देना चाहिए ॥

त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ।

मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥ २११ ॥

किंच, त्रैविद्याः वेदत्रयसंपन्नास्तेषां राज्ञां देवानां च क्षेपे उत्तमसाहसो
दण्डः । ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीनां पूगाः संघास्तेषामाक्षेपे मध्यम-
साहसो दण्डः । ग्रामदेशयोः प्रत्येकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः ॥ २११ ॥

भाषा—तीनों वेदों के विद्वानों राजा और देवताओं पर आक्षेप करने
से उत्तम साहस का दण्ड होता है । जाति, पूग (संघ) के आक्षेप में
मध्यम साहस का और ग्राम तथा देश के आक्षेप में प्रथम साहस का
दण्ड होता है ॥ २११ ॥

इति वाक्पारुष्यं नाम विवादप्रकरणम् ।

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

संप्रति दण्डपारुष्यं प्रस्तूयते, तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (१५४)—'परगा-
त्रैवमिद्रोहे हस्तपादायुधादिभिः । भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥'
इति । परगात्रेषु स्याच्चरजङ्गमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिग्रहणाद् ग्रावादिभिर्यो-
ऽभिद्रोहो हिंसनं दुःखोत्पादनं तथा भस्मना आदिग्रहणाद्रजः पङ्कपुरीषाद्यैश्च य
उपघातः संस्पर्शनरूपं मनोदुःखोत्पादनं तदुभयं दण्डपारुष्यम् । दण्ड्यतेऽनेनेति
दण्डो देयः, तेन यत्पारुष्यं विरुद्धाचरणं जङ्गमादेर्द्रव्यस्य तद्दण्डपारुष्यम् । तस्य
चावगोरणादिकारणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोच्चमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्या-
स्पृष्टत्रैविध्यं तेनैवोक्तम् (१५५-६)—'तैस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक-
र्मात् । अवगोरणनिःसङ्कपातनचतुर्दर्शनैः ॥ हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समति-
कृमात् । त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम् ॥' इति । निःसङ्कपातनं
निःशङ्कप्रहरणम् । त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव । सहसा कृतानि दण्ड-

१. वर्णानामाक्षेपे । २. संघात् । ३. जातिरूपाणां । ४. करण-
भेदेन । ५. तस्योपरदृष्टं । ६. निःशङ्कपातनम् ।

पारुष्याणीत्यर्थः । तथा चादण्डपारुष्ययोरुभयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोः यः क्षमते न केवलं तस्य दण्डभावः, किंतु पूज्य एव । तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तः दण्डगुरुत्वम् । कलहे च बद्धवैरानुसन्धानतरेव दण्डभावत्वम् । तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषपरिज्ञाने दण्डः समः । तथा श्वपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणः, तेषामशक्यत्वे तान् राजा घातयेदेव; नार्थं गृहीयादित्येवं पञ्च प्रकारा विधयस्तेनैवोक्ताः (ना० १५।७)—‘विधिः पञ्चविधस्तूत एतयोरुभयोरपि । पारुष्ये सति संस्मानुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः ॥ स मन्यते यः क्षमते दण्डभाष्योऽतिवर्तते । पूर्वमाचारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ॥ पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः । द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः ॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वेतरः । पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ॥ विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः । श्वपाकषण्डचण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु ॥ हस्तिपञ्जात्यदासेषु गुर्वाचार्यनृपेषु च । मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम् ॥ यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृपु । स एव विनयं कुर्यान्नूनं विनयभाङ्गनृपः ॥ मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलारम्भकम् । अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥’ (१५।९, १०, ११-१४) इति ॥

एवंभूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकत्वादण्डप्रणयनस्य तत्स्वरूपसंदेहे निर्णय-
हेतुमाह—

असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च ।

द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो^३ भयात् ॥ २१२ ॥

यदा कश्चित् ‘रहस्यहरनेन हतः’ इति राज्ञे निवेदयति, तदा चिह्नैर्द्रष्टव्य-
दिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्र-
चादेन ‘च’शब्दाद्विधेन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयात्परीक्षा कार्या ॥ २१२ ॥

भाषा—जो विना साक्षी उपस्थित किये हुए किसी पर एकान्त में मारने पीटने का अभियोग लगाता है तो चिह्नों, युक्ति (कारण, प्रयोजन और पर्यालोचन) और आगम द्वारा उसकी परीक्षा करे; कारण झूठे (चोट के) चिह्न बना लेने की भी शंका रहती है ॥ २१२ ॥

एवं निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह—

भस्मपङ्कजःस्पर्शो दण्डो दशपणः स्मृतः ।

अमेध्यपार्णिनिष्ठयूतस्पर्शने द्विगुणस्ततः ॥ २१३ ॥

१. कुर्यान्न तद्विनयभाक् । २. असाक्षिके हते । ३. कृताहते ।
कृताज्ञवाप । ४. चिह्नैर्द्रष्टव्य । ५. द्विगुणः स्मृतः ।

समेधेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ।

हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिभिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः । अमेध्यमिति अश्वश्लेष्मनखकेशकर्णविट्दूषिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते । पार्थिवः पादस्य पश्चिमो भागः, निष्ठयूतं मुखनिःसारितं जलम्, तैः स्पर्शने ततः पूर्वादश-पणाद् द्विगुणो विंशतिपणो दण्डो वेदितव्यः ॥ पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः—'छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । पङ्गुणः कायमध्ये स्थान्मूर्ध्नि स्वष्टगुणः स्मृतः ॥' इति । 'आद्य'ग्रहणाद्दशाशुक्रासृक्काजानो गृह्यन्ते । एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः सवर्णविषये दष्टव्यः । परभार्यासु चाविशेषेण । तथोत्तमेषु स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्तादशपणाद्विंशतिपणाच्च दण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । हीनेषु स्वापेक्षया न्यूनवृत्तश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो दशपणश्च वेदितव्यः । मोहश्चित्तवैकल्यम्, मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः । 'आदि'ग्रहणाद् ग्रहावेशादिकम् । एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न कर्तव्यः ॥ २१३-२१४ ॥

भाषा—भस्म, कीचड़ और धूल फेंकने पर दस पण का दण्ड होता है अमेध्य (शरीर के विकार और ज़ूठा भोजन) फेंकने पर पङ्गु से मारने पर और थूक फेंकने पर उससे दूना अर्थात् बीस पण दण्ड होता है । ये दण्ड समान वर्ण के व्यक्ति पर भस्म आदि फेंकने पर ही होते हैं । परस्त्री और उत्तम जाति के व्यक्ति को भस्मादि फेंककर पीड़ित करने पर दूना दण्ड होता है और अपनी अपेक्षा निम्नतर वर्ण एवं वृत्ति वाले को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड होता है । मोह (भूल) और मदपान के कारण ऐसा अपराध करे तो दण्ड का भागी नहीं होता ॥ २१३-२१४ ॥

प्रातिलोभ्यापराधे दण्डमाह—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु ।

उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

ब्राह्मणानां पीडाकरमब्राह्मणस्य क्षत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव । (मनुः ८।२७९)—'येन केनचिदङ्गेन हिंस्यैच्छेयांसमन्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनु-शासनम् ॥' इति । द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्यस्यापि

१. दमः प्रोक्तो महाविभि ।

मन्यजः—मनुः ।

२. न्यूनश्रुतादिषु ।

३. पञ्चपणो-

क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डः; तुल्यन्यायत्वात् । उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव; (८।२८०)—‘पाणिमुद्यस्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति’ इति मनुस्मरणात् ॥ उद्गूर्णार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु तदर्धिकः प्रथमसाहसादध्दण्डो वेदितव्यः ॥ भस्मादिसंस्पर्शे पुनः क्षत्रियद्वैश्वयोः ‘प्रातिलोभ्यापवादिषु द्विगुणत्रिगुणा दमा’ (व्य० २०७) इति वाक्पारुष्योक्तन्यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । (८।२८२)—‘अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढूमवशर्धयतो गुदम् ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१५ ॥

भाषा—ब्राह्मण को पीड़ा देने वाला यदि अब्राह्मण (क्षत्रिय आदि) हो तो उस अंग को (जिससे उसने पीड़ा पहुँचाई हो) काट डालना चाहिए । मारने के लिये शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड होता है और शस्त्र छूकर छोड़ देने वाले को उसका (प्रथम साहस का) आधा दण्ड मिलता है ॥ २१५ ॥

एवं प्रातिलोभ्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह—

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ।

परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥

हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे यथाक्रमं दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिनां मध्यमसाहसो दण्डः ॥

(परस्पर अपने समान जाति वाले को) मारने के लिए हाथ और पैर उठाने पर दश पण और बीस पण और शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २१६ ॥

पादकेशांशुकर्षोल्लुञ्चनेषु पणान्दश ।

पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥ २१७ ॥

किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा य उल्लुञ्चति स्मटित्याकर्षयति असौ दशपणान्दण्ड्यः । पीडा च कर्षांशुकावेष्टपादाध्यासश्च पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासं तस्मिन्समुच्चिते शतं दण्ड्यः । एतदुक्तं भवति—अंशुकेनावेष्टय गाढमापीड्याकृत्य च यः पादेन घट्टयति, तं शतं पणान्दोषयेदिति ॥

भाषा—पैर, केश, वस्त्र और हाथ पकड़कर बलपूर्वक खींचने में दश पण दण्ड होता है और जो पीड़ा पहुँचाते हुए, वस्त्र में बाँधकर, पैर से मारे उस पर सौ पण का दण्ड लगता है ॥ २१७ ॥

१. वर्णिना । २. कराङ्गुलनेषु । ३. पीडाकर्षांशुकावेष्टय । ४. दम-येदिति ।

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः ।

द्वात्रिंशत् पणान्दण्ड्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

किंच । यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा सृदुताडनं काष्ठलोष्टादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशत् पणान्दण्ड्यः ॥ यदा पुनर्गाढताडनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःषष्टिपणान्दण्डनीयः । स्वच्छांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः (८।२८४)—'स्वभेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता च षणिष्कान्प्रवास्यस्वस्थिभेदकः ॥' इति ॥ २१८ ॥

भाषा—यदि कोई व्यक्ति लकड़ी आदि से मार कर विना रुधिर निकाले दुःख पहुँचाता है तो बत्तीस पण दण्ड होता है और रुधिर दिखाई पड़ने पर उसके दूना दण्ड होता है ॥ २१८ ॥

करपाददंतो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।

मध्यो दण्डो व्रणोऽङ्गे मृतकल्पहते तथा ॥ २१९ ॥

किंच, करपाददन्तस्य प्रत्येकं भङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने रुद्धव्रण-स्थोऽङ्गेदने मृतकल्पो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वेदितव्यः । अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ॥ २१९ ॥

भाषा—हाथ, पैर, और दाँत तोड़ने पर, कान और नाक काटने पर, फोड़ा कुचल देने पर तथा मारते-मारते अधमरा कर देने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २१९ ॥

चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने ।

कन्धराबाहुसंक्थनां च भङ्गे मध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

किंच, गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य 'आदि' ग्रहणाजिह्वायाश्च प्रति-भेदने । कन्धरा ग्रीवा, बाहुः प्रसिद्धः, संक्थि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भङ्गे मध्य-मसाहसो दण्डः ॥ २२० ॥

भाषा—चलना, भोजन और बोलना रोक देनेपर, आँख आदि (जिह्वा भी) फोड़ने या काटने पर, ग्रीवा, बाँह और जंघा तोड़ने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

अपि च, यदा पुनर्वहवो मिलिता एकस्याङ्गभङ्गादिकं कुर्वन्ति, तदा यस्मिन्त्यस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उक्तस्तत्र तस्माद् द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं

१. पीडा । २. पणान्दाय्यो । ३. मांसास्थिविभेदे । ४. दन्तभङ्गे । ५. संक्थिभङ्गे । ६. उच्चमसाहसः ।

वेदितव्यः । अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोभ्यानुलोभ्यापराधयोरप्येतस्यैव सवर्णविष-
येऽभिहितस्य दण्डजातस्य वाक्पाठ्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत् ;
'वाक्पाठ्ये य एवोक्तः प्रातिलोभ्यानुलोमतः । स एव दण्डपाठ्ये दाप्यो राज्ञा
यथाक्रमम् ॥' इति स्मरणात् ॥—

कलहापहतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः ॥ २२१ ॥

किंच, कलहे वर्तमाने यद्येनापहतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम् । अपहतद्रव्याद् द्वि-
गुणश्चापहारनिमित्तो दण्डो देयः ॥ २२१ ॥

भाषा—बहुत से व्यक्ति मिलकर यदि एक व्यक्ति को मारे पीटे तो
जिस-जिस अपराध का जो-जो दण्ड कहा गया है उसके दुगुना दण्ड देना
चाहिए । कलह में ली हुई वस्तु लौटवानी चाहिए और उसके दूना
दण्ड देना चाहिए ॥ २२१ ॥

दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।

दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन्कलहे समुदाहृतः ॥ २२२ ॥

किंच, यो यस्य ताडनाद्दुःखमुत्पादयेत्स तस्य व्रणरोपणादौ औषधार्थं
पथ्यार्थं च यो व्ययः क्रियते तं दद्यात् । समुत्थानं व्रणरोपणम् । यस्मिन्क-
लहे यो दण्डस्तं च दद्यात्, न पुनः समुत्थानजव्ययमात्रम् ॥ २२२ ॥

भाषा—जो किसी को मारपीट कर चोट पहुँचावे वह उसकी दवा और
पथ्य में लगे हुए व्यय को भी चुकता करे । और जिस कलह में जो दण्ड कहा
गया है वह दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए ॥ २२२ ॥

परगात्राभिद्रोहे दण्डमुक्त्वानन्तरं बहिरङ्गार्थनाशे दण्डमाह—

अभिघाते तथा खेदे भेदे कुड्यावपातने ।

पणान्दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥ २२३ ॥

मुद्रादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो
दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । अवपातने पुनः कुड्यस्यैते
त्रयो दण्डाः सँमुच्चिता ग्राह्याः पुनः कुड्यसंपादनार्थं च धनं स्वामिने
दद्यात् ॥ २२३ ॥

भाषा—मुद्रर आदि से दीवाल को फोड़ने, छेद करने और गिराने
पर क्रमशः पाँच, दस और बीस पण दण्ड तथा उसको बनवाने का व्यय
(हानि पहुँचाने वाले से) दिलाया चाहिए ॥ २२३ ॥

१. पराधेऽप्येतस्यैव । २. य एवोक्तः प्रातिलोमानुलोमतः । स एव
दण्डपाठ्ये राज्ञा कार्यो यथाक्रमम् । ३. स्तथा । ४. स्थानधनव्ययम् ।
५. दण्डश्च । ६. द्विधाकरणे । ७. समन्विताः ।

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।

षोडशाद्यः पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥ २२४ ॥

अपि च, परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्षोडशपणान्दण्डयः ।
प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन्मध्यमसाहसं दण्डयः ॥ २२४ ॥

भाषा—दूसरे के घर में दुःख उत्पन्न करने वाले (कण्टक आदि)
और (विष, सर्प आदि) प्राण लेने वाले द्रव्य या जीव फेंकने वाले में पहले
सोलह पण ॥ २२४ ॥

पञ्चभिर्द्रोहे दण्डमाह—

दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ।

दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिः कमात् ॥ २२५ ॥

क्षुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायाणां ताडनेन दुःखोत्पादने असूक्ता-
चणे शाखाङ्गच्छेदने । 'शाखा' शब्देन चात्र प्राणसंचाररहितं शृङ्गादिकं
लक्ष्यते । अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि; शाखा चाङ्गं च शाखाङ्गं तस्य छेदने
द्विपणप्रभृतिर्दण्डः । द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स द्विपणः । द्विपणः प्रभृतिरा-
दिर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृतिः । स च दण्डगणो द्विपणश्चतुष्पणः षट्प-
णोऽष्टपण इत्येवंरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पणः पञ्चपण इति । कथमिति
चेदुच्यते ? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद् गुरुतरमुपरितनं दण्डत्रितयमवगम्यते ।
तत्र चाश्रुतत्रित्वादिसंख्याश्रयणाद्वरं श्रुतिद्विसंख्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरु-
त्वसंपादनमिति निरवद्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—बकरी, भेंड़, हरिण जैसे क्षुद्र पशुओं को मारकर रुधिर
निकालने, और सींग आदि निर्जीव अंग काटने पर क्रमशः दो, चार, छः और
आठ पण दण्ड होता है ॥ २२५ ॥

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।

महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः ॥ २२६ ॥

किंच, तेषां क्षुद्रपशूनां लिङ्गछेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्डः ।
स्वामिने च मूल्यं दद्यात् । महापशूनां पुनर्गोविजवाजिप्रभृतीनामेतेषु स्था-
नेषु ताडनलोहितस्त्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्तादण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदि-
तव्यः ॥ २२६ ॥

भाषा—उन क्षुद्र पशुओं का लिङ्ग काटने और उन्हें मार डालने पर
मध्यम साहस का दण्ड होता है और पशु का मूल्य भी देना होता है यदि

१. अजाविकहरिणानां ।

२. क्षिपन्प्राणः ।

३. स्त्रावणादिभिर्मितेषु ।

गाय, हाथी, घोड़ा जैसे बड़े पशु हों तो इन स्थानों पर चोट पहुँचाने पर पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड समझना चाहिए ॥ २२६ ॥

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह—

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे ।

उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः ॥ २२७ ॥

प्ररोहा अङ्कुरास्तद्वयः शाखाः प्ररोहिण्यः; याश्छिन्नाः पुनरुत्थाः प्रतिकाण्डं प्ररोहन्ति ताः शाखा येषां वटादीनां ते प्ररोहिशाखिनः; तेषां शाखाच्छेदने, यतो मूलशाखा निर्गच्छन्ति स स्कन्धः, तस्य छेदने; समूलवृक्षच्छेदने च यथाक्रमं विंशतिपणदण्डादारभ्य पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो दण्डो द्विगुणः । एतदुक्तं भवति—विंशतिपणश्चत्वारिंशत्पणोऽशीतिपण इत्येवं त्रयो दण्डा यथाक्रमं शाखाच्छेदनादिव्वपराधेषु भवन्तीति । अप्ररोहिशाखिनामप्युपजीव्य-वृक्षाणामात्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डाः, अनुपजीव्याप्ररोहि-शाखिषु पुनर्वृक्षेषु कल्प्याः ॥ २२७ ॥

भाषा—कोपलों से युक्त डालों वाले वृक्षों की शाखा और तना या सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर यदि वृक्ष मनुष्य के जीविका-निर्वाह का साधन (आम आदि का) हो तो क्रमशः बीस, चालीस और अस्सी पण दण्ड लगता है ॥ २२७ ॥

वृक्षविशेषान्प्रत्याह—

चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।

जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥

चैत्यादिषु जातानां वृक्षाणां शाखाच्छेदनादिषु पूर्वोक्तादण्डाद् द्विगुणः । विश्रुते च विष्पलपलाशादिके द्विगुणो दण्डः ॥ २२८ ॥

भाषा—धार्मिक स्थान, श्मशान, सीमा, पवित्र स्थान और देवता के मन्दिर में उत्पन्न हुए वृक्ष और पीपल, पलाश आदि के वृक्ष की शाखा आदि काटने पर उपरोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

गुल्मादीन्प्रत्याह—

गुल्मगुच्छश्चुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम् ।

पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुल्मा अनतिदीर्घनिबिडलता मालत्यादयः, गुच्छा अवल्लीरूपाः असरल-प्रायाः कुरण्टकादयः, क्षुपाः करवीरादयः सरलप्रायाः, लता दीर्घयायिन्यो

१. पणादण्डादारभ्य ।

२. दमो वृक्षेऽथ विश्रुते । 'दमा वृक्ष' ।

द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतयः, प्रतानाः काण्डप्ररोहरहिताः सरलयायिन्यः सारिवाप्रभृ-
तयः, ओषध्यः फलपाकावसानाः शालिप्रभृतयः, वीरुधः छिन्ना अपि या
विविधं प्ररोहन्ति ताः गुडूचीप्रभृतयः, एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने
पूर्वोक्तादण्डादध्वजदण्डो वेदितव्यः ॥ २२९ ॥

भाषा—गुडम मालती जैसी (छोटी और घनी लताएँ), गुच्छ (कुरण्टक
जैसी लपटाने वाली लता), कुप (करवीर जैसी सीधी लता), द्राक्षा
जैसी बड़ी लता, सीधी चलने वाली सारिवा आदि लताएँ, शालि आदि
ओषधियों और गुडूची आदि विरवों को पूर्वोक्त स्थानों पर काटने का दण्ड
उपरोक्त दण्ड से आधा होता है ॥ २२९ ॥

इति दण्डपारुष्यप्रकरणम् ।

अथ साहसप्रकरणम् २०

संप्रति साहसं नाम विवादपदं व्याचिख्यामुस्तल्लक्षणं तावदाह—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य यथेष्टविनियोगानर्हत्वाविशेषेण परकीयस्य द्रव्य-
स्यापहरणं साहसम् । कुतः ? प्रसभहरणात् प्रसभ्य हरणात्, बलावष्टम्भेन
हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति—राजदण्डं जनाक्रोशं चोच्छ्रय्य राजपुरुषे-
तरजनसमक्षं यत्किञ्चिन्मारणहरणपरदारप्रध्वर्षणादिकं क्रियते तत्सर्वं साहसमिति
साहसलक्षणम् । अतः साधारणजनपरधनयोर्हरणस्यापि बलावष्टम्भेन क्रियमाण-
त्वात्साहसत्वमिति । नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् (१।१४)—‘सहसा
क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्वलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥’
इति । तदिदं साहसं चौर्यवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणेषु व्यासक्तमपि बलदर्प-
वष्टम्भोपाधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम् । तस्य च दण्डवै-
चित्र्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैव विवृतम्
(१।४।१-९)—‘तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा । उत्तमं चेति शास्त्रेषु
तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥ फलमूलोदकादीनां चेत्रोपकरणस्य च । भङ्गाक्षेपोप-
मर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ वासःपश्वजपानानां गृहोपकरणस्य च । एतेनैव
प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विपशस्त्राद्यैः परदारभिमर्शनम् ।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्डः क्रियाक्षेपः प्रथमस्य

१. निस्त्रायायिन्यः । २. हरणं साहसं । ३. यथेष्टविनियोग ।
४. स्वाह्नित्वेण । ५. पाणिना भिद्यते ।

शतावरः । मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः ॥ उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते । वधः सर्वस्वहंरणं पुराजिर्वासनाङ्कने । तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे ॥' इति ॥ वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता व्यस्ता वा योजयाः ॥

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह—

तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो निह्वे तु चतुर्गुणः ॥ २३० ॥

तस्यापहतद्रव्यस्य मूल्यात् द्विगुणो दण्डः । यः पुनः साहसं कृत्वा 'नाहमकार्षम्' इति निह्वेते तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो दण्डो भवति । एतस्मादेव विशेषदण्डविधानात्प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारव्यतिरिक्तविषयं गम्यते ॥ २३० ॥

भाषा—सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते हैं । उसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता है और अपराध अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता है ॥ २३० ॥

साहसिकस्य प्रयोजयितारं प्रत्याह—

यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ।

यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥ २३१ ॥

यस्तु 'साहसं कुरु' इत्येवमुक्त्वा कारयत्यसौ साहसिकादण्डाद् द्विगुणं दण्डं दाप्यः । यः पुनः 'अहं तुभ्यं धनं दास्यामि, त्वं कुरु' इत्येवमुक्त्वा साहसं कारयति स चतुर्गुणं दण्डं दाप्योऽनुबन्धातिशयात् ॥ २३१ ॥

भाषा—जो व्यक्ति साहस कराता है (करने के लिए उकसाता है) उससे साहसिक के दण्ड से दुगुना दण्ड लेना चाहिए और जो ऐसा कहे कि तुम करो जो लगेगा वह मैं दूँगा, उससे उसके चौगुना दण्ड लेवे ॥ २३१ ॥

साहसिकविशेषं प्रत्याह—

^१अर्घ्याक्षेपातिक्रमकृद् भ्रातृभार्याप्रहारकः ।

संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥ २३२ ॥

सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः ।

पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः ॥ २३३ ॥

अर्घ्यस्यार्घाहस्याचार्यादेराक्षेपमाज्ञातिक्रमं च यः करोति, यश्च भ्रातृभार्या त्राडयति तथा संदिष्टस्य प्रतिश्रुतस्यार्थस्याप्रदाता यश्च मुद्रितं गृहमुद्धाटयति तथा स्वगृहे क्षेत्रादिसंलग्नगृहक्षेत्रादिस्वामिनां कुलिकानां स्वकुलोद्भवानां

‘आदि’ ग्रहणात् स्वग्राह्यस्वदेशीयानां च योऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरि-
मितेन दण्डेन दण्डनीयाः ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—आचार्य आदि अर्घ्य व्यक्तियों को आक्षेप करने वाले, भाई की पत्नी को मारने वाले, सन्देश न कहने वाले, बन्द घर का द्वार तोड़ने वाले, सामन्त (जिसका खेत या घर सटा हुआ हो ऐसे) और अपने कुल में उत्पन्न व्यक्तियों का अपकार करने वाले से पचास पण का दण्ड लिया जाता है; यह निश्चय है ॥ २३२-२३३ ॥

स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेऽनभिधावकः ।

अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तर्मान्स्पृशेत् ॥ २३४ ॥

शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पित्र्ये च भोजकः ।

अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥

वृषक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ।

साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥

पितृपुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः ।

एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥ २३७ ॥

किंच, नियोगं विना यः स्वेच्छया विधवां गच्छति, चौरादिभयाकुलै-
र्विक्रुष्टे च यः शक्नोऽपि नाभिधावति, यश्च वृथाक्रोशं करोति, यश्च चण्डालो
ब्राह्मणादीन्स्पृशति, यश्च शूद्रप्रव्रजितान्दिगम्बरादीन्दैवे पित्र्ये च कर्मणि
भोजयति, यश्चायुक्तं ‘मातरं’ गमिष्यामि इत्येवं शपथं करोति, तथा यश्च
अयोग्य एव शूद्रादियोग्यकर्माध्ययनादि करोति, वृषो बलीवर्दः; क्षुद्रपशवोऽ-
जादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशकः, ‘वृषक्षुद्रपशूनाम्’ इति पाठे
हिंसवाद्यौषधप्रयोगेण वृक्षादेः फलप्रसूनानां पातयिता, साधारणमपलपति
साधारणद्रव्यस्य च वञ्चकः, दासीगर्भस्य च पातयिता, ये च पित्रादयोऽ-
पतिता एव सन्तोऽन्योन्यं त्यजन्ति, ते सर्वे प्रत्येकं पणशतं दण्डार्हा
भवन्ति ॥ २३४-२३७ ॥

भाषा—विना नियोग के अपनी इच्छा से विधवा स्त्री के साथ संभोग
करने वाला, भयातुर व्यक्ति की पुकार सुनकर शक्तिशाली होते हुए भी न
दौड़ने वाला, विना कारण के आर्त्तनाद करने वाला, और ब्राह्मण आदि उच्च
वर्णों को छूने वाला चाण्डाल; शूद्र और संन्यासियों को देवयज्ञ एवं श्राद्ध में
भोजन देने वाला, झूठी शपथ लेने वाला, और अपने वर्ण के अयोग्य कर्म
करने वाला, बैल और बकरा आदि छोटे पशुओं को बधिया करने वाला,

१. नस्पृशन् । २. शूद्रः प्रव्रजितानां ३. पितापुत्र । ४. ग्रहीष्यामीत्येवं ।

सामान्य वस्तु को दवा लेने वाला, दासी का गर्भपात कराने वाला; और पिता, पुत्र, बहन, भाई, पति, पत्नी आचार्य और शिष्य के निर्दोष होने पर भी उनका (एक दूसरे का) त्याग करने वाला—ये सभी सौ पण दण्ड के भागी होते हैं ॥ २३४-२३७ ॥

इति साहसप्रकरणम् ॥

साहसप्रसङ्गात्तत्सदृशापराधेषु निर्णेजकादीनां दण्डमाह—

वसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम् ।

विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजको वस्त्रस्य धावकः, स यदि निर्णेजनार्थं समर्पितानि वासांसि स्वयमाच्छादयति तदासौ पणत्रयं दण्ड्यः । यः पुनस्तानि विक्रीणीते अवक्रयं वा 'एतावत्कालमुपभोगार्थं वस्त्रं दीयते, मद्यमेतावद्धनं देयम्' इत्येवं भाटकेन यो ददाति, आधिस्त्वं वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो याचितं वा ददात्यसौ प्रत्यपराधं दशपणान्दण्डनीयः । तानि च वस्त्राणि शलघनशाल्मलीफलके चालनीयानि न पाषाणे, न च व्यथ्यसनीयानि; न च स्वगृहे वासयितव्यानि; इतरथा दण्ड्यः । (८।३९९)—'शाल्मलीफलके शलघने निःश्याद्वासांसि नेजकः । न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुनः प्रमादात्तानि नाशयति तदा नारदेनोक्तं द्रष्टव्यम्—'मूल्याष्टभागो हीयेत सकृदौतस्य वाससः । द्विः पादस्त्रिस्तृतीयांशश्चतुर्धौतैर्दशमेव च ॥ अर्धचयास्तु परतः पादांशापचयः क्रमात् । यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षयः ॥' इति । अष्टपणक्रीतस्य सकृदौतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्टमभागपणोनं मूल्यं देयम् । द्विधौतस्य तु पादोनं, त्रिधौतस्य पुनस्तृतीयांशान्यूनम् । चतुर्धौतस्यार्धं पणचतुष्टयं देयम् । ततः परं प्रतिनिर्णेजनमवशिष्टं मूल्यं पादपादापचयेन देयम् । यावज्जीर्णं जीर्णस्य पुनर्नाशितस्येच्छातो मूल्यदानकल्पनम् ॥ २३८ ॥

भाषा—यदि धोबी धोने के लिए दिये गये दूसरों के वस्त्रों को स्वयं पहनता है तो उसे तीन पण दण्ड लगता है; यदि वह उसे बेचता है, भाड़े देता है, बन्धक रखता है या मँगनी देता है तो दश पण दण्ड लगता है ॥ २३८ ॥

पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ।

अन्तरे च तयोर्यः स्यात्तस्याप्यष्टगुणो दमः ॥ २३९ ॥

१. विक्रयापक्रमाधानयाचितेषु (= भाटकेनार्पणमपक्रमः, आधमनमाधानम्) २. शाल्मली फलके । ३. अष्टमभागोनं पणं मूल्यं । ४. पादाद्यपचयेन । ५. द्विशतो दमः । ६. तु । ७. प्यष्टशतो दमः ।

२३ या०

पितापुत्रयोः कलहे यः साक्ष्यमङ्गीकरोति, न पुनः कलहं निवारयति असौ पणत्रयं दण्ड्यः । यश्च तयोः सपणे विवादे पणदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ, चकारात्तयोः कलहं वर्धयति, सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः । दम्पत्यादिव्ययमेव दण्डोऽनुसरणीयः ॥ २३९ ॥

भाषा—पिता और पुत्र के कलह में जो साक्षी बनता है (और कलह का निवारण नहीं करता) उसे तीन पण दण्ड देना चाहिए; जो उन दोनों में मध्यस्थ बने (अर्थात् पण का विवाद हो तो प्रतिभू बने और क्षगड़े को बढ़ावे) उससे उसका भी आठ गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ २३९ ॥

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ।

एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४० ॥

तुला तोलनदण्डः, शासनं पूर्वोक्तम्, मानं प्रस्थद्रोणादि, नाणकं मुद्रादिचिह्नितं दम्भनिष्कः, एतेषां यः कूटकृत् देशप्रसिद्धपरिमाणादन्यथा न्यूनत्वमाधिक्यं वा दम्भादेरव्यवहारिकमुद्रात्वं ताम्रादिगर्भत्वं वा करोति, यश्च तैः कूटैर्जनैरपि व्यवहरति, तावुभौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २४० ॥

भाषा—जो तराजू से तोलने, राजा की आज्ञा, तौल के मानों (घटखरों) और नाणक (सिक्कों) में धूर्तता करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४० ॥

नाणकपरीक्षिणं प्रत्याह—

अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ।

स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥ २४१ ॥

यः पुनर्नाणकपरीक्षी ताम्रादिगर्भमेव दम्भादिकं सम्यगिति ब्रूते, सम्यक् च कूटकमिति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः ॥ २४१ ॥

भाषा—जो नाणक की परीक्षा करने वाला खोटे सिक्के को खरा कहता है और खरे को खोटा कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४१ ॥

चिकित्सकं प्रत्याह—

भिषिङ्मिथ्याचरन्दण्ड्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम् ।

मानुषे मध्यमं राजपुरुषेषूत्तमं दमम् ॥ २४२ ॥

यः पुनर्भिषक् मिथ्या आयुर्वेदानभिज्ञ एव जीवनार्थं 'चिकित्सितज्ञोऽहम्' इति तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकित्सामाचरत्यसौ यथाक्रमेण प्रथममध्यमोत्तम-

१. व्यावहारिकमुद्रितत्वं ।

२. चरन्दाप्यः ।

३. राजमानुषे तूत्तमं ।

साहसान्दण्डनीयः । तत्रापि तिर्यगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रत्या-
सत्तिविशेषेण 'दण्डस्य लघुगुरुभावः कल्पनीयः ॥ २४२ ॥

भाषा—जो अल्पज्ञानी वैद्य (नीम हकीम) पशु-पक्षियों की झूठी
चिकित्सा करता हो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है, मनुष्य की चिकित्सा
करे तो मध्यम साहस का और राजपुरुष की चिकित्सा करने पर उत्तम साहस
का दण्ड होता है ॥ २४२ ॥

अवन्ध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति ।

अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४३ ॥

यः पुनर्वन्धनानर्हमनपराधिनं राजाज्ञया विना बध्नाति, यश्च बद्धं व्यव-
हारार्थमाहूतं अनिवृत्तव्यवहारं चोत्सृजति, असौ उत्तमसाहसं दाप्यः ॥ २४३ ॥

भाषा—जो बन्धन के अयोग्य व्यक्ति को राजा की आज्ञा के बिना
बांधता है और जो बद्ध (व्यवहार के लिये पकड़कर लाये गए चोर आदि)
को व्यवहार की निवृत्ति के पूर्व ही छोड़ देता है वह उत्तम साहस के दण्ड का
आगी होता है ॥ २४३ ॥

मानेन तुलया चापि योऽशमष्टमकं हरेत् ।

दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥ २४४ ॥

यः पुनर्वणिक् ग्रीहिकार्पासादेः पण्यस्याष्टममंशं कूटमानेन कूटतुलया
चा अन्यथा वा परिहरति असौ पणानां द्विशतं दण्डनीयः । अपहृतस्य द्रव्यस्य
पुनर्वृद्धौ हानौ च दण्डस्यापि वृद्धिहानी कल्प्ये ॥ २४४ ॥

भाषा—नापने या तौलने में जो धूर्तता करके किसी वस्तु का आठवाँ
भाग ले ले तो उससे दो सौ पण दण्ड लेना चाहिए । अपहृत धन के अधिक
या कम होने के अनुसार दण्ड भी कम या अधिक होता है ॥ २४४ ॥

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।

पण्येषु प्रक्षिपन्हीनं पणान्दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमौषधद्रव्यम्, स्नेहो घृतादिः, लवणं प्रसिद्धम्, गन्धद्रव्यमुशीरादि,
धान्यगुडौ प्रसिद्धौ, 'आदि' शब्दाद्विड्भूमरिचादि, एतेष्वसारं द्रव्यं विक्रयार्थं
मिश्रयतः षोडशपणो दण्डः ॥ २४५ ॥

भाषा—औषध, घृत आदि द्रवपदार्थ, नमक, गन्ध, धान्य और गुड
आदि में विक्रय द्वारा अधिक लाभ पाने के लिये असार द्रव्य डालने पर
(मिलावट करने पर) सोलह पण दण्ड लेवे ॥ २४५ ॥

१. दण्डानां । २. हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु ।

मृच्चर्ममणिस्त्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम् ।

अजातौ जातिकरणे विक्रेयाष्टगुणो दमः ॥ २४६ ॥

किंच, न विद्यते बहुमूल्या जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे विक्रयार्थं गन्धवर्णरसान्तरसंचारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसंपादने यथा—मल्लिकामोदसंचारेण मृत्तिकायां सुगन्धामलकमिति, मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन व्याघ्रचर्मैति, स्फटिकमणौ वर्णान्तरकरणेन पद्मराग इति, कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति, कौलायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति, विल्वकाष्ठे चन्दनामोदसंचारेण चन्दनमिति, कङ्कोले त्वगाख्यं लवङ्गमिति, कार्पासिके वाससि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति, विक्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादेः पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ २४६ ॥

भाषा—मिट्टी, चमड़ा, मणि, सूत, लोहा, लकड़ी, और वल्कल के वस्त्र को घटिया होने पर भी अच्छा बनाकर बेचने वाले से जितने मूल्य पर बिका हो उसके आठ गुना दण्ड लेवे ॥ २४६ ॥

समुद्गपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ।

आधानं विक्रयं वापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥

भिन्ने पणे च पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।

द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च वृद्धिमान् ॥ २४८ ॥

मुद्गः पिधानं, मुद्गेन सह वर्तत इति समुद्गं करण्डकम्, परिवर्तनं चस्यासः; योऽन्यदेव मुक्तानां पूर्णं करण्डकं दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णं करण्डकं समर्पयति, यश्च सारभाण्डं कस्तूरिकादिकं कृत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधि वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिम-कस्तूरिकादेर्मूल्यभूते पणे भिन्ने^१ न्यूनं, न्यूनपणमूल्य इति यावत्; तस्मिन् कृत्रिमे विक्रीते पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूल्ये पुनः शतम् । द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्येवं मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिरुन्नेया ॥ २४७-२४८ ॥

भाषा—ढककर रखी हुई वस्तु को अपने हस्तलाघव से (हाथ की सफाई द्वारा) कुछ और ही बनाकर लोगों को ठगता है और जो बनावटी कस्तूरी बन्धक रखता है या बेचता है तो उसको इस प्रकार दण्ड लगता हैः—कृत्रिम कस्तूरी आदि का मूल्य पण से कम में हो तो पचास पण और एक पण मूल्य हो तो सौ पण, दो पण मूल्य होने पर दो सौ पण दण्ड होता है और मूल्य की वृद्धि के अनुसार दण्ड बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

१. विक्रेयाष्टगुणो । २. कार्पासिके च । ३. समुद्ग । ४-५. तु ।
६. भिन्ने भिन्नमूल्ये ।

वणिजः प्रत्याह—

संभूय कुर्वतामर्घ्यं संवाधं कारुशिल्पिनाम् ।

अर्घ्यस्य हासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तमः ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घ्यस्य हासं वृद्धिं वा जानन्तोऽपि वणिजः संभूय मिलित्वा कारुणां रजकादीनां शिल्पिनां चित्रकारादीनां संवाधं पीडाकरमर्घान्तरं लाभलोभात्कुर्वन्तः पणसहस्रं दण्डनीयाः ॥ २४९ ॥

भाषा—यदि राजा द्वारा निर्धारित मूल्य की वृद्धि और हास को जानते हुए भी व्यापारी लोग आपस में मिलकर रजक आदि को और शिल्पियों को पीड़ित करें तो उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४९ ॥

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम् ।

विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ २५० ॥

किंच, ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागतं पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपरुन्धन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभिः ॥ २५० ॥

भाषा—जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लाई गयी वस्तु को कम मूल्य पर बिकने से रोक देते हैं अथवा अधिक मूल्य पर बेचते हैं उनके लिये उत्तम साहस का दण्ड विहित है ॥ २५० ॥

केन पुनर्घेण पणितव्यमित्यत आह—

राजनि स्थाप्यते योऽर्घ्यः प्रत्यहं तेन विक्रयः ।

क्रयो वा निःस्त्रवस्तस्माद्वणिजां लाभकृत्स्मृतः ॥ २५१ ॥

राजनि संनिहिते सति यस्तेनार्घ्यः स्थाप्यते निरूप्यते तेनार्घेण प्रतिदिनं क्रयो विक्रयो वा कार्यः । निर्गतः स्त्रवो निःस्त्रवोऽवशेषस्तस्माद्राजनिरूपितार्घ्याद्यो निःस्त्रवः स एव वणिजां लाभकारी, न पुनः स्वच्छन्दपरिकल्पितात् । मनुना चार्घ्यकरणे विशेषो दर्शितः (८१४०२)—‘पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घ्यसंस्थापनं नृपः ॥’ इति ॥ २५१ ॥

भाषा—राजा द्वारा जो मूल्य निर्धारित किया गया हो उसी मूल्य पर प्रतिदिन क्रय या विक्रय करना चाहिए । उससे जो कुछ शेष बचे वही वनियों का लाभ होता है ॥ २५१ ॥

१. हासे वृद्धौ वा साहसो दण्ड उच्यते । २. जानतां । ३. मभिहितो । ४. लाभकः । ५. शेषः ।

स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग्गृहीत पञ्चकम् ।

दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यःक्रयविक्रयी ॥ २५२ ॥

किंच, स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते असौ पञ्चकं शतं पणशते पणपञ्चकं लाभं गृहीयात् । परदेशप्राप्ते पुनः पण्ये शतपणमूल्ये दशपणाभ्यां गृहीयात् । यस्य पणस्य ग्रहणदिवस एव विक्रयः संपद्यते । यः पुनः कालान्तरे विक्रीणीते तस्य कालोत्कर्षवशात् लाभोत्कर्षः कल्प्यः । एवं च यथार्थं निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तथैवार्थो राज्ञः स्वदेशपण्यविषये स्थापनीयः ॥

भाषा—अपने देश की वस्तु लेकर तत्काल बेचने वाला वनियौ पाँच प्रतिशत लाभ लेवे; दूसरे देश से लाकर बेचने वाले को दस प्रतिशत लाभ लेना चाहिए ॥ २५२ ॥

पारदेश्यपण्येऽर्धनिरूपणप्रकारमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् ।

अर्धोऽनुग्रहकृतकार्यः केतुविक्रेतुरेव च ॥ २५३ ॥

देशान्तरादागते पण्ये देशान्तरगमनप्रत्यागमनभाण्डग्रहणशुल्कादिस्थानेषु यावानुपयुक्तोऽर्थस्तावन्तमर्थं परिगणय्य पण्यमूल्येन सह मेलयित्वा यथा पणशते दशपणो लाभः संपद्यते तथा केतुविक्रेत्रोरनुग्रहकार्यार्धो राज्ञा स्थापनीयः ॥ २५३ ॥

भाषा—(दूसरे देश से लाई हुई वस्तु हो तो) बेची जाने वाली वस्तु के मूल्य के साथ उसको लाने में लगा हुआ व्यय जोड़कर क्रेता और विक्रेता के लाभ का विचार कर (राजा) मूल्य निर्धारित करे ॥ २५३ ॥

इति साहसे प्रासङ्गिकप्रकरणम् ।

अथ विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् ॥ २१ ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाध्याधुना विक्रीयासंप्रदानं प्रक्रमते । तत्स्वरूपं च नारदे-नाभिहितम् (८११)—‘विक्रीय पण्यं मूल्येन केतुर्यज्ञं प्रदीयते । विक्रीया-संप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते ॥’ इति । तत्र विक्रेयद्रव्यस्य चराचरभेदेन द्वैविध्य-मभिधाय पुनः षड्विधत्वं तेनैव प्रत्यपादि (८१२-३)—‘लोकेऽस्मिन्निद्विधं पण्यं जङ्गमं स्थावरं तथा । षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः ॥ गणितं तुलितं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया ॥’ इति गणितं क्रमुकफलादि, तुलितं

१. पारदेश्ये । २. वशाभ्यामः कल्प्य । ३. अनुग्रहकः । ४. गणितं क्रमुकफलादि; तुलितं कर्पूरादि ।

कनककरतूरीकुङ्कुमादि, मेयं शात्यादि, क्रिया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमन्त्र-
महिष्यादि । रूपतः पण्याङ्गनादि, श्रिया दीप्या मरकतपञ्चरागादीति ॥

एतत्पट्टप्रकारकमपि पण्यं विक्रीयाऽसंप्रयच्छतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ।

सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्गतां वा दिगागते ॥ २५४ ॥

गृहीतं मूल्यं यस्य पण्यस्य विक्रेता तद्गृहीतमूल्यं, तद्यदि विक्रेता प्रार्थय-
मानाय स्वदेशवणिजे क्रेत्रे न समर्पयति, तच्च पण्यं यदि क्रयकाले बहुमूल्यं
सत्कालान्तरेऽल्पमूल्येनैव लभ्यते तदार्जहासकृतो य उदयो वृद्धिः पण्यस्य
स्थावरजङ्गमात्मकस्य तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दापनीयः । यदा
मूल्यहासकृतः पण्यस्योदयो नास्ति, किं तु क्रयकाले यावदेवेत्यतो मूल्यस्ये-
यत्पण्यमिति प्रतिपन्नं तावदेव तदा तत्पण्यमादाय तस्मिन्देशे विक्रीणानस्य यो
लाभस्तेनोदयेन सहितं द्विकं त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहितं
क्रेतुवाञ्छावशाद्दापनीयः; यथाह नारदः (८१५)—‘अर्घ्यश्चेद्वह्नीयेत सोदयं
पण्यमावहेत् । स्थानिनामेष नियमो दिग्गतां दिग्विचारिणाम् ॥’ इति । यदा
स्वर्घमहत्त्वेन पण्यस्य न्यूनभावस्तदा तस्मिन्पण्ये वस्त्रगृहादिकेय उपभोगस्तदा-
च्छादनसुखनिवासादिरूपो विक्रेतुस्तत्सहितं पण्यमसौ दाप्यः; यथाह नारदः
(८१४)—‘विक्रीय पण्यं मूल्येन यः क्रेतुर्न प्रयच्छति । स्थावरस्य त्वयं दाप्यो
जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥’ इति । विक्रेतुर्उपभोगः त्वय उच्यते; क्रेतुसंबन्धित्वेन
क्षीयमाणत्वात्, न पुनः कुड्यपातसस्यघातादिरूपः । तस्य तु—‘उपहन्येत वा
पण्यं दह्येतापह्रियेत वा । विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः ॥’ (ना० ८१६)
इत्यत्रोक्तत्वात् ॥ यदा स्वसौ क्रेता देशान्तरात्पण्यग्रहणार्थमागतस्तदा तत्पण्य-
मादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दाप-
यितव्यः । अयं च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुज्ञायाभावे द्रष्टव्यः ॥ सति त्वनुज्ञये
‘क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिदि’त्यादि (८१२२) मनूक्तं वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—जो विक्रेता सौदे का मूल्य लेकर सौदा खरीदने वाले को नहीं
देता उससे राजा र्याज के साथ सौदा (खरीदने वाले को) दिलावे; और
यदि क्रेता दूसरे देश में आकर सौदा खरीद रहा हो तो उसे ले जाकर
अपने देश में बेचने पर जितना लाभ उसे मिलता वह भी दिलावे ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णति ।

हानिश्चेत्क्रेतुदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

किंच, यदा पुनर्जातानुशयः क्रेता पण्यं न जिघृक्षति तदा विक्रीतमपि पण्यमन्यत्र विक्रेयम्, यदा पुनर्विक्रेता दीयमानं क्रेता न गृह्णाति, तच्च पण्यं राजदैविकेनोपहतं, तदा क्रेतुरेवासौ हानिर्भवेत्; पण्यग्रहणरूपेण क्रेतृदोषेण नाशितत्वात् ॥ २५५ ॥

भाषा—यदि पहले वाला क्रेता पण्य (सौदा) न ले तो बिके हुए पण्य को भी दूसरे के हाथ बेच दे। यदि इसी बीच (जब विक्रेता दे रहा हो और क्रेता न लेता हो) उस वस्तु में क्रेता के दोष से हानि हो जाय तो उसे क्रेता को ही सहन करना होता है ॥ २५५ ॥

राजदैवोपघातेन पण्ये दोषमुपागते ।

हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः ॥ २५६ ॥

अपि च, यदा पुनः क्रेता प्रार्थ्यमानमपि पण्यं विक्रेता न समर्पयति, अजातानुशयोऽपि, तच्च राजदैविकेनोपहतं, भवति, तदासौ हानिर्विक्रेतुरेव । अतोऽन्यददुष्टं पण्यं विनष्टसदृशं क्रेत्रे देयम् ॥ २५६ ॥

भाषा—यदि क्रेता पण्य मांग रहा हो और विक्रेता उसे वह पण्य न देता हो; तथा इसी बीच राजकृत या दैवकृत उत्पात से उस वस्तु में दोष आ जावे तो यह हानि विक्रेता की ही होती है ॥ २५६ ॥

अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टवद्यदि ।

विक्रीणीते दमस्तत्र मूल्यात्तु द्विगुणो भवेत् ॥ २५७ ॥

किंच, यः पुनर्विनैवानुशयमेकस्य हस्ते विक्रीतं पुनरन्यस्य हस्ते विक्रीणीते सदोषं वा पण्यं प्रच्छादितदोषं विक्रीणीते, तदा तत्पण्यमूल्याद् द्विगुणो दमो वेदितव्यः । नारदेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (८१८)—‘अन्यहस्ते च विक्रीय योऽन्यस्मै तत्प्रयच्छति । द्रव्यं तद्द्विगुणं दाप्यो विनयस्तावदेव तु ॥ निर्दोषं दर्शयित्वा तु सदोषं यः प्रयच्छति । स मूल्याद् द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥’ इति ॥ स्वर्वायं विधिर्दत्तमूल्ये पण्ये द्रष्टव्यः । अदत्तमूल्ये पुनः पण्ये बाह्यात्रक्ये क्रेतृविक्रेत्रोर्नियमकारिणः समयाहते प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा न कश्चिद्दोषः । यथाह नारदः (८१९)—‘दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेव प्रकीर्तितः । अदत्तेऽन्यत्र समयाह विक्रेतुरविक्रयः ॥’ इति ॥ २५७ ॥

भाषा—जो एक के हाथ बेची गई वस्तु को पुनः दूसरे व्यक्ति के हाथ बेचता है अथवा दोषपूर्ण वस्तु को निर्दोष वस्तु बनाकर बेचता है तो उससे राजा वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड लेवे ॥ २५७ ॥

१. पण्यदोष । २. सदृशं । ३. मूल्यात्तु ।

विक्रयानुशयोऽभिहितः । क्रीतानुशयस्वरूपं तु प्राक् प्रपञ्चितम् । अधुना तदुभयसाधारणं धर्ममाह—

क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविज्ञानता ।

क्रीत्वा नानुशयः कार्यः कुर्वन्षड्भागदण्डभाक् ॥ २५८ ॥

परीक्षितक्रीतपण्यानां क्रयोत्तरकालं क्रयकालपरिमाणतोऽर्धकृतां वृद्धिम-
पश्यता क्रेत्रा अनुशयो न कार्यः । विक्रेत्रा च महार्धनिबन्धनं पण्यक्षयमपश्यता
नानुशयितव्यम् । वृद्धिचयपरिज्ञाने पुनः क्रेतृविक्रेत्रोरनुशयो भवतीति
व्यतिरेकादुक्तं भवति । अनुशयकालावधिस्तु नारदेनोक्तः (८१९)—‘क्रीत्वा
मूल्येन यः पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी । विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्वय-
वित्ततम् ॥ द्वितीयेऽह्नि ददःक्रेता मूल्यात्त्रिंशं समावहेत् । द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि
परतः क्रेतुरेव तत् ॥’ इति । अपरीक्षितक्रयविक्रये पुनः पण्यवैगुण्यनिबन्धनानु-
शयावधि‘दशैकपञ्चसप्ताहे’त्यादिना दर्शित एव । तदनया वाचोयुक्त्या वृद्धिचय-
परिज्ञानस्यानुशयकरणत्वमवगम्यते । यथा गण्यपरीक्षाविधिवल्लापण्यदोषाणा-
मनुशयकारणत्वं अतः पण्यदोषतद्वृद्धिचयकारणत्रितयाभावेऽनुशयकालाभ्यन्त-
रेऽपि यद्यनुशयं करोति तदा पण्यषड्भागं दण्डनीयः । अनुशयकार-
णसद्भावेऽप्यनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्ययमेव दण्डः । उपभोगेनावि-
नश्वरेषु स्थिरार्धेष्वनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मनुक्तो दण्डो द्रष्टव्यः (८१-
२२३)—‘परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददच्चेव राज्ञा
दण्ड्यः शतानि षट् ॥’ इति ॥ २५८ ॥

भाषा—पण्य (सौदे) की हानि और लाभ को न जानने वाले वणिक
को सौदा खरीद कर उसका अनुशय (फेराफेरी) नहीं करना चाहिए ।
यदि वह ऐसा करता है तो सौदे को षष्ठांश दण्ड के रूप में चुकावे ॥ २५८ ॥

इति विक्रीयासंप्रदानं नाम प्रकरणम् ।

अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानं नाम विवादपदमिदानीमभिधीयते—

समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।

लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥ २५९ ॥

‘सर्वे वयमिदं कर्म मिलिताः कुर्मः’ इत्येवंरूपा संप्रतिपत्तिः समवायः, तेन
ये वणिङ्गनटनर्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवः प्रातिस्विकं कर्म कुर्वन्ते, तेषां

१. यस्पण्यं दुःक्रीतं । २. पदमधुना समभिदधाति ।

लाभालाभानुपचयापचयौ यथाद्रव्यं येन यावद्धनं पण्यग्रहणाद्यर्थं दत्तं तदनुसारेणावसेयौ; यद्वा, - प्रधानगुणभावपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ ॥ २५९ ॥

भाषा—यदि अनेक व्यापारी लाभ की इच्छा से इकट्ठे मिलकर (साझे पर) कार्य करें तो उन्हें अपनी लगाई पूंजी के अनुसार लाभ और हानि होती है अन्यथा उनमें परस्पर जैसी संविदा हुई हो उसके अनुसार लाभ या हानि का अंश मिलता है ॥ २५९ ॥

प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।

स तदद्याद्विप्लवाच्च रक्षितादशमांशभाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये 'पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्तव्यम्' इति प्रतिषिद्धमाचरता यन्नाशितमनादिष्टमनुज्ञातं वा कुर्वाणेन तथा प्रमादास्पृष्टाहीनतया वा येन यन्नाशितं स तत्पण्यं वणिग्भ्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनिताद्वयसनात्पण्यं पालयति स तस्माद्विचितात्पण्यादशमंशं लभते ॥ २६० ॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में जो व्यक्ति निषिद्ध विक्रय से, न कहा हुआ कार्य करके अथवा प्रमादवश कोई वस्तु नष्ट कर दे तो वह उस वस्तु को दे (या हानि को पूरा करे) । उनमें जो पण्य को राजा और चोर के उत्पात से सुरक्षित रखता है उसे दसवां अंश प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

अर्धप्रक्षेपणाद्विशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।

व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

'इयतः पण्यस्येयन्मूल्यम्' इत्यर्थः, तस्य प्रक्षेपणात् राजतो निरूपणाद्धेतोरसौ मूल्याद्विशतितममंशं शुल्कार्थं गृह्णीयात् । यत्पुनर्व्यासिद्धं 'अन्यत्र न विक्रीयम्' इति राज्ञा प्रतिषिद्धं, यच्च^२ राजयोग्यं मणिमाणिक्याद्यप्रतिषिद्धमपि तद्राज्ञेऽनिवेद्य लाभलोभेन विक्रीतं चेद्राजगामि मूल्यदाननिरपेक्षं तत्सर्वं पण्यं राजाऽपहरेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

भाषा—विक्रय वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के कारण उस वस्तु के मूल्य का बीसवां भाग शुल्क के रूप में वसूल करे । राजा द्वारा विक्रयार्थ निषिद्ध और राजा के योग्य वस्तु बेची जाने पर भी राजा की हो जाती है (उसका राजा अपहरण कर लेता है) ॥ २६१ ॥

मिथ्यावदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।

दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

यः पुनर्वर्णिकं शुल्कवञ्चनार्थं पण्यपरिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थाना-
द्दापसरति यश्च 'अस्येदमस्येदं वा' इत्येवं विवादास्पदीभूतं पण्यं क्रीणाति
विक्रीणीते वा ते सर्वे पण्यादष्टगुणं दण्डनीयाः ॥ २६२ ॥

भाषा—शुल्क से बचने के लिये सौदे का तौल कम बताने वाले, शुल्क
स्थान से भागने वाले और विवादास्पद पण्य को खरीदने वाले से पण्य का
आठ गुना दण्ड लेवे ॥ २६२ ॥

तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्यः पणान्दश ।

ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥

अपि च, शुल्कं द्विविधं—स्थलजं जलजं च । तत्र स्थलजम्—'अर्घ्यप्रक्षेप-
णाद्विशं भागं शुल्कं नृपो हरेत्' (व्य० २६१) इत्यत्रोक्तम् । जलजं तु मानवेऽ-
भिहितम् (८।४०४, ५, ७)—'पणं यानं तरे दाप्यं पुरुषोऽर्घ्यपणं तरे । पादं
पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि
सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किंचिदुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ गर्भिणी तु द्विमासादि-
स्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं नराः ॥' इति ॥
शुल्कद्वयेऽप्ययमपरो विशेषः—'न भिक्षकार्पापणमस्ति शुल्कं न शिल्पवृत्तौ न
शिशौ न दूते । न भैरवलोभे न हतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे ॥'
इति ॥ तीर्थतेऽनेनेति तैरिः नावादिः, तज्जन्यशुल्केऽधिकृतस्तरिकः, स यदा
स्थलोद्भवं शुल्कं गृह्णाति तदा दशपणान्दण्डनीयः । वेशो वेशम, प्रतिवेश इति
स्ववेशमाभिमुखं स्ववेशमपार्श्वस्थं चोच्यते; तत्र भवाः प्रातिवेश्याः, ब्राह्मणाश्च
ते प्रातिवेश्याश्च ब्राह्मणप्रातिवेश्याः; तेषां श्रुतवृत्तसंपन्नानां श्राद्धादिषु विभवे
सस्यनिमन्त्रणे एतदेव दशपणात्मकं दण्डनं वेदितव्यम् ॥ २६३ ॥

भाषा—नौका द्वारा नदी पार कराने के लिए शुल्क लेने वाला यदि
स्थल का शुल्क ग्रहण करता है तो उससे दश पण दण्ड देना चाहिए । प्रति-
वेशी ब्राह्मणों को (उनके योग्य होने पर भी) श्राद्ध आदि में निमन्त्रित
न करे तो उससे इतना ही (दश पण) दण्ड लेना चाहिए ॥ २६३ ॥

१. सव्याजक्रयविक्रयी (= सव्याजौ शौलिककप्रतारणावन्तौ) ।
२. ब्राह्मणः प्रातिवेशानां । ३. तरे—मनुस्मृतिः । ४. तरो नावादिः ।
५. संपूर्णानां ।

देशान्तरमृतवणिमित्रं प्रत्याह—

देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः ।

ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः ॥ २६४ ॥

यदा संभूयकारिणां मध्ये यः कश्चिद्देशान्तरगतो मृतस्तदा तदीयमंशं दायादाः पुत्राद्यपत्यवर्गाः, बान्धवाः मातृपक्षा मातुलाद्याः, ज्ञातयोऽपत्यवर्ग-
व्यतिरिक्ताः सपिण्डा वा, आगताः संभूय व्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते
वा गृहीयुः । तैर्विना दायादाद्यभावे राजा गृहीयात् । 'वा'शब्देन च दायादा-
दीनां वैकल्पिकमधिकारं दर्शयति । पौर्वापर्यनियमस्तु 'पत्नी दुहितर'
(व्य० १३५) इत्यादिना प्रतिपादित एवात्रापि 'वेदितव्यः । शिष्यसम्प्रा-
चारिब्राह्मणनिषेधो वणिक्प्राप्तिश्च वचनप्रयोजनम् । वणिजामपि मध्ये यः पिण्ड-
दानर्णदानादिसमर्थः स गृहीयात् । सामर्थ्यविशेषे पुनः सर्वे वणिजः संसृष्टिनो
विभज्य गृहीयुः । तेषामप्यभावे दशवर्षं दायादाद्यागमनं प्रतीक्षयानागतेषु
व्ययमेव राजा गृहीयात् । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम् 'एकस्य चेत्स्यान्मरणं
दायादोऽस्य तदानुयात् । अन्यो वाऽसति दायादे शक्ताश्चेत्सर्वे एव ते ॥ तद-
भावे तु गुप्तं तत्कारयेद्दशवत्सरान् । अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः ॥
राजा तदात्मसात्कुर्यादेवं धर्मो न हीयते ॥' इति ॥ २६४ ॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में यदि कोई साक्षेदार
विदेश चला जाय या मर जाय तो उसका अंशभूत द्रव्य उसके पुत्रादि
दायाद, बान्धव या जातिवाले प्राप्त करें, अथवा देशान्तर से लौटकर वे
सभी व्यापारी ले लें या उनके न होने पर राजा (उसका धन) ग्रहण
करे ॥ २६४ ॥

जिहां त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत् ।

किं च, जिहो वञ्चकः तं निर्लाभं निर्गतलाभं लाभमाच्छिद्य त्यजेयुर्वहि-
कुर्युः । यद्य संभूयकारिणां मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिकं कर्तुमसमर्थोऽसावन्येन
स्वकं कर्म भाण्डभारवाहनतदायव्ययपरीक्षणादिकं कारयेत् ॥—

प्रागुपदिष्टं वणिग्धर्ममृत्विगादिष्वतिदिशति—

अनेन विधिराख्यातं ऋत्विक्कर्मकर्मिणाम् ॥ २६५ ॥

अनेन 'लाभालाभौ यथाद्रव्यम् इत्यादिवणिग्धर्मकथनेन ऋत्विजां होत्रादीनां
कृषीवलानां नटनर्तकतत्त्वादीनां च शिल्पकर्मोपजीविनां विधिवर्तनप्रकार
आख्यातः । तत्र च ऋत्विजां धनविभागो विशेषो मनुना दर्शितः (८।२।१०)—

१. विज्ञेयः । २. तद्वारयेत् ।

‘सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥’ इति । अस्यायमर्थः—उद्योतिष्टोमेन ‘तं शतेन दीक्षयन्ती’ति वचनेन गवां शतमृत्विगानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादयः षोडश । तत्र कस्य कियानंश इत्यपेक्षायामिदमुच्यते । सर्वेषां होत्रादीनां षोडशर्ध्विजां मध्ये ये मुख्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातारः ते गोशतस्यार्धिनः सर्वेषां भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्रूपार्धेनार्धभाजः । अपरे मैत्रावरुण-प्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन तस्य मुख्यांशस्यार्धेन चतुर्विंशति-रूपेणार्धभाजः । ये पुनस्तृतीयिनः अच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहृत्तारस्ते तृतीयिनो मुख्यांशस्य षोडशगोरूपतृतीयांशेन तृतीयांशभाजः । ये तु पादिनः ग्रावस्तदु-न्नेतृपोतृसुब्रह्मण्यास्ते मुख्यभागस्य यश्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तद्भाजः ॥ ननु कथमयमंशनियमो घटते ? न तावदत्र समयः, नापि द्रव्यसमवायः, नापि वचनम्, यद्वशादीदृशभागनियमः स्यात् ; अतः ‘समं स्यादधृतत्वादि’ति न्यायेन सर्वेषां समांशभाक्त्वं कर्मानुरूपेण वांशभाक्त्वमिति युक्तम् । अत्रोच्यते,—उद्योतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिनः पादिनः इति सिद्धव-दनुवादो न घटते; यदि तत्प्रकृतिभूते उद्योतिष्टोमे अर्धतृतीयचतुर्थांशभाक्त्वं मैत्रावरुणादीनां न स्यात्, अतो वैदिकर्द्धिप्रभृतिसमाख्याबलात्प्रागुक्तोऽंशनिय-मोऽवकल्प्यत इति निरवयम् ॥ २६५ ॥

भाषा—इन एक साथ मिलकर काम करने वालों में जो जिह्वा (धूर्त या बेह्मान) हो उसे लाभ न देकर बाहर कर दें और जो कोई कार्य स्वयं करने में असमर्थ हो वह (अपनी ओर से) किसी दूसरे व्यक्ति से करावे । इसी के आधार पर ऋत्विजों कृषकों और कारीगरों के विषय में भी विधि-समस्त लेनी चाहिए ॥ २६५ ॥

इति संभूयसमुत्थानप्रकरणम् ।

अथ स्तेयप्रकरणम् ॥ २३ ॥

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते; तल्लक्षणं च मनुनाभिहितम् (८।३३२)—
‘स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वापहृयते च यत् ॥’ इति । अन्वयवत् द्रव्यरचिराजाध्यक्षादिसमन्तम्, प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम् ; स्तेयं तु-तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्य-स्वाभ्याससमन्तं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते । यच्च सान्वयमपि कृत्वा

१. वचने गवा । २. नियमो । ३. पह्वते च यत् । ह्वापहृयते—मनुः ।

४. ग्रहणं ।

न मयेदं कृतमिति भयाच्चिहुते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम् (१४।१७)-
'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्म-
नीषिणः ॥' इति ॥

तत्र तस्करग्रहणपूर्वकत्वाद्दण्डनस्य, ग्रहणस्य च ज्ञानपूर्वकत्वात्,
ज्ञानोपायं तावदाह—

ग्राहकैर्गृह्यते चौरौ लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।

पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासकः ॥ २६६ ॥

यः 'चौरौऽयम्' इति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकै राजपुरुषस्थानपालप्रभृ-
तिभिर्ग्रहीतव्यः । लोप्त्रेणापहतभाजनादिना वा चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य
चौर्यपदानुसरणेन वा ग्राह्यः । यश्च पूर्वकर्मापराधी प्राक्प्रख्यातचौर्यः, अशुद्धोऽ-
प्रज्ञातो वासः स्थानं यस्यासावशुद्धवासकः, सोऽपि ग्राह्यः ॥ २६६ ॥

भाषा—जिसे लोग चोर कहे उस व्यक्ति को ग्राहक (स्थानपाल
आदि राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी) पकड़े चुराई गई वस्तु के मिलने, चोरी
का चिह्न मिलने, चौर्य पद के अनुसरण से, पहले अपराधी होने (नामजद चोर
होने) और निवासस्थान सही न ज्ञात होने से किसी को चोरी के अभिभोग
में पकड़ना चाहिए ॥ २६६ ॥

अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिह्वैः ।

शूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः ॥ २६७ ॥

परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः ।

निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः ॥ २६८ ॥

किंच, न केवलं पूर्वोक्ता ग्राह्याः, किंचन्येऽपि वक्ष्यमाणैर्लिङ्गैः शङ्कया
ग्राह्याः । जातिनिह्वेन 'नाहं शूद्र' इत्येवंरूपेण, नामनिह्वेन 'नाहं द्वितीय'
इत्येवंरूपेण, 'आदि' 'ग्रहणास्त्वदेशग्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता ग्राह्याः ।
शूतपण्याङ्गनामद्यपानादिव्यसनेष्वतिप्रसक्तास्तथा 'कुतस्योऽसि त्वम् ?' इति
चौरग्राहिभिः पृष्टो यदि शुष्कमुखो भिन्नस्वरो वा भवति, तर्ह्यसावपि ग्राह्यः ।
बहुवचनास्त्विन्नललाटादीनां ग्रहणम् । तथा ये निष्कारणं 'क्रियदस्य धनं, किं
वाऽस्य गृहम्' इति पृच्छन्ति, ये च वेषान्तरधारणेनात्मानं गूहयित्वा चरन्ति,
ये चायाभावेऽपि बहुव्ययकारिणः, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजना-
दीनामविज्ञातस्वामिकानां विक्रयकास्ते सर्वे चौरसंभावनया ग्राह्याः । एवं

१. नाशदिवसा । २. नामजात्यादि । ३. गूढवासिनः । ४. लपित्य
इत्येवं । ५. गूहमित्येवंविधं पृच्छन्ति ।

नानाविधचौरलिङ्गान्पुरुषान्गृहीत्वा एते चौराः किं वा साधव इति सम्यक्-
परीक्षेत, न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात् । अचौर्यस्यापि लोप्तादि-
लिङ्गसम्बन्धसंभवात् । यथाह नारदः—‘अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रितं भुवि ।
चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्तात्परीक्षयेत् ॥’ तथा—‘असत्याः सत्यसंकाशाः
सत्याश्चासत्यसंनिभाः । दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्मादुक्तं परीक्षणम् ॥’
इति ॥ २६७-२६८ ॥

भाषा—अपनी जाति और नाम छिपाने वाले, जुआ, वेश्या-गमन और
मद्यपान आदि व्यसनों में लिस रहने वाले, (तुम कहां से आये हो ऐसा
पूछने पर) जिनका मुख सूख जाता हो और बोली बदल जाती हो उन व्यक्तिय
को, दूसरे के धन और घर के विषय में बातें पूछने वाले को, (वेष आदि
बदलकर) गुप्त निवास करने वाले, आय न होने पर भी अधिक व्यय करने
वाले और खोई हुई वस्तु को बेचने वाले व्यक्तियों को भी सन्देह से पकड़ना
चाहिए ॥ २६७-२६८ ॥

एवं चौर्यशङ्कया गृहीतेनात्मा संशोधनीय इत्याह—

गृहीतः शङ्कया चौर्यं नात्मानं चेद्विशोधयेत् ।

दापयित्वा हतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत् ॥ २६९ ॥

यदि चौर्यशङ्कया गृहीतस्तन्निस्तरणार्थमात्मानं न शोधयति तर्हि वक्ष्यमा-
नधनदापनवधादिदण्डभारभवेत् । अतो मानुषेण तदभावे दिव्येन वा आत्मा
शोधनीयः ॥ ननु ‘नाहं चौरः’ इति मिथ्योत्तरे कथं प्रमाणं संभवति ? तस्या-
भावरूपत्वात् । उच्यते,—दिव्यस्य तावद्भावाभावगोचरत्वं ‘रुच्या वाऽन्यतरः
कुर्यात्’ इत्यत्र प्रतिपादितम् । मानुषं पुनर्यद्यपि साक्षाच्छुद्धमिथ्योत्तरे न
संभवति, तथापि कारणेन संसृष्टे भावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि
गोचरयत्येव । यथा ‘नाशापहारकाले अहं देशान्तरस्थ’ इत्यभियुक्तैर्भाविते
चौर्याभावस्याप्यर्थासिद्धेः शुद्धिर्भवत्येव ॥ २६९ ॥

भाषा—जो चोरी की शंका से पकड़ा गया हो और अपनी निर्दोषता न
प्रमाणित करे उससे चोरी गया हुआ धन दिलाकर चोर के लिये विहित दण्ड
भी देना चाहिए ॥ २६९ ॥

चौरदण्डमाह—

चौरं प्रदाप्यापहतं घातयेद्विविधैर्वधैः ।

यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया यन्निरपेक्षं वा निश्चितचौर्यस्तं स्वामिने अपहतं धनं
स्वरूपेण मूल्यकल्पनया वा दापयित्वा विविधैर्वधैर्घातयेत् । एतच्चोत्तमसा-

हसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम्, न पुनः पुष्पवस्त्रादिभुक्ष्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिविधोऽस्मात् ॥' (१४।३१) इति नारदवचनेन वधरूपस्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषये व्यवस्थापितत्वात् ॥ यत्पुनर्बुद्धमनुवचनम्—'अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां मलात्मकम् । अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥' इति,—तदपि महापराधविषयम् ॥—

चौरविशेषेऽपवादमाह—

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २७० ॥

ब्राह्मणं पुनश्चौरं महत्यप्यपराधेऽपि न घातयेत्, अपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वदेशाग्निकासयेत् । अङ्कनं च श्वपदाकारं कार्यम्; तथा च मनुः (९।२३७)—'गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमचिकीर्षतां द्रष्टव्यम्; यथाह मनुः (९।२४०)—'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्कया राज्ञा ललाटे तु दाप्यास्तुत्तमसाहसम् ॥' इति ॥ २७० ॥

भाषा—चोर से चोरी गई हुई वस्तु हिलाकर अनेक प्रकार के वध (शारीरिक दण्ड) द्वारा दण्डित करे । यदि ब्राह्मण ने चोरी की हो तो उसके ललाट पर चिह्न बनाकर उसे अपने राज्य से निकाल देवे ॥ २७० ॥

चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह—

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।

विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतेरेव चौरपेक्षादोषः, तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् । तदशक्तौ हृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौरपदं स्वग्रामाग्निरगतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र प्रविशति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वापयेत् । तथा च नारदः (१६।७)—'गोचरे यस्य मुच्येत तेन चौरः प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा शेषं पदं यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्माच्च चेदन्यत्र पातितम् । सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत् ॥' इति ॥ विवृते त्वपहारे विवृतेस्वामिन एव दोषः । यदा त्वध्वन्येव तद्दृष्टं भवत्यवीतके वा विवृतादन्यत्र चेन्ने तदा चौरोद्धर्तुर्मार्गपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः ॥ २७१ ॥

१. स्ता वर्तयेत् । २. चौरस्य पदं । ३. लुप्येत मुच्येत । ४. वापराधः ।

भाषा—गांव के भीतर किसी का वध होने या किसी की चोरी होने पर यदि हत्यारे या चोर के गांव से बाहर न जाने का संकेत मिले तो ग्रामपाल का ही दोष रहता है। विवृत (सराय) में चोरी आदि हो तो उसके स्वामी का और उससे अन्यत्र मार्ग आदि में चोरी या वध होने पर मार्गपाल का दोष होता है ॥ २७१ ॥

स्वसीम्नि दद्याद् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति ।

पञ्चग्रामी बहिः क्रोशादशग्राम्यथवा पुनः ॥ २७२ ॥

किंच, यदा पुनर्ग्रामाद्बहिः सीमापर्यन्ते क्षेत्रे मोषादिकं भवति तदा तद्ग्राम-
वासिन एव दद्युः—यदि सीम्नो बहिश्चौरपदं न निर्गतम् । निर्गते पुनर्यत्र
ग्रामादिके चौरपदं प्रविशति स एव चौरार्पणादिकं कुर्यात् । यदा स्वनेकग्राम-
मध्ये क्रोशमात्राद् बहिःप्रदेशे घातितो मुषितो वा चौरपदं च जनसंमर्दादिना
भग्नं, तदा पञ्चानां ग्रामाणां समाहारः पञ्चग्रामी दशग्रामसमाहारो दशग्रामी वा
दद्यात् । विकल्पवचनं तु यथा तत्प्रस्थासत्यपहतधनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येव-
मर्थम् । यदा स्वन्यतोऽपहतं द्रव्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वक्रोशादेव राजा
दद्यात् । 'चौरहतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्स्वक्रोशाद्वा दद्यात्' (२०।४६-४७)
इति गौतमस्मरणात् ॥ मुषितामुषितसन्देहे मानुषेण दिव्येन वा निर्णयः कार्यः ।
'यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः । मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि
साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ २७२ ॥

भाषा—अपने गांव की सीमा के भीतर चोरी आदि हुई हो तो उसका
दण्ड गांव के निवासी दें अथवा जिस गांव में चोरों के जाने के पदचिह्न
दिखाई पड़े उस गांव के लोग दें । यदि कई गांवों के बीच एक क्रोश की
दूरी पर चोरी आदि की घटना हुई हो तो पांच गांव या दश गांव मिलकर
दण्ड देवे (चोरी आदि की क्षति पूरी करें) ॥ २७२ ॥

अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः ।

प्रसह्यघातिनश्चैव शूलानारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥

बन्दिग्राहादीन्बलावष्टभेन घातकांश्च नरान्शूलानारोपयेत् । अयं च वध-
प्रकारविशेषोपदेशः । (१।२८०)—'कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहत्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २७३ ॥

१. चौरार्पणादिकं । २. समाहारोपये दशग्रामी वा । ३. शूल-
मारोपये । ४. अग्न्यागारा

२४ या०

भाषा—बलपूर्वक बन्दी को छुड़ाने वाले, घोड़ा और हाथी चुराने वाले और किसी का बलपूर्वक घात करने वाले पुरुषों को शूली पर चढ़ावे ॥ २७३ ॥

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ ।

कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥

किंच, वस्त्राद्युत्तिपत्यपहरतीत्युत्क्षेपकः, वस्त्रादिवद्धं स्वर्णादिकं वित्तस्थोत्कृत्य वा योऽपहरत्यसौ ग्रन्थिभेदकः, तौ यथाक्रमं करेण सन्दंशमदृशेन तर्जन्याङ्गुष्ठेन च हीनौ कार्यौ । द्वितीयापराधे पुनः करश्च पादश्च करपादं, तच्च तदेकं च करपादैकं, तद्हीनं ययोस्तौ करपादैकहीनकौ कार्यौ । उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोरेकमेकं करं पादं च छिन्द्यादित्यर्थः । एतदप्युत्तमसाहसप्राप्तियोग्यद्रव्यविषयम् । 'तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' (१४८) इति नारदवचनात् ॥ तृतीयापराधे तु वध एव । तथा च मनुः (९।२७७)—'अङ्गुलीग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्ततर्जनी तृतीये वधमर्हति ॥' इति । जातिद्रव्यपरिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति ॥ २७४ ॥

भाषा—उत्क्षेपक (वस्त्र आदि चुराने वाले उचक्का) और ग्रन्थिभेद (गिरहकट के क्रमशः हाथ और संदंश (तर्जनी एवं अंगूठा) काट लेना चाहिए । दुबारा अपराध में उसका एक हाथ और एक पैर भी काट देना चाहिए ॥ २७४ ॥

जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिगुणदेशकालादीनां दण्डगुरुलघु-
भावकारणानामानन्त्याप्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह—

क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः ।

देशकालवयःशक्ति संचिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः । क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम् । (१४।१४-१६) 'मृद्गाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मवृणादि यत् । शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रं द्रव्य-
मुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयवर्ज्यं च गोवर्ज्यं पशवस्तथा । हिरण्यवर्ज्यं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुङ्गो गजवाजिनः । देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् ॥' त्रिप्रकारेणैव द्रव्येष्वैतर्गिकः प्रथममध्यमोत्तम-
साहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः (१४।२१)—'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' इति ॥ मृन्मयेषु मणिकमल्लिकादिषु गोर्वाजिष्यतिरिक्तेषु च महिषमेषादिपशुषु ब्राह्मण-
संबन्धिषु च कनकधान्यादिषु तारतम्यभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां

१. हस्तपादौ तु । २. गोव्यतिरिक्तेषु । ३. तारतम्यभावोऽस्तीति ।

मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीयः । तत्र च दण्डकर्मणि दण्डकल्पनायां तद्धेतुभूतं देशकालवयःशर्काति सम्यक् चिन्तनीयम् । एतच्च जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहादीनामुपलक्षणम् । तथा हि—‘अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्’ इति । अयमर्थः—‘किल्बिष’शब्देनात्र दण्डो लक्ष्यते । यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारेऽष्टगुण आपादनीयः । इतरेषां पुनर्विद्वच्चत्राह्यणादीनां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणि षोडशद्वात्रिंशच्चतुःषष्टिगुणा दण्डा आपादनीयाः । यस्माद्विद्वच्छूद्रादिककर्तृकेष्वपहारेषु दण्डभूयस्त्वम् । मनुनाप्ययमेवार्थो दर्शितः (८।३३७-३३८)—‘अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्तन्त्रियस्य तु ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्वैष्णवगुणवेदिनः ॥’ इति ॥ तथा परिमाणकृतमपि दण्डगुरुत्वं दृश्यते । यथाह मनुः (८।३२०)—‘धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥’ इति ॥ विंशतिद्रोणकः कुम्भः । हतुर्द्विगुणस्वामिगुणापेक्षया सुभिक्षदुभिक्षकालापेक्षया वा ताडनाङ्गच्छेदनवधरूपा दण्डा योज्याः ॥ तथा संख्याविशेषादपि दण्डविशेषो रत्नादिषु । (मनुः ८।३२१३२२)—‘सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् । रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषेष्वेकादशगुणं मूल्यादण्डं प्रकल्पयेत् ॥’ इति ॥ तथा द्रव्यविशेषादपि (८।३२३)—‘पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां वा विशेषतः । रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति ॥’ अकुलीनानां तु दण्डान्तरम्—‘पुरुषं हरतो दण्डः प्रोक्त उत्तमसाहसः । स्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वधः ॥’ इति ॥ शुद्रद्रव्याणां तु माषतो न्यूनमूल्यानां दमः; ‘काष्ठभाण्डवृणादीनां मृन्मयानां तथैव च ॥ वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नायवस्थिचर्मणाम् ॥ शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः । गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः ॥ पक्वान्नानां कृताज्ञानां मरस्यानामामिषस्य च । सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्याल्पगुणो दमः ॥’ (२२।४) इति नारदस्मरणात् ॥ यः पुनः प्रथमसाहसः शुद्रद्रव्येषु शतावरः पञ्चाशत्पर्यन्तोऽसौ माषमूल्ये तदधिकमूल्ये वा यथायोग्यं व्यवस्थापनीयः ॥ यत् पुनर्मन्त्रं च शुद्रद्रव्यगोचरवचनं—‘तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः’ इति, तदल्पप्रयोजनशरावादिविषयम् । तथापराधगुरुत्वादपि दण्डगुरुत्वम् । यथा—‘संधिं भित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तत्कराः । तेषां क्षिप्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥’ (८।३७६) इत्येवं सर्वेषामानन्त्याप्रतिद्वयं वक्तुमशक्तीति-

१. मरस्यानामौषधस्य च । सर्वेषामल्पमूल्यानां ।

परिमाणादिभिः कारणैर्दण्डगुरुलघुभावः कल्पनीयः । पथिकादीनां पुनरुत्पा-
पहारे न दण्डः । यथाह मनुः (८।३४१)—‘द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्-
ङ्क्षे च मूलके । आददानः परचेत्राच्च दण्डं दातुमर्हति ॥’, तथा—‘चणकघ्नीहि-
गोधूमयवानां मुद्गमाषयोः । अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकः पथि स्थितैः ॥
तथैव सप्तमे भक्तं भक्तानि षडनश्रता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥’
इति ॥ २७५ ॥

भाषा—छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की और बड़ी वस्तु की चोरी
में देश, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की वस्तु के
मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २७५ ॥

अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—

भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।

दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

भक्तमशनम्, अवकाशो निवासस्थानम्, अग्निश्चौरस्य शीतापनोदाद्यर्थः,
उदकं तृषितस्य, मन्त्रश्चौर्यप्रकारोपदेशः, उपकरणं चौर्यसाधनम्, व्ययः अपहा-
रायम् देशान्तरं गच्छतः पाथेयम्, एतानि चौरस्य, हन्तुर्वा दुष्टत्वं जानन्नपि
यः प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः । चौरोपेक्षिणामपि दोषः—‘शक्ताश्च य
उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः ।’ (१४।१९) इति नारदस्मरणात् ॥ २७६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति चोर या हत्यारे को उसका पापकर्म जानते हुए भी
भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के लिए जल, (चोरी की विधि की)
सलाह, चोरी के साधनभूत उपकरण और चोरी के लिये कहीं जाते समय
मार्ग-व्यय देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २७६ ॥

शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः ।

उत्तमो वाऽधमो वापि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

किंच परगात्रेषु शस्त्रस्यावपातने दासीब्राह्मणगर्भव्यतिरेकेण गर्भस्य
पातने चोत्तमो दमो दण्डः । दासीगर्भनिपातने तु ‘दासीगर्भविनाशकृत्’
(व्य. २३६) इत्यादिना शतदण्डोऽभिहितः । ब्राह्मणगर्भविनाशे तु ‘हत्वा
गर्भमविज्ञातम्’ इत्यत्र ब्रह्महत्यातिदेशं वैचयति । पुरुषस्य प्रमापणे स्त्रियाश्च
शीलवृत्ताद्यपेक्ष्योत्तमो वाऽधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वेदितव्यः ॥ २७७ ॥

भाषा—किसी के शरीर पर शस्त्र चलाने और गर्भपात करने में उत्तम
दण्ड होता है । पुरुष और स्त्री को मारने पर (शील एवं वृत्ति के अनुसार)
उत्तम अथवा अधम दण्ड देना चाहिए ॥ २७७ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम् ।

सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बध्वा प्रवेशयेत् ॥ २७८ ॥

अपि च, विशेषेण प्रदुष्टा विप्रदुष्टा, भ्रूणघ्नी स्वगर्भपातिनी च । या च पुरुषस्य हन्त्री सेतूनां भेत्री च,—एता गर्भरहिताः स्त्रीर्गले शिलां बध्वा अप्सु प्रवेशयेत् यथा न प्लवन्ते ॥ २७८ ॥

भाषा—(गर्भपात करमे आदि के कारण) जो स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो, और पुरुष की हत्या करने वाली हो, जिसने सेतु (पुल या बांध) तोड़ा हो उसके गर्भवती न होने पर उसके गले में शिला बांधकर पानी में डाल देवे ॥ २७८ ॥

विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम् ।

विकर्णकरनासौष्टीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत् ॥ २७९ ॥

किंच, 'अगर्भिणीम्' इत्यनुवर्तते । या च परवधार्थमज्ञपानादिषु विषं ददाति क्षिपति । या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति, तथा या च निजपति-गुर्वपत्यानि मारयति तां विच्छिन्नकर्णकरनासौष्टीं कृत्वा भदान्तैर्दुष्टबलीवर्दैः प्रवाह्य मारयेत् । स्तेयप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जिस स्त्री ने दूसरे को मारने के लिये अन्न में विष दिया हो, घर जलाने के लिए अग्नि दिया हो, जिसने पति, गुरु या अपनी सन्तान का वध किया हो (यदि वह गर्भिणी न हो तो) उसके कान, हाथ, नाक और ओठ काटकर उसे बैलों से मरवा डाले ॥ २७९ ॥

अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।

प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातहतस्याविज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः, सुताः प्रत्यासन्नबान्धवाश्च 'केनास्य कलहो जातः' इति कलहमाशु प्रष्टव्याः । तथा मृतस्य संबन्धिन्यो योषितो याश्च परपुंसि रता व्यभिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः ॥ २८० ॥

भाषा—जिस व्यक्ति के हत्यारे का पता न हो उसके पुत्रों और बान्धवों से उसके कलह के विषय में पूछना चाहिए (अर्थात् इस प्रकार पूछना चाहिए कि इस मृत व्यक्ति का किसके साथ बैर था) उसकी व्यभिचारिणी स्त्रियों से भी अलग-अलग पूछना चाहिए ॥ २८० ॥

कथं प्रष्टव्या इत्यत आह—

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह ।

मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनैः ॥ २८१ ॥

‘किमयं स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा?’ तथा ‘कस्यां किसंबन्धिन्यां वा स्त्रियामस्य रतिरासीत्?’, ‘कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीतिः?’, ‘कुतो वा वृत्तिकामः?’, ‘केन वा सह देशान्तरं गतः?’ इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितः पृथ-
क्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्याः । तथा मरणदेशनिकटवर्तिनो गोपाऽटविकाद्या ये जनास्तेऽपि विश्वासपूर्वकं प्रष्टव्याः । एवं नानाकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य तदुचितो दण्डो विधातव्यः ॥ २८१ ॥

भाषा—यह स्त्री, धन, या वृत्ति-किस की अभिलाषा रखता था अथवा किस के साथ गया था, इस प्रकार मृत्यु स्थान के निकटवर्ती मनुष्यों से विश्वास दिलाकर पूछना चाहिए ॥ २८१ ॥

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ।

राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥ २८२ ॥

किंच, क्षेत्रं पक्षफलस्योपेतम्, वेश्म गृहम्, वनमटवीं क्रीडावनं वा, ग्रामम्, विवीतमुच्छलक्ष्णम्, खलं वा ये दहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान्सर्वान्कटैर्वीणरमयैर्वैष्टयिषा दहेत् । क्षेत्रादेर्दाहकानां मारणदण्डप्रसङ्गादण्ड-
विधानम् ॥ २८२ ॥

भाषा—किसी दूसरे के खेत, (पक्ष फल), घर, वन, (वाटिका) गाँव, बाड़ा और खलिहान को जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले को कट (सरहरी) में लपेटवाकर जला देना चाहिए ॥ २८२ ॥

इति स्तेयप्रकरणम् ।

अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाख्यं विवादपदं व्याख्यायते । प्रथमसाहसादिदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्स्वरूपं व्यासेन विवृतम्—‘त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम् । अदे-
शकालभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रियाः ॥ कटाक्षवेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ प्रेषणं गन्धमाख्यानां धूपभूषणवाससाम् ॥ प्रलोभनं चाक्षपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ साहसनं विविक्ते तु परस्परमुपाश्रयः केशाकेशिग्रहश्चैव सस्यक् संग्रहणं स्मृतम् ॥’ स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम् ॥

१. तत्प्रदेश । २. संभाषा निर्जने । ३. समुदाहृतम् । ४. मपाश्रयः ।

संग्रहणज्ञानपूर्वकत्वात्कर्तुर्दण्डविधानस्य तज्ज्ञानोपायं तावदाह—

पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया ।

सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा ॥ २८३ ॥

संग्रहणे प्रवृत्तः पुमान् केशाकेश्यादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्यः । परस्पर-
केशग्रहणपूर्विका क्रीडा केशाकेशि । 'तत्र तेनेदम्' (पा. २।२।२७) इति सरूपे'
इति बहुव्रीहौ सति—'इच् कर्मव्यतिहारे' (पा. ५।४।१२७) इति समासान्त
इच् प्रत्ययः । अव्ययत्वाच्च लुप्तवृत्तीयाविभक्तिः । ततश्चायमर्थः—परभार्यया सह
केशाकेशिक्रीडनेनाभिनवैः कररुहदशनादिकृतवर्णैः रागकृतैर्लिङ्गैर्द्वयोः संप्रतिपत्त्या
वा ज्ञात्वा संग्रहणे प्रवृत्तौ ग्रहीतव्यः । 'परस्त्री'ग्रहणं नियुक्तावरुद्धादिव्युदा-
सार्थम् ॥ २८३ ॥

भाषा—परायी स्त्री का केश पकड़ कर क्रीडा करने से, तत्काल काम-
क्रीडा द्वारा बनाये गये (नखचूत आदि) चिह्नों से अथवा दोनों की परस्पर
प्रकट प्रीति देखकर (व्यभिचार में) प्रवृत्त पुरुष को पकड़े ॥ २८३ ॥

नीवीस्तनप्रावरणसर्क्थिकेशावमर्शनम् ।

अदेशकालसंभाषं सहैकासनमेव च ॥ २८४ ॥

किंच, यः पुनः परदारपरिधानग्रन्थिप्रदेशकुचप्रावरणजघनमूर्धरुहादिस्पर्शनं
सामिलाष इवाचरति । तथा अदेशे निर्जने जनताकीर्णे वाऽन्धकाराकुले अकाले
संलापनं करोति । परभार्यया वा सहैकमञ्चकादौ रिरस्येवावतिष्ठते यः,
सोऽपि संग्रहणे प्रवृत्तौ ग्राह्यः । एतच्चाशङ्क्यमानदोषपुरुषविषयम्, इतरस्य तु न
दोषः । यथाऽऽह मनुः (८।३।५५)—'यस्त्वनाचारितः पूर्वमभिभाषेत कार-
णात् । न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥' इति । यः परस्त्रिया स्पृष्टः
क्षमतेऽसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम् (८।३।५८)—स्त्रियं स्पृष्टेददेशे यः स्पृष्टो
वा मर्षयेत्तथा । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥' इति । यश्च मयेयं
विदग्धाऽसकृदमितचरीति श्लाघया भुजंगजनसमर्चं ख्यापयत्यसावपि ग्राह्य इति
तेनैवोक्तम् । 'दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत् । पूर्वं मयेयं
भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥' (ना० १२।६९) इति ॥ २८४ ॥

भाषा—(परायी स्त्री का) नीवी, चोली या आँचल, जाँघ और केश
कामुकता पूर्वक छूने, अनुचित स्थान (एकान्त, भीड़ या अँधेरे) में और
अयुक्त समय पर (जैसे रात्रि को) भाषण करने और एक साथ एक आसन
पर बैठने वाले पुरुष को पकड़े ॥ २८४ ॥

प्रतिषिद्धयोः स्त्रीपुंसयोः पुनः सँज्ञापादिकरणे दण्डमाह—

स्त्री निषेधे शतं दद्याद् द्विशतं तु दमं पुमान् ।

प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥

प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधः पतिपित्रादिभिर्येन सह संभाषणादिकं निषिद्धं तत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात् । पुरुषः पुनरेवं निषिद्धे प्रवर्तमानो द्विशतं दद्यात् । द्वयोस्तु स्त्रीपुंसयोः प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः संग्रहणे संभोगे वर्णानुसारेण यो दण्डो वक्ष्यते स एव विज्ञेयः । एतच्च चारणादिभार्याव्यतिरेकेण । 'नैष चारणदारेषु विधिर्नाथोपजीविषु । सञ्जयन्ति हि ते नारी निगूढाश्चारयन्ति च ॥ (८।३६२)—इति मनुस्मरणात् ॥ २८५ ॥

भाषा—पति, पिता भाई आदि ने जिस पुरुष के साथ बोलने के लिये मना किया हो उससे बोलने पर स्त्री सौ पण और इसी प्रकार का निषेध किये जाने पर भी किसी स्त्री से बोलने या संबन्ध रखने वाले पुरुष से दो सौ दण्ड दे । दोनों को वर्जित किया गया हो तो उन्हें वही दण्ड होता है जो उपर्युक्त संग्रहण आदि में होता है ॥ २८५ ॥

तमिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोभ्ये तु मध्यमः ।

प्रातिलोभ्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरदाराभिगमने साक्षीतिपण-सहस्रं दण्डनीयः । यदा त्वानुलोभ्येन हीनवर्णा स्त्रियमगुप्तमभिगच्छति, तदा मध्यमसहस्रं दण्डनीयः । यदा पुनः सवर्णमगुप्तमानुलोभ्येन गुप्तां वा व्रजति तदा मानवे विशेष उक्तः (८।३७८-३८३)—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन् । शतानि पञ्च दण्डयः स्याद्विच्छन्त्या सह संगतः ॥' तथा—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दमः ॥' इति ॥ एतच्च गुरुसखिभार्यादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् ।—'माता मातृध्वसा श्वश्रूमातुलानी पितृध्वसा । पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतत्पग उच्यते । शिशनस्यो-त्कर्तनान्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' (१२।७३—७५) इति नारदस्मरणात् । प्रातिलोभ्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः । एतच्च गुप्ता-विषयम् ; अन्यत्र तु धनदण्डः । 'उभावपि हि तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । विप्लुतौ शूद्रवद्दण्डयौ दग्धयौ वा कटाग्निना ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥' (८।३७९।३७७)

इति मनुस्मरणात् । शूद्रस्य पुनरगुप्तमुत्कृष्टवर्णां स्त्रियं व्रजतो लिङ्गच्छेदनसर्व-
स्वापहारौ; गुप्तं तु व्रजतस्तस्य वधसर्वस्वापहाराविति तेनैवोक्तम् । (मनुः
८।३७४)—‘शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं
सर्वेण हीयते ॥’ इति । नार्याः पुनर्हीनवर्णं व्रजन्त्याः कर्णयोः, ‘आदि’ग्रहणाच्चा-
सादेश्च कर्तनम् । आनुलोभ्येन वा सवर्णं वा व्रजन्त्या दण्डः कल्प्यः । अयं च
वधाद्युपदेशो राज्ञ एव, तस्यैव पालनाधिकाराच्च द्विजातिमात्रस्य । तस्य
‘ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीत’ इति शस्त्रग्रहणनिषेधात् । यदा तु राज्ञो
निवेदनेन कालविलम्बनेन कार्यातिपाताशङ्का तदा स्वयमेव जारादीन्हन्त्यात् ।
(मनुः ८।३४८)—‘शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते’ । तथा (मनुः
८।३५१)—‘नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा
मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥’ इति शस्त्रग्रहणाभ्यनुज्ञानाच्च । तथा क्षत्रियवैश्ययो-
रन्योन्यस्त्रयभिमगने यथाक्रमं सहस्र-पञ्चशतपण्यभ्यमकौ दण्डौ वेदितव्यौ । तदाह
मनुः (८।३८२)—‘वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तं वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् । यो
ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥’ इति ॥ २८६ ॥

भाषा—सजातीय परायी स्त्री से व्यभिचार करने पर उत्तम साहस का,
वर्ण की अनुलोमता होने पर अर्थात् अपने से छोटी जाति का स्त्री से व्यभिचार
करने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है । वर्ण की प्रतिलोमता पर (अपने
से उच्च जाति की स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर) दोषी पुरुष का वध
कर देना चाहिए और (अपने से नीच वर्ण के पुरुष के साथ व्यभिचार-
रत) स्त्रियों का कान आदि काट लेना चाहिए ॥ २८६ ॥

पारदार्यप्रसङ्गात्कन्यायामपि दण्डमाह—

अलंकृतां हरिन्कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाऽधमम् ।

दण्डं दद्यात्सवर्णोऽसु प्रातिलोभ्ये वधः स्मृतः ॥ २८७ ॥

विवाहाभिमुखीभूतामलंकृतां सवर्णां कन्यामपहरन्नुत्तमसाहसं दण्डनीयः ।
तदनभिमुखीं सवर्णां हरन्प्रथमसाहसम् । उत्कृष्टवर्णजां कन्यामपहरतः पुनः
क्षत्रियादेर्वध एव । दण्डविधानाच्चापहर्तृसकाशादाच्छिद्यान्यस्मै देयेति
गम्यते ॥ २८७ ॥

भाषा—जिस का विवाह होने वाला हो उस आभूषणों से युक्त सवर्णा
कन्या का अपहरण करने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है; अन्यथा
(क्याही जाने वाली कन्या न होने पर) अधम साहस का दण्ड होता है;

१. अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वैः । २. हरेत्कन्याम् । ३. स्वन्यथाऽधमम् ।
४. सवर्णां तु प्राति ।

उच्च जाति का कन्या का अपहरण करने वाले पुरुष का वध कर देना चाहिए ॥ २८७ ॥

आनुलोम्यापहरणे दण्डमाह—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः ।

यदि सानुरागां हीनवर्णां कन्यामपहरति तदा दोषाभावात्त दण्डः । अन्यथा । स्वनिच्छन्तीमपहरतः प्रथमसाहसो दण्डः ॥

कन्यादूषणे दण्डमाह—

दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥ २८८ ॥

‘अनुलोमासु’ इत्यनुवर्तते । यद्यकामां कन्यां बलात्कारेण न सक्ततादिना दूषयति तदा तस्य करच्छेत्तव्यः । यदा पुनस्तामेवाङ्गुलिप्रक्षेपेण योनिक्षतं कुर्वन्दूषयति तदा मनुक्तषट्शतसहितोऽङ्गुलिच्छेदः । ‘अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्वर्णे मानवः । तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चाहति षट्शतम् ॥’ (मनुः ८।३६७)—इति । यदा पुनः सानुरागां पूर्ववद्दूषयति तदाऽपि तेनैव विशेष उक्तः (मनुः ८।३६८)—‘सकामां दूषयन्कन्यां नाङ्गुलिच्छेदमर्हति । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ।’ इति । यदा तु कन्यैव कन्यां दूषयति, विदग्धा वा, तत्रापि विशेषस्तेनैवोक्तः । ‘कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्यास्तु द्विशतो दमः । या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥ अङ्गुल्योरेव वा च्छेदं खरेणोद्ग्रहणं तथा ॥’ (मनुः ८।३६९)—इति । ‘कन्यां कुर्यात्’ इति कन्यां योनिक्षतवर्ती कुर्यादित्यर्थः ॥ तदा पुनरुत्कृष्टजातीयां कन्यामविशेषात्सकामामकामां वाऽभिगच्छति तदा हीनस्य क्षत्रियादेर्वध एव; ‘उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति’ (८।३६६)—इति मनुस्मरणात् ॥ यदा सवर्णां सकामामभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुल्कं तत्पित्रे दद्यात्, यदीच्छति; पितरि तु शुल्कमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव राज्ञे दद्यात् । सवर्णामकामां तु गच्छतो वध एव; यथाह मनुः (८।३६६)—‘शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि’ (८।३६४)—‘योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयँस्तुत्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥’ इति ॥ २८८ ॥

भाषा—कन्या का भी प्रेम होने पर और उसके (पुरुष से) निम्न जाति की होने पर दोष नहीं होता, अन्यथा (कन्या का प्रेम न होने पर) प्रथम साहस का दण्ड होता है; यदि ऐसी (अर्थात् अपने से हीन जाति की

१. स्त्वन्यथाऽधमः (= प्रथमसाहसः) । २. दूषयँस्तुत्यो । ३. विशेषा-
स्तानुरागामकामां ।

और न चाहने वाली) कन्या को बलपूर्वक नखचत आदि से दूषित करने पर हाथ काटने और अपने से उच्च वर्ण की अनचाहती कन्या को दूषित करने पर वध का दण्ड होता है ॥ २८८ ॥

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद् द्वे तु मिथ्याभिंशंसने ।

पशून्गच्छन्शतं दाप्यो हीनां स्त्रीं गां च मध्यमम् ॥ २८९ ॥

किंच, 'स्त्री'शब्देनात्र प्रकृतत्वात्कन्याऽवसृश्यते । तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापस्मारराज्यचमादिदीर्घकुरितरोगसंसृष्टमैथुनत्वादिदोषान्प्रकाशय 'इयमकन्या' इति दूषयति, असौ शतं दाप्यः । मिथ्याऽभिंशंसने तु पुनरविद्यमानदोषाविष्कारेण दूषणे द्वे शते दापनीयः । गोव्यतिरिक्तपशुगमने तु शतं दाप्यः । यः पुनर्हीनां स्त्रियमन्त्यावसायिनीमविशेषात्सकामामकामां वा गां चाभिगच्छत्यसौ मध्यमसाहसं दण्डनीयः ॥ २८९ ॥

भाषा—किसी कन्या का वास्तविक दोष भी प्रकाशित करने पर सौ पण और उस पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण दण्ड दे । पशु मैथुन करने वाले से सौ पण दण्ड ले और हीन स्त्री एवं गाय में मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २८९ ॥

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।

गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते । उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्यः, ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिर्व्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः, पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्याः, यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु तथा । 'च'शब्दाद्देश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणम् । तासु च सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पणं दण्डनीयः; परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात् । एतच्च स्पष्टमुक्तं नारदेन (१२।७८।७९)—'स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या । गम्याः स्युरानुलोभ्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः ॥ आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत् । गम्यास्वपि हि नोपेयाद्यतस्ताः सपरिग्रहाः ॥' इति ॥ निष्कासिनी स्वाग्यनवरुद्धा दासी । ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यात्वाभिधानमुक्तम् । नहि जातितः शास्त्रतो वा काश्चन लोके साधारणाः

१. मिथ्याभिंशंसिते; । मिथ्याभिंशंसिता । २. पशुं गच्छन्शतं दाप्यो हीनस्त्रीं गां । ३. यतस्ताः परपरिग्रहाः ।

स्त्रिय उपलभ्यन्ते । तथा हि-स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्वर्णस्त्रिय एव; 'स्वैरिणी या पतिं हिंसा सवर्णं कामतः श्रयेत् । वर्णानामानुलोभ्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ नच वर्णस्त्रीणां पत्यौ जीवति मृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते; 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । परिचार्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत्पतिः ॥ कामं तु क्षपयेदेहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृहीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥' (मनुः ५।१५४-१५७)—इति निषेधस्मरणात् ॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम् । पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात् । दास्यभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात् । नच दासी भावात्स्वधर्माधिकारव्युत्तिः । पारतन्त्र्यं हि दास्यम्, न स्वधर्मपरित्यागः । नापि वेश्या साधारणी; वर्णानुलोमजयतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात् । तदन्तःपातित्वे च पूर्ववदेवागम्यत्वम्; प्रतिलोमजयत्वे तु तासां नितरामगम्यत्वम् । अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातित्यात्, पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सकलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम् । सत्यमेवम् । किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिरक्षकराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्व्यसंवाच्योक्तिः । दण्डाभावश्चावरुद्धासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वार्थादवगम्यते । स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात् ॥ 'कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टां न किञ्चिदपि दापयेत् ॥' इति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते । प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्खलननिमित्तं गम्यानां गन्तृणां चाविशेषाद्भवत्येव । यत्पुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णान्तःपातित्वमनुमानादुक्तम्—'वेश्या वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिन्यः; मनुष्यजात्याश्रयत्वात्, ब्राह्मणादिवत्' इति । तज्जः कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात् । अतो वेश्याख्या काचिज्जातिरनर्दिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्नापुरुषसंभोगवृत्तिर्वेश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिवलादभ्युपगमनीयम् । नच निर्मूल्यं प्रसिद्धिः । स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काश्चनाप्सरसः, तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति । अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजातिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः । तासु चानवरुद्धासु गच्छतां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाऽप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव । 'स्वदारनिरतः सदा' (३।४५) इति नियमात् ।—'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवद्यम् ॥ २९० ॥

भाषा—यदि कोई पुरुष दूसरे की अवरुद्धा (केवल स्वामी की सेवा के लिए रखी गई, जिसे घर से बाहर निकलना मना हो) दासी और भुजिण्या

(अर्थात् किसी विशेष पुरुष को सौपी गई) दासी से संभोग करे तो उस दासी के गम्य होने पर भी पुरुष को पचास पण दण्ड लेवे ॥ २९० ॥

‘अवरुद्धासु दासीषु’ (व्य० २९०) इत्यनेन दासीस्वैरिण्यादिभुजिण्याभिगमने दण्डं विदधतस्तास्वभुजिण्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्तं तस्यापवादमाह—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ।

बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥

पुरुषसंभोगजीविकासु दासीषु स्वैरिण्यादिषु शुल्कदानविरहेण प्रसह्य बलात्कारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः । यदि बहव एकामनिच्छन्तीमपि बलात्कारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणपरिमितं दण्डं दण्डनीयाः । यदा पुनस्तदिच्छया भाटिं दत्त्वा पश्चादनिच्छन्तीमपि बलाद्भजन्ति तदा तेषामदोषः; यदि व्याध्याद्यभिभवस्तस्या न स्यात्: ‘व्यधिता सश्रमा व्यग्रा राजकर्मपरायणा । आमन्त्रिता चेज्जागच्छेददण्ड्या वडवा स्मृता ॥’ इति नारदवचनात् ॥ २९१ ॥

भाषा—(पुरुष संभोग से जीविका चलाने वाली स्वैरिणी) दासियों से बलपूर्वक (बिना धन दिये ही) संभोग करने का दण्ड दस पण कहा गया है । यदि अनेक पुरुष मिलकर न चाहने वाली स्वैरिणी दासी के साथ बलात्कार करें तो उनमें से प्रत्येक से चौबीस पण दण्ड लेवे ॥ २९१ ॥

गृहीतचेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।

अगृहीते समं दाप्यः पुमानप्येवमेव हि ॥ २९२ ॥

यदा तु शुल्कं गृहीत्वा स्वस्थापि अर्थपतिं नेच्छति तदा द्विगुणं शुल्कं दद्यात् तथा शुल्कं दत्त्वा स्वयमनिच्छतः स्वस्थस्य पुंसः शुल्कहानिरेव । —‘शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् । अनिच्छन्दत्तशुल्कोऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥’ इति तेनैवोक्तम् । तथाऽन्योऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—‘अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान्स्त्रियम् । अक्रमेण च संगच्छन् पाददन्तनखादिभिः ॥ अयोनी वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासयेत् । शुल्कमष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्ग्रहीताः । तस्मिन्नेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः ॥’ इति ॥ २९२ ॥

भाषा—शुल्क लेकर (और स्वस्थ होने पर भी) शुल्क देने वाले पुरुष से संभोग की इच्छा न रखने वाली वेश्या शुल्क का दूना धन देवे ।

१. अयोनी गच्छतो...चाधिमेहतः...॥ २९२ ॥ २. मनभिलषन्ती ।

३. घातदन्तनखा ।

बिना शुल्क लिये ही संभोग की स्वीकृति देने के बाद नट जाने वाली वेश्या शुल्क के बराबर धन दे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गये हुए पुरुष के विषय में भी होता है। (यदि शुल्क देने के बाद स्वस्थ होने पर भी संभोग न करे तो फिर शुल्क वापस लेने का अधिकारी नहीं होता) ॥ २९२ ॥

अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वाऽभिमेहतः ।

चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९३ ॥

किंच, यस्तु स्वयोषां मुखादावभिगच्छति पुरुषं वाऽभिमुखो मेहति तथा प्रव्रजितां वा गच्छत्यसौ चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः ॥ २९३ ॥

भाषा—स्त्री की योनि को छोड़ कर उसके मुख आदि किसी अन्य अंग में मैथुन करने वाले, पुरुष के समक्ष रति करने वाले और प्रव्रजिता (संन्यासिनी) का संभोग करने वाले पुरुष को चौबीस पण दण्ड लगता है ॥ २९३ ॥

अन्त्याभिगमने त्वङ्कथः कुबन्धेन प्रवासयेत् ।

शूद्रस्तर्थाऽन्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥ २९४ ॥

किंच, अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं स्वन्यजस्त्रियम्' (८।३।८५) इति मनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुबन्धेन कुत्तितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्राच्चिर्वासयेत् । प्रायश्चित्तानभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव । शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्य एव चाण्डाल एव भवति । अन्यजस्य पुनश्चाण्डालादेरुत्कृष्टजातिस्त्रियभिगमे वध एव ॥ २९४ ॥

भाषा—चाण्डाली से संभोग करने वाले पुरुष को, उसके शरीर पर भग की आकृति दागकर अपने राज्य से निर्वासित कर दे। शूद्र पुरुष (चाण्डाली संभोग से) चण्डाल ही हो जाता है और उत्तम जाति की स्त्री से रति करने पर चाण्डाल का वध होता है ॥ २९४ ॥

इति स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् ।

अथ प्रकीर्णकप्रकरणम् २५

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाख्यमप्यपरं विवादपदं मनुनारदाभ्यां विवृतम् । तत्र नारदः (१।१।१)—'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसा च कीर्यते । स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति ॥ मनुरप्याह (९।२)—'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् । विषयेषु च सजन्त्यः संस्थाप्या ह्यारमनो

१. अन्त्याभिगमने***॥ २९३ ॥ २. चाधिमेहतः । विद्वान्दण्डपणो दण्डः ।
३. स्वेच्छमा योषां । ४. स्वाङ्कथ । ५. कुबन्धेन । ६. स्तथाऽङ्कथ ।

वशे ॥ इत्यादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धः, तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरस्परया वा विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ । इतरथा दोषभागभवतीति व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्येऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातस्योपदेशः । एतच्च विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरुक्तम् ॥

सांप्रतं प्रकीर्णकार्ख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते । तद्वल्लक्षणं च कथितं नारदेन (१७-१-४) - 'प्रकीर्णकेषु विज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः । राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा ॥ पुरःप्रदानं संभेदैः प्रकृतीनां तथैव च । पाखण्डिनैगमश्रेणिगणधर्मविपक्षयाः ॥ पित्रापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यसंक्रमः । प्रतिग्रहविलोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि ॥ वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा । न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णके ॥' इति ॥ प्रकीर्णकं विवादपदे ये विवादा राजाज्ञोल्लङ्घनतदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः । नृप एव तत्र स्मृत्याचारव्यपेतमार्गे वर्तमानानां प्रतिकूलतामास्थाय व्यवहारनिर्णयं कुर्यात् ॥ एवं च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाज्ञातं भवति ॥

तत्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

‘ऊनं वाऽभ्यधिकं वाऽपि लिखेद्यो राजशासनम् ।

पारदारिकचौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः ॥ २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणान्न्यूनत्वमाधिक्यं वा प्रकाशयन् राजशासनं योऽभिलिखति, यश्च पारदारिकं चौरं वा गृहीत्वा राज्ञेऽनर्पयित्वा मुञ्चति तावुभावुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २९५ ॥

भाषा—जो राजा की आज्ञा को घटा-बढ़ाकर लिखता है और जो परायी स्त्री से व्यभिचार करने वाले या चोर को पकड़ करके भी छोड़ देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २९५ ॥

प्रसङ्गाच्च नृपाश्रयव्यतिरिक्तव्यवहारविषयमपि दण्डमाह—

अभक्ष्येण द्विजं दूष्यो दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।

मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमधिकम् ॥ २९६ ॥

१. नृपसमीपं । २. णके पुनर्ज्ञेया । ३. भेदश्च । ४. न्यूनं वा । ५. वाऽपि यो लिखेद्वाज । ६. वाऽप्यधि । ७. चौरौ । ८. द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण दण्ड्य उत्तमसाहसम् । क्षत्रियं मध्यमं वैश्यं प्रथमं शूद्रमधिकम् । अभक्ष्यैर्दूषयन् विप्रं दण्ड उत्तमसाहसम् ।

मूत्रपुरीषादिना अभक्ष्येण भक्ष्यान्हेण दूष्यान्नपानादिसिन्धवेन स्वरूपेण वा ब्राह्मणं दूषयित्वा स्वादयित्वोत्तमसाहसं दण्ड्यो भवति । चित्रियं पुनरेवं दूषयित्वा मध्यमम्, वैश्यं दूषयित्वा प्रथमम्, शूद्रं दूषयित्वा प्रथमसाहस-
स्यार्धम्, 'दण्ड्यो भवति' इति संबन्धः । लशुनाद्यभक्ष्यदूषणे तु दोषतारत-
म्यादण्डतारतम्यमूहनीयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—मूत्र, पुरीष आदि अपवित्र या अभक्ष्य पदार्थ द्वारा ब्राह्मण के अन्न और जल को दूषित करने वाला उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है । चित्रिय को इस प्रकार दूषित करने वाला मध्यम साहस के, वैश्य को दूषित करने वाला प्रथम साहस के और शूद्र को इस प्रकार दूषित करने वाला प्रथम साहस के आधा दण्ड के योग्य होता है ॥ २९६ ॥

कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।

ज्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥ २९७ ॥

किंच, रसवेधाद्यापादितवर्णोत्कर्षैः कूटैः स्वर्णव्यवहारशीलो यः स्वर्णका-
रादिः । यश्च विमांसस्य कुत्तितमांसस्य आदिसंबन्धस्य विक्रयशीलः सौनिकादिः
'च'शब्दात्कूटरजतादिव्यवहारी च, ते सर्वे प्रत्येकं नासाकर्णकरैश्चिभिरङ्गैर्हीनाः
कार्याः । 'च'शब्दात्त्यङ्गच्छेदेन समुच्चितमुत्तमसाहसं दण्डं दाप्याः । यत्पुनर्मनु-
नोक्तम् (१-२९२)—'सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्तमान-
मन्याये द्वेदयेऽश्वशः चुरैः ॥' इति,—तदेतद् देवब्राह्मणराजस्वर्णविषयम् ॥ २९७ ॥

भाषा—कूट स्वर्ण (सोने का पानी चढ़ाकर बनाये गये खोटे सोने) का व्यवहार करने वाले और निषिद्ध अर्थात् कुत्ते आदि का मांस बेचने वाले के तीन अंग (नाक, कान और हाथ) काट कर उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २९७ ॥

विषयविशेषे दण्डाभावमाह—

चतुष्पादकृतो दोषो नापेहीति प्रजल्पतः ।

काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुग्यकृतस्तथा ॥ २९८ ॥

चतुष्पादगौर्गजादिभिः कृतो यो दोषो मनुष्यमारणादिरूपोऽसौ गवादि-
स्वामिनो न भवति, अपसरेति प्रकर्षेणोच्चैर्भाषमाणस्य । तथा लङ्कुटलोष्टसायक-
पाषाणोत्प्रेषणेन बाहुना युगेन च युगं वहताश्वादिना कृतो यः पूर्वोक्तो दोषः
सोऽपि काष्ठादीन्प्राप्त्यतो न भवत्यपसरेति प्रजल्पतः । काष्ठाद्युत्प्रेषणेन हिंसायां
दोषाभावकथनं दण्डाभावप्रतिपादनार्थम् । प्रायश्चित्तं पुनरनुद्विपूर्वकरणनिमित्त
मस्येव । काष्ठादिग्रहणं च शक्तितोमरादेरुपलक्षणार्थम् ॥ २९८ ॥

भाषा—‘हटो हटो’ इस प्रकार चिल्लाकर स्वामी के सावधान करने पर भी यदि चौपाए (गाय, बैल, हाथी आदि) कोई दोष करें अर्थात् किसी को मार दें तो स्वामी का दोष नहीं होता; इसी प्रकार हटने के लिये आवाज देते हुए काठ, डेला, बाण, पत्थर फेंकने से, हाथ चलाने से और रथ में जुते हुए घोड़ों से किसी को चोट लगने पर भी फेंकने, चलाने या हॉकने वाले का दोष नहीं होता ॥ २९८ ॥

छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ।

पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाभ्यदोषभाक् ॥ २९९ ॥

किंच, नसि भवा रज्जुर्नस्या छिन्ना शकटादियुक्तबलीवर्दनस्या रज्जुर्यस्मिन्याने तत् छिन्ननस्यं शकटादि तेन, तथा भग्नयुगेन ‘आदि’ग्रहणाङ्गना-त्तचक्रादिना च यानेन पश्चात्पृष्ठतोऽपसरता ‘च’शब्दात्तिर्यगपगच्छता प्रतिमुखं वागच्छता च मनुष्यादिहिंसने स्वामी प्राजको वा दोषभाङ्ग न भवति । अतःप्रयत्नजनितत्वाद्धिसनस्य । तथा च मनुः (८।२९१।२९२)—‘छिन्ननस्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्रश्च्योस्तथैव च । आक्रन्दे सत्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥’ इति ॥ २९९ ॥

भाषा—गाड़ी में बैलों को नाँधने के लिए लगी हुई रस्सी (जोता) के टूटने पर और जुए आदि के टूटने से तथा यान (गाड़ी) के पीछे चलने से किसी मनुष्य आदि की हिंसा हो जाय तो यान का स्वामी दोषी नहीं होता ॥ २९९ ॥

उपेक्षायां स्वामिनो दण्डमाह—

शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।

प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अप्रवीणप्राजकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गजादिभिः शृङ्गिभिर्गवादिभिर्वध्यमानं समर्थोऽपि तत्स्वामी यद्यमोक्षयन्नुपेक्षते, तदा अकुशलप्राजकनियोजननिमित्तं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात् । यदा तु ‘मारितोऽहम्’ इति विक्रुष्टेऽपि न मोक्षयति तदा द्विगुणम् । यदा पुनः प्रवीणमेव प्राजकं प्रेरयति तदा प्राजक एव दण्ड्यो न स्वामी । यथाह मनुः (८।२९४)—‘प्राजकश्चेद्भवेदासः प्राजको दण्डमर्हति’ इति ॥ प्राजको यन्ता । आसोऽभियुक्तः । प्राणिविशेषाच्च दण्डविशेषः कल्पनीयः । यथाह मनुः (८।२९६-९८)—‘मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किरिषी भवेत् ।

प्राणभृत्सु महस्वर्धं गोगजोद्गृहयादिषु ॥ छुदाणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवेदण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः । मापकस्तु भवेदण्डः श्वशूकरनिपातने ॥' इति ॥ ३०० ॥

भाषा—दाँत वाले (हाथी आदि) और सींग वाले (बैल आदि) पशुओं का स्वामी यदि समर्थ होते हुए भी इनके आक्रमण से किसी को न छुड़ावे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है और यदि उस व्यक्ति के (जिसे पशु मार रहा हो) रक्षा के लिये चिढ़ाने पर भी नहीं बचाता तो वह प्रथम साहस के दण्ड से दूना दण्ड का भागी होता है ॥ ३०० ॥

जारं चौरैर्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।

उपजीव्य धनं मुञ्चस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच, स्ववंशकलङ्कभयाजारं पारदारिकं 'चौर ! निर्गच्छे'त्यभिवदन् पञ्चशतं पणानां पञ्च शतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तस्तं दमं दाप्यः । यः पुनर्जारहस्ताद्धनमुपजीव्य उत्कोचरूपेण गृहीत्वा जारं मुञ्चत्यसौ यावद् गृहीतं तावदष्टगुणीकृतं दण्डं दाप्यः ॥ ३०१ ॥

भाषा—यदि कोई अपने कुल की प्रतिष्ठा बचाने के लिए जार (अर्थात् व्यभिचारी) को चोर-चोर कहकर भाग जाने दे तो उससे पाँच सौ पण दण्ड लेना चाहिए और यदि उस जार से उत्कोच के रूप में धन लेकर उसे छोड़ दे तो उसके अठगुना दण्ड होता है ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।

तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच, राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रैस्तोत्रादेः प्रकर्षेण भूयो धूयो वक्तारं तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिणं निन्दाकरणशीलं तदीयस्य च मन्त्रस्य स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतोः परराष्ट्रापक्षयकरस्य वा भेत्तारं भमित्रकर्णेषु जपन्तं तस्य जिह्वामुत्कृत्य स्वराष्ट्राग्निकासयेत् । कोशापहरणादौ पुनर्वध एव । (मनुः ९।२७५)—'राज्ञः कोशापहतृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां^३ चोपकारकान् ॥' इति मनुस्मरणात् । विविधैः सर्वस्वापहाराङ्गच्छेदवधरूपैरित्यर्थः । सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरणं तन्नापहर्तव्यम् चौर्योपकरणं विना । यथाह नारदः—(१७।१०, ११) 'आयुधान्यायुधीयानां बाह्यादीन्वाह्यजीविनाम् । वेश्यास्त्रीणामलंकारान्वाद्यातोद्यादि तद्विदाम् ॥ यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥' इति ।

ब्राह्मणस्य पुनः 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' (गौ० १२।४६) इति निषेधाद्वध-
स्थाने शिरोमुण्डनाविकं कर्तव्यम्—'ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरास्त्रिवासनाङ्कने ।
ललाटे चाभिश्शस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—पुनः पुनः राजा का अहित कहने वाले, उसकी निन्दा करने
वाले और उसकी (राजनीति की) गुप्त बातों को खोलने वाले की जीभ
काटकर अपने राज्य से निकाल देना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मृताङ्गलश्रविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ।

राजयानासनारोदुर्दण्ड उत्तमसाहसः ॥ ३०३ ॥

किंच' मृतशरीरसंबन्धिनो वस्त्रपुष्पादेर्विक्रेतुः गुरोः पित्राचार्यादेस्ताडयितुः
तथा राजानुमतिं विना तद्यानं गजाश्वादि आसनं सिंहासनादि आरोहतश्चोत्तम-
साहसो दण्डः ॥ ३०३ ॥

भाषा—शव के ऊपर की वस्तु (वस्त्र आदि) बेचने वाले, पिता एवं
आचार्य आदि को ताड़ना देने वाले और राजा की सवारी या सिंहासन पर
बैठने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ ३०३ ॥

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ।

विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः ॥ ३०४ ॥

किंच, यः पुनः क्रोधादिना परस्य नेत्रद्वयं भिनत्ति । यश्च ज्योतिःशास्त्रवित्
गुर्वादिहितेच्छुर्व्यतिरिक्तो राज्ञो द्विष्टमनिष्टं 'संवत्सरान्ते तव राज्य-
च्युतिर्भविष्यति' इत्येवमादिरूपमादेशं करोति । तथा च यः शूद्रो भोजनार्थं
यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि धारयति तेषामष्टशतो दमः । अष्टौ पणशतानि
यस्मिन्दमे स तथोक्तः । 'श्राद्धभोजनार्थं पुनः शूद्रस्य विप्रवेषधारिणस्तप्त-
शलाकया यज्ञोपवीतवद्दपुण्यालिखेत्' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । वृत्त्यर्थं तु
यज्ञोपवीतादिब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव ।—'द्विजातिलिङ्गिनः शूद्रान्घातयेत्'
इति स्मरणात् ॥ ३०४ ॥

भाषा—किसी की दोनों आँखें फोड़ने वाले, राजा के अनिष्ट (राज्यनाश
आदि) की बात फैलाने वाले और शूद्र होकर ब्राह्मण का वेष बनाकर
जाँविका निर्वाह करने वाले को आठ सौ पण दण्ड होता है ॥ ३०४ ॥

रागलोभादिनाऽन्यथा व्यवहारदर्शने दण्डमाह—

दुर्दृष्टास्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नुपेण तु ।

सभ्याः सजयिनो दण्डया विवादाद् द्विगुणं दमम् ॥ ३०५ ॥

१. न शारीरो दण्डः । २. मध्यमसाहसः । ३. हितेषु । ४. सभ्य-
वद्भा तु दुर्दृष्टान्ध । ५. द्विगुणं पृथक् ।

दुर्दृष्टान्स्मृत्याचारप्राप्तधर्मोद्ध्वनेन रागलोभादिभिरसम्यग्विचारितत्वेनाश-
ङ्क्यमानान् व्यवहारान्पुनः स्वयं राजा सम्यग्विचार्य निश्चितदोषाः पूर्वसभ्याः
सजयिनः प्रत्येकं विवादपदे यो दमः पराजितस्य तद्विगुणं दाप्याः । अप्राप्तजेतु-
दण्डविधिपरत्वाद्बचनस्य रागालोभादित्यादिना श्लोकेनापौनरुक्त्यम् । यदा
पुनः साक्षिदोषेण व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं ज्ञातं तदा साक्षिण एव दण्डयाः, न
जयी नापि सभ्याः । यदा तु राजानुमत्या व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं ज्ञातं तदा
सर्व एव राजसहिताः सभ्यादयो दण्डनीयाः ।—‘पादो गच्छति कर्तारं पादः
साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥’ (८।१७) इति
वचनात् । एतच्च प्रत्येकं राजादीनां दोषप्रतिपादनपरं, न पुनरेकैस्यैव पापा-
पूर्वस्य विभागाय । यथोक्तम्—‘कर्तृसमवायिफलजननस्वभावत्वादपूर्वस्य’ इति ॥
भाषा—पहले सभासदों द्वारा अधर्मपूर्वक देखे गये व्यवहार पर फिर से
न्याय के साथ विचार करके राजा पहले विजयी घोषित किये गये व्यक्ति
और सभासदों से विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड होता हो उसका
दूना धन पृथक्-पृथक् ले ॥ ३०५ ॥

न्यायतो निर्णीतव्यवहारस्य प्रत्यावर्तयितुर्दण्डमाह—

यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।

तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद् द्विगुणं दमम् ॥ ३०६ ॥

यः पुनर्न्यायमार्गेण पराजितोऽपि औद्धत्यात् ‘नाहं पराजितोऽस्मि’ इति
मन्यते तमायान्तं कूटलेख्याद्युपन्यासेन पुनर्धर्माधिकारिणमभितिष्ठन्तं धर्मेण
पुनः पराजयं नीत्वा द्विगुणं दण्डं दापयेत् ॥ नारदेनाप्युक्तम्—‘तीरितं चानुशि-
ष्टं च मन्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥’ इति ।
तीरितं साक्षिलेख्यादिनिर्णीतमनुद्धृतदण्डम् । अनुशिष्टमुद्धृतदण्डम् । दण्डप-
र्यन्तं नीतमिति यावत् । यत्पुनर्मनुवचनम् (१।२३३)—‘तीरितं चानुशिष्टं
च यत्र कचन विद्यते । कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्प्राज्ञो निवर्तयेत् ॥’ इति,
तदर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरवचनाद्व्यवहारस्याधर्मतो वृत्तत्वाशङ्कायां पुनर्द्विगुणदण्ड-
प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारं प्रवर्तयेत्, न पुनर्धर्मतो वृत्तत्वनिश्चयेऽपि राजा लोभा-
दिना प्रवर्तयितव्य इत्येवंपरम् । यत्पुनर्नृपान्तरेणापि न्यायापेतं कार्यं निर्वर्तितं
तदपि सस्यक्परीक्षणेन धर्म्यं पथि स्थापनीयम् । ‘न्यायापेतं यदन्येन राज्ञा ज्ञान-
कृतं भवेत् । तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत् ॥’ इति स्मरणात् ॥ ३०६ ॥

भाषा—जो न्यायतः पराजित होने पर भी स्वयं को पराजित नहीं मानता
उसे पुनः धर्मपूर्वक पराजित करके राजा उससे दुगुना दण्ड वसूल करे ॥ ३०६ ॥

१. अपिसहिताः । २. दुर्दृष्टता तदा । ३. रेकैकस्यैव ।

अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिमाह—

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ।

निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिशद्वगुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥^२

अन्यायेन यो दण्डो राज्ञा लोभादिना गृहीतस्तं त्रिशद्वगुणीकृतं वरुणा-
येदमिति संकल्प्य ब्राह्मणेभ्यः स्वयं दद्यात् । यस्मादण्डरूपेण यावद् गृहीतम्-
न्यायेन तावत्तस्मै प्रतिदेयम्, इतरथापहारदोषप्रसङ्गात् । अन्यायदण्डग्रहणे
पूर्वस्वामिनः स्वत्वविच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

इति श्रीमत्पद्मनाभमट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षराख्यायां याज्ञवल्कीयधर्म-

शास्त्रविवृतौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराख्यः संपूर्णः ॥

अथास्मिन् अध्याये प्रकरणानुक्रमणिका कथ्यते । आद्यं साधारणव्यवहारमा-
तृकाप्रकरणम् १ । असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ । ऋणादानम् ३ ।
उपनिधिप्रकरणम् ४ । साधिप्रकरणम् ५ । लेख्यप्रकरणम् ६ । दिव्यप्रकरणम्
७ । दायविभागः ८ । सीमाविवादः ९ । स्वामिपालविवादः १० । अस्वामिवि-
क्रयः ११ । दत्ताप्रदानिकम् १२ । क्रीतानुशयः १३ । अभ्युपेत्याशुभूषा १४ ।
संविद्व्यतिक्रमः १५ । वेतनादानम् १६ । धूतसमाह्वयाख्यम् १७ । वाक्पाद-
व्यम् १८ । दण्डपादव्यम् १९ । साहसम् २० । विक्रियासंप्रदानम् २१ । संभूय-
समुत्थानम् २२ । स्तेयप्रकरणम् २३ । स्त्रीसंग्रहणम् २४ । प्रकीर्णकम् २५ ।

इति पञ्चविंशतिप्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः ।

धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥ १ ॥

भाषा—यदि राजा ने अन्याय से कोई दण्ड लिया हो तो स्वयं उसका
तीस गुना करके उसे वरुण देवता के लिये संकल्प करके ब्राह्मणों को देवे,
(और जिससे जितना धन अन्यायपूर्वक लिया हो उसे उतना धन लौटा
देवे) ॥ ३०७ ॥

आचाराध्याय समाप्त

१. अन्यायेन तु यो दण्डो । २. राजमिदं दण्डास्तु कृत्वा पापानि
मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमावाप्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ एवमुद्वृतदण्डानां
विशुद्धिः पापकर्मिणाम् । स्वधर्मस्थापनाद्वाना प्रजारयो धर्ममरुते ॥ यत्र
दण्डविधिर्नोक्तः सर्वैरेव मदात्मनिः । देसकालादि संचिन्त्य तत्र दण्डो
विधीयते ॥

प्रायश्चित्ताध्यायः

अथाशौचप्रकरणम्

गृहस्थाश्रमिणां नित्यनैमित्तिका धर्मा उक्ताः । अभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिताः । अधुना तदधिकारसंकोचहेतुभूताशौच-प्रतिपादनमुखेन तेषामपवादाः प्रतिपाद्यन्ते । 'आशौच'शब्देन च कालस्नाना-द्यपनोद्यः पिण्डोदकदानादिविधेः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूतः पुरुष-गतः कश्चनातिशयः कथ्यते, न पुनः कर्मानधिकारमात्रम् । 'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे' (मनुः ५।५८) इत्यादावशुद्धत्वाभिधानात् । 'अशुद्ध'शब्दस्य च वृद्ध-व्यवहारेऽनाहिताग्निदीप्तितादावनधिकारिमात्रे प्रयोगाभावात् वृद्धव्यवहार-व्युत्पत्तिनिवन्धनत्वाच्च शब्दार्थावगतेः । किंच यथाशौचिनां दानादिनिषेध-दर्शनात्तद्योग्यत्वमाशौचशब्दाभिधेयं कल्प्यते तर्हि उदकदानादिविधिदर्शनात् तद्योग्यत्वमप्याशौचशब्दाभिधेयं स्यात् तत्रानेकार्थकल्पनादोषप्रसङ्ग इत्युपेक्षणी-योऽयं पक्षः ॥

तत्राशौचिभिः सपिण्डाद्यैर्यत्कर्तव्यं तत्तावदाह—

ऊनद्विवर्षं निष्कनेन्न कुर्यादुदकं ततः ।

आशमशानादनुव्रज्य इतरो ज्ञातिभिर्वृतः ॥ १ ॥

यमसूक्तं तथा गाथा जपद्भिलौकिकाग्निना ।

स दग्धस्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृतार्थवत् ॥ २ ॥

ऊने अपरिपूर्णं द्वे वर्षे यस्यासावूनद्विवर्षस्तं प्रेतं निखनेत् भूमाववटं कृत्वा निदध्याच्च पुनर्द्वेदित्यर्थः । न च 'सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकम्' (प्रा. ४) इत्यादिभिः प्रेतोद्देशेन विहितमुदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् । अयं च गन्धमाद्यानुप-लेपनादिभिरलंकृत्य शुचौ भूमौ शमशानादन्यत्रास्थिनिचयरहितायां बहिर्ग्रामा-ज्जिखननीयः । यथाऽऽह मनुः (५।६८-६९)—'ऊनद्विवापिकं प्रेतं निदध्यु-बान्धवा बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ नास्य कार्योऽग्नि-संस्कारो नापि कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवत्यक्त्वा क्षिपेयुस्त्रयहमेव तु ॥' इति । 'अरण्ये काष्ठवत्यक्त्वा' इत्यस्यायमर्थः—यथाऽरण्ये काष्ठं त्यक्त्वो-दासीनास्तद्विषये भवन्ति तथोनद्विवापिकमपि स्वातायां भूमौ परित्यज्य तद्विषये श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु उदासीनैर्भवितव्यमित्याचारादिप्राप्तश्राद्धाद्यभावोऽ-नेन दृष्टान्तेन सूच्यते । स च घृतेनाभ्यज्य यमगाथाः पठद्भिर्निधातव्यः ।

१. अत्राशुद्धशब्दस्य च व्यवहारेणाहिताग्नि । २. आशमशानमनु-
व्रज्य । ३. मृतः । ४. नास्य । ५. शवश्च । ६. गायद्भिः ।

‘ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्वहिः । यमगाथा गायमानो यमसूक्त-
मनुस्मरन् ॥’ इति यमस्मरणात् ॥ ततस्तस्मादूनद्विवार्षिकादितरपूर्णद्विवर्षो-
यो मृतोऽसौ श्मशानपर्यन्तं ज्ञातिभिः सपिण्डैः समानोदकैश्च ज्येष्ठः पुरः-
सरैरनुव्रज्योऽनुगन्तव्यः । अस्मादेव वचनादूनद्विवर्षस्यानुगमनमनियतमिति
गम्यते । अनुगम्य च ‘परेयिवासम्’ (ऋ० ७, अ० ६, । १४, ५, ६)
इत्यादि यमसूक्तं यमदैवत्या गाथाश्च जपद्विलौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना
दग्धव्यो यदि जातारणिर्नास्ति । तत्सद्भावे तु तन्मथितेन दग्धव्यो न
लौकिकेन । तस्याग्निसंपाद्यकार्यमात्रार्थत्वेनोत्पत्तेः । लौकिकाग्निश्च चण्डालादि-
व्यतिरिक्तो ग्राह्यः; ‘चण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतित-
विनश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिताः ॥’ इति देवलस्मरणात् ॥ लौगाक्षिणा चात्र
विशेष उक्तः—‘तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृतचूडानाम-
न्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥’ इति अयमर्थः—‘चौलकर्मानन्तरकाले नियमेनान्युद-
कदानं कार्यम् । अन्यत्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृतचूडेऽपीच्छया प्रेताभ्युदयकाम-
नया द्वयं अन्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यं, न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र
विशेषो दर्शितः (५।७०)—‘नान्निवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातद-
न्तस्य वा कुर्याज्जाग्निं वाऽपि कृते सति ॥’ इति । ‘उदकग्रहणं’ साहचर्यादग्निसं-
स्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । ‘नान्निवर्षस्य’ इति वचनात् । कुलधर्मापेक्षया चूडो-
त्कर्षेऽपि वर्षत्रयादूर्ध्वमन्युदकदानादनियमोऽवगम्यते । लौगाक्षिवचनाद्वर्षत्रया-
स्त्रागपि कृतचूडस्य तयोर्नियम इति विवेचनीयम् । उपेतश्चेद्यद्युपनीतस्तर्हि
आहिताग्न्यावृता आहिताग्नेर्दाहप्रक्रियया स्वगृहादिप्रसिद्धया लौकिकाग्निर्नैव
दग्धव्यः । अर्थवत्प्रयोजनवत् । अयमर्थः—यद्यस्य वत्सं दाहद्वारं कार्यरूपं
प्रयोजनं सम्भवति । भूमिजोषणप्रोक्षणादि तदुपादेयम् । यत्पुनर्लुप्तप्रयोजनं
पात्रयोजनादि तन्नवर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेनोपनीतस्य अनाहिताग्ने-
र्गृह्याग्निना दाहविधानेन च अपहृतप्रयोजनत्वादाहवनीयादेरपि निवृत्तिरिति ॥
अग्न्यन्तरविधानं च वृद्धयाज्वत्स्वयेनोक्तम्—‘आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रि-
भिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरो जनः ॥’ इति । न च शूद्रेण
श्मशानं प्रति अग्निकाष्ठादिनयनं कार्यम् ; ‘यस्यानयति शूद्रोऽग्निं तृणं काष्ठं
हवींषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स चाधर्मेण लिप्यते ॥’ इति यमस्मरणात् ॥
तथा दाहश्च स्नपनाद्यनन्तरं कार्यः—‘प्रेतं दहेच्छुभैर्गन्धैः स्नापितं स्रग्विभूषि-
तम्’ इति स्मरणात् । प्रचेतसाऽप्युक्तम्—स्नानं प्रेतस्यः पुत्राद्यैर्वस्त्राद्यैः पूजनं

१. उदकदानात्मकं । २. आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया । ३. आहि-
ताग्नेः स्वगृहाग्निना ।

तथा । नग्नं दहेन्नैव किञ्चिद्देयं परित्यजेत् ॥' इति; किञ्चिद्देयमिति शववस्त्रैक-
देशं श्मशानवास्यर्थं देयं परित्यजेदित्यर्थः ॥ तथा प्रेतनिर्हारेणऽपि मनुना विशेषो
दर्शितः (५।१०४) — 'न विप्रं स्वेषु तिष्ठन्सु मृतं शूद्रेण हारयेत् । अस्वर्ग्या
ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ॥' अत्र च स्वेषु तिष्ठन्सु इत्यविवक्षितम् ।
अस्वर्ग्यत्वादिदोषश्रवणात् ॥ — 'दक्षिणेन मृतं शूद्रं परद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमो-
त्तरपूर्वेस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ॥' तथा हारीतोऽपि — 'न ग्रामाभिमुखं प्रेतं
हरेयुः' इति ॥ यदा तु प्रोषितमरणे शरीरं न लभ्यते तदास्थिभिः प्रतिकृतिं कृत्वा
तेषामप्यलभे पर्णशरैः शौनकादिगृह्योक्तमार्गेण प्रतिकृतिं कृत्वा संस्कारः कार्यः ।
आशौचं चात्र दशाहादिकमेव । 'आहिताग्निश्चेत्प्रवसन्निव्रियेत पुनः संस्कारं कृत्वा
शववदाशौचम्' (४।३७) इति वसिष्ठस्मरणात् । अनाहिताग्निस्तु त्रिरात्रम् ;
'सुपिष्टैर्जलसंमिश्रैर्दध्मश्च तथाग्निना । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्युक्त्वा स
बान्धवैः ॥ एवं पर्णशरं दध्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति वचनात् ॥ ततश्चा-
यमर्थः — 'नामकरणादर्वाङ्मिखननमेव, न चोदकदानादि । तत ऊर्ध्वं यावत्त्रिवर्षं
वैकल्पिकमग्न्युदकदानम् । ततः परं यावदुपनयनं तूष्णीमेवाग्न्युदकदानं निय-
तम् । वर्षत्रयाप्रागपि कृतचूडस्य । उपनयनादूर्ध्वं पुनराहिताग्न्यावृता दाहं
कृत्वा सर्वमौर्ध्वदेहिकं कार्यम् । अयं तु विशेषः — उपनीतस्य लौकिकाग्निना दाहः
कार्यः । अनाहिताग्नेर्गृह्याग्निना दाहो यथासंभवं पात्रयोजनं च कार्यम् ॥ १-२ ॥

भाषा — दो वर्ष से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे भूमि में
गाड़ देना चाहिए और उसके लिए उदकदान (प्रेत को उद्दिष्ट कर दी जाने
वाली उदकांजलि) नहीं करना चाहिए । उससे अधिक आयु वाले के मरने
पर जाति वालों (सपिण्ठों) के साथ श्मशान तक (शव के पीछे-पीछे)
जावें । यमसूक्त और गाथा का पाठ करते हुए (यदि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री
न रहा हो तो) लौकिक अग्नि से उसका दाह करे; यदि उसका यज्ञोपवीत
हुआ हो तो अपने गृह में बताई गई लौकिक अग्नि से प्रयोजन के अनुसार
दाह करे ॥ १-२ ॥

संस्कारानन्तरं किं कर्तव्यमित्यत आह —

सप्तमादशमाद्यापि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।

अप नः शोशुचदधमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥

सप्तमाद्विंशत्तर्वाद्दशमदिवासाद्वा ज्ञातयः समानगोत्राः सपिण्डाः समा-
नोदकाश्च 'अप नः शोशुचदधम्' (ऋ. सं. १।७।५) इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणा-
मुखाः अपः अभ्युपयन्ति । अभ्युपगमनेन तत्प्रयोजनभूतोदकदानविशिष्टमभ्युप-
गमनं कथ्यते; 'एवं मातामहाचार्य—' (प्रा० ४) इत्यनन्तरमुदकदानस्यातिदेश-

दर्शनात् । एतच्चायुग्मासु तिथिषु कार्यम् । 'प्रथमवृत्तीयपञ्चमसप्तमनवमेषूदक-
क्रिया' (१४।४०) इति गौतमस्मरणात् ॥ एतच्च स्नानानन्तरं कार्यम् ;
'शरीरमग्नौ संयोजयानवेक्षमाणा अपोऽभ्युपयन्ति' इति शातातपस्मरणात् ॥ तथा
प्रचेतसाप्यत्र विशेषो दर्शितः—'प्रेतस्य बान्धवा यथावृद्धमुदकमवतीर्य नोद्धर्ष-
येयुरुदकान्ते प्रसिञ्चेयुरपसव्ययज्ञोपवीतवाससो दक्षिणाभिमुखा ब्राह्मणस्योद-
ङ्मुखाः प्रेत्यङ्मुखाश्च राजन्यवैश्ययोः' इति । स्मृत्यन्तरे तु यावन्त्याशौचदिनानि
तावदुदकदानस्यावृत्तिरुक्ता । यथा ३ विष्णुः (१९।१३)—'यावदाशौचं ताव-
त्प्रेतस्योदकं पिण्डं च दद्यात्' इति ॥ तथा च प्रचेतसाप्युक्तम्—'दिने दिनेऽञ्ज-
लीन्पूर्णाङ्गप्रदद्यात्प्रेतकारणात् । तावद्वृद्धिश्च कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते ॥'
इति । प्रतिदिनमञ्जलीनां वृद्धिः कार्या, यावद्दशमः पिण्डः समाप्यत इत्यर्थः ॥
यद्यप्यनयोर्गुरुलघुकल्पयोरन्यतरानुष्ठानेनापि शास्त्रार्थः सिद्धस्तथापि बहुकलेशाव-
हत्वेन गुरुतरकल्पे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः प्रेतस्योपकारातिशयो भविष्यतीति कल्पनी-
यम् । अन्यथा गुरुतरकल्पोऽगनायस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् ॥ वसिष्ठेनापि विशेषोऽभि-
हितः । (४।१२)—'सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यामुदकक्रियां कुर्वीरन्' इति ॥ ३ ॥

भाषा—सातवें या दसवें दिन से पहले समान गोत्रवाले या सपिण्ड
पुरुष जल के समीप जाकर 'अप नः शोशुचदधम्' इस मन्त्र से पितरों की दिशा
दक्षिण की ओर मुख करके उदकदान करें ॥ ३ ॥

वक्ष्यमाणसकृत्प्रसेकस्य नामगोत्रादिभिर्गुणैर्विशिष्टस्योदकदानस्यासमान-
गोत्रेषु मातामहादिष्वतिदेशमाह—

एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदकक्रिया ।

कामोदकं सखिप्रेतास्वस्त्रीयश्वशुरत्विजाम् ॥ ४ ॥

यथा सगोत्रसपिण्डानां प्रेतानामुदकं दीयते तथा मातामहानामाचार्याणां
च प्रेतानां नित्यमुदकक्रिया कार्या । सखा मित्रं, प्रताः परिणीता दुहितृभगि-
न्यादयः, स्वस्त्रीयो भागिनेयः, श्वशुरः प्रसिद्धः, ऋत्विजो याजकाः, एतेषां
सख्यादीनां प्रेतानां कामोदकं कार्यम् । काम इच्छा, कामेनोदकदानं कामोदकं,
प्रेताभ्युदयकामनायां सधामुदकं देयम् ; असत्यां न देयमिति अकरणे,
प्रत्यवायो नास्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषा—इसी विधि से मातामह (नाना) और आचार्य के लिए भी
उदकदान किया जाता है । इच्छानुसार मित्र, विवाहिता पुत्री या बहन,
भागिनेय, श्वशुर और ऋत्विज के लिए भी उदकदान करे ॥ ४ ॥

१. प्राङ्मुखाश्च । २. कल्पनीयस्या । ३. स्य समान । ४. प्रेतानां
चोदकक्रिया । ४. प्रतस्वस्त्रीय ।

उदकदाने गुणविधिमाह—

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण वाग्यताः ।

तच्चोदकदानमिदं कर्तव्यम्—सपिण्डाः समानोदकाश्च मौनिनो भूत्वा प्रेतस्य नामगोत्रे उच्चार्य 'अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यतु' इति सकृदेवोदकं प्रसिञ्चेयुः त्रिर्वा; 'त्रिः' प्रसेकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यतु' इति प्रचेतः स्मरणात् ॥ प्रतिदिनमञ्जलिबृद्धिस्तु प्रतिपादितैव । तथा अयमपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'नदीकूलं ततो गत्वा शौचं कृत्वा यथार्थवत् । वस्त्रं संशोधयेदादौ ततः स्नानं समाचरेत् ॥ सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः । पाषाणं तत आधाय विप्रे दद्याद्-शाञ्जलान् ॥ द्वादश चत्रिये दद्याद्द्वैत्ये पञ्चदश स्मृताः । त्रिंशच्छूद्राय दातव्या-स्ततः संप्रविशेद् गृहम् । ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहशौचं च कारयेत् ॥' इति ॥

सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह—

न ब्रह्मचारिणः कुर्युर्दकं पतितास्तथा ॥ ५ ॥

शांतिखे सत्यपि ब्रह्मचारिणः समावर्तनपर्यन्तं, पतिताश्च प्रच्युतद्विजातिक-माधिकाराः, उदकादिदानं न कुर्युः ॥ ब्रह्मचर्योत्तरकालं पूर्वमृतानां सपिण्डादीनां उदकदानमाशौचं च कुर्यादेव । यथाह मनुः (५।८८)—'आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति । आदिष्टी 'ब्रह्मचार्यसि अपोशान कर्म कुरु दिवा मा स्वाप्सीः' (आश्व० १।२२।२) इत्यादिभ्रतादेशयोगाद् ब्रह्मचार्युच्यते । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेणेति वक्ष्यति । 'आचार्यपित्रुपाध्यायान्' (प्रा० १।५) इति । अत्राचार्यः पुनरेवं मन्यते—आदिष्टीति प्रक्रान्तप्रायश्चित्तः कथ्यते, तस्यैवायमुदकदानादिनिषेधः प्रायश्चित्तरूपव्रतस्य समाप्त्युत्तरकालमुदकदानाशौचविधिरिति । तथा क्लीबादीनां चोदकदायित्वं निषिद्धम् ; 'क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना ब्राह्म्या विधर्मिणः । गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥' इति बृद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

भाषा—(सपिण्ड लोग) मौन होकर गोत्रसहित प्रेत (मृत व्यक्ति) का नाम लेकर एक बार (या तीन बार) उदकाञ्जलि दें । ब्रह्मचारी और पतित व्यक्ति उदकदान न करें ॥ ५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह—

पौलण्ड्यनाश्रिताः स्तेना भर्तृघ्नयः कामगादिकाः ।

सुराप्य आत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६ ॥

१. प्रत्येकं कुर्युः । २. आदाय । ३. त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति । ४. पाष-
ण्डाना । ५. आत्मघातिन्यो ।

नरशिरःकपालादिश्रुतिबाह्यलिङ्गधारणं पाखण्डम्, तद्विद्यते येषां ते पाखण्डिनः; अनाश्रिताः अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिग्रहाः । स्तेनाः सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः, भर्तृह्यः प्रतिघातिन्यः, कामगाः कुलटाः, 'आदि'ग्रहणात् स्वगर्भब्राह्मणघातिन्यो गृह्यन्ते । सुराप्यो यासां या सुरा प्रतिपिद्धा तत्पानरताः । आत्मत्यागिन्यः विषाग्न्युदकोद्धन्धनाद्यैरात्मानं यास्यजन्ति । एते पाखण्ड्यादयः 'त्रिरात्रं दशरात्रं वा' (प्रा० १८) वच्यमाणस्याशौचस्योदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकस्य च भाजना न भवन्ति । भाजयन्तीति भाजनाः; सपिण्डादीनामाशौचादिनिमित्तभूता न भवन्ति; अतस्तन्मरणे सपिण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्येतत्प्रतिपादनपरं वचनम् । अत्र 'सुराप्य' इत्यादिषु लिङ्गमविवक्षितम् ।—'लिङ्गं च वचनं देशः कालोऽयं कर्मणः फलम् । मीमांसाकुशलाः प्राहुरनुपादेय-पञ्चकम् ॥' इत्यनुपादेयगतत्वात् । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् ; यथाह गौतमः (१४।१२)—'प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्धन्धनप्रपतनैश्चेच्छ्रुताम्' इति । प्रायो महाप्रस्थानम्, अनाशकमनशनम्, गिरिशिखरादवपातः प्रपतनम् । अत्र चेच्छ्रुतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादकृते दोषो नास्तीत्यवगन्तव्यम् ; 'अथ कश्चित्प्रमादेन त्रियेताग्न्युदकादिभिः । तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया' इति अङ्गिरःस्मरणात् ॥ तथा सृष्ट्यविशेषादपि आशौचादिनिषेधः—'चाण्डालादुदकास्पर्साद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मिणाम् ॥ उदकं पिण्डदानं च प्रेतैर्यो यत्प्रदीयते । नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥' इति । एतदपीच्छापूर्वमात्महननविषयम् । गौतमवचनेनेच्छापूर्वकमेवोदकेन हतस्याशौचादिनिषेधस्योक्तत्वात् । अत्रापि 'चाण्डालादुदकास्पर्सात्' इति तत्साहचर्यदर्शनाद् बुद्धिपूर्वविषयस्त्वनिश्चयः । अतो दर्पादिना चाण्डालादीन्हन्तुं गतो यस्तैर्मारितस्तस्यायं 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इति विध्यतिक्रमनिमित्तः पिण्डदानादिनिषेधः । एवं दुष्टदंष्ट्राद्यादिग्रहणार्थनाभिमुख्येन दर्पाद्वच्छतो मरणेऽप्ययं निषेध इत्यनुसंधेयम् । अयं चाशौचप्रतिषेधो दशाहादिकालावच्छिद्यस्य; 'हतानां नृपगोविप्रैरन्वचं चात्मघातिनाम्' (प्रा० २१) इति सद्यःशौचस्य वच्यमाणत्वात् । तथा दाहादिकमप्येषां न कार्यम् ; 'नाशौचं नोदकं नाश्रु न दाहाद्यन्त्यकर्म च । ब्रह्मदण्डहतानां च न कुर्यात्कटधारणम् ॥' इति यमस्मरणात् । ब्रह्मदण्डहता ब्राह्मणदण्डहताः । प्रेतवहनसाधने खट्वादि 'कट'शब्देनोच्यते । न चाहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चेत्येव श्रुतिविहिताग्नि यज्ञपात्रादिप्रतिपत्तिलोपप्रसङ्गात् । अयं स्मार्तो दाहादिनिषेधो विप्रादिहताहिताग्निविषयं नास्कन्दतीत्याशङ्कनीयम् । यतश्चाण्डालादिह-

साहिताग्निसंबन्धिनामग्नियज्ञपात्राणां स्मृत्यन्तरे प्रतिपश्यन्तरं विधीयते—
 'वैतानं प्रक्षिपेदप्सु भावसथ्यं चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा
 मृते ॥' (जमदग्निः) इति । तथा तच्छरीरस्यापि प्रतिपश्यन्तरमुक्तम्; 'आत्मन-
 स्याग्निना नास्ति पतितानां तथा क्रिया । तेषामपि तथा गङ्गातोये संस्थापनं
 हितम् ॥' इति स्मरणात् । तस्मादविशेषेण सर्वेषां दहनादिनिषेधः । अतः
 स्नेहादिना निषेधातिक्रमे प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्; 'कृत्वाऽग्निमुदकं स्नानं स्पर्शनं
 वहनं कथाम् । रज्जच्छेदाश्रुपातं च तसकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥' इति स्मरणात् ।
 एतच्च प्रत्येकं बुद्धिपूर्वकं वेदितव्यम् । अबुद्धिपूर्वकमरणे तु 'एषामन्यतमं प्रेतं
 यो वहेत दहेत वा । कटोदकक्रियां कृत्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति संव-
 र्तोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यः पुनः 'तच्छुवं केवलं स्पृष्टमश्रु वा पातितं यदि । पूर्वोक्ता-
 नामकारी चेदेकरात्रमभोजनम् ॥' इति स्पर्शाश्रुपातयोरुपवास उक्तः ॥ असौ
 कृच्छ्रेष्वशक्तश्च तथा बन्धनच्छेदने दहने वा मासं भैक्षहारस्त्रिषत्रणं च' इति
 सुमन्तुना भैक्षाशिवमुक्तं, तदप्यशक्तस्यैव । एवमन्यान्यपि तद्विषयाणि स्मृति-
 वाक्यानि व्यवस्थापनीयानि । अयं च दाहादिप्रतिषेधो नित्यकर्मानुष्ठानासमर्थ-
 जीर्णवानप्रस्थादिव्यतिरिक्तविषयः; तेषामभ्यनुज्ञादर्शनात् । 'बुद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः
 प्रत्याख्यातमिषविक्रयः । आत्मानं घातयेद्यस्तु शृङ्गवन्धनज्ञानाश्रुभिः ॥ तस्य
 त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः । तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥
 इति स्मरणात् ॥

एवं येन येनोपाधिना आत्महननं शास्त्रतोऽभ्यनुज्ञायते तत्तद्व्यतिरिक्तमार्गे-
 णात्महनने श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनस्तेषां कार्यमित्यपेक्षायां वृद्ध्या-
 ज्ञवल्क्यज्जागलेयाभ्यामुक्तम्—'नासपणकलिः कार्यो लोकगर्हाभयाक्षरैः ।
 तथा तेषां भवेच्छौचं नान्यथैवमग्नीष्टमः । तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमज्ञमेव
 सदक्षिणम् ॥' इति । व्यासेनाप्युक्तम्—'नारायणं समुद्दिश्य शिवं वा
 यत्प्रदीयते । तस्याष्टादिकं कर्म तद्भवेत्तदव्यथा ॥' एवं इति । एवं नारायणबलिः
 प्रेतस्य शुद्धयापादनद्वारेण श्राद्धादिसंप्रदानस्वयोर्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिकम-
 पि सर्वं कार्यमेव । अत एव षट्त्रिंशन्मतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा द्रव्यते—
 'गोब्राह्मणहत्यानां च पतितानां तथैव च । ऊर्ध्वं संवत्सराकुप्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहि-
 कम् ॥' इति । एवं संवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणबलिं कृत्वौर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणबलिश्चेत्यं कार्यः—कस्यांचिच्छुक्लैकादश्यां विष्णुं वैवस्वतं यमं च
 यथावदभ्यर्च्य तत्समीपे मधुघृतप्लुतांस्तिलमिश्रान्दश पिण्डान्विष्णुरूपिणं प्रेत-
 मनुस्मरन् प्रेतनामगोत्रे उच्चार्य दक्षिणाम्रेषु दर्भेषु दक्षिणाभिमुखो द्रवा गन्धा-

दिभिरभ्यर्च्य पिण्डप्रवाहणान्तं कृत्वा नद्यां क्षिपेत्, न पत्न्यादिभ्यो दद्यात् ॥ ततस्तस्यामेव राश्यामयुग्मान्ब्राह्मणानामभ्योपोषितः श्वोभूते मध्याह्ने विष्णवाराधनं कृत्वा एकोद्विष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रक्षालनादितृप्तिप्रशनान्तं कृत्वा पिण्डपितृयज्ञावृतोल्लेखनाद्यवनेजनान्तं तूष्णीं कृत्वा विष्णवे ब्रह्मणे शिवाय यमाय च परिवारसहिताय चतुरः पिण्डान्दत्त्वा नामगोत्रसहितं तं प्रेतं संस्मृत्य विष्णोर्नाम संकीर्त्य पञ्चमं पिण्डं दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दक्षिणाभिस्तोषयित्वा तन्मध्ये चैकं गुणवत्तमं प्रेतबुद्ध्या संस्मरन् गोभूहिरण्यादिभिरतिशयेन संतोष्य ततः पवित्रपाणिभिर्विप्रैः प्रेताय तिलादिसहितमुदकं दापयित्वा स्वजनैः सार्धं भुञ्जीत ॥

सर्पहते स्वयं विशेषः—संवत्सरं यावत्पुराणोक्तविधिना पञ्चम्यां नागपूजां विधाय पूर्णं संवत्सरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नागं दद्यात्, गां च प्रत्यक्षां । ततः सर्वमौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् ॥

नारायणबलिस्वरूपं च वैष्णवेऽभिहितं यथा—‘एकादशीं समासाद्य शुक्लपक्षस्य वै तिथिम् । १ विष्णुं समर्चयेद्देवं यमं वैवस्वतं तथा ॥ दश पिण्डान् घृताभ्यक्तान्दर्भेषु मधुसंयुतान् । तिलमिश्रान्प्रदद्याद्देवं संयतो दक्षिणामुखः ॥ विष्णुं बुद्धौ समासाद्य नद्यभ्यसि ततः क्षिपेत् । नामगोत्रग्रहं तत्र पुष्पैरभ्यर्चनं तथा ॥ धूपदीपप्रदानं च भक्ष्यं भोज्यं तथा परम् । निमन्त्रयेत् विप्रान्वै पञ्च सप्त नवापि वा ॥ विद्यातपःसमृद्धान्वै कुलोत्पन्नान्समाहितान् । अपरेऽहनि संप्राप्ते मध्याह्ने समुपोषितः ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रांस्तानुपवेशयेत् । उदङ्मुखान्यथाज्येष्ठं पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णौ वै सर्वं कुर्यादतन्द्रितः । आवाहनादि यत्प्रोक्तं देवपूर्वं तदाचरेत् ॥ वृष्टान्ज्ञात्वा ततो विप्रांस्तृप्तिं पृष्ट्वा यथाविधि । हविष्यव्यञ्जनेनैव तिलादिसहितेन च ॥ पञ्च पिण्डान्प्रदद्याच्च देवं रूपमनुस्मरन् । प्रथमं विष्णवे दद्याद् ब्रह्मणे च शिवाय च ॥ यमाय सानुचराय चतुर्थं पिण्डमुत्सृजेत् । मृतं संकीर्त्य मनसा गोत्रपूर्वमतः परम् ॥ विष्णोर्नाम गृहीत्वैवं पञ्चमं पूर्ववत्क्षिपेत् । २ विप्रानाचभ्य विधिवदक्षिणाभिः समर्चयेत् ॥ एकं “विद्वत्तमं विप्रं हिरण्येन समर्चयेत् । गवा वस्त्रेण भूम्या च प्रेतं तं मनसा स्मरन् ॥ ततस्तिलाभ्यो विप्रास्तु हस्तैर्दर्भसमन्वितैः । क्षिपेयुर्गोत्रपूर्वं तु नाम बुद्धौ निवेश्य च ॥ हविर्गन्धतिलाभस्तु तस्मै दधुः समाहिताः । मित्रभृत्यजनैः सार्धं पश्चाद्भुञ्जीत वाग्यतः ॥ एवं विष्णुमते स्थित्वा यो दद्यादात्मघातिने । समुद्धरति तं क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ॥’ सर्पदंशनिमित्तं सौवर्णनागदानं प्रतिकृतिरूपेण भविष्यत्पुराणे सुमन्तुनाभिहितम्—‘सुवर्णभारनिष्पन्नं नागं कृत्वा तथैव गाम् । ग्यासाय दत्त्वा विधिवत्पितुरानृण्यमाणुयात् ॥’ इति ॥ ६ ॥

१. अर्चयेद् देवेशं । २. देवरूपं । ३. सानुचाराय । ४. विप्रेणाचभ्य । ५. बुद्धतमं ।

भाषा—पाखण्डी, अनाश्रित (जो किसी आश्रम में न हों), चोर, पति की हत्यारिणी और व्यभिचारिणी आदि स्त्रियाँ, सुरा पीने वाले और आत्महत्या करने वाले आशौचकाल में दिये जाने वाले उदकदान के पात्र नहीं होते । (अर्थात् इन्हें आशौच में उदकदान नहीं दिया जाता) ॥ ६ ॥

एवमुदकदानं सापवादप्रभिधायानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाद्वलसंस्थितान् ।

स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ ७ ॥

कृतमुदकदानं यैस्तान्कृतोदकान् स्नातान्सम्यगुदकादुत्तीर्णान्मृदुशाद्वले नवोद्भूतवृणप्रचयावृते भूभागो सम्यक्स्थितान् पुत्रादीन्कुलवृद्धाः पुरातनैरिति-
हासैर्वच्यमाणैरपवदेयुः शोकनिरसनसमर्थैर्वचोभिर्बोधयेयुः ॥ ७ ॥

भाषा—उदकदान के बाद स्वयं जल में स्नान करके जल से निकल कर (किनारे की) हरी घास पर बैठे हुए पुत्रादि जनों को पुरानी कथाएँ सुनाकर कुल के वृद्ध व्यक्ति उनके शोक को दूर करें ॥ ७ ॥

शोकनिरसनसमर्थेतिहासस्वरूपमाह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारं सारमार्गणम् ।

करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ ८ ॥

‘मनुष्य’शब्देन जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतजातं लक्ष्यते; तस्य भाव मानुष्यं; तत्र संसरणधर्मित्वेन कदलीस्तम्भवदन्तःसाररहिते जलबुद्बुदवदचिर-
विनश्यते संसारे सारस्य स्थिरस्य मार्गमन्वेष्टणं यः करोति स संमूढः अत्यन्त-
विनष्टचित्तः तस्मात्संसारस्वरूपवेदिभिर्भवद्भिरित्थं न कार्यम् ॥ ८ ॥

भाषा—जो व्यक्ति एक केले के स्तम्भ के समान निःसार और जल के बुलबुले के समान नश्वर इस मनुष्यलोक में स्थिरता की इच्छा करता है वह मूढ है ॥ ८ ॥

पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।

कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

किंच, जन्मान्तरात्मीयशरीरजनितैः कर्मबीजैः स्वफलोपभोगार्थं पञ्चधा पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकतया पञ्चप्रकारं संभृतो निर्मितः कायः स यदि फलोपभोगनिवृत्तौ पञ्चत्वमागतः पुनः पृथिव्यादिरूपतां प्राप्तस्तत्र भवतां किमर्था परिदेवना ? निष्प्रयोजनत्वाच्चानुशोचनं कर्तव्यम् ; वस्तुस्थितेस्तथा-
त्वात् । नहि केनचिद्वस्तुस्थितिरतिक्रमिषुं शक्यते ॥ ९ ॥

भाषा—पूर्वजन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिए (पृथ्वी आदि) पाँच तत्त्वों के संघात से निर्मित शरीर यदि पुनः पञ्चतत्त्वों के रूप में आ गया तो इसमें शोक करने की क्या बात है ? ॥ ९ ॥

गन्त्री वलुमती नाशमुदधिर्देवतानि च ।

फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥ १० ॥

अपि च, नेदमाश्रयं मरणं नाम; यतः पृथिव्यादीनि महान्त्यपि भूतानि नाशं गच्छन्ति, तथा समुद्रा अपि जरामरणविरहिणः, अमरा अपि प्रलयसमये अवसानं गच्छन्ति, कथमिवास्थिरतया फेनसंनिभो मरणधर्मा भूतसंघो विनाशं न यास्यति ? उचितमेव हि मरणधर्मिणः प्रायणम् । अतो निष्प्रयोजनः शोकसमावेशः ॥ १० ॥

भाषा—पृथिवी, समुद्र और देवता भी नाश को प्राप्त होते हैं तो फेन के समान मृत्युलोक क्यों नहीं नष्ट होगा ? ॥ १० ॥

अनिष्टापादकत्वादप्यनुशोचनं न कार्यमित्याह—

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।

अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः 'स्वशक्तितः ॥ ११ ॥

यस्मादनुशोचद्भिर्बान्धवैर्वदननयननिर्गमितं श्लेष्माश्रु वा यस्मादवशोऽकामोऽपि प्रेतो भुङ्क्ते, तस्मान्न रोदितव्यं; किंतु प्रेतहितेऽप्युभिः स्वशक्त्यनुसारेण श्राद्धादिक्रियाः कार्याः ॥ ११ ॥

भाषा—बान्धवों द्वारा शोक में गिराये गये श्लेष्मा (खखार) और अश्रु प्रेत को बाध्य होकर (न चाहते हुए भी) खाना पड़ता है; अतएव रोना नहीं चाहिये, अपितु (प्रेत के हित के लिए) अपनी शक्ति के अनुसार (श्राद्ध) क्रिया करनी चाहिए ॥ ११ ॥

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः ।

विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥ १२ ॥

आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् ।

प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

एवं कुलवृद्धवर्चांसि सम्यगाकर्ण्य त्यक्तशोकाः सन्तो बालानग्रतः कृत्वा गृहं गच्छेयुः । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियताः संयतमनस्काः निम्बपत्राणि विदश्य दशनैः खण्डयित्वा आचमनं च कृत्वाऽग्न्युदकगोमयगौरसर्षपानालभ्य, 'आदि' ग्रहणात् 'दूर्वाप्रवालममिवृषभौ

च' इति शङ्कोक्तौ दूर्वाङ्कुरवृषभावपि स्पृष्ट्वा अश्मनि च पदं निधाय शनै-
रद्रुतं वेशमनि प्रविशेयुः ॥ १२-१३ ॥

भाषा—(कुल वृद्धों के) इस प्रकार के वचन सुनकर (शोक त्याग
कर) बालकों को आगे करके घर जावें। घर के द्वार पर खड़े होकर नीम की
पत्तियाँ कूँचकर, आचमन करके, अग्नि, जल, गोबर और पीले सरसों का स्पर्श
करें और पत्थर पर पैर रखकर धीरे से घर में प्रवेश करें ॥ १२-१३ ॥

अतिदेशमाह—

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।

इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमान् ॥ १४ ॥

यदेतत्पूर्वोक्तं निम्बपत्रदशनादि वेशमप्रवेशनान्तं कर्म, तन्न केवलं ज्ञाती-
नामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालंकारनिर्हरणादिकं कुर्वतां भवति । 'प्रवे-
शनादिकं' इत्यत्र 'आदि' शब्दोऽमाङ्गलिकत्वात्प्रतिलोमकमाभिप्रायः । तेषां
च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तत्क्षणाच्छुद्धिमिच्छतां असपिण्डानां स्नानप्राणा-
यामाभ्यामेव शुद्धिः । यथाह पराशरः—'अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजा-
तयः । पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्या लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किञ्चित्पापं चा-
शुभकर्मणि । जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ॥' इति ॥ स्नेहादिना
निर्हरणे तु मनुक्तो विशेषः (५।१०१।१०२)—'असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो
निर्हृत्य बन्धुवत् । विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराशंसं बान्धवान् । यद्यज्ञमस्ति
तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति । अनदज्ञमज्ञैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥' इति ।
अत्रेयं व्यवस्था—यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमेवाज्ञमश्नाति, तद्गृहे
च वसति, तस्य दशाहेनैव शुद्धिः । यस्तु केवलं तद्गृहे वसति, न पुनस्तद-
ज्ञमश्नाति, तस्य त्रिरात्रम् ; यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति, न तद्गृहे वसति,
न च तदज्ञमश्नाति, तस्यैकाह इति—एतत्सजातीयविषयम् ; विजातीयविषये
पुनर्यजातीयं प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौचं कार्यम् ; यथाह गौतमः
(१४।१९)—'अवरश्चेद्वर्णः पूर्वं वर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र तच्छ्रवोक्तमा-
शौचम्' इति । उपस्पर्शनं निर्हरणम् । विप्रस्य शुद्धनिर्हरणे मासाशौचम् ;
शूद्रस्य तु विप्रनिर्हरणे दशरात्रमित्येवं शववदाशौचं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाषा—शव को छूने वाले दूसरे (सगोत्र बान्धवों से भिन्न) व्यक्तियों
को घर में प्रवेश करने तक की पूर्वोक्त क्रियाएँ करनी होती हैं, यदि वे तत्काल
शुद्ध होने का विचार करें तो स्नान और प्राणायाम से ही उनकी शुद्धि हो
जाती है ॥ १४ ॥

१. तत्क्षणाच्छुद्धिः । तत्क्षणाच्छुद्धिरन्वेषां ।

ब्रह्मचारिणं प्रत्याह—

आचार्यपितृपाश्यायान्निर्हत्यापि व्रती व्रती ।

संकटान्नं च नाशनीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥

आचार्य उक्तलक्षणः, माता च पिता च पितरौ, उपाध्यायः पूर्वोक्तः; एता-
न्निर्हत्यापि व्रती ब्रह्मचारी ब्रह्मेव, न पुनरस्य व्रतभ्रंशः । 'कट'शब्देनाशौचं
लक्ष्यते, तत्सहचरितमन्नं संकटान्नं तद्ब्रह्मचारी नाशनीयात् ; न चाशौचिभिः
सह संवसेत् । एवं वदता आचार्यादिव्यतिरिक्तप्रेतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोप
इत्यर्थादुक्तं भवति । अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मचारिणः शवकर्मिणो व्रताग्नि-
वृत्तिरन्यत्र मातापित्रोः' इति ॥ १५ ॥

भाषा—आचार्य, मातापिता और उपाध्याय के शव श्मशान तक के
जाने पर भी ब्रह्मचारी व्रती ही रहता है (उसका व्रत खण्डित नहीं होता);
किन्तु उसे आशौची का भजन नहीं ग्रहण करना चाहिए और न उनके साथ
निवास करना चाहिए ॥ १५ ॥

आशौचिनां नियमविशेषमाह—

क्रीतलब्धाशना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक् क्षितौ ।

पिण्डयक्षावृता देयं प्रेतायान्नं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥

क्रीतमयाचितलब्धं वा भक्षणं येषां ते क्रीतलब्धाशनाः, भवेयुरिति
शेषः । क्रीतलब्धाशननियमात्तदलाभेऽनशनमर्थारिद्धं भवति । अत एव
वसिष्ठः—'गृहान्ब्रजित्वा अन्नप्रस्तरे व्यहमनश्नन्त आसीरन् क्रीतोत्पन्नेन
वा वर्तेरन्' इति । अन्नप्रस्तर आशौचिनां शयनासनार्थस्तृणमयः प्रस्तरः । ते
च सपिण्डा भूमावेव पृथक्पृथक् शयीरन्, न खट्वादौ ॥ मनुनाऽप्यत्र विशेषो
दर्शितः (५।७३)—'अक्षारलवणाक्षाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते व्यहम् । मांसाशनं
च नाशनीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥' इति । तथा गौतमेनापि विशेष उक्तः
(१४।३०)—'अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः शवकर्मिणः' इति । तथा
पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियया प्राचीनावीतिस्वादिरूपया प्रेताय दिनत्रयं पिण्डरूपमन्नं
तूष्णीं क्षितौ देयम् । यथाह मरीचिः—'प्रेतपिण्डं बहिर्दद्याद्दर्भमन्नविवर्जितम् ।
प्रागुदीच्यां चरुं कृत्वा स्नातः प्रयतमानसः ॥' इति । दर्भमन्नविवर्जितत्वमनु-
पनीतविषयम् । 'असंस्कृतानां भूमौ पिण्डं दद्यात्संस्कृतानां कुशेषु' इति प्रचेतः-
स्मरणात् । तथा कर्तुंनियमश्च गृह्यपरिशिष्टाद्विज्ञेयः—'असगोत्रः सगोत्रो वा
यदि स्त्री यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति ।
तथा द्रव्यविनियमश्च शुनःपुच्छेन दर्शितः—'शालिना सक्तुभिर्वापि शाकैर्वाऽ-

१. स कटान्नं २. पृथक्पृथक् । ३. रिणः सर्व इति ।

२६ या०

पृथ निर्वपेत् । प्रथमेऽहनि यद् द्रव्यं तदेव स्यादशाहिकम् ॥ तूर्णीं प्रसेकं पुष्पं च दीपं धूपं तथैव च ॥' इति । पिण्डश्च पाषाणे देयः । 'भूमौ मास्यं पिण्डं पानीय-मुपले वा दधुः' इति शङ्खस्मरणात् । न च 'दधुः' इति बहुवचनेनोदकदान-वत्सर्वैः पिण्डदानं कार्यमित्याशङ्कनीयं, किंतु पुत्रेणैव कार्यम् । तदभावे प्रत्या-सन्नेन सपिण्डानामन्यतमेन, तदभावे मातृसपिण्डादिना कार्यम् ; 'पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दधुस्तदभावे ऋत्विगाचार्याः' इति गौतम-स्मरणात् । पुत्रबहुत्वे पुनर्येष्टेनैव कार्यम् । 'सर्वैरनुमतिं कृत्वा ज्येष्ठेनैव तु यत्कृतम् । द्रव्येण वाविभक्तेन सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥' इति मरीचिस्मरणात् । पिण्डसंख्यानियमश्च—ब्राह्मणस्य दश पिण्डाः, क्षत्रियस्य द्वादशैवेति । एवमा-शौचदिवससंख्यया विष्णुनाऽभिहितम्—'यावदाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दधुः' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'नवभिर्दिवसैर्दद्यान्नव पिण्डान्समाहितः । दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिशेषे शुचिर्भवेत् ॥' इति शुचिस्त्वचनमपरेषुः क्रियमा-णध्यात्वाथब्राह्मणनिमन्त्रणाभिप्रायेण । योगीश्वरेण तु पिण्डत्रयदानमभिहितम् । अनयोश्च गुरुलघुकल्पयोरुदकदानविषयोक्ता व्यवस्था विज्ञेया । अत्रा-परः शातातपीयो विशेषः—'आशौचस्य तु हासेऽपि पिण्डान्दद्यादशैव तु' इति ॥ त्रिरात्राशौचिनां पुनः पारस्करेण विशेषो दर्शितः—'प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः । द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसंचयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि ञ्जालयेत्तथा ॥' इति ॥ १६ ॥

भाषा—आशौची व्यक्ति खरीद कर या बिना माँगे ही मिले हुए अन्न का भोजन करें और भूमि पर पृथक्-पृथक् सोवें तथा पृथ्वी पिण्ड-पितृयज्ञ की विधि से (दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत करके) तीन दिन प्रेत के लिए पिण्डदान के रूप में अन्न दें ॥ १६ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ।

किंच, जलं क्षीरं च मृन्मये पात्रद्वये पृथक् पृथगाकाशे सिक्वादावेकाहं स्थापनीयम् । अत्र विशेषानुपादानात्प्रथमेऽहनि कार्यम् । तथा पारस्करव-चनात् । 'प्रेतात्र स्नाहि' इत्युदकं स्थाप्यं 'पिब चेदम्' इति क्षीरम् ॥ तथास्थि-संचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम् ; तथाह संवर्तः—'प्रथमेऽह्नि तृतीये वा सप्तमे नवमे तथा । अस्थिसंचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजैः सह ॥' इति । कचिद् द्वितीये त्वस्थिसंचय इत्युक्तम् । वैष्णवे तु 'चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाभसि प्रक्षेपः' इति । अतोऽन्यतमस्मिन्दिने स्वगुह्योक्तविधिनाऽस्थिसंचयनं कार्यम् अङ्गिरसा चात्र विशेषो दर्शितः—'अस्थिसंचयने यागो देवानां परिकीर्तितः । प्रेतीभूतं तमुद्दिश्य यः शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं क्षपन्मय

देवताः ॥' देवताश्चात्र श्मशानवासिन्यः तत्र पूर्वदग्धाः 'श्मशानवासिनो देवाः शवानां परिकीर्तिताः' इति तेनैवोक्तम् । अतस्तान्देवानचिरमृतं च प्रेतमुद्दिश्य धूपदीपादिभिः पिण्डरूपेण चान्नेन तत्र पूजा कार्येत्युक्तं भवति ॥ तथा वपनं च दशमेऽहनि कार्यम् ; 'दशमेऽहनि संप्राप्ते ज्ञानं ग्रामाद्दहिर्भवेत् । तत्र श्याज्यानि वासांसि केशश्मश्रुनखानि च ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं क्षुरकर्म प्रयत्नतः । तृतीये पञ्चमे चाऽपि सप्तमे वाऽप्रदानतः ॥' इति श्राद्धप्रदानादर्वागनियम इति यावत् । वपनं च केषामित्याकाङ्क्षायामापस्तस्वेनोक्तम्—'अनुभाविनां च परिवापनम्' इति । अयमर्थः—श्रावं दुःखमनुभवन्तीत्यनुभाविनः सपिण्डाः, तेषां चाविशेषेण वपनमुत्तारूपवयसामित्यपेक्षायामिदमेवोपतिष्ठते—'अनुभाविनां च परिवापनम्' इति । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽल्पवयसस्तेषां वपनमिति । अनुभाविनः पुत्रा इति केचिन्मन्यन्ते; 'गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरो-र्मृतौ । आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥' इति नियमदर्शनात् ॥

अशुचित्वेन सकलश्रौतस्मार्तकर्मधिकारनिवृत्तौ प्रसक्तायां केषुचिदव्यनुज्ञा-
तार्थमाह—

वैतानौपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात् ॥ १७ ॥

वितानोऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा वैतानाः प्रेताग्निसाध्या अग्निहोत्रदर्श-
पूर्णमासाद्याः क्रिया उच्यन्ते । प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासनो गृह्याग्निस्तत्र
भवा औपासनाः सायंप्रातर्होमक्रिया उच्यन्ते । ता वैतानौपासना वैदिक्यः क्रियाः
कार्याः । कथं वैदिकत्वमिति चेत्,—श्रुतिचोदनात् । तथा हि—'यावज्जीव-
मग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिश्रुतिभिरग्निहोत्रादीनां चोदना स्पष्टैव । तथा
'अहरहः स्वाहा कुर्यादक्षभावे केनचिदाकाष्ठात्' इति श्रुत्यौपासनहोमोऽपि
चोद्यते । अत्र च श्रौतस्वविशेषणोपादानास्मार्तक्रियाणां दानादीनामनुष्ठानं
गम्यते । अत एव वैयाघ्रपादेनोक्तम्—'स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके ।
श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति श्रौतानां च कार्यत्वा-
भिधानं नित्यनैमित्तिकाभिप्रायेण; यथाह पैठीनसिः—'नित्यानि विनिवर्तेरन्वै-
तानवर्जं शालाग्नौ चैके' इति । 'नित्यानि विनिवर्तेरन्' इत्यविशेषेण आवश्य-
कानां नित्यनैमित्तिकानां निवृत्तौ प्रसक्तायां 'वैतानवर्जम्' इत्यग्नित्रयसाध्या-
वश्यकानां पर्युदासः; 'शालाग्नौ चैक' इति गृह्याग्नौ भवानामप्यावश्यकानां
पाक्षिकः पर्युदास उक्तः । अतस्तेष्वंशौचं नास्त्येव । काश्यानां पुनः शौचा-

१. भूतपूर्वदग्धाः । २. गुरौ मृते । ३. वैतानो । ४. चोदनाः ।

५. वध्यते ।

भावादननुष्ठानम् । मनुनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तम् (५।८४)—‘प्रयूहेन्ना-
ग्निषु क्रिया’ इति । अग्निषु क्रिया न प्रयूहेदिति अग्निसाध्यानां पञ्चमहा-
यज्ञादीनां निवृत्तिः । अत एव संवर्तः—‘होमं तत्र प्रकुर्वीत शुष्कान्नेन फलेन
वा । पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥’ इति वैश्वदेवस्याग्निसाध्य-
त्वेऽपि वचनाग्निवृत्तिः । ‘विप्रो दक्षाहमासीत् वैश्वदेवविवर्जितः’ इति तेनैवो-
क्तत्वात् ॥ ‘सूतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते’ इति यद्यपि संध्याया
विनिवृत्तिः श्रूयते, तथाप्यञ्जलिप्रक्षेपादिकं कुर्यात् । ‘सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं
प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात्’ इति पैठीनसिस्मरणात् ।
यद्यपि ‘वैतानोपासनाः कार्याः’ इति सामान्येनोक्तं, तथाप्यन्येन कारयितव्यम् ।
‘अन्य एतानि कुर्युः’ इति पैठीनसिस्मरणात् । बृहस्पतिनाप्युक्तम्—‘सूतके
मृतके चैव अशक्तौ श्राद्धभोजने । प्रवासादिनिमित्तेषु हावयेच्च तु हापयेत् ॥’
इति । तथा स्मार्तदेऽपि पिण्डपितृयज्ञश्रवणाकर्मोश्चयुज्यादिकश्च नित्यहोमः
कार्य एव; ‘सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म कथं भवेत् । पिण्डयज्ञं चरुं होम-
मसगोत्रेण कारयेत् ॥’ इति जातूकर्ण्यस्मरणात् । यद्यपि साङ्गे कर्मण्यन्य-
कर्तृत्वं, तथापि स्वद्रव्यस्यागात्मकं प्रधानं स्वयं कुर्यात् ; तस्यानन्यनिष्पा-
द्यात्वात् । अत एवोक्तम्—‘श्रीते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात्’
इति; यत्पुनः—‘दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते’ इति होमप्रतिषेधः,
स काश्चाभिप्रायो वैश्वदेवाभिप्रायो वा व्यवस्थापनीयः । तथा सूतकाग्नभोजन-
मपि न कार्यम् ; ‘उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते’ इति यमस्मरणात्
उभयत्र जननमरणयोः । ‘दशाहानि’ हस्याशौचकालोपलक्षणम् । कुलस्य सूतक-
नुक्तस्य संबन्धनं असकृद्यैर्न भोक्तव्यं, सकुल्यानां पुनर्न दोषः ; ‘सूतके तु
कुलस्यान्नमदोषं मनुरब्रवीत्’ इति तेनैवोक्तत्वात् । अयं च निषेधो दातृभोक्त्रोर-
न्यतरेण जनने मरणे वा ज्ञाते सति वेदितव्यः ; ‘उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं
नैव दोषकृत् । एकेनापि परिज्ञाते भोक्तृदोषमुपावहेत् ॥ इति षट्त्रिंशन्मते
वर्णनात् । तथा विवाहादिषु सूतकोत्पत्तेः प्राक् ब्राह्मणार्थं पृथक्कृतमन्नं भोक्तव्य-
मेव ; ‘विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । पूर्वसंकल्पितार्थेषु न दोषः परि-
कीर्तितः’ ॥’ इति बृहस्पतिस्मरणात् । तथापरोऽपि विशेषः षट्त्रिंशन्मते
दर्शितः—‘विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । परैरन्नं प्रदातव्यं भोक्तव्यं च
द्विजोत्तमैः ॥ भुञ्जानेषु तु विप्रेषु त्वन्तरा मृतसूतके । अन्येहोदकाचान्ताः
सर्वे ते शुचयः स्मृताः ॥’ इति । तथाशौचपरिग्रहत्वेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषा-
भावः । यथाह मरीचिः—‘लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च । शाक-
काष्ठतृणेष्वप्यु दधिसर्पिःपयस्सु च ॥ तिलौषधाजिने चैव पक्वापक्के स्वयंग्रहः ।
अन्नेषु चैव सर्वेषु नास्तीति मृतसूतके ॥’ इति । पक्वं भक्ष्यजातं मोदकादि,

अपक्वं तण्डुलादि, 'स्वयंप्रह' इति स्वयमेव स्वाभ्यनुज्ञातो गृहीयादित्यर्थः । पक्वापकाभ्यनुज्ञानमन्नसन्नप्रवृत्तविषयम् ; 'अन्नसन्नप्रवृत्तानामाममन्नमगर्हितम् । भुक्त्वा पक्वान्नमेतेषां त्रिरात्रं तु पयः पिबेत् ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । अत्र 'पक्वं' शब्दो भव्यव्यतिरिक्तौदनादिविषयः ॥ शवसंसर्गनिमित्ताशौचे स्वङ्गिरसा विशेष उक्तः—'आशौचं यस्य संसर्गादापतेद्गृहमेधिनः । क्रियास्तस्य न लुप्यन्ते गृहाणां च न तद्भवेत् ॥' इति,—तदाशौचं केवलं गृहमेधिन एव; न पुनस्तद्गृहे भवानां भार्यादीनां तद्गृह्याणां च भवेदित्यर्थः । अतिक्रान्ताशौचेऽप्ययमेवार्थः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—'अतिक्रान्ते दशाहे तु पश्चाज्जानाति चेद्गृही । त्रिरात्रं सूतकं तस्य न तद्द्रव्यस्य कर्हिचित् ॥' (मनुः ५।७६) इति ॥ १७ ॥

भाषा—एक दिन मिट्टी के (दो) पात्रों में पृथक्-पृथक् जल और दूध आकाश में (शिव्या-सिकहर-पर) रखना चाहिए । श्रुति के आदेश से अग्निहोत्र आदि वैतानिक और एवं गृह्याग्नि से किये जाने वाला उपासन कर्म एवं सायं-प्रातः होम क्रिया करनी चाहिए ॥ १७ ॥

एवमाशौचिनो विधिप्रतिषेधरूपान्धर्मानभिधायानुना आशौचनिमित्तं कालनियमं चाह—

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते ।

ऊनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि ॥ १८ ॥

शवनिमित्तं शावम् । 'सूतक'शब्देन च जननवाचिना तन्निमित्तमाशौचं लक्ष्यते । एवं च वदता जननमरणयोराशौचनिमित्तमुक्तं भवति । तच्च जनन-मरणमुत्पन्नज्ञातमेव निमित्तम् । 'निर्दशं ज्ञातिमरणं भुत्वा पुत्रस्य जन्म च' (मनुः ५।७७) इत्यादिलिङ्गदर्शनात् । तथा (मनुः ५।७५)—'विगतं तु विदे-क्षस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् । यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥' इत्यादि-वाक्यारम्भसामर्थ्याच्च । उत्पत्तिमात्रापेक्षत्वे ह्याशौचस्य दशाहायाशौचकालनिय-मास्तत्तत्प्रभृतिका एवेति अनिर्दशज्ञातिमरणश्रवणे दशरात्रशेषमेवाशौचमर्थारिस-द्ध्यतीति 'यच्छेषं दशरात्रस्य' इत्यनारम्भणीयं स्यात् । तस्माज्ज्ञातमेव जननं मरणं च निमित्तम् । तच्चोभयनिमित्तमप्याशौचं त्रिरात्रं दशरात्रं चेप्यते मन्वादिभिः ॥ अत्राशौचप्रकरणे अहर्ग्रहणं रात्रिग्रहणं चाहोरात्रोपलक्षणार्थम् । मन्वादिभिः 'इष्यते' इति वचनं तदुक्तप्रपिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम् ॥ तथा हि (मनुः ५।५९)—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।', 'जनने-ऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥' (मनुः ५।६१) 'जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते' । (मनुः ५।७१) 'शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति श्मशान्द्रव्यका-

यिनः ॥' (मनुः ५।६४) इत्येतैर्वाक्यैस्त्रिरात्रदशरात्रयोः समानोदकसपिण्ड-
विषयत्वेन व्यवस्था कृता । अतः सपिण्डानां सप्तमपुरुषावधिकानामविशेषेण
दशरात्रम् , समानोदकानां त्रिरात्रमिति ॥ यत्पुनः स्मृत्यन्तरवचनम्—'चतुर्थे
दशरात्रं स्यात्सपिण्डाः पुंसि पञ्चमे । पष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे स्वहरेव तु ॥'
इति, तद्विगीतस्वाज्ञादरणीयम् । यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपश्चालम्भनव-
ह्नोकविद्विष्टस्वाज्ञानुष्ठेयम् । 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु, (आ० १५६)
इति मनुस्मरणात् । नच सप्तमे प्रत्यासहे सपिण्ड एकाहो विप्रकृष्टाष्टमादिषु
समानोदकेषु ग्रहमिति युक्तम् । एवमविशेषेण सपिण्डानामाशौचे प्राप्ते कचि-
न्धियमार्थमाह । ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोरेव मातापित्रोर्दशरात्रमाशौचं न
सर्वेषां सपिण्डानाम् । तेषां तु वक्ष्यति 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३)
इति । तथा च पैङ्गवः—'गर्भस्थे प्रेते मातुर्दशाहं, जात उभयोः, कृते नाग्नि
सोदराणां च' इति । अथवा अयमर्थः—ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोर्मातापि-
त्रोरेव अस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं न सपिण्डानाम् । तथा स्मृत्यन्तरे—'ऊनद्विवर्षे
प्रेते मातापित्रोरेव नेतरेषाम्' इति अस्पृश्यत्वलक्षणमभिप्रेतम् । इतरस्य पुनः
कर्मण्यनधिकारलक्षणस्य सपिण्डेष्वपि 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३)
इत्यादिभिर्विहितत्वात् । अत्र दृष्टान्तः—सूतकं मातुरेव हीति । यथा सूतकं
जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं मातुरेव केवलं तथोनद्विवर्षोपरमे मातापि-
त्रोरेवासस्पृश्यत्वमिति । ऊनद्विवर्षे सपिण्डानामस्पृश्यत्वं प्रतिषेधताऽन्यत्रास्पृश्य-
त्वमभ्यनुज्ञातं भवति । तथा च देवलः—'स्वाशौचकालाद्विज्ञेयं स्पर्शनं च
त्रिभागतः । शूद्रवित्पूत्रविप्राणां यथाशास्त्रं प्रचोदितम् ॥' इति । एतच्चानुपनीत-
प्रयाणनिमित्ते अतिक्रान्ताशौचे च त्रिरात्रादौ वेदितव्यम् । उपनीतविषयेऽपि
तेनैवोक्तम्—'दशाहादित्रिभागेन कृते संचयने क्रमात् । अङ्गस्पर्शनमिच्छन्ति
वर्णानां तत्त्वदर्शिनः ॥ त्रिचतुःपञ्चदशभिः स्पृश्या वर्णाः क्रमेण तु । भोज्याज्ञो
दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः ॥' इति । द्व्युत्तरैर्दशभिः त्र्युत्तरैर्द्वादशभिः पञ्च-
त्तरैः पञ्चदशभिरिति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—शव-तम्बन्धी (मृत्यु के कारण) आशौच तीन दिन या दस दिन
का होता है दो वर्ष से कम आयु के बालक का आशौच माता-पिता को होता
है और सूतक (जन्म के समय का आशौच) केवल माता को ही
होता है ॥ १८ ॥

जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदस्पृश्यदर्शनाद् भुवम् ।
तदहर्न प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥

सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वाल्लङ्घनाशौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव, न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं मातृध्रुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुतः ? तदस्पृग्दर्शनात् तस्याः संबन्धित्वेनासृजो दर्शनात् । अत एव वसिष्ठः (४।२३) —‘नाशौचं विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते ॥’ इति । पितुस्तु ध्रुवं न भवति स्नानमात्रेणास्पृश्यत्वं निवर्तते, यथाऽऽह संवर्तः—‘जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुद्धयेद-
शाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥’ इति । ‘माता शुद्धयेदशाहेन’ इत्येतच्च संध्य-
चहारयोग्यतामात्रम् । अदृष्टार्थेषु पुनः कर्मसु पैठीनसिना विशेष उक्तः—‘सूतिकां पुत्रवर्तीं विंशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत् । मासेन स्त्रीजननीम्’ इति । अङ्गिरसा च सपिण्डानामस्पृश्यत्वाभावः स्पष्टीकृतः—‘सूतके सूतिकावर्ज्यं संस्पर्शो न निषिद्ध्यते । संस्पर्शो सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते ॥’ इति । यस्मिन्दिवसे कुमारजननं तदहर्नं प्रदुष्येत । तन्निमित्तदानाद्यधिकारापहारकृन्न भवतीत्यर्थः । यस्मात्तस्मिन्नहनि पूर्वेषां पित्रादीनां पुत्ररूपेण जन्म उत्पत्तिस्तस्मात्तदहर्नं प्रदु-
ष्येत । तथा च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—‘कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यः प्रति-
ग्रहः । हिरण्यभूगवाश्वाज्वांसःशय्यासनादिषु ॥ तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं ननु
अचयेत् । भक्षयित्वा तु तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति ॥ व्यासेनाप्यत्र
विशेष उक्तः—‘सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः । तासां यागनिमित्तं
तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा । त्रिष्वेतेषु न
कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि ॥’ मार्कण्डेयेनाप्युक्तम्—‘रक्षणीया तथा षष्ठी निशा
तत्र विशेषतः । रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः ॥ पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च
नृत्यगीतैश्च योषितः । रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके ॥’ इति ॥ १९ ॥

भाषा—जन्म का सूतक (अस्पृश्यत्व) माता-पिता को ही होता है (सभी सपिण्डों को नहीं), उसमें भी माता का रुधिर दिखाई पड़ने से उसे निरिषत रूप से (दस दिन तक) सूतक होता है । जिस दिन बालक का जन्म होता है वह दिन दान आदि के लिए अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्वपुरुष (पितर) ही पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं ॥ १९ ॥

आशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते ‘प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते’ इति न्यायेन पुनर्दशाहाशौचप्राप्ति तदपवादमाह—

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ।

वर्णपितृया वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्तदन्तरा तत्समस्य ततो न्यूनस्य वाऽऽशौचस्य निमित्तभूते जनने मरणे वा जाते पूर्वाशौचा-
वशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्ध्यति । न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथ-

वपृथगाशौचं कार्यम् । यदा पुनरुपाद्वर्तमानाशौचादीर्घकालमाशौचमन्तरा
पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाऽऽहोशनाः—‘स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु
दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्ध्यति ॥’ इति ।
यमोऽप्याह—‘अर्घवृद्धिमदाशौचं पश्चिमेन समापयेत्’ इति । अत्र ‘चान्तरा
जन्ममरणे’ इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं, तथापि न सूतकान्तर्वर्तिनः शावस्य
पूर्वाशौचशेषेण शुद्धिः । यथाहाङ्गिराः—‘सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूत-
कम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकम् ॥’ इति । तथा षट्त्रिंशन्मते-
ऽपि—‘शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्ध्यते सूतिर्न सूतिः
शावशोधिनी ॥’ इति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनः शावाशौचस्य पूर्वशेषेण
शुद्धिः, किंतु शावान्तःपातिन एव सूतकस्य । तथा सजातीयान्तःपातिर्येऽपि
शावस्य क्वचित्पूर्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—‘मातर्यमे प्रमीताया-
मशुद्धौ न्नियते पिता । पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पत्तिणीम् ॥’
इति । अयमर्थः—मातरि पूर्वं मृतायां तन्निमित्ताशौचमध्ये यदि पितुरुपरमः
स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु पितुः प्रायणनिमित्ताशौचकालेनैव शुद्धिः कार्या ।
तथा पितुः प्रायणनिमित्ताशौचमध्ये मातरि स्वर्थातायामपि न पूर्वशेषमात्राच्छुद्धिः
किंतु पूर्वाशौचं समाप्योपरि पत्तिणीं क्षिपेत् इति ॥ तथाऽऽशौचसंज्ञिपातकाल-
विशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः (१४१७,८)—‘रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते
तिसृभिः’ इति । अयमर्थः—रात्रिमात्रावशिष्टे पूर्वाशौचे यद्याशौचान्तरं सन्नि-
पतेत्तर्हि पूर्वाशौचं समाप्यानन्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या-
रात्रेः पश्चिमे यामे जननाद्याशौचान्तरसंज्ञिपाते सति तिसृभिः रात्रिभिः शुद्धिः,
न पुनस्तच्छेषमात्रेण । शातातपेनाप्युक्तम्—‘रात्रिशेषे द्वयहाच्छुद्धिर्यामशेषे
शुचिस्थयात्’ इति । प्रेतक्रिया पुनः—‘सूतकसंज्ञिपातेऽपि न निवर्तत’ इति तेनैवो-
क्तम्—‘अन्तर्दशाहे जननापश्चात्स्यान्मरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं पिण्डदानं
स्वबन्धुभिः ॥ प्रारब्धे प्रेतपिण्डे तु मध्ये चेज्जननं भवेत् । तथैवाशौचपिण्डांस्तु
शेषान्दद्याद्यथाविधि ॥’ इति । तथा शावाशौचयोः संज्ञिपातेऽपि प्रेतकृत्यं
कार्यम्; तुल्यन्यायत्वात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तकमाशौचान्त-
रसंज्ञिपातेऽपि कार्यमेव । यथाह प्रजापतिः—‘आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा
भवेत् । कर्तुंस्तारकालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥’ इति ॥

पूर्णप्रसवकालजननाशौचमभिधायान्धुना अप्राप्तकालगर्भनिःसरणनिमित्तमा-
शौचमाह—

गर्भसावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥ २० ॥

स्रवतिर्यद्यपि लोके द्रवद्रव्यकर्तृके परिस्थन्दे प्रयुज्यते, तथाऽप्यत्र द्रवाद्वद्रव्यसा-
धारणरूपेऽधःपतने वर्तते । कुतः ? द्रवत्वस्य प्रथममास एव संभवात्तत्र च 'मास-
तुल्या निशाः' इति बहुवचनानुपपत्तेः । गर्भस्त्रावे यावन्तो गर्भग्रहणमासास्त-
त्समसंख्याका निशाः शुद्धेः कारणम् । एतच्च स्त्रिया एव; 'गर्भस्त्रावे मासतुल्या
रात्रयः स्त्रीणां, ज्ञानमात्रमेव पुरुषस्य' इति वृद्धवसिष्ठस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेन
'य्यहं च' (१४।१८) इति त्रिरात्रमुक्तं, -तन्मासत्रयादर्वाग्वेदितव्यम्; 'गर्भस्त्रयां
यथामासमचिरे तूत्तमे त्रयः । राजन्ये तु चतुरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव तु ॥ अष्टाहेन
तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्तिता ॥' इति मरीचिस्मरणात् । अचिरे मासत्रयादर्वाक्
गर्भस्त्रावे उत्तमे ब्राह्मणजातौ त्रिरात्रमित्यर्थः । एतच्च षण्मासपर्यन्ते द्रष्टव्यम् ।
सप्तमादिषु पुनः परिपूर्णमेव प्रसवाशौचं कार्यम् ; तत्र परिपूर्णाङ्गगर्भस्य जीवतो
निर्गमदर्शनात् । तत्र च लोके 'प्रसव'शब्दप्रयोगात्, 'षण्मासाभ्यन्तरे
यावद्गर्भस्त्रावो भवेद्यदा । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत
ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तं तासामाशौचमिष्यते । सद्यःशौचं सपिण्डानां गर्भस्य पतने
सति ॥' इति स्मरणात् ॥ एतच्च सपिण्डानां सद्यःशौचविधानं द्रवभूतगर्भपतने
वेदितव्यम् । यत्पुनर्वसिष्ठवचनम् (४।३४) — 'ऊनद्विवादिके प्रेते गर्भस्य
पतने च सपिण्डानां त्रिरात्रम्' इति, -तत्पञ्चमषष्ठयोः कठिनगर्भपतनविषयम्;
'आचतुर्थाद्भवेत्स्त्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः । अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं
सूतकं भवेत् ॥ स्त्रावे मातुस्त्रिरात्रं स्यात्सपिण्डाशौचवर्जनम् । पाते मातुर्य-
थामासं पित्रादीनां दिनत्रयम् ॥' इति मरीचिस्मरणात् ॥ सप्तममासप्रभृति
मृतजनने जातमृते वा सपिण्डानां जनननिमित्तं परिपूर्णमाशौचम् ; 'जातमृते
मृतजाते वा सपिण्डानां दशाहम्' इति हारीतस्मरणात्, 'अतः सूतके चेदो-
त्थानादाशौचं सूतकवत्' इति पारस्करवचनाच्च । आ उत्थानादासूतिकाया उत्था-
नाद्दशाहमिति यावत् । सूतकवदिति शिशूपरमनिमित्तोदकदानरहितमित्यर्थः ।
बृहन्मनुरपि — 'दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः । शावाशौचं न कर्तव्यं
सूत्याशौचं विधीयते ॥' इति । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि — 'अन्तर्दशाहोपरतस्य
सूतिकाहोभिरेवाशौचम्' इति । एवमादिवचननिचयपर्यालोचनया सपिण्डानां
जनननिमित्ताशौचसंकोचो नास्तीति गम्यते । यत्पुनर्वृहद्विष्णुवचनम् — 'जाते
मृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यःशौचम्' इति, -तच्छिशूपरमनिमित्तस्याशौचस्य
स्नानाच्छुद्धिप्रतिपादनपरं न प्रसवनिमित्तस्य । तथा च पारस्करः — 'गर्भे यदि
विपत्तिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत् ।' सपिण्डानां प्रसवनिमित्तस्य विद्यमानत्वात् । -
'जीवज्जातो यदि प्रेयास्तस्य एव विशुद्ध्यति' इति प्रेताशौचाभिप्रायम् । तथा च

शङ्केनोक्तम्—‘प्राङ्नामकरणास्यःशौचम्’ इति । यत्पुनः कात्यायनवचनम्—
 अनिवृत्ते दशाहे तु पञ्चत्वं यदि गच्छति । सद्य एव विशुद्धिः स्यान्न प्रेतं नोदक-
 क्रिया ॥’ इति,—तदपि वैष्णवेन समानार्थम् । यदा तु ‘न प्रेतं नैव सूतक’मिति
 पाठस्तदा सूतकमस्पृश्यत्वं नैव पित्रादीनां भवतीत्यर्थः । अथवाऽयमर्थः—अन्त-
 र्दशाहे यदि शिशुपरमस्तदा न प्रेताशौचम् । यदि तत्र सपिण्डजननं तदा सूतक-
 मपि नैव कार्यं, किंतु पूर्वाशौचेनैव शुद्धिरिति । यत्तु बृहन्मनुवचनम्—‘जीवज्जातो
 यदि ततो मृतः सूतक एव तु । सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥
 इति । यच्च बृहस्पतेरुक्तवचनम्—‘मुहूर्तं जीवितो बालः पञ्चत्वं यदि गच्छति ।
 मातुः शुद्धिर्दशाहेन सद्यः शुद्धास्तु गोत्रिणः ॥’ इति, तत्रेयं व्यवस्था—जनना-
 नन्तरं नाभिवर्धनात्प्राङ् मृतौ पित्रादीनां जनननिमित्तमाशौचं दिनत्रयम् । सद्यः-
 शौचं त्वग्निहोत्रार्थम् ; ‘अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनात्तत्कालं शौचम्’ इति शङ्ख-
 स्मरणात् । नाभिवर्धनोत्तरकालं तु शिशुप्रायणेऽपि जनननिमित्तं संपूर्णमाशौचं
 सपिण्डानाम् । ‘यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः
 पश्चात्सूतकं तु विधीयते ॥’ इति जैमिनिस्मरणात् ।

मनुनाऽप्ययमर्थो दर्शितः (५।६६)—‘रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भच्छावे विशु-
 द्धयति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥’ इति पूर्वभागस्यार्थो
 दर्शितः । उत्तरस्य त्वयमर्थः—रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन
 साध्वी दैवादिकर्मयोग्या भवति । स्पर्शनादिविषये पुनरनुपरतेऽपि रजसि चतुर्थे-
 ऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति । तदुक्तं बृह्ममनुना—‘चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति
 व्यावहारिकी’ इति । तथा स्मृत्यन्तरम्—‘शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री
 रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति ॥ ‘पञ्चमेऽहनि’ इति
 रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम् । यदा रजोदर्शनादारभ्य पुनः सप्तदश दिनान्तरं
 रजोदर्शनं तदा अशुचित्वं नास्त्येव; अष्टादशे त्वेकाहाच्छुद्धिः, एकोनविंशे
 द्व्यहात्, तत उत्तरेषु व्यहाच्छुद्धिः । यथाहात्रिः—‘रजस्वला यदि स्नाता
 पुनरेव रजस्वला । अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते ॥ एकोनविंशतेरर्वागे-
 काहं स्यात्ततो द्व्यहम् । विंशत्प्रभृत्युत्तरेषु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥’ इति ।—
 यत्तु ‘चतुर्दशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते’ इति स्मृत्यन्तरं, तत्र स्नानप्रभृतित्व-
 मभिप्रेतमतो न विरोधः । अयं चाशुचित्वप्रतिषेधो यस्या विंशतिदिनोत्तरकाल-
 मेव प्रायशो रजोदर्शनं तद्विषयः । यस्याः पुतरारूढयौवनायाः प्रागेवाष्टादशदिना-
 त्प्राचुर्येण रजोनिर्गमस्तस्यास्त्रिरात्रमेवाशौचम् । तथा च यावत्त्रिरात्रं स्नानादि-
 रहितया स्थातव्यम् ; ‘रजस्वला त्रिरात्रमशुचिर्भवति सा च नाञ्जीत नाभ्यञ्जीत

नाप्सु स्नायादधः क्षयित न दिवा स्वप्यात् न प्रहासिरीचेत नार्नि स्पृशेत्
नाशनीयाञ्च रज्जुं सृजेत् न च दन्तान्धावयेत् न हस्तेष्वच किञ्चिदाचरेत् अखर्वेण
पात्रेण पिबेदक्षलिना वा पात्रेण लोहितायसेन वेति विज्ञायते' (४-७) इति
वसिष्ठस्मरणात् ।

आङ्गिरसेऽपि विशेषः—'हस्तेऽशनीयान्मृन्मये वा हविर्भुक् क्षितिशायिनी ।
रजस्वला चतुर्थेऽङ्घ्रि स्नात्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति । पराशरेऽपि विशेषः—
'स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला । पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा
व्रतं चरेत् ॥ सित्कगात्रा भवेदङ्गिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन । न वस्त्रपीठनं कुर्यान्प्राण्य-
द्वासश्च धारयेत् ॥' इति दशनसाऽप्यत्र विशेषो दर्शितः—'ज्वराभिभूता या
नारी रजसा च परिप्लुता । कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥
चतुर्थेऽङ्घ्रि संप्राप्ते स्पृशेदन्याऽशुचिस्त्रियम् । सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा
स्नात्वा पुनः स्पृशेत् । दशद्वादशकृत्वो वा आचमेच्च पुनः पुनः ॥ अन्ते च
वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेच्च सा । दद्याच्छकृत्या ततो दानं पुण्याहेन विशु-
द्धयति ॥' इति ।

अथ चातुरमात्रे स्नानप्रकारोऽनुसरणीयः । 'आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो
ह्यनातुरः । स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुद्धयेत्स आतुरः ॥' (७।१०) इति
पराशरस्मरणात् । यदा तु रजस्वलायाः सूतिकाया वा मृतिर्भवति तदायं स्नान-
प्रकारः—'सूतिकायां मृतायां तु कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः । कुम्भे सलिलमादाय
पञ्चगव्यं तथैव च ॥ पुण्यर्गिभरमिमन्मयापो वाचा शुद्धिं लभेत्ततः । तेनैव स्नाप-
यित्वा तु दाहं कुर्याद्यथाविधि ॥' रजस्वलायास्तु—'पञ्चभिः स्नापयित्वा तु
गन्धैः प्रेतां रजस्वलाम् । वस्त्रान्तरावृतां कृत्वा दाहयेद्विधिपूर्वकम् ॥'
इति । एतच्च रजोदर्शनपुत्रजन्मादिः यद्युदयोत्तरकालमुत्पन्नं तदा तद्विषयप्रभृ-
त्याशौचाहोरात्रगणना कार्या । यदा तु रजन्यां रजोदर्शनपुत्रजन्मादि जातं तदार्ध-
रात्राभ्याम् जननाद्युत्पत्तौ पूर्वदिवसैकदेशाभ्यापित्वेऽपि आशौचस्य तत्पूर्वदिवस-
प्रभृत्येव गणना कार्येत्येकः कल्पः । रात्रि त्रेधा विभज्याद्ये भागद्वये जननादौ जाते
पूर्वदिनं ग्राह्यमिति द्वितीयः । प्रागुदयादित्यपरः । यथाह कश्यपः—'उदिते तु
यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः । जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी ॥ अर्ध-
रात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते । रात्रि कुर्यात्त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्व पक्व-
तु ॥ उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतुसूतके । रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि
सूतके ॥ पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावज्जोदयते रविः ॥' इति । यतेषां च कल्पानां
देशाचारतो व्यवस्था विज्ञेया ।

इदं चाशौचमाहिताग्नेरुपरमे संस्कारदिवसप्रभृति कर्तव्यम् । अनाहि-
ताग्नेस्तु मरणदिवसप्रभृति संचयनं तूभयोरिति संस्कारदिवसप्रभृतीति विवेच-
नीयम् । यथाहाङ्गिराः—‘अनग्निमत उत्क्रान्तेः साग्नेः संस्कारकर्मणः । शुद्धिः
संचयनं दाहान्मृताहस्तु यथाविधि ॥’ इति । ‘साग्नेः संस्कारकर्मणः’ इति
श्रवणादाहिताग्नौ पितरि देशान्तरमृते तत्पुत्रादीनामासंस्कारास्संध्यादिकर्मलोपो
नास्तीत्यनुसंधेयम् । तथा च पैठीनसिः—‘अनग्निमत उत्क्रान्तेराशौचं हि
द्विजातिषु । दाहादग्निमतो विद्याद्विदेशस्थे मृते सति ॥’ इति ॥ २० ॥

भाषा—एक आशौच के भीतर ही जन्म या मरण आ जावे तो उसके
बाद प्रथम आशौच के जितने दिन शेष हों उतने ही दिनों में शुद्धि होती है ।
गर्भस्त्राव होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतने ही दिन में शुद्धि
होती है ॥ २० ॥

सपिण्डत्वादिना दशाहादिप्राप्तौ कचिन्मृत्युविशेषेणापवादमाह—

‘हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम् ।

नृपोऽभिषिक्तः क्षत्रियादिः ‘गो’ग्रहणं शृङ्गिदंष्ट्रयादितिरश्चासुपलक्ष्यगार्थम्,
‘विप्र’ग्रहणमन्यजोपलक्ष्यम् ; एतैर्हतानां संबन्धिनो ये सपिण्डास्तेषाम्,
विषोद्वन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते आत्मघातिनः; ‘आत्म-
घाति’ग्रहणं ‘पाखण्ड्यनाश्रिता’ (प्रा० ६-११) इत्येकयोगोपात्तपतितपा-
त्रोपलक्ष्यगार्थम् । तत्संबन्धिनं चान्वक्ष्यमनुगतमक्षमन्वक्षं सद्यः शौचमित्यर्थः ।
तत्संबन्धिनं च सान्वक्षं यावद्दर्शनमाशौचं न पुनर्दशाहादिकम् । तथा च
गौतमः (१४।९—१२)—‘गोब्राह्मणहतानांमन्वक्षं राजक्रोधाच्चायुद्धे प्रायोऽ-
नाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्वन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्’ इति । ‘क्रोध’ग्रहणं प्रमादव्या-
पादितनिरासार्थम् । ‘अयुद्ध’ग्रहणं युद्धहतस्यैकाहमाशौचमस्तीति ज्ञापनार्थम् ;
‘ब्राह्मणार्थं विपन्नानां योषितां गोग्रहेऽपि च । आहवेऽपि हतानां च एकरात्रम-
शौचकम् ॥’ इति स्मरणात् । एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरविपन्नस्य ।
समरमूर्धनि हतस्य पुनः सद्यः शौचम् । यथाह मनुः (५।१८)—
‘उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति
स्थितिः ॥’ इति ॥—

ज्ञातस्यैव जननादेराशौचनिमित्तत्वाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि ज्ञाते दशाहा-
दिप्राप्तावपवादमाह—

प्रोषिते कालशेषः स्यात्पूर्णे दशोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

१. यथातिथीति । २. विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं । ३. शौचमित्यर्थः

न पुनः । ४. स्यादशेषे व्यवहमेव च ।

प्रोषिते देशान्तरस्थे यत्रथेन प्रथमदिवस एव सपिण्डजननादिकं न ज्ञायते तस्मिन्सपिण्डे कालस्य दशाहाद्यवच्छिन्नस्य यः शेषोऽवशिष्टकालः स एव शुद्धिहेतुर्भवति । पूर्णे पुनराशौचकाले दशाहादिके प्रेताद्योदकं दत्त्वा शुद्धिर्भवति । उदकदानस्य ज्ञानपूर्वकस्यास्त्राद्योदकं दत्त्वा शुचिर्भवति । तदुक्तं शुचिर्भवति । तदुक्तं मनुना (५।७७)—‘निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्नुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥’ इति । ‘पूर्णे दत्त्वोदकं शुचिः’ इति प्रेतोदकदानसहचरितस्याशौचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात् । जन्मन्यतिक्रान्ताशौचं सपिण्डानां नास्तीति गम्यते । पितुस्तु निर्दशेऽपि जनने स्नानमस्येव; ‘श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च’ इति वचनात् । एतच्च ‘पुत्र’ग्रहणं जन्मनि सपिण्डानामतिक्रान्ताशौचं नास्तीति ज्ञापकम् । अन्यथा ‘निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा जन्म च निर्दशम्’ इत्येवावच्यत् । न चोक्तम् । तथा च देवलः—‘नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि’ इति । तस्माद्विपत्तावेवातिक्रान्ताशौचमिति स्थितम् ॥ केचिदन्यथेयं श्लोकं पठन्ति—‘प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषेऽयमेव तु । सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्त्वोदकं शुचिः ॥’ इति । ‘प्रोषिते प्रेते सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियादीनामविशेषेण कालशेषः शुद्धिहेतुः । अशेषे पुनरतिक्रान्ते दशाहादौ सर्वेषां ज्यहमेवाशौचम् । संवत्सरे पूर्णे यदि प्रोषितप्रायणमवगतं स्यात्तदा सर्वो ब्राह्मणादिः स्नात्त्वोदकं दत्त्वा शुचिः स्यात् । तथा च मनुः (५।७६)—‘संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति’ इति । अयं च ज्यहो दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादूर्ध्वद्रष्टव्यः । पूर्वोक्तं तु सप्तशौचं नवममासादूर्ध्वमर्वाक्षसंवत्सराद् द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वासिष्ठं वचनम्—‘ऊर्ध्वं दशाहाच्छुक्त्वैकारत्रम्’ इति,—तदूर्ध्वं षण्मासेभ्यो यावन्नवमम् । यद्यपि गौतमवचनम् (१४।१९)—‘श्रुत्वा चोर्ध्वं दशभ्याः पक्षिणी’ इति, तन्मासत्रयादूर्ध्वमर्वाक्षपृष्ठात् । तथा च मृद्ववसिष्ठः—‘मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादूर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति ॥’ इति । एतच्च मातापितृव्यतिरिक्तविषयम् । ‘पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥’ इति पैठोनसिस्मरणात् । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—‘महागुरुनिपाते तु भार्द्वस्त्रोपवासिना । अतीतेऽब्देऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि ॥’ इति । संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यमाशौचोदकदानादिकं कार्यं, न पुनः स्नानमात्राच्छुद्धिरित्यर्थः । पितृपत्न्यामपि मातृव्यतिरिक्तायां स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः—‘पितृपत्न्यामपेतायां मातृवर्जं द्विजोत्तमः । संवत्सरे व्यतीतेऽपि त्रिरात्रमनुचिर्भवेत् ॥’ इति । यस्तु नद्यादिव्यवहिते देशान्तरे मृतस्तसपिण्डानां

दशाहादूर्ध्वं मासत्रवादवागपि सद्यःशौचम् ; 'देशान्तरमृतं श्रुत्वा बलीके
वैखानसे यतौ । मृते स्नानेन शुद्ध्यन्ति गर्भस्त्रावे च गोत्रिणः ॥' इति ।
देशान्तरलक्षणं च बृहस्पतिनोक्तम्—'महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यव-
धायकः । वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ॥ देशान्तरं वदन्त्येके
षष्टियोजनमायतम् । चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च ॥' इति । इदं
चातिक्रान्ताशौचमुपनीतोपरमविषयम् । न पुनर्वयोवस्थाविशेषाशौचविषयमपि ।
तथा चोक्तं व्याघ्रपादेन—'तुल्यं वयसि सर्वेषामतिक्रान्ते तथैव च । उपनीते तु
विषमं यस्मिन्नेवातिकालजम् ॥' इति । अयमर्थः—वयसि त्रिवर्षादिरूपे यदा-
शौचं 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इत्यादिवाक्यविहितं तत्सर्वेषां ब्राह्म-
णादिवर्णानां तुल्यमविशिष्टम् । अतिक्रान्ते च दशाहादिके व्यहादि यदाशौचं
तदपि सर्वेषामविशिष्टम् । उपनीते पुनरुपरमे दशद्वादशपञ्चदशत्रिंशद्दिनानां त्येवं
विषममाशौचं ब्राह्मणादीनाञ्च । तस्मिन्नेवोपनीतोपरम एव अतिकालजमतिक्रा-
न्ताशौचं भवति न वयोवस्थाशौचातिक्रम इति ॥ २१ ॥

भाषा—राजा, गौ और ब्राह्मण द्वारा मारे गये एवं स्वयं आत्महत्या
करके मरे हुए व्यक्तियों के सम्बन्धी की शुद्धि तत्काल होती है । दूसरे देश
में मरे हुए व्यक्ति के लिये (मृत्यु का समाचार ज्ञात होने पर) दस दिनों में
जितने दिन शेष रहते हैं उतने दिन में शुद्धि होती है और यदि समय पूरा
हो गया हो तो उदक दान देकर ही उसके गोत्र वाले शुद्ध हो जाते हैं ॥२१॥

चत्रियादिषु दशरात्रस्य सपिण्डाशौचस्यापवादमाह—

क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशः पञ्चदशैव तु ।

त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य तदर्धं न्यायवर्तिनः ॥ २२ ॥

चत्रियवैश्यशूद्राणां सपिण्डजनने तदुपरमे च यथाक्रमेण द्वादशपञ्चदश-
त्रिंशद्दिनान्याशौचं भवति । न्यायवर्तिनः पुनः शूद्रस्य पाकयज्ञद्विजशुश्रूषादि-
रतस्य तदर्धं तस्य मासस्यार्धं पञ्चदशरात्रमाशौचम् । एवं च 'त्रिरात्रं दशरात्रं वा'
(प्रा० १८) इत्येतद्दशरात्रमाशौचं पारिशेष्याद् ब्राह्मणविषये व्यवतिष्ठते
स्मृत्यन्तरेषु तु चत्रियादीनां दशाहादयोऽप्याशौचकल्पा दर्शिताः । यथाह
पराशरः—'चत्रियस्तु दशाहेन स्वकर्मनिरतः शुचिः । तथैव द्वादशाहेन वैश्यः
शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' तथा च शातातपः—'एकादशाहाद्रजन्यो वैश्यो द्वादशभि-
स्तथा । शूद्रो विंशतिरात्रेण शुद्ध्येत मृतसूतके ॥' वसिष्ठस्तु—'पञ्चदशरात्रेण
राजन्यो विंशतिरात्रेण वैश्यः' इति । अङ्गिरास्त्वाह—'सर्वेषामेव वर्णानां सूतके
मृतके तथा । दशाहाच्छुद्धिरतेषामिति शातातपोऽब्रवीत् ॥' इत्येवमनेकोच्चाव-

आशौचकल्पा दर्शिताः; तेषां लोके समाचाराभावाच्चातीव व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयो-
गीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते । यदा पुनर्ब्राह्मणादीनां क्षत्रियादयः सपिण्डा भव-
न्ति तदा हारीताशुकाशौचकल्पोऽनुसरणीयः ।—‘दशाहाच्छुद्धयते विप्रो जन्म-
हानौ स्वयोनिषु । षड्भिस्त्रिभिर्भिरथेकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥’ इति । विष्णुरप्याह
(२२।२३, २४)—‘क्षत्रियस्य विट्शूद्रेषु सपिण्डेषु षड्भिरात्रिभिर्भिरात्र्यां वैश्यस्य
शूद्रे सपिण्डे षड्भिरत्रेण शुद्धिर्हीनवर्णानां तूत्कृष्टेषु सपिण्डेषु जातेषु मृतेषु वा तदाऽऽ-
शौचव्यपगमे शुद्धिः’ (२२।२१) इति बौधायनेन स्वविशेषेण दशाह इत्युक्तम्—
‘क्षत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामाशौचे विप्रस्य दशाहाच्छु-
द्धिरप्यते ॥’ इति । अनयोश्च पञ्चयोरापदनापह्नियत्वेन व्यवस्था । दास्यादीनां
तु स्वांमिशौचेन स्फुर्यत्वं, कर्मानधिकारैश्च तु मासावधिरेव । तदाहाङ्गिराः—
‘दासी दासश्च सर्वो वै यस्य वर्णस्य यो भवेत् । तद्वर्णस्य भवेच्छौचं दास्या मास-
स्तु सूतकम् ॥’ इति प्रतिलोमानां स्वाशौचाभाव एव; ‘प्रतिलोमा धर्महीनाः’
इति मनुस्मरणात् । केवलं मृतौ प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत्
शौचं भवत्येव ॥ २२ ॥

भाषा—(सपिण्ड व्यक्ति के जन्म एवं मृत्यु पर) क्षत्रिय को बारह दिन
का, वैश्य को पन्द्रह दिन का और शूद्र को तीस दिन का आशौच होता है;
किन्तु न्यायवर्ती (द्विज की सेवा में रहने वाले) शूद्र को पन्द्रह दिन का ही
आशौच होता है ॥ २२ ॥

यवोवस्थाविशेषादपि दशाहाद्याशौचस्यापवादमाह—

आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता ।

त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ॥ २३ ॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिस्तस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तत्संब-
न्धिनां सद्यः शौचं चूडाकरणाद्वाङ्मृतस्य संबन्धिनां नैशिकी निशायां भवा
अहोरात्रन्यापिन्यशुद्धिः । व्रतादेश उपनयनं ततोऽर्वाक् चूडायाश्चोर्ध्वमती-
तस्य ग्रहमशुद्धिः । अत्र च ‘आ दन्तजन्मनः सद्य’ इति वक्ष्यविशेषेणा-
भिधानं तथाप्यग्निसंस्काराभावे द्रष्टव्यम् ; ‘अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव
शुद्धिर्नास्याग्निसंस्कारो नोदनक्रिया’ इति वैष्णवे अग्निसंस्काररहितस्य सद्यः
शौचविधानात् । सति त्वग्निसंस्कारे ‘अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च’ (प्रा० २४)
इति वक्ष्यमाण एकाहः । तथा च यमः—‘अदन्तजाते तनये शिक्षी गर्भम्युते
तथा । सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकम् ॥’ इति । नामकरणात्प्राक्सद्यः-
शौचमेव नियतम् । ‘प्राङ्नामकरणात्सद्यःशुद्धिः’ इति शङ्खस्मरणात् । चूडाकर्म

च प्रथमे तृतीये वा वर्षे स्मर्यते—‘चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥’ इति स्मरणात् । ततश्च दन्तजनना-
दूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडाकर्मपर्यन्तमेकाहः । तत्र त्वकृतचूडस्य दन्तजनने सत्यपि
त्रिवर्षं यावदेकाह एव । तथा च विष्णुः (२२।२९)—‘दन्तजातेऽप्यकृतचूडे-
ऽहोरात्रेण शुद्धिः’ इति । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनायात् श्यहः । यत्तु मनुवचनम्
(५।६७)—‘नृणामकृतचूडानामशुद्धिनैशिकी स्मृता । निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरा-
त्राच्छुद्धिरिष्यते ॥’ इति । तस्याप्ययमेव विषयः । यत्तूनद्विवर्षमधिकृत्य तेनै-
वोक्तम् (५।६९)—‘अरण्ये काष्ठवश्यक्त्वा ‘क्षिपेयुस्त्यहमेव तु’ इति । यच्च
वसिष्ठवचनम् (४।३५)—‘ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रम्’
इति,—तत्संवत्सरचूडाभिप्रायेण । यत्तु अङ्गिरोवचनम्—‘यद्यप्यकृतचूडो वै
जातदन्तश्च संस्थितः । तथापि दाहयित्वैनमाशौचं श्यहमाचरेत् ॥’ इति,—तद्व-
र्षत्रयादूर्ध्वं कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षे वेदितव्यम् ; ‘विप्रे न्यूनत्रिवर्षे तु मृते
शुद्धिस्तु नैशिकी’ इति तेनैवाभिहितत्वात् । नचायमेकाहो दन्तजननाभाव
इति शङ्कनीयम् । नहि न्यूनत्रिवर्षस्य दन्तानुत्पत्तिः संभवति । तथा सत्यपि
दन्तजनने अकृतचूडस्यैकाहं वदता विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहरः स्यात् ।
तस्मात्प्राचीनैव व्याख्या उयायसी । यत्तु कश्यपवचनम्—‘बालानामदन्तजा-
तानां त्रिरात्रेण शुद्धिः’ इति,—तन्मातापितृविषयम् ; ‘निरस्य तु पुमान्शुक्रमु-
पैस्पर्शाद्विशुद्ध्यति । वैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादधं श्यहम् ॥’ इति जन्मज-
नकसंबन्धोपाधिकतया त्रिरात्रस्मरणात् । ततश्चायमर्थः—‘प्राङ्नामकरणात्सद्यः
शौचं तदूर्ध्वं दन्तजननाद्वाग्नि संस्कारक्रियायां एकाहः । इतरथा सद्यः
शौचम् । जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाच्चौलादवागेकाहः । प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिवर्ष-
पर्यन्तं कृतचूडस्य श्यहम् । इतरस्य त्वेकाहः । वर्षत्रयादूर्ध्वमकृतचूडस्यापि
श्यहम् । उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां ब्राह्मणादीनां दशरात्रादिकमिति ॥ २३ ॥

भाषा—दाँत निकलने से पहले ही (बालक की) मृत्यु होने पर
तत्काल शुद्धि होती है; चूडाकरणसंस्कार होने से पहले मृत्यु होने पर एक
दिनरात आशौच रहता है; उसके उपरान्त व्रतबन्ध होने के पहले (मृत्यु
होने पर) तीन दिन रात और उसके बाद (व्रतबन्ध हो चुकने के बाद)
मृत्यु हो तो दश दिन आशौच रहता है ॥ २३ ॥

इदानीं स्त्रीषु च वयोवस्थाविशेषेणापवादमाह—

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ।

१. क्षिपेत् तत् श्यहमेव । २. कुलवर्णधर्मापेक्षया । ३. मुपस्पृश्य इति ।

अदत्ता अपरिणीता याः कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानात्प्रागहोरात्रं विशेषेण शुद्धिकारणं सपिण्डानाम्, सापिण्ड्यं च कन्यानां त्रिपुरुषपर्यन्तमेव । 'अप्रतानां तु स्त्रीणां त्रिपुरुषी विज्ञायते' (४११८) इति वसिष्ठस्मरणात् । बालेषु चानुत्पन्नदन्तेषु अग्निसंस्कारे सत्येकाहो विशेषनम् । अकृतचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचम् । 'अचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते' 'इत्या-पस्तम्बस्मरणात् । वाग्दानादूर्ध्वं तु संस्कारात्प्राक्पतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव । यथाऽऽह मनुः (५।७२) 'स्त्रीणामसंस्कृतानां तु व्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः । यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥' इति । बान्धवाः पतिपक्ष्यास्त्रिरा-त्रेण शुद्ध्यन्ति । सनाभयस्तु पितृपक्ष्याः सपिण्डा यथोक्तेनैव कल्पेन 'निर्वृत्तचूड-कानाम्' इत्यादिनोक्तेन त्रिरात्ररूपेण, न पुनर्दशरात्ररूपेण; विवाहात्प्राक् तस्या-युक्तत्वात् । अत एव मरीचिः—'वारिपूर्वं प्रदत्ता तु या नैव प्रतिपादिता । असंस्कृता तु सा ज्ञेया त्रिरात्रमुभयोः स्मृतम् ॥' इति । उभयोः पतिपितृपक्षयोः । विवाहादूर्ध्वं तु विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।३३, ३४)—'संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे, तत्प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे स्यातां तदैकरात्रं त्रिरात्रं च' इति । तत्र प्रसवे एकाहः प्रायणे, त्रिरात्रमिति व्यवस्था । इदं च वयोवस्थाशौचं सर्ववर्णसाधारणम् । 'क्षत्रस्य द्वादशाहानि' (प्रा० २२) इति तद्वर्णविशेषोपादा-नेनाभिधानात् । अत एव मनुना अनुपात्तवर्णविशेषाशौचविधेः साधारण्यप्रति-पादनार्थं चातुर्वर्ण्याधिकारे सत्यपि पुनः 'चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः' इत्युक्तम् । तथाङ्गिरसाप्युक्तम्—'अविशेषेण वर्णानामर्वाक्संस्कारकर्मणः । त्रिरा-त्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्ना विधीयते ॥' इति व्याघ्रपादवचनं च 'तुल्यं वयसि सर्वेषाम्' इति प्राक् प्रदर्शितम् । अतो यथा 'पिण्डयज्ञावृता देयम्' (प्रा० १६) इत्यादिः पिण्डोदकदानविधिः सर्ववर्णसाधारणः । यथा वा समानोदकाशौचविधिः 'अन्तरा जन्ममरणे' (प्रा० २०) इति संनिपाताशौचविधिश्च यद्वच्च 'गर्भस्त्रावे मासतुल्या निशा' (प्रा० २०) इति स्त्रावाशौचविधिः, 'प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे व्यहमेव तु' (प्रा० २१) इति विदेशस्थाशौचविधिश्च, यथा वा गुर्वाद्या-शौचविधिः सर्ववर्णसाधारणः तथा वयोवस्थानिमित्तमप्याशौचं सर्ववर्णसाधा-रणमेव भवितुमर्हति । अत एव 'क्षत्रे षड्भिः कृते चौले वैश्ये नवभिरुच्यते । ऊर्ध्वं त्रिवर्षाच्छूद्रे तु द्वादशाहो विधीयते ॥' तथा 'यत्र त्रिरात्रं विप्राणामाशौचं संप्रदृश्यते । तत्र शूद्रे द्वादशाहः पणनव क्षत्रवैश्ययोः ॥' इत्यादीनि ऋष्यशृङ्गादि-वचनानि विगीतस्वबुद्ध्याऽनाद्वयमाणैर्धारेश्वरविश्वरूपमेधातिथिप्रभृतिभिराचार्यै-रयमेव साधारणः पक्षोऽङ्गीकृतः । अविगीतानि चार्तानार्तक्षत्रियादिविषयतया व्याख्येयानि ॥

१. इति वसिष्ठस्मरणात् । २. यदूर्ध्वं ।

२७ या०

गुर्वादिष्वतिदेशमाह—

गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥ २४ ॥

गुरुत्वाध्यायः, अन्तेवासी शिष्यः, अनूचानोऽङ्गानां प्रवक्ता, मातुल'ग्रहणे-
नात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्च योनिसंबद्धा उपलक्ष्यन्ते । ते च 'पत्नी-
बुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र दर्शिताः । श्रोत्रिय एकशाखाध्यायी; 'एकां
शाखामधीत्य श्रोत्रियः' इति बौधायनस्मरणात् । एषूपरतेष्वहोरात्रमाशौचम् ।
यस्तु मुख्यो गुरुः पिता तदुपरमे सपिण्डत्वादशाहमेव । यस्तु पिता
पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदानध्याप्य वेदार्थं ग्राहयित्वा वृत्तिं च विदधाति, तस्य
महागुरुत्वात्तदुपरमे द्वादशरात्रं वा । 'महागुरुषु दानाध्ययने वर्जयेरन्' इति
आश्वलायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् । आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव । यथाह मनुः
(५।८०)—'त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां
च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥' इति । यदा स्वाचार्यादेरन्येष्टिं करोति तदा
दशरात्रमाशौचम् (५।६५)—'गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरेत् ।
प्रेताहारैः समं तत्र दशाहेन विशुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । श्रोत्रि-
यस्य तु समानग्रामीणस्यैतदाशौचम्; 'एकाहं स ब्रह्मचारिणि समानग्रामीणे
च श्रोत्रिये' (४।२६, २७) इत्याश्वलायनस्मरणात् । एकाचार्योपनीतः स ब्रह्म-
चारी । एतच्चासंनिधाने द्रष्टव्यम् । संनिहिते तु शिष्यादौ त्रिरात्रादि ।
यथाह मनुः (५।८१)—'श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यस्त्विगबान्धवेषु च ॥' इति । उपसंपन्ने मैत्री-
प्रातिवेश्यत्वादिना संबद्धे शीलयुक्ते वा । 'मातुल'ग्रहणं मातृवत्त्वादेरुपल-
क्षणार्थम् । बान्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्चोच्यन्ते । तथा च
बृहस्पतिः—'इह मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्' इति । तथा प्रचेताः—
'मृते चस्त्विजि याज्ये च त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । तथा च बृहवसिष्ठः—
'संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो
व्यवस्थितः ॥ पित्रोऽपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत् । त्रिरात्रेणैव शुद्धिः
स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ श्वशुरयोर्भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले । पित्रोः
स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयेज्जिहाम् ॥' तथा—'मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्ग-
नासु च । अशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥' तथा च गौतमः
(१।४।२०)—'पक्षिणीमसपिण्डे योनिसंबद्धे सहाध्यायिनि च इति । योनिसंबद्धा
मातुलमातृवत्स्त्रीयपितृवत्स्त्रीयादयः । तथा जावालः—'एकोदकानां तु इहो
गोत्रजानामहः स्मृतम् । मातृबन्धौ गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथा ॥' इति ।

१. संबन्धा उप । २. समारमेत् । ३. त्मादिसंबन्धे ।

विष्णुः (२२।४६) — ‘असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रम्’ इति; तथा बृहदः — ‘भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥ शालके तत्सुते चैव सद्यःस्नानेन शुद्धयति । ग्रामेश्वरे कुलण्टौ श्रोत्रिये च तपस्विनि । शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुचिर्नृत्तदर्शनात् ॥ ग्राममध्यगतो यावच्छ्वस्तिष्ठति कस्यचित् । ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् ॥’ इत्यादीन्याशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्यन्वेषणीयानि । ग्रन्थगौरव-भयादत्र न लिख्यन्ते । एषु चैकविषयगुह्यध्वाशौचप्रतिपादकतया परस्परविरु-द्धेषु संनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्थाऽनुसंधातव्या ॥ २४ ॥

भाषा—अपरिणीता कन्या के वारदान के पहले मरने पर एक दिन-रात में ही आशौच की शुद्धि होती है । इसी प्रकार गुरु, शिष्य, वेदाङ्ग के प्रवक्ता, मामा और श्रोत्रिय के मरने पर भी एक दिन-रात में शुद्धि होती है ॥ २४ ॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।

निवासराजनि प्रेते’ तदहः शुद्धिकारणम् ॥ २५ ॥

किंच । अहरित्यनुवर्तते । अनौरसाः क्षेत्रजदत्तकादयः, तेषु जातेषूपरतेषु चाहोरात्रमाशौचम् । तथा स्वभार्यास्वन्यगतास्वन्यं प्रतिलोमव्यतिरिक्तं आश्रि-तासु अतीतासु चाहोरात्रमेव न पुनः सत्यपि सापिण्ड्ये दशरात्रम् । प्रतिलोमा-श्रितासु चाशौचाभाव एव; ‘पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेना’ (प्रा० ६) इत्यनेन प्रतिषे-धात् । एतच्च ‘भार्या-पुत्रत्व’शब्दयोः संबन्धिशब्दत्वात् यत्प्रातिभौगिकं भार्यात्वं पुत्रत्वं च तस्यैवेदमाशौचम् । सपिण्डानां त्वाशौचाभाव एव । अत एव प्रजा-पतिः—‘अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च । गोत्रिणः स्नानशुद्धाः स्युस्त्रिरात्रेणैव तत्पिता ॥’ इति । स्वैरिण्याद्यास्तु यमाश्रितास्तस्य तु त्रिरात्रमेव । यथाह विष्णुः (२२।४३) — अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च । परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु मृतासु च ॥’ इति त्रिरात्रमत्र प्रकृतम् । अनयोश्च त्रिरात्रैकरात्रयोः संनिधिविदे-शस्थापेक्षया व्यवस्था । यदा तु पितुस्त्रिरात्रं तदा सपिण्डानामेकरात्रम् ; यथाह मरीचिः—‘सूतके मृतके चैव त्रिरात्रं परपूर्वयोः । एकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्रं यत्र वै पितुः ॥’ इति । किंच, निवसत्यस्मिन्निति निवासः स्वदेश उच्यते; तस्य यो राजा स्वामी विषयाधिपतिः स यस्मिन्नहनि अतीतस्तदहर्मात्रं शुद्धिकारणम् । रात्रौ चेदतीतस्तदा रात्रिमात्रम् । अत एव मनुः (५।८२) — ‘प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः’ इति । ज्योतिषा सह वर्तते इति सज्योतिरा-शौचम् । अह्नि चेद्यावत्सूर्यदर्शनं रात्रौ चेद्यावन्नृत्तदर्शनमित्यर्थः ॥ २५ ॥

भाषा—औरस के अतिरिक्त अन्य (क्षेत्रज, दत्तक आदि) पुत्रों के जन्म एवं मृत्यु पर, और दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली पत्नियों की तथा स्वदेश के राजा की मृत्यु पर एक दिन-रात आशौच होता है ॥ २५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो न द्विजः कचित् ।

अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणेन असपिण्डेन द्विजो विप्रादिः शूद्रो वा प्रेतो नानुगन्तव्यः । यदि स्नेहादिनानुगच्छति तदाऽम्भसि तडागादिस्थे स्नात्वाग्निं स्पृष्ट्वा घृतं प्राश्य शुचिर्भवेत् । अस्य च घृतप्राशनस्य भोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावान्न भोजन-प्रतिषेधः । इदं समानोत्कृष्टजातिविषयम् । यथाह मनुः (५।१०३)—‘अनु-गम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥’ इति । ज्ञातयो मानुसपिण्डाः । इतरेषां तु विहितत्वान्न दोषः । निकृष्टजात्यनुगमने तु स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तत्र शूद्रानुगमने—‘प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति ॥ त्रिरात्रे तु ततस्तीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥’ इति पराशरोक्तम् । क्षत्रियानुगमने त्वहोरात्रम् ; ‘मानुषास्थिं स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचं अस्निग्धे त्वहोरात्रं श्वानुगमने चैकम्’ इति वसिष्ठो-क्तम् । वैश्यानुगमने पुनः पक्षिणी । तथा क्षत्रियस्यानन्तरवैश्यानुगमने अहो-रात्रं एकान्तरशूद्रानुगमने पक्षिणी वैश्यस्य शूद्रानुगमने एकाह इत्यूहनीयम् ॥ तथा रोदनेऽपि पारस्करेणोक्तम्—‘मृतस्य बान्धवैः सार्धं कृत्वा तु परिदेवनम् । वर्जयेत्तदहोरात्रं दानं श्राद्धादिकर्म च ॥’ इति । तथालंकरणमपि न कार्यम् ; ‘कृच्छ्रपादोसपिण्डस्य प्रेतालंकरणे कृते । अज्ञानादुपवासः स्यादक्षकौ स्नात्वा-मिष्यते ॥’ इति शङ्केन प्रायश्चित्तस्याग्नातत्वात् ॥ २६ ॥

भाषा—ब्राह्मण को भिन्नगोत्र के द्विज या शूद्र वर्ण के मृतक के साथ नहीं जाना चाहिए । यदि (स्नेहवश) जावे तो जल में स्नान करके अग्नि का स्पर्श करके तथा घृत खाकर शुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

सपिण्डाशौचे कचिदपवादमाह—

महीपतीनां नाशौचं हतानां विद्युता तथा ।

गोब्राह्मणार्थं संग्रामे यस्य चेच्छति भूमिपः ॥ २७ ॥

यद्यपि ‘मही’शब्देन कृत्स्नं भूगोलकमभिधीयते तथाप्यत्र सकलायाः क्षिते-रेकभर्तृकत्वानुपपत्तेः ‘महीपतीनां’ इति बहुवचनानुरोधाच्च तदेकदेशभूतानि

मण्डलानि लक्ष्यन्ते । तत्पालनाधिकृतानां सत्रियादीनामभिषिक्तानां नाशौचम् । तैराशौचं न कार्यमित्यर्थः । तथा विद्युद्धतानां गोब्राह्मणरक्षणार्थं विपन्नानां च संबन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम् । यस्य च मन्त्रपुरोहितादे-
भूमिपोऽनन्यसाध्यमन्त्राभिचारादिकर्मसिद्धयर्थमाशौचाभावमिच्छति तेनापि न कार्यम् । अत्र च महीपतीनां यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तद्येन दानमानसत्कारव्यवहारदर्शनादिना विना न संभवति तत्रैवाशौचाभावो न पुनः पञ्चमहायज्ञादिष्वपि । तथा च मनुः (५।९५)—‘राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥’ इति ।
गौतमेनाप्युक्तम् (१४।४५)—‘राज्ञां च कार्याविधातार्थम्’ इति राजभृत्या-
देरप्याशौचं न भवति । तथाह प्रचेताः—‘कारवः शिल्पिनो वैद्यो दासीदासास्त-
थैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥’ इति । कारवः सूय-
कारादयः । शिल्पिनश्चित्रकारचैलनिर्णेजकादयः । अयं चाशौचाभावः किंविषय-
इत्यपेक्षायां कर्मनिमित्तैः शब्दैस्तत्तदसाधारणस्य कर्मणो बुद्धिस्थत्वात्तत्रैव दृष्ट-
व्यः । अत एव विष्णुः (२२।४८-५१)—‘न राज्ञां राजकर्मणि न ब्रतिनां ब्रते न सत्रिणां सत्रे न कारुणां कारुकर्मणि इति प्रतिनियतविषयमेवाशौचाभावं दर्शयति ।
ज्ञातातपीयेऽप्युक्तम्—‘मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासीदासास्तथैव च । स्नाने शरीर-
संस्कारे गृहकर्मण्यदूषिताः ॥’ इति । इयं च दासादिशुद्धिपरिहरणीयतया ग्रास-
स्पर्शविषयेत्यनुसंधेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—‘सद्यःस्पृश्यो गर्भदासो भक्त-
दासस्त्यहाच्छुचिः ।’ तथा—‘चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते ॥ तस्मा-
च्चिकित्सकः स्पर्शं शुद्धो भवति नित्यशः ॥’ इति ॥ २७ ॥

भाषा—राजाओं का, बिजली गिरने से मरे हुए व्यक्तियों का, गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए युद्ध में मारे गये पुरुषों का आशौच नहीं होता । जिस व्यक्ति का आशौच राजा न होने देना चाहे उसका भी आशौच नहीं होता ॥ २७ ॥

ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।

सत्रिवतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ २८ ॥

दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविण्णत्वे ।

आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच, ऋत्विजो वरणसंभृता वैतानोपासनाकर्तृविशेषाः । दीक्षया संस्कृता दीक्षितास्तेषां यज्ञियं यज्ञे भवं च कर्म कुर्वतां ‘सद्यः शौचं विधीयत’ इति

१. रक्षार्थं शायनं । २. भृत्या वैद्या दासास्तथैव । ३. वरणकरण-
संगता । वरणाभरणसंभृता ।

सर्वत्रानुषङ्गः; दीक्षितस्य 'वैतानोपासनाः कार्याः' (प्रा. १७) इत्यनेन सिद्धे-
ऽप्यधिकारे पुनर्वचनं यजमाने स्वयंकर्तृत्वविधानार्थं सद्यःस्नानेन विशुद्धयर्थं च;
'सन्नि' ग्रहणेन संततानुष्ठानतुल्यतया सन्नप्रवृत्ता लक्ष्यन्ते; मुख्यानां तु सन्निगां
'दीक्षित'ग्रहणेनैव सिद्धेः । 'व्रति'शब्देन कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः स्नातक-
व्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते; तथा 'ब्रह्मचारि' ग्रहणेन ब्रह्मचर्यादिव्रतयोगिनः
श्राद्धकर्तृभोक्तृश्च ग्रहणम् , तथा 'स्मृत्यन्तरम्—'नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रा-
यणादिषु । निर्वृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि न
स्यादन्यस्य कस्यचित् । निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रौढे श्राद्धकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य
विप्रस्य स्वाध्यायादिरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठत्यु नाशौचं विद्यते क्वचित् ॥ प्राय-
श्चित्तप्रवृत्तानां दातृब्रह्मविदां तथा ॥' इति । सन्निगां व्रतिनां सन्ने व्रते च शुद्धिर्न
कर्ममात्रे संव्यवहारे वा । तथा च विष्णुः (२२।४९, ५०)—'न व्रतिनां व्रते, न
सन्निगां सन्ने' इति ॥ ब्रह्मचार्यपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । यस्तु नित्यं दातैव, न
प्रतिग्रहीता स वैखानसो 'दातृ'शब्देनोच्यते । ब्रह्मविद्यतिः । एतेषां च त्रयाणा-
माश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः; विशेषे प्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य
नाशौचम् ; 'पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति' इति क्रतुस्मरणात् ।
स्मृत्यन्तरे चात्र विशेष उक्तः—'विवाहोत्सवयज्ञादिष्वन्तरा मृतसूतके । शेषमन्नं
परैर्देयं दातृभोक्तृश्च न स्पृशेत् ॥' इति । यज्ञे वृषोत्सर्गादौ विवाहे च पूर्व-
संभृतसंभारे । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'यज्ञे संभृतसंभारे विवाहे श्राद्धकर्मणि'
इति । सद्यःशौचमत्र प्रकृतम् । 'विवाह'ग्रहणं पूर्वप्रवृत्तचौलोपनयनादिसंस्कार-
कर्मोपलक्षणम् । 'यज्ञ'ग्रहणं च पूर्वप्रवृत्तदेवप्रतिष्ठारामाणुत्सवमात्रोपलक्षणम् ।—
'न देवप्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च कष्टायामाशौचम्'
(२२।५३-५५) इति विष्णुस्मरणात् संग्रामे युद्धे ।—'संग्रामे समुपोलहे
राजानं संनाहयेत्' (गृ. सू. ३।१२।१) इत्याश्वलायनाद्युक्तसंनहनविधौ
प्रास्थानिकशान्तिहोमादौ च सद्यःशुद्धिः । देशस्य विस्फोटादिभिरुपसर्गैः, राज-
भयाद्वा विप्लवे तदुपशमनार्थं शान्तिकर्मणि सद्यःशौचम् । विप्लवाभावेऽपि
क्वचिद्देशविशेषेण पैतृनसिना शुद्धिरुक्ता—'विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि ।
न तत्र सूतकं तद्वत्कर्म यज्ञादि कारयेत् ॥' इति । तथा कष्टायामप्यापदि व्या-
ध्याद्यभिभवेन समूर्षावस्थायां दुरितशमनार्थं दाने । तथा संकुचितवृत्तेश्च क्षुत्परि-
श्रान्तमातापित्रादिवहुकुटुम्बस्य तद्गणोपयोगिनि प्रतिग्रहे सद्यःशुद्धिः । इयं च
शुद्धिर्यस्य सद्यःशौचं विनाऽऽत्युपशमो न भवति अश्वस्तनिकस्य तद्विषया ।

१. याजमानेषु । २. स्नानविध्यर्थ । स्नानविशुध्यर्थ । ३. तस्मादन्यस्य ।

४. प्रवृत्ते । ५. उपलक्षणम् ।

यस्त्वेकाहपर्याप्तसंचितधनस्तस्यैकाहः, यस्यहोपयोगिसंचयी तस्य त्र्यहः; यस्तु चतुरहार्धमापादितद्रव्यः कुम्भीधान्यस्तस्य चतुरहः, कुसूलधान्यकस्य दशाह इत्येवं यस्य यावत्कालमार्यभावस्तस्य तावत्कालमाशौचम् ; आपदुपाधिकत्वादाशौचसंकोचस्य । अत एव मनुना (४।७)—‘कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भी-धान्यक एव वा । त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥’ इत्यत्र प्रति-पादितचतुर्विधगृहस्थाभिप्रायेण (५।५९)—‘दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वाक्संचयनादश्वनां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥’ इति कल्पचतुष्टयं प्रति-पादितम् । समानोदकविषयाश्च संकुचिताशौचकल्पाः पक्षिण्येकाहः सद्यःशौच-रूपाः स्मृत्यन्तरे दृष्टाः वृत्तिसंकोचोपाधिकतयैव योज्याः । अयं चाशौचसंकोचो येनैव प्रतिग्रहादिना विनार्तिस्तद्विषयो न सर्वत्रेत्यवगन्तव्यम् ॥ मनुः—एकाहाद् ब्राह्मणः शुद्धयेद्योऽग्निवेदसमन्वितः । त्र्यहात्केवलवेदस्तु विहीनो दश-भिर्दिनैः ॥’ इत्यादिस्मृत्यन्तरवचनपर्यालोचनयाध्ययनज्ञानानुष्ठानयोगिनामेका-हादिभिः सर्वात्मना शुद्धिरित्येवं कस्मान्नेष्यते ? उच्यते—‘दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते’ (मनुः ५।५९) इति सामान्यप्राप्तदशाहबाधपुरःसरमेव हि ‘एकाहाद् ब्राह्मणः शुद्धयेत्’ इति विधायकं भवति । बाधकस्य चानुपपत्तिनिबन्धन-त्वात् यावत्प्रबाधितेऽनुपपत्तिप्रशमो न भवति तावद्बाधनीयम् । अतः कियद्नेन बाध्यमित्यपेक्षायामपेक्षितविशेषसमर्पणक्षमस्य ‘अग्निवेदसमन्वित’ इति वाक्यवि-शेषस्य दर्शनादग्निवेदविषयेऽग्निहोत्रादिकर्मणि स्वाध्याये च व्यतिष्ठते, न पुनर्दी-नादावपि । एवं चाग्निवेदपदयोः कार्यान्वयित्वं भवति । इतरथा येनाग्निवेद-साध्यं कर्म कृतं तस्यैकाहाच्छुद्धिरिति पुरुषविशेषोपलक्षणत्वमेव स्यात् । नचैवं युक्तम् ; एवं च सति—‘प्रत्यूहेऽग्निषु क्रियाः । वैतानोपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात् ॥ (प्रा० १७) इति । तथा ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायादिनिवृत्त्यर्थं सद्यःशौचमित्येवमादिभिर्मन्वादिवचनैरेकवाक्यता भवति । तथा च—‘उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते’ इति दशाहपर्यन्तं भोजनादिकं प्रतिषेधश्चिह्न-मादिवचनैरविरोधोऽपि सिद्ध्यति, अतः कश्चित्कमेवेदमाशौचसंकोचविधानं, न पुनः सर्वसंव्यवहारादिगोचरमित्यलमतिप्रपञ्चेन ॥

इदं च स्वाध्यायविषये सद्यःशौचविधानं बहुवेदस्य ब्रह्मोज्ज्वात्कृतायामार्तो द्रष्टव्यम् । इतरस्य तु—‘दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते’ इति प्रति-षेध एव । एवं ब्राह्मणादिमध्ये यस्य यावत्कालमाशौचमुक्तं स तस्यानन्तरं स्नात्वा शुद्धयेत्, न तत्कालातिक्रममात्रात् । यथाह मनुः (५।९९)—‘विप्रः शुद्धयत्यपः स्पृष्ट्वा रुत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा षष्टिं शूद्रः

कृतक्रियः ॥' इति । अयमर्थः—'कृतक्रियः' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । विप्रोऽनु-
भूताशौचकालः कृतक्रियः कृतस्नानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुद्ध्यति । स्पृष्ट्वेति
स्पर्शनक्रियैवोच्यते, न स्नानमाचमनं वा; वाहनादिषु तस्यैवानुषङ्गात् । अथवा
कृतक्रिया यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रादिरुदकादि स्पृष्ट्वा
शुद्ध्येत इत्याशौचकालानन्तरभाविस्नानप्रतिनिधित्वेनोच्यत इति । क्षत्रियादि-
वाहनादिकं स्पृष्ट्वा शुद्ध्येदिति ॥ २८-२९ ॥

भाषा—ऋत्विज, दीक्षित (जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो), यज्ञ
का काम करने वाले, यज्ञ करने वाले, व्रती, ब्रह्मचारी तथा दाता की दान,
विवाह, यज्ञ, युद्ध देश में व्याप्त उत्पात के उपशमन कर्म में और आपत्ति
(रोग-व्याधि) में (अकल्याण नाश के लिये दान देने में) तत्काल शुद्धि
होती है ॥ २८-२९ ॥

कुलव्यापिनीं शुद्धिमभिधायेदानीं प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनीं शुद्धिमाह—

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।

अभिलङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला, अशुचयः शवचण्डालपतितसूतिकाद्याः शावाशौचिनश्च
एतैः संस्पृष्टः स्नायात् । तैः पुनरुदक्याशुचिसंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट उपस्पृशेत्
आचमेत् । आचम्याभिलङ्गानि 'आपोहिष्ठा' (ऋ० ७।६।५) इत्येवमादीनि त्रीणि
मन्त्रवाक्यानि जपेत् । त्रिष्वेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात् । तथा गायत्रीं च
सकृन्मनसा जपेत् । ननु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिष्टस्य कथं
तैरिति बहुवचनपरामर्शः ? सत्यमेवम्, किंत्वत्र उदक्यादिसंस्पृष्टव्यतिरिक्तस्नाना-
हंमात्रस्पर्शेष्वाचमनविधानार्थं 'तैः' इति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः । ते च
स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरेवगन्तव्याः । यथाह पराशरः—'दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते
विरिक्ते क्षुरकर्मणि । चित्तिर्यूपैश्मशानास्थनां स्पर्शने स्नानमाचरेत्' इति । तथा
च मनुः (५।१४४)—'वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् । आचा-
मेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥' इति । मैथुनिनः स्नानमृतुकाल-
विषयम् ; 'अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत्' इति बृहस्पतिस्मरणात् ।
अनृतावपि कालविशेषे स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम्—'अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा
पर्वणि मैथुनम् । कृत्वा सचैलं स्नात्वा च वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥' इति ।
तथा च यमः—'अजीर्णोऽभ्युदिते वान्ते तथाप्यस्तमिते रवौ । दुःस्वप्ने दुर्जन-
स्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥' इति । तथा च बृहस्पतिः—'मैथुने कटधूमे च

१. शुद्ध्यतीति । इत्या । २. उदक्याशौचिभिः । ३. बहुवचनादरः ।

४. पूयश्मशाना ।

सद्यःस्नानं विधीयते' इत्येतदसचैलस्पर्शविषयम् । सचैलेन तु चित्यादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह क्यवनः—'श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनम् । ग्रामयाजिनं सोमविक्रयिणं यूषं चितिं चितिकाष्ठं च मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शैवस्पृष्टं रजस्वलां महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलमग्नेऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत् । घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेत्' इति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमात्रम् । 'शैवस्पृष्टं दिवाकीर्तिं चितिं यूषं रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्रः स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति ॥' इति । बृहस्पतिस्मरणात् । एवमन्यत्रापि वक्ष्यमाणेषु विषयसमीकरणमूहनीयम् ॥ यथाह कश्यपः—'उदयास्तमययोः स्कन्दयित्वा अक्षिस्पन्दने कर्णाक्रोशने चित्याशोहणे यूषसंस्पर्शने च सचैलं स्नात्वा पुनर्माम इति जपेन्महाव्याहृतिभिः सप्ताध्याहुतीर्जुहुयात्' इति । तथा च स्मृत्यन्तरे—'स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् । देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थं वत्सरत्रयम् ॥ असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः' ॥ तथा ब्रह्माण्डपुराणे—'शैवान्पाशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान्द्विजान्शूद्रान्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । तथा—'अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता' इति लिङ्गाच्च शूद्रस्पर्शने निषेधः ॥ तथाङ्गिराः—'यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति । तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' तथा व्याघ्रपादः—'चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् । गोवालव्यजनादर्वाक्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । एतदतिसंकटस्थलविषयम् । अन्यत्र तु बृहस्पतिनोक्तम्—'युगं च द्वियुगं चैव त्रियुगं च चतुर्युगम् । चाण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधः क्रमात् ॥' इति । तथा पैठीनसिः—'काकोलूकस्पर्शने सचैलस्नानम्, अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलस्नानं महाव्याहृतिहोमश्च । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे इत्येतच्चिरकालमूत्रपुरीषाशौचाकरणपरम् ।' तथाङ्गिराः—'भासवायसमार्जारखरोष्ट्रं च श्वशूकरान् । अमेध्यानि च संस्पृश्य सचैलो जलमाविशेत् ॥' इति । मार्जारस्पर्शनमित्तं स्नानमुच्छिष्टसमयेऽनुष्ठानसमये च वेदितव्यं समाचारात् । अन्यदा तु—'मार्जारश्चैव दर्वा च मारुतश्च सदा शुचिः' इति स्नानाभावः । श्वस्पर्शे तु स्नानं नाभेरूर्ध्वं वेदितव्यम् । अधस्तात्तु क्षालनमेव; 'नाभेरूर्ध्वं करौ मुक्त्वा शुना यद्युपहन्यते । तत्र स्नानमधस्ताच्चेत्क्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ तथा पत्तिस्पर्शे विशेषो जातुकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गं संस्पृशेत्स्वगः । स्नानं तत्र प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षाल्य शुद्ध्यति ॥' इति ।

अमेध्यस्पर्शोऽपि विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।७७-८०) 'नाभेरधस्तात्प्रबाहुषु च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मथैवोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्याचान्तः शुद्ध्येत् । अन्यत्रोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नायात् । तैरिन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन दशनच्छदोपहतश्च' इति । एतच्च परकीयामेध्यस्पर्शविषयम् । आत्मीयमलस्पर्शो तु ऊर्ध्वमपि नाभेः क्षालनमेव । यथाह देवलः—'मानुषास्थि वसां विष्टामार्तवं मूत्ररेतसी । मज्जानं शोणितं वापि परस्य यदि संस्पृशेत् ॥ स्नात्वा प्रमुञ्च्य लेपादीनाचम्य स शुचिर्भवेत् । तान्येव खानि संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात् ॥' इति । तथा च शङ्खः—'रथ्याकर्दमतोयेन घृविनाद्येन वा तथा । नाभेरूर्ध्वं नरः स्पृष्टः सद्यःस्नानेन शुद्ध्यति ॥' इति । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'सकर्मं तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसंकरम् । जङ्घयोर्मृत्तिकास्तिष्ठः पादयोर्द्विगुणास्ततः ॥' इति ग्रामसंकरं ग्रामसलिलप्रवाहप्रदेशं सकर्मं प्रविश्येत्यर्थः । मारुतशोषिते तु कर्ममादौ न दोषः । 'रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः । मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्षेष्टकचितानि च ॥' (आ० १९७) इति प्रागुक्तत्वात् । अस्थनि मनुना विशेष उक्तः (५।८७)—'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीच्य वा रविम् ॥' इति । इदं द्वैजातास्थिविषयम् । अन्यत्र वसिष्ठोक्तम्—'मानुषास्थि स्निग्धे स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचम् अस्निग्धे त्वहोरात्रम् ।' इति । अमानुषे तु विष्णूक्तम् (२२।७०)—'भक्ष्यचर्ज्यं पञ्चनखशवंतदस्थि च सस्नेहं स्पृष्ट्वा स्नातः पूर्ववच्चं प्रक्षालितं बिभृयात्' इति ॥ एवमन्येऽपि स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरतोऽवबोद्धव्याः ॥ एवं स्नानार्हाणां बहुस्वात्तदभिप्रायं तैरिति बहुवचनमविरुद्धम् । 'उदकयाशुचिभिः स्नायात्' इत्येतच्च दण्डाद्यचेतनव्यवधानस्पर्शो वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवम् (मनुः ५।८५)—'दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा । शवं तस्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥' इति । तृतीयस्य स्वाचमनमेव । 'तस्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते । ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा ॥' इति संवर्तस्मरणात् । एतच्चाबुद्धिपूर्वकविषयम् मतिपूर्वं तु तृतीयस्यापि स्नानमेव । यथाह गौतमः (१४।३०)—'पतितचण्डालसूतिकोदकयाशवस्पृष्टितस्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुद्ध्येत्' । इति । अतुर्थस्य स्वाचमनम् ; 'उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः । हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति देवलस्मरणात् । अशुचीनां पुनरुदकयादिस्पर्शो देवलेन विशेष उक्तः—'अपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम् । सूतिकां साविकां नारीं

१. च्चाण्डालाद्यचेतन । २. तमेव तु स्पृशेत् । ३. अशुचीनां पुनः ।

४. शवदाहकं ।

रजसा च परिप्लुताम् ॥ श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः । सचैलः
सशिराः स्नात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति ॥' इति । 'अशुद्धान्स्वयमप्येतान् शुद्धस्तु
यदि स्पृशेत् । विशुद्ध्यत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनः ॥' इति । सावित्रा प्रस-
वस्य कारयित्री । कृच्छ्रः श्वाकादिविषयः श्वादिवु तूपवास इति व्यवस्था ॥३०॥

भाषा—रजस्वला स्त्री और अशुचि व्यक्ति (शव, चण्डाल, पतित,
सूतिका, मृत्यु के कारण आशौची) द्वारा छू जाने पर स्नान करे; इन रजस्वला
स्त्री आदि द्वारा स्पृष्ट व्यक्ति से छू जाने पर आचमन करे और 'आपो हिष्ठा'
आदि तीन मन्त्रवाक्यों का जाप करके एक बार गायत्री का जप करे ॥३०॥

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तास्तथैवात्र प्रकरणे वक्ष्य-
माणांश्च शुद्धिहेतून्नुक्तामिति—

कालोऽग्निः कर्म मृदायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽस्मी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाऽन्यादयोऽस्मी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा कालोऽपि दशरात्रादिकः ।
शास्त्रागम्यत्वाच्छुद्धिहेतुत्वस्य । अग्निस्तावच्छुद्धिहेतुः । यथाभ्यधायि (आ०
१८७) 'पुनःपाकान्महीमयम्' इति । कर्म च शुद्धिनिमित्तं, यथा वक्ष्यति
(प्रा० २४४) 'अश्वमेधावभृथस्नानात्' इति । तथा मृदपि शुद्धिकारणं, यथा
कथितम् (आ० १८९)—'सलिलं भस्म मृदापि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्ध्यते' इति ।
वायुरपि शुद्धिहेतुः, यथोदीरितं (आ० १९७) 'मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति' इति ।
मनोऽपि वाचः शुद्धिधसाधनं, यथाग्नायि 'मनसा वा इषिता वाग्वदति' इत्यादि ।
ज्ञानं चाध्यात्मिकं बुद्धिधशुद्धौ निदानं, यथाभिधास्यति (प्रा० ३४) 'क्षेत्र-
ज्ञस्येश्वरज्ञानात्' इति । तपश्च कृच्छ्रादि, यथा वदिस्यति (प्रा० २६०) 'प्राजा-
पत्यं चरेत्कृच्छ्रं समो वा गुरुतरुपाः' इत्यादि । तथा जलमपि शरीरादेः, यथा
जल्पिस्यति (प्रा० ३३) 'वर्मणो जलम्' इति । पश्चात्तापोऽपि शुद्धिजनकः,
यथा गदितं 'ख्यापनेनानुतापेन' इति । निराहारोऽपि शुद्ध्युपादानं, यथा
व्याहरिष्यति (प्रा० ३०१) 'त्रिरात्रोपोषितो जपत्वा' इत्यादि ॥ ३१ ॥

भाषा—काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तपस्या, जल,
पश्चात्ताप और उपवास—ये सभी शुद्धि के कारण होते हैं ॥ ३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।

शोध्यस्य मृच्छ तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥

तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्मणो जलम् ।

जपः प्रच्छन्नपापानां मनसः सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

किंच, अकार्यकारिणां निषिद्धसेविनां दानमेव मुख्यं शुद्धिकारणं, यथा व्याख्यास्यति 'पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा' इति । नद्याः निदाघादावक्षतोयाया अमेध्योपहततीरायाः कूलकषवर्षाभुप्रवाहवेगः शुद्धिकृत् । 'शोधनीयस्य द्रव्यस्य मृच्च तोयं च शुद्धिकृत्', यथेह भणितम् (भा० १९१)—'अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धापकर्षणात्' इति । संन्यासः प्रवज्या द्विजन्मनां मानसापचारे शुद्धिकृत् । तपो वेदाभ्यासो वेदविदां शुद्धिकारणम् । कृच्छ्रादि तु सर्वसाधारणं न वेदविदामेव । क्षान्तिरुपशमो विदुषां वेदार्थविदाम् । वर्ष्मणः शरीरस्य जलम् । प्रच्छन्नपापानामविख्यातदोषाणां अवधमर्षणादिसूक्तजपः शुद्धिकारणं शुद्धिसाधनम् । मनः सदसःसंकल्पात्मकं तस्यासत्संकल्पत्वादशुद्धस्य सत्यं साधुसंकल्पः शोधकम् । 'भूत'शब्देन तद्विकारभूतो देहेन्द्रियसंघो लक्ष्यते । तत्र 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं काणोऽहं बधिरोऽहम्' इत्येवं तदभिमानित्वेन योऽयमात्मा वर्तते स भूतात्मा, तस्य तपोविद्ये शुद्धिनिमित्ते । 'तपः'शब्देनानेकजन्मस्वेकस्मिन्नपि वा जन्मनि जागरस्वप्नसुषुप्त्यवस्थास्वात्मनो योऽयमन्वयः, शरीरादेश्च व्यतिरेकः सोऽभिधीयते । यथा (तै० उ० ३।२।१) 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति पञ्चकोशव्यतिरेकप्रतिपादनपरे वाक्ये । 'विद्या'शब्देन चौपनिषदं 'अस्थूलमनण्वहस्वम्' (बृ० उ० ३।९।२६) 'असङ्गो हि' (बृ० उ० २।५।१४) 'अयमात्मा' (बृ० उ० ३।८।८) इत्यादि त्वंपदार्थनिरूपणविषया वाक्यजन्यं ज्ञानमुच्यते । एताभ्यामस्य शुद्धिः । शरीरादिव्यतिरेकबुद्धेः संशयविपर्ययरूपत्वेनाशुद्धायाः प्रमाणरूपं ज्ञानं विशोधनम् । क्षेत्रस्य तपोविद्याविशुद्धस्य त्वंपदार्थभूतस्य "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिवाक्यजन्यात्साक्षात्काररूपादीश्वरज्ञानात् "परमा विशुद्धिर्मुक्तिलक्षणा । यथैताः शुद्ध्यः परमपुरुषार्थास्तद्वद्युक्ततरा कालशुद्धिरपीत्येवं प्रशंसार्थं भूतात्मादिविशुद्ध्यभिधानम् ॥ ३२-३४ ॥

भाषा—निषिद्ध कार्य करने वाली की शुद्धि का कारण दान होता है, नदियों की शुद्धि करने वाला उनका प्रवाह वेग होता है; अशुद्ध वस्तु की मिट्टी और जल से, द्विजातियों की संन्यास से, वेद जानने वालों की तप (वेदाभ्यास) से, विद्वानों की क्षमा से, शरीर की जल से, गुप्त पापों

१. शोधनम् । २. इन्द्रियसंबन्धो । ३. जाग्रत्स्वप्न । ४. तत्त्वमसीत्यादि । ५. परमात्मशुद्धिः ।

की शुद्धि जप से होती है और मन की शुद्धि का कारण सत्य बताया गया है । भूतात्मा की शुद्धि का कारण तप और विद्या है तथा बुद्धि को शुद्ध करने वाला ज्ञान है । क्षेत्रज्ञ (अर्थात् तप और विद्या द्वारा विशुद्ध) की शुद्धि ईश्वर के ज्ञान से बताई गई है ॥ ३२-३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

अथापद्धर्मप्रकरणम् २

‘आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते’ (प्रा० १९) इत्यापदि मुख्या-शौचकल्पानुष्ठानासंभवेन सद्यःशौचाद्यनुकल्पमुक्त्वेदानीं तत्प्रसङ्गादापदि ‘प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा’ (आ० ११८) इत्याद्युक्तयाजनादिमुख्यवृत्त्यसंभवेन वृत्त्यन्तरमाह—

क्षेत्रेण कर्मणा जीवेद्विज्ञां वाप्यापदि द्विजः

निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥ ३५ ॥

द्विजो विप्रो बहुकुटुम्बतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः क्षेत्रसंबन्धिना कर्मणा शस्त्रग्रहणादिना आपदि जीवेत् । तेनापि जीवितुमशक्नुवन् वैश्य-संबन्धिना कर्मणा वाणिज्यादिना जीवेत्, न तु शूद्रवृत्त्या । तथा च मनुः (१०।८२)—‘उभाभ्यामप्याजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥’ इति । तथा आपद्यपि न हीनवर्णेन ब्राह्मी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ब्राह्मणेन क्षात्री, क्षत्रियेण वैश्यसंबन्धिनी, वैश्येन च शूद्री, इत्येवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्तिरेव । ‘अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठे-रञ्जतु कदाचिज्ज्यायसीम्’ इति वसिष्ठस्मरणात् । ज्यायसी च ब्राह्मी वृत्तिः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—‘उत्कृष्टं वाऽपकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हिंत्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥’ इति । शूद्रस्योत्कृष्टं ब्राह्मं कर्म न विद्यते । यथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शूद्रं कर्म । मध्यमे क्षेत्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्रुतसर्ववर्णसाधारणे’ इति । शूद्रश्चापद्रुतो वैश्यवृत्त्या शिल्पैर्वा जीवेत् । ‘शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तथा जीवन्वणिरभवेत् । शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥’ (आ० १२९) इति प्रागुक्तत्वात् ॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः (१०।१००)—‘यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुककर्मणि शिल्पानि विविधानि च ॥’ इति । अनेनैव न्यायेनानुलोमोपज्ञानामपि स्वानन्तरा वृत्तिरुहनीया । एवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या आपदं निस्तीर्य प्रायश्चित्ताचरणेनात्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत् । स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेदित्यर्थः । यद्वाऽयमर्थः—गर्हित-

१. साधारणे हि ते इति ।

वृत्त्यार्जितं धनं पथि न्यसेदुःसृजेदिति । तथा च मनुः (१०।१११)—‘जपहो-
मैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव तु ॥’
इति ॥ ३५ ॥

भाषा—आपत्काल में (अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में
असमर्थ होने पर) ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा
जीवननिर्वाह करे आपत्काल पार कर लेने पर (प्रायश्चित्त द्वारा) अपने को
पवित्र करके पुनः अपने वर्ण की वृत्ति अपनावे ॥ ३५ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।

तिलौदनरसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥

शस्त्रासवमधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिषः ।

मृत्चर्मपुष्पकुतपकेशतकविषक्षितिः ॥ ३७ ॥

कौशेयनीललवणमांसैकशफसीसकान् ।

शाकाद्रौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

‘नो विक्रीणीत’ इति प्रत्येकमभिसंबद्धयते । फलानि कदलीफलादीनि
बदरेकुदव्यतिरिक्तानि; यथाह नारदः—‘स्वयंशीर्णानि पर्णानि फलानां बदरेकुदे ।
रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत् ॥’ इति । उपलं मणिमाणिक्याद्यश्म-
मात्रम् । शौममतसीसूत्रमयं वस्त्रम् , ‘शौम’ग्रहणं तान्तवादेरुपलक्षणम् । यथाह
मनुः (१०।८७)—‘सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणशौमाविकानि च । अपि चेत्स्यु-
ररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥’ इति, सोमो लताविशेषः, ‘मनुष्य’पदेना-
विशेषास्त्रीपुंनपुंसकानां ग्रहणम् , अपूपं मण्डकादि भक्ष्यमात्रम् , वीरुधो
वेत्रामृतादिलताः, तिलाः प्रसिद्धाः, ‘ओदन’ग्रहणं भोज्यमात्रोपलक्षणम् ;
रसा गुदेक्षुरसशर्करादयः; तथा च मनुः (१०।८८)—‘क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं
तैलं मधु गुडं कुशान्’ इति । चारा यवचारादयः । ‘दधिक्षीरयो’ग्रहणं
मस्तुपिण्डकिलाटकूर्चिकादीनां तद्विकाराणामुपलक्षणम् । ‘क्षीरं सविकारम्’ (७।-
११) इति गौतमस्मरणात् । ‘घृत’ग्रहणं तैलादिस्नेहमात्रोपलक्षणम् , जलं
प्रसिद्धम् , शस्त्रं खड्गादि, ‘आसव’ग्रहणं मद्यमात्रोपलक्षणम् , मधूच्छिष्टं
सिक्थकम् , मधु क्षौद्रम् , लाक्षा जतु, बर्हिषः कुशाः, मृत् प्रसिद्धा, चर्मा-
जिनम् , पुष्पं प्रसिद्धम् , अजलोमकृतः कम्बलः कुतपः, केशाश्चर्मयादि-

-
१. रसचारदधि क्षीरघृतं जलम् । २. मधूच्छिष्टमधुलाक्षाः सबर्हिषः ।
३. कुतपकेश । ४. नीली । ५. उपलं माणिक्यादि । ६. अजीर्णलोमकृतः ।

संबद्धाः, तक्रमुदश्चित्, विषं शृङ्गादि, चित्तिर्भूमिः, 'नित्यं भूमिर्वीहियवाः जात्यश्वर्षमधेन्वनहुदृशैके' इति सुमन्तुस्मरणात् । कौशेयं कोशप्रभवं वसनम्, नीलं नीलारसम्, 'लवण'ग्रहणेनैव बिडसौवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमककृत्रिमाण्य-विशेषेण गृह्यन्ते । मांसं प्रलिद्धम्, एकशफा हयादयः, 'सीस'ग्रहणं लोहमात्रोपलक्षणम्, शाकं सवंम्; अविशेषात्, ओषधयः फलपाकान्ताः, 'आद्रौषधय' इति विशेषोपादानाच्छुष्केषु न दोषः, पिण्याकः प्रसिद्धः, पशव आरण्याः, 'आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च' (१०।८९)—इति मनु-स्मरणात् । गन्धाश्चन्दनागुरुप्रभृतयः, सर्वानेतान्वैश्यवृक्ष्या जीवन्ब्राह्मणः । कदाचिदपि न विक्रीणीत; चित्रियादेस्तु न दोषः । अत एव नारदेन 'वैश्यवृत्ताविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि' इति ब्राह्मणग्रहणं कृतम् ॥ ३६-३८ ॥

भाषा—फल, उपल (मणि, माणिक्य आदि), अतसी के सूत से निर्मित वस्त्र, सोमलता, मनुष्य, पुआ, बेंत आदि लता, तिल, ओदन (भोज्य पदार्थ, रस (घृत, तेल आदि), चार, दही, दूध, घी, जल, शक्कर, आसव, जूठा मद्य, मधु, लाख, कुश, मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, कुतप (बकरे के रोएँ से निर्मित कस्बल), केश (चँवर आदि) तक्र (मट्ठा) विष, भूमि, कौशेयवस्त्र, नील, नमक, मांस, एक खुर वाले पशु (जैसे घोड़ा), सीसा (और लोहा), शाक, आर्द्र औषधि, पिण्याक, जंगली पशु और गन्ध—इन सब वस्तुओं को वैश्य की वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते रहने पर भी कभी न देंगे ॥ ३६-३८ ॥

प्रतिप्रसवमाह—

धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥ ३९ ॥

यद्यावश्यकः पाकयज्ञादिधर्मोः स्वसाधनव्रीह्यादिधान्याभावेन न निष्पद्यन्ते तर्हि धान्येन तिला विक्रयं नयाः । तत्समाः द्रोणपरिमिता द्रोणपरिमिते-नेत्येवं तेन धान्येन समाः । तथा च मनुः (१०।१०)—'कामसुत्पाद्य कृष्यास्तु स्वयमेव कृषीवलः । विक्रीणीत तिलान्शुद्धधान्यधर्मार्थमचिरस्थितान् ॥' इति । 'धर्म'ग्रहणमावश्यकभेषजाद्युपलक्षणम् । अत एव नारदः—'अशक्तौ भेषजस्यार्थं यज्ञहेतोस्तथैव च । यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन-तत्समाः ॥' इति यद्यन्यथा विक्रीणीते तर्हि दोषः । (१०।९१)—'भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिर्भूत्वा श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥' इति मनुस्मरणात् । सजातीयैः पुनर्विनिमयो भवत्येव । 'रसा रसैर्निमातव्या नैवेव लवणं रसैः । कृताञ्जं च कृताञ्जेन तिला धान्येन तत्समाः ॥' (मनुः १०।९४)—इति । कृताञ्जं सिद्धाञ्जम्, तच्च कृताञ्जेन परिवर्तनीयम् । 'कृताञ्जं चाकृतान्नेन'

१. गौतमस्मरणात् । २. कृष्यां तु । ३. नस्वेवं लवणं । ४. नीयमिति यावत् ।

इति पाठे तु सिद्धमन्नमकृतान्नेन तण्डुलादिना परिवर्तनीयमिति ॥ ३९ ॥

भाषा—किन्तु धर्मार्थं (औषधादिकार्यार्थं) तिल के बराबर धान्य लेकर तिल बेचना उचित है ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्तनिषिद्धातिक्रमे दोषमाह—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।

पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

लाक्षालवणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यःपतनीयानि द्विजातिकर्म-
हानिकराणि । पयःप्रभृतीनि तु हीनवर्णकराणि शूद्रतुल्यत्वापादकानि ।
एतद्व्यतिरिक्तापण्यविक्रये वैश्यतुल्यता । यथाह मनुः (१०।९२-९३)—
'सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च । ग्रहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीर-
विक्रयात् ॥ इतरेषामपण्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं
च गच्छति ॥' इति ॥ ४० ॥

भाषा—लाक्षा (लाख), नमक और मांस बेचने पर पतित हो जाता
है और दूध, दही तथा सुरा बेचने पर वह निम्नवर्ण का हो जाता है (अर्थात्
शूद्र के समान बन जाता है) ॥ ४० ॥

आपद्रुतः संप्रगृह्णन्भुञ्जानो वा यतस्ततः ।

न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ ४१ ॥

किंच, यस्त्वधनोऽवसन्नकुटुम्बतया आपद्रुतोऽपि क्षत्रवृत्तिं वैश्यवृत्तिं वा
न प्रविविञ्चति स यतस्ततो हीनहीनतरहीनतमेभ्यः प्रतिगृह्णन्तदन्नं
भुञ्जानोऽपि वा एनसा पापेन न लिप्यते । यतस्तस्यामापदवस्थायामस-
त्प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन ज्वलनार्कसमः, यथा ज्वलनोऽर्कश्च हीनसंकरेऽपि
न दुष्यति 'तथाऽयमापद्रुतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तत्साम्यम् । एवं च वदता
आपद्रुतस्य परधर्माश्रयणाद् द्विगुणमपि स्वधर्मानुष्ठानमेव मुख्यमिति दर्शितं
भवति । तथा च मनुः (१०।९७)—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्व-
नुष्ठितः । परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः ॥' इति ॥ ४१ ॥

भाषा—आपद्रुकाल में जिस किसी का दान एवं अन्न ग्रहण करने वाले
ब्राह्मण को पाप नहीं लगता, क्योंकि वह अग्नि और सूर्य के समान
होता है ॥ ४१ ॥

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

१. निगच्छति । २. भुञ्जानोऽपि यत । ३. हीनतरस्ततो । ४. वा
नैवेनसा । ५. सेवाऽनूपो । ६. भैक्ष्यमापत्तौ ।

किंच, 'आपत्तौ जीवनानि' इति विशेषणात्कृष्यादीनां मध्ये अनापदवस्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । तथाऽऽपदि वैश्यवृत्तिः स्वयं कृता कृषिर्विप्रक्षत्रिययोरभ्यनुज्ञायते एवं शिल्पादीन्यप्यस्याभ्यनुज्ञायन्ते । शिल्पं रूपकरणादि, भृतिः प्रेप्यत्वम्, विद्या भृतकाध्यापकत्वाद्या, कुसीदं वृद्धयर्थं द्रव्यप्रयोगः, तत् स्वयंकृतमभ्यनुज्ञायते, शकटं भाटकेन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुः, गिरिस्तद्वृतण्मन्धनद्वारेण जीवनम्, सेवा परचित्तानुवर्तनम्, अनूपं प्रचुरतृणवृक्षजलप्रायः प्रदेशः, तथा नृपो नृपयाचनम्, भैक्षं स्नातकस्यापि, एतान्यापत्तौ जीवनानि । तथा च मनुः (१०।११६)— 'विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषिः । गिरिभैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥' इति ॥ ४२ ॥

भाषा—कृषि, शिल्प (कारीगरी), भृति (मजदूरी), वेतन लेकर विद्याध्यापन, व्याज के लिये धनप्रयोग, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत (उस पर प्राप्त होने वाले तृण एवं ईंधन), सेवा, अनूप (प्रचुर तृण, वृक्ष और जल से व्याप्त प्रदेश), राजा (राजा से याचना) तथा भिक्षावृत्ति—ये आपत्तिकाल में जीवन के साधन होते हैं ॥ ४२ ॥

यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसंभवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह—

बुभुक्षितस्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ।

प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः ॥ ४३ ॥

धान्याभावेन त्रिरात्रं बुभुक्षितोऽनश्नन् स्थित्वा अब्राह्मणाच्छुद्धात्तदभावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्तं धान्यं हरेत् । यथाह मनुः (६।११७)— 'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥' इति । तथा च प्रतिग्रहोत्तरकालं यदपहतं तद्धर्मतो यथावृत्तमाख्येयम् । यदि नौरितकेन स्वामिना ख्येदं किं नैमापहतमित्यभियुज्यते । यथाह मनुः (११।१७)— 'खलाश्चेन्नादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥' इति ॥ ४३ ॥

भाषा—तीन दिन भूखा रहकर अब्राह्मण (शूद्र या शूद्र के अभाव में वैश्य और उसके अभाव में क्षत्रिय) के घर से अन्न चुरावे । पकड़े जाने पर जो कुछ चुराया हो उसे धर्मपूर्वक बता देना चाहिए ॥ ४३ ॥

इदमपरमापत्प्रसङ्गाद्वाज्ञो विधीयते—

तस्य वृत्तं कुलं शीलं भृतमध्ययनं तपः ।

ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥ ४४ ॥

१. न्यप्यनुज्ञायन्ते । २. रूपकरणादि । ३. तथाऽऽख्ये । ४. धान्यमाहरेत् । ५. नाष्टिकेन । ६. ममापहतमिति ।

योऽज्ञानायापरीतोऽवसीदति तस्य वृत्तमाचारं, कुलमाभिजात्यं, शीलमा-
स्मगुणं, श्रुतं शास्त्रश्रवणं, अध्ययनं वेदाध्ययनं, तपः कृच्छ्रादि च परीषय
राजा धर्मादिनपेतां वृत्तिं प्रकल्पयेत्, अन्यथा तस्य दोषः; तथा च मनुः
(७।१३४)—‘यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा । तस्य सीदति
तद्राष्ट्रं दुर्मिच्छयाधिपीडितम् ॥’ इति ॥ ४४ ॥

भाषा—उसके आचार, कुल, शील, शास्त्रज्ञान, वेदाध्ययन, तप और
कठुम्ब का ज्ञान प्राप्त करके राजा उसके लिए धर्मसम्मत वृत्ति निर्धारित
करे ॥ ४४ ॥

इत्यापद्धर्मप्रकरणम् ।

अथ वानप्रस्थधर्मेप्रकरणम् ३

चतुर्णांमाश्रमिणां मध्ये ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्धर्माः प्रतिपादिताः । सांप्रतमवस-
रप्राप्तान्वानप्रस्थधर्मान्प्रतिपादयितुमाह—

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् ।

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥ ४५ ॥

वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थ एव वान-
प्रस्थः । संज्ञायां द्वैर्ध्वम् । भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य वनं प्रतिष्ठासुरिति यावत् ।
असौ सुतविन्यस्तपत्नीकः ‘त्वयेयं वरणीया’ इत्येवं सुते विन्यस्ता निक्षिप्ता
पत्नी येन स तथोक्तः । यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वनं जिगमि-
षति तदा तयाऽनुगतो वा सहितः । तथा ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेताः साग्निवैतानाग्नि-
सहितः तथा सोपासनो गृह्याग्निसहितश्च वनं व्रजेत् । ‘सुतविन्यस्तपत्नीकः’
इति वदता कृतगार्हस्थ्यो वनवासेऽधिक्रियत इति दर्शितम् । एतच्चाश्रम-
समुच्चयपञ्चमङ्गीकृत्योक्तम् । इतरथा ‘अविप्लुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसेत्’
इत्यकृतगार्हस्थ्योऽपि वनवासेऽधिक्रियत एव । अयं च वनप्रवेशो जराजर्जरक-
लेवरस्य जातपौत्रस्य वा । यथाऽहं मनुः (६।२)—‘गृहस्थस्तु यदा पश्ये-
द्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥’ इति ।
अयं च पुत्रेषु पत्नीनिक्षेपो विद्यमानभार्यस्य । स्मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभिः
वनवासस्मरणात् । अतो यत् (भा० ८९) ‘दाहयित्वाग्निहोत्रेण’ इति पुन-
राधानविधानं,—तदपरिपक्वकषायविषयम् । ‘साग्निः सोपासनः’ इत्यत्रापि
यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वनं व्रजेत् । सर्वाधाने तु

१. योक्तव्या । २. राज्ञो दोषः । ३. वानप्रस्थो वनवासे ।

श्रौतेरेव केवलम् । यदि कथंचिज्ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्निस्वादिना श्रौताग्नेयोऽ-
नाहितास्तर्हि केवलं सोपासनो ब्रजेदित्येवं विवेचनीयम् । अग्निनयनं च
तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्धयर्थम् । अत एव मनुः (६।९)—‘वैतानिकं च
जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च शक्तिः ॥’ इति ॥
ननु च पुत्रनिक्षिप्तपत्नीकस्य तद्विरहिणः कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानं घटते ?
पत्न्य सह यष्टव्यम्’ इति सहाधिकारनियमात्, सत्यमेवं किंस्वत्र पत्नीनिक्षेपविधि-
बलादेव तन्नैरपेक्षेणाधिकारः कल्प्यते । यथा हिरजस्वलायां ‘यस्य ब्रात्येऽहनि
पत्न्यनालंभुका स्यात्तामपरुद्धय’ यजेतेत्यपरोधविधिवलान्तस्तिरपेक्षता । यद्वा
वनं प्रतिष्ठमानमेव पतिं पत्न्यनुमन्यत इति न विरोधः । नच यथा ब्रह्मचारिणो
विधुरस्य वा वनं प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपस्तथा निक्षिप्तपत्नीकस्याप्य-
ग्निहोत्राद्यभाव इति शङ्कनीयम् ; अपाक्षिकत्वेन श्रवणात् । नच ब्रह्मचारिविधुर-
योरेष्यमिसाध्यकर्मस्वनधिकारः । पञ्चममासादूर्ध्वमाहितश्रावणिकाग्नेस्तद-
धिकारदर्शनात्, ‘वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत् ;
अकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं
पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणिकेनाग्नीनाधायाहिताग्निवृक्षमूलको दद्याद् देवपितृ-
मनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमाप्तव्यम्’ इति वसिष्ठस्मरणात् । चीरं वस्त्रखण्डो
वल्कलं वा । न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत् । श्रावणिकेन
वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

भाषा—अपती पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ
लेकर, (वैतानिक) अग्नि और उपासना (गृह्याग्नि) सहित वन में जाकर
ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वानप्रस्थ होवे ॥ ४५ ॥

‘साग्निः सोपासनो ब्रजेत्’ (प्रा० ४५) इत्येतदग्निसाध्यश्रौतस्मार्तकर्म-
नुष्ठानार्थमित्युक्तं, तत्र गुणविधिमाह—

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन्देवातिथीनपि ।

भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥ ४६ ॥

‘फाल’ग्रहणं कर्षणसाधनोपलक्षणम् । अकृष्टक्षेत्रोद्धवेन नीवारवेणुश्यामा-
कादिना अग्नींस्तर्पयेदग्निसाध्यानि कर्माण्यनुतिष्ठेत् । ‘च’शब्दाद्विज्ञानमपि
तेनैव कुर्यात् । तथा पितृन्देवानतिथीन् ‘अपि’शब्दाद् भूतान्यपि तेनैव तर्पयेत् ।
तथा भृत्यान् ‘च’शब्दादाश्रमप्राप्तानपि । तथा च मनुः (६।७)—‘यज्ञस्य
स्वात्ततो दद्याद्वलिं भिक्षां च शक्तिः । अमूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥’

१. दर्शमस्कन्दयत् । २. तस्तिरपेक्षेणाधिकारः । ३. ब्रात्येऽहनि ।
४. लम्बिका । ५. अवर्ष्य यजेतेत्यपरोध । ६. नाग्निमाधाय ।

इति । एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तच्छेषमेव भुञ्जीत । (६।१२)—
 'देवताभ्यश्च तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च
 स्वयंकृतम् ॥' इति मनुस्मरणात् । स्वयं कृतमूपरलवणम् । एवं भोजनार्थं यागा-
 र्थं च मुन्यन्ननियमाद् ग्राम्याहारपरित्यागोऽर्थसिद्धः । अत एव मनुः (६।३)—
 'संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छेदम्' इति । ननु च दर्शपूर्णमासादेर्ब्रीह्या-
 दिग्राम्यद्रव्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्यागः ? न च वचनीयम् 'अफालकृष्टेनाग्नींश्च'
 (वसि० ९।३) इति विशेषवचनसामर्थ्याद् ब्रीह्यादिबाध इति । विशेषविषयि-
 ण्यापि स्मृत्या श्रुतिबाधस्यान्याय्यत्वात्, अफालकृष्टविधेश्च स्मार्ताग्निसाध्यकर्म-
 विषयत्वेनाप्युपपत्तेः । सत्यमेवम्, किंस्वन्न ब्रीह्यादेरप्यफालकृष्टवसंभवाच्च
 विरोधः । अत एवोक्तं मनुना (६।११)—'वासन्तशारदैर्मैधैर्मुन्यन्नैः स्वयमा-
 हृतैः । पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥' इति ॥ नीवारादीनां मुन्यन्नानां
 स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'मेध्य'ग्रहणं यज्ञार्हब्रीह्यादिग्राम्यार्थं
 कृतम् । मेधो यज्ञस्तदहं मेध्यमिति । तथा श्मश्रूणि मुखजानि रोमाणि जटारू-
 पांश्च शिरोरुहान्कक्षादीनि च रोमाणि बिभृयात् । 'रोम'ग्रहणं नखानामप्युपलक्ष-
 णम् । तथा च मनुः (६।६)—'जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखांस्तथा' इति ।
 तथास्मवानात्मोपासनाभिरतः स्यात् ॥ ४६ ॥

भाषा—बिना जुती हुई भूमि पर स्वयं उत्पन्न (नीवार, वेणु, श्यामक
 आदि) अन्न से अग्नियों, पितरों, देवों, अतिथियों एवं सेवकों को तृप्त करे
 (पञ्च महायज्ञ करे), दाढ़ी-मूँछ, जटा और शरीर के रोम बढ़ाये रखे तथा
 आत्मवान् (उपासना में रत) रहे ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तद्रव्यसंचयनियममाह—

अहो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।

अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥ ४७ ॥

एकस्याहः संबन्धि भोजनयजनादिदृष्टादृष्टकर्मणः पर्याप्तित्यर्थस्य संचयं
 कुर्यात् । मासस्य वा षण्णां मासानां वा संवत्सरस्य वा संबन्धि कर्मपर्याप्तं
 संचयं कुर्यात् ; नाधिकम् । यद्येवं क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि
 तदतिरिक्तमाश्वयुजे मासि त्यजेत् ॥ ४७ ॥

भाषा—एक दिन, एक मास, छः मास या वर्षभर के लिये धन का
 संचय करे और जो कुछ शेष बच जाय उसका आश्विन महीने में त्याग
 कर डाले ॥ ४७ ॥

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।

स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४८ ॥

किंच, दान्तो दर्परहितः, त्रिषु सवनेषु प्रातर्मध्यदिनापराह्णेषु स्नानशीलः । तथा प्रतिग्रहे पराङ्मुखः । 'च'शब्दाद्याजनादिनिवृत्तश्च । स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरतः । तथा फलमूलभिन्नादिदानशीलः सर्वप्राणिहिताचरणनिरतश्च भवेत् ॥ ४८ ॥

भाषा—दान्त (दर्परहित) हो, तीनों सवनों में (प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न) स्नान करे; दान न लेवे, स्वाध्याय (वेदाभ्यास) में लगा रहे; दान करे और सभी प्राणियों के हित में रत रहे ॥ ४८ ॥

दन्तोलूखलिकः कालपक्काशी वाश्मकुट्टकः ।

श्रौत्रं स्मार्तं फलस्नेहैः कर्म कुर्यात्तथा क्रियाः ॥ ४९ ॥

किंच, दन्ता एवोलूखलं निस्तुषीकरणसाधनं दन्तोलूखलं, तद्यस्यास्ति स दन्तोलूखलिकः । कालेनैव पक्कं कालपक्कं नीवारवेणुश्यामाकादि बदरेकुदादि फलं च तदशनशीलः कालपक्काशी । 'वा'शब्दः 'अग्निपक्काशनो वा स्यात्काल-पक्कभुगेव वा' (मनुः ६।१७) इति मनूक्ताग्निपक्काशित्वाभिप्रायः । अश्मकुट्टको वा भवेत् । अश्मना कुट्टनमवहननं यस्य स तथोक्तः । तथा श्रौत्रं स्मार्तं च कर्म दृष्टार्थाश्च भोजनाभ्यञ्जनादिक्रियाः लकुचमधूकादिमेध्यतरुफलोद्भवैः स्नेहद्रव्यैः कुर्यात्, न तु घृतादिकैः । तथा च मनुः (६।१३)—'मेध्यवृक्षो-द्भवानद्यास्नेहांश्च फलसंभवान्' इति ॥ ४९ ॥

भाषा—दाँतों से ही छीलकर खावे, समय से अपने आप पके हुए फल आदि का भोजन करे; अथवा पत्थर पर कूट कर खावे । श्रौत एवं स्मार्त कर्म तथा भोजन, अभ्यञ्जन आदि क्रिया फलों से निकले हुए चिकने तेल से करे (घृत से नहीं) ॥ ४९ ॥

पुरुषार्थतया विहितद्विर्भोजननिवृत्त्यर्थमाह—

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ।

पक्षे गते वाप्यशनीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥ ५० ॥

चान्द्रायणैर्वच्यमाणलक्षणैः कालं नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभिः कालं वर्तयेत् । यद्वा,—पक्षे पञ्चदशदिनात्मकेऽतीतेऽशनीयात् । मासे वाऽहनि गते वा नक्तमशनीयात् । 'अपि'शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनुः (६।१९)

१. श्रौतस्मार्त । २. कुर्यात्क्रियास्तथा । ३. सदा कृच्छ्रैश्च वर्तयेत् ।

४. यातेऽन्नमशनी ।

‘नक्तं वाऽह्नां समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तिः । चतुर्थकालिको वा स्याद्यद्वाप्यष्ट-
मकालिकः ॥’ इति । एतेषां च कालनियमानां स्वशक्त्यपेक्षया विकल्पः ॥ ५० ॥

भाषा—चान्द्रायण व्रत से समय बितावे अथवा सदैव कृच्छ्र व्रत करे ।
एक पक्ष या एक मास बीतने पर भोजन करे अथवा दिन बीतने पर (रात
को) भोजन करे ॥ ५० ॥

स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत् ।

स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच, आहारविहारावसरवज्यं रात्रौ शुचिः प्रयतः स्वप्यात् नोपविशे-
न्नापि तिष्ठेत् । दिवास्वप्नस्य पुरुषमात्रार्थतया प्रतिषिद्धत्वात् तन्निवृत्तिपरम् ।
तथाभूमावेव स्वप्यात् । तच्च भूमावेव, न शयान्तरितायां मञ्जकादौ वा ।
दिनं तु संप्रपदैर्नयेत् । स्थानासनरूपैर्वा विहारैः संचारैः कंचिकालं
स्थानं कंचिच्चोपवेशनमित्येवं वा दिनं नयेत् । योगाभ्यासेन वा । तथा च
मनुः (६।२९) ‘विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः’ इति । आत्मनः संसि-
द्धये ब्रह्मस्वप्नज्ञेयः । ‘तथा’ शब्दात्स्थितिपरिलोडनाद्वा नयेत् । ‘भूमौ विपरिवर्तितं
तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्’ (६।२२)—इति मनुस्मरणात् । प्रपदैः पादाग्रैः ॥ ५१ ॥

भाषा—रात्रि को पवित्र होकर (नंगी) भूमि पर सोवे और दिन
घूमकर बितावे, अथवा स्थान (खड़े होने) और आसन (बैठने) के विहार
से या योगाभ्यास करते हुए दिन बितावे ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच, ‘व्यर्तुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः’ इति दर्शनात् ग्रीष्मे चैत्रादि-
मासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरिष्ठादादित्य इत्येवं पञ्चानामग्नीनां
मध्ये तिष्ठेत् । तथा वर्षासु श्रावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशयः वर्षाधारा-
विनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत् । हेमन्ते मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्नं
वासो वसीत । एवंविधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्त्यनुरूपं वा तपश्चरेत् ।
यथा शरीरशोषस्तथा यतेत—‘तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः’ (६।२४)
इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

भाषा—ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि के बीच बैठे; वर्षा ऋतु में भीगी हुई
भूमि पर सोवे; हेमन्त ऋतु में गीले वस्त्र पहन कर रहे अथवा अपनी शक्ति
के अनुसार तपस्या करे ॥ ५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।

अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

१. शुचिर्भूमौ स्वपेद्वात्रौ दिवसं प्र । २. चन्दनैर्यो विलि ।

किंच, यः कश्चित्कण्टकादिभिर्विविधमङ्गानि तुदति व्यथयति तस्मै न क्रुध्येत् । दध्नुनादिभिरुपलिम्पति सुखयति तस्य न परितुष्येत् । किंतु तयोहभयोरपि संमः स्यादुदासीनो भवेत् ॥ ५३ ॥

भाषा—जो काटा चुभाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो उन पर क्रमशः न क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे । इन दोनों पर ही समान दृष्टि-कोण रखे (अर्थात् उदासीन होकर रहे) ॥ ५३ ॥

अग्निपरिचर्याक्षमं प्रत्याह—

अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षावासो मिताशनः ।

वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नीनात्मनि समारोप्य वृक्षावासो वृक्ष एव आवासः कुटी यस्य स तथोक्तः । मिताशनः स्वल्पाहारः । 'अपि'शब्दात्फलमूलाशनश्च भवेत् । यथाह मनुः (६।२५)—अग्नीनात्मनि चैतानान्समारोप्य यथाविधि । अग्निरन्तिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥' इति । मुनिमौनव्रतयुक्तः । फलमूलासंभवे च यावत्प्राणधारणं भवति तावन्मात्रं भैक्षं वानप्रस्थगृहेष्वचरेत् ॥ ५४ ॥

भाषा—अग्नियों का अपनी आत्मा में ही समारोप करके, वृक्ष को ही आवास बनाकर (अर्थात् वृक्ष के नीचे ही निवास करते हुए) अल्पा-हारी होकर और जीवन यात्रा भर के लिये ही अन्न वानप्रस्थों के घर से मांगे ॥ ५४ ॥

यदा तु तदसंभवो व्याध्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह—

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः ।

ग्रामाद्वा भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौनी भूत्वा अष्टौ ग्रासान्भुञ्जीत । वाग्य-भैक्षविधानान्मुन्यन्ननियमोऽर्थलुप्तः । यदा पुनरष्टभिर्ग्रासैः प्राणधारणं न संभवति तदा 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्षं वानप्रस्थस्य षोडशे'ति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥—

भाषा—अथवा गांव से अन्न लाकर मौन होकर केवल आठ ग्रास (कौर) खावे ।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्त्मसंक्षयात् ॥ ५५ ॥

अथवा,—वायुरेव भक्षो यस्यासौ वायुभक्षः प्रागुदीचीमैशानीं दिशं गच्छेत् । आ वर्त्मसंक्षयात् वर्त्म वपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुटिलगतिर्गच्छेत् । यथाह मनुः (६।३१)—'अपराजितां वास्थाय गच्छेद्दिशमजिह्वागः' इति । महाप्रस्थानेऽप्यशक्तौ भृगुपतनादिकं वा कुर्यात् ; 'वानप्रस्थो वीराध्वान

उबलनाम्बुप्रवेशनं भृगुपतनं वानुतिष्ठेत्' इति स्मरणात् । खानाचमनादिधर्मा ब्रह्मचारिप्रकरणानिहिताश्चाविरोधिनोऽस्यापि भवन्ति; 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' इति गौतमस्मरणात् । एवं प्रागुदितैन्दवादिदीक्षामहाप्रस्थानपर्यन्तं तनुत्थागान्तमनुतिष्ठन्ब्रह्मलोके पूज्यतां प्राप्नोति । यथाह मनुः (६।३२)—'आसां मह-
र्षिचर्याणां स्वत्वान्यतमया तनुम् । वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥'
इति । ब्रह्मलोकः स्थानविशेषो नतु नित्यं ब्रह्म । तत्र 'लोक'शब्दस्याप्रयोगात् ।
तुरीयाश्रममन्तरेण मुक्त्वाङ्गोकाराच्च । नच 'योगाभ्यासेन वा पुनः' (प्रा० ५३)
इति ब्रह्मोपासनविध्यनुपपत्त्या तद्भावापत्तिः परिशङ्कनीया । सालोक्यादिप्राप्त्यर्थ-
त्वेनापि तदुपपत्तेः । अत एव श्रुतौ 'प्रयो धर्मस्कन्धा' इत्युपक्रम्य 'यज्ञोऽध्ययनं
दानमिति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः, ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयः । अस्यन्त-
माचार्यकुल एवमात्मानमवसादयन्निति गार्हस्थ्यवानप्रस्थनैष्ठिकस्वस्वरूपमभि-
धाय सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति त्रायाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिसमिधाय
ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति पारिशेष्यात्परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिलक्षणा-
मृतत्वप्राप्तिरभिहिता । यदपि 'श्राद्धकृत्यस्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते' इति
गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिव्रज्यस्येत्यवगन्तव्यम् ॥५५॥

भाषा—अथवा वायु का भक्षण करते हुए (उपवास करते हुए)
ईशान दिक्षा की ओर तब तक चलता जाये जब तक शरीर पात नहीं
हो जाता ॥ ५५ ॥

इति वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैखानसकर्मामनुक्रम्य क्रमप्राप्तान्परिव्राजकधर्मान्सांप्रतं प्रस्तौति—

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम् ।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥

अधीतवेदो जपकृतपुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ।

शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन तीव्रतपःशोषितवपुषो विषयकषायपरिपाको भवति
पुनश्च मदोद्भवाशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा तत्समनन्तरं मोक्षे
मनः कुर्यात् । 'वन-गृह-शब्दाभ्यां तत्संबन्ध्याश्रमो लक्ष्यते । 'मोक्ष'शब्देन च
मोक्षैकफलकश्चतुर्थाश्रमः ॥ अथवा, गृहाद् गार्हस्थ्यदानन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् ।
अनेन च पूर्वोक्तश्चतुराश्रमसमुच्चयपक्षः पार्श्विक इति द्योतयति । तथा

च विकल्पो जाबालश्रुतौ श्रूयते—‘ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा’ इति । तथा ‘गार्हस्थ्योत्तराश्रमबाधश्च गौतमेन दर्शितः (३।३६)—‘एकाश्रम्यं स्वाचार्याः प्रत्यक्षविधःनाद्गार्हस्थ्यस्य’ इति । एतेषां च समुच्चयविकल्पबाधपक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वादिवृत्त्या विकल्पः । अतो यत्कैश्चिदपि तन्मन्यैरुक्तम्—‘स्मार्तैस्त्वान्नैष्ठिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधः गार्हस्थ्यानधि कृतान्धकलीबादिविषयता वा’ इति तत्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्यनिबन्धनमित्युपेक्षणीयम् । किंच,—यथा विष्णुकर्मणाज्यावेक्षणाद्यन्ततया पंगवादीनां श्रौतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तैस्त्वप्युदकुम्भाहरणमिच्छाचर्यादिविषयत्वात्कथं पंगवादि-विषयतया तैष्ठिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिन्वाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः । मनुः (६।२५)—‘आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।’ तथा (६।९७)—‘एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः’ इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनात् । ‘ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति’ इति श्रुतेश्चाप्रजन्मन एवाधिकारः, न द्विजातिमात्रस्य । अन्ये तु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् ‘त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः’ इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्याधिकारमाहुः ॥ यदा च वनाद् गृहाद्वा प्रव्रजति तदा सार्ववेदसदक्षिणां सार्ववेदसी सर्ववेदसंबन्धिनी दक्षिणा यस्याः सा तथोक्ता तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदन्ते तान्वैतानानग्नीनात्प्रति श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य ‘च’ शब्दात् ‘उदगयने पौर्णमास्यां पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ श्रान्दानि निर्वपेत् द्वादश वा’ इति बौधायनाद्युक्तं पुरश्चरणादिकं च कृत्वा तथाऽधीतवेदो जपपरायणो जातपुत्रो दीनान्धकृपणार्पितार्थो यथाशक्त्याज्ञदक्ष भूत्वाऽनाहिताग्निर्ज्येष्ठत्वादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो नित्यनैमित्तिकान्यज्ञान्कृत्वा मोक्षे मनः कुर्यात्—चतुर्धाश्रमं प्रविशेन्नान्यथा । अनेनानपाकृतत्रयस्य गृहस्थस्य प्रव्रज्यायामधिकारं दर्शयति ॥ यथाह मनुः (६।३५)—‘ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥’ इति ॥ यदा तु ब्रह्मचर्याप्रव्रजति तदा न प्रजोत्पादनादिनियमः; अकृतदारपरिग्रहस्य तत्रानधिकारात् रागप्रयुक्तत्वाच्च विवाहस्य । नच ऋणत्रयापाकरणविधिरेव दारानाच्छिपतीति शङ्कनीयम् ; विद्याधनार्जननियमवदन्यप्रयुक्तदारसंभवे तस्यानाक्षेपकत्वात् । ननु ‘जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्छायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः’ इति जातमात्रस्यैव प्रजोत्पादनादीन्यावरयकानीति दर्शयति । मैवम् ; नहि जातमात्रः अकृतदाराग्निपरिग्रहो

ब्रह्मादिवधिक्रियते तस्मादधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिर्ब्रह्मादीननुतिष्ठेदिति तस्यार्थः । अतश्चोपनीतस्य वेदाध्ययनमेवावश्यकम् । कृतदाराग्निपरिमहस्य प्रजोत्पादनमपीति निरवद्यम् ॥ ५६-५७ ॥

भाषा—वानप्रस्थ अथवा गृहस्थाश्रम के उपरान्तसम्पूर्ण वेद से संबद्ध दक्षिणा वाली प्रजापति देवता की इष्टि करके और उसके अन्त में उन्हीं अग्नियों का अपने आत्मा में समारोप करके, वेदों का अध्ययन करके, जप परायण होकर, पुत्रवान् होने पर, (दीन दुःखियों को) यथाशक्ति अन्न देकर, अग्नि में होम और शक्ति के अनुसार यज्ञ करके मोक्षप्राप्ति की (संकल्पपूर्वक) इच्छा करे; अन्यथा (ऐसा न होने पर) मोक्ष की इच्छा न करे ॥ ५६-५७ ॥

एवमधिकारिणं निरूप्य तद्वर्मानाह—

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।

एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेभ्यः प्रियाप्रियकारिभ्यो हित उदासीनो, न पुनर्हिताचरणः । 'हिंसा-नुग्रहयोरनारम्भी' (३।२४, २५) इति गौतमस्मरणात् । 'शान्तो बाह्यान्तः-करणोपरतः, त्रयो दण्डा अस्य सन्तीति त्रिदण्डी । ते च दण्डा वैणवा ग्राह्याः । 'प्राजापत्येष्टयनन्तरं त्रीन्वैणवान्दण्डान्मूर्धप्रमाणान्दक्षिणेन पाणिना धारयेत्सव्येन सोदकं कमण्डलुम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एकं वा दण्डं धारयेत् 'एकदण्डी त्रिदण्डी वा' (३।१०।४०) इति बौधायनस्मरणात् । 'चतुर्थमाश्रमं गच्छेद् ब्रह्मविद्यापरायणः । एकदण्डी त्रिदण्डी वा सर्वसंगविवर्जितः ॥' इति चतुर्विंशतिमते दर्शनाच्च । तथा शिखाधारणमपि वैकल्पिकम् । 'मुण्डः शिखी वा' (३।२२) इति गौतमस्मरणात् । 'मुण्डोऽममोऽक्रोधोऽपरिमहः' (१८।६) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथा यज्ञोपवीतधारणमपि वैकल्पिकमेव । 'सशिखान्के-शाञ्जिकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्' इति काठकश्रुतिदर्शनात्—'कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः । केशान्यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्वरेन्मुनिः ॥' इति बाष्कलस्मरणाच्च । 'अथ यज्ञोपवीतमप्यु जुहोति भूःस्वाहेति अथ दण्डमादत्ते सखे मां गोपाय' इति परिशिष्टदर्शनाच्च । यद्यशक्तिस्तदा कन्थापि ग्राह्या । 'काषायी मुण्डस्त्रिदण्डी सकमण्डलुपवित्रपादुकासनकन्थामात्रः' इति देवल-स्मरणात् । शौचाद्यर्थं कमण्डलुसहितश्च भवेत् । एकारामः प्रव्रजितान्तरेणा-सहायः संन्यासिनीभिः स्त्रीभिश्च । 'स्त्रीणां चैके' इति बौधायनेन स्त्रीणामपि प्रमज्यास्मरणात् । तथा च दत्तः—'एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।

त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ राजवार्तादि तेषां तु भिक्षावार्ता परस्परम् । अपि पैशुन्यमासस्य संनिर्कर्षाच्च संशयः ॥' इति । 'परिव्रज्य परिपूर्वां व्रजतिस्थाने वर्तते । अतश्चाहंममाभिमानं तत्कृतं च लौकिकं कर्म- निचयं वैदिकं च नित्यकाश्यात्मकं संत्यजेत् । तदुक्तं मनुना (१२।८८, ८९, ९२)—'सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ इह वासुत्र वा काश्यां प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्देवाभ्यासे च यत्नवान् ॥' इति । अत्र वेदाभ्यासः प्रणवाभ्यासस्तत्र यत्नवान् । भिक्षाप्रयोजनार्थं ग्राममाश्रयेत् प्रविशेत्, न पुनः सुखनिवासार्थम् । वर्षाकाले तु न दोषः; 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासी' इति शङ्खस्मरणात् । अशक्तौ पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्थातव्यं न विरमेकत्र वसेदन्यत्र वर्षाकालात्; 'श्रावणादयश्चत्वारो मासा वर्षाकालः' इति देवल- स्मरणात् ।—'एकत्रात्र वसेद् ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम् । वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मांसांस्तु चतुरो वसेत् ॥' इति काण्वस्मरणात् ॥ ५८ ॥

भाषा—प्रिय और अप्रिय सभी जीवों के प्रति उदासीन होकर, शान्त (बाह्य एवं अन्तःकरण के क्षोभ से रहित) होकर, तीन दण्ड और कमण्डलु धारण करके, सबसे अलग अकेले रहकर, सबका (अहंकार आदि दोष एवं लौकिककर्म का) त्याग करके केवल भिक्षा के लिये गांव में निवास करे ॥ ५८ ॥

कथं भिक्षाटनं कार्यमित्यत आह—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः ।

रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥ ५९ ॥

अप्रमत्तो वाक्चक्षुरादिचापलरहितो भैक्षं चरेत् । वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शितः (१०।७) 'ससागाराण्यसंकरिपतानि चरेद्भैक्षम्' इति । सायाह्ने अह्नः पञ्चमे भागे । तथा च मनुः (६।५६)—'विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसंपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत् ॥' इति । तथा—'एककालं चरेद्भिक्षां प्रसज्येन्न तु विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्पिषयेष्वपि सज्जति ॥' (६।५५) इति । अनभिलक्षितः ज्योतिर्विज्ञानोपदेशादिना अचिह्नितः । मनुः (६।५०)—'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥' इति तेनोक्तत्वादिति ॥ यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणकुले वा

यज्ञभेत्तुञ्जीत सायंप्रातर्मासवर्ज्यम्' इति,—तदशक्तविषयम् । भिक्षुकैर्मिच्छण-
शीलैः पाखण्ड्यादिभिर्वर्जिते ग्रामे । मनुनात्र विशेष उक्तः (६।५१)—'न ताप-
सैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरगारमुपसंजृजेत् ॥'
इति । यावता प्राणयात्रा वर्तते तावन्मात्रं भैक्षं चरेत् । तथा च संवर्तः—'अष्टौ
भिक्षाः समादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा । अग्निः प्रक्षाल्य ताः सर्वास्ततोऽ-
श्नीयाच्च वाग्यतः ॥' इति । अलोलुपो मिष्टान्नव्यञ्जनादिष्वप्रसक्तः ॥ ५९ ॥

भाषा—प्रमादरहित होकर (वाणी, नेत्र आदि इन्द्रियों की चपलता छोड़कर), ज्यौतिष शास्त्र आदि द्वारा विचार न करके, सायंकालमें, जिस गांव में अन्य भिक्षुक न हों उस गांव में लोभरहित होकर केवल जीवन चलाने भर के लिए पर्याप्त भिक्षा ग्रहण करे ॥ ५९ ॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह—

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वात्तावुमयानि च ।

सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ ६० ॥

मृदादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि भवेयुः । तेषां सलिलं गोवालावघर्षणं च शुद्धिसाधनम् । इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणादिप्रयोगाङ्गभूता, नामधेयाद्युपहृति-विषया । तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रष्टव्या अत एव मनुना (६।५३)—
'अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामग्निः स्मृतं शौचं चमसाना-
मिवाध्वरे ॥' इति । चमसदृष्टान्तोपादानेन प्रायोगिकी शुद्धिर्दर्शिता । पात्रान्त-
राभावे भोजनमपि तत्रैव कार्यम् ; 'तद्वैद्यं गृहीत्वैकान्ते तेन पात्रेणान्येन वा
तूष्णीं प्राणमात्रं भुञ्जीते'ति देवलस्मरणात् ॥ ६० ॥

भाषा—मिट्टी, बांस, काठ और अलावु (लौकी) के बने हुए संन्या-
सियों के पात्रों की शुद्धि जल से और गोवाल द्वारा मलने से होती है ॥ ६० ॥

एवंभूतस्य यतेरात्मोपासनाङ्गं नियमविशेषमाह—

संनिरुद्धयेन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च ।

भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः ॥ ६१ ॥

चक्षुरादीन्द्रियसमूहं रूपादिविषयेभ्यः सम्यङ्गिरुध्य विनिवर्त्य रागद्वेषौ
प्रियाप्रियविषयौ प्रहाय त्यक्त्वा 'च' शब्दादीर्ष्यादीनपि, तथा भूतानामपकारेण
भयमकुर्वन् शुद्धान्तःकरणः सन्नद्धैतासात्कारेणामृतीभवति मुक्तो भवति ॥

भाषा—इन्द्रियों को सम्यक् रूप से अपने वश में करके (विषयों से मोड़कर), तथा राग और द्वेष का त्याग करके, प्राणियों को अपकार द्वारा

१. भिक्षाहरणप्रयोग । २ विहाय । ३. अपकारजेन ।

अथ न उत्पन्न करते हुए (अद्वैत के साक्षात्कार से) मुक्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥ ६२ ॥

किं च, विषयाभिलाषद्वेषजनितदोषकलुषितस्याशयस्यान्तःकरणस्य शुद्धिः क्लमषक्षयः प्राणायामैः कर्तव्या; तस्याः शुद्धेरात्माद्वैतसाक्षात्काररूपज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् । एवं च सति विषयासक्तितज्जनितदोषात्मकप्रतिबन्धक्षये सत्यात्मध्यानधारणादौ स्वतन्त्रो भवति । तस्माद्भिक्षुकेण एषा शुद्धिविशेषतोऽनुष्ठेया; तस्य मोक्षप्रधानत्वात् । मोक्षस्य च शुद्धान्तःकरणतामन्तरेण दुर्लभत्वात् । यथाह मनुः (६।७१)—‘दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात् ॥’ इति ॥ ६२ ॥

भाषा—संन्यासी को विशेषतया अन्तःकरण की शुद्धि (प्राणायाम द्वारा) करनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न करने वाली और (आत्मध्यान एवं धारणा आदि में) स्वतन्त्र बनाने वाली होती है ॥ ६२ ॥

इन्द्रियनिरोधोपायतया संसारस्वरूपनिरूपणमाह—

अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा ।

आधयो व्याधयः क्लेशा जरा रूपविपर्ययः ॥ ६३ ॥

भवो जातिसहस्रेषु प्रियाप्रियविपर्ययः ।

वैराग्यसिद्धयर्थं मूत्रपुरीषादिपूर्णानाविधगर्भवासा अवेक्षणीयाः पर्यालोचनीयाः । ‘व’शब्दाज्जनोपरमावपि तथा निषिद्धाचरणादिक्रियाजन्या महारौरवादिनिरयपतनरूपा गतयः । तथा आधयो मनःपीडाः, व्याधयश्च उवरातीसाराद्याः शारीराः, क्लेशाः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च, जरा बलीपलिताद्यभिभवः रूपविपर्ययः खञ्जकुञ्जत्वादिना प्राक्तनस्य रूपस्यान्यथाभावः, तथा श्वसुकरखरोरगाद्यनेकजातिषु भव उत्पत्तिः । तथा ‘इष्टस्याप्राप्तिः अनिष्टस्य प्राप्तिः’ (योगसू० १-२) इत्यादिबहुतरक्लेशावहं संसारस्वरूपं पर्यालोच्य तत्परिहारार्थमात्मज्ञानोपायभूतेन्द्रियजये प्रयतेत ॥ ६३ ॥

भाषा—गर्भवास (के कष्टों) एवं (निषिद्ध) कर्म के करने से उत्पन्न होने वाली गतियों (महारौरव नरक आदि), मानसिक कष्टों, शारीरिक रोगों, वृद्धावस्था, रूप के (लंगड़ा, कुबड़ा आदि होने से) बिगड़ने, जुद्ध एवं गन्दे जीवों की जाति में जन्म, इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति का विचार करना चाहिए ॥ ६३ ॥

एवमवेद्यानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

ध्यानयोगेन 'संपश्येत्सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितिः ॥ ६४ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, आत्मैकाग्रता ध्यानं, तस्या एव बाह्यविषयत्वोपरमः ध्यानयोगेन निदिध्यासतापरपर्यायेण सूक्ष्मशरीरप्राणादिव्यतिरिक्तः चैत्रज्ञ आत्मा आत्मनि ब्रह्मण्यवस्थितः इत्येवं तत्त्वं पदार्थयोरभेदं सम्यक् पश्येदपरोक्षीकुर्यात् । अत एव श्रुतौ (बृ० उ० ५।४।५) 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनूय तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ५।४।५) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६४ ॥

भाषा—और ध्यान (चित्त की एकाग्रता) और ध्यान (चित्तवृत्ति के निरोध) से आत्मा को ब्रह्म में स्थित देखे ॥ ६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किंच, प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासनः ख्ये धर्मे नाश्रमो दण्डकमण्डस्वादिधारणं कारणम् । यस्मादसौ क्रियमाणो भवेदेव नातिदुष्करः । तस्माद्यदात्मनोऽपथ्य-सुद्वेगकरं पुरुषभाषणादि तत्परेषां न समाचरेत् । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतान्तःकरणशुद्ध्यापादनत्वेनान्तरङ्गत्वाद्वागद्वेषग्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रशंसार्थमाश्रम-निराकरणं न पुनस्तत्परित्यागाय तस्यापि विहितत्वात् । तदुक्तं मनुना (६।६६)—'दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥' इति ॥ ६५ ॥

भाषा—किसी धर्म के आचरण में कोई विशेष आश्रम कारण नहीं है; वह तो करने से होता है । इसलिये अपने को जो न रुचे (उद्वेग कर लगे) वह दूसरे के लिए नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो द्वीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।

संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच, सत्यं यथार्थप्रियवचनम्, अस्तेयं परद्रव्यानपहारः, अक्रोधोऽप-कारिण्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम्, होलंजा शौचमाहारादिशुद्धिः, धीर्हिताहित-विवेकः, धृतिरिष्टवियोगोऽनिष्टप्राप्तौ प्रचलितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम्, दमो मदस्यागः, संयतेन्द्रियता अप्रतिषिद्धेऽपि विषयेष्वनतिसङ्गः, विद्या आत्मज्ञानम्, एतैः सत्यादिभिरनुष्ठितैः सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकमण्डस्वादि-धारणबाह्यलक्षणात् (बृ० उ० ४।५।६) सत्यादीनामात्मगुणानामन्तरङ्गतां प्रोक्तवति ॥ ६६ ॥

भाषा—सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, विवेक, धैर्य (दुःख में विचलित न होना), दम (मदस्याग), इन्द्रियो का संयम, और विद्या—ये सभी धर्म कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मानं परयोदययुक्तम्, जीवपरमात्मनोर्भेदाभावादित्यत आह—

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तास्फुल्लिङ्गकाः ।

सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमात्मनोः पारमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति हि यस्मात् तस्माद्युज्यत एव जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेशः । यथा हि तप्तलोहपिण्डादयोगोलकाद्विस्फुल्लिङ्गकास्तेजोवयवा निःसरन्ति निःसृताश्च स्फुल्लिङ्गव्यपदेशं लभन्ते तद्वत् । अत उपपन्नं आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति । यद्वाऽयमर्थः—ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलचेत्रज्ञानां ब्रह्मणि प्रलीनत्वात्कस्यायमात्मोपासनाविधिरित्यत आह—निःसरन्तीत्यादि । यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलायां प्रलीनास्तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति, पुनः कर्मवशात्स्थूलशरीराभिमानिनो जायन्ते, तस्माद्योपासनाविधिविरोधः, तैजसस्य पृथग्भावसाग्याल्लोहपिण्डदृष्टान्तः ॥ ६७ ॥

भाषा—जिस प्रकार तपाये गये लोहे के पिण्ड से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) से अनेक आत्मा (जीवात्मा) उत्पन्न होते हैं ॥ ६७ ॥

ननु चानुपात्तपुषां चेत्रज्ञानां निष्परिस्पन्दतया कथं तन्निबन्धनो जरायुजाण्डजादिचतुर्विधदेहपरिग्रह इत्यत आह—

तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित्कर्म किञ्चिद्व्यवभावतः ।

करोति किञ्चिदभ्यासाद्धर्माधर्मोभयोरमकम् ॥ ६८ ॥

यद्यपि तस्यामवस्थायां पारस्पन्दात्मकक्रियाभावस्तथापि धर्माधर्माध्ववसायात्मकं कर्म मानसं भवत्येव । तस्य च विशिष्टशरीरग्रहणहेतुत्वमस्त्येव, 'वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्यजातिताम्' (१२।९) इति मनुस्मरणात् । एवं गृहीतवपुः स्वयमेवान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षः, स्तन्यपानादिके कृते तृप्तिर्भवत्यकृते न भवतीत्येवंरूपौ यावन्वयव्यतिरेकौ तत्र निरपेक्षं प्राग्भवयानुभवभावितभावानुभावोद्भूतकार्यावबोधः किञ्चिस्तन्यपानादिकं करोति, किञ्चिद्व्यवभावतो यद्वक्ष्या प्रयोजनाभिसंधिनिरपेक्षं पिपीलिकादिमक्षणं करोति, किञ्चिद्वान्तराभ्यास-

वक्ताद्धर्माधर्मोभयरूपं करोति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—‘प्रतिजन्म यदभ्यस्तं दानमभ्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुनः ॥’ इति ॥ एवं जीवानां कर्मवैचित्र्यात्तत्कृतं जरायुजादिदेहवैचित्र्यं युज्यत एव ॥ ६८ ॥

भाषा—इस दशा में आत्मा धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कर्म कुछ तो स्वयं करता है, कुछ स्वभाव के कारण करता है और कुछ अभ्यास के कारण ॥ ६८ ॥

नन्वेवं सति ब्राह्मण एव कथंचिज्जीवव्यपदेश्यत्वात्तस्य च नित्यत्वादिधर्म-स्वात्कथं विष्णुमित्रो जात इति व्यवहार इत्याशङ्क्याह—

निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धा ब्रह्म गुणी वशी ।

अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

सत्यमात्मा सकलजगत्प्रपञ्चाविर्भावोऽविद्यासमावेशवशात्समवायसमवायि-निमित्तमित्येवं स्वयमेव त्रिविधमपि कारणं, न पुनः कार्यकोटिनिविष्टः । यस्मादक्षरोऽविनश्वरः । ननु सत्त्वादिगुणविकारस्य सुखदुःखमोहात्मकस्य कार्यभूते जगत्प्रपञ्चे दर्शनात्तद्गुणवत्याः प्रकृतेरेव जगत्कर्तृत्वोचिता, न पुनर्निर्गुणस्य ब्रह्मणः । मैवं संस्थाः,—आत्मैव कर्ता । यस्मादसौ जीवोपभोग्यसुखदुःखहेतुभूतादृष्टादे-बोद्धा । नह्यचेतनायाः प्रकृतेर्नामरूपव्याकृतविचित्रभोक्तृवर्गभोगानुकूलभोग्य-भोगायतनादियोगिजगत्प्रपञ्चरचना घटते । तस्मादात्मैव कर्ता । तथा स एव ब्रह्म बृंहको विस्तारकः । नचासौ निर्गुणः । यतस्तस्य त्रिगुणशक्तिरविद्या प्रकृतिप्रधानाद्यपरपर्याया विद्यते । अतः स्वतो निर्गुणत्वेऽपि शक्तिमुखेन सत्त्वा-दिगुणयोगी कथ्यते । नचैतावता प्रकृतेः कारणता, यस्मादात्मैव वशी स्वतन्त्रः न प्रकृतिर्नाम स्वतन्त्रं तत्त्वान्तरं, तादृग्विधत्वे प्रमाणाभावात् । नच वचनीयं शक्तिरूपमपि सैव कर्तृभूतेति । यतः शक्तिमत्कारकं न शक्तिः, तस्मादात्मैव जगत्त्रिविधमपि कारणम् । तथा अज उत्पत्तिरहितः । अतस्तस्य यद्यपि साक्षाज्जननं नोपपद्यते तथापि शरीरग्रहणमात्रेण जात इत्युच्यते अवस्थान्तर-योगितयोत्पत्तेर्गृहस्थो जात इतिवत् ॥ ६९ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा (सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का) निमित्त है, अविनाशी है, कर्ता है, जानने वाला (सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला), ब्रह्म, गुणी, वशी (स्वतन्त्र) और अजन्मा है तथापि शरीर ग्रहण करने पर कहा जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ है ॥ ६९ ॥

शरीरग्रहणप्रकारमाह—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।

सृजत्येकोत्तरगुणास्तथादत्ते भवन्नपि ॥ ७० ॥

१. हेतुपुण्यापुण्यादेर्बोद्धा ।

सृष्टिसमये स परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैकगुणं गगनं शब्दस्पर्शगुणः पवनः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणवदुदकम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा जगतीत्येवमेकोत्तरगुणान् सृजति । तथात्मा जीवभावमापन्नो भवन्नुत्पन्नानोऽपि स्वशरीरस्थारम्भकत्वेनापि गृह्णाति ॥ ७० ॥

भाषा—जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में वह परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की क्रमशः एक-एक अधिक गुण से युक्त बनाकर रचना करता है उसी प्रकार जीवन बन कर इन सबको धारण भी करता है ॥

कथं शरीरारम्भकत्वं पृथिव्यादीनामित्यत आह—

आहुत्याप्यायते सूर्यः सूर्याद् वृष्टिरथौषधिः ।

तदन्नं रसरूपेण शुक्रत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानैः प्रक्षिप्तया आहुत्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यः । सूर्याच्च कालवक्षेन परिपक्वाज्यादिहवीरसाद्दृष्टिर्भवति । ततो व्रीह्याद्यौषधिरूपमन्नम् । तच्चान्नं सेवितं सत् रसरुधिरादिक्रमेण शुक्रशोणितभावमापयते ॥ ७१ ॥

भाषा—(यजमान की) आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है और उससे औषधियाँ (व्रीहि आदि) उत्पन्न होती हैं; उनका अन्न (खाने पर) रस बनकर अन्त में वीर्य बन जाता है ॥ ७१ ॥

ततः किमित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।

पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ७२ ॥

अतुल्येलायां स्त्रीपुंसयोर्योगे शुक्रं च शोणितं च शुक्रशोणितं तस्मिन्परस्परसंयुक्ते विशुद्धे 'वातपित्तश्लेष्मदुष्टग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषगन्धरेतांस्यवीजानि' इति स्मृत्यन्तरोक्तदोषरहिते स्थित्वा पञ्चधातून् पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकतया स्वयं षष्ठश्चिदातुरात्मा प्रभुः शरीरारम्भकारणादष्टकर्मयोगितया समर्थो युगपदादत्ते योगायतनत्वेन स्वीकरोति' । तथा च शारीरके (सुश्रुतः ३।३)—'स्त्रीपुंसयोः संयोगे योनौ रजसामिसंसृष्टं शुक्रं तत्त्वमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सध्वरजस्तमोभिः सह वायुना प्रेर्यमाणं गर्भाशये तिष्ठति' इति ॥

भाषा—स्त्री और पुरुष के संयोग से वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर इन पाँच तत्वों को छठा प्रभु (आत्मा) स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है ॥ ७२ ॥

१. रसवदुदकम् ।

२. सूर्यस्तस्माद् वृ ।

३. उपपद्यति ।

४. रम्भकरणे पुष्ट ।

२९ या०

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ।

धारणा प्रेरणं दुःखमिच्छाहंकार एव च ॥ ७३ ॥

प्रयत्न आकृतिर्वर्णः स्वरद्वेषो भवाभवौ ।

तस्यैतद्वात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ७४ ॥

किंच, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, मनश्चोभयसाधारणम्, प्राणोऽपाचो व्यान्न उद्दानः समान इत्येवं पञ्चवृत्तिमेदमिन्द्रियैः शारीरो वायुः प्राणः, ज्ञानमवगमः, आयुः कालविशेषावच्छिन्नं जीवनम्, सुखं निर्वृतिः, धृतिश्चित्तस्थैर्यम्, धारणा प्रज्ञा मेधा च, प्रेरणं ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृत्वम्, दुःखमुद्वेगः, इच्छा स्पृहा, अहंकारोऽहंकृतिः, प्रयत्न उद्यमः, आकृतिराकारः, वर्णो गौरिमादिः, स्वरः षड्जगान्धारादिः, द्वेषो वैरम्, भवः पुत्रपञ्चादिविभवः, अभवस्तद्विपर्ययः, तस्यानादेरात्मनो नित्यस्यादिमिच्छतः शरीरं जिघृक्षमाणस्य सर्वमेतदिन्द्रियादिकमात्मजनितं प्राग्भवीयकर्मबीजजन्यमित्यर्थः ॥ ७३-७४ ॥

भाषा—इन्द्रियो, मन, प्राणादि वायु, ज्ञान, आयु, सुख, धैर्य, धारणा (प्रज्ञा, मेधा), प्रेरण (ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो का अधिष्ठातृत्व) दुःख, इच्छा, अहंकार, प्रयत्न, आकार, वर्ण, स्वर, द्वेष, भव (पुत्र, पशु आदि की सम्पत्ति), अभव (निर्धनता) ये सब उस अनादि आत्मा के शरीर धारण की इच्छा करने पर प्राप्त होते हैं ॥ ७३-७४ ॥

संयुक्तशुक्रशोणितस्य कार्यरूपपरिणतौ क्रममाह—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।

मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः ॥ ७५ ॥

असौ चेतनः पष्ठो धातुविमूर्च्छितो धातुषु पृथिव्यादिषु विमूर्च्छितो लोलीभूतः । क्षीरनीरवदेकीभूत इति यावत् । प्रथमे गर्भमासे संक्लेदभूतो द्रवरूपतां प्राप्त एवावतिष्ठते न कठिनतया परिणमते । द्वितीये मास्यर्बुदमीषस्कठिनमांसपिण्डरूपं भवति । अयमभिप्रायः—कौष्ठ्यपवनजठरदहनाभ्यां प्रतिदिनमीषक्षीषच्छोष्यमाणं शुक्रसंपर्कसंपादितद्रवीभावं भूतजातं त्रिंशद्दिनैः काठिन्यमापद्यत इति । तथा च सुश्रुते (शा.३।१४)—‘द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते’ इति । तृतीये तु मास्यङ्गेरिन्द्रियैश्च संयुक्तो भवति ॥ ७५ ॥

भाषा—यह (संयुक्त वीर्य और रज अथवा पंचभूतों में पष्ठ धातु के रूप में पड़ा हुआ आत्मा) गर्भ के पहले मास में द्रव के रूप में रहता

१. कोष्ठपवन । २. संपर्कादि द्रवीभूतं ।

है; दूसरे मास में अर्द्ध (कुछ कठिन मांसपिण्ड) बनता है, और तीसरे मांस में अङ्गों एवं इन्द्रियों से युक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

आकाशालाघवं सौक्ष्म्यं शब्दं श्रोत्रं बलादिकम् ।

वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रौक्ष्यमेवं च ॥ ७६ ॥

पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपं प्रकाशिताम् ।

रसात्तु रसनं शैत्यं स्नेहं क्लेदं समार्दवम् ॥ ७७ ॥

भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ।

आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ७८ ॥

किंच, 'आत्मा गृह्णाति' इति सर्वत्र संबध्यते । गगनाल्लविमानं लङ्घनक्रियोप-
योगिताम्, सौक्ष्म्यं सूक्ष्मेत्तित्वम् शब्दं विषयम्, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्, बलं
दाढर्यम्; 'आदि' ग्रहणात्सुषिरत्वं विविक्ततां च; 'आकाशाच्छब्दं श्रोत्रं विविक्ततां
सर्वच्छिद्रसमूहांश्च' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, पवनात्स्पर्शेन्द्रियम्, चेष्टां गमना-
गमनादिकाम्; व्यूहनमङ्गानां विविधं प्रसारणम्, रौक्ष्यं कर्कशत्वं, 'च' शब्दा-
त्स्पर्शं च; पित्तात्तेजसो दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्, पक्तिं भुक्तस्यान्नस्य पाचनम्,
औष्ण्यमुष्णस्पर्शत्वमङ्गानाम्, रूपं श्यामिकादि, प्रकाशितां आजिष्णुताम्, तथा
संतापामर्षादि च; 'शौर्यामर्पतैश्चण्यपक्वौष्ण्यम्राजिष्णुतासंतापवर्णरूपेन्द्रियाणि
तैजसानि' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्; एवं रसादुदकाद्रसनेन्द्रियम्, शैत्यमङ्गा-
नाम्, स्निग्धता मृदुत्वसहितं, क्लेदमार्द्रताम्, तथा भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रियं
गरिमाणं मूर्तिं च । सर्वमेतत्परमार्थतो जन्मरहितोऽप्यारम्भा तृतीये मासि
गृह्णाति । ततश्चतुर्थे मासि स्पन्दते चलति । तथा च 'शारीरके- 'तस्माच्चतुर्थे
मासि चलनादावभिप्रायं करोति' इति ॥ ७६-७८ ॥

भाषा—आकाश से लाघव (जो लाँघने की क्रिया के लिये उपयोगी होता
है), सूक्ष्मता, शब्द, श्रवणेन्द्रिय और बल आदि ग्रहण करता है, वायु
से स्पर्शेन्द्रिय, चेष्टा (गमनागमन), अंगों का फैलाना, कर्कशता; पित्त (तेज)
से दृष्टि, पाचनशक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशित करने की शक्ति; रस
अर्थात् जल से रसनेन्द्रिय, अङ्गों की शीतलता, स्निग्धता, गीलापन और
कोमलता; पृथिवी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता (भारीपन) और
आकार—इन सबको जन्मरहित होते हुए भी आत्मा (गर्भ के) तीसरे मास
में ग्रहण कर लेता है ॥ ७६-७८ ॥

दौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।

वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥ ७९ ॥

१. शब्दश्रोत्रबला । २. प्रकाशताम् । ३. रसेभ्यो । ४. दोहदस्याप्रदानेन ।

किंच, गर्भस्यैकं हृदयं गर्भिण्याश्चापरमिःयेवं द्विहृदया तस्याः स्त्रिया यदभिलषितं तत् दौहदं, तस्याप्रदानेन गर्भो विरूपता मरणरूपं वा दोषं प्राप्नोति । तस्मात्तदोषपरिहारार्थं गर्भपुष्ट्यर्थं च गर्भिण्याः स्त्रियाः यत्प्रियमभिलषितं तत्संपादनीयम् । तथा च सुश्रुते—द्विहृदयां नारीं दौहदिनीमाचक्षते, तदभिलषितं दद्यात्, वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति' इति । तथा च व्याया-मादिकमपि गर्भग्रहणप्रवृत्ति तथा परिहरणीयम् । 'ततः प्रवृत्ति व्यायामव्यवाया-तितर्पणदिवास्वप्नरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्कुटासनशोणितमो-चणानि परिहरेत्' इति तत्रैवाभिधानात् । 'गर्भ'ग्रहणं च श्रमादिभिल्लिङ्गैरवगन्तव्यम् । 'सद्योगृहीतगर्भायाः श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणित-योर्वबन्धः स्फुरणं च योनेः' इत्यादि तत्रैवोक्तम् ॥ ७९ ॥

भाषा—दोहद (गर्भिणी द्वारा चाही हुई वस्तु) न देने पर गर्भ में कुरूपता या मरण का दोष आ जाता है; अतएव गर्भिणी स्त्री को जो प्रिय लगे उसे अवश्य करना चाहिये ॥ ७९ ॥

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ।

षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच, तृतीये मासि प्रादुर्भूतस्याङ्गसङ्घस्य चतुर्थे मासि स्थैर्यं स्थैर्यमा भवति । पञ्चमे लोहितस्योद्भव उत्पत्तिः । तथा षष्ठे बलस्य वर्णस्य कररुहरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

भाषा—चौथे महीने में अङ्गों में स्थिरता आती है, पाँचवे मांस में रुधिर की उत्पत्ति होती है और छठे महीने में बल, रंग, नाखून एवं रोम आ जाते हैं ॥ ८० ॥

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्त्रायुशिरायुतः ।

सप्तमे चाष्टमे चैवं त्वङ्गांसस्मृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच, असौ पूर्वोक्तो गर्भः सप्तमे मासि मनसा चेतसा चेतनया च युक्तो नाडीभिर्वाहिनीभिः स्त्रायुभिरस्थिबन्धनैः शिराभिर्वातपित्तरलेष्मवाहिनी-भिश्च संयुतः । तथाष्टमे मासि त्वचा मांसेन स्मृत्या च युक्तो भवति ॥ ८१ ॥

भाषा—यह (पूर्वोक्त गर्भ) सातवें मास में मन, चैतन्य, (वायुवाहिनी) नाडियों (अस्थि को बाँधने वाली) स्नायुओं एवं (वात-पित्त-रलेष्मवाहिनी) शिराओं से युक्त होता है, तथा आठवें मास में त्वचा, मांस और स्मरणशक्ति से युक्त होता है ॥ ८१ ॥

१. द्विहृदयायाः स्त्रिया । २. दोहदम् । ३. सक्थिसीदनं । ४. रजु-बन्धः । ५. वाऽपि ।

‘पुनर्धात्री पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।

अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच, तस्याष्टममासिकस्य गर्भस्यौजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं गर्भं च प्रति पुनःपुनरतितरां चञ्चलतया शीघ्रं गच्छति । अतोऽष्टमे मासि जातो गर्भः प्राणैर्वियुज्यते । अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ ओजःस्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम्—‘हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशाज्ञाशमृच्छति ॥’ इति ॥ ८२ ॥

भाषा—आठ महीने के गर्भ का ओज पुनः पुनः कभी गर्भ की ओर तो कभी माता की ओर शीघ्रता से जाता है । इसलिये आठवें महीने में उत्पन्न होने पर गर्भ से प्राण निकल जाता है ॥ ८२ ॥

नवमे दशमे वापि प्रबलैः सूतिमावतैः ।

निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ॥ ८३ ॥

किंच, एवं करचरणचक्षुरादिपरिपूर्णाङ्गेन्द्रियो नवमे दशमे वापि मासे ‘अपि’शब्दात्प्राक् सप्तमेऽष्टमे वा अस्यायासादिदोषवत्प्रबलसूतिहेतुपमजनप्रेरित-स्नायवस्थिचर्मादिनिमित्तवपुर्दन्त्रस्य छिद्रेण सूचमसुषिरेण सज्वरो दुःसहदुःखा-भिभूयमानो निःसार्यते धनुर्यन्त्रेण सुधन्वप्रेरितो बाण इवातिवेगेन निर्गमस-मनन्तरं च बाह्यपवनस्पृष्टो नष्टप्राचीनस्मृतिर्भवति । ‘जातः स वायुना स्पृष्टो न स्मरति पूर्वं जन्म मरणं कर्म च शुभाशुभम्’ इति निरुक्तस्याष्टादशेऽ-भिधानात् ॥ ८३ ॥

भाषा—नवें या दसवें मास में प्रबल प्रसूति वायु (प्रसव को प्रेरित करने वाली वायु) द्वारा गर्भ कुछ ज्वर के साथ छिद्र से उस प्रकार बाहर कर दिया जाता है जैसे किसी धनुषरूपी यन्त्र से प्रेरित होकर बाण बाहर निकलता है ॥ ८३ ॥

कायस्वरूपं विवृण्वन्नाह —

तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वंचो धारयन्ति च ।

षडङ्गानि तथाऽस्थिनां च सह षष्ट्या शतत्रयम् ॥ ८४ ॥

तस्यात्मनो यानि जरायुजाण्डजशरीराणि तानि प्रत्येकं षट्प्रकाराणि रक्तादिषड्धातुपरिपाकहेतुभूतषडङ्गिस्थानयोगित्वेन; तथा हि—अक्षरसो जाठ-शग्निना पच्यमानो रक्ततां प्रतिपद्यते । रक्तं च स्वकोशस्थेनाग्निना पच्यमानं

१. पुनर्गर्भः पुनर्धात्री । २. तथाष्टम । ३. मासि । ४. त्वचं ।
५. तथास्थिनि सह ।

मांसत्वम् । मांसं च स्वकोशानलपरिपक्वं मेदस्त्वम् , मेदोऽपि स्वकोशवह्निना पक्वमस्थिताम् , अस्थ्यपि स्वकोशशिखिपरिपक्वं मज्जात्वम् , मज्जापि स्वकोशपाचकपरिपच्यमानश्चरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स एवात्मनः प्रथमः कोशः । इत्येवं षट्कोशाग्नियोगित्वात् षट्प्रकारत्वं शरीराणाम् । अन्नरसरूपस्य तु प्रथमधातोरनियतत्वाच्च तेन प्रकाशान्तरत्वम् । तानि च शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राख्याः षट् धातव एव रम्भास्तम्भत्वगिव बाह्याभ्यन्तररूपेण स्थिताः त्वगिवाच्छादकत्वात् त्वचस्ताः षट् त्वचो धारयन्ति । तदिदमायुर्वेदप्रसिद्धम् । तथाङ्गानि च षडेव करयुग्मं चरणयुगलमुत्तमाङ्गं गात्रमिति । अस्थनां तु षष्टिसहितं शतत्रयमुपरितनपट्श्लोकया वक्ष्यमाणमवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उस आत्मा के (रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन छः कोषों की अग्नि के योग से) छः प्रकार के शरीर होते हैं; जो छः त्वचाओं, छः अङ्गों (दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर) तथा तीन सौ साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।

पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किंच, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्यस्थीनि द्वात्रिंशत् , तैः सह द्वात्रिंश-
दन्ताश्चतुःषष्टिर्भवन्ति । नखाः करचरणरूपा विंशतिः , हस्तपादस्थानि शलाका-
काराण्यस्थीनि मणिवन्धस्योपरिवर्तीनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । तेषां
नखानां शलाकास्थनां च स्थानचतुष्टयं द्वौ चरणौ करौ चेत्येवमस्थनां चतुस्तरं
शतम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दाँत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौंसठ अस्थियाँ दाँतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियाँ और उनके चार स्थान (दो हाथ और दो पैर)—॥ ८५ ॥

पष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।

चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्गयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किंच, विंशतिरङ्गुलयस्तासां एकैकस्यास्त्रीणि त्रीणीत्येवमङ्गुलिसंज्ञद्वान्य-
स्थीनि षष्टिर्भवन्ति । पादयोः पश्चिमौ भागौ पाण्यो, तयोरस्थीनि द्वे एकैक-
स्मिन्पादे गुल्फौ द्वावित्येवं चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि, बाह्योररत्निकप्रमाणानि
चत्वार्यस्थीनि, जङ्गयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येवं चतुःसप्ततिः ॥ ८६ ॥

भाषा—अंगुलियों की साठ, एड़ी की दो, गुहकों की चार (प्रत्येक पैर में दो-दो), अरुनिका की चार और दोनों अंगों की भी उतनी ही अर्थात् चार अस्थियाँ होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।

अक्षतालूषके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच, जङ्घोरुपन्धिर्जानुः, कपोल गहलः, ऊरुः सविथ तत्फलकं, अंसो भुजशिरः, अक्षः कर्णनेत्रयोर्मध्ये शङ्खादधोभागः, तालूषकं काकुदं, श्रोणी ककु-
लती तत्फलकं, तेषामेकैकत्रास्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येवं चतुर्दशास्थीनि
भवन्ति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुफलक (पट्टे), कंधा, अक्ष (कान और
आँखों के मध्य का स्थान), तालूषक और श्रोणी के फलक में प्रत्येक की दो-
दो अस्थियाँ—॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

ग्रीवा पञ्चदशास्थिः स्याज्जम्बुकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यास्थ्येकं पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति । ग्रीवा
कंधरा, सा पञ्चदशास्थिः स्यात् भवेत् । त्र्योसयोः सन्धिर्जम्बु, प्रतिजम्बुस्थि
पृकैकम्, हनुश्चिबुकम्, तत्रास्थ्येकमस्थीत्येवं चतुःषष्टिः ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पच्चीस और गर्दन में पन्द्रह होते
हैं, प्रत्येक जम्बु (छाती और कंधे के जोड़) में एक-एक तथा चिबुक में
एक अस्थि होती है ॥ ८८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।

पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोर्मूलेऽस्थिनी द्वे, ललाटं भालं अक्षि चक्षुः, गण्डः कपोला-
क्षयोर्मध्यप्रदेशः, तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्डं, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् ।
नासा घनसंज्ञकास्थिमती । पार्श्वकाः कक्षाधःप्रदेशसंबद्धान्यस्थीनि तदाधार-
भूतानि स्थालकानि, तैः स्थालकैः अर्बुदैश्चास्थिविशेषैः सह पार्श्वका द्विस-
प्ततिः । पूर्वोक्तैश्च नवभिः सार्धमेकाशीतिर्भवति ॥ ८९ ॥

भाषा—चिबुक के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट, आँख और गण्ड (कपोल
एवं आँख के बीच का भाग) में भी प्रत्येक में दो दो, नाक में चन नाम की

एक अस्थि, पाखों (पसलियों में) और उनके आधार स्थानों वाली अर्बुद नाम की अस्थियों को मिलाकर बहत्तर अस्थियाँ होती हैं ॥ ८९ ॥

द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।

उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच, भ्रूकर्णयोर्मध्यप्रदेशावस्थिविशेषौ शङ्खकौ, शिरसः संवन्धीनि चत्वारि कपालानि । उरो वक्षः, तत्सप्तदशास्थिकमित्येवं त्रयोविंशतिः । पूर्वोक्तैश्च सह षष्ठ्यधिकं शतत्रयमित्येवं पुरुषस्यास्थिसंग्रहः कथितः ॥ ९० ॥

भाषा—भौंह और कान के बीच की दो अस्थियाँ, शिर के कपाल की चार, वक्ष प्रदेश की सत्रह अस्थियाँ होती हैं—इस प्रकार इन तीन सौ साठ अस्थियों का मनुष्य-शरीर में संग्रह रहता है ॥ ९० ॥

सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्याह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।

नासिका लोचने जिह्वा त्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥ ९१ ॥

एते गन्धादयो विषयाः पुरुषस्य बन्धनहेतवः; 'विषय'शब्दस्य 'विज् बन्धने' इत्यस्य धातोर्व्युत्पन्नत्वात् । एतैश्च गन्धादिभिर्बोध्यत्वेन व्यवस्थितैः स्वस्वगोचरसंविताधनतयानुमेयानि प्राणादीनि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति ॥ ९१ ॥

भाषा—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के विषय हैं; और नाक, आँख, जिह्वा, त्वचा एवं कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥ ९१ ॥

कर्मेन्द्रियाणि दर्शयितुमाह—

हस्तौ पांयुरुपस्थं च जिह्वा पादौ च पञ्च वै ।

कर्मेन्द्रियाणि जानीयान्मनश्चैवोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥

हस्तौ प्रसिद्धौ, पायुर्गुदं, उपस्थं रतिसंपाद्यमुखसाधनं, जिह्वा प्रसिद्धा, पादौ च, एतानि हस्तादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि आदाननिर्हारानन्वयाहारविहारादिकर्मसाधनानि जानीयात् । मनोऽन्तःकरणं युगपत् ज्ञानानुपपत्तिगम्यं तच्च बुद्धिकर्मेन्द्रियसहकारितयोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥

भाषा—दोनों हाथ, गुदा, उपस्थ (संभोगेन्द्रिय), जिह्वा और दोनों पैर इन्हें कर्मेन्द्रियाँ समझना चाहिये; मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है ॥ ९२ ॥

प्राणायतनानि दर्शयितुमाह—

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ।

मूर्ध्नासकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९३ ॥

नाभिप्रभृतीनि दश प्राणस्य स्थानानि । समाननाम्नः पवनस्य सकलाङ्ग-
संचारिस्त्वेऽपि नाभ्यादिस्थानविशेषवाचोक्तिः प्राचुर्याभिप्राया' ॥ ९३ ॥

भाषा—नाभि, ओज, गुदा, शुक्र, रुधिर, दोनों शङ्कक, मूर्धा, कण्ठ और
हृदय ये (दस) प्राण के निवास स्थान हैं ॥ ९३ ॥

प्राणायतनानि प्रपञ्चयितुमाह—

वषा वसावहननं नाभिः क्लोमं यकृत्प्लिहा ।

शुद्धान्त्रं वृक्कौ बस्तिः पुरीषाधानमेव च ॥ ९४ ॥

आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।

उदरं च गुदौ कोष्ठयौ विस्तारोऽयमुदाहृतः ॥ ९५ ॥

वषा प्रसिद्धा, वसा मांसस्नेहः, अवहननं फुफ्फुसः, नाभिः प्रसिद्धा,
प्लीहा आयुर्वेदप्रसिद्धा, तौ च मांसपिण्डाकारौ स्तः सध्यकुक्षिगतौ ॥ यकृत्
कालिका, क्लोम मांसपिण्डस्तौ च दक्षिणकुक्षिगतौ, शुद्धान्त्रं हृत्स्थान्त्रम्,
वृक्कौ हृदयसमीपस्थौ मांसपिण्डौ, बस्तिर्मूत्राशयः, पुरीषाधानं पुरीषाशयः,
आमाशयोऽपक्वाशस्थानम्, हृदयं हृत्पुण्डरीकम्; स्थूलान्त्रगुदोदराणि प्रसि-
द्धानि, बाह्याद् गुदवल्पादन्तर्गुदवलये द्वे, तौ च गुदौ कोष्ठयौ कोष्ठे नाभेरधः-
प्रदेशे भवौ । अयं च प्राणायतनस्य विस्तार उक्तः । पूर्वश्लोके तु संक्षेपः ।
अत एव पूर्वश्लोकोक्तानां केषांचिदिह पाठः ॥ ९४-९५ ॥

भाषा—वषा, वसा, फुफ्फुस, नाभि, क्लोम (दाहिनी कोख के मांस-
पिण्ड), यकृत्, प्लीहा, शुद्धान्त्र (हृदय की आँती), दो वृक्कक (हृदय के
समीप स्थित मांसपिण्ड), मूत्राशय, मलाशय, आमाशय, हृदय, मोटी आँत,
गुदा, उदर, गुदा का भीतरी भाग, (नाभि के नीचे के) दो कोष्ठ—ये प्राण-
स्थानों के विस्तार हैं ॥ ९४-९५ ॥

पुनः प्राणायतनप्रपञ्चार्थमाह—

कनीनिके चाक्षिकूटे शङ्कुली कर्णपत्रकौ ।

कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तावेष्टावोष्ठौ ककुन्दरे ॥ ९६ ॥

वङ्क्षणी वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातजौ स्तनौ ।

उपजिह्वास्फिजौ बाह्व जङ्घोरुषु च पिण्डिका ॥ ९७ ॥

तालूदरं बस्तिशीर्षं चिबुके गलशुण्डिके ।

अंघटश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ९८ ॥

१. भिप्रायेण । २. क्लोमा । ३. वृक्कौ । ४. कोष्ठौ विस्तरोऽयम् ।
५. दन्तावेष्टावेष्टौ ककुन्दरे । ६. संघातकौ । ७. पिण्डिकाः । ८. चिबुकं ।
९. अघट्ट ।

अक्षिकर्णचतुष्कं च पञ्चस्तद्वदयानि च ।

नव चिह्नद्राणि तान्येव प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारके, अक्षिकूटे अक्षिनासिकयोः सन्धी, शङ्कुली कर्णशङ्कुली, कर्णपत्रकौ कर्णपात्यौ, कर्णौ प्रसिद्धौ, दन्तवेष्टौ दन्तपात्यौ, ओष्ठौ प्रसिद्धौ, ककुन्दरे जघनकूपकौ, बद्ध्वाणौ जघनोरुसन्धी, वृक्कौ पूर्वोक्तौ, स्तनौ च श्लेष्मसंघातजौ, उपजिह्वा घण्टिका, स्फिजौ कटिप्रोथौ, बाहू प्रसिद्धौ, जङ्घोरुषु च पिण्डिका जङ्घयोरुर्वोश्च पिण्डिका मांसलप्रदेशः, गल-शुण्डिके हनुमूलगल्लयोः सन्धी, शीर्षं शिरः, अवटः शरीरे यः कश्चन निम्नो देशः कण्ठमूलकक्षादिः 'अवटुः' इति पाठे कृकाटिका; तथाचणोः कनीनिकयोः प्रत्येकं श्वेतं पार्श्वद्वयमिति वर्णचतुष्टयम् । यद्वा अक्षिपुटचतुष्टयम् । शेषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुसिते शरीरे स्थानानि । तथाक्षियुगलं कर्णयुग्मं—नासाविव-रद्वयमास्थं पायुरुपस्थमित्येतानि पूर्वोक्तानि नव चिह्नद्राणि च प्राणस्याय-तनान्येव ॥ ९६-९९ ॥

भाषा—आँख की पुतलियाँ, अक्षिकूट (आँखों एवं नाक की सन्धि), शङ्कुली (कानों का भीतरी खण्ड), दोनों कर्णपत्रक (बाहर से दिखाई पड़ने वाले कान), दोनों कान, दोनों शङ्कर, दोनों भौंहें, दोनों दन्तवेष्ट (मसूढ़े), दोनों ओठ, ककुन्दर (जघन के दो गड्ढे), दोनों बद्ध्वाण (जंघा और ऊरु के जोड़), वृषण (अण्डकोश), दोनों वृक्क, श्लेष्मा से बने हुए दोनों स्तन, उपजिह्वा (घण्टिका), दो स्फिज (कटिप्रोथ), बाहें, जाँघों और ऊरुओं की पिण्डिका, तालु उदर, पेठ, चिबुक ठुड्डी), गलशुण्डिका, (ठुड्डी और गले का जोड़), शिर, शरीर में निम्न प्रदेश (जैसे कण्ठमूल, काँख आदि), दो आँखों के चार वर्ण, पैर, हाथ और हृदय तथा नौ छिद्र (दो आँखें, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुख, पायु, उपस्थ)—ये सभी प्राण के निवासस्थान हैं ॥ ९६-९९ ॥

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ।

धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

किंच, शिरा नाभिसंघदाश्चत्वारिंशत्संख्या वातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सकल-कलेवरव्यापिन्यो नानाशाखाः सद्यः सप्तशतसंख्या भवन्ति । तथाङ्गप्रत्यङ्ग-संधिबन्धनाः स्नायवो नवशतानि । धमन्यो नाम नाभेरुद्धताश्चतुर्विंशति-संख्याः प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन द्विशतं भवन्ति । पेश्यः पुनर्मांस-लाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गसंधिन्यः पञ्चशतानि भवन्ति ॥ १०० ॥

भाषा—(वात-पित्त-श्लेष्मवाहिनी) शिराएँ सात सौ हैं; अस्थियों की बांधने वाली स्नायुएँ, धमनियाँ (प्राणवाहिनी नाड़ियाँ) दो सौ और पेशियाँ पाँच सौ होती हैं ॥ १०० ॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण संख्यानंतरमाह—

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।

षट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिताः शाखोपशाखाभेदेन एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नवशतानि षट्पञ्चाशच्च भवन्तीत्येवं हे सामश्रवःप्रभृतयः मुनयः ! जानीत ॥ १०१ ॥

भाषा—(हे मुनियो) शिरा और धमनियों मिलकर (अपनी शाखाओं एवं उपशाखाओं के भेद से) उन्नीस लाख नौ सौ छपन होती हैं, इसे जानिये ॥ १०१ ॥

त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः श्मश्रुकेशाः शरीरिणाम् ।

सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०२ ॥

किंच, शरीरिणां श्मश्रूणि केशाश्च मिलिताः सन्तस्त्रयो लक्षा विज्ञेयाः । मर्माणि मरणकराणि क्लेशकराणि च स्थानानि तेषां सप्तोत्तरं शतं विज्ञेयम् । अस्थनां तु द्वे सन्धिशते स्नायुशिरादिसन्धयः पुनरनन्ताः ॥ १०२ ॥

भाषा—मनुष्यों के दाढ़ी-भूँछ और शिर के केश कुल मिलाकर बालों की संख्या तीन लाख समझनी चाहिए । एक सौ सात मर्मस्थल होते हैं और दो सौ अस्थियों के जोड़ होते हैं ॥ १०२ ॥

सकलशरीरसुषिरादिसंख्यामाह—

रोग्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्चतस्रः कोट्य एव च ।

सप्तषष्ठिस्तथा लक्षाः सार्धाः स्वेदायनैः सह ॥ १०३ ॥

वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ताः परमाणवः ।

यद्यप्येकोऽनुवेत्तेषां भावनां चैव संस्थितिम् ॥ १०४ ॥

पूर्वोदितशिराकेशादिसहितानां रोग्णां परमाणवः सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपा भागाः स्वेदस्रवणसुषिरैः सह चतुःपञ्चाशत्कोट्यः तथा सप्तोत्तरषष्टिलक्षाः सार्धाः पञ्चाशत्सहस्रमहिताः वायवीयैर्विभक्ताः पवनपरमाणुभिः पृथक्कृता विगण्यन्ते । एतच्च शास्त्रदृष्ट्याभिहितम् । चक्षुरादिकरणपथगोचरत्वाभावादस्यार्थस्य । इममतिगहनमर्थं शिरादिभावसंस्थानरूपं हे मुनयः ! भवतां मध्ये यः कश्चिदनुवेत्ति सोऽपि महान् अग्रगो बुद्धिमत्ताम् । अतो पक्षतो बुद्धिमता बोद्धव्याभावसंस्थितिः ॥ १०३-१०४ ॥

१. लक्षाश्च । २. केशरमश्च शरीरिणाम् । ३. एको नु वेदेषां । ४. वेदेषां ।

भाषा—स्वेदायनों (खचा पर पसीना निकालने वाले सूषम छिद्रों) के रोओं को मिलाकर जीवन करोड़, सबसठ लाख, पचास हजार रोएँ हैं । इनकी गिनती वायु के परमाणुओं द्वारा पृथक्-पृथक् किये जाने पर ही होती है । यदि आप लोगों (मुनियों) में कोई व्यक्ति इसे जानता है तो वह महान् है, क्योंकि इन्हें बुद्धिमान् व्यक्ति ही यत्नपूर्वक जान सकता है ॥ १०३-१०४ ॥

शारीररसादिपरिमाणमाह—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ।

सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०५ ॥

षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च ।

वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मञ्जैकोर्ध्वं तु मस्तके ॥ १०६ ॥

श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु ।

इत्येतदस्थिरं वर्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०७ ॥

सम्यक्परिणताहारस्य सारो रसस्तस्य परिमाणं नवाञ्जलयः । पार्थिवपरमाणुसंश्लेषनिमित्तस्य जलस्याञ्जलयो दश विज्ञेयाः । पुरीषस्य वर्चस्कस्य सप्तैव । रक्तस्य जाठरानलपरिपाकापादितलौहित्यस्याग्निरसस्याष्टावञ्जलयः प्रकीर्तिताः । श्लेष्मणः कफस्य षड्जलयः । पित्तस्य तेजसः पञ्च । मूत्रस्योच्चारणस्य चत्वारः । वसाया मांसस्नेहस्य त्रयः । मेदसो मांसरसस्य द्वावञ्जली । मज्जा त्वस्थिगतसुविण्णतस्तस्यैकोऽञ्जलिः । मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः मज्जा श्लेष्मौजसः श्लेष्मसारस्य । तथा रेतसश्चरमधातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव । एतच्च समधातुपुरुषाभिप्रायेणोक्तम् । विषमधातोस्तु न नियमः; 'दैलक्ष्ण्यच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च । दोषधातुमलानां च परिमाणं न विद्यते ॥' इत्यायुर्वेदस्मरणात् । इतीदृशमस्थिनाद्यवायारब्धमेतदशुचिनिधानं वर्मस्थिरमिति यस्य बुद्धिरसौ कृती पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति । वैराग्यनिष्ठानित्यविवेकयोर्मोक्षोपायत्वात्, अस्थिमूत्रपुरीषादिप्राचुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात् । अत एव व्यासः— 'सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः । शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्वहिर्भवेत् । दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च चारयेत् ॥' इति । तस्मादीदृशकुत्सितशरीरस्यात्यन्तिकविनिवृत्त्यर्थमात्मोपासने प्रयतितव्यम् ॥ १०५-१०७ ॥

भाषा—(शरीर में आहार का सारभूत) रस नौ अञ्जलि समझनी चाहिए, जल दस अञ्जलि, पुरीष सात अञ्जलि और रक्त आठ अञ्जलि बताया गया है । कफ छः, पित्त पाँच, मूत्र चार, वसा तीन, मेदस् दो और मज्जा

(अस्थि की) एक अञ्जलि होती है तथा मस्तक में आधी अञ्जलि मज्जा होती है । श्लेष्म का सार भी उतना ही (आधी अञ्जलि) होता है और वीर्य भी उतना ही (आधी अञ्जलि) होता है । इसप्रकार निर्मित यह शरीर अस्थिर है ऐसी मति वाला व्यक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ होता है ॥ १०५-१०७ ॥

उपासनीयारमस्वरूपमाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयावभिनिःसृताः ।

‘हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ १०८ ॥

मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।

स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

हृदयप्रदेशादभिनिःसृताः कदम्बकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहित-करत्वेन हिताहितेतिसंज्ञा द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यो भवन्ति । अपरास्तिस्रो नाड्यस्तासामिडापिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ सद्यदक्षिणपार्श्वगते हृदि विपर्यस्ते नासा-विवरसंबद्धे प्रागापानायतने । सुषुम्नाख्या पुनस्तृतीया दण्डवन्मध्ये ब्रह्मरन्ध्र-विनिर्गता । तासां नाडीनां मध्ये मण्डलं चन्द्रप्रभं तस्मिन्नात्मा निर्वातस्थदीप इवाचलः प्रकाशमान आस्ते स एवभूतो ज्ञातव्यः । यतस्तत्साक्षात्करणा-दिह संसारे न पुनः संसरति अमृतत्वं प्राप्नोति ॥ १०८-१०९ ॥

भाषा—हृदयप्रदेश से निकली हुई अहित और अहित नामकी बहत्तर सहस्र नाडियाँ होती हैं और इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाम की तीन नाडियाँ हैं, इन सभी नाडियों के बीच चन्द्रमा के प्रकाश के समान ज्योति से प्रकाशित मण्डल है; उसके बीच में आत्मा दीपक के समान अचल होकर स्थित रहता है । उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । उसे जानने पर मनुष्य पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता ॥ १०८-१०९ ॥

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यावधासवान् ।

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच, चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणात्मनि स्थैर्यं योगस्तत्प्राप्त्यर्थं बृहदार-ण्यकाख्यमादित्याद्यन्मया प्राप्तं तच्च ज्ञातव्यम् । तथा यन्मयोक्तं योगशास्त्रं तदपि ज्ञातव्यम् ॥ ११० ॥

भाषा—(चित्तवृत्ति के निरोध के लिए) ‘बृहदारण्यक’ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो मैंने सूर्य देवता से पाया है; और योग की इच्छा रखने वाले को मेरा रचा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए ॥ ११० ॥

१. हिता नाम हि ता नाड्यः ।

कथं पुनरसांवात्मा ध्यातव्य इत्यत आह —

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ १११ ॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मै-
कविषयाणि कृत्वा आत्मा ध्येयः । योऽसौ प्रभुर्निर्वर्तितस्थप्रदीपवद्दीप्यमानो
निष्प्रकम्पो हृदि तिष्ठति । एतदेव तस्य ध्येयत्वं यच्चित्तवृत्तेर्वह्निर्विषयावभास-
तिरस्वारेणारमप्रवणता नाम शरावसंपुटनिरुद्धपभाप्रतानप्रसरस्येव प्रदीपस्यैकनि-
ष्ठत्वम् ॥ १११ ॥

भाषा—मन, बुद्धि और स्मृति इन्द्रियों को विषयों से मोड़कर एका-
ग्रचित्त हो आत्मा का ध्यान करना चाहिए, जो हृदय में दीपक के समान
स्थित है ॥ १११ ॥

यस्य पुनश्चित्तवृत्तिर्निराकारालम्बनतया समाधौ नाभिरमते तेन शब्दब्रह्मो-
पासनं कार्यमित्याह—

यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् ।

सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११२ ॥

स्वाध्यायावगतमार्गानतिक्रमेण सामगायं सामगानम् । साम्नो गाना-
त्मकत्वेऽपि गायमिति विशेषणं प्रगीतमन्त्रव्युदासार्थम् । अविच्युतमखलितं
सावधानः सामध्वन्यनुस्यूतात्मैकाग्रचित्तवृत्तिः पठस्तदभ्यासवशात् तत्र निष्णातः
शब्दाकारशून्योपासनेन परं ब्रह्माधिगच्छति । तदुक्तम्—‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः
परं ब्रह्माधिगच्छति’ इति ॥ ११२ ॥

भाषा—(समाधि करने में असमर्थ होने पर) विधिपूर्वक नियमित
रूप से एवं सावधान होकर सामगान का पाठ करने वाला एवं उसके अभ्यास
में तत्पर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

यस्य पुनर्वैदिक्यां गीतौ चित्तं नाभिरमते तेन लौकिकगीतानुरमृतात्मोपासनं
कार्यमित्याह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रैकरीं तथा ।

औवेणकं सरोविन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥ ११३ ॥

ऋग्गाथा पाथिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।

गेयमेतत्तदभ्यासकरणात्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११४ ॥

१ यथाविधानेन पठन्साम गायत्यविस्वरम् । २. स्तथाभ्यासात्प ।
३. अनुस्मृतात्मैक । ४. अपरान्तिक । ५. मकरीं । ६. औवेणकं
सुराविन्दुम् । ७. ऋग्गाथाः । ८. ब्रह्मगीतिकाः । ९. गायन्नेतत्त ।

अपरान्तकोल्लोप्यमद्रकप्रकर्षावेणकानि सरोविन्दुसहितं चोत्तरमित्येतानि-
प्रकरणाख्यानि सप्त गीतकानि । 'च' शब्दादासारितवर्धमानकादिमहागीतानि-
गृह्यन्ते । ऋग्गाथाद्याश्चतस्रो गीतिका इत्येतदपरान्तकादिगीतजातमध्यारोपिता-
त्मभावं मोक्षसाधनत्वान्मोक्षसंज्ञितं मन्तव्यम् । तदभ्यासस्यैकाग्रतापादनद्वारे-
णारमैकतापत्तिकारणत्वात् ॥ ११३-११४ ॥

भाषा—(सामगान में भी मन न लगने पर) अपरान्तक, उल्लोप्य,
मद्रक, प्रकरी, औवेणक तथा सरोविन्दु सहित उत्तर गीतों का, ऋग्गाथा,
पाणिका, दक्षविहिता और ब्रह्मगीतिका का गान करे । इनके अभ्यास से मोक्ष
का साधन (चित्त की एकाग्रता) की प्राप्ति बताई गयी है ॥ ११३-११४ ॥

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ ११५ ॥

किंच, भरतादिमुनिप्रतिपादितवीणावादनतत्त्ववेदी । श्रूयत इति श्रुतिः
द्वाविंशतिविधा सप्तस्वरेषु । तथा हि—षड्जमध्यमपञ्चमाः प्रत्येकं चतुःश्रुतयः
ऋषभधैवतौ प्रत्येकं त्रिश्रुतौ गान्धारनिषादौ प्रत्येकं द्विश्रुतौ इति । जातयस्तु
षड्जादयः सप्त शुद्धाः संकरजातयस्त्वेकादशेत्येवमष्टादशविधास्तासु विशारदः
प्रवीणः । ताल इति गीतपरिमाणं कथ्यते । तत्स्वरूपज्ञश्च तदनुविद्धब्रह्मोपासन-
तया तालादिभङ्गभयाच्चित्तवृत्तेरारमैकाग्रतायाः सुकरत्वादभ्यासेनैव मुक्तिपथं
नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

भाषा—(भरत आदि मुनियों द्वारा प्रतिपादित विधि से) वीणा-
वादन का मर्मज्ञ, श्रुति (जो सात स्वरों में बाइस प्रकार की होती है),
तथा जाति (षड्ज आदि सात शुद्ध और ग्यारह संकर जातियाँ कुल मिलाकर
अठारह) में प्रवीण, और ताल का ज्ञान रखने वाला (चित्त की एकाग्रता के
सुकर होने से) अल्प प्रयत्न से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥ ११५ ॥

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य गीतज्ञस्य फलान्तरमाह—

गीतज्ञो यदि योगेन^१ नाप्नोति परमं पदम् ।

रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कथंचिद्योगेन परमं पदं नाप्नोति तर्हि रुद्रस्य सचिवो भूत्वा
तेनैव सह मोदते क्रीडति ॥ ११६ ॥

भाषा—गीत जानने वाला यदि किसी प्रकार योग द्वारा परम पद नहीं
प्राप्त कर पाता तो रुद्र का अनुचर होकर उन्हीं के साथ क्रीड़ा करता है ॥ ११६ ॥

१. प्रयत्नेन । २. गीतप्रमाणं कल्प्यते । ३. गीतेन । ४. भूत्वा सह
तेनैव ।

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् ।

‘आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

प्रागुक्तरीत्या अनादिरात्मा क्षेत्रज्ञस्तस्य च शरीरग्रहणमेवादुरुद्धवः कथितः ‘अजः शरीरग्रहणाद्’ (प्रा० ६९) इत्यत्र । परमात्मनश्च सकाशात्पृथिव्यादिमकलभुवनोद्भवः तस्मादुद्भूतं पृथिव्यादिभूतसंघाताऽजीवानां स्थूलशरीरतया संभवश्च कथितः ‘सर्गादौ स यथाकाशं’ (प्रा० ७०) इत्यादिना ॥ ११७ ॥

भाषा—(उपरोक्त रीति से) आत्मा अनादि है : उसका शरीर से युक्त होना ही उद्भव कहा गया है । आत्मा (अर्थात् परमात्मा) से ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथिवी आदि जगत्प्रपञ्च से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—

कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।

जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरामनुजादिसहितं जगदात्मनः सकाशात्कथमुत्पन्नं, आत्मा च तस्मिन् जगति कथं तिर्यङ्मनसरीसृपादिशरीरभागभवतीत्येतस्मिन्नर्थे विमुह्यामः । अतो मोहापनुत्यर्थमस्माकं विस्तरशो वदस्व ॥ ११८ ॥

भाषा—(मुनियों ने प्रश्न किया) देवता, असुर और मनुष्य आदि से युक्त यह संसार आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ और उस जगत्प्रपञ्च में आत्मा किस प्रकार शरीर ग्रहण कर लेता है, इसे हम समझ नहीं पा रहे हैं, कृपया विस्तारपूर्वक बतावें ॥ ११८ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रत्युत्तरमाह—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ।

सहस्रकरपद्मेनः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११९ ॥

स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।

विराजः सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिदं स्थूलकलेवरादावनात्मन्यात्माभिमानरूपं मोहजालं तदपास्य तद्व्यतिरिक्तो यः पुरुषोऽनेककरचरणलोचनः सूर्यवर्चाः अनन्तरिमः सहस्रकः बहुशिरा दृश्यते । एतच्च तत्तद्गोचरशक्त्याधारतयोच्यते; तस्य साक्षात्कारादिसंभवाभावात् । स एवात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च । यतोऽसौ

१. आत्मनश्च । २. संभूताश्च पृथिव्यादिभूतसंघाताः जीवानां । ३. विराट् च ।

विश्वरूपः सर्वात्मकः । वैश्वरूप्यमेव कथमिति चेत् । यस्मादसौ विराजः पुरोडाशाद्यन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति । यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृष्टिरित्येवं वैश्वरूप्यम् ॥ ११९-१२० ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया—) इस संसार में (स्थूल-कलेवर आदि में, जो आत्मा नहीं है, आत्मा का भान करने के) मोहजाल को छोड़कर जो अनेक हाथ, पैर, नेत्र वाला, सूर्य के समान अनन्त किरणों वाला तथा अनेक शिरवाला दिखाई पड़ता है वही आत्म है, यज्ञ और प्रजापति है, वह विश्वरूप है जिससे विराज (पुरोडाश आदि) अन्न के रूप में यज्ञ होता है । (यज्ञ से वृष्टि होती है और उससे प्रजा की सृष्टि होती है) ॥ ११९-१२० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

यो द्रव्यदेवतात्यागसंभूतो रस उत्तमः ।

देवान्संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२१ ॥

संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः ।

ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२२ ॥

खमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ।

यजन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२३ ॥

तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ।

एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२४ ॥

द्रव्यस्य चरुपुरोडाशादेर्देवतोद्देशेन त्यागाद्यो रसः अदृष्टरूपमात्मनः परिणत्यन्तरमुत्तमः सकलजगज्जन्मबीजतयोत्कृष्टतमः संभूतः स देवान्संप्रदानकारकभूतान्सम्यक्प्रीणयित्वा यजमानं चाभिलषितफलेन संयोज्य पवनेन प्रेर्यमाणश्चन्द्रमण्डलं प्रति नीयते । ततः शशिमण्डलाद्रश्मिभिर्भानुमण्डलम् । सैषा त्रय्येव विद्या तपतीत्यभेदाभिधानात् ऋग्यजुःसाममयं प्रत्युपनीयते । ततश्च खमण्डलादसौ सूर्योऽमृतसं वृष्टिरूपमुत्तमं यस्य सकलभूतानामशनानशनानात्मनां चराचराणां जनननिमित्तं तत्सृजति । तस्माद् वृष्टिसंपादितौषधिमयात्प्रजोत्पत्तिहेतोरन्नात्पुनर्यज्ञः, यज्ञाच्च पूर्वाभिहितं भङ्ग्या पुनरन्नं, अन्नाच्च पुनः क्रतुरित्येवमेतदखिलं संसारचक्रं प्रवाहरूपेणोत्पत्तिविनाशविरहितं सभ्य-वपरिवर्तत इत्यनेन क्रमेणात्मनः सकाशादखिलजगदुत्पत्तिः । तत्र चात्मनः स्वकर्मानुरूपविग्रहपरिग्रहः ॥ १२१-१२४ ॥

१. त्यागागसंभूतो ।

२. तन्मण्डलमसौ ।

३. प्रत्युपनीयते ।

४. अभिहितसंज्ञात्पुनरन्नं ।

३० या०

भाषा—जो चह पुरोडाश आदि द्रव्य को देवताओं के निमित्त अर्पित करने पर उत्तम (सम्पूर्ण जगत् के जन्म का बीज होने से उत्कृष्टतम) उत्पन्न होता है वह रस देवताओं को तृप्त करके और अभिलषित फल से यजमान को युक्त करके, वायु द्वारा प्रेरित हो कर चन्द्रमण्डल में पहुँचता है; वहाँ से वह सूर्य के मण्डल में पहुँचता है, जो, ऋक्, यजुस् और साम तीन वेदों का ही रूप होता है । यह सूर्य अपने मण्डल से उत्तम अमृत (वृष्टि) छोड़ता है, जो सम्पूर्ण चर और अचर भूतों के जन्म का कारण होता है । उस वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा पुनः यज्ञ होता है; पुनः अन्न होता है और तब फिर यज्ञ होता है, इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र घूमता रहता है ॥ १२१-१२४ ॥

ननु यद्यात्मनः संसरणमनाद्यन्तं तर्ह्यनिर्मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः ।

समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १२५ ॥

यद्यप्यात्मनोऽनादिस्वात्संभूतिर्न विद्यते अन्तरात्मनः शरीरव्यापिनः तथापि पुरुषः शरीरेण समवायी भवति भोगायतने सुखदुःखात्मकं भोग्यजात-मुपभुङ्क्ते इत्येवंभूतेन संबन्धेन संबन्धी भवत्येव । स च समवायी मोहेच्छा-द्वेषजनितकर्मनिर्मेयो ननु निसर्गजातः । तस्य कार्यत्वेन विनाशोपपत्तेर्न निर्मुक्तिः ॥ १२५ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा के अनादि होने से शरीरव्यापी अन्तरात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि पुरुष (आत्मा) शरीर से समवायी होता है (सुख-दुःख आदि का भोग करता है) और यह समवाय मोह, इच्छा और द्वेष जनित कर्मों से उत्पन्न होता है (नैसर्गिक नहीं होता) ॥ १२५ ॥

आत्मनो जगज्जन्मेत्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः ।

मुखबाहूरुपजाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥ १२६ ॥

पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो द्यौरजायत ।

नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुञ्चाच्छिखी ॥ १२७ ॥

मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ।

जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवात्मकतया प्रपञ्चात्मकतया च सहस्रात्मा बहुरूपस्तथा सकलजगद्धेतुतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृतः तस्य वदनभुजसविधचरण-

जाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णाः । तथा तस्य पादाद् भूमिः, मस्तका-
स्सुरसञ्च, घ्राणाप्राणाः, कर्णात्कुम्भः, स्पर्शात्पवनः, वदनाद्भुतवहः, मनसः
शशङ्कः, नेत्राद् भानुः, जघनाद्गगनं, जङ्गमाजङ्गमात्मकं जगच्च ॥ १२६-१२८ ॥

भाषा—जिस (सकलजीवात्मक) अनेक रूप वाले आदिदेव का मैंने-
वर्णन किया है, उसके मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः चारों वर्ण हुए ।
उसके पैरों से पृथिवी और शिर से छुलोक उत्पन्न हुआ । नासिका से
प्राण, श्रोत्र से दिशाएँ, स्पर्श से वायु और मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ ।
उसके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और नेत्रों से सूर्य, उसके जघन से
अन्तरिक्ष एवं चर और अचर संसार की उत्पत्ति हुई ॥ १२६-१२८ ॥

अत्र चोदयन्ति—

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ।

ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् योगीश्वर ! यद्यात्मैव जीवादिभावं भजते तर्हि कथमसौ पापयो-
निषु मृगपक्ष्यादिषु जायते ? अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टत्वात्तत्र जन्मेत्युच्यते ।
तच्च न,—यस्मादीश्वरः स्वतन्त्रः कथमनिष्टैर्मोहरागादिभावैः संयुज्यते ॥ १२९ ॥

भाषा—हे ब्रह्मन् (योगीश्वर-याज्ञवल्क्य) ! यदि ऐसी बात है
तो वह आत्मा (मृग, पक्षी आदि) पाप योनियों में क्यों जन्म लेता है ?
वह ईश्वर होकर किस प्रकार (मोह, राग आदि) दुर्भावनाओं से युक्त
होता है ? ॥ १२९ ॥

— करणैरन्वितस्यापि पूर्वं ज्ञानं कथं च न ।

वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच, तथेदमप्यत्र दूषणम् । मनःप्रभृतिज्ञानोपायैः सहितस्यापि तस्या-
त्मनः पूर्वज्ञानं जन्मान्तरानुभूतविषयं कस्मान्नोत्पद्यते ? तथा सर्वप्राणिगतां
वेदनां सुखदुःखादिरूपां स्वयं सर्वगोऽपि सर्वदेहगतोऽपि कस्मान्न वेत्ति ?
तस्मादात्मैवैश्वरो जीवादिभावं भजत इत्युक्तम् ॥ १३० ॥

भाषा—मन, आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों से युक्त होने पर भी
उस आत्मा का पूर्वज्ञान (पिछले जन्म का अनुभव) क्यों नहीं होता ?
स्वयं सभी शरीरों में विद्यमान होने पर भी वह सभी प्राणियों की (सुख-
दुःख आदि) वेदना को क्यों नहीं जान पाता ॥ १३० ॥

१. तत्तज्जन्मेत्युच्यते । २. करणेनान्वितस्य । ३. पूर्वज्ञानं कथं च न ।
४. सर्वज्ञोपि ।

तत्र पूर्वोक्तस्योत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतेषु च ॥ १३१ ॥

यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेशवशान्मोह-
रागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजननसाधनं मानसादित्रिविधं कर्मनिचय-
माचरति । तेन चान्त्यादिहीनयोनितामापद्यते । अन्त्याश्चण्डालादयः, पक्षिणः
काकादयः, स्थावरा वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण
मनोवाक्कायारब्धकर्मदोषैर्जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं) यह जीव (सत्य, ज्ञान
और आनन्द स्वरूप ईश्वर होते हुए भी) मन, वाणी और शरीर द्वारा किये
गये कर्म से उत्पन्न दोषों के कारण चण्डाल, पक्षी और वृक्ष आदि स्थावर
पदार्थों का रूप सैकड़ों योनियों में प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३२ ॥

किंच, शरीरिणां जीवानां शरीरेषु भावा अभिप्रायविशेषाः सखाद्युद्रेक-
तारतम्याद्यथाऽनन्तास्तथा तत्कार्याण्यपि रूपाणि कुब्जवामनस्वादीनि देहिनां
सर्वयोनिषु भवन्ति ॥ १३२ ॥

भाषा—जीवों के अपने-अपने शरीरों में जिस प्रकार के अनन्त भाव
होते हैं उसी प्रकार के रूप भी सभी योनियों में देहियों को प्राप्त होते हैं ॥

ननु यदि कर्मजन्यानि कुब्जस्वादीनि तर्हि कर्मानन्तरमेव तैर्भवितव्यमित्या-
शङ्क्याह—

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।
इह चाऽमुत्र वैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

केषांचिज्ज्योतिष्टोमादिकर्मणां विपाकः फलं प्रेत्य देहान्तरे भवति । केषां-
चित्कारीयादिकर्मणां वृष्ट्यादिफलमिहैव भवति । केषांचिच्चित्रादीनां फलं पश्चा-
दिकमिह देहान्तरे वेद्यनियतम् । नञ्चानन्तरमेव कर्मफलेन भवितव्यमिति
शास्त्रार्थः । अत्र च कर्मणां शुभाशुभफलजनकत्वे सखादिभाव एव प्रयोजक-
भूतस्तदायत्तत्वात्फलतारतम्यस्य ॥ १३३ ॥

भाषा—कुछ (ज्योतिष्टोम आदि) कर्मों के फल मृत्यु के उपरान्त
दूसरा शरीर मिलने पर प्राप्त होते हैं और कुछ कर्मों के फल इसी लोक में

१. अनन्ता हि । २. इह चाऽमुत्र वैकेषां ।

मिल जाते हैं । कुछ कर्मों का फल इस लोक में या देहान्तर में निश्चित रूप से प्राप्त होता है । कर्मों के शुभाशुभ फल के विषय में सत्त्वादि भाव ही प्रयोजन हैं ॥ १३३ ॥

मनोवाक्यायकर्मजैरन्यादिबोनीः प्राप्नोतीत्युक्तं, तत्प्रपञ्चयितुमाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्ठानि चिन्तयन् ।

वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्यासु योनिषु ॥ १३४ ॥

परधनानि कथमहमपहरेयमित्याभिमुख्येन ध्यायंस्तथाऽनिष्ठानि ब्रह्महत्यादीनि हिंसात्मकानि करिष्यामीति चिन्तयन् वितथे असत्यभूने वस्तुनि अभिनिवेशः पुनः पुनः संकल्पस्तद्वीक्ष्य चण्डालाद्यन्ययोनिषु जायते ॥ १३४ ॥

भाषा—दूसरे के धन के अपहरण का अवसर दंडूते रहने वाला, (ब्रह्महत्यादि) पापों का ही चिन्तन करने वाला, तथा असत्य वस्तुओं में पुनः पुनः संकल्प करने वाला कुत्ता, चण्डाल आदि अन्ययोनियों में जन्म लेता है ॥ १३४ ॥

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः परुषस्तथा ।

अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

किंच, यस्त्वनृतवदनशीलः पुरुषः पिशुनः कर्णजपः परुषः परोक्षमकरभाषी अनिबद्धप्रलापी प्रकृतासङ्गतार्थवादी च बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वादिभारतग्यादीनोत्कृष्टेषु मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

भाषा—असत्यवादी, पिशुन (चुगुलखोर), कठोर वचन कहने वाला और असङ्गत भाषण करने वाला मृग और पक्षी की योनि में जन्म लेता है ॥

अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ।

हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेष्वभिजायते ॥ १३६ ॥

किंच, अदत्तादाननिरतः अदत्तपरधनापहारप्रसक्तः परदारप्रसक्तः अविहितमार्गेण प्राणिनां घातकश्च दोषगुरुषुभावतारतम्यात्तरुलताप्रतानादिस्थावरेषु जायते ॥ १३६ ॥

भाषा—बिना दिए हुए ही दूसरे की वस्तु का अपहरण करने में रत, परस्त्री में आसक्त और (अविहित विधि से अन्न-प्रयोजन के विना ही) प्राणियों की हिंसा करने वाला स्थावर (वृक्ष, लता आदि) की योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १३६ ॥

१. योनितां प्राप्नोतीति ।

२. पुरुषस्तथा ।

३. पूर्ववृत्त्यादि ।

४. स्थावरेषूपजायते ।

सत्त्वादिगुणपरिपाकमाह—

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।

धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३७ ॥

आत्मज्ञो विद्याधनाभिजनाद्यभिमानरहितः, शौचवान् बाह्याभ्यन्तरशौच-
युक्तः, दान्त उपशमान्वितः, तपस्वी कृच्छ्रादितपोयुक्तः, तथेन्द्रियार्थेष्वप्रसक्तः,
नित्यनैमित्तिकधर्मानुष्ठाननिरतः, वेदार्थवेदी च यः, सात्त्विकः । स च सर्वोद्रेक-
तारतम्यवशादुत्कृष्टोत्कृष्टतरसुरयोनितां प्राप्नोति ॥ १३७ ॥

भाषा—आत्मज्ञानी, पवित्र, शान्त चित्त वाला, तपस्वी, इन्द्रियों को
वश में रखने वाला, धर्मनिष्ठ और वेद विद्या का ज्ञान रखने वाला, सत्त्वगुण
संपन्न व्यक्ति देव की योनि में जन्म पाता है ॥ १३७ ॥

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः ।

स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥ १३८ ॥

किंच, असत्कार्येषु तूर्यवादिन्नृत्यादिष्वभिरतो यः तथा अधीरो व्यग्रचित्तः
आरम्भी सदा कार्याकुलो विषयेष्वतिप्रसक्तश्च, स रजोगुणयुक्तः । नद्गुणतार-
तम्याद्धीनोत्कृष्टमनुष्यजातिषु मरणानन्तरमुत्पत्तिं प्राप्नोति ॥ १३८ ॥

भाषा—जो असत्कार्य (नृत्य, गीत आदि) में रत, अधीर, सदा
कार्याकुल और विषयों में लिप्त रहता है वह रजोगुणी मृत्यु के उपरान्त मनुष्य
योनि में जन्म पाता है ॥ १३८ ॥

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ।

प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३९ ॥

तथा च, यः पुनर्निद्राशीलः, प्राणिपीडाकरो, लोभयुक्तश्च, तथा नास्तिको
धर्मादेर्निन्दकः, याचनशीलः, प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्यः, विरुद्धाचारश्च,
असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतम्याद्धीनहीनतरपश्चादियोनिषु जायते ॥ १३९ ॥

भाषा—निद्रालु (अधिक सोने वाला), प्राणियों को पीड़ित करने
वाला; लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी (विवेकहीन) और विरुद्ध आचरण
वाला तमोगुणी पशु-पक्षियों की योनि में उत्पन्न होता है ॥ १३९ ॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।

भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १४० ॥

१. धर्मकृद्वेदविद्याति सात्त्विको । २. तारतम्यादुत्कृष्ट । ३. पुनर्जन्मा-
धिगच्छति ।

एवमविद्याविद्धोऽयमात्मा रजस्तमोभ्यां सम्यगाविष्ट इह संसारे पर्यटन्
नानाविधदुःखप्रदैर्भावैरभिभूतः पुनः पुनः संसारं देहग्रहणं प्राप्नोतीति । ईश्वरः
स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इत्यस्य चोद्यस्यानवकाशः ॥ १४० ॥

भाषा—(इस प्रकार अविद्या से युक्त) यह आत्मा रजोगुण एवं तमो-
गुण से पूर्णतः आविष्ट होकर इस लोक में भटकता हुआ, अनेक दुःखप्रद
भावों से युक्त होकर पुनः पुनः संसार में आता है अर्थात् शरीर धारण
करता है ॥ १४० ॥

यदपि 'करणैरन्वितस्यापि' (प्रा० १३०) इति द्वितीयं चोद्यं तस्योत्तर-
माह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।

तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा अन्तःकर्णादिज्ञानसाधनसंपन्नस्तथापि जन्मान्तरानुभूतार्थाव-
बोधे न समर्थः अविपक्वकरणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात् ; यथा दर्पणो
मलच्छन्नो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

भाषा—(दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं—) जिस प्रकार मलिन दर्पण
रूप का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा राग आदि
दोष से युक्त होने के कारण दूसरे जन्म के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में
असमर्थ रहता है ॥ १४१ ॥

ननु प्राग्भवीयज्ञानस्याप्यात्मप्रकाशत्वात् तस्य च स्वतःसिद्धत्वान्नानुपलम्भो
युक्त इत्याशङ्क्याह—

कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे मधुरः सत्रसोऽपि न ।

प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४२ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारौ तिक्तकर्कटिकायां विद्यमानोऽपि मधुरो रसो यथा नोप-
लभ्यते तथात्मन्यपक्वकरणे विद्यमानापि ज्ञता ज्ञातृता प्राग्भवीयवस्तुगोचरा न
प्राप्यते ॥ १४२ ॥

भाषा—जिस प्रकार कटुई ककड़ी में रस होने पर भी वह बिना पके
प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान रहते हुए भी अपक्वकरण
की अवस्था में (रागादि विकारों से चित्त के मलिन रहने पर) उसे पूर्व-
जन्म के अनुभव का ज्ञान नहीं हो पाता ॥ १४२ ॥

‘वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्’ (प्रा० १३०) इति यदुक्तं,
तत्रोत्तरमाह —

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।

योगी मुक्तश्च सर्वासां ‘यो न चाप्नोति वेदनाम् ॥ १४३ ॥

यः पुनर्देही देहाभिमानयुक्तः, स सर्वाश्रयामाध्यात्मिकादिरूपां वेदनां स्वकर्मोपार्जित एव देहे प्राप्नोति, न देहान्तरगतां भोगायतनारम्भादष्टवैलक्षण्यादेव; यस्तु योगी मुक्तो मुक्ताहंकारादिः सकलक्षेत्रज्ञगतानां सुखदुःखादिसंविदां वेदिता भवति परिपक्वकरणत्वात् ॥ १४३ ॥

भाषा—जो शरीरधारी अपने शरीर के अभिमान से युक्त होता है वह सब प्रकार की (आध्यात्मिक आदि) वेदनाएँ उस शरीर से ही प्राप्त करता है । योगी और मुक्त (अहंकारहीन) सभी प्राणियों की सुख-दुःखादि वेदना का ज्ञाता होता है । (क्योंकि उसका चित्त रागादि मल से आच्छन्न नहीं रहता) ॥ १४३ ॥

नन्वेकस्मिन्नात्मनि सुरनरादिदेहेषु भेदप्रत्ययो न घटत इत्याशङ्क्याह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।

तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १४४ ॥

यथैकमेव गगनं कूपकुम्भाद्युपाधिभेदभिन्नं नानेवानुभूयते, यथा वा भानुरेकोऽपि भिन्नेषु जलभाजनेषु करकमणिकमल्लिकादिषु नानेवानुभूयते, तथैकोऽप्यात्मा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नाना प्रतीयते । द्वितीयदृष्टान्तोपादान-मात्मभेदस्यापारमार्थिकत्वद्योतनार्थम् ॥ १४४ ॥

भाषा—जिस प्रकार आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-पृथक् अनेक प्रतीत होता है एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलपात्रों में अनेक प्रतीत होता है; उसी प्रकार आत्मा भी (समष्टि और व्यष्टि भेद से) एक और अनेक है ॥ १४४ ॥

‘पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः’ (प्रा० ७२) इत्याद्युक्तमर्थमुपसंहृत्याह—

ब्रह्मस्त्रानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ।

इमे लोका एष चात्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥ १४५ ॥

ब्रह्म आत्मा, खं गगनं, अनिलो वायुः, तेजोऽग्निः, जलं प्रसिद्धं, भूश्चेत्येते वातादिधातव एव शरीरं व्याप्य धारयन्तीति धातवोऽभिधीयन्ते । तत्र खादयः पञ्च धातवः लोक्ष्यन्ते दृश्यन्ते इति लोकाः । जडा इति यावत् । एष चिदातुरात्मा एतस्माज्जडाजडसमुदायास्थावरजङ्गमात्मकं जगदुपपद्यते ॥ १४५ ॥

१. ज्ञाता नाप्नोति वेदनाम् । २. स्मिकादिषु ॥ १५६

भाषा—ब्रह्म (आत्मा), आकाश, वायु, तेज, अग्नि, जल और पृथिवी ये (शरीर को व्याप्त कर धारण करने के कारण) धातु कहे जाते हैं । ये ही (आकाश आदि अवलोकित होने के कारण) लोक (या जग) हैं और यह ज्ञानमय आत्मा होता है; इन्हीं के समुदाय से चर और अचर संसार की उत्पत्ति होती है ॥ १४५ ॥

कथमसावात्मा जगत्सृजतीत्याह—

मृदण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम् ।

करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४६ ॥

हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः ।

निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १४७ ॥

कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ।

सृजत्यात्मानमात्मा च संभूय करणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृत्चक्रचीवरादिकं कारणजातमुपादाय करकशरावादिकं नानाविधकार्यजातं रचयति, यथा वा वर्धकिस्तृणमृत्काष्ठैः परस्परसापेक्षैः पुंरं गृहाख्यं कार्यं करोति, यथा वा हेमकारः केवलं हेमोपादाय हेमानुगतमेव कटक-मुकुटकृण्डलादिकार्यमुपादयति, यथा वा कोशकारकः कीटविशेषो निजलाल-यारब्धमात्मबन्धनं कोशाख्यमारभते, तथाऽपि पृथिव्यादीनि साधनानि परस्परसापेक्षाणि, तथा करणान्यपि श्रोत्रादीन्युपादाय अस्मिन्संसारे तासु तासु सुरादियोनिषु स्वयमेवात्मानं निजकर्मबन्धबद्धं शरीरितया सृजति ॥ १४६-१४८ ॥

भाषा—जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी, डंढे और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है; घर बनाने वाला तिनकों, मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है अथवा जिस प्रकार स्वर्णकार केवल सोना लेकर उससे अनेक प्रकार के रूप (आभूषण आदि) बना डालता है अथवा जिस प्रकार अपनी ही छार से मकड़ी अपना जाला बना लेती है उसी प्रकार आत्मा भी पृथिवी आदि साधनों और श्रोत्र आदि इन्द्रियों को लेकर स्वयं ही इस संसार में भिन्न-भिन्न योनियों में शरीरों के रूप में अपनी रचना करता है ॥ १४६-१४८ ॥

किं पुनर्वैषयिकज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।

कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥

षाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ।

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणागम्यत्वात् तथाऽऽत्मापि सत्यः । अन्यथा यदि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता ध्रुवो न स्यात्तर्हि एकेन चक्षुरिन्द्रियेण दृष्टं वस्तु अन्येन स्पर्शनेन्द्रियेण को विजानाति 'यमहम-द्राक्षं तमहं स्पृशामि' इति ॥ तथा कस्यचित्पुरुषस्य वाचं पूर्वं श्रुत्वा 'पुनः श्रूयमाणं वाचं तस्य वागियमिति कः प्रत्यभिजानाति । तस्मात् ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाता ध्रुव इति सिद्धम् ॥ १४९३ ॥

भाषा—जिस प्रकार पृथिवी आदि महाभूत सत्य हैं उसी प्रकार (विना प्रमाण के भी) आत्मा सत्य है; अन्यथा (यदि बुद्धि, इन्द्रिय से अलग ज्ञाता नहीं होता तो) एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखी गई वस्तु दूसरी (स्पर्श की) इन्द्रिय से कौन जानता ? अथवा किसी व्यक्ति की पहले सुनी हुई वाणी को पुनः सुनने पर कौन पहचान पाता, ? ॥ १४९३ ॥

‘अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥ १५० ॥

जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरहंकृतः ।

शब्दादिविषयोद्योगं कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच, यथात्मा ध्रुवो न स्यात् तर्ह्यनुभूतार्थगोचरा स्मृतिः पूर्वानुभव-भावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना कस्य भवेत् ? नह्यन्येन दृष्टे वस्तुन्यन्यस्य स्मृति-रूपपद्यते । तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः । नहीन्द्रियाणामुपरतव्यापाराणां तत्कारकत्वम् । तथाहमेवाभिजनत्वादिसंपन्न इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रत्ययः कस्य भवति स्थिरात्मव्यतिरिक्तस्य ? तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगसिद्धयर्थमुद्योगं मनोवाक्यादयैः कः कुर्यात् ? तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा स्थितः ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—(यदि आत्मा सत्य न होता तो) अतीत काल के अनुभव की याद किसे रह पाती ? (एक व्यक्ति द्वारा देखी गई वस्तु दूसरे व्यक्ति की स्मृति में नहीं रहती है), स्वप्न का ज्ञान कौन कराता है ? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या आदि का अहंकार करने वाला कौन है ? तथा शब्द स्पर्श आदि विषयों के भोग के लिये कर्म, मन और वाणी से उद्योग कौन करता ? [अतएव बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निश्चित है ।] ॥ १५०-१५१ ॥

उपासनाविशेषविध्यर्थं संसारस्य रूपं विवृण्वन्नाह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ।

‘विप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५२ ॥

१. अतीतार्थस्मृतिः । अतीतार्था । २. विषयं सक्तः । ३. सिद्धयर्थं ।

४. संप्लुतः ।

योऽसौ पूर्वोक्त आत्मा विप्लुतोऽहंकारदूषितः स सकलकर्मसु फलमस्ति न वेति संदिग्धमतिर्भवति । तथाऽसिद्धोऽप्यकृतार्थोऽपि सिद्धमेव कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥ १५२ ॥

भाषा—यह आत्मा अहंकार से दूषित होकर शङ्का करने लगता है कि सभी कर्मों का फल होता है या नहीं, और अकृतार्थ होते हुए भी अपने को कृतार्थ मानने लगता है ॥ १५२ ॥

मम दाराः सुतामात्या अदमोषमिति स्थितिः ।

हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५३ ॥

किंच, तस्य विप्लुतमतेर्मम कलत्रपुत्रप्रेष्यादयोऽहमेषामित्यतीव मम-
ताकुलस्थितिर्भवति । तथा हिताहितकरे कार्यप्रकरे स विप्लुतमतिर्विप-
रीतमतिः सदा भवेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—उसकी (अहंकार से दूषित आत्मा की) 'ये मेरी पत्नी है' 'ये मेरे पुत्र हैं' 'ये मेरे सेवक हैं' 'मैं इनका हूँ' ऐसी ममताकुल दशा होती है, तथा हित एवं अहित के कार्यों में उसकी सदैव विपरीत बुद्धि होती है ॥ १५३ ॥

श्रेयश्चे प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ।

अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥

एवंवृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ।

कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १५५ ॥

किंच, श्रेयं जानातीति श्रेयज्ञस्तस्मिन्नात्मनि प्रकृतौ चात्मनो गुणसाध्याव-
स्थायां विकारे चाहंकारादावविशेषवान् विवेका नभिज्ञो भवति । तथानाश-
नहुताशनाम्बुप्रवेशविषाशनादिषु विप्लववशात्कृतप्रयत्नो भवेत् । एवं नानाप्रका-
राकार्यप्रवृत्तोऽविनीतात्माऽसंयतात्मा असत्कार्याभिनिवेशयुक्तः सन् तत्कृतकर्म-
जातेन रागद्वेषाभ्यां मोहेन च बध्यते ॥ १५४-१५५ ॥

भाषा—श्रेयज्ञ (श्रेय विषयों को जानने वाला) आत्मा प्रकृति में (अपने गुणों की साध्यावस्था में) अहंकारादि विकार से विवेकशून्य हो जाता है और भोजन-त्याग, अग्नि, जल में प्रवेश अथवा गिरकर मरने के कार्य में यत्न करता है । इस प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त असंयत आत्मा दुष्कर्म में लगकर (उन कर्मों से उत्पन्न) राग, द्वेष और मोह से पीड़ित होता है ॥ १५४-१५५ ॥

शरीरग्रहणद्वारेण कथं पुनस्तस्य विलम्भो भवतीत्यत आह—

आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता ।

तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५६ ॥

ऋत्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।

त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १५७ ॥

विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ।

शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५८ ॥

नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निःस्पृहता शमः ।

एतैरुपायैः संशुद्धः सस्वयोग्यमृती भवेत् ॥ १५९ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा, वेदान्तार्थेषु पातञ्जलदियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकि-
त्वम्, तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम्, सत्पुरुषसङ्गः प्रियहितवचनत्वम्,
ललनालोकनालम्भयोः परित्यागः, सर्वभूतेष्वामवदर्शनं समत्वदर्शनम्, परि-
ग्रहाणां च पुत्रपुत्रकलत्रादीनां त्यागः, जीर्णकाषायधारणम्, शब्दस्पर्शादि-
विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिरोधः, तन्द्रा निद्रानुकारिणी, आलस्य-
मनुत्साहः तयोर्विशेषेण त्यागाः, शरीरस्य परिसंख्यानमस्थिराशुचित्वादिदोषा-
नुसंधानम्, तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिवधदिदोषपरामर्शः, तथा
रजस्तमोविधुरता, प्राणायामादिभिर्भावशुद्धिः, निःस्पृहता विषयेष्वनभिलाषः,
शमो बाह्यान्तःकरणसंयमः, एतैराचार्योपासनादिभिरुपायैः सम्यक् शुद्धः
केवलसत्त्वयुक्तो ब्रह्मोपासनेनामृती भवेत् मुक्तो भवति ॥ १५६-१५९ ॥

भाषा—विद्याप्राप्ति के लिये आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों में (वेदान्त
के अर्थ और पातञ्जल आदि योगशास्त्रों में) विवेक, उनमें प्रतिपादित
ध्यान कर्म का अनुष्ठान, सत्संगति, प्रिय एवं हितकर वचन, स्त्रियों के दर्शन
एवं स्पर्श का परित्याग, सभी प्राणियों पर अपने समान दृष्टि (समदर्शिता),
परिग्रह (पुत्र, पत्नी आदि) का त्याग, जीर्ण काषाय वस्त्र का प्रयोग,
शब्द, स्पर्श आदि विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध, तन्द्रा (नींद
के बाद की स्थिति) और आलस्य (उत्साहहीनता) का त्याग, शरीर की
अपवित्रता आदि दोषों का अन्वेषण, सभी (गमन आदि) प्रवृत्तियों में
(सूक्ष्म प्राणियों का वध होने से) पाप देखना रजोगुण एवं तमोगुण का
परित्याग, (प्राणायाम आदि द्वारा) भाव की शुद्धि, निःस्पृहता (विषयों
में अभिलाषा का अभाव) और शम (बाह्य और अन्तःकरण का संयम)

इन उपायों द्वारा सम्यक् रूप से शुद्ध और केवल सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १५६-१५९ ॥

कथममृतत्वप्राप्तिरित्यत आह—

तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् !

कर्मणां संनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्माख्यतत्त्वस्मृतेरात्मनि निश्चलतयोपस्थानात् सत्त्वशुद्धियोगात्केवलसत्त्वगुणयोगात्कर्मबीजानां परिक्षयात् सत्पुरुषाणां च संबन्धात् आत्मयोगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

भाषा—आत्मा नाम के तत्त्व का सदा स्मरण करने, आत्मा में निश्चल होकर ध्यान लगाने, केवल सत्त्वगुण के योग से, कर्मरूपी बीज के नष्ट होने से और सत्पुरुषों के संयोग से आत्मयोग प्राप्त होता है ॥ १६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ।

अविप्लुतमतिः सम्यक्सं जातिस्मरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच, यस्य पुनर्योगिनोऽविप्लुतमतेः शरीरसंक्षयसमये मनः सत्त्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वरं प्रति व्याप्रियते स यद्युपासनाप्रयोगाप्रवीणतयात्मानं नाधिगच्छति तर्हि विशिष्टसंस्कारपाटववशेन जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तस्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विच्छेदकारिणि मोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—शरीर-त्याग के समय जिस अविप्लुतमति (अहंकार आदि से जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है उस) योगी का मन सत्त्वगुण से युक्त होकर सम्यक् रूप से केवल ईश्वर में लगा होता है वह यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो भी उसे पिछले जन्म में अनुभूत दुःखों की स्मृति रहती है (जिससे वह मोक्षप्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है) ॥ १६१ ॥

यस्त्वेतदुत्संस्कारतया पूर्वां जातिं न स्मरति तस्य का गतिरित्यत्राह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।

नानारूपाणि कुर्षाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ १६२ ॥

भरतो नटः, स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्षाणः सितासितपीतादिभिर्वर्णैरात्मनस्तनुं वर्णयति रचयति तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यदत्ते ॥ १६२ ॥

१. अविप्लुतस्मृतिः सम्यग्जाति । २. संस्मरतामियात् । ३. यत्स्वयं दुःसंस्कार ।

भाषा—जिस प्रकार नट (नाटक खेलने वाला) अनेक रंगों से अपने शरीर को रंग लेता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिए अनेक रूपों वाले शरीर धारण करता है ॥ १६२ ॥

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।

गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६३ ॥

किंच, न केवलं कर्मैव कुब्जवामनत्वादिनिमित्तं, किंतु कालकर्मणि स्वकारणस्वपितृबीजदोषो मातृदोषश्चेति सर्वमेतत्सहकारिकारणम् । एतेन दृष्टादृष्ट-स्वरूपेण कारणकलापेन गर्भस्याङ्गहीनत्वादिविकारो जन्मन आरभ्यानियतकालो दृष्टः ॥ १६३ ॥

भाषा—(न केवल पूर्वजन्म के कर्मों से अपितु) काल, कर्म और अपने कारणभूत पिता के वीर्य के दोष से तथा माता के दोष से (इन सभी सहकारी कारणों से भी) जन्म से अङ्गहीन होना आदि गर्भ का विकार दृष्टिगोचर होता है ॥ १६३ ॥

ननु प्राकृतिकप्रलयावसरे महदाद्यखिलविकारविनाशे कर्मणो नाशात्कथं तन्निबन्धनः प्रथमपिण्डपरिग्रह इत्याशङ्क्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ।

शरीरेण च नात्मायं मुक्तपूर्वः कथंचन ॥ १६४ ॥

मनोऽहंकारौ प्रसिद्धौ, गतिः संसरणहेतुभूतो दोषराशिः, कर्मफलं धर्म-धर्मरूपम्, शरीरं लिङ्गात्मकम् ; एतैरहंकारादिभिरयमात्मा कदाचिदपि न मुच्यते यावन्मोक्षः ॥ १६४ ॥

भाषा—अहंकार, मन, गति, धर्म-अधर्म रूप कर्मों का फल और शरीर से यह आत्मा (मोक्ष होने से पूर्व) कदापि मुक्त नहीं रहता है ॥ १६४ ॥

ननु प्रतिनियतकर्मणां जीवानां प्रतिनियतकालमेवोपरतिर्युक्ता, न पुनः संग्रामादौ युगपदकाले प्राणसंचय इत्याशङ्क्याह—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।

विक्रियापि च दृष्टैवमकाले प्राणसंक्षयः ॥ १६५ ॥

यथा हि खलु तैलविलम्बानेकैर्वर्तिवर्तिनीनां नानाज्वालानां युगपत्संस्थितिः तासां च स्थितानां तदुत्तरं दोधूयमानपवनाहितिरूपविपत्तिहेतूपनिपात-यौगपद्याद्युगपदुपरतिर्यथा भवति तथैव रथिसारथिवाजिकुञ्जरादिजीवानां युद्धाख्योपरतिहेतुयौगपद्यादकालेऽपि प्राणपरिचयो नानुपपन्नः । एतदुक्तं भवति—प्रतिनियतकालविपत्तिहेतुभूतादृष्टस्य तद्विरुद्धकार्यकरदृष्टहेतूपनिपातेन प्रतिबन्ध इति ॥ १६५ ॥

१. जन्मतः । २. स्वपितृकारणबीज । ३. आरभ्यानियत । ४. देह-संचयः । ५. नेकवर्तिनीनां । ६. स्थितानां पटुनरदोधूयमान ।

भाषा—जिस प्रकार एक ही दीपक में तेल से भीगी हुई अनेक बत्तियों से कई लौ एक साथ निकलती हैं और वायु का प्रबल झोंका उन सबको एक साथ ही बुझा देता है उसी प्रकार अकाल में भी अनेक मनुष्यों का एक साथ ही प्राण-नाश हो जाता है ॥ १६५ ॥

मोक्षमार्गमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।

सितासिताः कंबुरुपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १६६ ॥

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

योऽसौ हृदि प्रदीपवत्स्थितो जीवस्तस्यानन्ता रश्मयो नाड्यः सुखदुःख-हेतुभूताः 'द्वासप्ततिसहस्राणि' (प्रा० १०८) इत्यादिनोक्ताः सितासितकंबुरादिरूपाः सर्वतः स्थितास्तेषामेको रश्मिरूर्ध्वं व्यवस्थितः योऽसौ मार्तण्डमण्डलं निर्भिद्य हिरण्यगर्भनिलयं चातिक्रम्य वर्तते तेन जीवः परां गतिमपुनरावृत्तिलक्षणां प्राप्नोति ॥ १६६-१६७ ॥

भाषा—हृदय में दीपक के रूप में स्थित जीव की अनन्त रश्मियाँ (सुख-दुःख की हेतुभूत नाडियाँ) श्वेत, कृष्ण, कवरी, कपिला, नीली और लाल वर्ण की होती हैं । उनमें एक नाड़ी ऊपर की ओर स्थित है जो सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक के भी पार पहुँचती है; इसके द्वारा ही जीव परम गति प्राप्त करता है ॥ १६६-१६७ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।

तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

यदस्यात्मनो मुक्तिमार्गभूताद्रश्मेरन्यद्रश्मिशतमूर्ध्वाकारमेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि सधामानि कनकरजत-रत्नरचितामरपुरसहितानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

भाषा—इस आत्मा के मुक्ति का मार्गभूत नाडियों से भिन्न ऊपर की ओर जाने वाली सौ नाडियाँ हैं; उनके द्वारा ही देवताओं के लोक और शरीर प्राप्त होते हैं ॥ १६८ ॥

संसरणमार्गमाह—

येऽनेकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य सृंदुप्रभाः ।

इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

१. कर्बुनीलाः कपिलाः पीतलोहिताः । बभ्रुनीलाः । २. रश्मयश्च ।
३. मितप्रभाः ।

ये पुनस्तस्याधस्ताद्रश्मयो मृदुप्रभास्तैरिह फलोपभोगार्थं संसारे संसरति
अवशः स्वकृतकर्मपरतन्त्रः ॥ १६९ ॥

भाषा—और जो उन नादियों के नीचे की कम ज्योति वाली नादियाँ हैं उनके द्वारा जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर इस संसार में पुनः आता है ॥ १६९ ॥

भूतचैतन्यवादिपक्षं परिजिहीर्षुराह—

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मनां मरणेन च ।

आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनुतेन च ॥ १७० ॥

श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।

निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १७१ ॥

तारानक्षत्रसंसारैर्जागरैः स्वप्नजैरपि ।

आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥

मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ।

विष्तात्मानं वेद्यमानं कारणं जगतस्तथा ॥ १७३ ॥

वेदैः 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह. ३।१।२६) इति, 'अस्थूलमनण्व-
हस्वमपाणिपादम्' (बृ. ३।८।८) इत्यादिभिः । शास्त्रैश्च मीमांसांवीक्षिक्या-
दिभिः । विज्ञानैश्च 'ममेदं शरीरम्' इत्यादिदेहव्यतिरिक्तात्मानुभवैः । तथा
जन्ममरणभ्यां जन्मान्तरानुष्ठितधर्माधर्मनियताभ्यां देहातिरिक्तात्मानुमानम् ।
आर्त्या जन्मान्तरगतकर्मानुष्ठाननियतया, तथा गमनागमनाभ्यां ज्ञानेच्छाप्रय-
त्नाधारनियताभ्यामपि भौतिकदेहातिरिक्तात्मानुमानम् । नहि देहस्य चैतन्यादि
संभवति । यतः कारणगुणप्रक्रमेण कार्यद्रव्ये वैशेषिकगुणारम्भो दृष्टः । न च
तत्कारणभूतपार्थिवपरमाण्वादेषु चैतन्यादिसमवायः संभवति । तदारब्धस्तम्भ-
कुम्भादिभौतिकेष्वनुपलम्भात् । नच मदशक्तिवदुक्तादिद्रव्यान्तरसंयोगज इति
वाच्यम् ; शक्तेः साधारणगुणत्वात् । अतो भौतिकदेहातिरिक्तचैतन्यादिसमवा-
य्यङ्गीकर्तव्यः । सत्यानृते प्रसिद्धे श्रेयो हितप्राप्तिः, सुखदुःखे आमुष्मिके, तथा शुभ-
कर्मानुष्ठानमशुभकर्मपरित्यागः । एतैश्च ज्ञाननियतैर्देहातिरिक्तात्मानुमानम् ।
निमित्तं भूकम्पादि, शाकुनज्ञानं पिङ्गलादिपतञ्जिचेष्टालिङ्गकं ज्ञानम्, ग्रहाः
सूर्यादयः, तत्संयोगजैः फलैः, तारा अश्विन्यादिव्यतिरिक्तानि ज्योतीषि नक्षत्रा-
ण्याश्वयुक्प्रभृतीनि, एतेषां संचारैः, शुभाशुभफलद्योतनैः जागरैर्जागरावस्था-

१. विद्यमानं सर्वस्य जगतस्तथा । २. कारणगुणक्रमेण । ३. रक्त-
चैतन्यादि ।

जन्यैश्च सच्छिद्रादिध्यादिदर्शनैः, तथा स्वप्नजैः स्वरवराहयुक्तरथारोहणादिज्ञानैः, तथा आकाशाद्यैश्च जीवोपभोगार्थतया सृष्टैः, तथा मन्वन्तरप्राप्त्या देहेऽनुपपद्यमानतया, तथा मन्त्रौषधिकलैः प्रेक्षापूर्वकैः क्षुद्रकर्माद्यैः साक्षात्परम्परया वा देहेऽनुपपद्यमानैर्वेद्यमानं हे मुनयः ! वित्त जानीत ॥ १७०-१७३ ॥

भाषा—वेद, शास्त्र, अनुभव, जन्म, मृत्यु, (जन्मान्तर के कर्मों का फल भोगना निश्चित होने से) पीडा, गति, अगति (न चलना), सत्य, असत्य, श्रेय (हितप्राप्ति), सुख और दुःख, शुभ और अशुभ कर्म, निमित्त (भूकप आदि), शकुन का ज्ञान, ग्रह और उनके संयोग से उत्पन्न फल, (अश्विनी आदि नक्षत्रों से भिन्न) तारा और नक्षत्रों (अश्वयुज आदि) की गति, जागते और सोते समय (स्वप्न में) देखी गई वस्तुओं, आकाश, वायु, ज्योति (सूर्य आदि), जल, पृथिवी, मन्वन्तर की प्राप्ति, युग का परिवर्तन, मन्त्रों एवं ओषधियों का फल—इन सबसे (देह से परे) आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है जो सम्पूर्ण जगत् का कारण है ; ऐसा आप लोग समझें ॥ १७०-१७३ ॥

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ।

इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥ १७४ ॥

स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः ।

निमेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥ १७५ ॥

यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः ।

तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १७६ ॥

किंच, अहंकारतिरहंकारः, स्मृतिः प्राग्भवीयानुभवभावितसंस्कारोद्धोषनिबन्धना स्तन्यपानादिगोचरा, सुखमैहिकम्, धृतिर्धैर्यम्, इन्द्रियान्तरेण हि दृष्टेऽर्थे इन्द्रियान्तरस्य संचारो 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि' इत्येवमनुसन्धानरूप इन्द्रियान्तरसंचारः, अत्रेच्छाप्रयत्नचैतन्यानां स्वरूपेण लिङ्गत्वम्, पूर्वश्लोके तु गमनसत्यवचनादिहेतुतया आर्थिकं लिङ्गत्वमित्यपौनरुक्त्यम्, तथा, धारणं शरीरस्य, जीवितं प्राणधारणम्, स्वर्गो नियतदेहान्तरोपभोग्यः सुखविशेषः, स्वप्नः प्रसिद्धः । पूर्वश्लोके तु स्वप्नस्य शुभफलद्योतनाय लिङ्गत्वम् ; अत्र स्वरूपेणेत्यपौनरुक्त्यम्, तथा भावानामिन्द्रियादीनां प्रेरणम् ; मनसो गतिश्चेतनाधिष्ठानव्याप्ता, निमेषः प्रसिद्धः, तथा पञ्चभूतानामुपादानम्,

१. उन्मेषश्चेतना २. लिङ्गानि दृश्यन्ते ३. सर्वज्ञ ४. श्लोकेऽनुगमन ।

५. द्योतकतया ।

३१ या०

यस्मादेतानि लिङ्गानि भूतेष्वनुपपन्नानि साक्षात्परम्परया वा परमात्मनो द्योत-
कानि दृश्यन्ते, तस्मादस्ति देहातिरिक्त आत्मा सर्वग ईश्वर इति सिद्धम् ॥

भाषा—अहंकार, स्मृति, मेधा, द्वेष, बुद्धि, सुख, धैर्य, इन्द्रियान्तर-
संचार (एक इन्द्रिय द्वारा दृष्ट अर्थ का दूसरी इन्द्रिय को ज्ञान) इच्छा,
शरीरधारण, प्राणधारण, स्वर्ग, स्वप्न, भावना, इन्द्रियों की प्रेरणा, मन की
गति, निमेष (पलक गिराना), चेतना, यत्न, और पृथिवी आदि पंचभूतों
को धारण करना,—ये प्राणियों में पाये जाने वाले चिह्न परमात्मा के द्योतक
दिखाई पड़ते हैं अतएव देह से परे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है जो
सर्वगामी और ईश्वर है ॥ १७४-१७६ ॥

क्षेत्रज्ञस्वरूपमाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ।

अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।

ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन्नसदसच्च यः ॥ १७८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सार्थानि शब्दादिविषयसहितानि मनः कर्मे-
न्द्रियाणि वागादीनि तथाऽहंकारो बुद्धिश्च निष्कारिका पृथिव्यादीनि पञ्च-
भूतानि अव्यक्तं प्रकृतिरित्येतत् क्षेत्रमस्य योऽसावीश्वरः सर्वगतः अत एव
सद्रूपः प्रमाणान्तराग्राह्यत्वात् । असन् अस्पष्टप्रतीतिकत्वात् । सदसद्रूपोऽसा-
वात्मा क्षेत्रज्ञ इति निगद्यते ॥ १७७-१७८ ॥

भाषा—बुद्धि, अपने शब्द आदि विषयों सहित श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ,
मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पञ्चभूत, अव्यक्त (प्रकृति),
ये सब जिस के क्षेत्र हैं वह ईश्वर, सभी प्राणियों में स्थित, सद, असद
और सदसद रूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १७७-१७८ ॥

बुद्धेरुत्पत्तिमाह—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः ।

तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

सत्त्वादिगुणसाम्यमव्यक्तम् । ततस्त्रिप्रकारायाः सत्त्वरजस्तमोमयया बुद्धेरु-
त्पत्तिः, तस्याश्च वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति त्रिविधोऽहंकार उत्पद्यते । तत्र
तामसाद्भूतादिसंज्ञकादहंकारात्तन्मात्राणि, 'आदि'ग्रहणाद्गुणादीनि तानि चैको-
त्तरगुणान्युत्पद्यन्ते । 'च'शब्दाद्वैकारिकतैजसाम्भा बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्तिः ॥

भाषा—अव्यक्त (सख, रज और तमस् इन तीन गुणों की साम्या-
वस्था) से त्रिगुणात्मकबुद्धि की उत्पत्ति होती है; उस बुद्धि से (त्रिविध)
अहंकार की उत्पत्ति होती है; अहंकार से आकाश आदि एक एक गुण की
वृद्धि द्वारा उत्पन्न होते हैं ॥ १७९ ॥

गुणस्वरूपमाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।

यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

तेषां गगनादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदितव्याः ।
एषां च बुद्ध्यादिविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रकृत्यादेरुपपन्नः स तस्मिन्नेव
सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

भाषा—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध (उन आकाश आदि पञ्च-
भूतों के) गुण हैं । इन (बुद्धि आदि) में जो जिससे उत्पन्न होता है वह
प्रलय के समय उसी में विलीन हो जाता है ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ।

विपाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १८१ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः ।

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते ह्यसौ ॥ १८२ ॥

अनादिरादिमांश्चैव स एव पुरुषः परः ।

लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

मानसादित्रिप्रकारकर्मणां विपाकादीश्वरोऽपि सन्नात्मा यथात्मानं सृजति
तथा युष्माकं कथितः । सखायाः गुणास्तस्यैवाविष्टाविशिष्टस्य कीर्तिताः ।
तथा स एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्वत् संसारे भ्राम्यतीत्यपि कथितम् । स
एवानादिः परमपुरुषः शरीरग्रहणेनादिमान् कुञ्जवामनादिविकारसहितस्तथा
स्थूलाकारतया परिणतो लिङ्गेन्द्रियैश्च ग्राह्यस्वरूप उदाहृतः ॥ १८१-१८३ ॥

भाषा—जिस प्रकार ईश्वर होते हुए भी मानस आदि तीन प्रकार के कर्मों
के फल से आत्मा स्वयं को उपजाता है वह मैंने कह दिश । सख, रज और
तमस् गुण उसी (अविद्या से युक्त आत्मा) के हैं । रजोगुण और तमोगुण
से युक्त होकर यह (आत्मा) चक्र के समान इस संसार में घूमता रहता
है । उसी को अनादि, (शरीर ग्रहण करने से) आदिमान्, परमपुरुष,

१. तस्यैव कीर्तिताः । २. हि सः । ३. तस्यैवाविशिष्टस्य ।

शरीर के विकार से युक्त होने तथा स्थूल आकार का होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रह्य बताया गया है ॥ १८१-१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथ्यमरमार्गः तस्यागस्त्यस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः स्वर्गकामाः दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अजवीथी (देवताओं के मार्ग) और अगस्त्य के बीच पितृयान (पितरों का मार्ग) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दर्शभरहिताः तथाऽष्टाभिरात्मगुणैः 'दद्यान्नान्तरनसूयाशौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' (८।२३) इति गौतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा ये च सत्यवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृयानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान (स्मार्त कर्मों) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् (अहंकाररहित होकर) आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽखिलाध्यापकप्रलयादविदितवेदास्तस्योपरितना जनाः कथमग्निहोत्रादिकं कर्म करिष्यन्ति कथंतरां चाकृतकर्माणः स्वर्गमार्गमधिरोचयन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाश्रमिणः पुनरावृत्तिधर्माणः सर्गादौ वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुप्रादुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रादिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसमासङ्गः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अष्टासी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं ; जो (सृष्टि के आरम्भ में) पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

१. सत्यवदन । २. अष्टाशीतिसहस्राणि । ३. पुनरावृत्तिनो ।

४. समागमः ।

सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।

तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्कत्यागेन मेधया ।

तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसंस्तवम् ॥ १८८ ॥

किंच, सप्तर्षयः पसिद्धाः, नागवीथी ऐरावतपन्थाः, तदन्तराले तावन्त एव अष्टाशीतिसहस्रसंख्येण मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः केवलज्ञाननिष्ठाः तपो-ब्रह्मचर्ययुक्ताः तथा सङ्कत्यागिनो देवलोकं समाश्रिताः आभूतसंस्तवं प्राकृत-प्रलयपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिताः सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणां प्रवर्तकाः ॥ १८७-१८८ ॥

भाषा—सप्तर्षियों और नागवीथी (ऐरावतपथ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर (केवल ज्ञाननिष्ठ होकर), तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, संग त्याग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७-१८८ ॥

कथंभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यंश्च किञ्चन वाङ्मयम् ॥ १८९ ॥

यतो द्विविधादपि मुनिसमूहाश्चत्वारो वेदाः पुराणाङ्गविद्योपनिषदश्च नित्य-भूता एवाध्येतृपरम्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मकाः सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमांसागोचराणि भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि यदन्यदायुर्वि-द्यादिकं वाङ्मयं, तदपि यत्सकाशात्प्रवृत्तं तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः । एवं सति वेदस्यापि नानित्यतादोषप्रसङ्गः ॥ १८९ ॥

भाषा—जिन मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविद्याएँ, उपनिषद्, इति-हासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे (आयुर्वेद आदि) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

ततः किमित्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।

श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्देवानुवचनादयः सस्वशुद्ध्यापादनद्वा-रेणात्मज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

भाषा—वेद सम्मत वचन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दम (इन्द्रियों का दमन), श्रद्धा, उपवास और (विषयासक्ति के दोष का नाश होने पर ध्यान और धारणा में) आत्मा की स्वतन्त्रता—ये ज्ञान के हेतु हैं ॥ १९० ॥

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः संमस्तैरेवमेव तु ।

द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥

य एनमेवं विन्दन्ति ये वारण्यकमाश्रिताः ।

उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच, यस्मान्नित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसावुक्तमार्गेण सकलाश्रमि-
भिर्नानाप्रकारं जिज्ञासितव्यः । तमेव प्रकारं दर्शयति—द्विजातिभिर्द्रष्टव्योऽपरो-
चीकर्तव्यः । तत्रोपायं दर्शयति—श्रोतव्यो मन्तव्य इति । प्रथमतो वेदान्तश्रव-
णेन निर्णेतव्यः, तदनन्तरं मन्तव्यः युक्तिभिर्विचारयितव्यः, ततोऽसौ ध्यानेनाप-
रोची भवति । ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः सन्तो निर्जनप्रदेशमाश्रिताः सन्त
एवमुक्तेन मार्गेण एनमात्मानं सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मानं विदन्ति
लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१-१९२ ॥

भाषा—द्विजाति सभी आश्रमों में उस आत्मा के विषय में जिज्ञासा
करें, (वेदान्त) श्रवण द्वारा उसका निर्णय करें, पुनः उस पर मनन
अर्थात् युक्तियों द्वारा विचार करें और तब ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार
करें । जो द्विज अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होकर निर्जन प्रदेश में निवास करते
हुए उपरोक्त विधि से इस परमार्थभूत आत्मा की उपासना करते हैं वे ही
इसे प्राप्त करते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

प्राप्तिमार्गं देवयानमाह—

क्रमात्ते संभवन्त्यचिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ।

अयनं देवलोकां च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥

ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।

करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ते विदितात्मानः क्रमादग्न्याद्यभिमानिदेवतास्थानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विश्रम्य
तैः प्रस्थापिताः परमपदं प्राप्नुवन्ति । अर्चिर्वह्निः, अहर्दिनं, शुक्लपक्षः, तथोत्तरा-
यणं, सुरसप्त, सविता सूर्यः, वैद्युतं च तेजः, तान् एवं क्रमादचिरादिस्थानगता-
न्मानसः पुरुषो ब्रह्मलोकभाजः करोति । तेषामिह संसारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते,
किंतु प्राकृतप्रतिसंचरावसरेत्यकलिङ्गशरीराः परमात्मन्येकीभवन्ति ॥ १९३-१९४ ॥

भाषा—वे आरम्भजानी क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देव-लोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं। तब उन्हें मानस पुरुष ब्रह्मलोक में पहुँचाता है और उनका इस संसार में पुनः जन्म नहीं होता (अर्थात् वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं) ॥ १९३-१९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ।
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥
एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मवान् ।
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः ॥ १९७ ॥

ये पुनर्विहितैर्मार्गैर्धनदानतपोभिः स्वर्गफलभोक्तारस्ते क्रमाद् धूमादिचन्द्रपर्यन्तपदार्थाभिमानिर्नर्देवताः प्राप्य पुनरेव वायुवृष्टिजलभूमीः प्राप्य ब्रीह्याद्यन्नरूपेण शुक्रत्वमवाप्य संसारिणो योनिं व्रजन्ति । एतन्मार्गद्वयममत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयोपायभूतधर्मानुष्ठानं न करोति असौ दन्दशूको भुजङ्गः, पतङ्गः शलभः, कृमिः कीटो वा भवेत् ॥ १९५-१९७ ॥

भाषा—यज्ञ, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में जा पहुँचते हैं और फिर वायु, वृष्टि, जल और पृथिवी को प्राप्त कर (ब्रीहि-आदि अन्न से शुक्र बनकर) क्रमशः इस संसार में पुनः जन्म लेते हैं। जो प्रमत्त व्यक्ति इन दोनों मार्गों को नहीं जानता है (इन दोनों मार्गों के उपायभूत धर्म का अनुष्ठान नहीं करता है) वह दन्दशूक साँप, पतंगा, कीड़ा अथवा कृमि का जन्म पाता है ॥ १९५-१९७ ॥

उपासनाप्रकारमाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।
उत्तानं किञ्चिदुन्नाभ्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥
निमीलिताक्षः सस्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९९ ॥
संनिरुद्धयेन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।
द्विगुणं त्रिगुणं वापि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥

१. न्यस्येतरं करम् ।

ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ।

धारयेत्तत्र चात्मानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

ऊरुस्थावुत्तानौ चरणौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः, तथोत्ताने सध्यकरे दक्षिणमुत्तानं न्यस्य मुखं किंचिदुन्नाभ्योरसा च विष्टभ्य स्तम्भयित्वा तथा निमीलिताक्षः, सश्वस्थः कामक्रोधादिरहितः, दन्तैर्दन्तानसंस्पर्शयन् तथा तालुनि स्थिता श्चला जिह्वा यस्य स तथोक्तः, तथा संवृतास्यः पिहिताननः, सुनिश्चलो निष्प्रकम्पः, तथा सम्यगिन्द्रियसमूहं विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य नातिनीचासनो नात्युच्छ्रितासनो यथा चित्तविक्षेपो न भवति तथोपविष्टः सन्, द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामाभ्यासमुपक्रमेत् । ततो वशीकृतपवनेन योगिना योऽसौ हृदये दीपवदप्रकम्पः प्रभुः स्थितोऽसौ ध्यातव्यः । तत्र च हृदि आत्मानं मनोगोचरतया धारयेत् । तथा धारणां च धारयेत् । धारणास्वरूपं च जान्वप्रभ्रमणेनच्छोटिकादानकालो मात्रा, ताभिः—पञ्चदशमात्राभिरधमः प्राणायामः, त्रिशद्भिर्मध्यमः, पञ्चचत्वारिंशद्भिर्ह्रस्वम इति । प्राणायामत्रयात्मिकैका धारणा, तास्तिस्त्रो 'योग'शब्दवाच्यास्ताश्च धारयेत् । यथोक्तमन्यत्र—'संभ्रम्य च्छोटिकां दद्यात्कराग्रं जानुमण्डले । मात्राभिः पञ्चदशभिः प्राणायामोऽधमः स्मृतः ॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा । त्रिभिस्त्रिभिः स्मृतैकैका ताभिर्योगस्तथैव च ॥' इति ॥ १९८-२०१ ॥

भाषा—पद्मासन लगाकर (जंघों के ऊपर चरणों को उलटा रखकर) बायें हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुख को कुछ ऊपर उठाकर और वक्षस्थल से रोक कर, आँखों को बन्दकर, काम, क्रोध आदि का त्याग करके, दाँतों को बिना मिलाये हुए, तालु स्थान में जिह्वा को निश्चल रखकर, मुँह बन्द करके, अत्यन्त निश्चल होकर (बिना हिले डुले), इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतः मोड़कर तथा न अधिक नीचे और न अधिक ऊँचे आसन पर बैठकर दुगुना या त्रिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करे । तदुपरान्त हृदय में निश्चल दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और तब धारणा (जो तीन प्राणायामों की होती है) करते हुए उस हृदय में आत्मा को धारण करे ॥ १९८-२०१ ॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रश्रुता तथा ।

निजं शरीरमृच्छुज्य परकायप्रवेशनम् ॥ २०२ ॥

१. धारणामवधारयन् । २. सिद्धेश्च; सिद्धिर्हि ।

अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।

सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥

अणिमप्राप्त्या परैरदृश्यत्वमन्तर्धानम् , स्मृतिरतीन्द्रियेष्वर्थेषु मन्वादेरिव स्मरणम्, कान्तिः कमनीयता, दृष्टिरतीतानागतेष्वप्यर्थेषु, तथा श्रोत्रज्ञता अति-
द्वीयसि देशेऽभिव्यज्यमानतया श्रोत्रपथमनासेदुषामपि शब्दानां ज्ञातृता,
निजशरीरत्यागेन परशरीरप्रवेशनम् , स्ववाङ्मावशेनार्थानां कारणनिरपेक्षतया
सृष्टिः, इत्येतद्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम् । नचैतावदेव प्रयोजनं, किंतु सिद्धे
योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२-२०३ ॥

भाषा—अन्तर्धान होना (दूसरों द्वारा न देखा जाना), स्मृत (अती-
न्द्रिय विषयों का स्मरण), शोभा, दृष्टि (भूत और भविष्यत् का ज्ञान),
अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, अपनी इच्छा के अनुसार
वस्तुओं की सृष्टि—ये सभी योग की सिद्धि के लक्षण हैं । योग की सिद्धि
हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्व-प्राप्ति में समर्थ
होता है ॥ २०२-२०३ ॥

यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुद्धावुपायान्तरमाह—

अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ।

अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा त्यक्तकाश्यनिषिद्धकर्मा अन्यतमं वेदमभ्यसन्, एकान्तशीलो-
ऽयाचितमिताशनापादितसत्त्वशुद्धिरात्मोपासनेन परां मुक्तिलक्षणां सिद्धिं
प्राप्नोति ॥ २०४ ॥

भाषा—अथवा (यज्ञ, दान आदि न कर सकने पर) सभी काश्य
निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, किसी वेद का अभ्यास करते हुए, वन में
रहकर (वानप्रस्थाश्रम में), विना माँगे ही मिले हुए भोजन का भोजन करने
वाला, अल्पाहारी व्यक्ति परम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है ॥ २०४ ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाऽतिथिप्रियः ।

श्राद्धकृतसत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच, संप्रतिग्रहादिन्यायेनोपार्जितधनः अतिथिपूजातत्परः नित्यनैमि-
त्तिकश्राद्धानुष्ठाननिरतः सत्यवदनशीलः सज्ञात्मतत्त्वध्याननिरतो गृहस्थोऽपि
हि यस्मान्मुक्तिमवाप्नोति तस्माच्च केवलमैहिकपरिब्राज्यपरिग्रह एव मुक्ति-
साधनम् ॥ २०५ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक धनोपाजन करने वाला, अतिथिस्त्कार में तत्पर (नित्यनैमित्तिक) श्राद्ध अनुष्ठान में रत, सत्यवादी और आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन रहने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २०५ ॥

इत्यध्यात्मप्रकरणम् ।

अथ प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५

(१) कर्मविपाकः

‘वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः’ (आ० १) इत्यत्र प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातषड्विधधर्ममध्ये पञ्चप्रकारं धर्ममभिधायानुनाऽवशिष्टं नैमित्तिकं धर्मजातं प्रायश्चित्तपदामिल्यं प्रारिप्सुः प्रथमतस्तत्प्ररोचनार्थमधिकारिविशेष-प्रदर्शनार्थं चार्थवादरूपं कर्मविपाकं तावदाह—

महापातकजान्घोराश्ररकान्प्राप्य दारुणान् ।

कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्वह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिपञ्चकस्य महापातकसंज्ञा ‘ब्रह्महा मद्यपः’ (प्रा० २२७) इत्यत्र वक्ष्यते तद्योगिनो महापातकिनस्ते महापातकजनितास्तामिस्रादिनरकान्स्वजनितदुष्कृतानुरूपान् घोरानतितीव्रवेदनापादकत्वेनातिभयंकरान्दारुणान्दुःखैकभोगनिलयान् प्राप्य कर्मक्षयात् कर्मजन्यनरकदुःखोपभोगक्षयादनन्तरं कर्मशेषात्पुनरिह संसारे दुःखबहुलश्वसृगालादितिर्यग्योनिषु प्रकर्षेण भूयो भूयो जायन्ते । ‘महापातकि’ग्रहणमितरेषामप्युपपातक्यादानामुपलक्षणम् । तेषां च तिर्यगादियोनिप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०६ ॥

भाषा—(ब्रह्महत्या आदि) महापातकों से उत्पन्न तामिस्र आदि घोर नरकों को (अपने कर्म के अनुसार) भोगकर कर्मों का क्षय होने पर महापातकी पुनः—पुनः इस संसार में (दुःख से व्याप्त योनियों में, जो आगे उल्लिखित हैं) जन्म लेते हैं ॥ २०६ ॥

महापातकिनां संसारप्राप्तिमुक्त्वा तद्विशेषकथनायाह—

मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ।

स्त्रपुल्कसवेनानां सुरापो नात्र संशयः ॥ २०७ ॥

कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ।

तृणगुन्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतरुपगः ॥ २०८ ॥

मृगा हरिणादयः, असूकरोष्ट्राः प्रसिद्धाः, तेषां योनिं ब्रह्महा स्वकर्मशेषेण प्राप्नोति । खरो रासभः, पुत्तकसः प्रतिलोमनिषादेन शूद्रां जातः वैदेहकेनाम्बुध्यां जातो वेनः, तेषां योनिं सुरापः प्राप्नोति । क्रमयः सजातीयसंभोगनिरपेक्षां मांसविद्यागोमयादिजन्माः, ततः किंचित्स्थूलतराः पक्षास्थिरहिताः सजातीयसंभोगनिरपेक्षाः पिपीलिकादयः कीटाः, पतङ्गः शलभः, तेषां योनिं ब्राह्मणस्वर्णहारी प्राप्नुयात् । तृणं काशादि, गुरुमलते प्रागुक्ते; तज्जातीयतां क्रमेण गुरुतरपगः प्राप्नोति । एतच्चाकामकृतविषयम्, कामकारकृते त्वन्यास्वपि दुःखमहुल्योनिषु संसरन्ति; यथाह मनुः (१२।५५-५८)—‘असूकरखरो-ष्ट्राणां गोऽर्जाविमृगपक्षिणाम् । चाण्डालपुत्तकैसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ कुमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् । हिंसाणां चैव सध्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ लताऽहिसरठानां च तिरश्चां चाण्डुचारिणाम् । हिंसाणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ लता उर्जनाभः । सरठः कृकलासः ।—‘तृणगुरुमलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि । म्लूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतरपगः ॥’ इति ॥ २०७-२०८ ॥

भाषा—ब्रह्महत्या करने वाला हरिण, कुत्ता, सूअर और ऊँट का जन्म पाता है, सुरा पीने वाला गधा, पुत्तकस (निषाद द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुरुष) और वेण (वैदेहक द्वारा अम्बुध्या से उत्पन्न) की योनि पाता है; इसमें सन्देह नहीं । (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाला क्रुमि (मांस, विद्या आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़े), कीट (चींटी आदि) और पक्षियों की योनि प्राप्त करता है । गुरुपत्नी से व्यवहार करने वाला क्रमशः तृण, गुरुम (छोटी लता) और लता का जन्म पाता है ॥ २०७-२०८ ॥

एवं च तिर्यक्त्वादुत्तीर्णानां मानुष्ये रोगादि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः ।

द्वेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतरपगः ॥ २०९ ॥

यो येन संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते ।

किंच, एवं रौरवादिनरकेषु असूकरखरादियोनिषु च दारुणं दुःखमनुभूयानन्तरं दुरितशेषेण जननसमय एव क्षयरोगादिलक्षणयुक्ताः । प्रचुरेषु मानव-क्षारीरेषु संसरन्ति । तत्र ब्रह्महा क्षयरोगी राजयक्ष्मी भवेत् । निषिद्धसुरापी स्वभावतः कृष्णदशनः, ब्राह्मणहेम्नो हर्ता कुसितनखत्वम्, गुरुदारगामी दुश्चर्मत्वं कुष्ठिताम् । एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये येन पतितेन यः पुरुषः संवसति संवसति स तल्लिङ्गोऽभिजायते ॥ २०९ ॥

१. योनीः । २. गोवाजिमृगपक्षिणाम् । ३. पुत्तकैसानां च ।

भाषा—(मनुष्य का जन्म पाने पर) ब्राह्मण की हत्या करने वाले राजयक्ष्मा का रोगी होते हैं; सुरा पीने वाले के दाँत स्वभावतः काले होते हैं; (ब्राह्मण का) सौजा चुराने वाले के नख भेदे होते हैं और गुरुपत्नी का भोग करने वाला कोढ़ी होता है। इन ब्रह्महा आदि महापातकियों में जिसके साथ कोई निवास करता है वह भी उसी के समान महापातकी होता है ॥ २०९३ ॥

अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥ २१० ॥

धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।

तैलदृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

किंच, अन्नस्यापहर्ता आमयावी अजीर्णान्नः । वागपहारकोऽननुज्ञाताध्यायी पुस्तकापहारी च मूको वागिन्द्रियविकलो भवेत् । धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः षडङ्गुल्यादिः पिशुनो विद्यमानपरदोषप्रख्यापनशीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः, तैलस्य हर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसद्वेषसंकीर्तनो दुर्गन्धिवदनो जायते । एतच्च तिर्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं मानुषशरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् (१२।६८)—‘यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य बलात्तरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ २१०—२११ ॥

भाषा—अन्न चुराने वाले को अजीर्ण का रोग होता है और वागी (अर्थात् पुस्तक) चुराने वाला गुँगा होता है । धान्य में मिलावट करने वाले का कोई अंग (अंगुली आदि) बड़ा होता है और पिशुन (दूसरों का दोष कहने वाले चुगलखोर) की नाक दुर्गन्धयुक्त रहती है ॥ २१०—२११ ॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहत्य च ।

अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

किंच, यः परदारानपहरति, ब्रह्मस्वं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति, असावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

भाषा—परायी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला वन में निर्जल स्थान पर ब्रह्मराक्षस होकर जन्म लेता है ॥ २१२ ॥

हीना जातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।

पत्रशाकं शिकी हृत्वा गन्धाञ्जुच्छुन्दरी शुभान् ॥ २१३ ॥

किंच, हीनजातौ हेमकाराख्यायां पञ्चजातौ पररत्नाद्यपहारको जायते । तथा च मनुः (१२।६१)—‘मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥’ इति । पत्रात्मकं शाकं हृत्वा मयूरः । शुभान्गन्धानपहत्य जुच्छुन्दरी राजदुहिताख्या मूषिका जायते ॥ २१३ ॥

भाषा—दूसरे के रस्न को चुराने वाला हेमकार नाम के निम्न कोटि के पक्षियों की योनि में जन्म लेता है; पत्तों वाला शाक चुराने पर मयूर और सुगंधद्रव्यों को चुराने पर सुखुन्दर का जन्म मिलता है ॥ २१३ ॥

मूषको धान्यहारी स्याद्यानमुष्ट्रः कपिः फलम् ।

जलं प्लवः पयः काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥ २१४ ॥

मधु दंशः पलं गृध्रो गां गोघात्रि बकस्तथा ।

श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु चीरी लवणहारकः ॥ २१५ ॥

किंच, धान्यहारी आखुः, यानं हत्वोष्ट्रः, फलं वानरः, जलं प्लवः, शकटविलास्यः पक्षी, पयः क्षीरं, काको ध्वज्जः, गृहोपस्करं मुसलादि हत्वा गृहकारी चटकाख्यः कीटविशेषः, मधु हत्वा दंशाख्यः कीटः, पलं मांसं तद्वृष्ट्वा गुग्गुलाख्यः पक्षी, गां हत्वा गोघात्र्यः प्राणिविशेषः, अग्निं हत्वा बकाख्यः पक्षी, वस्त्रं हत्वा श्वित्री, इक्ष्वादिरसं हत्वा सारमेयः लवणहारी चीर्याख्यः उच्चैःस्वरः कीटः ॥ २१४-२१५ ॥

भाषा—धान्य चुराने वाला चूहा होता है और यान (सवारी) चुराने वाला ऊँट तथा फल चुराने वाला बन्दर होता है। जल चुराने वाला शकटविल पक्षी का, दूध चुराने वाला कौए का और मूसल आदि जैसे गृहस्थी का उपकरण चुराने पर गृहकारी (चटक) पक्षी का जन्म मिलता है। मधु चुराने वाला दंश (मच्छर), मांस चुराने वाले गृध्र, गाय चुराने वाला गोह, अग्नि चुराने वाला बक पक्षी, वस्त्र चुराने वाला कुष्टी, ईस आदि का रस चुराने वाला कुत्ता और नमक चुराने वाला चीरी कीड़ा होकर जन्म लेता है ॥ २१४-२१५ ॥

एवं प्रदर्शनार्थं किंचिदुक्त्वा प्रतिद्रव्यं पृष्ठाकोटिन्यायेन वक्तुमशक्तेकोपाधिना कर्मविपाकं दर्शयितुमाह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं स्तेयकर्मणि ।

द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातयः ॥ २१६ ॥

द्रव्यस्यापह्रियमाणस्य यादृशाः प्रकारास्तादृशा एव प्राणिजातयः स्तेय कर्मण्यपहर्तारो भवन्ति । यथा कांस्यहारी हंस इति । अथवा यस्फलसाधनं द्रव्यमपहरति तत्साधनविकलः—यथा पङ्कतामश्वहारक इति ॥ शङ्खेन क्वचिद्दिशेषो दर्शितः । 'ब्रह्महा कुष्टी, तैजसाषहारी मण्डली, देवब्राह्मणा-क्रोशकः खलतिः, गरदामिदाबुन्मत्तौ, गुहं प्रतिहन्तापस्मारी, गोत्रभ्रान्धः,

धर्मपरनीं त्यक्त्वान्यत्र प्रवृत्तः शब्दवेधो प्राणिविशेषः, कुण्डाशी भगभक्षो देवब्रह्मस्वापहारी पाण्डुरोगी, न्यासापहारी च काणः, स्त्रीपण्योपजीवी षण्डः, कौमारदारस्यागी दुर्भगः, मिष्टैकाशी वातगुल्मी, अभक्ष्यभक्षको गण्डमाली, ब्राह्मणीगामी निर्वाजी, क्रूरकर्मा वामनः, वस्त्रापहारी पतंगः, शय्यापहारी क्षपणकः, शङ्खशुक्लपहारी कपाली, दीपापहारी कौशिकः, मित्रभृक् चयी, मातापित्रोराक्राशः खेजक इति ॥ गौतमोऽपि कंचिद्विशेषमाह—अनृतवा-
गुत्तलः सुहर्षुदुः संलभवाक्, दारस्यागी जलोदरी, कूटसाक्षी रलीपदी उच्छृण-
जङ्घाचरणः, विवाहविघ्नकर्ता क्षिप्रोष्ठः, अवगूरणः क्षिप्रहस्तः, मातृघ्नोऽन्धः,
सुवागामो वातवृषणः, चतुष्पथे विण्मूत्रविसर्जने मूत्रकृच्छी, कन्यादूषकः षण्डः,
ईर्ष्यालुर्मनश्चकः, पित्रा विवदमानोऽपस्मारी, न्यासापहारी अनपत्यः, रक्षापहारी
अत्यन्तदरिद्रः, विद्याविक्रयी पुरुषमृगः, वेदविक्रयी द्वीपी, बहुयाजको जलप्लवः,
अयाजप्रयाजको वराहः, अनिमन्त्रितभोजी वायसः, मृष्टैकभोजी वानरः, यतस्त-
तोऽश्नन्माजार्ः, कक्षघनदहनास्त्रघातः, दारकाचार्यो मुखविगन्धिः, पर्युषि-
तभोजी कृमिः, अदत्तादायी बलीवर्दः, मत्सरी भ्रमरः, अग्न्युत्साही मण्डलकुक्षी,
शूद्राचार्यः श्वपाकः, गोहर्ता सर्पः, रनेहापहारी चयी, अज्ञापहारी अजीर्णी,
ज्ञानापहारी मूकः, चन्डालीपुलकसीगमने अजगरः, प्रव्रजितागमने मरुपिशाचः,
शूद्रागमने दीर्घकीटः, सवर्णाभिगामी दरिद्रः, जलहारी मत्स्यः, चौरहारी
बलाकः, वार्युषिकोऽङ्गहीनः, अविक्रेयविक्रयी गृध्रः, राजमहिषीगामी नपुंसकः,
राजाक्रोशको गर्दभः, गोगामी मण्डूकः, अनध्यायाध्ययने सुगालः, परद्रव्यापहारी
परप्रेष्यः, मत्स्यवधे गर्भवासी, इत्येतेऽतुर्ध्वगमना इति ॥ स्त्रियोऽप्येतेषु निमित्तेषु
पूर्वोक्तास्वेव जातिषु स्त्रीत्वमनुभवन्ति । यथाह मनुः (१२।६९)—‘स्त्रियोऽ-
प्येतेन कल्पेन कृत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति
ताः ॥’ इति । एतच्च क्षयित्वादिलक्षणकथनं प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतब्रह्महाणुद्वेग-
जननार्थं न पुनः क्षयित्वादिलक्षणयुक्तानां द्वादशवार्षिकादिव्रतप्राप्त्यर्थं संसर्ग-
निवृत्त्यर्थं च । तथा हि—पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् । न च प्रायश्चित्तेन प्रारब्धफ-
लपापापूर्वविनाशे किञ्चन प्रयोजनमस्ति । नहि कार्मुकनिर्मुक्तो बाणो लक्ष्यवेधे
वेदुस्तद्व्यापारस्य वा संतान्तरं पुनरपेक्षते । न च तदारब्धफलनाशार्थं पूर्व-
नाशाऽन्वेषणीयः । नहि “निमित्तकारणीभूतचक्रचीवरादिविनाशेन तदारब्धकर-
कादिविनाशः । न च नैसर्गिकं कौनस्यादिकं प्रत्यानेतुं शक्यते । किञ्च नरक-
तिर्यग्योन्यादिजगन्मनुष्यः स्वपरमार्थभूतस्य हि कौनस्यादिको विकारश्चरमं फलम् ।

१. ब्रह्मस्वहरः । २. मृष्टैकाशी ३. खण्डकारः । ४. अस्थूलजङ्घ ।
५. अवगूरणी । ६. मिष्टैकभोजी । ७. हत्वा दोष । ८. न च प्रारब्ध ।
९. सत्ता पुनरपेक्षते । १०. कारणभूत । ११. मनुभूय तस्य ।

तेन चोत्पन्नमात्रेण स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते मन्थनजनिताशुशुचिनेवार-
गिच्छयः । तस्माच्च पापविनाशार्थं व्रतपरिचर्या, नापि संख्यवहारार्थम् । नहि
शिष्टाः कुनस्यादिभिः सह संबन्धं परिहरन्ति । प्राचीनचयात्पापनाशेन संख्यव-
हार्यत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो व्रतचर्यया ॥ यत्तु वसिष्ठेनोक्तम् (३०६)—‘कुनस्त्री
श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्’ इति तत्सामवत्यादिवन्नैमित्तिकमात्रं न
पुनः पापक्षयार्थं संख्यवहार्यत्वसिद्धयर्थं वेति मन्तव्यम् ॥ २१६ ॥

भाषा—इतना मैंने उदाहरण के लिये कहा है । दूसरे का द्रव्य चुराने
पर तो जिस प्रकार का द्रव्य होता है उसी प्रकार की योनि (चोरी करने
वाला) प्राप्त करता है ।

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ।

जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः ॥ २१७ ॥

किंच, यथाकर्म स्वकृतदुष्कृतानतिक्रमेण तदनुरूपं नरकादि फलं तिर्यक्त्वं च
प्राप्य कालक्रमेण क्षीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा दरिद्राश्च पुरुषेषु निकृष्टा जायन्ते ॥

भाषा—अपने किए हुए कर्म के अनुसार नरक आदि फल और पशु
पक्षियों की योनि प्राप्त करके (कालक्रम से कर्म के क्षीण होने पर) वे कुरूप
दरिद्र और पुरुषों में निकृष्ट होकर जन्म लेते हैं ॥ २१७ ॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ।

जायन्ते विद्ययोपेता धनधान्यसमन्विताः ॥ २१८ ॥

किंच, ततो दुर्लक्षणमनुष्यजन्मानन्तरं निष्कल्मषीभूता नरकाद्युपभोगद्वारेण
क्षीणपापाः प्राग्भवीयसुकृतशेषेण महाकुले भोगसंपन्नाः विद्याधनधान्यसंपन्ना
जायन्ते ॥ २१८ ॥

भाषा—तब (इस प्रकार के मनुष्य) जन्म-जन्मान्तर में नरक आदि
के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर भोगसंपन्न उच्च कुल में धनधान्य से
युक्त और विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं ॥ २१८ ॥

एवं प्रायश्चित्तेषु प्ररोचनार्थं कर्मविपाकमभिधायाधुना तेष्वेवाधिकारिणं
निरूपयितुमाह—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिप्रहास्वेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१९ ॥

तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।

एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ २२० ॥

विहितमिति यदावश्यकं संध्योपासनाग्निहोत्रादिकं निरयमशुचिस्पर्शादौ
 नैमित्तिकत्वेन चोदितं ज्ञानादिकं च तदुभयमुच्यते तस्याकरणात्, निन्दितस्य
 निषिद्धस्य सुरापानादेः करणात्, इन्द्रियाणामग्निग्रहाच्च नरः पतनमृच्छति
 प्राप्नोति । प्रत्यवायी भवतीति यावत् ॥ ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत
 कामतः' (मनुः ४।१६) इतीन्द्रियप्रसक्तेरपि निषिद्धत्वात् 'निन्दित' ग्रहणे-
 नैव गतार्थत्वात्किमर्थं 'अग्निग्रहाच्चेन्द्रियाणाम्' इति पृथगुपादानम् ? अत्रो-
 च्यते,— इन्द्रियप्रसक्तिनिषेधस्य नैकान्तततः प्रतिषेधरूपता स्नातकघ्नतमध्येऽस्य
 पाठात्तत्र च 'व्रतानीमानि धारयेत्' (मनुः ४।१३) इति 'व्रत'शब्दाधिकारा-
 श्चाश्रयणाच्चेन्द्रियप्रसक्तिप्रतिषेधकः संकल्पो विधीयते । स 'चोभयरूप इति
 पृथगुपादानम् ॥ ननु विहिताकरणात् प्रत्यवैतीति कुतोऽवसितम् ? न तावदग्नि-
 होत्रादिचोदना पुरुषप्रवर्तनात्मिकाऽननुष्ठानस्य प्रत्यवायहेतुतामाप्नुयति । विष-
 यानुष्ठानस्य पुरुषार्थत्वावगतिमात्रपर्यवसायिनी हि सा तावन्मात्रेण प्रवृत्त्यु-
 पपत्तेर्न पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमपि वक्ति; क्षीणशक्तित्वादनुपपत्तेः ।
 किंच, यद्यनुपपत्त्युपशमेऽपि प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमर्थान्तरं कल्प्यते तर्हि निषिद्ध-
 मानक्रियाजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थतयैव तद्वर्जनस्य पुरुषार्थत्वसिद्धावपि फलान्तरं
 कल्प्येत । नचैतत्कस्यचिदपि संमतम् ॥ ननु यथा निषिद्धेष्वर्थवादावगतप्रत्य-
 वायपरिहारार्थतयैव पुरुषार्थत्वं तथा विहितेष्वप्यर्थवादावगताकरणजन्यप्रत्यवाय-
 परिहारार्थता कस्मान्न स्यात् ? मैवम् ; नहि सर्वत्राग्निहोत्रादिषु तादृग्विधार्थ-
 वादाः सन्ति । न च 'विहितस्याननुष्ठानाच्चरः पतनमृच्छति' इतीयं स्मृतिरेव
 वाक्यशेषस्थानीयेति चतुरस्रम् । नहि वाक्यान्तरप्रमिते कार्ये वाक्यान्तरे-
 णार्थवादः संभवति । भवतु वा कथंचिदेकवाक्यतयार्थवादस्तथापि नैभाव-
 रूपं विहिताकरणे कार्यान्तरं जनयितुं क्षमते । ननु 'उवरे चैवातिसारे
 च लङ्घनं परमौषधम्' इत्यायुर्वेदवचनाद्भोजनाभावरूपं लङ्घनं उवरशान्ति
 जनयतीति यथावगम्यते तथात्रापि भवतु । मैवम् ; यतो नात्रापि लङ्घनाज्ज्वर-
 शान्तिः, किं तर्हि उवरनाशप्रतिबन्धकभोजनाभावे सति जठरानलपरिपाकजनित-
 द्वातुसाभ्यादिति मन्तव्यम् । तस्मात् 'विहितस्याननुष्ठानाच्चरः पतनमृच्छति'
 इति कथमस्याः स्मृतेर्गतिरिति वाच्यम् । उच्यते,— अग्निहोत्रादिविषयाधिका-
 रासिद्धिरूपप्रत्यवायाभिप्रायेणेति न दोषः । ननु (१२।७१।७२)—'वान्ता-
 श्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मास्वकाच्युतः । अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः
 कटपूतनः ॥ मैत्राक्षयोक्तिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् । चैलाशकस्तु भवति

१. च भावरूप ।
२. यद्यप्यनुप ।
३. नाभावरूपविहिताकरणं ।
४. परिपाकजननाद्धातु ।
५. विप्रो भवति विच्युतः ।

शूद्रो धर्मास्त्वकाच्छ्रुतः ॥' इत्येतानि विहिताकरणप्रत्यवायपराणि मनुवचनानि कथं घटन्ते ? उच्यते,—यथा वान्तमभत उत्कया वा दह्यमानमुखस्य दुःखं तथास्यापि विहितमकुर्वतः पुरुषस्य पुरुषार्थासिद्धेरित्यकरणनिन्दनमनुष्ठानप्ररोचनार्थमित्यविरोधः । यद्वा,—प्राग्भवीयनिषिद्धाचरणाक्षिसविहितानुष्ठानविरोधिरागालस्यादिजन्यवान्ताश्रयुक्तामुखप्रेतत्वादिरूपमिति न क्वचिदभावस्य कारणतेति मन्तव्यम् ॥ ननु पुंश्चलीवानरखरदष्ट(श्वदष्ट)मिथ्याभिज्ञस्तादौ विहिताकरणादिनिमित्तानामन्यतमस्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता ? कथं च तदभावे प्रायश्चित्तविधानम् ? उच्यते,—अस्मादेव पापक्षयार्थप्रायश्चित्तविधानाज्जन्मान्तराचरितनिषिद्धसेवाद्विजन्यपापापूर्वं समाक्षिसमित्यभिज्ञापादिकं तन्निमित्तप्रायश्चित्तापनोद्यमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते; पुरुषप्रयत्ननैरपेक्ष्येण कार्यरूपपापोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नच पुंश्चल्यादिगतप्रयत्नेन पुरुषान्तरे पापोत्पत्तिः, कर्तृसमवायित्वनियमाद्धर्माधर्मयोः, तस्माद्युक्तैव प्रार्थयिष्यते निमित्तत्रयपरिगणना । तथा च मनुः (११।४४)—‘अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥’ इति । ‘नर’ग्रहणं प्रतिलोमजातानामपि प्रायश्चित्ताधिकारप्राप्त्यर्थम्, तेषामप्यहिसादिसाधारणधर्मव्यतिक्रमसंभवात्, यस्मादेवं निषिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति तस्मात्तेन कृतनिषिद्धसेवादिना पुरुषेण प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिह लोके परत्र च विशुद्ध्यर्थम् । प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थं नैमित्तिके कर्मविशेषे रुढः । एवं प्रायश्चित्ते कृते अस्यान्तरात्मा शुद्धतया प्रसीदति लोकश्च संव्यवहर्तुं प्रसीदति । एवं वदतैतद्दर्शितम्—नैमित्तिकोऽयं प्रायश्चित्ताधिकारः, तथा चार्थवादगतदुरितक्षयोऽपि जातेष्टिन्यायेन साध्यतया स्वीक्रियते । नच दुरितपरिजिहासुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकारोऽशङ्का कार्या । यस्मात् (मनुः ११।५३)—‘चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये । निन्द्यैर्हि लक्ष्णैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः नसः ॥’ इत्यकरणे दोषश्रवणेनावश्यकत्वावगमात् ॥ २१९-२२० ॥

भाषा—नित्य, नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरापान आदि निषिद्ध कर्म करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतित हो जाता है । इस लिये मनुष्य की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिए और इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी प्रसन्न होते हैं ॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह—

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।

अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारुणान् ॥ २२१ ॥

१. प्रायश्चित्तनिमित्त । २. लोकश्चायं संव्यव । ३. धिकारशङ्का ।
४. अपश्चात्तापिनो यान्ति नरकानतिदारुणान् ।

पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं कृतमित्येवमुद्वेगरहिताः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहान्नरकान्प्राप्नुवन्ति ॥ २२१ ॥

भाषा—पापकर्मों में निरत रहने वाले मनुष्य प्रायश्चित्त न करने (किये हुए कर्म) पर पश्चात्ताप न करने पर अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते हैं ॥ २२१ ॥

नरकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तामिस्रं लोहशङ्कुं च महानिरयशात्मली ।

रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२२ ॥

संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रपातनम् ।

महानरककाकोलं संजीवनमहापथम् ॥ २२३ ॥

अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च ।

असिपत्रवनं चैव तापनं चैकविंशकम् ॥ २२४ ॥

महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।

अन्विता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२५ ॥

तामिस्रप्रभृतींस्तापनपर्यन्तानेकविंशतिनरकानन्वर्थसंज्ञाद्योतितावान्तरभेदान्महापातकोपपातकजनितभयंकरदुरितैरन्विता अनाचरितप्रायश्चित्ताः पुरुषाधमाः प्राप्नुवन्ति ॥ २२२-२२५ ॥

भाषा—तामिस्र, लोहशङ्कु, महानिरय, शात्मली, रौरव, कुड्मल, पूति-मृत्तिक, कालसूत्रक, संघात, लोहितोद, सविष, संप्रपातन, महानरक, काकोल, संजीवन, महापथ, अवीचि, अन्धतामिस्र, कुम्भीपाक, असिपत्रवन, तापन ये इक्कीस नरक हैं । घोर महापातकों एवं उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य प्रायश्चित्त न करने पर इन नरकों को प्राप्त करते हैं ॥ २२२-२२५ ॥

उपात्तदुरितनिरासार्थं प्रायश्चित्तमित्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।

कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरज्ञानाद्यदेनः पापं कृतं तदपैति गच्छति, न कामतः कृतम् । किंतु तत्र प्रायश्चित्तविधायकवचनबलादिह लोके व्यवहार्यो जायते । अत्र च प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतम्' इत्युपक्रमात्तत्प्रतियोगितया 'ज्ञानत' इति वक्तव्ये यत् 'कामतः' इत्युक्तं, तत् ज्ञानकामयोस्तुह्यत्व-प्रदर्शनार्थम् । तथा हि—'विहितं यदकामानां कामात्तद्-द्विगुणं भवेत् ।' तथाऽबुद्धि-

१. दुःखदान् । २. महारौरवशात्मलिम् । ३. नदीपथम् । ४. तपनम् ।

पूर्वक्रियायामर्धं प्रायश्चित्तम् । तथा 'ग्लेच्छेनाधिगतः शूद्रस्त्वज्ञानात् कथंचन । कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत ज्ञानात् द्विगुणं भवेत् ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामनयोस्तुल्य-
प्रायश्चित्तदर्शनात्तुल्यफलतैव । किंच, स्वतन्त्रप्रवृत्तिर्विषयज्ञानकामनाभ्यां
नियता; तयोरन्यतरापायेऽपि तस्या असंभवादतः 'कामत' इत्युक्तम् ; 'ज्ञाना-
ज्ञानत' इत्युक्तेऽपि कामः प्राप्नोत्यविनाभावात् । नच चौरादिभिर्बलात्प्रवर्त्य-
मानस्य सत्यपि विषयज्ञाने कामनाभावाज्जाविनाभाव इति वाच्यम् । यतोऽत्र
विद्यमानस्यापि ज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेनासत्समत्वम् ॥ यत्तु-शुष्केऽपि विप-
तिषोभ्रान्स्या कर्दमपतनं, तत्रापि वास्तवज्ञानाभावात्तद्विषयकामनायाश्चाभाव
एव । एवमज्ञानाकामनयोरप्यव्यभिचार एव ॥ ननु 'प्रायश्चित्तैरपैत्थेनः' इति न
युक्तम् ; फलविनाश्यत्वात्कर्मणः । मैवम् ; यथा पापोत्पत्तिः शास्त्रगम्या तथा
तत्परिचयोऽपीति नात्र प्रमाणान्तरं क्रमते । अतएव गौतमेन पूर्वोत्तरपक्षभङ्ग्या
अयमर्थो दर्शितः । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते । न कुर्यादित्या-
हुर्न हि कर्म क्षीयते इति । कुर्यादित्यपरे । 'पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनःसवनमा-
यान्तीति विज्ञायते । वात्यस्तोमेनेष्ट्वा तैरति सर्वं पाप्मानं तरति भूगहस्यां
योऽधमेधेन यजते' इति पुनःसवनमायान्ति इति सवनसंपाद्यज्योतिष्टोमादि-
द्विजातिकर्मणि योग्यो भवतीत्यर्थः । न चेदमर्थवादमात्रम् ; अधिकारिविशेषणा-
काङ्क्षायां रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकफलस्यैव कल्पनाया न्याय्यत्वात्, अतो युक्तं
'प्रायश्चित्तैरपैत्थेनः' इति ॥ ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात्कथं व्यवहार्यत्वं तद-
भावश्च 'अनभिसंधिकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तम्' इति (२०।१) वसिष्ठवचनात् ॥
'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न
विधीयते ॥' इति (११।८९) मनुवचनाच्चावगम्यते । नैतत् ; 'यः कामतो
महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥' इति ।
तथा—'विहितं यदकामानां कामात्तद्विगुणं भवेत्' इति च कामकृतेऽपि प्राय-
श्चित्तदर्शनात् । यत्तु वसिष्ठवचनं 'तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धि-
करम्' इत्यभिप्रायो न पुनः कामकृते प्रायश्चित्ताभाव इति ॥ यत्तु मनुवचनं—'इयं
विशुद्धिरुदिता' इत्यादि, तदपीयमिति सर्वनामपरामृष्टद्वादशवार्षिकादिब्रत-
चर्याया एव । 'कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' इत्यनेन प्रतिषेधो
न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य; मरणान्तिकादेः प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् ॥ ननु यदि
कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मान्न स्यादविशेषाद्यदि पाप-

१. धिगता शूद्रा त्वज्ञानात् । २. ज्ञानात्तद्विगुणं, ज्ञाने तु द्विगुणं ।
३. इत्याद्यपूर्ववचनैः । ४. अन्यतराभावेऽपि । ५. विद्यमानस्याप्रवृत्तिः ।
६. नेष्ट्वा ब्रह्मचर्यं चरेदुपनयनत इति सर्वं पाप्मानं ।

क्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति ? उच्यते,—उभयत्र प्रायश्चित्ता-
विशेषेऽपि फलविशेषः शास्त्रतोऽवगम्यते । अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः । यत्र
तु 'ब्रह्मसुरापगुरुतरुपगमातृपितृयोनिबंधसंबद्धावागमस्तेन नास्तिकनिन्दित-
कर्माभ्यासिपतिताभ्यामपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' (२०।१।२)
इति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धं, तस्मिन्पतनीये कर्मणि कामतः
कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति । नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुप-
पन्नम् । द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रेतर-
शक्त्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नस्तस्मात्प्राणपण-
गमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम् । यत्तु मनुवचनम् (१।१।४५)—'अकामतः
कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्यादुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥'
इति,—तदपि कामकृते प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं, न पुनः पापक्षयप्रतिपादनपरम् ।
अपतनीये पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव; 'अकामतः कृतं पापं
वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ इति
(१।१।४६) मनुस्मरणात् । पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु
कल्मषक्षयो भवत्येव । फलान्तराभावात् । नास्यान्यस्मिन्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते
कल्मषं तु निहन्यते' (१।२४—२६) इत्यापस्तम्बस्मरणात् ॥ २२६ ॥

भाषा—जो पापकर्म अज्ञानवश किया गया होता है वह प्रायश्चित्त से
दूर होता है । जानबूझ कर पापकर्म करके प्रायश्चित्त करने पर (वह पाप
दूर तो नहीं होता किन्तु) प्रायश्चित्त के वचन द्वारा लोक में व्यवहार की
योग्यता प्राप्त होती है ॥ २२६ ॥

निषिद्धाचरणादिकं प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतरुपगः ।

एते महापातकिनो यश्च तैः संह संवसेत् ॥ २२७ ॥

हन्तिरयं प्राणवियोगंकरे व्यापारे रूढः, यद्व्यापारसमनन्तरं कालान्तरे वा
कारणान्तरनिरपेक्षः प्राणवियोगो भवति सः, ब्राह्मणं हतवानिति ब्रह्महा,
मद्यपो निषिद्धसुरायाः पाता, स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, 'ब्राह्मणसुवर्णाप-
हरणं महापातकं' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । गुरुतरुपगो गुरुभार्यागामी । 'तरुप'-
शब्देन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्या लक्ष्यते । एते ब्रह्महादयो महापात-
किनः । पातयन्तीति पातकानि ब्रह्महत्यादीनि । महच्छब्देन तेषां गुरुत्वं

१. ब्रह्महा सुरापो गुरुतरुपगो मातृपितृ । २. संबन्धावगम । ३. पाप-
क्षयं प्रति प्रतिपादन । ४. नास्वार्स्मिन्लोके । ५. संपिबेत्समाम् । ६. वियो-
गकरणे ।

ख्याप्यते तद्योगिनो महापाकिन इति लाघवार्थं संज्ञाकरणम् । यश्च तैर्ब्रह्महा-
दिभिः प्रत्येकं सह संवसति 'एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः'
(प्रा० २६६) इति वक्ष्यमाणन्यायेन सोऽपि महापातकी । 'तथा'शब्दः
प्रकारवचनोऽनुग्राहकप्रयोजकादिकर्तृसंग्रहार्थः । अनुग्राहकश्च यः पलायमानम-
मित्रं उपरुन्धन् परेभ्यश्च हन्तारं परिरुन्धन्तुर्द्रुढिमानमुपजनयन्नुपकरोति स
उच्यते । अत एव मनुनानुग्राहकस्य हिंसाफलसंबन्धो दर्शितः—'बहूनामेक-
कार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम् । यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातकाः स्मृताः ॥'
इति । तथा प्रयोजकादीनामप्यापस्तम्बेन फलसंबन्ध उक्तः—'प्रयोजितानु-
मन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फल-
विशेषः' इति तत्राप्रवृत्तस्य प्रवर्तकः प्रयोजकः । स च त्रिप्रकारः—आज्ञापयि-
ताभ्यर्थयमान उपदेष्टेति । तत्राज्ञापयिता नाम स्वयमुच्यः सन्नीचं भृत्या-
दिकं यः प्रेरयति मदीयममित्रं जह्नीति स उच्यते । अभ्यर्थयमानस्तु यः
स्वयमसमर्थः सन् प्रार्थनादिना मच्छुभ्रं व्यापादयेत्युच्चं प्रवर्तयति सोऽभिधीयते ।
अनयोश्च स्वार्थसिद्धयर्थमेव प्रयोक्तृत्वम् । उपदेष्टा पुनस्त्वं शत्रुमिथं व्यापादयेति
मर्माद्वाटनाद्युपदेशपुरःसरं प्रेरयन्कथ्यते । तत्र च प्रयोज्यगतमेव फलमिति
तेषां भेदः । अनुमन्ता तु प्रवृत्तस्य प्रवर्तकः । स द्विप्रकारः—कश्चित्स्वार्थसिद्धय-
र्थमनुजानाति कश्चिपरार्थमिति ॥ नन्वनुमननस्य कथं हिंसाहेतुत्वं, न तावत्प्राण-
वियोगोत्पादनेन; तस्य साक्षात्कर्तृव्यापारजन्यत्वात् । नापि प्रयोजकस्येव; साक्षा-
त्कर्तृप्रवृत्त्युत्पादनद्वारेण प्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्वात् । नच साधु व्याध्यवसितमिति
प्रवृत्तमेवानुमन्यत इति शङ्कनीयम् । तादृशस्यानुमननस्य हिंसां प्रत्यहेतुत्वाद्वयर्थ-
त्वाच्च । उच्यते,—यत्र हि राजादिपारतन्त्र्यास्त्वयं मनसा प्रवृत्तोऽपि प्रवृत्ति-
विच्छेदभयादागामिदण्डभयाद्वा शिथिलप्रयत्नो राजाद्यनुमतिमपेक्षते तत्रानुमति-
र्हन्तुः प्रवृत्तिमुपोद्बलयन्ती हिंसाफलं प्रति हेतुतां प्रतिपद्यते । तथा योऽपि
भर्त्सनताडनधनापहारादिना परान्कोपयति सोऽपि मरणहेतुभूतमन्युत्पादनद्वा-
रेण हिंसाहेतुर्भवत्येव । अत एव विष्णुनोक्तम्—'आक्रुष्टस्ताडितो वापि धनैर्वा
विप्रयोजितः । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥' इति तथा—'ज्ञाति-
मित्रकलत्रार्थं सुहृत्क्षेत्रार्थमेव च । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥'
इति । नच कृतेष्वप्याक्रोशनादिषु कस्यचिन्मन्युत्पत्त्यदर्शनादकारणतेति शङ्कनी-
यम् ; पुरुषस्वभाववैचित्र्यात् । ये अक्षपतरेणापि निमित्तेन जातमन्यवो भवन्ति
तेष्वप्यभिचार इति नाकारणता । एतेषां चानुग्राहकप्रयोजकादीनां प्रत्यासत्तिव-

वधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फलं गुरुलाघवात् प्रायश्चित्तगुरुलाघवं बोद्धव्यम्; 'यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' इति वचनात् । तथा ह्यनुग्राहकस्य तावत्स्वयमेव हिंसायां प्रवृत्तत्वेन स्वतन्त्रकर्तृत्वे सत्यपि साक्षात्प्राणवियोगफलकसङ्गप्रहारादिव्यापारयोगित्वाभावेन साक्षात्कर्तृवद्भूयो हिंसारम्भकत्वाभावादल्पफलत्वमल्पप्रायश्चित्तत्वं च । प्रयोजकस्य तु स्वतन्त्रकर्तृप्रवृत्तिजनकत्वेन व्यवहितत्वात्ततोऽल्पफलत्वम् । प्रयोजकानां मध्ये परार्थप्रवृत्तत्वेनोपदेष्टुरल्पफलत्वम् ॥ ननु प्रयोजकहस्तस्थानीयत्वात्प्रयोज्यस्य न फलसंबन्धो युक्तः । यदि परप्रयुक्त्या प्रवर्तमानस्यापि फलसंबन्धस्तर्हि स्थपिततडागखनितुप्रभृतीनामपि मूल्येन प्रवर्तमानानां स्वर्गादिफलप्राप्तिप्रसङ्गः । उच्यते, शास्त्रोक्तं फलं प्रयोक्तरीति न्यायेनाधिकारिकर्तृगतफलजनका देवकूपतडागनिर्माणादयः । नच स्थपिततडागखनित्रादयो देवकूपतडागकरणादिव्यधिकारिणः, स्वर्गकामित्वात् । अत्र पुनः परप्रयुक्त्या प्रवर्तमानानामप्यर्हिंसायामधिकारित्वाद्भवत्येव तद्व्यतिक्रमनिबन्धनो दोषः । अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यल्पफलत्वं प्रयोजकव्यापाराद्दहिरङ्गत्वात्पुष्पाच्चानुमननस्य । निमित्तकर्तुः पुनराक्रोशकादेः प्रवृत्तिहेतुभूतमन्युजनकत्वेन व्यवहितत्वान्मरणानुसंधानं विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तुः सकाशादल्पफलत्वम् ॥ ननु यदि व्यवहितस्यापि कारणत्वं तर्हि मातापित्रोरपि हन्तृपुरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते,—नहि पूर्वभाविस्वमात्रेण कारणत्वम्; कारणतयापि तथाभाविस्वोपपत्तेः । यत्खलु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्धि कारणम् । यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृहीयादिति रथन्तरसामतैव क्रतोरैन्द्रवायवाग्रतार्यौ कारणम् । नहि तत्र सोमयागः स्वरूपेण कारणः; व्यभिचारात् । नच पित्रोस्तादृग्विधकारणलक्षणयोगित्वमिति नातिप्रसङ्गः । अनेनैव न्यायेन धर्माभिसंधिना निर्मितकूपवाप्यादौ प्रमादपतितब्राह्मणादिमरणे खानयितुर्दोषाभावः । नहि कूपोऽनेन खानितः अतोऽहमात्मानं व्यापादयामीत्येवं कूपखनननिमित्तं व्यापादनं यथाक्रोशादौ । अतः कूपकर्तुरपि कारणत्वमेव, न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मातापितृत्वस्यैव । तथा क्वचित्सत्यपि हिंसानिमित्तयोगत्वे परोपकारार्थप्रवृत्तौ वचनादोषाभावः । यथाह संवर्तः—'बन्धने गोश्चिकित्सार्थं मूढगर्भविमोचने । यस्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणादिषु । दीयमाने विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥ दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम् । प्राणसंत्राणसिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति ।—एतच्चादाननिदाननिपुणमिषग्विषयम् ।

१. फलगुरु । २. देवकुलतडाग । ३. तडागकर्त्रादयो । ४. दण्ड-फलत्वम् । ५. प्रता कारणम् । ६. नास्ति प्रसंगः ।

इतरस्य तु 'भिषङ्मिथ्याचरन्दाप्यः' (व्य० १४२) इत्यत्र यत्तु मन्युनिमित्ताक्रोशनादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनात्मानं व्यापादयति तत्रापि न दोषः; 'अकारणं तु यः कश्चिद् द्विजः प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोषः स्याज्ज तु यं परिकीर्तयेत् ॥' इति स्मरणात् ॥ तथा यत्र क्रोशकादिजनितमन्युरात्मानं खड्गादिना प्रहस्य मरणादर्वागाक्रोशनादिभिरुपादानादिना संतोषितो यदि जनसमक्षमुच्चैः श्रावयति नात्राक्रोशकस्यापराध इति, तत्रापि वचनाच्च दोषः । यथाह विष्णुः—'उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोषितः श्रावयत्युनः । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोरुच्छ्रावणे कृते ॥ इति । एतेषां च प्रमादकादीनां दोषगुरुलघुभावपर्यालोचनया प्रायश्चित्तविशेषं वक्ष्यामः ॥ २२७ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला, सुरा पीनेवाला, (ब्राह्मण का) स्वर्ण चुराने वाला तथा गुरुपत्नी से भोग करनेवाला—ये महापातकी होते हैं और इनके साथ निवास करने वाले भी महापातकी होते हैं ॥ २२७ ॥

ब्रह्महत्यासमान्याह—

गुरुणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।

ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरुणामाधिक्येनाधिषेपः अनृताभिर्ज्ञानम् । 'गुरोरनृताभिर्ज्ञानमिति महापातकसमानि' (२११०) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोकाधिपतदोषाभिर्ज्ञानविषयम् । 'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वः परेषां समाख्याता स्यात्संव्यवहारे चैनं परिहरेत्' (१२१२०) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । नास्तिक्याभिनिवेशेन वेदकुत्सनम् । सुहृन्मित्रं तस्याब्राह्मणस्यापि वधः । अधीतस्य वेदस्यासच्छ्रावविनोदेनालस्यादिना वा नाशनं विस्मरणम् । एतानि प्रत्येकं ब्रह्महत्यासमानि । यत्पुनः 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २३९) इत्यधीतपातकमध्ये परिगणनं, तत्कथंचित्कुटुम्बभरणाकुलतयाऽसच्छ्रावश्रवणं तथा ता विस्मरणे द्रष्टव्यम् ॥ २२८ ॥

भाषा—गुरु पर मिथ्या दोषारोपण, वेद की निन्दा, मित्र की हत्या और पठित वेद एवं शास्त्र का आलस्यवश विस्मरण—इन सबको ब्रह्महत्या के समान ही समझना चाहिए ॥ २२८ ॥

सुरापानसमान्याह—

निषिद्धभक्षणं जैह्वयमुत्कर्षं च वचोऽनृतम् ।

रजस्वतामुखास्वादः सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

१. मन्युनात्मानम् । २. कर्ता धनदाना । ३. ततः । ४. मुत्कर्षं च ।

निषिद्धं लशुनादिकं, तस्य मतिपूर्वं भक्षणम् । अत एव मनुः (५।१९)—
 छत्राकं विध्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डं गृञ्जनं चैव मस्या जग्ध्वा
 पतेन्नरैः ॥' इति । अमतिपूर्वं तु प्रायश्चित्तान्तरम् (५।२०)—'अमत्यैतानि
 षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपनसेदहः ॥'
 इति तेनैवोक्तत्वात् । जैह्वयं कौटिल्यं, अन्याभिसंधानेनान्यवादित्वमन्यकर्तृत्वं च ।
 अत्र च जैह्वयमिति यद्यपि सामान्येनोक्तं, तथापि प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वान्निमित्त-
 स्यापि गुरुविषयं जैह्वयमिति गौरवं गम्यते । अस्ति च नैमित्तिकपर्यालोचनया
 निमित्तस्य विशेषावगतिः । यथा 'यस्योभावघ्नी अनुमतौ स्यातां दुष्टौ भवेताम-
 भिनिरलोचेद्वा पुनराधेयं तत्र प्रायश्चित्तिः' इत्यत्रोभावित्यस्य निमित्तविशेषण-
 त्वेन हविरुभयत्वादविवक्षितत्वेऽप्यग्निद्वयनिष्पादकपुनराधेयरूपनैमित्तिकविधिब-
 लादग्निद्वयानुगतिरेव निमित्तमिति कल्प्यते; तथात्रापीति युक्तं निमित्तगौरवक-
 ल्पनम् । तथा समुत्कर्षनिमित्तं राजकुलादावचतुर्वेद एव चतुर्वेदोऽहमित्यनृतभा-
 षणम् । रजस्वलाया (कामवशेन) वक्त्रासवसेवनम्, एतानि सुरापानममानि ॥

भाषा—निषिद्धं (लहसुन आदि) पदार्थ का जानबूझ कर भक्षण,
 कुटिलता, उत्कर्ष प्राप्ति के लिए असत्य भाषण और रजस्वला स्त्री के मुख का
 चुम्बन—ये सुरापान के समान ही होते हैं ॥ २२९ ॥

सुवर्णस्तेयसमान्याह—

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ।

निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २३० ॥

अश्वादीनां ब्राह्मणसंबन्धिनां, निक्षेपस्य च सुवर्णव्यतिरिक्तस्यापहरण-
 मेतत्सर्वं सुवर्णस्तेयसमं वेदितव्यम् ॥ २३० ॥

भाषा—(ब्राह्मण के) घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि और गाय तथा
 निक्षेप का अपहरण—'ये सभी सोने की चोरी के समान ही होते हैं ॥ २३० ॥

गुरुतल्पसमान्याह—

सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।

सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥ २३१ ॥

सखा मित्रं, तस्य भार्या; कुमार्हत्तमजातीया ऋण्यका, तासु 'मकामा-
 स्वनुलोमासु न दोषस्त्वयम्' दमः । दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥'
 (व्य० २८८) इति तत्रैव दण्डविशेषप्रतिपादनाप्रायश्चित्तगुरुत्वं युक्तम् ।

१. द्विज । २. विषयं यज्जैह्वयमिति । ३. विशेषत्वेन ।

स्वयोनिर्भगिनी, अन्यजा चाण्डाली, सगोत्रा समानगोत्रा, सुतस्त्री स्नुषा, पुत्रासां गमनं प्रत्येकं गुरुतरूपसमम् । एतच्च रेतःसेकादूर्ध्वं वेदितव्यम्; अवाङ्मनवृत्तौ तु न गुरुतरूपसमत्वं, किंत्वल्पमेव प्रायश्चित्तम् । 'रेतःसेकः स्वयो-
नोषु कुमारोऽन्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतरूपसमं विदुः ॥'
(११।५८) इति मानवे 'रेतःसेक' इति विशेषणोपादानात् । 'सगोत्रा'ग्रहणेनैव
सिद्धे पुनः 'सुतस्त्री'ग्रहणं प्रायश्चित्तगौरवप्रतिपादनार्थम् । अत्र च ब्रह्म-
हत्यादिसमत्ववचनं गुर्वधिकेपादेस्तत्तज्जियन्प्रायश्चित्तोपदेशार्थम् । ननु वेद-
निन्दादौ दोषस्य लघुत्वाद् गुरुतरं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तं न युज्यते । मैवम् ;
गुरुप्रायश्चित्तोपदेशबलादेव दोषगुरुत्वावगतेः । न च ब्रह्महत्यादिप्राय-
श्चित्तातिदेशार्थमेवेदं वचनं भवति, किंतु दोषगौरवमात्रप्रतिपादनपरमित्या-
शङ्कनायम् । यतस्तावन्मात्रप्रतिपादनपरत्वे ब्रह्महत्यासममिदं गुरुतरूपसममि-
त्यादिभेदेन समत्वाभिधानं नोपपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तं 'सम'शब्देनोपदिश्यमानं
ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेभ्यः किञ्चिन्न्यूनमेवोपदिश्यते । 'लोके राजसमो मन्त्री'
इत्यादिवाक्येषु 'भम'शब्दस्य किञ्चिद्धीने प्रयोगदर्शनात्, महतः पातकस्येतरस्य
च तदव्ययस्यायुक्तत्वाच्च । एवं च सति याज्ञवल्क्येन ब्रह्महत्यासमत्वेनोक्तानामपि
ब्रह्महत्यावेदानन्दसुहृद्भानां मनुना यत्सुरापानसाध्यम् '(११।५६)—
'ब्रह्मांशता वेदनिन्दा कौटसाद्यं सुहृद्बधः । गर्हिताज्ञाज्ययोजविधः सुरापान-
समानि षट् ॥' इत्युक्तं, तत्प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । एवमन्येष्वपि वचनेषु निरोधः
परिहर्तव्यः । यत्तु वसिष्ठेन—'गुरोर्लीकनिर्बन्धे कृच्छ्रं द्वादशरात्रकं चरित्वा
सचैलः स्नातो गुरुप्रसादात् पृतो भवति' इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं, तदमतिपूर्वं
सकृदनुष्ठाने च वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

भाषा—मित्र की पत्नी, (उत्तम जाति की) अविवाहित कन्या, भगिनी,
चाण्डाली, समानगोत्रवाली स्त्री और पुत्रवधू (पतोहू)—इनके साथ संभोग
गुरुपत्नीभोग के समान कहा गया है ॥ २३१ ॥

गुरुतरूपातिदेशमाह—

पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।

मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥

आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तुं गुरुतरूपगः ।

लिङ्गं छित्त्वा वर्धंस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥ २३३ ॥

१. गुरुत्वमवगम्यते । २. गर्हिताज्ञाज्ययोः । ३. गच्छंश्च । ४. वध-
स्तत्र । ५. तथा ।

पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धाः, ता गच्छन् गुरुतत्पराः, तस्य लिङ्गं लिङ्गं राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थं, प्रायश्चित्तं च तदेव । 'च' शब्दाद्राज्ञीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारदः (१२।७३-७५)—'माता मातृष्वसा श्वश्रूमातुलानी पितृष्वसा । पितृष्वसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतत्परा उच्यते । शिशनस्योत्कर्तनान्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या, न क्षत्रियस्यैव; तद्रूपेण प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात् । धात्री मातृष्वसतिरिक्ता स्तन्यदानादिना पोषयित्री, साध्वी व्रतचारिणी, वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र 'मातृ'ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । अयं च लिङ्गच्छेदवधात्मको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्' इति तस्य वधनिषेधात् वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषयं गुरुतत्परायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः । अत्र स्नुषाभगिन्योः पूर्वश्लोकेन गुरुतत्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेताः स्त्रियः सकामाः सस्य एतानेव पुरुषान्वशीकृत्योभुञ्जन्ते तदा तासामपि पुरुषवद्बध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च । एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यः पतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते । यथाह यमः—'मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातुलानी स्वसा श्वश्रू-र्गत्वा सद्यः पतेन्नरः ॥' इति गौतमेन पुनरन्येषामपि पातकत्वमुक्तम् (२१। १२)—'मातृपितृयोनिबंधाङ्गस्तेननास्तिकनिन्दितकर्मभ्यासिपतितात्याग्यप-तितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' इति । तेषां च महापातकोपपातक-मध्यपाठान्महापातकान्यूनत्वमुपपातकाच्च गुरुत्वमवगम्यते । तदुक्तम्—'महा-पातकतुल्यानि पापान्युक्तानि यानि तु । तानि पातकसंज्ञानि तन्न्यूनमुपपा-तकम् ॥' इति । तथा चाङ्गिराः—'पातकेषु सहस्रं स्यान्महत्सु द्विगुणं तथा उपपापे तुरीयं स्यान्नरकं वर्षसंख्यया ॥' इति ॥ २३२-२३३ ॥

भाषा—पिता की बहन (बुआ), माता, मामी, स्नुषा (पतोहू), सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, आचार्य की पत्नी, या अपनी पुत्री से संभोग करने वाला गुरुपत्नीभोगी के समान होता है; उसका लिङ्ग काटकर वध कर देना चाहिए; और यदि ये स्त्रियाँ स्वेच्छा से संभोग कराती हैं तो उनके लिए भी वध का दण्ड प्रायश्चित्त होता है ॥ २३२-२३३ ॥

एवं महापातकानि तत्समानि च पातकानि परिगणय्योपपातकानि परिग-णयितुमाह—

गोवधो मात्यता स्तेयमृणानां चानपाक्रिया ।

१. दण्डार्थः ।

२. वर्मसंख्यात् ।

३. चानपाक्रिया ।

अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रयः परिवेदनम् ॥ २३४ ॥
भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।
पारदार्यं पारिवित्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दिताथोपजीवनम् ।
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥ २३६ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।
पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः ॥ २३७ ॥
कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनम् ।
कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥
आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३९ ॥
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधजीवनम् ।
हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ॥ २४० ॥
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम् ।
तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥
असच्छास्त्राधिगमनमाकरेवधिकारिता ।
भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

गोवधो गोपिण्डध्यापादनम्, कालेऽनुपनीतत्वं ब्राह्म्यता, ब्राह्मणसुवर्णतत्सम-
व्यतिरिक्तपरद्रव्यापहरणं स्तेयम्, गृहीतस्य सुवर्णादेरप्रदानमृणानामनपाकर-
णम्, तथा देवर्षिपितृणां संबन्ध्यणस्यानपाकरणं च । सत्यधिकारेऽनाहिताग्नि-
त्वम् ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामश्रुतयः स्वाङ्गभूताग्निनिष्पद्यर्थमाधानं प्रयुज्जत
इति मीमांसकप्रसिद्धिः, अतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपायभूताधाने प्रवृ-
त्तिर्ग्राह्याद्यर्थिन इव धनार्जने । यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नास्ति तस्याप्रवृत्तिरिति
कथमनाहिताग्नितादोषः ? उच्यते,—अस्मादेवाधानस्यावश्यकत्ववचनाज्ञित्यश्रुत-
योऽपि साधिकारित्वाविशेषादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकाराणामभिप्रायो
लक्ष्यत इत्यदोषः । तथा अपण्यस्य लवणादेर्विक्रयः, सहोदरस्य ज्येष्ठस्य
तिष्ठतः कनीयसो भ्रातुर्दाराग्निसंयोगः परिवेदनम्, पणपूर्वाध्यापकादध्ययन-
ग्रहणम्, पणपूर्वाध्यापनम्, परदारसेवनं गुरुदारतत्समव्यतिरेकेण, पारि-
वित्यं कनीयसि कृतत्रिवाहे ज्येष्ठस्य विवाहराहित्यम्, वार्धुष्यं प्रतिषिद्धवृद्धपु-
जीवनम्, लवणक्रिया लवणस्योत्पादानम्, स्त्रिया वधः आत्रेयी सगर्भा ऋतु-

१. परिवेदक ।
२. संबन्ध्यर्णस्या ।
३. साधिकारत्वाविशेषां ।
४. वृत्त्युपजीवित्वम् ।

भती, अत्रिगोत्रपरिणीता वा ब्राह्मण्या अप्यात्रेयीव्यतिरेकेण, शूद्रवधः, अदीक्षित-
 विद्वत्प्रियवधः । निन्दितार्थोपजीवनमराजस्थापितार्थोपजीवनम्, नास्तिक्यं
 'नास्ति परलोकः' इत्याद्यभिनिवेशः, व्रतलोपो ब्रह्मचारिणः स्त्रीप्रसङ्गः,
 सुतानामपत्यानां विक्रयः, धान्यं व्रीह्यादि, कुप्यमसारद्रव्यं त्रपुसीसादि,
 पशवो गवःदयः, तेषामपहरणम्; 'गोवधो ब्राह्म्यता स्तेयम्' (प्रा. २३४) इत्यनेन
 स्तेयग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्धान्यकुप्यादिस्तेयग्रहणं नित्यार्थम् । अतो धान्यादिव्यति-
 र्क्तिद्रव्यस्तेये नावश्यमेतदेव प्रायश्चित्तम्, अपि तु ततो न्यूनमपि भवत्येव । एतेन
 'बान्धवत्याग'ग्रहणेनैव सिद्धे पुनः 'पित्रादित्याग'ग्रहणं व्याख्यातम् । अयाज्यानां
 जातिकर्मदुष्टानां शूद्रब्राह्म्यादीनां याजनम् । पितृमातृसुतानामपतितानां त्यागो
 गृहाज्जपासनम् । तडागस्यारामस्य चोद्यानोपवनादेर्विक्रयः । कन्यायाः
 संदूषणमङ्गुल्यादिना योनिविदारणम्, नतु भोगः । तस्य 'सखिभार्याकुमारीषु'
 (प्रा० २३९) इति गुरुत्वरूपगमस्त्वस्योक्तत्वात् । परिविन्दकयाजनं, तस्य च
 कन्याप्रदानम् । कौटिल्यं गुरोरन्यत्र, गुरुविषयस्य तु कौटिल्यस्य सुरापानसम-
 त्वमुक्तम् । पुनर्'व्रतलोप' ग्रहणं शिष्टाप्रतिषिद्धेष्वपि श्रीहरिचरणकमलप्रेक्षणात्
 प्राक्ताभ्यांलादिकं न भक्षयामोत्येतद्रूपेषु प्राप्त्यर्थं, नतु स्नातकव्रतप्राप्त्यर्थम् ।
 'स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्' (११।२०३) इति मनुना लघुप्रायश्चित्तस्य
 प्रतिपादितत्वात् ॥ तथाऽऽत्माथं च पाकलक्षणक्रियारम्भः; 'अघं स केवलं
 भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' (मनुः ३।११८) इति तस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् ।
 क्रियामात्रविषयत्वे तु प्रतिषेधकत्वनया गौरवं स्यात् । मद्यपायाः स्त्रियाः
 जायाया अपि निषेधमुपभोगः, स्वाध्यायत्यागो व्याख्यातः, अग्नीनां
 च श्रौतस्मार्तानां त्यागः, सुतत्यागः संस्काराद्यकरणम्, बान्धवानां पितृ-
 व्यमातुलादीनां त्यागः सति विभवे अपरिरक्षणम् । पाकादिदृष्टप्रयोजन-
 सिद्ध्यर्थमाद्र्द्रुमच्छेदो न स्वाहवनीयपरिरक्षणार्थमपि । स्त्रिया हिंसया औषधेन
 च वर्तनं जीवनं स्त्रीहिंसौषधजीवनम् । तत्र स्त्रीजीवनं नाम भार्या पण्यभावेन
 प्रयोज्य तल्लब्धोपजीवनम्, स्त्रीधनेनोपजीवनं वा । हिंसया जीवनं प्राणिवधेन
 जीवनम् । औषधजीवनं वशीकरणदिना । हिंस्रयन्त्रस्य तिलेषुपीडाकारस्य
 प्रवर्तनम् । व्यसनानि मृगयादीन्यष्टादश । आत्मविक्रयो द्रव्यग्रहणेन परदास्य-
 करणम् । शूद्रसेवनं हीनेषु मैत्रीकरणम् । अनूढसवर्णदारस्य केवलहीनवर्ण-
 दारोपयमनं साधारणस्त्रीसंभोगश्च । अनाश्रमवासः अगृहीताश्रमिष्वं सत्य-
 धिकारे । पराश्रपतिपुष्टता परपाकरतिस्वम् । असच्छास्त्रस्य चार्वाकादिग्रन्थ-
 स्याधिगमः । सर्वाङ्गेषु सुवर्णाङ्गुस्पर्तिस्थानेषु राजाज्ञयाधिकारित्वम् ।

भार्याया विक्रयः, 'च'शब्दान्मन्वाद्युक्ताभिचाराभितपूर्वलशुनादिभक्त्यादेर्ग्रहणम् ।
 एषां गोवधादीनां प्रत्येकमुपपातकसंज्ञा वेदितव्या । मनुना पुनरन्यान्यपि
 निमित्तानि जातिभ्रंशकरसंकरीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणसंज्ञानि परिगणि-
 तानि । (मनुः ११ । ६७-७०)—'ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरग्रेयमद्ययोः ।
 जैह्वं पुंसि' च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ खराश्वोष्ट्रमृगोभानामजा-
 विकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ निन्दितेभ्यो
 धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ।
 कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥'
 इति ॥ अतोऽन्यन्नमित्तजातं प्रकीर्णकं कथ्यते ॥ बृहद्विष्णुना च समस्तानि
 प्रायश्चित्तनिमित्तान्युत्तरोत्तरलघीयांसि पृथक्संज्ञाभेदभिन्नानि दर्शितानि—
 'ब्रह्महत्या सुरापानं ब्राह्मणसुवर्णपहरणं गुरुदारगमनमिति महापातकानि
 तत्संयोगश्च । मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषागमनमित्यतिपातकानि । यागस्थव-
 त्रियवधो वैश्यस्य च रजस्वलायाश्चान्तर्वन्त्याश्चान्निगोत्रायाश्चाविज्ञातस्य गर्भस्य
 शरणागतस्य च घातनं ब्रह्महत्यासमानि । कौटसाद्यं सुहृद्वध इत्येतौ सुरापान-
 समौ । ब्राह्मणभूमिहरणं सुवर्णस्तेयसमम् । पितृव्यमातामहमातुलनृपपत्न्यभि-
 गमनं गुरुदारगमनसमम् । पितृव्यमातामहमातुलनृपपत्न्यभिगमनं च । स्वसुः सख्याः सगोत्राया उत्तमवर्णाया रजस्वलायाः शरणा-
 गतायाः प्रव्रजितायाः निक्षिप्तायाश्च गमनमित्येतान्यनुपातकानि । अनृतवचनं
 समुत्कर्षे राजगामि च पैशुन्यम् । गुरोश्चालीकनिर्वन्धो वेद्निन्दा अधीतस्य
 त्यागोऽग्निपितृमातृसुतदाराणां च अभोज्यान्नभक्षणं परस्वापहरणं परदारानुग-
 मनमयाज्यानां च याजनं व्रात्यता भृतादध्यापनं भृतकाध्ययनादानं सर्वाकरेष्व-
 धिकारो महायन्त्रप्रवर्तनं द्रुमगुरुमैवल्लीलतौषधीनां हिंसया जीवमभिचारमूलकर्मसु
 च प्रवृत्तिरात्मार्थक्रियारम्भः अनाहिताग्निता देवर्षिपितृणामृणस्यानपक्रिया अस-
 ङ्ख्यस्त्राधिगमनं नास्तिकता कुशीलता मद्यपस्त्रीनिषेवणमित्युपपातकानि । ब्राह्म-
 णस्य रुजःकरणमग्रेयमद्ययोर्घ्रातिजैह्वं पशुषु पुंसि च मैथुनाचरणमित्येतानि
 जातिभ्रंशकराणि । ग्राम्यारण्यपशूनां हिंसनं संकरीकरणम् । निन्दितेभ्यो धना-
 दानं, वाणिज्यं, कुसीदजीवनं, असत्यभाषणं, शूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणानि ।
 पक्षिणां जलचराणां जलजानां च घातनं कृमिकीटघातनं मद्यानुगतभोजनमिति
 मलावहानि । यदनुक्तं तत्प्रकीर्णकम्' इति ॥ कात्यायनेन तु महापातकसमानां
 विष्णुनार्युपपातकत्वेनोक्तानां पातकसंज्ञा दर्शिता—'महापापं चातिपापं तथा

१. च मैथुनं पुंसि । २. आसगोत्रायाः । ३. पैशुन्यम् । ४. गुरुम-
 लतौषधीनां । ५. स्यानपक्रिया । ६. नुपातकत्वेन ।

पातकमेव च । प्रासङ्गिकं चोपपापमित्येवं पञ्चको गणः ॥' इति ॥ ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं ? पतनहेतुत्वाभावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि 'मातृपितृयोनिबंधाङ्गः' इत्यादिपरिगणनमनर्थकम् । अथैवमुच्येत—यद्यपि महापातकतत्समेष्टिव सद्यःपातित्यहेतुत्वं नास्ति, तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धम् ; 'निन्दितकर्माभ्यासी' (२१११) इति गौतमवचनादिति । मैवम् ; अभ्यासस्यानिरूप्यमाणत्वात् द्विः शतकृत्वो वेति तत्राविशेषेऽङ्गीक्रियमाणे योऽपि द्विर्दिवा स्वपिति, यः शतकृत्वो वा गोवधं करोति, तयोरविशेषेण पातित्यं स्यात् । अत्रोच्यते, यत्रार्थवादे प्रत्यवायविशेषः श्रूयते, प्रायश्चित्तबहुत्वं वा तस्मिन्निन्दितकर्मणि यावत्त्यभ्यस्यमाने महापातकतुल्यत्वं भवति—तावानभ्यासः पातित्यहेतुः । दिवास्वप्नादौ तु सहस्रकृत्वोऽप्यभ्यस्यमाने न महापातकतुल्यत्वं भवतीति न तत्र पातित्यम्, अतो युक्तमुपपातकादेश्चभ्यासापेक्षया पतनहेतुत्वम् ॥ २३४-२४२ ॥

भाषा—गौ का वध, व्रात्यता (पतितसावित्री), स्तेय (चोरी), ऋण न लौटाना, (अधिकारी होने पर भी) अग्निहोत्र न करना, न बेचने योग्य वस्तु (नमक आदि) बेचना, सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते स्वयं विवाह करना, चेतन लेने वाले अध्यापक से पढ़ना तथा चेतन लेकर पढ़ाना, परस्त्री का भोग, सहोदर छोटे भाई के विवाहित होने पर स्वयं अविवाहित रहना, नमक बनाना, वार्षुष्य (निषिद्ध व्याज लेना), स्त्री (ब्राह्मणी और रजस्वला के अतिरिक्त) का वध, शूद्र का वध, (अदीक्षित) वैश्य और क्षत्रिय का वध, निषिद्ध धन का उपार्जन, नास्तिकता, व्रतलोप (ब्रह्मचारी होकर स्त्रीप्रसङ्ग आदि), पुत्रों को बेचना, (ग्रीहि आदि) धान्य, (कांसा, सीसा आदि) कुप्य और पशुओं की चोरी, (जाति और कर्म से दूषित शूद्र और व्रात्य जैसे) अयाज्य व्यक्तियों के यहाँ यज्ञ कराना, निर्दोष पिता, माता, पुत्र का त्याग करना, तालाब और उद्यान, उपवन आदि बेचना, किसी कन्या का संदूषण (अङ्गुली से उसकी योनि का विदारण), परिविन्दक (जिसने सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह किया हो) का यज्ञ कराना, (गुरु के अतिरिक्त अन्य के साथ) कुटिलता, व्रत (स्नातक व्रत) का लोप, केवल अपने ही लिए भोजन आदि बनाना, सुरा पीने वाली स्त्री का उपभोग, स्वाध्याय का त्याग, (श्रौत, स्मार्त) अग्नियों का त्याग पुत्र का त्याग (संस्कार न करना), चाचा, मामा आदि वान्धवों का त्याग, (धन होते हुए भी उनका पालन न करना), भोजनार्थ ईंधन के लिए (अग्निहोत्र के लिए नहीं) हरे वृक्ष को काटना, स्त्री की हिंसा और औषध से जीविका

चलाना, घातक हथियार बनाना, व्यसन (मृगया आदि), स्वयं को बेचना, शूद्र की सेवा, नीच व्यक्ति से मित्रता, (विवाहिता सवर्णा स्त्री के रहते) हीन कोटि की स्त्री का उपभोग, किसी आश्रम में न रहना, दूरे के अन्न से जीवन चलाना, निन्दित शास्त्रों (चार्वाकों आदि के ग्रन्थों) का अध्ययन, सोने आदि की खान पर अधिकार, और पत्नी का विक्रय—इन सब में प्रत्येक को उपपातक समझना चाहिए ॥ २३४-२४२ ॥

एवं व्यवहारार्थं संज्ञाभेदसहितं प्रायश्चित्तनिमित्तपरिगणनं कृत्वा नैमित्तिकानि प्रदर्शयितुमाह—

शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन् ।

ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥

शिरसः कपालमस्यास्तीति शिरःकपाली, तथा ध्वजवान् 'कृत्वा शवशिरो-ध्वजम्' (११।७२)—इति मनुस्मरणात् । अन्यच्छिरःकपालं दण्डाग्रसमारोपितं ध्वजशब्दवाच्यं गृहीयात् । तच्च कपालं स्वव्यापादितब्राह्मणशिरःसंबन्धिग्राह्यम् । 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा तस्यैव शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुसंचरेत्' इति शातातपस्मरणात् । तदलाभेऽन्यस्यैव ब्राह्मणस्यैव ग्राह्यम् । एतदुभयं पाणिनेव ग्राह्यम् । 'खट्वाङ्गकपालपाणिः' (२२।४) इति गौतमस्मरणात् । 'खट्वाङ्ग'शब्देन दण्डारोपितशिरःकपालात्मको ध्वजो गृह्यते; न पुनः खट्वैकदेशः, 'महोक्तः खट्वाङ्गं परशुः' इत्यादिव्यवहारेषु तस्यैव प्रसिद्धेः । एतच्च कपालधारणं चिह्नार्थं, न पुनर्भोजनार्थं भिक्षार्थं वा; 'मृन्मयकपालपाणिर्भिक्षायै ग्रामं प्रविशेत्' (२२।४) इति गौतमस्मरणात् । तथा वनवासिना च तेन भवितव्यम् । 'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्' (११।७२) इति मनुस्मरणात् । ग्रामसमीपादौ वा । (मनुः ११।७८)—'कृतवापनो वा निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । 'कृतवापनो वा' इति विकल्पाभिधानाज्जटी वेति लक्ष्यते । अत एव संवर्तः—'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि बालवासा जटी ध्वजी' इति तथा भिक्षाशनशीलश्च भवेत् । भिक्षा च लोहितकेन मृन्मयखण्डशरावेण ग्राह्या; 'लोहितकेन खण्डशरावेण ग्रामं भिक्षायै प्रविशेत्' (१२।१४) इति आपस्तम्बस्मरणात् । सप्तागाराण्येवौन्नमिष्टं लभ्येत वानवेत्येवमसंकल्पितानि भिक्षार्थं प्रविशेत्; 'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' (१०।७) इति वसिष्ठस्मरणात् । तैथैककाल एव सा ग्राह्या; 'एककालाहारः' इति तेनैवोक्त-

-
१. ब्रह्महा द्वादशसमा । २. सर्वभूतहिते । ३. चीरवासा जटी ।
४. ण्येवात्र मृष्टं लभ्यते नात्रेत्येवमसंकल्पितानि । ५. तथा सायंकाल एव ।

त्वात् । एतच्च भैक्षं ब्राह्मणादिवर्णेष्वेव कार्यम् ; 'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षं खट्वाङ्गी-
संयतात्मवान्' इति संवर्तस्मरणात् । तथा 'ब्रह्महाऽस्मि' इति स्वकर्म ख्यापयन्
द्वारि स्थितो भिक्षां याचेत् ; 'वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः'
इति पराशरस्मरणात् । अयं च भैक्षानिश्चयनियमो वन्यैर्जातिनाशकौ द्रष्टव्यः ;
'भिक्षायै प्रविशेद् ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति' इति संवर्तस्मरणात् । तथा
ब्रह्मचर्यादियुक्तेन च तेन भवितव्यम् । खट्वाङ्गकपालपाणिर्द्वादशवत्सरान्ब्रह्म-
चारो भिक्षायै ग्रामं प्रविशेत्कर्माचक्षाणः । यथोपक्रामेत्स संदर्शनादार्यस्य
('उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि । एतद्वीरासनं नाम सर्वपाप-
प्रणाशनम् ॥')—'स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेपूदकोपस्पर्शी शुद्धयेत्'
(२१६) इति गौतमस्मरणात् । 'ब्रह्मचारिग्रहणं 'वर्जयेन्मधुमांसगन्ध-
मांस्यदिवास्वप्नावज्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहहर्षनृत्यगातपरिवाद-
भयानि' इति ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ताविरुद्धधर्मप्राप्त्यर्थम् । अत एव शङ्खः—
'स्थानवीरासनी मौनी मौञ्जी दण्डकमण्डलुः । भिक्षाचर्याग्निकार्यं च
कूपमाण्डोभिः सदा जपः ॥' इति, तस्य भवेदिति शेषः । अत्र सवनेपूदक-
स्पर्शीति स्नानविधानात्तदङ्गभूतमन्त्रादिप्राप्तिरप्यवगम्यते । तथा 'शुचिना कर्म
कर्तव्य'मित्यस्य सर्वकर्मसाधारणत्वाद् व्रतचर्याङ्गभूतशौचसंपत्त्यर्थं स्नानवत्संध्यो-
पासनमपि कार्यम् । तस्यापि शौचापादनद्वारेण सर्वकर्मशेषत्वात् । तथा च
दक्षः—'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यत्किंचित्कुरुते कर्म न तस्य
फलभागमेव ॥' इति । न च 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' इति वचनात्
संध्योपासनायाश्च द्विजातिकर्मत्वादप्राप्तिरिति शङ्कनीयम् । यस्मात्पतितस्यैव
व्रतचर्योपदेशात्तदङ्गतयैव संध्योपासनादिप्राप्तिः । अतो 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या
दानं ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादीनामेव द्विजातिकर्मणां
व्रतचर्याङ्गभूतानां हानिर्न सर्वेषाम् ; तावन्मात्रबाधेन हानिवचनस्य चरितार्थ-
त्वात् । इयं च मनुयाज्ञवल्क्यगौतमादिप्रतिपादिता द्वादशवार्षिकव्रतचर्यैकैव
न पुनर्भिन्ना । परस्परसापेक्षत्वादविरोधाच्च । तथा हि—भिक्षाशी कर्म वेदय-
ज्ञियुक्ते किं भिक्षापात्रं केषां वा गृहेषु कतिपु वेत्याकाङ्क्षा जायेतैव । तत्र
'लोहितकेन खण्डशरावेण' (१२४।१४) इत्यापस्तम्बादिवचनैः परिपूरणम-
विरुद्धम् । अतः सर्वैरेकवत्पदेष्टात्कैश्चिदुक्तं मनुगौतमाद्युक्तेतिकर्तव्यतायाः
परस्परसापेक्षत्वेऽपि विकल्प इति तदतिरूप्यैवोक्तमिति मन्तव्यम् । एवं द्वादश-
वर्षाणि व्रतचर्यामावर्त्य ब्रह्महा शुद्धिमाप्नुयात् । इयं चाकामकृतब्रह्मवधविषया
(११।८९)—'इयं विदुर्द्विद्विदता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे

१. संयतः पुमान् ।

२. भिक्षां चरेत् ।

३. खट्वाङ्गपाणिः ।

४. स्थानासनाभ्याम् ।

५. साधारणस्मरणत्वात् ।

निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात् । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं द्वित्रै-
ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तस्य तन्त्रत्वमुतावृत्तिरिति । तत्र केचिन्मन्यते ब्रह्महा
द्वादशाब्दानीत्यत्र ब्रह्मशब्दस्यैकस्मिन्द्वयोर्बहुषु साधारणत्वादेकस्मिन्ब्राह्मणवधे
यत्प्रायश्चित्तं तदेव द्वितीये तृतीयेऽपि । तत्रैकब्राह्मणवधनिमित्तैकप्रायश्चित्तानुष्ठाने
सतीदं कृतमिदं नेति न शक्यते वक्तुम् । देशकालकर्तृणां प्रयोगानुबन्धभूता-
नामभेदेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तन्त्रानुष्ठानेनैव पापक्षयलक्षणकार्यनिष्पत्तिर्युक्ता ।
यथा तन्त्रानुष्ठितैः प्रयाजादिभिराग्नेयादिषु तन्त्रेणैवानेकोपकारलक्षणकार्याणां
निष्पत्तिः । नचैवं वाच्यम् 'द्वित्रैब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरुणि
लघुनि लघूनि' (१९।१९) इति, गौतमवचनादावृत्तमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम्,
विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति । यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं
किंतुपदिष्टानां गुरुलघुकल्पानां व्यवस्थाप्रतिपादनपरम् । नच द्वितीयब्राह्मणवधे
पापस्य गुरुत्वं, प्रमाणाभावात् । यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम्—'विधेः प्राथमिकाद-
स्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् । तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥'
इति,—तदपि 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकशास्त्रमावर्तते' इति न्यायेन, द्वित्रब्राह्मणव-
धगोचरनैमित्तिकशास्त्रावृत्त्यनुपादेन चतुर्थे तदभावविधिपरम्, न पुनर्द्वितीय-
ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरमपि; वाक्यभेदप्रसंगात् । तस्माद् द्वित्रब्रा-
ह्मणवधेऽपि सकृदेव द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानं युक्तम्, यथा अग्नये क्षामवते पुरो-
डाशमष्टाकपालं निर्वपेदित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां क्षामवत्यादीनां
युगपदनेकेष्वपि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम् । अत्रोच्यते—नहि वचन-
विराधे न्यायः प्रभवति । वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रब्राह्मणवधे
प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम् । एवं सति न्यायलभ्यतन्त्रानुष्ठानबाधेनावृत्ति-
विधाविदं वचनं प्रवृत्तिविशेषकरं स्यात् । इतरथा शास्त्रतः प्राप्यत्यनुवादकत्वेना-
नर्थकं स्यात् । नच वाक्यभेदः । चतुर्थादिब्रह्मवधपर्युदासेनेतरत्रावृत्तप्रायश्चित्त-
विधानेनैकार्थत्वात् । किंच, 'चतुर्थे नास्ति निष्कृतिरिति' लिङ्गदर्शनाद्धन्यमान-
ब्राह्मणसंख्योत्कर्षे दोषगौरवं गम्यते । तथा देवलादिवचनाच्च 'यस्यादनभि-
संधाय पापं कर्म सकृत्कृतम् । तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्भिर्मनोषिभिः ॥'
इति । नच विलक्षणयोगुरुलघुदोषयोः क्षयस्तन्त्रेण निष्पद्यते । अत एवविधेषु
दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तिर्युक्ता । क्षामव-
त्यादिषु पुनः कार्यस्यावैलक्षण्याद्युक्तस्तन्त्रभाव इत्यलं प्रपञ्चेन । यच्चेदं 'चतुर्थे
नास्ति निष्कृतिरिति, तदपि महापातकविषयम् ; पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्ता-
भावप्रतिपादनपरत्वात् । अतः शूद्राक्षसेवनादौ बहुशोऽप्यभ्यस्ते तदनुगुणप्राय-

१. किं तत्र द्वित्रैब्राह्मणवधे । २. द्वित्रैब्राह्मण । ३. द्विगुणं चरेत् ।
४. नैमित्तिकमावर्तते । ५. परममिति । परमेव । ६. वृत्तिप्रायश्चित्ता ।

श्रित्तावृत्तिः कल्पनीया, न पुनः प्रायश्चित्ताभावः । अत एवोक्तं मनुना (११। १४०)—‘पूर्णे चानस्यनस्थानां तु शुद्धहत्याव्रतं चरेत्’ इति । इदं च द्वादश-
 वार्षिकं व्रतं साक्षाद्वन्तुरेव; ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात् । अनुग्राहकप्रयोजकादेस्तु
 तत्तद्दोषानुसारेण प्रायश्चित्ततारतम्यं कल्पनीयम् । तत्रानुग्राहको यत्प्रायश्चित्तभाजं
 पुरुषमनुगृह्णाति स तत्प्रायश्चित्तं पादोनं कुर्यात् । अतस्तस्य द्वादशवार्षिके पादोनं
 नववार्षिकं प्रयोजकस्त्वर्धोनं षड्वार्षिकं कुर्यात् । अनुमन्ता पुनः सार्धपादं सार्ध-
 चतुर्वार्षिकं निमित्ती त्वेकपादं त्रिवार्षिकम् । अत एव सुमन्तुः—‘तिरस्कृतो यदा
 विप्रो हत्वाऽऽत्मानं मृतो यदि । निर्गुणः साहसाक्रोधाद् गृहत्सेनादिकारणात् ॥
 त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिलोमां सरस्वतीम् । गच्छेद्वाऽपि विशुद्ध्यर्थं तत्पापस्येति
 निश्चितम् ॥ अत्यर्थं निर्गुणो विप्रो ह्यत्यर्थं निर्गुणोपरि । क्रोधाद्वै त्रियते यस्तु
 निर्निमित्तं तु भस्मितः । वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्ध्यर्थं ॥’ इति । यदा
 पुनर्निर्मिश्रयत्यन्तगुणवान् आत्मघाती चात्यन्तनिर्गुणस्तदैकवर्षमेव ब्रह्महत्याव्रतं
 कुर्यात् ; केशश्मश्रुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने । ब्रह्मचर्यं चरन्विप्रो वर्षेणैकेन
 शुद्ध्यति ॥’ इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अनयैव दिशाऽनुग्राहकप्रयोजकादीनां येऽनु-
 ग्राहकप्रयोजकादयस्तेषामपि प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अस्यां च कल्पनायां प्रयोजयि-
 ताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मि-
 न्फलविशेषः’ (२।२९।१) इत्यापस्तम्बीयं वचनं मूलम् । तथा प्रोत्साहकादीना-
 मपि दण्डप्रायश्चित्ते कल्प्ये । यथाह पैठीनसिः—‘हन्ता मन्तोपदेष्टा च तथा संप्रति-
 पादकः । प्रोत्साहकः सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ॥ आश्रयः शस्त्रदाता च
 भक्तदाता विक्र्मिणाम् । उपेक्षकः शक्तिमांश्चेद्दोषवक्ताऽनुमोदकः ॥ अकार्यकारि-
 णस्त्वेषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् । यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत् ॥’
 इति । तथा बालवृद्धादीनां साक्षात्कर्तृत्वेऽप्यर्धमेव ‘अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो
 वाऽप्यूनषोडशः । प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥’ इत्यङ्गिरःस्मरणात् ।
 तथैव सुमन्तुः—‘अर्वाक्तु द्वादशाद्वर्षादशीतेरुर्ध्वमेव वा । अर्धमेव भवेत्पुंसां
 तुरीयं तत्र योषिताम् ॥’ इति ॥ तथाऽनुपनीतस्यापि बालकस्य पादमात्रमेव
 प्रायश्चित्तम् ; ‘स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा । पादो बालेषु दातव्यः
 सर्वपापेष्वयं विधिः ॥’ इति विष्णुस्मरणात् । अतश्च यच्छब्देन—‘ऊनैकादशव-
 र्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च । प्रायश्चित्तं चरेद् भ्राता पिता वाऽन्यः सुह-
 जनः ॥’ इति प्रतिपाद्योक्तम्,—‘अतो बालतरस्यास्य नापराधो न पातकम् ।
 राजदण्डो न तस्यास्ति प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥’ इति,—तदपिसंपूर्णं प्रायश्चित्ता-
 भावप्रतिपादनपरं, न पुनः सर्वात्मना तदभावप्रतिपादनपरम् । आश्रमविशेष-
 निरपेक्षेण श्रूयमाणेषु ‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ ‘तस्माद् ब्राह्मणराजन्थौ वैश्यश्च न सुरां

१. वर्षेकेन विशुद्ध्यति । २. भागिनो भूय । ३. तथावाक्तु ।

पिबेत्' इत्येवमादिष्वनपेक्षितवयोविशेषस्यैवाधिकारात् । अतश्च तदीयमपि प्रायश्चित्तं पित्रादिभिरेवाचरणीयम्; 'पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदमध्याप्य वृत्तिं विदध्यात्' इति तस्यैव पुत्रादिहिताचरणेऽधिकृतत्वात् । यत्र पुनः कस्मिंश्चिद् ब्रह्मवधे प्रयोजकभावमापन्नस्यान्यस्मिन्साक्षात्कर्तृत्वे गुरुलघुप्रायश्चित्तसंपातस्तत्र द्वादशवार्षिकादिगुरुप्रायश्चित्तान्तःपातिनः प्रयोजकसंबन्धिलघुप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कार्यसिद्धिः । नचैवं सत्यविशेषाल्लघुकल्पेन महतोऽपि सिद्धिः स्यादित्याशङ्कनीयम् । अत्र ह्यन्तःपातितयाऽनुष्ठाने विशेषानवगमात्प्रसङ्गात्कार्यसिद्धिरवगम्यते । नच लघ्वन्तःपाती महाकल्प इति कुतः प्रसङ्गाशङ्का ? नच चैत्रवधजनितकल्मषक्षयार्थमनुष्ठितेन कथं विष्णुमित्रवधोत्पाद्यपापनिवृत्तिरिति वाच्यम् ; चैत्राद्युद्देशस्यातन्त्रत्वात् । अतो यथा काम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं स्वर्गार्थं वाऽनुष्ठितैराग्नेयादिभिरित्यनियोगनिष्पत्तिस्तद्वल्लघुप्रायश्चित्तस्यापि कार्यसिद्धिः । यत्पुनर्मध्यमाङ्गिरोवचनम्—'गवां सहस्रं विधिवत्पान्नेभ्यः प्रतिपादयेत् । ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥' इति,—तत्सवनस्थगुणवद्ब्राह्मणविषयम् । एतच्च 'द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्' इत्येतद्वाक्यविहितद्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतचर्याशक्तस्य वेदितव्यम्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । न त्वनावृत्तद्वादशवार्षिकविषयम् । तत्र हि द्वादशदिनान्येकैकप्राजापत्यमिति गणनायां प्राजापत्यानां षष्ठ्यधिकशतत्रयं भवति । यद्यपि प्राजापत्यस्यान्ते त्र्यहमुपवासोऽधिकस्तथाऽप्यत्र वनवासजटाधारणचन्याहारत्वादिरूपतपोविशेषयुक्तत्वादुपवासाभावेऽप्येकैकस्य द्वादशाहस्य प्राजापत्यतुल्यत्वम् । ततश्च 'प्राजापत्यक्रियाशक्तौ धेनुं दद्याद्विचक्षणः । गवामभावे दातव्यं तन्मूल्यं वा न संशयः ॥' इत्यनेन न्यायेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकस्यां धेन्वां दीयमानायां धेनूनामपि षष्ठ्यधिकं शतत्रयं भवति, न पुनः सहस्रम् । अतो यथोक्त एव विषयो युक्तः । यदपि शङ्खवचनम्—'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु विप्रं प्रमाप्य द्वादशवत्सरान् षट् त्रीन्सार्धं संवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्तेषामन्ते गोसहस्रं तदर्थं तस्यार्धं तदर्थं च दद्यात्सर्वेषां वर्णानामानुपूर्व्येणे'ति द्वादशवार्षिकगोसहस्रयोः समुच्चयविधिर्परं, तदाचार्यादिहननविषयं द्रष्टव्यम्; तस्यातिगुरुत्वात् । तथा च दत्तः—'सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणभुवे । आचार्ये शतसाहस्रं श्रोत्रिये दत्तमक्षयम् ॥' इति 'प्रतिपाद्योक्तवान्—'समं द्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च यथाक्रमम् । दाने फलविशेषः स्याद्विंसायां तद्देव हि ॥' इति । तथाऽऽपस्तम्बेन (१।२४।२४) द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तमस्मिन्नेव विषये—'गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा एतदेव व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्' इति, तत्र यावज्जीवमावर्तमाने व्रते यदा

१. पुत्रहिताचरणे । २. प्रयोजकाभावापन्न । ३. सिद्धिरुच्यते ।
४. मनुष्ठेयेन । ५. रूपतया विशेष । ६. समुच्चयपरम् । ७. योक्तत्वात् ।

त्रैगुण्यं चातुर्गुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्राऽसमर्थस्य बहुधनस्यायं दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः । द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशराद्युक्तानां प्रायश्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः । ननु द्वादशवार्षिकादिकल्पानां व्यवस्था कुतोऽवसिता ? न तावद् द्वादशवार्षिकादिविधायकवाक्यैरिति युक्तम्; तत्राप्रीतेः । नच वाच्यं प्रमाणावगतगुरुलघुकल्पानां बाधो मा प्रसङ्गोदिति व्यवस्था कल्प्यत इति । विकल्पसमुच्चयाङ्गाङ्गिभावानामन्यतमाश्रयणेनापि बाधस्य सुपरिहरत्वात् । अत्रोच्यते—न तावद् द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषमकल्पानां विकल्पोऽवकल्प्यते; विकल्पाश्रयणे गुरुकल्पानामनुष्ठानासंभवेनानर्थक्यप्रसङ्गात् । नच षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विषमयोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम् । यतस्तत्रापि सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम् । यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्रं स्वर्गादिसिद्धिरतिशयितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम् । इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि समुच्चयः । उपदेशातिदेशप्राप्तिमन्तरेण समुच्चयो न संभवति; उपदेशावगतनैरपेक्ष्यस्य बाधप्रसङ्गात् । नचाङ्गाङ्गिभावः, श्रुत्यादिविनियोजकानामभावात् । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानि विनियोजकानि । अतः परस्परोपमदर्परीहारार्थं विषयव्यवस्थाकल्पनैवोचिता । सा च जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया कल्पनीया; ‘जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद् बुद्धिकृतं तथा । अनुबन्धादिविज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥’ इति देवलस्मरणात् ॥ २४३ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला महापातकी (उसी हत ब्राह्मण के) सिर की खोपड़ी हाथ में लेकर और दूसरी खोपड़ी बास के डंडे के ऊपर बाँधकर, अपने किये हुए कर्म को सबसे बताते हुए अल्प भोजन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत करने पर शुद्ध होता है ॥ २४३ ॥

पूर्वोक्तस्य ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकसमोप्यवधिमाह—

ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य च ।

तथाऽश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४४ ॥

यश्चौरव्याघ्रादिभिर्व्यापाद्यमानस्य ब्राह्मणस्यैकस्याप्यात्मप्राणानन्तरे कृत्वा प्राणत्राणं करोति गवां द्वादशकस्यासावसंपूर्णेऽपि द्वादशवार्षिके शुद्धयेत् । यद्यपि प्राणत्राणे प्रवृत्तस्तदकृत्यैव त्रियते तथाऽपि शुद्धयत्येव । अत एव मनुना (११।७९)—‘ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥’ इति । ब्राह्मणरक्षणं तदर्थं मरणं च पृथगुपात्तम् । तथा परकीयाश्वमेधावभृथाख्यकर्माङ्गभूतस्नानसमये स्वयमपि स्नात्वा ब्रह्महत्यायाः शुद्धिं प्राप्नुयात् । स्नानं च स्वकल्मषं विख्याप्य कुर्यात् । तथा

१. समस्त्वावधि । २. कस्य वासंपूर्णेऽपि । ३. स्नाने च ।

च मनुः (११८२)—‘शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽव-
भृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते ॥’ इति । भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजस्तेषां राज्ञा
नरदेवेन यजमानेन राज्ञा समवाये स्वीयमेनः शिष्ट्वा विद्याप्याश्वमेधाव-
भृथे स्नात्वा शुद्धयति यदि तैरनुज्ञातो भवति; ‘अश्वमेधाभृथं गत्वा तत्रानु-
ज्ञातः स्नातः सद्यः पूतो भवति’ इति शङ्खस्मरणात् । अश्वमेधावभृथग्रहणम-
ग्निष्टुम्भ्यानां पञ्चदशरात्रादिक्रत्वन्तराणामग्निष्टुसमाप्तिकानां च सर्वमेधादी-
नामुपलक्षणम् । ‘अश्वमेधावभृथे वाऽन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्’ (२२।९, १०)
इति गौतमस्मरणात् । अयं च प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य कथंचिद्ब्राह्मणप्राणत्रा-
णादिकं कुर्वतो व्रतसमाप्त्यवधिरुच्यते । यथा सारस्वते सत्रे प्लान्तं प्रस्रवणं
प्राप्योत्थानमृषभैकशतानां वा गवां सहस्रमभावे सर्वस्वदानं गृहपतिमरणे
चेति । न पुनः स्वतन्त्रं प्रायश्चित्तान्तरम् । तथाच शङ्खः—‘द्वादशे वर्षे शुद्धिं
प्राप्नोत्यन्तरा वा ब्राह्मणं मोर्चयित्वा, गवां द्वादशानां परित्राणारसद्य एवाश्व-
मेधावभृथस्नानाद्वा पूतो भवति’ इति । अत एव मनुना (११।७८ —‘कृत-
वापनो वा निवसेत्’ इति द्वादशवार्षिकस्य गुणविधिं प्रक्रम्य (११।७९)—
‘ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्वा-
हणस्य च ॥’ इत्यादिना मध्ये ब्राह्मणत्राणादिकमभिधाय (११।८१)—‘एवं
दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥’
इति द्वादशवार्षिकमेवोपसंहृतम् । ननु ब्रह्महत्यायाः शुद्धिमाप्नुयादिति ब्राह्म-
णत्राणादीनां द्वादशवार्षिकेण सहैकफलत्वावगमात्स्वातन्त्र्यमेव युक्तं न पुनर-
ङ्गत्वम्, किंच प्रधानविरोधित्वादपि नाङ्गत्वम् । प्रधानानुग्राहकं ह्यङ्गं भवति ।
नच प्रारब्धद्वादशवार्षिकस्येदं विधानम् । येन तत्कार्यं विधानं गम्यते । यथा
‘सत्रायावगूर्यं विश्वजिता यजेत’ इति सत्रप्रयोगप्रवृत्तस्य तत्परिसमापनाक्षमस्य
विश्वजिद्विधानमतोऽपि स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । यथाऽग्निप्रवेशलक्ष्यभावादीनाम् ।
नच तेषामपि द्वादशवार्षिकोपक्रमोपसंहारमध्यपठितत्वेन तदङ्गत्वमिति शङ्कनी-
यम् । यतः सत्यपि मध्यपाठे निर्ज्ञातप्रयोजनत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षाविरहाच्च पर-
स्परमङ्गाङ्गित्वं युक्तम् । यथा सामिधेनीप्रकरणमध्यवर्तिनां निर्विस्पदानामग्नि-
समिन्धनप्रकाशत्वेन सामिधेनीभिः सहैककार्याणां न सामिधेन्यङ्गत्वम् । न
चैकान्ततोऽग्निप्रवेशादीनां द्वादशवार्षिकमध्ये पाठः वसिष्ठगौतमादिभिरेषां द्वाद-
शवार्षिकप्रक्रमोपसंहारो पठितत्वात् । इदमेव स्वातन्त्र्यं प्रकटयितुं मनुना (११।
७३)—‘लक्ष्यं ज्ञस्त्रभृतां वा स्यात्’ ‘प्रास्येदात्मानमग्नौ वा’ इति प्रतिवाक्यं

१. विशुद्धयति । २. स्नात्वा शुद्धयेत् । ३. सर्वस्वजान्यां, सर्वस्व-
याऽयाभ्याम् । ४. भोजयित्वा । ५. वर्तिनामग्निविदामग्नि ।

‘वा’शब्दः पठितः । तथा प्रतिप्रायश्चित्तमेवोपसंहृतम्—‘अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मशुद्धये ॥’ (मनुः ११।८६) इति । अतोऽग्निप्रवेशादीनां स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । अतश्च ब्राह्मण-त्राणादेरप्येकफलत्वान्नाङ्गत्वमिति । उच्यते,—परिहृतमेतत् ‘अन्तरा ब्राह्मणं मोचयित्वे’त्यादिना शङ्खवचनेनाङ्गत्वावगमात् । अङ्गस्यैव सतः प्रधानद्वारेण फलसंबन्धः । न च प्रधानविरोधः यतो ब्राह्मणत्राणावधिकस्यैव व्रतानुष्ठानस्य फलसाधनत्वं विधीयत इति न विरोधः ॥ २४४ ॥

भाषा—(व्याघ्र आदि द्वारा मारे जाते हुए) किसी ब्राह्मण का प्राण बचाने, अथवा बारह गायों की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेधयज्ञ में अवश्रुत स्नान करने पर (बारह वर्ष के पहले भी) ब्रह्महत्या के दोष से शुद्ध हो जाता है ॥ २४४ ॥

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ।

दृष्ट्वा पथि निरातङ्गं कृत्वा तु ब्रह्महा शुचिः ॥ २४५ ॥

किंच, दीर्घेण बहुकालव्यापिना तीव्रेण दुःसहेनामयेन कुष्ठादिव्याधिना ग्रस्ते पीडितं ब्राह्मणं गां वा तथाविधां पथि दृष्ट्वा निरातङ्गं नीरुजं कृत्वा ब्रह्महा शुचिर्भवति । ननु ‘ब्राह्मणस्य परित्राणाद्’ (प्रा० २४४) इत्यत्र यदुक्तं ब्राह्मण-रक्षणं तदेव किमर्थं पुनरुच्यते,—‘ब्राह्मणं गामथापि वा’ इति ? सत्यमेवम् ; किंत्वात्मप्राणपरित्यागेनाधस्तनवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमधुना पुनरौषधदानादि-नेति विशेषः । अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं मनुना (११।८०)—‘विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते’ इति ॥ २४५ ॥

भाषा—बहुत दिनों से किसी दुःसह रोग से पीडित ब्राह्मण को अथवा गौ को मार्ग में देखने पर उसको नीरोग करने पर भी ब्रह्महत्या का पातकी शुद्ध हो जाता है ॥ २४५ ॥

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा ।

तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४६ ॥

किंच, विप्रस्यापहतसर्वस्वनयावसीदतः संबन्धि द्रव्यं भूहिरण्यादिकं चौरै-र्हृतं साकल्येनानीय रक्षणं यः करोति स विशुद्ध्यति । आनयने प्रवृत्तः स्वयं चौरैर्घातितो वा, यदि वा तन्निमित्तं ब्राह्मणसर्वस्वानयनार्थं तत्र युध्य-मानः शस्त्रैः क्षतो मृतकल्पो जीवन्नपि विशुद्ध्यति । ‘शस्त्रैः’ इति बहुवचनं क्षतबहुत्वप्राप्त्यर्थम् । अत एव मनुना (११।८०)—‘श्यवरं प्रतिरोद्धा वा सर्व-स्वमवजिरेय वा’ इति ‘श्यवर’ग्रहणं कृतम् । एतस्य श्लोकद्वयोक्तकल्पपञ्चकस्य

ब्राह्मणरक्षणरूपत्वेनान्तरा वा 'ब्राह्मणं मोचयित्वा' इत्यनेन शङ्खवचनेन क्रोडी-
कृतत्वाद् द्वादशवार्षिकसमाप्त्यवधिस्वेनेतरग्रहणे विनियोगाच्च स्वातन्त्र्यम् ॥ २४६ ॥

भाषा—किसी ब्राह्मण का छीना गया सभी धन अपहरणकर्ता से
(युद्ध करके) चोट ग्राकर भी छुड़ाकर छा देते हैं और उसके निमित्त शस्त्रों
से घायल होकर भी जीवित रहता है तो ब्रह्महत्या के पातक से शुद्ध हो
जाता है ॥ २४६ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः 'स्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम् ।

मज्जान्तां जुहुयाद्वाऽपि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥

'लोमभ्यः स्वाहा' इत्येवमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमज्जान्तां तनुं जुहुयात् ।
'इति'शब्दः करणत्वनिर्देशार्थः । 'एवं'शब्दः प्रकारसूचनार्थः । 'हि'शब्दः स्मृत्य-
न्तरप्रसिद्धत्वगादीनां प्रभृतिशब्देनाक्षिप्यमाणानां द्योतनार्थः । ततश्च लोमा-
दीनि होमद्रव्याणि चतुर्थ्या निर्दिश्यन्ते स्वाहाकारं पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् ।
ते च ह्यमानद्रव्याणां लोमस्वरलोहितमांसमेदःस्नायवस्थिमज्जानामष्टसंख्यत्वा-
दष्टौ मन्त्रा भवन्ति । तथा च वसिष्ठः—'ब्रह्महृद्भिमुपसमाधाय जुहुयाद्धो-
मानि मृत्योर्जुहोमि लोमाभिमृत्युं वाशय' इति प्रथमाम् । १ । 'त्वचं मृत्यो-
र्जुहोमि त्वचा मृत्युं वाशय' इति द्वितीयाम् । २ । 'लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहि-
तेन मृत्युं वाशय' इति तृतीयाम् । ३ । 'मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं
वाशय' इति चतुर्थीम् । ४ । 'मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वाशय' इति
पञ्चमीम् । ५ । 'स्नायूनि मृत्योर्जुहोमि स्नायुभिमृत्युं वाशय' इति षष्ठीम् । ६ ।
'अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थिभिमृत्युं वाशय' इति सप्तमीम् । ७ । 'मज्जां
मृत्योर्जुहोमि मज्जाभिमृत्युं वाशय' इत्यष्टमीम् । ८ ॥' इति । अत्र च लोमप्र-
भृति तनुं जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यत्वावगमाज्जोमभ्यः स्वाहेति सत्यपि
चतुर्थीनिर्देशे लोमादीनां न देवतात्वं कल्प्यते; द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होम-
साधनत्वोपपत्तेः । किंतु 'लोमभिमृत्युं वाशय' इत्यादिवसिष्ठमन्त्रपर्यालोचनया
मृत्योरेव हविःसंबन्धावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते । अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्व-
धितिनावदाय मृत्यूद्देशेनाष्टौ होमान्कृत्वाऽन्ते तनुं प्रक्षिपेत् । अतो यस्कैश्चिद्रुक्-
मनादिष्टद्रव्यत्वादाज्यहविष्का होमा इति,—तदतिरूप्यैवोक्तमित्युपेक्षणीयम् ।
जुहुयादित्यनेनाग्नौ सिद्धे भ्रूणहाग्निमुपसमाधयेति पुनरग्निग्रहणं लौकिकाग्नि-
प्राप्त्यर्थम् । युक्तं चैतत्; पतितानीनां प्रतिपत्तिविधानात्—'आहिताग्निस्तु

१. स्वाहेति हि । २. मज्जान्तम् । ३. भ्रूणहाग्निम् ४. हविष्कामो
होम इति ।

यो विप्रो महापातकभागभवेत् । प्रायश्चित्तैर्न शुद्ध्येत तदग्नीनां तु का गतिः ॥
 वैतानं प्रक्षिपेत्तोये शालाग्निं शमयेद् बुधः ॥ इत्युशनःस्मरणात् । तथा—‘महा-
 पातकसंयुक्तो देवास्यादग्निमान्यदि । पुत्रादिः पालयेदग्नीन्युक्तश्चादोषसंक्षयात् ॥
 प्रायश्चित्तं न कुर्याद्यः कुर्वन्वा त्रियते यदि । गृह्यं निवारयेच्छ्रौतमप्सवस्येत्सपरि-
 च्छदम् ॥’ इति कात्यायनस्मरणात् । तनुप्रक्षेपश्चोत्थायोत्थाय त्रिरधोमुखेन कर्त-
 व्यः । यथाह मनुः (११।७३)—‘प्रास्येदाश्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक-
 शिराः’ इति । गौतमेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (२२।१,२)—‘प्रायश्चित्तमग्नी
 सक्तिर्ब्रह्मक्षिरवच्छातस्य’ इति । अवच्छातस्य अनशनकश्चितकलेवरस्येत्यर्थः ।
 तथा च काठकश्रुतिः—‘अदशनेन कश्चितोऽग्निमारोहेत्’ इति । इदं च मरणा-
 न्तिकं प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । यथाह मध्यमाङ्गिराः—‘प्राणान्तिकं च
 यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्कामकारविषयं विज्ञेयं नात्र संशयः ॥’ इति ।
 तथा—‘यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा
 भृग्वग्निपतनादते ॥’ इति । एतच्च प्रायश्चित्तं स्वतन्त्रमेव न ब्राह्मणत्राणादिवद्
 द्वादशवार्षिकान्तर्भूतमित्युक्तं प्राक् ॥ २४७ ॥

भाषा—अथवा ‘लोमभ्यः स्वाहा’ आदि मन्त्र से क्रमशः लोम से लेकर
 मज्जा तक (लोम, त्वचा, रक्त, मांस, मेदस्, स्नायु, अस्थि, मज्जा) अपने
 शरीर का होम करे (तो ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है) ॥ २४७ ॥

संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।

मृतकल्पः प्रहारातो जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४८ ॥

किंच, अथवा संग्रामे युद्धभूमावुभयबलप्रेरितशरसंपातस्थाने लक्ष्यभूतो
 मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् । गाढमर्मप्रहारजनिततीव्रवेदनो मृतकल्पो मूर्च्छितो
 जीवन्नपि विशुद्ध्यति । लक्ष्यभावश्च प्रायश्चित्तो भयमित्येवं विदुषां धनु-
 र्विद्याविदां संग्रामे स्वेच्छया कर्तव्यो न तु राज्ञा बलात्कारयितव्यः । यथाह
 मनुः (११।१७)—‘लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः’ इति । इदं
 च मरणान्तिकत्वात्साक्षात्कर्तुः क्षत्रियस्य कामकारविषयम् । ‘अपि’शब्दादश्वमे-
 धादिनाऽपि विशुद्ध्यति । यथाह मनुः (११।७४)—‘यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता
 गोसवेन च । अभजिद्विश्वजिद्धयां वा त्रिवृताऽग्निष्टुताऽपि वा ॥’ इति । अश्वमेधा-
 नुष्ठानं सार्वभौमक्षत्रियस्यैव ।—‘यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियस्तु महीपतिः’ इति
 पराशरस्मरणात्, ‘नासार्वभौमो यजेत’ इत्यसार्वभौमस्य प्रतिषेधदर्शनाच्च । इदं
 चाश्वमेधानुष्ठानं सार्वभौमस्य कामकारकृते मरणान्तिकस्थाने द्रष्टव्यम् ; ‘महा-
 पातककर्तारश्चत्वारो मतिपूर्वकम् । अग्निं प्रविश्य शुद्ध्यन्ति स्थित्वा वा महति

क्रतौ ॥' इति यमेन मरणकालाग्निप्रवेशतुल्यतया महाक्रतोश्चमेषस्य निर्दिष्ट-
त्वात् । स्वर्जितादयश्च त्रैवर्णिकस्याहिताग्नेरिष्टप्रथमयज्ञस्य द्वादशवार्षिकेण सह
विकल्पन्ते । नच स्वर्जिताद्यर्थमाधानं प्रथमयज्ञानुष्ठानं वा कार्यम् ; पतितस्य
द्विजातिकर्मस्वनधिकारात् । नच संध्योपासनवदविरोध इति युक्तम् ; आधा-
नादेरुत्तरक्रतुशेषत्वाभावात् । ते च दक्षिणान्यूनाधिक्याश्रयणेन द्वादशवार्षिका-
द्यर्हेषु साक्षाद्वन्त्रादिषु व्यवस्थापनीयाः ॥ २४८ ॥

भाषा—अथवा युद्ध भूमि में (दोनों पक्षों से बाण चलते रहने पर
बीच में खड़ा होकर) बाणों का लचर होकर मर जाने पर शुद्ध होता है;
कठिन प्रहार की वेदना से घायल होकर जीवित रहने पर भी वह ब्रह्महत्या
के पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २४८ ॥

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिवै वेदस्य संहिताम् ।

शुद्ध्येत वा मिताशित्वात्प्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच, अरण्ये निर्जनप्रदेशे नियतो नियताहारः—'जपेद्वा नियताहारः'
(११।७७) इति मनुस्मरणात् । त्रिवारं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं जपित्वा
शुद्ध्यति । 'संहिता'प्रहणं पदकमव्युदासार्थम् । यद्वा मिताशनो भूत्वा प्लाक्षात्
प्रस्रवणादारभ्य पश्चिमोदधेः प्रतिस्त्रोतः स्त्रोतःस्त्रोतः प्रति सरस्वतीं इत्वा गत्वा
विशुद्ध्यति । अशनं च हविष्येण कार्यम्—'हविष्यभुग्वाऽनुचरेत्प्रतिस्त्रोतः सर-
स्वतीम्' (११।७७) इति मनुस्मरणात् । अयं च वेदजपो विदुषो हन्तुर्निर्ध-
नस्यात्यन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादने प्रमादकृते द्रष्टव्यः । सरस्वतीगमनं तु तादृश
एव विषये विद्याविरहिणो द्रष्टव्यम् । निमित्तनश्च—'तिरस्कृतो यदा विप्रो
निर्गुणो त्रियते यदि' इति सुमन्तुवचनस्य दर्शितत्वात् । यत्पुनर्मनुवचनम्
(११।७५)—'जपित्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्' इति तदपि 'अरण्ये
नियतो जप्त्वा' इत्येतस्यैव विषयेऽशक्तस्य द्रष्टव्यम् ॥ २४९ ॥

भाषा—निर्जन स्थान में परिमित भोजन करता हुआ तीन बार सम्पूर्ण
वेदों की संहिता का जप करने पर अथवा अल्पाहार करते हुए सरस्वती
नदी के किनारे-किनारे पश्चिम समुद्र तक जाने पर शुद्ध होता है ॥ २४९ ॥

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ।

आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिवैश्वानरी स्मृता ॥ २५० ॥

किंच, 'न विद्याया केवलया' (भा० २००) इत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभू-
हिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं धनं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् । तद्धनं यः प्रति-

१. द्वादशवार्षिकषड्वार्षिकत्रैवार्षिकादिषु साक्षाद्वन्त्रादिषु । २. शुध्य-
त्यथ मिताग्नी वा ।

गृह्णाति तस्य वैश्वानरदैवत्येष्टिः शुद्धयर्थं कर्तव्या ।—एतच्चाहिताग्निविषयम् । अनाहिताग्नेस्तु तद्दैवत्यश्चरुर्भवति; य एवाहिताग्नेर्धर्मः स एवौपासनिकस्येति गृह्यकारवचनात् । ‘वा’शब्दात् सर्वस्वं सपरिच्छदं वा गृहं दद्यात् । यथाह मनुः (११।७६)—‘सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥’ इति । इदं च पात्रे धनदानं निर्गुणस्य धनवतो हन्तु-
 निर्गुणव्यापादने द्रष्टव्यम् । तत्रैव विषये अविद्यमानान्वयस्य सर्वस्वदानं सान्व-
 यस्य तु सोपस्करगृहदानमिति व्यवस्था । यदपि पराशरेणोक्तम्—‘चातुर्विद्योप-
 पन्नस्तु विधिवद् ब्रह्मघातके । समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ सेतुबन्ध-
 पथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यासमाहरेत् । वर्जयित्वा विकर्मस्थान्कृत्रोपानद्विवर्जितः ॥
 अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः । गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थं ब्रह्मघातकः ॥
 गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च । तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्त्रवणेषु च ॥ एतेषु
 क्वाप्येदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् । ब्रह्महासपि प्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन्महो-
 दधौ ॥ ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि
 पूतारमा प्रविशेद् गृहम् ॥ गवां वाऽपि शतं दद्याच्चातुर्विधाय दक्षिणाम् । एवं
 शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः ॥’ इति ।—तदपि ‘पात्रे धनं वा पर्याप्तम्’
 इत्यनेन समानविषयम् । यच्च सुमन्तुवचनम्—‘ब्रह्महा संवत्सरे कृच्छ्रं चरेदधः-
 शायी त्रिषवणी कर्मावेदको भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्त्रवण-
 तपोवनविहारी स्यात् स्थानवीरासनी संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोधान्यतिलभूमि-
 सर्षपि ब्राह्मणेभ्यो ददन्पूतो भवति’ इति तदपि हन्तुर्मुखस्य धनवतो जातिमात्र-
 व्यापादने द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—‘द्वादशरात्रमभक्तो द्वादशरात्र-
 सुपवसेत्’ इति तन्मनसाऽध्यवसितब्रह्महत्यास्य स्वत एवोपरतजिघांसस्य वेदित-
 व्यम् । यत्पुनः—‘षण्ठं तु ब्राह्मणं हत्वा शूद्रहत्याघतं चरेत् । चान्द्रायणं च
 कुर्वीत पराकट्यमेव च ॥’ इति षट्त्रिंशन्मतवचनं तदप्रत्यानेयपुंस्त्वस्य सप्रत्यय-
 वधे द्रष्टव्यम् । अत्रैव विषये अप्रत्ययवधे बृहस्पतिराह—‘अरुगायाः सरस्वत्याः
 संगमे लोकविश्रुते । शुद्धयेत्त्रिषवणस्नायी त्रिरात्रोपोषितो द्विजः ॥’ इति ।
 एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्यन्विष्य विषमाणां व्यवस्था विज्ञेया । समानां तु
 विकल्पः । एतानि च द्वादशवार्षिकादिधनदानपर्यन्तानि ब्राह्मणस्यैव । क्षत्रिया-
 देस्तु द्विगुणादिकम् । यथाहाङ्गिराः—‘पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा
 मता । दैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥’ इति । एवं च ब्राह्म-
 णानां येन हन्तृहन्त्यमानगतगुणविशेषेण यः प्रायश्चित्तविशेषो व्यवस्थितः स एव
 तद्गुणविशिष्टे क्षत्रियादौ हन्तरि द्विगुणस्त्रिगुणो वेदितव्यः । अनयैव दिशा
 क्षत्रियवैश्यादावपि हीनेनोत्कृष्टवधे दोषगौरवाः प्रायश्चित्तस्यापि द्वैगुण्यादि कल्प-

नीयम् । दोषगौरवं च दण्डगौरवादवगम्यते । यथोक्तम्—‘प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोभ्येन तस्मादधार्धहानितः ॥’ इति । यत्तु चतुर्विंशतिमतवचनम्—‘प्रायश्चित्तं यदाग्नात् ब्राह्मणस्य महर्षिभिः । पादोन क्षत्रियः कुर्यादधर्धं वैश्यः समाचरेत् ॥ शूद्रः समाचरेत्पादमशेषेष्वपि पाप्मसु ॥’ इति,—तत्प्रतिलोमानुष्ठितचतुर्विंशसाहसव्यतिरिक्तविषयम् । तथा मूर्धावसिक्तादीनामप्यनुलोमोत्पन्नानां दण्डवत्प्रायश्चित्तमूहनीयम् । दर्शितं दण्डतारतम्यम्—‘दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः’ इति । ततश्च मूर्धावसिक्तस्य ब्राह्मणवधे ब्राह्मणादतिरिक्तं क्षत्रियान्मयूनमध्यर्धं द्वादशवार्षिकं भवति । अनयैव दिशा प्रतिलोमोत्पन्नानामपि प्रायश्चित्तगौरवमूहनीयम् । तथा आश्रमिणामपि अङ्गिरसा विशेषो दर्शितः—‘गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि । शौचवच्छोधनं कुर्युरर्वाग्रहानिदर्शनात् ॥’ इति शौचवदिति—‘एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥’ (मनुः-५।१३७) इति वचनाद्यथा ब्रह्मचार्यादीनां शौचं द्वैगुण्यादिक्रमेण वर्धते, तथा शोधनं प्रायश्चित्तमपि भवतीत्यर्थः । ब्रह्मचारिणस्तु प्रायश्चित्तद्वैगुण्यं षोडशवर्षादूर्ध्वमेव । अर्वाङ्क्तु पुनः ‘बालो वाप्यूनषोडशः; प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति’ इति षोडशवर्षादर्वाचीनस्यार्धप्रायश्चित्ताभिधानात् । नच द्वादशवार्षिके चतुर्गुणे क्रियमाणे मध्ये विपत्तिशङ्कया समाप्यनुपपत्तेः प्रवृत्तिरेव नोपपद्यत इति शङ्कनीयम् । यतः प्रकान्तप्रायश्चित्तस्य मध्ये विपत्तावपि पापक्षयो भवत्येव । यथाह हारीतः—‘प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्ता यदि विपद्यते । पूतस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च ॥’ इति । व्यासोऽप्याह—‘धर्मार्थं यतमानस्तु न चेच्छक्नोति मानवः । प्राप्नो भवति तत्पुण्यमत्र वै नास्ति संशयः ॥’ इति ॥ २५० ॥

भाषा—अथवा पात्र (योग्य) व्यक्ति को गौ, भूमि और सोना आदि पर्याप्त धन देने पर ब्रह्महत्या का पापी शुद्ध होता है और दान लेने वाले की शुद्धि के लिये वैश्वानरी इष्टि करने का विधान है ॥ २५० ॥

अधुना निमित्तान्तरेषु ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्यातिदेशमाह—

यागस्थक्षत्रविड्याती चरेद् ब्रह्महणि व्रतम् ।

गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिषूदकः ॥ २५१ ॥

दीक्षणीयाद्युदवसानायापर्यन्ते सोमयागप्रयोगे वर्तमानौ क्षत्रियवैश्यौ यो व्यापादयति असौ ब्रह्महणि पुरुषे यद्ब्रह्महत्याव्रतमुपदिष्टं द्वादशवार्षिकादि तच्चरेत् । यद्यपि ‘याग’शब्दः सामान्यवचनस्तथाऽप्यत्र सोमयागमभिधत्ते । ‘सवनगतौ च राजन्यवैश्यौ’ इति वसिष्ठेन सवनत्रयसंपादनस्य सोमयागस्यैव निर्दिष्टत्वात् । अत्र च गुरुलघुभूतानां द्वादशवार्षिकाविब्रह्महत्याव्रतानां जातिश-

क्षिगुणाद्यपेक्षया प्रागुक्तवद् व्यवस्था वेदितव्या । एवं गर्भवधादिवपि । मरणान्तिकं तु नातिदिश्यते; व्रतग्रहणात् । अतः कामतो यागस्थक्षत्रियादिवधे व्रतस्यैव द्वैगुण्यम् । एतच्च व्रतं संपूर्णमेव कर्तव्यम्,—‘पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा’ (धर्म. १।२४, ६, ५) इति प्रकस्यापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकाभिधानात् । गर्भं च विज्ञासु संभूतं हत्वा यथावर्णं यद्वर्णपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्वर्णगर्भवधे तच्चरेत् । एतच्चानुपजातस्त्रीपुंसकव्यञ्जनगर्भविषयम्; ‘हत्वा गर्भमविज्ञातम्’ (११।८७) इति मानवे विशेषदर्शनात् । अत्र च यद्यपि ब्राह्मणगर्भस्य ब्राह्मणत्वादेव तद्वधनिमित्तव्रतप्राप्तिस्तथाऽपि स्त्रीत्वस्यापि संभवात्—‘स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध-’ (प्रा० २३६) इत्युपपातकत्वेन तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यात्, अतः स्त्रीपुंसकत्वेनाविज्ञातेऽपि ब्राह्मणगर्भवत्त्वमात्रप्रयुक्तं ‘ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्’ इत्यर्थवदतिदेशवचनम् । उपजाते स्त्रीपुंसादिविशेषव्यञ्जने यथायथमेव प्रायश्चित्तम् । यश्चात्रेया निषूदको व्यापादकः सोऽपि तथा व्रतं चरेत् । हन्यमानात्रेयीवर्णानुरूपं व्रतं चरेदित्यर्थः । ‘आत्रेयी’शब्देनर्तुमत्युच्यते ‘रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुर्धृत्र ह्येतदपर्यं भवति’ इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्रिगोत्रजा च ।—‘अत्रिगोत्रां वा नारीम्’ (५०।९) इति विष्णुस्मरणात् । एतदुक्तं भवति—ब्राह्मणगर्भवधे ब्राह्मण्यात्रेयीवधे च ब्रह्महत्याव्रतम् । क्षत्रियगर्भवधे क्षत्रियात्रेयीवधे च क्षत्रहत्याव्रतम्, एवमन्यत्रापीति । ‘च’शब्दात्साक्ष्ये अनृतवचनादिवपि । तथाह मनुः (११।८८)—‘उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा । अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रासुहृद्वधम् ॥’ इति । यत्र व्यवहारे असत्यवचनेन प्राणिनां वधप्राप्तिस्तद्विषयमेतत्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । प्रतिरोधः क्रोधावेशः । निक्षेपश्च ब्राह्मणसंबन्धी । स्त्री चाहिताग्निभार्या पतिव्रतात्वादिगुणयुक्तोच्यते सवनस्था च । यथाहाङ्गिराः—‘आहिताग्नेर्द्विजाग्रथस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥’ इति । ‘सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥’ इति पराशरस्मरणात् । एवं च सवनस्याग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशात्तद्व्यतिरिक्तस्त्रीवधस्य ‘स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध-’ (प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्यपाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु ‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ इत्यत्र निषेधेऽनुपादेयगतत्वेन लिङ्गवचनयोरविवक्षितत्वाद् ब्राह्मणजातेश्च स्त्रीपुंसयोरविशेषात्तदतिक्रमनिमित्तप्रायश्चित्तविधेः—‘ब्रह्महा द्वादशाब्दानि’ (प्रा० २४३) इत्यस्योभयत्र प्राप्तत्वात्किमर्थं ‘तथात्रेयीनिषूदक’ इत्यतिदेशवचनम् ? उच्यते,—सत्यपि ब्राह्मणत्वेऽनात्रेय्या वधस्य च महापातकप्रायश्चित्तनिराकरणार्थव्रतस्तस्यापि पातकमध्यपाठादुपपातकप्रायश्चित्तमेव । आतिदेशिकेषु च प्रायश्चित्तस्यैवातिदेशो न पातित्यस्य । अतः पतितत्यागादिकार्यमेव न भवति ॥ २५१ ॥

भाषा—यज्ञ में (दीक्षणीया और उदयनीया पर्यन्त सोमयाग में वर्तमान) क्षत्रिय और वैश्य की हत्या करने वाला ब्रह्महत्या वाला व्रत करे; गर्भपात कराने वाले और रजस्वला स्त्री की हत्या करने वाला वर्ण के अनुसार (जिस वर्ण का गर्भ या स्त्री हो) हत्या का प्रायश्चित्त करे ॥ २५१ ॥

चरेद् व्रतमहत्वाऽपि घातार्थं चेत्समागतः ।

द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

किंच, यथावर्णमित्यनुवर्तते; ब्राह्मणादिहने कृतनिश्चयस्तद्ब्यापादनार्थं सम्यगागत्य शस्त्रादिप्रहारे कृते कथंचित्प्रतिबन्धवशादसौ न मृतस्तदा अहत्वाऽपि यथावर्णं ब्रह्महत्यादि व्रतं चरेत् । तथा च गौतमः (२२।१।१) - 'सृष्ट्येद् ब्राह्मणवधे अहत्वाऽपि' इति । ननु हने तद्भावे चैकप्रायश्चित्ता न युक्ता-सत्यम् ; अत एवौपदेशिकेभ्यो न्यूनत्वादातिदेशिकानां पादोनान्येव ब्रह्महत्यादिव्रतानि द्वाद-शवार्षिकादीनि भवन्ति । एवञ्च प्रपञ्चितं प्राक् । किंच, यस्तु सवनसंपाद्यं सोम-यागमनुतिष्ठन्तं ब्राह्मणं व्यापादयति तस्मिन्द्वादशवार्षिकादिव्रतं द्विगुणं समा-दिशेत् । तेषां च व्रतानां गुरुलघुभूतानां जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया सत्यपि सव-नस्थत्वस्याविशेषे पूर्ववदेव व्यवस्थाऽवगन्तव्या । ब्रह्महत्यासमानां तु गुर्व-धिष्तेपादीनामातिदेशिकेभ्योऽपि न्यूनत्वादर्थेन द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तमि-त्युक्तम् ॥ २५२ ॥

भाषा—वध करने के लिए आकर (किसी कारणवश) वध न होने पर भी (वर्ण के अनुसार ब्रह्महत्या आदि का) व्रत करे । सोमयाग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण को मारने पर दूना (दोहरा चौबीस वर्ष का) व्रत करे ॥ २५२ ॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तं प्रक्रमते—

सुराऽम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ।

सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिं मृच्छति ॥ २५३ ॥

सुरादीनां मध्येऽन्यतममग्निसंनिभं क्वाधापादिताम्रिस्पर्शदाहशक्तिकं कृत्वा पीत्वा सुरापो मरणाच्छुद्धिं प्राप्नोति । गोमूत्रसाहचर्याद्भव्ये एव घृतपयसी ग्राह्ये । घृतपयःसाहचर्याच्च स्नैगमेव गोमूत्रम् । एतच्चाद्र्द्रवाससा कार्यम् । 'सुराप आर्द्रवाससाश्च अग्निवर्णा सुरां पिबेत्' इति पैठीनसिस्मरणात् । तथा—'लौहेन पात्रेण सुरापोऽग्निवर्णा सुरामायसेन पात्रेण ताम्रेण वा पिबेत्'

३. माप्नुयात् ।

इति प्रचेतःस्मरणात् । एतच्च सकृत्पानमात्रे; 'सुरापानं सकृत्कृत्वाऽप्यभिवर्णां सुरां पिबेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'अभ्यासे तु सुरायाश्च अभिवर्णां पिबेद् द्विजः' इति,—तत्सुराव्यतिरिक्तमद्यपानविषयम् । एतच्च कामकारविषयम् ; 'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत् । सुखे तथा विनिर्दग्धे मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । यत्तु 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्' (११।९०) इति मनुना मोहग्रहणं कृतं, तच्छास्त्रार्थापरिज्ञानाभिप्रायेण । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं 'सुरा'शब्दो मद्यमात्रे रूढ उत तिसृष्वेव गौडीमाध्वीपैष्टीष्वाहोस्वित्पैष्टयामेवेति । तत्र केचिन्मद्यमात्रे रूढ इति वर्णयन्ति; 'अभ्यासे तु सुरायाः' (२०।२२) इति वासिष्ठे पैष्टयादित्रयव्यतिरिक्तेऽपि मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगदर्शनात् । न चासौ गौणः प्रयोग इति शङ्कनीयम् । मदजननशक्तिमत्त्वोपाधिकतया सर्वत्र मुख्यत्वोपपत्तौ गौणत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति,—तदयुक्तम् ; 'पानसं द्राक्षं माधूकं खार्जूरं तालमैश्वरम् । मधूथं सैरमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम् ॥ समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु । द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥' इति पुलस्त्येन मद्यविशेषत्वेन सुराया निर्दिष्टत्वात् । अतश्च मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगो गौणः । अन्ये पुनः पैष्टयादिषु तिसृषु 'सुरा'शब्दस्य रूढिं मन्यन्ते । तथा हि—यद्यप्यनेकत्र सुराशब्दप्रयोगो दृश्यते तथाऽपि कुत्रानादित्वमिति संदेहे—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' (११।९४) इति मनुवचनाद्गुडमधुपिष्टविकारेष्वनादित्वनिर्धारणात्तत्रैव मुख्यत्वं युक्तम् । नचानेकत्र शक्तिरूपना दोषः; मदशक्तेरुपाधित्वाश्रयणेन तस्य सुपरिहरत्वात् । नच तालादिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादतिप्रसङ्गः; पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढत्वाश्रयणात् । अतश्च—'यथेवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः' (मनुः ११।९४) इति तिसृणां सुराणां समानदोषत्वप्रतिपादनपरं न पुनरनयोर्गौडीमाध्वयोः पैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । 'द्विजोत्तम'ग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम्,—एतदप्ययुक्तम् ; 'द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्' इति पुलस्त्यवचने गौडीमाध्वीभ्यामपि सुरामद्यैस्यातिरेकदर्शनात् । तथा—'सुरा वै मलमज्ञानां पाप्मा च मलमुच्यते' (मनुः ११।९३) इति । अन्नविकारस्यैव सुरात्वनिर्देशादन्नशब्दस्य च 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इत्यादिषु व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनाद् गुडमधुनोश्च रसरूपत्वात्तथा सौत्रामणिग्रहेषु चान्नविकारे एव 'सुरा'शब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्टयेव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौणः; यत्तूक्तम्—'गौडी माध्वी' इति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौपत्तिकत्वनिर्धारणेति,—तदप्ययुक्तम् ; यतो नेदं शब्दानुशासनवच्छब्दार्थसंबन्धानादित्वप्रतिपादनपरं,

किंतु कार्यप्रतिपादनपरम् । अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्योगौणः
 'सुरा'शब्दयोगः । 'एवं च नानेकशक्तिकल्पनादोषो नाप्युपाध्याश्रयणं कृतम् ।
 न चात्र 'द्विजोत्तम'ग्रहणस्योपलक्षणत्वम् । अतश्च—'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा
 च मलमुच्यते । तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥' (मनुः
 ११।९३) इति पैष्ट्या एव वर्णत्रयसंबन्धित्वेन निषेधः । गौड्यादीनां तु
 मद्यानां ब्राह्मणसंबन्धित्वेनैव निषेधः, न क्षत्रियवैश्ययोः; 'यक्षरक्षःपिशाचाजं
 मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥' (११।
 ९५) इति मानवे ब्राह्मणेनेति विशेषोपादानात् । बृहद्विष्णुनाऽपि ब्राह्मणस्यैव
 मद्यप्रतिषेधो दर्शितः—'माधूकमैक्ष्वं सैरं तालं खार्जूरपानसम् । मधूत्थं चैव
 माध्वीकं मैरेयं नालिकेरजम् ॥ अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ॥'
 इति ॥ बृहद्याज्ञवल्क्येनापि क्षत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो दर्शितः—'कामादपि हि
 राजन्यो वैश्यो वाऽपि कथंचन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥'
 इति । व्यासेनापि तयोर्मध्वीपानमनुज्ञातम्—'उभौ मध्वासवचीबाहुभौ
 चन्दनचर्चितौ । एकपर्यङ्करथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ ॥' इति । एवं ब्राह्मण-
 संबन्धित्वेन मद्यमात्रनिषेधे सत्यपि—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया
 त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥' (मनुः ११।
 ९४) इति गौडीमाध्योः पृथङ्निषेधवचनं दोषगुरुत्वेन सुरासमत्वप्रतिपाद-
 नपरम् । अयं च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानूढायाश्च कन्याया भवत्येव; 'तस्माद्
 ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' (मनुः ११।९३)—इति जातिमा-
 त्रावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' (११।९०) इति
 प्रायश्चित्तविधिवाक्ये मनुना यद्द्विजग्रहणं कृतं तद्गर्णत्रयोपलक्षणार्थम् ; निमि-
 त्तभूतनिषेधसापेक्षत्वाच्चैमित्तिकविधेर्निषेधे च वर्णमात्रस्यावच्छेदकत्वात् । यथा
 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति' इति निमित्तवाक्ये हविर्मात्राभ्यु-
 दयस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये श्रूयमाणमपि 'त्रेधा तन्दुला-
 न्विभजेत्' इति तन्दुलग्रहणं तन्दुलादिरूपहविर्मात्रोपलक्षणम् । इयांस्तु विशेषः—
 'पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः' इति वचनात्कामकारेऽपि न मर-
 णान्तिकं किंतु पादमेव द्विगुणीकृत्य षड्वार्षिकं देयम् ; 'विहितं यदकामानां
 कामात्तद्द्विगुणं चरेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । एवं वृद्धातुरादिष्वपि योज्यम् ।
 तथा 'तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः' (मनुः ११।९५)—इति
 मद्यस्यापि जातिमात्रावच्छेदेन निषिद्धत्वादनुपनीतेनापि न पेयम् । ननु कथ-
 मनुपनीतस्य दोषः ? 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' (२।१) इति

गौतमवचनात्, तथा—‘मद्यमूत्रपुरीषाणां भक्षणे नास्ति कश्चन । दोषस्त्वाऽऽपञ्च-
माद्वर्षादूर्ध्वं पित्रोः सुहृद्गुरोः ॥’ इति कुमारवचनाच्च दोषाभावावगतेः ।
उच्यते,—सुरामद्योर्निषेधवाक्ये जातिमात्रत्वावच्छेदकत्वश्रवणादप्रतिहतैव नि-
षेधप्रवृत्तिः । अत एव स्मृत्यन्तरे निषेधवचनम्—‘सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय
इति स्थितिः’ इति । अतः ‘पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः’ इति ।
‘सर्वपापेषु सुरापानादिष्वपि’ इति वचनात्पाद एव सुरापाने प्रायश्चित्तम् । तथा
जातूक्त्येन मद्यपानेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्—‘अनुपेतस्तु यो बालो मद्यं मोहा-
त्पिबेद्यदि । तस्य कृच्छ्रत्रयं कुर्यान्माता भ्राता तथा पिता ॥’ इति । अतो
गौतमवचनं सुरादिष्वतिरिक्तशुक्तपर्युपितादिविषयम् । कुमारवचनं तु स्वल्प-
दोषस्यापनपरम् । अत एव प्रागुपनयनात्कृतदोषस्योपनयनमेव प्रायश्चित्तमित्युक्तं
मनुना (२।२७)—‘गार्भेर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं
चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥’ इति । अयमत्रार्थः—त्रैवर्णिकानामुत्पत्तिप्रभृति पैष्टी-
प्रतिषेधः । ब्राह्मणस्य मद्यमात्रनिषेधोऽप्युत्पत्तिप्रभृत्येव । राजन्यवैश्ययोस्तु
न कदाचिदपि गौडयादिमद्यप्रतिषेधः । शूद्रस्य न सुराप्रतिषेधो नापि
मद्यप्रतिषेधः ॥ २५३ ॥

भाषा—सुरा पीने वाला महापातकी सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और
दूध में किसी एक को खूब खौलाकर पीए और उससे उसकी मृत्यु हो
जाय तब वह शुद्ध होता है ॥ २५३ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

वालवासा जटी वाऽपि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।

पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्त्रिसमा निशि ॥ २५४ ॥

गोछागादिलोमनिर्मितवस्त्रप्रावृत्तो वालवासाः, ‘वालवासो’ग्रहणं चीरवल्क-
लयोरुपलक्षणांर्थम् ; ‘सुरापगुरुतरुपगौ चीरवल्कलवाससौ ब्रह्महत्याव्रतं चरेया-
ताम्’ इति प्रचेतःस्मरणात् । ‘जटि’ग्रहणं मुण्डित्वनिराकरणार्थम् । ‘ब्रह्म-
हत्याव्रतं चरेत्’ इत्यनेनैव सिद्धे यद्वालवसनादिग्रहणं तदन्यत्र संभवि स्वयं
मारितशिरःकपालादिनिवृत्त्यर्थम् । इदमकामतो जलबुद्धया यः सुरां पिबति
तद्विषयम् ; ‘इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्’ (मनुः १।१।८९)—
इत्यकामोपाधिस्त्वेन विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अत्र च सुरा-
पानस्य महापातकत्वात्स्यप्यातिदेशिकत्वे संपूर्णमेव द्वादशवार्षिकं कुर्यान्न पादो-
नम् । अत एव वृद्धहारीतः—‘द्वादशभिर्वर्षैर्महापातकिनः पूयन्ते’ इति ।

१. चरेद् ब्रह्महणि व्रतम् । २. भक्षयेत्तु समां निशि । ३. संभवे श्रूय-
माणस्वसंबन्धि स्वयम् ।

अथवा पिण्याकं पिण्डितं त्रिसमा वर्षत्रयपर्यन्तं रात्रौ भक्षयेत् । कणा-
स्तन्दुलैलवास्तान्वा पूर्ववज्जघ्नेत् ।-एतच्च सकृदेव कार्यम् ; 'कणान्वा भक्ष-
येद्वदं पिण्याकं वा सकृद्विशि' (११।९२) इति मनुस्मरणात् । अस्य च पिण्या-
कादिभक्षणस्य भोजनकार्ये विहितत्वादशनान्तरपरित्यागः । एतच्चोदकबुद्ध्या सुरा-
पाने छर्दनोत्तरकाले वेदितव्यम् ; 'एतदेव व्रतं कुर्यान्मद्यपच्छर्दने कृते । पञ्चगव्यं
च तस्योक्तं प्रत्यहं कायशोधनम् ॥' इति व्यासवचनात् । नच सुरासंसृष्टेषदु-
पलभ्यमानतद्गन्धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । संसर्गेऽपि सुरास्वस्था-
नपायात् । यथाऽऽज्यस्वस्य पृषदाज्ये । अत एव 'आज्यपा इति निगमाः कार्याः
न पृषदाज्यपाः' इत्येवमुक्तं न्यायविद्भिः । यत्पुनरापस्तम्बवचनम् (१।२५)—
'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारान्गत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा चतुर्थं कालं मित-
भोजनोऽभ्युपेयास्सवनानुकरूपं स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिभिर्वर्षैः पापं व्यपनुदति'
इति । यत्तन्निरोधवचनम्—'महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुद्ध्यन्ति ते त्रिभिः' इति,
तदुभयमपि 'पिण्याकं वा कणान्वा' इत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्वय-
मुक्तम्—'बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः । समत्वं ब्राह्मणैर्गच्छेदित्येषा
वैदिकी श्रुतिः ॥ भूमिप्रदानं यः कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तमः । पुनर्न च
पिबेत्तां तु संस्कृतः स विशुद्ध्यति ॥' इति,—तदुभयमपि पूर्वेण सहैकविषयम् ।
यद्वा अतिरिक्तदक्षिणाकल्पश्रयणाद् द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पते । अत्रापि
बालवृद्धादीनां सार्धैकवर्षीयमनुपनीतानां तु नवमासिकमित्येवं कल्पना कार्या ।
यत्तु मनुवचनम् (११।९२)—'कणान्वा भक्षयेद्वदं पिण्याकं वा सकृद्विशि ।
सुरापानाप्रनुत्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥' इति,—तत्तल्लुमात्रसंयोगे सुराया
अबुद्धिपूर्वं द्रष्टव्यम् । ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरणं पानमित्युच्यते । अभ्यव-
हरणं च कण्ठाद्धोनयनं न तात्त्वादिसंयोगमात्रं, अतः कथं तत्र पाननिमित्तं
प्रायश्चित्तम् ? उच्यते—येन तात्त्वादिसंयोगेन विना पानक्रिया न निर्वर्तते
सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धः । अतो यद्यपि मुख्यपानाभावाच्च महा-
पातकत्वं तथापि तत्प्रतिषेधेन तदङ्गभूताभ्यभिचारितात्वादिसंयोगस्यापि प्रति-
षिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवत्येव प्रायश्चित्तम् ।—'चरेद् व्रतमहत्वाऽपि चातार्थं
चेत्समागतः' इति । यथा हननप्रतिषेधेन तदङ्गभूताभ्यवसायादेरपि प्रति-
षिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बौधायनीयम्—'त्रैमासिकममत्या सुरापाने
कृच्छ्रावदपादं चरित्वा पुनरुपनयनम्' इति; यच्च याज्यम्—'सुरां पीत्वा द्विजं
हत्वा रुक्मं हत्वा द्विजन्मनः । संयोगं पतितैर्गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥'
इति; यदपि बार्हस्पत्यम्—'गौर्द्वी माध्वी सुरां पैष्टी पीत्वा विप्रः समाचरेत् ।

१. पिण्याकपिण्डान् । २. तन्दुलाणवस्तान्वा ।

तत्कृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुकृमात् ॥' इति,—तत्रितयमप्यनन्यौपधसाध्य-
व्याध्युपशमार्थं पाने त्रेदितव्यम् ; प्रायश्चित्तस्याल्पत्वात् । यदा तु सुरासंसृष्टं
शुष्करसमेवात्र भक्षयति तदा पुनरुपनयनम् । यथाह मनुः (१११५०)—
'अज्ञानात्प्राश्य विष्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा
द्विजातयः ॥' इति । यदा च शुष्कसुराभाण्डस्थोदकं पिबति तदा शातातपोक्तं
कुर्यात्—'सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्च' इति । यत्तु
बौधायनीयम् (२।१।२१)—'सुरापानस्य यो भाण्डेष्वापः पर्युषिताः पिबेत् । शङ्ख-
पुष्पीविपक्तं तु क्षीरं सर्पिः पिबेत्त्यहम् ॥' इति,—तत्पर्युषितत्वादधिकम् । अकाम-
तोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् (१११४७)—'अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्ड-
स्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥' इति; यत्तु विष्णूक्तम्
(५२।२३)—'अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेत्'
इति,—तन्मतिपूर्वकपाने । ज्ञानतोऽभ्यासे तु बृहद्यम आह—'सुराभाण्डे स्थितं
तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । स द्वादशाहं क्षीरेण पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति ।
सुरापस्य मुखगन्धघ्राणे तु मानवम् (१११४९)—'ब्राह्मणस्तु सुरापस्य
गन्धमाघ्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति,—
तत्सोमयाजिन एवामतिपूर्वं; मतिपूर्वं तु द्विगुणम् । अपीतसोमस्य तु कल्प्यम् ;
साक्षात्सुरागन्धघ्राणस्य तु 'घ्रातिरग्रेयमद्ययोः' इति जातिभ्रंशकरत्वात्—'जाति-
भ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥'
(१११२४) इति मनुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—अथवा बकरा आदि के बाल से बना हुआ वस्त्र धारण कर
एवं जटा रख के ब्रह्महत्या के लिए विहित व्रत करे । अथवा तीन वर्ष तक
केवल रात्रि को पिण्याक (पिण्डी) या कण का भोजन करे ॥ २५४ ॥

पुनः मुख्यसुरापाने प्रायश्चित्तमुक्त्वा मद्यपाने प्रायश्चित्तमाह—

अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा रेतो विष्मूत्रमेव च ।

पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २५५ ॥

यः पुनरज्ञानादुदकबुद्ध्या सुरां मद्यं ब्राह्मणः पिबति, ये च ब्राह्मणादयो
रेतो विष्मूत्राणि प्राशनन्ति, ते त्रयोऽपि द्विजातयो वर्णास्तत्कृच्छ्रपूर्वकं पुनरुप-
नयनं प्रायश्चित्तमर्हन्ति । अत्र मद्यपाने योऽयं पुनः संस्कारः स ब्राह्मणस्यैव;
क्षत्रियविशोस्तदभ्यनुज्ञानस्य दर्शितत्वात् । 'सुरा'शब्दश्चात्र मद्यपरः; प्रायश्चित्त-
स्यातिलघुत्वात्, अज्ञानतो मुख्यसुरापाने द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वाच्च । अतः

एव गौतमेनात्र मद्यशब्दः प्रयुक्तः (२३।२)—‘अमस्या मद्यपाने पयो घृत-
मुदकं वा य्हं तप्तानि पिबेत्स तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारो मूत्रपुरीषकुणपरेतसां
प्राशने च’ इति । यदप्यस्मिन्नेव विषये मनुनोक्तम् (११।१४६)—‘अज्ञानाद्धारुणीं
पीत्वा संस्कारेण विशुद्ध्यति’ इति,—तदपि तप्तकृच्छ्रपूर्वकमेव गौतमवाक्यानुरो-
धात् । पुनः संस्कारश्च पुनरुपनयनम् । तच्चाश्वलायनाद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । यथो-
क्तम्—‘अथोपेतपूर्वस्य कृताकृतं केशवपनं मेधाजननं चानिरुक्तं परिदानं कालश्च
तत्सवितुर्वृणीमह इति सावित्रीम्’ इति । मतिपूर्वमद्यपाने वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—
‘मस्या मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशनं पुनः संस्का-
रश्च’ इति । चान्द्रायणं वा शङ्खोक्तम्—‘असुरामद्यपायी चान्द्रायणं चरेत्’ इति ।
मुखमात्रप्रवेशे तु मद्यस्यापस्तम्बीयं षड्भूतम्—‘अभक्ष्याणामपेयानामलेह्यानां च
भक्षणे । रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् । पद्मोदुम्बरबिल्वानां पलाशस्य
कुशस्य च । एतेषामुदकं पीत्वा षड्भूतेण विशुद्ध्यति ॥’ इति ।—एतच्च तालादि-
मद्यविषयम् । गौडीमाध्व्योः पुनरज्ञानतः पाने ‘असुरायाः सुरायाश्चाज्ञानतः’ इति
वसिष्ठोक्तः कृच्छ्रातिकृच्छ्रसहितः पुनः संस्कारो घृतप्राशश्च द्रष्टव्यः । तयोर्मतिपूर्व-
पाने तु ‘पिण्याकं वा कणान्वा’ (प्रा० २५४) इति त्रैवार्षिकम् । कामतस्तु तत्पाना-
भ्यासे ‘अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरां पिबेन्मरणात्पूतो भवति’ इति वासिष्ठं
मरणान्तिकं द्रष्टव्यम् । नात्र ‘सुरा’ शब्दः पैष्ठ्यभिप्रायः; तस्याः सकृत्पानेऽपि मर-
णान्तिकस्य दर्शितत्वात् । मद्यवासितशुष्कभाण्डस्थोदकस्याज्ञानतः पाने बृहद्यमे-
नोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चिदपिबेद् द्विजः । कुशमूलविपकेन य्हं
क्षीरेण वर्तयेत् ॥’ इति । अज्ञानतोऽभ्यासे तु वसिष्ठेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थितं
तोयं यदि कश्चिदपिबेद् द्विजः । पद्मोदुम्बरबिल्वानां पलाशस्य कुशस्य च ॥ एतेषा-
मुदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥’ इति । ज्ञानतः पाने तु विष्णूक्तम्—‘मद्य-
भाण्डस्थितं तोयं पीत्वा पञ्चरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेत्’ इति । ज्ञानतोऽभ्यासे
तु शङ्खेनोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थितं तोयं पीत्वा सप्तरात्रं गोमूत्रयावकं पिबेत्’
इति । अत्यन्ताभ्यासे तु हारीतोक्तम्—‘मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चिदपिबेद्
द्विजः । द्वादशाहं तु पयसा पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥’ इति । एषु च वाक्येषु
‘द्विज’ग्रहणं ब्राह्मणाभिप्रायम् ; क्षत्रियवैश्ययोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् । इदं
च गौडीमाध्वीभाण्डस्थजलपानविषयं गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य । तालादिमद्यभाण्डो-
दकपाने तु कल्प्यम् ॥ २५५ ॥

भाषा—अज्ञान से सुरा, वीर्य, विष्टा या मूत्र पीने पर तीनों द्विजाति
वर्ण पुनः संस्कार करने योग्य हो जाते हैं । (सुरापान में पुनः संस्कार केवल
ब्राह्मण का ही होता है) ॥ २५५ ॥

द्विजातिभार्या प्रत्याह—

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।

इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्याऽपि सती पतिलोकं न याति किंत्विहैव लोके ष्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति । 'ब्राह्मणी' ग्रहणं चात्र 'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (भा० ५७) इति न्यायेन यस्य द्विजातेर्यावत्स्यो भार्यास्तासामुपलक्षणम् । अत एव मनुः—'पतित्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्व्यपत्योरेकशरीरत्वमेव, अतो यस्य द्विजातेभार्या सुरां पिबति तस्य भार्यारूपमर्धं शरीरं पतति । पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद् द्विजातिभार्याया ब्राह्मण्याद्यया न सुरा पेया । 'तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' इति निषेधविधौ लिङ्गस्याविवक्षितत्वेन वर्णत्रयभार्याणामपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुराप्रतिषेधप्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम् ; शूद्रभार्यास्तु शूद्रायाः शूद्रवदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धमन्त्रादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्धमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥

भाषा—जो ब्राह्मणी स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है; वह इसी लोक में कुतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है ॥ २५६ ॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।

स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमित्येवं स्वकर्म ख्यापयन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टार्थत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्यात् । तेन राज्ञा हतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । 'अपहरण'शब्देन च समर्थं परोक्षं वा बलाच्चौर्येण वा क्रयादिस्वत्वहेतुं विना ग्रहणमुच्यते । 'मुसलं समर्पयेत्' इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्थस्यायोमयादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुनोक्तम् (८१३१५)—'स्कन्धेनादाय मुसलं लकुटं वापि स्वादिरम् । अंसि चोभयतस्तीक्ष्णमायसं दण्डमेव वा ॥' इति । शङ्खेनाप्यत्र विशेष उक्तः (११११००)—'सुवर्णस्तेनः प्रकीर्णकेश आर्द्रवासा आयसं

१. शक्ति चोभयतस्तीक्ष्णामा ।

मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेत् 'इदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन मां घातयस्व'
इति स राजा शिष्टः सन्पूतो भवति' इति । हननं चावृत्तिविधानाभावात्सकृदेव
कार्यम् । अत एव मनुनोक्तम् (११।१००)—'ततो मुसलमादाय सकृद-
न्यात्तु तं स्वयम्' इति । एवं सकृत्ताडनेन राजा हतो मृतः शुद्ध्येत् , मुक्तो
वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्ध्येदिति यावत् । तथा च संवर्तेनोक्तम्—'ततो मुसल-
मादाय सकृदन्यात्तु तं स्वयम् । यदि जीवति स स्तेनस्ततः स्तेयाद्विशुद्ध्यति ॥'
इति ॥ यथोक्तं ब्राह्मणवधे—'मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति' इति ।
नन्वताडित एव राजा मुक्तः स्तेनः शुद्ध्येदित्ययमर्थः कस्माद्विष्यते ? उच्यते,—
'अनघ्ननेनस्वी राजा' इति गौतमीये ताडनमकुर्वतो राज्ञो दोषाभिधानात् ।
भवतु राज्ञो दोषस्तथाप्यतिक्रान्तनिषेधेन राजा स्नेहादिना मुक्तः स्तेनः कथं
न शुद्ध्येदिति चेत्,—उच्यते—एवं च सति अकारणिका शुद्धिरापतेत् । अथो-
च्यते—मोक्षोत्तरकालं द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानेन शुद्ध्यङ्गीकरणाच्चाकारणिकेति,—
तदप्यसुन्दरम् ; मुक्तः 'शुचिः' इति मोक्षस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात् । अतः
प्राच्येव व्याख्या ज्यायसी । मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्ध्येदिति यावत् ।
इदं च मरणान्तिकं सार्ववर्णिकस्यापहर्तुर्न तु ब्राह्मणस्यैव । ब्राह्मणस्वर्णहारीति
नैमित्तिकवाक्ये विशेषानुपादानात् वज्रियादीनां च महापातकिस्वाविशेषात्प्राय-
श्चित्तान्तरस्यानाम्नानाच्च । यत्पुनर्मानवे (११।९९)—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः'
इति 'विप्र'ग्रहणं तस्मैमात्रोपलक्षणम् । 'प्रायश्चित्तोयते नर' इति तस्यैव प्रकृ-
तत्वात् , 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः' (मनुः ११।५४) इति
निमित्तवाक्ये विशेषानुपादानाच्च । तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये 'सुवर्णस्तेयकृ-
द्विप्रः' (११।९९) इत्यत्र श्रूयमाणमप्युपलक्षणमेव युक्तम् । यथा 'अभ्युदिते-
ष्ट्यां यस्य हविः' इति वाक्ये 'तन्दुल'ग्रहणं हविर्मात्रस्य । इदं च राजा हननं
ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य ; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेभ्यो स्थितम्' (८।३८०)
इति मानवे ब्राह्मणवधस्य निषिद्धत्वात् । यदि कथंचिदतिक्रान्तनिषेधे राजा
हन्यते तथाऽपि शुद्धो भवति ; 'वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा' (मनुः
११।१००) इति ब्राह्मणस्यापि वधेन शुद्ध्यभिधानात् । नच 'तपसैव वा'
इत्येवकारेण वधनिषेधः ; तस्य केवलतपसाऽपि शुद्ध्यभिधानपरत्वात् । यदि
वधो निषिद्धस्तर्हि 'तपसैव वा' इति विकल्पाभिधानमनुपपन्नम् । नच दण्डा-
भिप्रायं विकल्पाभिधानम् ; तस्यानिर्दिष्टत्वात् । किंच 'एकार्थास्तु विकल्परन्'
इति न्यायेनैकार्थानामेव विकल्पो ब्रीहियवयोरिव । नच दण्डतपसोरेकार्थत्वम् ;
दण्डस्य दमनार्थत्वात्तपसश्च पापक्षयहेतुत्वात् । नच 'वधेन शुद्ध्यति स्तेन'
इति सामान्याविषयेण वधेन ब्राह्मणस्तपसैव वेति विशिष्टविषयस्य तपसो
विकल्पोपपत्तिः । नहि भवति 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय च'

इति विकल्पस्तस्माद् द्वयोरपि सामान्यविषयत्वमेव । यद्वा क्षत्रियस्यापि न निषेधः ; मनुना—‘सुवर्णस्तेयकृद्विप्र’ (११।१९) इत्यभिधाय—‘गृहीत्वा सुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।’ (११।१००) इति सर्वनाम्ना प्रकृतब्राह्मणपरामर्शेनैव हननविधानात्—‘न जातु ब्राह्मणं हन्यात्’ इत्यस्य प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तदण्डरूपहननविषयत्वेनाप्युपपत्तेः ।—एतच्च मरणान्तिकं मत्तिपूर्वसुवर्णस्तेयविषयम् । ‘मरणान्तिकं हि यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । यत्तु कामकृते पापे विज्ञेयं नात्र संशयः ॥’ इति मध्यमाङ्गिरःस्मरणात् । अत्र च ‘सुवर्ण’शब्दः परिमाणविशिष्टहेमद्रव्यवचनो न जातिमात्रवचनः । ‘जाल-सूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् । तेऽष्टौ लिङ्गा तु तास्तित्तो राजसर्षप उच्यते ॥ गौरस्तु ते त्रयः षड्भिर्भयो माषस्तु ते त्रयः । कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥’ इति षोडशमाषपरिमिते हेमनि ‘सुवर्ण’शब्दस्य परिभाषितत्वात् । अतो ‘ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकम्’ इत्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहणं युक्तम् ; परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात् । न ह्यदृष्टार्थपरिमाणस्मरणम् । नापि लोकव्यवहारार्थम् ; अतस्परत्वात्स्मृतिकारप्रवृत्तेः । अत एवोक्तं न्यायविद्भिः—‘कार्यकाले संज्ञापरिभाषयोरुपस्थानम्’ इति । तथा नामानि गुणफलोपबन्धेनार्थवदित्युक्तं ‘पञ्चदशान्याज्यानि’ इत्यत्र । नच दण्डमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमित्युक्तमिति युक्तम् ; तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात् । अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् । किंच, दण्डस्य दमनार्थत्वाद्दमनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते । शब्दैकसमधिगम्ये तु महापातकित्वादावेकान्ततः स्मरणमुपयुज्यते । अतः षोडशमाषात्मकसुवर्णपरिमितहेमहरण एव महापातकित्वं तन्निमित्तं मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तविधानं च । द्वित्रादिमाषात्मकहेमहरणं तु क्षत्रियादिहेमहरणवदुपपातकमेवेति युक्तम् । किंच, सुवर्णान्मन्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्तत्परिमाणस्यैव हेमनो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम् । तथा चोक्तं षट्त्रिंशन्मते—‘वालाग्रमात्रेऽपहृते प्राणायामं समाचरेत् । लिङ्गामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं बुधः ॥ राजसर्षपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम् । गायत्र्यष्टसहस्रं च जपेत्पापविशुद्धये ॥ गौरसर्षपमात्रे च सावित्रीं वै दिनं जपेत् । यवमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम् ॥ सुवर्णकृष्णलं ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तमः । कुर्यात्सान्तपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये ॥ अपहृत्य सुवर्णस्य माषमात्रं द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावकाहारस्त्रिभिर्मसैर्विशुद्ध्यति ॥ सुवर्णस्यापहरणे वासरं यावकी भवेत् । ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महन्तम् ॥’ इदं च वासरं यावकासनं किञ्चिन्मन्यूनसुवर्णापहारविषयम् ; सुवर्णापहारे मन्वादिमहा-

स्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात् । 'बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्वं नराधमाः । तेषां तु बलहर्तॄणां प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥' सुवर्णपरिमाणादर्वागपीत्यभि-
प्रेतम् । इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहतधनं तस्वामिने दत्तैव कार्यम् । 'स्तेये
ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादिः कृते पुनः । स्वामिनेऽपहतं देयं हर्त्रा त्वेकादशाधि-
कम् ॥' इति स्मरणात् । तथा—'चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्वात्यात्मशुद्धये'
(११ । १६४) इति मनुस्मरणाच्च । दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम्—'शेषेऽप्येका-
दशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ।' इति । यद्वाऽस्यशक्त्या राजा हन्तुमसमर्थस्तदा
वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'स्तेनः प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत् । ततस्तस्मै राजौ-
दुश्वरं शस्त्रं दद्यात्तेनात्मानं प्रमापयेत् मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति ।
औदुश्वरं तान्नमयम् । यदपि द्वितीयं प्रायश्चित्तं तेनोक्तम्—'निष्कालको गोघृ-
ताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञा-
यते' इति,—तदपि गुरुश्रोत्रिययागस्थादिविप्रद्रव्यापहारविषयं क्षत्रियाद्यपहर्तृ-
विषयं वा । तत्र 'निष्कालक' इति निर्गतकेशश्मश्रुलोमाभिधीयते, तथाश्व-
मेधाद्यनुष्ठानेन वा । तथा प्रचेतसा मरणान्तिकमभिधायोक्तम्—'इष्ट्वा वाऽश्व-
मेधेन गोसवेन वा विशुद्ध्येत्' इति ।—एतच्च विटक्षत्रियाद्यपहर्तृविषयम् ॥ २५७ ॥

भाषा—ब्राह्मण का सोना चुराने वाला अपने कर्म को बतलाते हुए
राजा के हाथ में मूसल दे ; राजा द्वारा (मूसल से) मारे जाने पर अथवा
मुक्त कर दिये जाने पर भी वह शुद्ध हो जाता है ॥ २५७ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अनिवेद्य नृपे शुद्ध्येत्सुरापवतमाचरन् ।

आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिदम् ॥ २५८ ॥

स्वीयं स्तेयं राजन्यनिवेद्य सुरापवतं द्वादशवार्षिकमाचरन् शुद्ध्येत् ।
शवशिरोध्वजे तत्कपालधारणनिराकरणार्थं सुरापवतमित्युक्तम् ।—एतच्चाकामकार-
विषयम् ; 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्' (मनुः ११।८९)—इत्य-
कामतो विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । नन्वकामतोऽपहार एव न
संभवतीति कथं तद्विषयत्वम् ? उच्यते,—यदा वस्त्रप्रान्तग्रथितं सुवर्णादिकम-
ज्ञानादपहरति रजतादिद्रव्यान्तरबुद्ध्या वा हत्वाऽनन्तरमेवान्यस्मै दत्तं नाशितं
वा न पुनः स्वामिने प्रत्यर्पितं तदा संभवत्येवाकामतोऽपहारः । यस्तु
तान्नादिकस्य रसवेधाद्यापादितसुवर्णरूपस्यापहारो न तत्रेदं प्रायश्चित्तम् ।
मुख्यजातिसमवायाभावात् । नच मुख्यसादृश्यमात्रेण गौणे मुख्यधर्मा भवन्ति ।
यद्यपीदृशमेवासुवर्णं सुवर्णभ्रान्त्यापहरति, तथाऽपि नेदं प्रायश्चित्तम् । असुवर्णा-

१. तन्निर्वाप्यात्मशुद्धये । २. द्वै विप्रतुष्टिदम् ।

पहारिस्वादेव । न च 'सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे अहस्वाऽपी'तिवदत्रापि दोष इति वाच्यम्, असुवर्णे प्रवृत्तस्वादेव । न ह्यब्राह्मणः सृष्टश्चेदित्यस्य विषयः । यच्चेदं 'मनसा पापं ध्यात्वा प्रणवपूर्वकं व्याहृतीर्मनसा जपेत् । व्याहृत्या प्राणायामं त्रिराचरेत् । प्रवृत्तौ कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति,—तदपि सम्यगर्थप्रवृत्तिविषयम् । अतो नेदृशमज्ञानतः स्वर्णापहारः प्रायश्चित्तस्य निमित्तं, किंतु रजतादिबुद्ध्या पूर्वोक्त एव स्वर्णापहारः । अस्मिन्नेव विषये यदाऽपहर्ताऽत्यन्तमहाधनः तदात्म-तुलितं सुवर्णं दद्यात् । अथ तावद्धनं नास्ति तपश्चर्यायां चाक्षतस्तदा विप्र-तुष्टिकृद्भिप्रस्य यावज्जीवं कुटुम्बभरणपर्याप्ततया तुष्टिकरं धनं दद्यात् । यदा तु निर्गुणस्वामिकं द्रव्यमपहरति, तदा 'एतदेव व्रतं स्तेनः पादन्यूनं समाचरेत्' इति व्यासेनोक्तं नववार्षिकं द्रष्टव्यम् । यदा पुनरीदृशमेव कुत्सामकुटुम्ब-परिरक्षणार्थमपहरति तदा अत्रिप्रतिपादितं षड्वार्षिकं 'स्वर्जिदादि वा क्रतुं कुर्यात्तीर्थयात्रां वा', 'षडब्दं वाचरेत्कृच्छ्रं यजेद्वा क्रतुना द्विजः । तीर्थानि वा अमन्विद्वांस्ततः स्तेयाद्विमुच्यते ॥' इति । यदा स्वपहारसमनन्तरमेव हा कष्टं मया कृतमिति जातानुतापः प्रत्यर्पयति त्यजति वा तदापस्तम्बीयं चतुर्थकाल-मिताशनेन त्रिवर्षमवस्थानमाह्निरसं वा वज्राख्यं त्रैवार्षिकं द्रष्टव्यम् । ननु प्रत्यर्पणे त्यागे वाऽपहारधात्वर्थस्य निष्पन्नत्वात्कथं प्रायश्चित्ताल्पत्वम् ? अथानिष्पन्नस्तदा प्रायश्चित्ताभाव एव स्यान्नतु प्रायश्चित्ताल्पत्वम्,—मैवम् ; अपहार-स्योपभोगादिफलपर्यन्तस्वादुपभोगात्प्राङ्निवृत्तौ च पुष्कलस्यापहारार्थस्याभावा-द्युक्तमेव प्रायश्चित्ताल्पत्वं पीतवान्त इवापेयद्रव्ये । नन्वेवं सति चौरहस्ता-दुलादाकृष्य ग्रहणेऽपि तस्योपभोगलक्षणफलाभावात्प्रायश्चित्ताल्पत्वप्रसङ्गः । मैवम् ; तस्य त्यागे स्वतःप्रवृत्त्यभावात्, फलपर्यन्तेऽपहारे स्वतः प्रवृत्तत्वाच्च । यस्तु रजतताम्रादिसंसृष्टसुवर्णापहारी, न तत्रेदं लघुप्रायश्चित्तम् ; यतः संसर्गेऽपि सुवर्णरत्नं नापैति आज्यत्वमिव पृषदाज्ये । अतस्तत्र द्वादशवार्षिकमेवेति युक्तम् । अथ सुवर्णसदृशं द्रव्यान्तरमेवेति लघुप्रायश्चित्तमुच्यते । तर्हि न तरां तत्र त्रैवार्षि-कादिलघुप्रायश्चित्तादिविषयता असुवर्णस्वादेव, किंतूपपातकप्रायश्चित्तमेव । यदप्य-परमापस्तम्बोक्तम्—'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा कृच्छ्रं सांवत्सरं चरेत्' इति,—तत्सुवर्णपरिमाणोद्वाङ्माषाच्चाधिकपरिमाणद्रव्यविषयम् । यत्तूक्तं सुमन्तुना—'सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्याऽष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात् । प्रत्यहं त्रिरात्र-मुपवासं तप्तकृच्छ्रेण च पूतो भवति' इति, तत्पूर्वोक्तमाषपरिमाणसुवर्णापहार-प्रायश्चित्तेन सह विकल्प्यते । यदप्यपरं तेनैवोक्तम्—'सुवर्णस्तेयी द्वादशरात्रं वायुमन्त्रः पूतो भवति' इति,—तन्मनसापहारे प्रवृत्तस्य स्वत एवोपरतापजिहीर्षस्य वेदितव्यम् । अत्रापि स्त्रीबालवृद्धादिविषयधर्ममेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यानि

च 'अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा' इत्यादिना सुवर्णस्तेयसमत्वेन प्रतिपादितानि, तेष्वर्धमेव कार्यम् । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतवचनम्—'रूप्यं हत्वा द्विजो मोहाच्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । गद्याणदशकादूर्ध्वमाशताद् द्विगुणं चरेत् ॥ आ सह-स्त्रात्तु त्रिगुणमूर्ध्वं हेमविधिः स्मृतः । सर्वेषां धातुलोहानां पराकं तु समाचरेत् ॥ धान्यानां हरणे कृच्छ्रं तिलानामैन्दवं स्मृतम् । रत्नानां हरणे विपश्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥' इति,—तदपि गद्याणसहस्राधिकरजतहरणे सुवर्णस्तेयसमप्रायश्चित्त-प्रतिपादनार्थं न पुनस्तस्मिन्वृथार्थम् । यदपि रत्नापहारे चान्द्रायणमुक्तं, तदपि गद्याणसहस्रादीनमूल्यरत्नापहारे द्रष्टव्यम् । ऊर्ध्वं पुनः सुवर्णस्तेयसमम् ॥२५८॥

भाषा—यदि राजा से निवेदन नहीं करता है तो सुरापान करने वाले महापातकी के लिये विहित व्रत का आचरण करते हुए अपने बराबर या जितने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय उतना सोना दान देनेपर पातक से शुद्ध हो जाता है ॥ २५८ ॥

इति सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

उद्देशकमप्राप्तं गुरुतत्त्वप्रायश्चित्तमाह—

तप्तेऽयःशयने सार्धप्रायस्या योषिता स्वपेत् ।

गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैऋत्यां चोत्सृजेत्तनुम् ॥ २५९ ॥

'समा वा गुरुतत्त्वप' (प्रा० २६०) इति वक्ष्यमाणश्लोकगतं गुरुतत्त्वप-पदमत्र संबध्यते । तप्तेऽयःशयने यथा मरणक्षमं भवति तथा तप्ते अग्निवर्णे कृते कार्णायसे शयने अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या तप्तया सह गुरुतत्त्वपः स्वप्यात् । एवं सुप्त्वा तनुं देहम् उत्सृजेत्, म्रियेतेति यावत् । शयनं च 'गुर्वङ्गनागमनं मया कृतम्' इत्येवं स्वकर्म विख्याप्य कुर्यात् ; 'गुरुतत्त्वप्यभिभाष्यैनः' (११। १०३)—इति मनुस्मरणात् । तथा स्त्रियमालिङ्ग्य कार्यम्—'गुरुतत्त्वपगो मृन्मयीमायसीं वा स्त्रियः प्रतिकृतिमग्निवर्णां कृत्वा कार्णायसशयने (अयो-मय्या स्त्रीप्रतिकृत्या कृत्वा) तामालिङ्ग्य पूतो भवति' इति वृद्धहारीतस्मरणात् । तथा मुण्डितलोमकेशेन घृताभ्यक्तेन च कर्तव्यम्—'निष्कालको घृताभ्यक्तस्तप्तं तां सूमीं मृन्मयीं वा परिध्वज्य मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति वसिष्ठ-स्मरणात् । न च (११।१०३)—'गुरुतत्त्वप्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये । सूमीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्पुना स विशुद्ध्यति ॥' इति मनुवाक्यानुरोधेन तप्तलोहशयनं तप्तलोहयोषिदालिङ्गनं च निरपेक्षप्रायश्चित्तद्वयमित्याशङ्कनीयम् । आयस्या योषिता स्वपेत् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायां तप्तेऽयःशयन इति परस्परसापेक्ष-

१. लोभात् । २. गुरुतत्त्वपगमन । ३. सुप्यादायस्या । ४. तत्त्वोऽभि-भाष्यैनः ।

तथैकस्वावगमादेककल्पमेव युक्तम् । अथवा वृषणौ सलिलौ स्वयमुत्कृत्य
 क्षिप्त्वाऽञ्जलिना गृहीत्वा नैऋत्यां दक्षिणप्रतीच्यां दिशि देहपातान्तमकुटिलग-
 तिर्गत्वा तनुमुत्सृजेत् । यथाह मनुः (११।५०४)—‘स्वयं वा शिशनवृषणा-
 वुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ । नैऋतीं दिशमातिष्ठेदानीपातादजिह्वागः ॥’ इति ।
 गमनं पृष्ठतोऽनीक्षमाणेन कर्तव्यम् ; ‘क्षुरेण शिशनवृषणावुत्कृत्यानवेक्षमाणो
 व्रजेत्’ इति शङ्खलिखितस्मरणात् । एवं गच्छन् यत्र कुड्यादिना प्रतिबध्यते
 तत्रैव मरणान्तं तिष्ठेत् । ‘सवृषणं शिशनमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाभिमुखो
 गच्छेद्यत्रैव प्रतिहतस्तत्रैव तिष्ठेदाप्रलयात्’ (२०।१३) इति वसिष्ठस्मरणात् ।
 दण्डोऽप्यग्रायमेव । यथाह नारदः (१२।७५)—‘आसामन्यतमां गच्छन्गुरु-
 तरपग उच्यते । शिशनस्योक्तर्तनान्तरं नान्यो दण्डो विधीयते ॥’ एवं
 दण्डार्थमपि लिङ्गाद्युक्तर्तनं पापक्षयार्थमपि भवति । इदमेव मरणान्तिकदण्डम-
 भिप्रेत्योक्तं मनुना (११।३१८)—‘राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
 निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥’ इति । धनदण्डेन पुनः
 प्रायश्चित्तं भवत्येव ; ‘प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथादितम् । नाङ्क्या राज्ञा
 ललाटे स्युर्दाप्यास्तुत्तमसाहसम् ॥’ (९।२४०) इति तेनैवोक्तत्वात् । अनयोश्च
 मरणान्तिकयोरन्यतरानुष्ठानेन गुरुतरपगः शुद्ध्यते । ‘गुरु’शब्दश्चात्र मुख्यया
 वृत्त्या पितरि वर्तते ; ‘निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । संभावयति
 चान्नेन स विप्रो गुरुव्यते ॥’ (२।१४२) इति मनुना गुरुत्वप्रतिपादनपरे
 वाक्ये निषेकादिकर्तुर्जनकस्यैव गुरुत्वाभिधानात् । योगीश्वरेण च निषेकादिक-
 र्माभिप्रायेणोक्तम् । ‘स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति’ (आ० ३४)
 इति । ननु ‘गुरु’शब्दस्यान्यत्रापि प्रयोगो दृश्यते । ‘उपनीय गुरुः शिष्यम्’ इत्या-
 दिनाचार्ये (मनुः २।१४९)—‘स्वरूपं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
 तमपीह गुरुं विद्यात्’ इत्युपाध्याये । व्यासेनाप्यन्यत्र प्रयोगो दर्शितः—‘गुरवो
 मातृपितृपत्याचार्यविद्यादातृज्येष्ठभ्रातर ऋत्विजो भयत्रातान्नदाता च’ इति । न-
 चानेकार्थकल्पनादोषः ; ‘गुरु’शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूतायाः पूजार्हतायाः सर्वत्रा-
 नुस्यूतेः । दर्शितं च तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वं योगीश्वरेण (आ० ३५)—‘एते
 मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी’ इति ‘मान्या’ इत्युपक्रम्य ‘गरीयसी’
 इत्युपसंहारं कुर्वता । नच ‘उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता’
 (मनुः २।१४५) इत्युपाध्यायादधिकाचार्यास्त्पितुरतिशयितत्ववचनात्स एव
 मुख्य इति वाच्यम् ; आचार्येऽप्यतिशयितत्वस्याविशिष्टत्वात् । ‘उत्पादकब्रह्मादा-
 त्रोगरीयान्ब्रह्मादः पिता’ (मनुः २।१४६)—इति गौतमेनाप्युक्तम् (२।५०)—
 ‘आचार्यः श्रेष्ठो गुरुगाम्’ इति । किंच, यद्यतिशयितत्वमात्रेण मुख्यत्वमुच्यते
 तर्हि ‘सहस्रम्’ इति वचनान्मातुरेव गुरुत्वं स्यात् । तस्मात्सर्वे गुरवस्तत्पत्नी-

गमनं गुर्वङ्गनागमनमिति युक्तम् । उच्यते,—‘निषेकादीनि’ (२।१४२) इति मनुवचनं निषेकादिकर्तुर्जनकस्य गुरुत्वप्रतिपादनपरम् ; अनन्यपरत्वात् । यत्पुनर्यासगौतमवचनं, तत्परिचर्यापूजादिविधिशेषतया स्तुत्यर्थत्वेनान्यपरम् । अतो गुरुत्वप्रतिपादनपराज्ञिषेकादीति मनुवचनात्पितुरेव मुख्यं गुरुत्वमिति स्थितम् । अत एव वसिष्ठेन (२०।१५)—‘आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम्’ इत्याचार्यदारेष्वातिदेशिकं गुरुतत्प्रायश्चित्तमुक्तम् । तथा जातृकर्ण्यादिभिरप्युक्तम्—‘आचार्यादेस्तु भार्यासु गुरुतत्पत्रतं चरेत्’ इत्यादि । आचार्यादिर्मुख्यगुरुत्वे तूपदेशत एव व्रतप्राप्तेरतिदेशोऽनर्थक एव स्यात् । किंच,—संवर्तेन स्पष्टमेव पितृदारग्रहणं कृतम्—‘पितृदारान्समारुह्य मातृवज्यं नराधमः’ इति । षट्त्रिंशन्मतेऽपि—‘पितृभार्या तु विज्ञाय सवर्णा योऽधिगच्छति’ इति । अतोऽपि निषेकादिकर्ता पितैव मुख्यो गुरुः । तच्च गुरुत्वं वर्णचतुष्टयेऽप्यविशिष्टम् ; निषेकादिकर्तृत्वस्याविशेषात् । अतः—‘स विप्रो गुरुः रुच्यते’ इति ‘विप्र’ग्रहणमुपलक्षणम् । अतः पितृपत्नीगमनमेव महापातकम् । गमनं च चरमधातुविसर्गपर्यन्तं कथ्यते । अतस्ततोऽर्वाङ्निवृत्तौ न महापातकित्वम् । तत्र चेदं ‘तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या’ सार्धमायस्या’ इत्याद्युक्तं मरणान्तिकं प्रायश्चित्तद्वयम् ।—तच्च जनन्यामकामकृते, तत्सपत्न्यां तु सवर्णायामुत्तमवर्णायाम् कामकृते द्रष्टव्यम् । ‘पितृभार्या तु विज्ञाय सवर्णा योऽधिगच्छति । जननीं चाप्यविज्ञाय नामृतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥’ इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । जनन्यां तु कामकृते वासिष्ठेन ‘निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत्’ इति द्रष्टव्यम् । अकामतोऽभ्यासेऽप्येतदेव । ननु च ‘मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा । आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतत्पगः ॥’ (प्रा० २३२) इत्यतिदेशाभिधानान्मातृसपत्नीगमने त्वौपदेशिकं प्रायश्चित्तमुक्तम् । उच्यते,—‘पितृभार्यासवर्णाम्’ इत्यस्मादेव वचनात्सवर्णग्रहणाद्धीनवर्णसपत्नीविषयमिदमातिदेशिकमिति न विरोधः । इदं च मुख्यस्यैव पुत्रस्य । इतरेषां पुनः पुत्रकार्यकरत्वमेव न पुत्रत्वम् । यथाह मनुः (१।१८०)—‘क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोचितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥’ इति । तत्रोभयेच्छातः प्रवृत्तौ ‘तप्तेऽयःशयने’ इति प्रथमं प्रायश्चित्तम् । स्वेन प्रोत्साहने तु ‘गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ’ इति द्वितीयम् ; अनुबन्धातिशयेन प्रायश्चित्तगुरुत्वस्योक्तत्वात् । तथा प्रोत्साहितस्य तु मानवं तत्सलोहशयनज्वलत्सूर्यालिङ्गनयोरन्यतरं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्केन द्वादशवार्षिकमुक्तम्—‘अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः । एककालं समश्नीत वर्षे तु द्वादशे गते ॥ रुक्मस्तेयी सुरापन्न ब्रह्महा गुरुतत्पगः । व्रतेनैतेन शुद्ध्यन्ति महा-

पातकिनस्त्वमे ॥' इति,—तत्समवर्णोत्तमवर्णपितृदारगमने अकामकृते वा द्रष्टव्यम् । तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात् प्राङ्निवृत्तौ षड्वार्षिकम् ; अकामतस्तु त्रैवार्षिकम् । जनन्यां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात् प्राङ्निवृत्तौ द्वादशवार्षिकम् । अकामतस्तु षड्वार्षिकमिति कल्प्यम् । यत्तु संवर्तेन—'पितृदारान्समारुह्य मातृ-वर्ज्यं नराधमः' इत्यादिना समारोहणमात्रे तत्सकृच्छ्र उक्तः, स हीनवर्णगुरुदारेषु रेतःसेकादवाग्द्रष्टव्यः ॥ २५९ ॥

भाषा—गुरुपत्नी का भोग करने वाला तप्त होकर लाल बनी हुई लोहे की शय्या पर जलती हुई लोहे की स्त्रीमूर्ति के साथ सोवे, अथवा लिङ्ग और अण्डकोष को काटकर हाथ में लेकर नैर्ऋत्य दिशा को चलता-चलता शरीर त्याग दे (तो शुद्ध होता है) ॥ २५९ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतरपगः ।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्यं कृच्छ्रं वक्ष्यमाणलक्षणं समाः वर्षत्रयं चरेत् । एतच्च ब्राह्मणीपुत्रस्य शूद्रजातीयगुरुभार्यागमने मतिपूर्वं द्रष्टव्यम् । यदा तु गुरुपत्नीं सवर्णां व्यभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा वेदत्रयसहितं चान्द्रायणत्रयं कुर्यात् । तत्रैव कामतः प्रवृत्तावौशनसं—'गुरुतरपगमिणो संवत्सरं ब्रह्महृतं पन्मासान्वा तत्सकृच्छ्रं चरेत्' इति । क्षत्रियागमने तु मतिपूर्वं याज्ञवल्क्यीयं (प्रा० २३२)—'मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा' इति गुरुतरपव्रतातिदेशा-जववार्षिकम् । इदं चातिदेशिकं सवर्णगुरुभार्यागमनविषयं न भवति ; तत्र कामतो मरणान्तिकस्याकामतो द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वात् । अतः क्षत्रियादिविषयमेवेति युक्तम् । तत्रैव कामतोऽभ्यासे मरणान्तिकम् ; 'मर्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्रसुतां द्विजः । अण्डाभ्यां रहितं लिङ्गमुत्कृत्य स मृतः शुचिः ॥' इति कण्व-स्मरणात् । अत्रैव विषये प्रायश्चित्तं यदा न चिकीर्षति तदा 'क्षिप्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति याज्ञवल्क्यीयो वधदण्डः प्रायश्चित्तस्थाने द्रष्टव्यः । वैश्यायां तु गुरुभार्यायां कामतो गमने षड्वार्षिकम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातरि गमने पादहान्या द्वादशवार्षिकम् । एवमन्यवर्णा-स्वपि । अयमर्थः—ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातुः सपत्न्यां गमने पादन्यूनं द्वादश-वार्षिकं, नववार्षिकमिति यावत् । तस्यैव तथाभूतायां वैश्यायां षड्वार्षिकम् ; शूद्रायां तु त्रैवार्षिकं प्रायश्चित्तमिति । एवं क्षत्रियापुत्रस्य वैश्यायां मातरि नववार्षि-कम् ; शूद्रायां तु षड्वार्षिकम् । एवमेव वैश्यापुत्रस्यापीति ; वैश्यायां तु कामतोऽ-

भ्यासे मरणान्तिकमेव; 'गुरोर्भार्या तु यो वैश्यां मस्या गच्छेत्पुनः पुनः । लिङ्गाग्रं
छेदयित्वा तु ततः शुद्धयेत्स किञ्चिद्विषात् ॥' इति लौगाक्षिस्मरणात् । शूद्रायां तु
कामतोऽभ्यासे द्वादशवार्षिकम् ; 'पुनः शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाहितः ।
ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा संचरेद् द्वादशान्दिकम् ॥' इत्युपमन्युस्मरणात् । क्षत्रियायां तु
गुरुभार्यायामबुद्धिपूर्वगमने यमोक्तं त्रैवाषिकमष्टमकालाशनं द्रष्टव्यम् । 'कालेऽष्टमे
वा भुञ्जानो ब्रह्मचारी सदा व्रती । स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिरहोऽभ्युपयन्तपः ।
अधःशायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपोहेत पातकम् ॥' इति । अत्रैवाभ्यासे जातूकण्योक्तं—
'गुरोः क्षत्रसुतां भार्या पुनर्गत्वा स्वकामतः । अण्डमात्रं समुत्कृत्य शुद्धयेज्जी-
वन्मृतोऽपि वा ॥' इति । वैश्यायां स्वकामतो गमने 'प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रम्'
(प्रा० २६०) इत्येतदेव याज्ञवल्कीयम् । तथा च बृद्धमनुः—'गमने गुरुभा-
र्यायाः पितृभार्यागमे तथा । अद्भ्ययमकामात् कृच्छ्रं नित्यं समाचरेत् ॥' इति ।
तत्रैवाभ्यासे हारीतोक्तं मरणान्तिकं ब्रह्मचर्यम्—'अध्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरो-
रज्ञानमोहितः । षडङ्गं ब्रह्मचर्यं च स चरेणावदायुषम् ॥' इति । गुरुभार्यायां
शूद्रायां स्वमतिपूर्वं मानवम् (११।१०५)—'खट्वाङ्गी चीरवासा वा रमश्चुलो
विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥' इति । अथवा 'गुरुदा-
राभिगामी संवत्सरं कण्टकिनीं शाखां परिव्वज्ज्याधःसायी त्रिषवणी भैसाहारः
पूतो भवति' इति सुमन्तूक्तं कुर्यात् । तत्रैवाभ्यासे मानवम् (११।१०६)—
'चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेन्नियतेन्द्रियः' इति । क्षत्रियायां कामतः प्रवृत्तस्य
रेतःसेकादर्वाङ्गिवृत्तौ ध्याप्रोक्तम्—'कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्राति-
कृच्छ्रकम् । चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥' इति । अत्रेयं व्यवस्था-
तया प्रोत्साहितस्य त्रैमासिकं प्राजापत्यचरणम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तस्यातिकृच्छ्र-
चरणं तावदेव । स्वेन प्रोत्साहितायां पुनःकृच्छ्रातिकृच्छ्रानुष्ठानं च तावदेवेति ।
तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—'चान्द्रायणं तसकृच्छ्रप्र-
तिकृच्छ्रं तथैव च । सकृद्वत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात्क्षत्रियां द्विजः ॥' इति । तथा
प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तस्य तसकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां
तु चान्द्रायणम् । वैश्यायां कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ कण्वोक्तम्—
'तसकृच्छ्रं पराकं च तथा सान्तपनं गुरोः । भार्या वैश्यां सकृद्वत्वा बुद्ध्या मासं
चरेद् द्विजः ॥' इति । अत्रोभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ तसकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां
पराकः, तथा प्रोत्साहितस्य सान्तपनम् । अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह-
'पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च । वैश्यां भार्या गुरोर्गत्वा सकृदज्ञा-
नतो द्विजः ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य तु पञ्चरात्रम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तौ
सप्तरात्रम् । स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रम् । शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतः
सेकात्पूर्वं निवृत्तौ जावालिह—'अतिकृच्छ्रं तसकृच्छ्रं पराकं वा तथैव च । गुरोः

शूद्रां सकृद्वत्वा बुद्ध्या विप्रः समासरेत् ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घ्यतमसम्—'प्राजापत्यं सान्तपनं सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शूद्रां सकृद्वत्वा चरेद्विप्रः समाहितः ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयोश्च्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशाऽन्येषामपि स्मृतिवचसां विषयव्यवस्थोहनीया । पुरुषवच्च स्त्रीणामप्यत्र महापातकित्वमविशिष्टम् । तथा हि कात्यायनः—'एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतिनानामुदाहृता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः ॥' इति । सतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् (प्रा० २३३)—'क्षित्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति । अकामतस्तु मनुनोक्तम्—(११।१८८) 'एतदेव व्रतं कार्यं योषित्सु पतितास्वपि' इति । द्वादशवार्षिकमे'वार्धकल्पनया कार्यम् । यानि पुनर्गुरुतर्पणसमानि—'सखिभार्या-कुमारीषु स्वयोनित्वन्यजासु च । सगोत्राषु सुतस्त्रीषु गुरुतर्पणसमं स्मृतम् ॥' इति प्रतिपादितानि, यानि चातिदेशविषयभूतानि 'पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतर्पणः ॥' इति प्रतिपादितानि,—तेष्वेकरात्रादूर्ध्वमकामतोऽभ्यस्तेषु यथाक्रमेण षड्वार्षिकं नववार्षिकं च प्रायश्चित्तं विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च बृहथम्—'रेतः सिकत्वा कुमारीषु स्वयोनित्वन्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥' इति । अन्यजाश्चात्र—'चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथः । मागध-योगवौ चैव सप्तैतेऽन्यथावसायिनः ॥' इति मध्यमाङ्गिरोदर्शिता ज्ञातव्याः । नतु 'रजकश्चर्मकारश्च' इत्यादिप्रतिपादिताः; तेषु लघुप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् । तथा—'चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥' (११।१७५) इति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनाऽपि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा हि—अज्ञानतश्चण्डालीगमनाभ्यासे पतति, अतः पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चण्डालैः साम्यं गच्छति । अतो द्वादशवार्षिकाधिकं मरणान्तिकं कुर्यात् ।—एतच्च बहुकालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनुः (११।१७८)—'यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः । तद्भैरवभुज-पन्नित्यं त्रिभिवर्षैर्व्यपोहति ॥' इति । अत्र 'वृषली'शब्देन चण्डालस्यभिधीयते—'चण्डाली बन्धकी वेश्या रजःस्था या च कन्यका । ऊढा या च सगोत्रा

स्याद् वृषत्यः पञ्च कीर्तिताः ॥' इति स्मृत्यन्तरे चण्डाल्यां 'वृषलो'शब्दप्रयोग-
दर्शनात् । बन्धकी स्वैरिणी । कथं पुनरत्राभ्यासावगमः ? उच्यते,—'यत्करोत्ये-
करात्रेण' इत्यन्तसंयोगापवर्गवाचिन्यास्तृतीयाया दर्शनात् । एकरात्रेण चात्य-
न्तसंयोगो गमनस्याभ्यासं विनाऽनुपपन्न इति गमनाभ्यासोऽवगम्यते । अतः
एवैकरात्राद्बहुकालाभ्यासविषयं प्रागुक्तं द्वादशवर्षादिगुरुतरूपव्रतातिदेशिकं मर-
णान्तिकं च । यदा पुनर्ज्ञानतोऽज्ञानतो वा चण्डालाद्याः सकृद्वृच्छति तदा
'चण्डालपुत्तकसानां तु भुक्त्वा गत्वा च योषितम् । कृच्छ्राब्दमाचरेज्ज्ञानादज्ञा-
नादैन्दवद्वयम् ॥' इति यमाद्युक्तं संवत्सरं कृच्छ्रानुष्ठानं चान्द्रायणद्वयं यथाक्रमेण
द्रष्टव्यम् । 'स्वयोनित्वन्त्यजासु च' इत्येकवाक्यसमभिव्याहाराद्भगिन्यादिव्वपीय-
मेव व्यवस्था वेदितव्या । मरणान्तिकं चात्राग्निप्रवेशनम् । 'जनन्यां च भगिन्यां
च स्वसुतायां तथैव च । स्नुषायां गमनं चैव विज्ञेयमतिपातकम् ॥ अतिपात-
किनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । जनन्यां सकृद्गमने
भगिन्यादिषु चासकृद्गमने अग्निप्रवेश इति द्रष्टव्यम् ; महापातकस्य जननी-
गमनस्य तदतिदेशविषयभूतातिपातकस्य भगिन्यादिगमनस्य च तुल्यत्वा-
योगात् । यत्तु बृहद्यमेनोक्तम्—'चाण्डालीं पुत्तकसीं म्लेच्छीं स्नुषां च भगिनीं
सखीम् । मातापित्रोः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥ मातुलानीं प्रव्रजितां
स्वगोत्रां नृपयोषितम् । शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति;
यच्चाङ्गिरोवचनम्—'पतितान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । मासोपवासं
कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति,—तदुभयमपि गुरुतरपातिदेशविषयेषु का-
मतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादवाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् ; यदपि संवर्तवचनम्—'भगिनीं
मातुरासां च स्वसारं चान्यमातृजाम् । पृता गत्वा स्त्रियो मोहात्सकृच्छ्रं
समाचरेत् ॥' इति,—तदनन्तरोक्त एव विषये अकामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकाद-
वाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् । यदा पुनरेता एवात्यन्तव्यभिचारिणीर्गच्छति तदापीदमेव
प्रायश्चित्तयुगलं चान्द्रायणतसकृच्छ्रात्मकं क्रमेण कामतोऽकामतश्च प्रवृत्तौ द्रष्टव्यम् ;
साधारणस्त्रीषु तु गुरुणोपभुक्तास्वपि गमने गुरुतरपत्वदोषो नास्ति । 'जात्युक्तं
पारदार्यं च कन्यादूषणमेव च । साधारणस्त्रियां नास्ति गुरुतरपत्वमेव च ॥'
इति व्याघ्रस्मरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्युक्त्वावचप्रायश्चित्तप्रतिपत्ति-
पराण्यन्विष्य विषयव्यवस्थोहनीया, ग्रन्थगौरवमयाञ्च लिख्यन्ते ॥ २६० ॥

भाषा—अथवा गुरुपत्नी का भोग करने वाला तीन वर्ष तक प्राजापत्य
कृच्छ्र व्रत करे अथवा तीन मास तक वेदसंहिता का जप करता हुआ
चान्द्रायण व्रत करे ॥ २६० ॥

इति गुरुतरप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

एवं ब्रह्महादिमहापातकिप्रायश्चित्तमभिधायावसरप्राप्तं तत्संसर्गिप्रायश्चित्तमाह—

एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः ।

एभिः पूर्वोक्तैर्ब्रह्महादिभिरेकं संवत्सरं योऽप्यन्तं संवसति सहाचरति सोऽपि तत्समः । यो येन सहाचरति सोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति तदीयप्रायश्चित्तातिदेशार्थं तत्समग्रहणम्, न पुनः पातकत्वातिदेशार्थम् । तस्य 'यश्च तैः सह संवसेत्' (प्रा० २२३) इत्युपदेशत एव सिद्धत्वात् । अत्र च सत्यप्यतिदेशत्वे कृच्छमेव द्वादशवार्षिकं कार्यम्, साक्षान्महापातकित्वासंसर्गिणः । 'अपि'-शब्दाच्च केवलं महापातकिसंयोगी तत्समः किंस्वतिपातकीपातक्युपपातक्यादीनां मध्ये यो येन सह संसर्गं करोति, सोऽपि तत्सम इति तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति दर्शयति अत एव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमध्यायान्तेऽभिधायाभिहितम् (११।१८१)—'यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥' इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातक्यादेनस्विमात्रसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तभावत्वं दर्शितम्—'पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति । अत एव मनुना सामान्येनैवस्विमात्रप्रतिषेधः कृतः (११।१८९)—'एनस्विभिरविधिकैर्नैर् कंचित्समाचरेत्' इति । तथा—'न संसर्गं भजेसद्भिः प्रायश्चित्ते कृते सति' इति च ।—एतच्च द्वादशवार्षिकादिव्रतित्वाप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वसंसर्गविषयम्, 'पतितेन सहोषित्वा जानन्संवत्सरं नरः । मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयं च पतितो भवेत् ॥' इति देवलस्मरणात् । अज्ञानतः संसर्गे पुनर्वसिष्ठोक्तम् (१२।४५, ४६)—'पतितसंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौनेन वा सौवेण वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां परित्यागस्तैश्च न संवसेदुषीचीं दिशं गत्वाऽनश्नन्संहिताध्वनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । तथा—'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतक्षपगः । एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥' इति, 'तैरिति' तुवीयया सर्वनामपरामृष्टप्रकृतब्रह्महादिवस्तुष्टयसंसर्गिण एव महापातकित्ववचनात्तत्संसर्गिणो न महापातकित्वम् । ननु महापातकिसंसर्ग एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः; तस्य व्यभिचारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिसंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति तस्यापि महापातकित्वं स्याच्च प्रतिषेधः । उच्यते,—स्यादेवं यदि प्रमाणान्तरगम्यं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तैस्मिन्नैवं भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शना सर्वनाम्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकित्वहेतुत्वस्यावगमितत्वात् । एवं च सति प्रतिषेधाभावोऽप्यहेतुः प्राप्त्यभावादेव ।

१. पातकित्वा । २. अतिदेशकत्वे । ३. इति सर्वं निरवयवम् ।

४. तैरिति सर्वनाम । ५. तस्मिन्नेव ।

अतः संसर्गिसंसर्गिणां द्विजातिकर्मभ्यो हानिर्न भवति, प्रायश्चित्तं तु भवत्येव । न च संसर्गिसंसर्गिणः पातित्याभावे कथं प्रायश्चित्तमिति वाच्यम् ; 'एनस्विभिरनिर्गिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेत्' (११।१८९) इति सामान्येनैव नस्विमात्रप्रतिषेधेन महापातकिसंसर्गिसंसर्गस्यापि प्रतिषिद्धत्वात्पातित्याभावेऽपि युक्तमेव प्रायश्चित्तम् । तच्च पादहीनम् ; 'यो येन संवसेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् । पादहीनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥' इति व्यासोक्तं द्रष्टव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमयोरपि कामतः संसर्गिणोर्धहीनं त्रिपादोनं च द्रष्टव्यम् । अतः साक्षाद् ब्रह्महादिसंसर्गिण एव तदीयप्रायश्चित्ताधिकारो न संसर्गिसंसर्गिण इति सिद्धम् । अत्र च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तिकमुपदिष्टं तथापि संसर्गिणस्तन्नातिदिश्यते । 'स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति व्रतस्यैवातिदेशात्, मरणस्य च 'व्रत' शब्दवाच्यत्वाभावात् । अतोऽत्र कामकृतेऽपि संसर्गे द्वादशवार्षिकमकामतस्तु तदर्थम् । संसर्गश्च स्वनिबन्धनकर्मभेदादनेकधा भिद्यते । यथाह बृहद्बृहस्पतिः— 'एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डं पङ्क्त्यन्नमिश्रणम् । याजनाध्यापने योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥ नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह ॥' इति । देवलोऽपि— 'संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् । याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥' इति । एकशय्यासनमेकखट्वासनमेकपङ्क्तिभोजनमेकभाण्डपचनमन्नेन मिश्रणं संसर्गस्तदीयान्नभोजनमिति यावत् । याजनं पतितस्य स्वस्थ वा तेन, अध्यापनं तस्य स्वस्थ वा तेन, यौनं तस्मै कन्यादानं तत्सकाशाद्वा कन्यायाः प्रतिग्रहः, सहभोजनमेकामत्रभोजनम्, संलापः संभाषणम्, स्पर्शो गात्रसंमर्दः, निःश्वासः पतितमुखवायुसंपर्कः, सहयानमेकतुरगाद्यारोहणम्, एतेषां मध्ये केन कर्मणा कियता कालेन पातित्यमित्यपेक्षायां बृहद्विष्णुनोक्तम्— 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्नेकयानभोजनासनशयने, यौनसौवमुख्यैस्तु संबन्धैः सद्य एव' इति । अत्रैकभोजनमेकपङ्क्तिभोजनम् । एकामत्रभोजने तु सद्यःपातित्यम् ; 'याजनं योनिःसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् । कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः ॥' इति देवलस्मरणात् । 'सौव'शब्देन याजनमभिधीयते । 'मुख्य'शब्देन मुखभवेत्वेनाध्यापनम् । यौनसौवमुख्यैरिति सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे प्रत्येकमेव तेषां सद्यःपतनहेतुत्वम् ; 'यः पतितैः सह यौनमुख्य-सौवानां 'संबन्धानामन्यतमं संबन्धं कुर्यात्तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्' इति सुमन्तुस्मरणात् । एकयानादिचतुष्टयस्य तु समुदितस्यैव पतनहेतुत्वम् ; 'एकयानभोजनासनशयनैः' इति इतरेतरयुक्तानां निर्देशात् । प्रत्येकानुष्ठानस्य तु पतनहेतुत्वाभावेऽपि दोषहेतुत्वमस्त्येव ; 'भासनाच्छयनाद्यानात्संभाषात्सहभोजनात् । संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाग्भसि ॥' इति पराशरवचनेन निरपेक्षानामपि पापहेतुत्वावगमात् । संलापस्पर्शनिःश्वासानां तु यानादिचतुष्टयेनानवधि-

कतया समुच्चितानामेव पतनहेतुत्वं न पृथग्भूतानामल्पत्वात्, पापहेतुत्वं पुनरस्त्येव; 'संलापस्पर्शनिश्वास' इति देवलवचनस्य दर्शितत्वात् । अतः संलापादिरहिते सहयानादिचतुष्टये कृते पञ्चमभागोनं द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं कुर्यात् । तत्सहिते तु पूर्णम् । एवं च सति एभिस्तु संवत्सरेषु वै वत्सरं सोऽपि तत्समः' इति योगीश्वरवचनमपि सहयानादिचतुष्टयपरमेव युक्तम् । यतः संलापादीनां पृथक्पातित्यहेतुत्वं नास्ति । अत एव मनुना (११।१८०)—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौ नान्न तु यानासनाशनात् ॥' इति यानादिचतुष्टयस्यैव संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वमुक्तम् । अत्र 'आसन' ग्रहणं शयनस्याप्युपलक्षणम् । अत्र च 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।' 'यानाशनासनात्' इति व्यवहितेन संबन्धः; प्राग्दर्शितविष्णुवचनानुरोधात्, तथा—'संवत्सरेण पतति पातितेन सहाचरन् । भोजनासनशय्यादि कुर्वाणः सार्वकालिकम् ॥' इति देवलवचनाच्च । न चानन्वयदोषः; यानासनाशनादिहेतोराचरन्नाचारं कुर्वन्निति भेदविवक्षया संबन्धोपपत्तेः । यथा एतया पुनराधेयसंमितयेष्टयेष्ट्वेति । यद्वा 'आचरन्' इति शत्रा हेत्वर्थस्य गमितत्वात् । यानाशनासनादिति द्वितीयार्थे पञ्चमी । याजनाध्यापनाद्यौ ना (सहभोजना) न तु संवत्सरेण पतति, किंतु सद्य एव प्राचीनवचननिचयानुरोधादेव । अतो यौनादिचतुष्टयेन सद्यः पतति यानादिचतुष्टयेन तु संवत्सरं निरन्तराभ्यासेनेति युक्तं 'वत्सरं सोऽपि तत्समः' इति अत्यन्तसंयोगवाचिन्या द्वितीयया दर्शनादन्तरितदिवसगणना कार्या । यथा षष्ठ्यधिकशतत्रयदिवसव्यापित्वं संसर्गस्य भवति, ततो न्यूने तु न पतितप्रायश्चित्तं, किंत्वन्यदेव । यथाह पराशरः—'संसर्गमाचरन्विप्रः पतितादिष्वकामतः । पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ॥ मासार्धं मासमेकं वा मासत्रयमथापि वा । अढ्यार्धमेकमब्दं वा भवेदूर्ध्वं तु तत्समः ॥ त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरन् । चरेत्सान्तपन्नं कृच्छ्रं तृतीये पक्षे एव तु । चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे ततः । षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्सप्तमे त्वेन्दवद्वयम् ॥ अष्टमे च तथा पक्षे षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेत् ॥' इति । कामतः संसर्गे पुनर्विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः—सुमन्तुः—'पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तत्कृच्छ्रकम् । पराकस्त्वर्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । 'मासत्रये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् । षण्मासिके तु संसर्गे कृच्छ्रं त्वढ्यार्धमाचरेत् ॥ संसर्गे त्वाब्दिके कुर्यादब्दं चान्द्रायणं नरः ॥' इति । अत्र चाब्दिके संसर्गे इति किञ्चिन्न्यून इति द्रष्टव्यम्; पूर्णे तु वत्सरे मन्वादिभिर्द्वादशवार्षिकस्मरणः । यत्तु बार्हस्पत्यं वचनम्—'षण्मासिके तु संसर्गे याजनाध्यापनादिना । एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेत् ॥' इति,

याजनाध्यापनयौनैकपात्रभोजनानां षण्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽत्यन्तापदि पञ्चमहायज्ञादिप्राये याजनेऽङ्गाध्यापने दुहितृभगिनीव्यतिरिक्ते च योनिसंबन्धे द्रष्टव्यम्; प्रकृष्टयाजनादिभिः सद्यःपातित्यस्योक्तत्वात् । एतद्विगलम्बनेनैव दुहितृभगिनीस्तुषागास्यतिपातकिसंसर्गिणां कामतो नववार्षिकं, अकामतः सार्धचतुर्वार्षिकं कल्पनीयम् । सखिपितृव्यदारादिगामिपातकिसंसर्गिणां कामतः षड्वार्षिकम्, अकामतस्त्रैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिसंसर्गिणामपि कामतस्तदीयमेव त्रैमासिकम्, अकामतोऽर्धमित्यूहनीयम् । पुरुषवत्स्त्रीणामपि महापातक्यादिसंसर्गात्पातित्यमविशिष्टम् । यथाह शौनकः—‘पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ।’ ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पततीति; अतस्तासामपि महापातकिप्रभृतीनां मध्ये येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्थं क्लृप्त्यो योजनीयम् । एवं बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धम्, अकामतः पादः । तथानुपनीतस्यापि बालस्य कामतः पादोऽकामतस्तदर्धमित्येषा दिक् ॥

पतितसंसर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसंबन्धस्य क्वचित्प्रतिप्रसवमाह—

कन्यां समुद्रहेदेषां सोपवासामर्किकचानाम् ॥ २६१ ॥

एषां पतितानां कन्यां पतितावस्थायामुत्पन्नां सोपवासां कृततत्संसर्गकालोचितप्रायश्चित्तमर्किकचानामगृहीतवस्त्रालंकारादिपितृधनामुद्रहेत् । ‘कन्यां समुद्रहेत्’ इति वदन्स्वयमेव कन्यां त्यक्तपतितसंसर्गां समुद्रहेन्न पुनः पतितहस्ताप्रतिगृह्णीयादिति दर्शयति । एवं च सति पतितयौनसंसर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो भवति । अयं चार्थो बृहद्वह्नीतेन स्पष्टीकृतः—‘पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैते इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्’ इति । तथा ‘एषां कन्यां समुद्रहेद्’ इति वचनात्स्त्रीव्यतिरिक्ततदीयापत्यस्य संसर्गानर्हतां दर्शयति । अत एव वसिष्ठः—‘पतितेनोत्पन्नः पतितो भवति अन्यत्र स्त्रियाः, सा हि परगामिनो तामरिक्थामुपेयात्’ इति ॥ २६१ ॥

भाषा—इन महापातकियों के साथ जो एक वर्ष तक निवास करता है वह भी इनके समान महापातकी हो जाता है । इन पातकियों की कन्या से उन्हें उपवास करा के पिता का (वस्त्रादि) कुछ भी न लेते हुए विवाह किया जा सकता है ॥ २६१ ॥

इति संसर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निषिद्धसंसर्गं प्रायश्चित्तप्रसङ्गान्निषिद्धसंसर्गोत्पन्नप्रतिलोमवधे प्रायश्चित्तमाह—

चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टान्निहत्य तु ।

अवकृष्टाः सूतमागधादयः प्रतिलोमोत्पन्नास्तेषां प्रत्येकं हनने चान्द्रायणम् । तथा च शङ्खः—‘सर्वेषामवकृष्टानां वधे प्रत्येकं चान्द्रायणम्’ इति । यद्वा-

ङ्गिरसोक्तम्—‘सर्वान्त्यजानां गमने भोजने संप्रमाणे । पराक्रेण विशुद्धिः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम् ॥’ इति पराकं कुर्यात् । तत्र कामतः सूतादिवधे चान्द्रायणम् , अकामतस्तु सूतवधे पराकः, वैदेहकवधे पादोनम् , चण्डालवधे द्विपादः, मागधवधे पादोनः पराकः, क्षत्रि द्विपादः, आयोगवे च पादद्वयम्, अनयैव दिशा चान्द्रायणस्यापि तारतम्यं कल्प्यम् । यत्तु ब्रह्मगर्भवचनम्—‘प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषट् ॥’ इति,—तदावृत्तिविषयम् । तत्र सूतवधे षणमासाः, वैदेहकवधे चत्वारः, चण्डालवधे द्वाविति योग्यतयान्वयः । तथा मागधवधे चत्वारः, क्षत्रि द्वैमासिकं, आयोगवे च द्वैमासिकमिति व्यवस्था ।

नैमित्तिकव्रतानां जपादिसाध्यत्वाद्विषाविरहिणां च शूद्रादीनां तदनुपपत्ते-
राज्यावेक्षणदिसाध्येष्विवान्धानामनधिकारमाशङ्क्याह—

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुद्ध्यति ॥ २६२ ॥

यद्यपि शूद्रो जपाद्यधिकारहीनस्तथाप्यनेन द्वादशवार्षिकादिकालसंपाद्येन व्रतेन शुद्ध्यति । ‘शूद्र’ग्रहणं स्त्रीणां प्रतिलोमजानां चोपलक्षणम् । यद्यपि तस्य गायत्र्यादिजपासंभवस्तथापि नमस्कारमन्त्रजपो भवति । अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—‘उच्छिष्टं चास्य भोजनमनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः’ इति । यद्वा वचनबलाजपादिरहितमेव व्रतं कुर्यात्—‘तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥’ इत्याङ्गिरः-स्मरणात् । तथाऽपरमपि तेनैवोक्तम्—‘शूद्रः कालेन शुद्ध्येत गोब्राह्मणहिते रतः । दानैर्वाऽप्युपवासैर्वा द्विजशुश्रूषया तथा ॥’ इति । यत्तु मानवम् (४।८०)—‘न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमाचरेत्’ इति शूद्रस्य व्रतोपदे-
शनिषेधपरं वचनं,—तदनुपसन्नशूद्राभिप्रायम् । यदपि स्मृत्यन्तरवचनम्—‘कृच्छ्राण्येतानि कार्याणि सदा वर्णव्रतेन तु । कृच्छ्रेष्वेतेषु शूद्रस्य नाधिकारो विधीयते ॥’ इति,—तस्माद्यकृच्छ्राभिप्रायम् । अतः स्त्रीशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद् व्रताधिकार इति सिद्धम् । यत्तु गौतमवचनम् (४।२५)—‘प्रति-लोमा धर्महीनाः’ इति,—तदुपनयनादिविशिष्टधर्माभिप्रायम् ॥ २६२ ॥

भाषा—सभी अवकृष्टों (सूत, मागध आदि उच्चवर्ण की स्त्री से निम्न-वर्ण के पुरुष द्वारा उत्पन्न) में किसी की हत्या करने पर चान्द्रायण व्रत करे । यद्यपि शूद्र को जप आदि करने का अधिकार नहीं होता तथापि वह निर्धारित समय तक व्रत करने पर पाप से शुद्ध हो जाता है ॥ २६२ ॥

इति महापातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

महापातकादिपञ्चकमध्ये महापातकातिपातकानुपपातकप्रायश्चित्तान्युक्त्वा-
ऽधुनोपपातकप्रायश्चित्तानि व्याचक्षाणः पाठक्रमप्राप्तं गोवधप्रायश्चित्तं तावदाह—

पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नो मासमासीत संयतः ।

गोष्ठेशयां गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥ २६३ ॥

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद्वापि समाहितः ।

दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः ॥ २६४ ॥

गां हन्तीति गोघ्नः, मूलविभुजादिस्वात्कप्रत्ययः । असौ मासं समाहित-
आसीत । किं कुर्वन् ? पञ्च च तानि गव्यानि गोमूत्रगोमयशीरदधिघृतानि यथा-
विधि मिश्रितानि पिबन्, आहारान्तरपरित्यागेन भोजनकार्यं तस्य विधानात् ।
तथा गोष्ठेशयः । प्राप्तशयनानुवादेन गोष्ठविधानाद्दिवा च स्वापप्रतिषेधाद्वात्रौ-
गोशालायां शयानः । गा अनुगच्छति तदस्य व्रतमिति गोऽनुगामी । व्रते-
णिनिः । अतश्च यासां गोष्ठे शेते सन्निधानात्ता एव गाः प्रातर्वनं प्रतिचरन्तीरनु-
गच्छेत् । अनुगच्छेदिति वचनाद्यदा ता गच्छन्ति तदैव स्वयमनुगच्छेत् । यदा
तु तिष्ठन्त्यासते वा तदा पश्चाद्गमनस्याशक्यकरणत्वास्त्वयमपि तिष्ठेद्वासीत वेति
गम्यते । अनुगमनविधानादेव ताभिः सायं गोष्ठं व्रजन्तीभिः सह गोष्ठप्रवेशोऽ-
प्यर्थसिद्धः । एवं कुर्वन्मासान्ते गोप्रदानेन एकां गां दत्त्वा तावता शास्त्रार्थस्य
संपत्तेर्गोहस्यायाः शुद्ध्यतीत्येकं व्रतम् । मासं गोष्ठेशयो गोऽनुगामीति चानुव-
र्तते । पञ्चगव्याहारस्य तु निवृत्तिः कृच्छ्रविधानादेव । अतश्च मासं निरन्तरं कृच्छ्रं
समाहितश्चरेदित्यपरम् । अत एव जाबालेन मासं प्राजापत्यस्य पृथक् प्रायश्चित्त-
त्वमुक्तम्—‘प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः । गोहितो गोऽनुगामी
स्याद्गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥’ (प्रा० २६०) इति । अतिकृच्छ्रं वा तथैव समाच-
रेदित्यन्यत् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोर्लक्षणमुत्तरत्र वच्यते । अथवा त्रिरात्रमुपवासं
कृत्वा वृषभ एकादशो यासां गवां ता दद्यादिति व्रतचतुष्टयम् । तत्राकामकृते
जातिमात्रब्राह्मणस्वामिकगोमात्रवधे उपवासं कृत्वा वृषभैकादशगोदानसहितस्त्रि-
रात्रोपवासो द्रष्टव्यः । विशिष्टस्वामिकाया विशिष्टगुणवत्याश्च वधे गुरुप्रायश्चि-
त्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । क्षत्रियसंबन्धिन्यास्तु तादृग्वधे व्यापादने मासं पञ्चगव्या-
शित्वं प्रथमं प्रायश्चित्तम् । अत्र मासपञ्चगव्याशनस्यातिस्वरूपत्वात्तन्मासोपवासतु-
ल्यत्वम् । ततश्च षड्भिः षड्भिरुपवासैरेकैकप्राजापत्यकल्पनया पञ्चकृच्छ्राणां प्रत्या-
श्नायेन पञ्च धेनवो मासान्ते च दीयमाना गौरेकेति षट् धेनवो भवन्तीति वृष-
भैकादशगोदानसहितत्रिरात्रव्रताह्मणीयस्त्वम् । कथं पुनर्ब्राह्मणगवीनां गुरुत्वम् ?
‘देवब्राह्मणराज्ञां तु विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम्’ इति नारदेन तद्द्रव्यस्योत्तमत्वाभिधा-

नात्, गोषु ब्राह्मणसंस्थास्त्विति दण्डभूयस्त्वदर्शनाच्च । वैश्यसंबन्धिन्यास्तु तादृ-
 ग्विधे व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात् । अतिकृच्छ्रे त्वाद्ये त्रिरात्रत्रये पाणिपूराज्ञ-
 भोजनमुक्तम् । अन्ये त्रिरात्रेऽनशनम् । अतोऽतिकृच्छ्रधर्मेण मासव्रते क्रियमाणे
 षड्रात्रमुपवासो भवति । चतुर्विंशत्यहे च पाणिपूराज्ञभोजनम् । ततश्च कृच्छ्रप्रत्या-
 न्नायकल्पनया किञ्चिन्न्यूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद् व्रतद्वयाल्लघिष्ठत्वेन वैश्य-
 स्वामिकगोवधविषयता युक्ता । तादृश एव विषये शूद्रस्वामिकगोहत्यायां मासं
 प्राजापत्यव्रतं द्वितीयम् । तत्र च सार्धप्राजापत्यद्वयात्मकेन प्रत्यान्नायेन किञ्चिद-
 धिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वभ्यो लघुतमत्वाच्छूद्रविषयतोचिता । अथ चैतत्प्राय-
 श्चित्तचतुष्टयं साक्षात्कर्त्रनुग्राहकप्रयोजकानुमन्तृषु गुरुलघुभावतारतम्यापेक्षया
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम् । यत्तु वैष्णवं व्रतत्रयम्—‘गोघ्नस्य पञ्चगव्येन
 मासमेकं पलत्रयम् । प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा ॥’ इति, यच्च
 काश्यपीयम्—‘गां हत्वा तच्चर्मणा प्रावृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिपवणस्त्रायी नित्यं
 पञ्चगव्याहारः’ इति, यच्च शातातपीयम्—‘मासं पञ्चगव्याहारः’ इति, तत्प-
 ञ्चकमपि याज्ञवल्कीयपञ्चगव्याहारसमानविषयम् । यच्च शङ्खप्रचेतोभ्यामु-
 क्तम्—‘गोघ्नः पञ्चगव्याहारः पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोच-
 र्मणा प्रावृतो गाश्चानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यात्’ इति । एतच्च याज्ञ-
 वल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतसमानविषयम् । ‘दद्यात्त्रिरात्रं चोपोप्य’ इत्येतद्विषयं
 वाऽत्यन्तगुणिनो हन्तुर्वेदितव्यम् । अत्रैव विषये पञ्चगव्याशक्तस्य तु द्वितीयं
 काश्यपीयं ‘मासं पञ्चगव्येने’ति प्रतिपाद्य ‘पष्ठे काले पयोभक्षो वा गच्छन्तीष्व-
 नुगच्छेत्तासु सुखोपविष्टासु चोपविशेन्नातिप्लवं गच्छेन्नातिविषमेणावतारयेन्ना-
 ल्पोदके पाययेदन्ते ब्राह्मणान्भोजयित्वा तिलधेनुं दद्यात्’ इति द्रष्टव्यम् । अत्रा-
 प्यशक्तस्य ‘गोघ्नो मासं यवागूं प्रसृतितन्दुलशृतं भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वन्
 शुद्ध्यति’ इति पैठिनसिनोक्तं वेदितव्यम् । यत्तु सौमन्तम्—‘गोघ्नस्य गोप्रदानं
 गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्याशनं गवानुगमनं च’ इति ; यच्च संवर्तेनो-
 क्तम्—‘सक्तुयवकभैक्ष्याशी पयो दधि घृतं सकृत् । एतानि क्रमशोऽश्नीया-
 न्मासार्धं सुसमाहितः ॥ ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्ध्ये ॥’
 इति; यच्च बार्हस्पत्यम्—‘द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः’ इति तत्त्रितयमपि
 याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्येन समानविषयं, मृतकल्पगोहत्याविषयं वा, विषमप्र-
 देशत्रासेन जनितव्याधितो मरणविषयं वा वेदितव्यम् । तदिदं सर्वं प्रागुक्तमका-
 मविषयम् । यदा पुनरीदृग्विधामविशिष्टविप्रस्वामिकामविशिष्टां गां कामतः
 प्रमापयति तदा मनुना मासं यवागूपानं, मासद्वयं हविष्येण चतुर्थकालभोजनं,

मासत्रयं वृषभैकादशगोदानयुक्तं शाकादिना वर्तनमिति व्रतत्रितयमागनातम् । यथाह (११।१०८-११६)—‘उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् । कृत-
वापो वसेद्गोष्ठे चर्मणाद्देणं^१ संवृतः । चतुर्थकालमशनीयादक्षारलवणं मितम् । गोमूत्रेण चरेत्सनानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ दिवानुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्तूर्ध्वं
रजः पिबेत् । शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु
व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् । आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ आतुरामै-
भिश्चस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा
तु शक्तितः ॥ आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले । भक्षयन्तीं न कथ-
येत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति । स
गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ वृषभैकादशां गांश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्वद्व्यो निवेदयेत् ॥’ (११।१०८-११६) इति, एत-
त्त्रितयं याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशगोदानयुक्तत्रिरा-
त्रोपवासरूपव्रतत्रितयविषयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यम् । यस्वङ्गिरसा मानवेतिकर्तव्य-
तायुक्तं त्रैमासिकमभिधायाधिकमभिहितम्—‘अक्षारलवणं रूक्षं षष्ठे कालेऽस्य
भोजनम् । गोमतीं वा जपेद्विद्यामोङ्कारं वेदमेव च ॥ व्रतवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रां
चैव मेखलाम् ॥’ इति, तन्मानवविषयम् । एवं पुष्टितारुण्यादिकिञ्चिद्गुणातिश-
ययोगिन्यां द्रष्टव्यम् । ‘अतिबालामतिकृशामतिवृद्धां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्व-
विधानेन चरेदर्धं व्रतं द्विजः ॥’ इति पुष्टितारुण्यादिरहितायां गव्यर्धप्रायश्चित्त-
दर्शनात् । यदा तु याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां गामविशिष्टस्वा-
मिकां जातिमात्रयोगिनीं कामतो व्यापादयति तदा ‘विहितं यदकामानां कामात्तद्
द्विगुणं चरेत्’ इति न्यायेन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिकृच्छ्रव्रतं द्विगुणं कुर्यात् ।
यत्तु हारीतेन—‘गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्ववालं परिधाय’ इत्यादिना मानवीमितिकर्तव्यता-
मभिधायोक्तम्—‘वृषभैकादशाश्च गा दत्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवति’ इति
तत्सवनस्थश्रोत्रियगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठेन—‘गां चेद्धन्या-
त्तस्याश्चर्मणाद्देणं परिवेष्टितः षणमासान् कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रान्वातिष्ठेदपभवेहतौ दद्यात्’
इति षाण्मासिकं कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रानुष्ठानमुक्तम्, यदपि देवलेन—‘गोघ्नः षणमासां-
स्तच्चर्मपरिवृतो गोघ्रासाहारो गोव्रजनिवासी गोभिरेव सह चरन् प्रमुच्यते’
इति,—तद् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम् । तत्रैव कामकारकृते कार्याय-
नीयं त्रैवार्षिकम्—‘गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथवा पुनः । गाश्चानुगच्छेत्स-
ततं मौनी चौरासनादिभिः ॥ वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयार्दिना मोचयेत् ॥’

वयस्तेन पूयते वत्सरैस्त्रिभिः ॥' इति द्रष्टव्यम् । यच्च शाङ्खं त्रैवार्षिकम्—'पादं तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा । गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा ॥' इति,—तदपि कात्यायनीयव्रतसमानविषयम् । यत्तु यमेनाङ्गिरसीमितिकर्तव्यतामभिधाय 'गोसहस्रं शतं वापि दद्यात्सुचरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भयो निवेदयेत् ॥' इति गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितम्, तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियादिदुर्गतबहुकुटुम्बब्राह्मणसंबन्धिनीं कपिलां कर्माङ्गभूतां गर्भिणीं बहुक्षीरतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान्सप्रयत्नं खड्गादिना व्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्तं त्रैमासिकं कुर्यात्; 'गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुं च सुव्रताम् । खड्गादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत् ॥' इति विशिष्टायां गवि बार्हस्पत्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात् । अत एव प्रचेतसा—'स्त्रीगर्भिणीगोर्गर्भिणीबालवृद्धवधेषु भ्रूणहा भवति' इति । ईदृग्विधमेव गोवधमभिसंधाय ब्रह्महत्याव्रतमतिदिष्टम् । द्वितीयं तु याम्यं गोशतदानयुक्तं त्रैमासिकं व्रतं कात्यायनीयव्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यम् । यत्तु गौतमेन (२२।१८) वृषभैकशतगोदानसमुचितं त्रैवार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वैश्यवधेऽभिधाय गोवधेऽतिदिष्टम्—'गां च हत्वा वैश्यवत्' इति । एतच्च त्रैवार्षिकव्रतप्रत्याशनायभूतनवतिधेनुभिः सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यूनां द्विशतं भवतीति गोसहस्रयुक्तत्रैमासिकव्रतान्न्यूनात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे । यद्वा तत्रैव विषये गर्भरहितायाः कामतो वधे द्रष्टव्यम् । तादृग्विधाया एव गर्भरहितायास्त्वकामतो हननेऽपि कात्यायनीयमेव त्रैवार्षिकं कल्प्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'काष्ठलोष्टाश्मभिर्गावः शस्त्रैर्वा निहता यदि । प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रेऽशस्त्रे विधीयते ॥ काष्ठे सान्तपनं कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्टके । तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । त्रिशङ्का वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणाम् ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तगोसहस्रशतादिदानत्रैवार्षिकादिव्रतविषयेष्वेव काष्ठादिसाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादिपूर्वकत्वप्रतिपादनपरं, नतु निरपेक्षं; लघुत्वाद् व्रतस्य । तथा वयोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेष उक्तः—'अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः ॥ ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्या दद्याद्धेम तिलांस्तथा ॥' इति । नीरोगादिवधे यद्विहितं तस्यार्धम् । बृहत्प्रचेतसाप्यत्र विशेष उक्तः—'एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते । अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद् द्विपादस्तु द्विहायने ॥ त्रिहायने त्रिपादः स्यात्प्राजापत्यमतः परम् ॥' इति । तथा गर्भिण्या वधे यदा गर्भोऽपि निहतो भवति तदा 'प्रतिनिमित्तं

नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेनाविशेषणं द्विगुणव्रतप्राप्तौ षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते । पादोनं व्रत-मुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥ अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णं गर्भं चेतःसमन्विते । त्रिगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोधनस्य निष्कृतिः ॥' इति । बहुकर्तृके तु हनने संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहनुः—'एका चेद्बहुभिः काचिद्दैवाद्वयापादिता क्वचित् । पादं पादं तु हस्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥' इति । याद्विषयगोहस्यायां यद्व्रतमुपदिष्टं तत्पादं प्रत्येकं कुर्युर्वचनात् । 'एका चेत्' इत्युपलक्षणम् । अतो बहुभिर्द्वयोर्बहुनां च व्यापादने प्रतिपुरुषं पादद्वयं पादोनं वा कल्पनीयम् । -एतच्चाकामतो व्रधे द्रष्टव्यम् ; दैवादिति विशेषणोपादानात् । कामकारे तु बहूनामपि प्रत्येकं कृत्स्नदोषसंबन्धात्कृत्स्नव्रतसंबन्धो युक्तः, सन्निगामिव प्रति-पुरुषं कृत्स्नव्यापारसमवायात्, 'एकं व्रतां बहूनां तु यथोक्ताद् द्विगुणो दमः' इति प्रत्येकं दण्डे द्वैगुण्यदर्शनाच्च । यदा त्वेकेनैव रोधनादिव्यापारेण बहवो गावो व्यापादितास्तत्र संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहनुः—'व्यापज्जानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा । भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत् ॥' इति । बहुष्वपि व्यापज्जेषु न प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकानुष्ठानं, नापि तन्त्रेण किंतु वचनबलाद् द्विगुण-मेव । तथा भिषगपि विरुद्धौषधदानेनैकस्या अप्यकामतो व्यापादने द्विगुणं गोव्रतं कुर्यात् । भिषगव्यतिरिक्तस्य केवलम् उपकारार्थं प्रवृत्तस्य स्वकामतः प्रति-कूलौषधदाने व्यास आह—'औषधं लवणं चैव पुण्यार्थमपि भोजनम् । अति-रिक्तं न दातव्यं काले स्वरूपं तु दापयेत् ॥ अतिरिक्ते विपत्तिश्चेत्कृच्छ्रपादो विधीयते ॥' इति ॥ यत्वापस्तम्बेनोक्तम्—'पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इति,—तद्व्यवहितव्यापारिणो निमित्तकर्तृविज्ञेयं, न साक्षात्कर्तुः । साक्षात्कर्तृनिमित्तिनोश्च भेदस्तेनैव दर्शितः—'पाषाणैर्लकुटैर्वाऽपि शस्त्रेणान्येन वा बलात् । निपातयन्ति ये गास्तु कृत्स्नं कुर्यु-र्व्रतं हि ते ॥ तथैव बाहुजङ्घोरुपार्श्वग्रीवाङ्घ्रिमोटनैः ॥' इति । एतदुक्तं भवति—पाषाणखड्गादिभिर्ग्रीवामोटनादिना वा येऽङ्गानि पातयन्ति ते साक्षादन्तारस्ते-ष्वेव कृत्स्नं प्रायश्चित्तम् । ये तु व्यवहितरोधबन्धादिव्यापारयोगिनस्ते निमित्ति-नस्तेषां न कृत्स्नव्रतसंबन्धः किंतु तदवयवैरेव पादद्विपादादिभिरिति । तत्र च रोधादिना व्यवहितव्यापारत्वाविशेषेऽपि वचनात्कचित्पादः, क्वचिद् द्विपादः, पादोनं क्वचिदिति युक्तम् । अत्राह पराशरः—'गवां बन्धनयोक्त्रैस्तु भवेन्मृत्युरका-मतः । अकामकृतपापस्य प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥ प्रायश्चित्ते तत्तश्चीर्णे कुर्या-द् ब्राह्मणभोजनम् । अनङ्गुत्सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । अयं

१. बन्धनादि । २. बन्धने तथा । ३. लघुदैर्वापि । ४. तत्रावरोधा-दिना !

च प्राजापत्यो यदि रोधादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया प्रत्यवेत्तमात्रा
 आस्ते तदा द्रष्टव्यः; 'अकामकृतपापस्य' इति विशेषणोपादानात् । यदा तु न
 प्रमादसंस्मरणं करोति, तदा 'पादमेकं चरेदोघे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योजने
 पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इत्यङ्गिरोदष्टं त्रैमासिकपादं किञ्चिदधिकं वा
 विंशत्यहर्गोविधव्रतं कुर्यात् । आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः—'अतिदोहाति-
 वाहाभ्यां नासिकाच्छेदने तथा । नदीपर्वतसंरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति ।
 लक्ष्णमात्रोपयोगिनि तु दाहे न दोषः; 'अन्यत्राङ्गनलक्षाभ्यां वाहने मोचने
 तथा । सायं संगोपनार्थं च न दुष्येद्रोधबन्धने ॥' इति पराशरस्मरणात् ।
 अङ्गनं स्थिरचिह्नकरणम्, लक्षणं सांप्रतोलक्ष्णम् । वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण
 रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्वन्धने भवत्येव दोषः; 'न नालिकेरेण न शाणवा-
 लैर्न चापि मौञ्जेन न बन्धशृङ्खलैः । एतैस्तु गावो न निबन्धनीया बद्ध्वा तु
 तिष्ठेत्परशुं गृहीत्वा ॥ कुशैः काशैश्च बध्नीयास्थाने दोषविवर्जिते ॥' इति व्यास-
 स्मरणात् । तथान्योऽपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्यत्र
 गोर्भवेत् । कृच्छ्रार्थं तु भवेत्तत्र भूषणार्थं हि तत्स्मृतम् ॥ अतिदोहेऽतिदमने संघाते
 चैव योजने । बद्ध्वा शृङ्खलपाशैश्च मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति । पालनाकरणा-
 दिनोपेक्षायां क्वचित्प्रायश्चित्तविशेषस्तेनैवोक्तः,—'जलौघपक्षवले मग्ना मेघविद्यु-
 द्घतापि वा । श्वभ्रे वा पतितोऽकस्माच्छ्वापदेनापि मृतिता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं
 गोस्वामी व्रतमुत्तमम् । शीतवाताहता वा स्यादुद्वन्धनहर्तापि वा ॥ शून्यागार
 उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥' इति । इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां
 वेदितव्यम् । कार्यान्तरव्यप्रतयोपेक्षायां स्वर्धम्—'पक्षवलयौघमृगव्याघ्रश्वापदा-
 दिनपातने । श्वभ्रप्रपातसर्पाद्यैर्मृते कृच्छ्रार्थमाचरेत् ॥ अपालत्वात्तु कृच्छ्रं
 स्याच्छून्यागार उपप्लवे ॥' इति विष्णुस्मरणात् । तथा सत्यपि व्यापादने क्वचि-
 दुपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः । यथाह संवर्तः—'यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे
 मूढगर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥' इति । यन्त्रणं
 'व्याध्यादिनिर्यातनार्थं संदंशाङ्कुशादिप्रवेशनम् । तथा—'औषधं स्नेहमाहारं
 ददद्ब्रोवाह्वये द्विजः । दीयमाने विपत्तिश्चेन्न स पापेन लिप्यते ॥ ग्रामघाते
 शरीषेण वेश्मभङ्गान्निपातने । दाहच्छेदशिराभेदप्रयोगैरुपकुर्वताम् ॥ द्विजानां
 गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' अत्र पराशरोऽप्याह—'ग्रामघाते
 शरीषेण वेश्मभङ्गान्निपातने । अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥'

१. संरक्षणम् । २. द्वाविंशत्यहः । ३. अविदोहा । ४. मोचनेऽपि वा ।
 ५. मौञ्जेन च शृङ्खलैश्च । ६. गोकृच्छ्रार्थं भवेत् । ७. अतिदोहातिदमने ।
 ८. मृतापि वा । ९. गूढगर्भः । १०. व्याघ्रादि ।

इति । तथा—‘कूपखाते च धर्मार्थे गृहदाहे च या मृता । ग्रामदाहे तथा घोरे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥’ इति । इदं तु बन्धनरहितस्यैव पशोः कथंचिद् गृहादिदाहेन मृतविषयम् । इतरथा त्वापस्तम्बेनोक्तम्—‘कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे खलेषु च । यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयते ॥’ इति । तथाऽस्थ्यादिभङ्गे मरणाभावेऽपि क्वचित्प्रायश्चित्तमुक्तम्—‘अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा । पाटनं दन्तशृङ्गाणां मासार्धं तु यवान्पिबेत् ॥’ इति । यस्वाङ्गिरसम्—‘शृङ्गदन्तास्थिभङ्गे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दशरात्रं पिबेद्वज्रं स्वस्थापि यदि गौर्भवेत् ॥’ इति ‘वज्र’शब्दवाच्यं क्षीरादिवर्तनमुक्तं तदशक्तविषयम् । इदं च प्रायश्चित्तं गोस्वामिने व्यापन्नगोसदृशीं गां दशैव कार्यम् । यथाह पराशरः—‘प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम् । तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादिष्यन्नवीद्यमः ॥’ इति । मनुरपि (८।२८८)—‘यो यस्य हिंस्याद् द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥’ इति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तजातं ब्राह्मणस्यैव हन्तुर्वेदितव्यम् ; क्षत्रियादेस्तु हन्तुर्वृहद्विष्णुना विशेषोऽभिहितः—‘विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥’ इति । यस्वङ्गिरोवचनम्—‘पर्षथा ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥’ इति,—तत्प्रातिहोम्येन वाग्दण्डपारुष्यादिविषयम् । तथा स्त्रीबालवृद्धादीनां स्वर्धं, अनुपनीतस्य बालस्य पाद इति च प्रागुक्तमनुसंधेयम् । स्त्रीणां पराशरेण विशेषोऽभिहितः—‘वपनं नैव नारीणां नानुव्रज्या जपादिकम् । न गोष्ठे शयनं तासां न वसीरन्गवाजिनम् ॥ सर्वान्केशान्समुद्धृत्य छेदयेदङ्गुलद्वयम् । सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम् ॥’ इति । पुरुषेषु च विशेषः संवर्तेन दर्शितः—‘पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च । त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखं तु निपातने ॥’ इति । पादप्रायश्चित्तार्हस्य कण्ठादधस्तनाङ्गरोम्णामेव वपनम् । अर्धप्रायश्चित्तार्हस्य तु श्मश्रूणामपि । पादोनप्रायश्चित्तार्हस्य पुनः शिरोगतानामपि शिखावर्जितानाम् । पादचतुष्टयार्हस्य तु सशिखस्य सकलकेशजातस्येति । एवमेतद्दिगवलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवचसां विषयो निरूपणीयः ॥ ३२३-२६४ ॥

भाषा—गाय की हत्या करने वाला पञ्चगव्य (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत) पीवे और एक मास तक संयम के साथ रहे । वह गोशाला में सोना, गायों के पीछे चलने (सेवा करने) और (मास के अन्त में) एक गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । अथवा सावधान होकर (एक मास तक)

कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रत करे और तीन दिन-रात तक उपवास करके दस गायों और एक साँड का दान करे ॥ २६३-२६४ ॥

इति गोवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अधुनाऽन्येषामुपपातकानां प्रायश्चित्तमाह—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।

पयसा वापि मासेन पराकेणाथवा पुनः ॥ २६५ ॥

एवमुक्तेन गोवधव्रतेन मासं पञ्चगव्याशनादिनान्येषां ब्राह्म्यतादीनामुपपात-
कानां शुद्धिर्भवेत् । चान्द्रायणेन वा वच्यमाणलक्षणेन मासं पयोव्रतेन
वा पराकेण वा शुद्धिर्भवेत् । अत्रातिदेशसामर्थ्याद्गोवधव्रतसमगोपरिचर्यादि-
भिर्गोवधासाधारणैः कतिपयैर्न्यूनत्वमवगम्यते ।—एतच्च व्रतचतुष्टयमकामकारे
शक्यपेक्षया विकल्पितं द्रष्टव्यम् ; कामकारे तु 'एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो
द्विजाः । अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥' (मनुः ११।१।१७)
इति मनूक्तं त्रैमासिकं द्रष्टव्यम् । अत एव वचनादयं प्रायश्चित्तातिदेशः सर्वेषामु-
पपातकगणपठितानामुक्तप्रायश्चित्तानामनुक्तप्रायश्चित्तानां चावकीर्णिवर्जितानामवि-
शेषेण वेदितव्यः । अवकीर्णिनस्तु प्रतिपदोक्तमेव । नन्वनुक्तप्रायश्चित्तविषयतयै-
वातिदेशस्य युक्ताः इतरथा प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तबाधसापेक्षत्वप्रसङ्गात् । मैवम् ;
तथा सत्युक्तनिष्कृतीनामुपपातकगणपाठोऽनर्थकः स्यात् । यदि परमुपपातकमध्ये
सामान्यतः पठितस्यान्यत्र विशेषतः प्रायश्चित्तान्तरमुच्यते । यथा—'अयाज्यानां
च याजनम् । त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद् ब्राह्मयाजकोऽविचरन्नपि ॥' इति स एव विषयः
केवलं परिह्रियेत न पुनर्विशेषतः पठितस्यैवान्यत्रापि विशेषत एव यत्र प्रायश्चित्त-
मुच्यते सोऽपि यथा 'इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः' 'वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक-
शतम्' इति । अतो ब्राह्म्यतादिषु अस्मिन् शास्त्रे शास्त्रान्तरे वा दृष्टैः प्रायश्चित्तैः
सह 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्' इत्यादिना प्रतिपादितव्रतचतुष्टयस्य समविषयता-
कल्पनेन विकल्पो विषयविभागो वाश्रयणीयः । तानि च स्मृत्यन्तरदृष्टप्रायश्चित्तानि
पाठक्रमेण ब्राह्म्यतादिषु योजयिष्यामः । तत्र ब्राह्म्यतायां मनुनेदमुक्तम् (११।१।९१)
—'येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि । तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथा-
विध्युपनाययेत् ॥' इति, यच्च यमेनोक्तम् (११।१।११)—'सावित्री पतिता यस्य
दश वर्षाणि पञ्च च । सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः ॥ एकविंशतिरात्रं
च पिबेत्प्रसूतिथावकम् । हविषा भोजयेच्चैव ब्राह्मणान्सप्त पञ्च च ॥ ततो यावक-
शुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतम् ॥' इति,—तदुभयमपि याज्ञवल्कीयमासपयोव्रतविष-
यम् । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेद् द्वौ मासौ याव-
केन वर्तयेन्मासं पयसा पञ्चमामिषयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रम-

अभक्तोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभूयं गच्छेद् ब्राह्म्यस्तोमेन वा यजेत' इति । अत्रेयं व्यवस्था—यस्योपनेत्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतमं शक्यपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानवं त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदशवर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रमे तूद्दालकव्रतं ब्राह्म्यस्तोमो वेति । येषां तु पित्रादयोऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तम् (ध० १११३२, ५; ११२१५६)—'यस्य पितापितामहावनुपेतौ स्यातां तस्य संवत्सरं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपितामहादेर्नानुस्मर्यत उपनयनं तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम्' इति ब्राह्म्यता । तथा स्तेयेऽप्युपपातकसाधारणप्राप्तवनचतुष्टयापवादकं प्रायश्चित्तं मनुनोक्तम् (१११६२)—'धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः । सजातीयगृहादेव कृच्छ्राधेन विशुद्ध्यति ॥' इति । द्विजोत्तमस्य सजातीयो ब्राह्मण एवातो विप्रपरिग्रहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदम् । क्षत्रियादेस्त्वत्पत्न्यं कल्प्यम् । 'अष्टौपाद्यं स्तेय-किल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' (१३१५-१७) इति क्षत्रियादेरपहर्तुर्दण्डात्पत्न्यस्य दर्शनात् । तथा—'विप्रे तु सकलं देयं पादोर्न क्षत्रिये स्मृतम्' इति पादपादहान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् । तथा क्षत्रियाद्विप्रपरिग्रहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तात्पत्न्यं कल्प्यम् । अतः क्षत्रियपरिग्रहे चौर्यं षाण्मासिकम् । वैश्यपरिग्रहे त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । शूद्रपरिग्रहे चान्द्रायणं कल्प्यम् । एवमुत्तरत्राभ्यूहनीयम् ।—इदं च दशकुम्भधान्यापहारविषयम् । अधिके तु—'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतो दम उत्तमः । पलसहस्रादधिके वधः' इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाणः । धान्यसाहचर्यादन्नधने चैतावद्धान्यपरिमिते वेदितव्ये । 'अन्न'शब्देन तन्दुलादिकमभिधीयते । 'धन'शब्देन ताम्ररजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । अकामतस्तु त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । तथा—'मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कृपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ॥' (मनुः १११६३) इति । सार्धशतद्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायणं प्राप्तमपीतरगोवधव्रतनिवृत्त्यर्थं विधीयते; 'तावन्मूल्यजलापहारे पानीयस्य तृणस्य च । तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डः' इति पञ्चशतदण्डविधानात्तावत्परिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोवधादौ सहचरितत्वात् । तथा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रैन्दवयोः पणपञ्चशतं तथा' इति चान्द्रायणविषये पञ्चशतपणदण्डविधानाच्च । एतच्च क्षत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम् ; ब्राह्मणसंबन्धिद्रव्यापहारे तु 'नित्येपस्यापहरणे नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्म-स्तेयसमं स्मृतम् ॥' (मनुः ११५७) इति द्रष्टव्यम् । तथा—'द्रव्याणामल्प-

१. यस्योपनयने आपद्भावेन । २. कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति । ३. अष्टपादम् । ४. हरतोऽभ्यधिको वधः ।

साराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यचेष्टमतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥
 (मनुः ११।१६४) इत्यनेनाल्पप्रयोजनत्रपुसीसादिद्रव्यापहारविशेषेण स्तेनसा-
 मान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः । इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्धतृतीयशतमू-
 ल्यस्य पञ्चदशांशार्धत्रपुसीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम् , चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य ।
 तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तवत्तापवादः—‘भक्ष्यभोज्यापहरणे
 यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥’ (मनुः
 ११।१६५) इति । एकवारभोजनपर्याप्तभक्ष्यभोज्यापहार इदम् । द्वित्रिवारभोज-
 नपर्याप्ताहारे त्रिरात्रम् । यथाह पैठीनसिः—‘भक्ष्यभोज्यान्नस्योदरपूरणमात्रहरणे
 त्रिरात्रमेकरात्रं वा पञ्चगव्याहरता’ इति । यानादीनामप्येतत्साहचर्यादेतावन्मू-
 ल्यानामेवापहरणे एतावत्प्रायश्चित्तम् । सर्वत्रापि हियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन
 प्रायश्चित्तस्यापि लघुगुरुभावः कल्पनीयः । यथा ‘तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्काक्षस्य
 गुडस्य च । तैलचर्माभिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥’ (मनुः ११।१६६)
 इति । एषां च तृणादीनां भक्ष्यादित्रिगुणत्रिरात्रप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् तत्रिगुण-
 मूल्यार्धानामेतत्प्रायश्चित्तम् । तथा—‘मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य
 च । अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाहं कर्दन्नता ॥’ (मनुः ११।१६७) इति ।
 अत्रापि भक्ष्यादिद्वादशगुणप्रायश्चित्तदर्शनात् तन्मूल्यद्वादशगुणमूल्यमणिमुक्ताद्य-
 पहार एतत्प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तथा—‘कार्पासकीटजौर्णानां द्विखुरैकखुरस्य च ।
 पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैवं ज्यहं पयः ॥’ (मनुः ११।१६८) इति ।
 अत्रापि भक्ष्यादित्रिगुणप्रायश्चित्तदर्शनात्तत्रिगुणमूल्यानामपहार एवैतत्प्रायश्चित्तं
 ज्ञेयम् । हियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्तालपत्वमहत्त्वं कल्प्यमेव । इदं
 च स्तेयप्रायश्चित्तमपहतद्रव्यदानोत्तरकालमेव द्रष्टव्यम् । यथाह विष्णुः—
 ‘दस्वैवापहतं द्रव्यं स्वाग्निने व्रतमाचरेत्’ इति । इति स्तेयम् । ऋणापाकरणे
 च ‘पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्’ (व्य० ५०) इति विहितं तस्यानपाकरणे, तथा
 वैदिकस्य च ‘जायमानो वै ब्राह्मणः’ इत्येतद्वाक्येनर्णसंस्तुतयज्ञादिकरणे च
 ‘उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्’ (प्रा० २६५) इत्यादिनोपपातकसामान्यविहितं
 व्रतचतुष्टयं शक्यपेक्षया योज्यम् । प्रायश्चित्तान्तरमप्यत्र मनुनोक्तम् (११।
 २७)—‘इष्टिं वैश्वानरीं चैव निर्वपेदब्दपर्यये । लुप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थ-
 मसंभव ॥’ इति । अब्दपर्यये संवत्सरान्ते । इति ऋणानपाकरणम् ।

तथाधिकृत्यस्यानाहिताग्नित्वेऽप्येतदेव व्रतचतुष्टयं वत्सरादूर्ध्वमापदि शक्य-
 पेक्षया योज्यम् । अनापदि तु मानवं त्रैमासिकम् । अर्वाक्पुनर्वत्सरात् कार्णा-
 जिनिर्विशेषमाह—‘काले त्वाधाय कर्माणि कुर्याद्विप्रो विधानतः । तदकुर्वन्निरा-

त्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति ॥ अनाहिताग्नौ पित्रादौ यद्यमाणाः सुतो यदि । स हि ब्राह्मणेन पशुना यजेत्तन्निष्क्रयाय तु ॥' इति । एकाग्नेरपि विशेषस्ते-
नैवोक्तः—'कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम् । चान्द्रायणं चरेद्धर्मं
प्रतिमासमहोऽपि वा ॥' इति । अनाहिताग्निता ।

(विक्रये यद् व्रतं प्रोक्तं हरणे द्विगुणं हि तद् । सुराविक्रये सोम्ये चतुष्टयं
लाक्षालवणमांसमध्वाज्यतिलहेमानां चान्द्रायणत्रयं पयःपायसापूदधीक्षुरस-
गुडखण्डादिस्नेहपक्वादिषु पराकः । सिद्धान्नविक्रये प्राजापत्यम् । पनसस्य
त्रिदिनम् । कदलोनारिकेरजम्बीरबीजपूरकनारङ्गानां पादकृच्छ्रम् । कस्तूरिकाविक्रये
गन्धानां च कृच्छ्रम् । कर्पूरेऽर्धं हिंस्वादिविक्रये दिनमुपवासः । शुक्लकृष्णपीतव-
स्त्रविक्रये त्रिदिनम् । अजानामैन्दवम् । खराश्वतरकरभाणां पराकः । शुनां द्विगुणम् ।
एकाहाद्वेदविक्रये चान्द्रम् । अङ्गानां पराकः । स्मृतीनां कृच्छ्रम् । इतिहासपुराणानां
सातपनम् । रहस्यानां कृच्छ्रम् । गाथानां शिशिरातपविद्यानां पादम् ।) तथा
अपण्यानां विक्रये च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तविशेष उक्तः । यथाह हारीतः—
'गुडतिलपुष्पमूलफलपक्वान्नविक्रये सोमापानं सौम्यः कृच्छ्रः । लाक्षालवणमधुमांस-
तैलक्षीरदधितक्रवृतगन्धचर्मवाससामन्यतमविक्रये चान्द्रायणम् । तथा ऊर्णा-
केशकेसरिभूधेनुवेश्मरमाश्रमशस्त्रविक्रये च । भक्ष्यमांससनायवस्थिशृङ्गनखशुक्तिवि-
क्रये तप्तकृच्छ्रः । हिङ्गुगुग्गुलहरितालमनःशिलाज्जनगैरिकक्षारलवणमणिमुक्ता-
प्रवालवैण्यमृन्मयेषु च तप्तकृच्छ्रः । आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतविक्रये
त्रिषवणसनायवधःशायी चतुर्थकालाहारो दशसहस्रं जपनसंवत्सरेण पूतो भवति ।
हीनमानोन्मानसंकरसंकीर्णविक्रये चेति । एवमन्यैरपि शङ्खविण्वाद्युक्तवचनै-
र्यज्ञ प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रानापदि मानवमुपपातकसाधारणतः प्राप्तं
त्रैमासिकम् । आपदि तु याज्ञवल्कीयं व्रतचतुष्टयं शक्यपेक्षया योज्यम् । इति
अपण्यविक्रयः । तथा परिवेत्तरि च वसिष्ठेन प्रायश्चित्तविशेष उक्तः (२०।८)—
'परिविविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत् तां चैवो-
पयच्छेत्' इति । परिविविदानः परिवेत्तोच्यते । तस्त्वरूपं च प्राग् व्या-
ख्यातम् । असौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वोढां दत्त्वा
ब्रह्मचर्याहृतभैक्षवद्गुरुपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्बहेत् । कामित्यपेक्षाया-
मुक्तं 'तामेवोपयच्छेत्' इति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुज्ञा-
तामुद्बहेत् । यत्तु हारीतेनोक्तम्—ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयास्त्रिविशमानः परिवेत्ता
भवति, परिवित्तिर्ज्येष्ठः, परिवेदनी कन्या, परिदायी दाता, परियष्टा याजकस्ते
सर्वे पतिताः संवत्सरं प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पावयेयुः' इति । यद्यपि शङ्केनोक्तम्—

‘परिवृत्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेत्ताताम्’ इति तदुभयमपि कामकारेण कन्यापित्राद्यननुज्ञातोद्वाहविषयम् । प्रावश्चित्तस्य गुरुत्वात् । यदा पुनः कामतः कन्यां पित्रादिदत्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासिकम् । पूर्वोक्तौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्कीयं च व्रतचतुष्टयमज्ञातविषयम् । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—‘कृच्छ्रौ द्वयोः परिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च । अतिकृच्छ्रं चरेद्वाता होता चान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति । एतच्च पर्याहिताग्न्यादीनामपि समानम् । एकयोगनिर्देशात् । यथाह गौतमः (१५।१८)—‘परिवृत्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधात्रग्रेदिधिषूपतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्’ इति । अत एव वसिष्ठेनाग्नेदिधिषूपत्यादाविदमेव प्रावश्चित्तमुक्तम् (२०।९, १०) ‘अग्नेदिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत् तां चैवोपयच्छेत् । दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्तां पुनर्निविशेत्’ इति । अग्नेदिधिषुवादेर्लक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—‘ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामूढातेऽनुजा । या साऽग्नेदिधिषूर्ज्या पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥’ इति । तत्राऽग्नेदिधिषूपतिः प्राजापत्यं कृत्वा तामेव ज्येष्ठां पश्चादन्येनोढामुद्गहेत् । दिधिषूपतिस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा स्वोढां ज्येष्ठां कनीयस्याः पूर्वविबोद्धे दत्त्वाऽन्यामुद्गहेदिति परिवेदनम् । तथा भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितयोश्च पयसा ब्रह्मसुवर्चलां पिबेदित्यधिकृत्य विष्णुनोक्तम्—‘भृतकाध्यापनं कृत्वा भृतकाध्यापितस्तथा । अनुयोगप्रदानेन त्रीन्पक्षास्त्रियतः पिबेत् ॥’ इति । उत्कर्षहेतोरधीर्यानस्य किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यानुयोगोऽनुयोगप्रदानम् । अत एव स्मृत्यन्तरे—‘दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्’ इत्युक्तम् । अत्रापि पूर्वोक्तव्रतैः सहास्य शक्यपेक्षया विकल्पः ।

इति भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितप्रकरणम् ।

तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्क्यव्रतचतुष्टयस्यापि गुरुदारादावपवाद उक्तः । तथाऽन्यत्रापि गौतमादिभिः पारदार्यविशेषेणापवाद उक्तः । यथाह गौतमः—‘द्वे पारदार्ये त्रीणि श्रोत्रियस्य’ इति । तथा वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं प्रस्तुत्य तेनैवेदमभिहितम् ‘उपपातकेषु चैवम्’ इति । तत्रेयं व्यवस्था—ऋतुकाले कामतो जातिमात्रज्ञाह्वणीगमने वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तस्मिन्नेव काले कर्मसाधनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्या गमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तादृश्या एव श्रोत्रियभार्याया गमने त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । यद्वा, श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्यां त्रैवार्षिकम् । तादृग्विधायामेव श्रित्रियायां द्वैवार्षिकम् । तादृश्यामेव वैश्यायां वार्षिकमिति व्यवस्था । एतस्मिन्

मानदृष्ट्या शूद्रायां पाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्केन
 'वैश्यामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत्, क्षत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि
 ब्राह्मण्यां वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम्' इति वर्णक्रमेण हासो दर्शितः ।
 एवं क्षत्रियस्यापि क्षत्रियादिषु स्त्रीषु क्रमेण द्विवार्षिकैकवार्षिकैकपाण्मासिकानि
 पूर्वोक्त एव विषये योजनीयानि । वैश्यस्य च वैश्याशूद्रयोर्वार्षिकपाण्मासिके ।
 शूद्रस्य शूद्रायां परभार्यायां पाण्मासिकमेव । यस्वापस्तम्बीयम्—'सवर्णायामनन्य-
 पूर्वायां सकृत्सन्निपाते पादः, पतत्येवमभ्यासे पादः, पादश्चतुर्थे सर्वम्' इति,
 तद्वैतमीयत्रिवार्षिकेण समानविषयम् । अन्यपूर्विकायां चतुरभ्यासे द्वादशवार्षि-
 कप्रायश्चित्तविधानादेकस्यामेव गमनाभ्यासे नेदं प्रायश्चित्तं, किंतु प्रतिगमनं
 पादपादन्यूनं कल्प्यम् । एतत्सर्वं कामकारविषयम् । अकामतः पुनरेतदेवार्ध-
 वलृप्त्या पूर्वोक्तविषये योजनीयम् । अनृतुकाले तु जातिमात्रब्राह्मण्यां कामतो
 गमने मानवं त्रैमासिकम् । जातिमात्रक्षत्रियादिस्त्रीषु पुनरस्मिन्नेव विषये तदी-
 यान्येव द्वैमासिकचान्द्रायणमासिकानि योजनीयानि । क्षत्रियादीनां च क्षत्रिया-
 दिस्त्रीषु द्वैमासिकादीन्येव । अकामतः पुनरेतासु क्षत्रियादित्रैवर्णिकानां याज्ञव-
 ल्कीयमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासं प्राजापत्याचरणं च क्रमेण
 द्रष्टव्यम् । शूद्रागमने तु कामतो विहितं मासवतमेवार्धवलृप्त्या योजनीयम् ।
 अत एव संवर्तः—'शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा । गोमूत्रयावका-
 हारस्तिष्ठेत्तत्पापमुक्तये ॥' इति । अकामतोऽर्धमासिकमित्यभिप्रेतम् । 'ब्राह्मणश्चेदं
 प्रेक्षापूर्वकं ब्राह्मणदारानभिगच्छेत्तन्निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रोऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽति-
 कृच्छ्र' इति तद्ब्राह्मणभार्यायां शूद्रायां द्रष्टव्यम् । द्विजातिस्त्रीषु च विप्रोढासु
 द्विस्त्रिभ्यश्चरितासु अबुद्धिपूर्वगमने वा । तथा च संवर्तः—'विप्रामस्वज्जनां
 गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्' इति । कामतस्तु—'राज्ञीं प्रव्रजितां धात्रीं साध्वीं
 वर्णोत्तमामपि । कृच्छ्रद्वयं प्रकुर्वीत सगोत्रामभिगम्य च ॥' इति यमोक्तं कृच्छ्रद्वयं
 द्रष्टव्यम् । चतुराद्यभ्यासे तु 'व्यभिचारस्य स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलज्जात
 उदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय, वैश्यायां च चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेद्यवसभारं
 च गोभ्यो दद्यात्, क्षत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवाढकं दद्यात् । ब्राह्मण्यां
 त्रिरात्रोपोषितो गां दद्याद्गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । 'अनूढायामवकीर्णः
 पलालभारं सीसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम् । चतुराद्यभ्यास-
 विषयत्वं चास्य 'चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पञ्चमे बन्धकी मता' इति
 स्मृत्यन्तरादवगम्यते । अत्रैव विषये षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मणीं बन्धकीं

१. मवकीर्णी । २. द्विवार्षिकवार्षिकपाण्मासिकानि । ३. त्रैवाषकाणाम् ।
४. तिष्ठेत्तत्पापमोक्षतः इति । ५. भार्यायां द्रष्टव्यम् ।

गत्वा किञ्चिद्दद्याद्द्विजातये । राजन्यां चेदनुर्दद्याद्द्वैरयां गत्वा तु चैलकम् ॥ शूद्रां
 गत्वा तु वै विप्र उदकुम्भं द्विजातये । दिवसोपोषितो वा स्याद्दद्याद्द्विप्राय भोज-
 नम् ॥' इति (अनुलोमव्यवाये गर्भे द्विगुणं, यदि सा अतिदूषिता न प्रतिलो-
 मणा भवति तदैव । अन्यजातिगमने द्वैगुण्यं, प्रतिलोमदूषितासु अन्यथावसा-
 यिस्त्रीषु च चाण्डालीगर्भे यथा गुरुतत्परत्वं तथा किञ्चिन्न्यूनं तारतम्यं कल्प्यम् ।
 चाण्डालीगमने वार्षिकम् । गर्भे गुरुतत्परत्वं तथैव ज्ञेयम् ।) इदं प्रायश्चित्तजातं
 गर्भानुत्पत्तिविषयम् । तदुत्पत्तौ तु यद्विशेषेण यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव तत्र द्विगुणं
 कुर्यात् ।—'गमने तु व्रतं यस्याङ्गर्भे तद्द्विगुणं चरेत्' इत्युक्तान्स्मरणात् ।
 शूद्राणां गर्भमादृत्यतुविंशतिमते विशेष उक्तः—'वृक्षस्यामभिजातस्तु-
 त्रीणि वर्षाणि चतुर्युगकालसमये नक्तं भुञ्जीत' इति । यत्तु मनुवचनम्
 (३।१७)—'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यघोगतिम् । जनयित्वा सुतं
 तस्यां ब्राह्मणवादेव हीयते ॥' इति,—तत्पापगौरवरुपापनपरम् । प्रातिलोम्य-
 व्यवाये तु सर्वत्र पुरुषस्य वध एव—'प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णा-
 दिकर्तनम्' इति वचनात् ॥ यत्तु वृद्धप्रचेतोवचनम्—'शूद्रस्य ब्राह्मणीं
 मोहाद्वच्छतः शुद्धिमिच्छतः । पूर्णमेतद् व्रतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा ॥ पाद-
 हान्याऽन्यवर्णासु गच्छतः सार्ववर्णिकम् ॥' इति । द्वादशवार्षिकातिदेशकं, तत्स्व-
 भायांभ्रान्त्या गच्छतो वेदितव्यम् ; मोहादिति विशेषणोपादानात् । यत्तु संवर्त-
 वचनम्—'कथंचिद् ब्राह्मणीं गच्छेत्क्षत्रियो वैश्य एव वा । कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रा-
 यश्चित्तं विशुद्धये ॥ शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथंचिष्काममोहितः । गोमूत्रयावकाहारो
 मासेनैकेन शुद्ध्यति ॥' इति,—तदत्यन्तव्यभिचरितब्राह्मणीविषयम् । अन्यजा-
 गमनेऽपि प्रायश्चित्तं बृहत्संवर्तेनोक्तम्—'रजकव्याधशैलूपवेणुचर्मोपजीविनीः ।
 एतास्तु ब्राह्मणो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । इदं ब्राह्मणस्य कामतः
 सकृद्गमनविषयम्, क्षत्रियादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम् । अत्रैवापस्तम्बे-
 नोक्तम्—'श्लेच्छी नदी चर्मकारी रजको बुरुडी तथा । एतास्तु गमनं कृत्वा
 चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । अन्यजाश्च तेनैव दर्शिताः—'रजकश्चर्मकारश्च
 नटो बुरुड एव च । कैवर्तमेदभिज्ञाश्च सप्तैते अन्यजाः स्मृताः ॥' इति । ये तु
 चाण्डालादयोऽन्यथावसायिनस्तस्त्रीगमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतत्पप्रकरणे दर्शि-
 तम् । एतासां चान्यजस्त्रीणां मध्ये यदेकस्यां व्यवाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु
 भवति; सर्वासां सहशस्वात् । यथाहोशनाः—'बहूनामेकधर्माणामेकस्यापि
 बहुष्यते । सर्वेषां तन्मवेकार्यमेकरूपा हि ते स्मृताः ॥' इति । अकामतस्तु
 गमने—'चाण्डालमेदश्चपचकपालव्रतचारिणाम् । अकामतः स्त्रियो गत्वा पराक-

व्रतमाचरेत् ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यच्च संवर्तवचनम्—'रजकभ्याघशैल-
वेणुचर्मोपजीविनाम् । स्त्रियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—
तदप्यकामविषयम् । यत्तु शातातपेनोक्तम्—'कैवर्ता रजर्का चैव वेणुचर्मोपजी-
विनीम् । प्राजापत्यविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्ध्यति ॥' इति,—तद्वेतःसेकात्प्राज्ञिवृत्ति-
विषयम् । यत्तूशनसोक्तम्—'कापालिकास्त्रभोक्तृणां तक्षारीगामिनां तथा । ज्ञाना-
त्कृच्छ्राद्दमुद्दिष्टमज्ञानादैर्नैव द्वयम् ॥' इति,—तदभ्यासविषयम् । यदा तु चाण्डा-
ल्यादिषु गच्छतो गर्भो भवति, तदा 'चाण्डाल्यां गर्भमारोप्य गुस्तत्पत्रतं चरेत्'
इत्युशनसोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम् । यत्तु—'अन्यजायां प्रसूतस्य निष्कृतिर्न
विधीयते । निर्वासनं कृताङ्कस्य तस्य कार्यमसंशयम् ॥' इत्यापस्तम्बवचनं,
सत्कामकारविषयम् । स्त्रीणामपि सवर्णानुलोमव्याये यत्पुरुषस्योक्तं त्रैवार्षिकादि
तदेव भवति । 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥' (११।१७६)—
इति मनुस्मरणात् । प्रातिलोभ्येन व्यव्याये एव परस्त्रीपुंसयोः प्रायश्चित्तभेदः ।
यथाह वसिष्ठः (२।१२, ३)—'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेद्गौरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ
प्रास्येत्, ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महा-
पथमनुव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति । तथा—'वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत्सो-
हितदभैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येद् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा-
ऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति ।
तथा—'राजन्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः
शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजये-
त्पूता भवतीति विज्ञायते' इति । एवं वैश्यो राजन्यां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोरिति ।
पूता भवतीति वचनाद्वाजवीधिपरिव्राजनमेव दण्डरूपं प्रायश्चित्तान्तरनिरपेक्षं
शुद्धिसाधनमिति दर्शयति ।

ब्राह्मण्याः प्रातिलोभ्येन द्विजातिव्यावाये प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तं संवर्तेन—
'ब्राह्मण्यकामा गच्छेच्चेत्क्षत्रियं वैश्यमेव वा । गोमूत्रयावकैर्मासात्तद्धर्माच्च विशु-
द्ध्यति ॥' इति । कामतस्तु तद्विगुणं कर्तव्यम् । 'कामात्तद्विगुणं भवेत्' इति वच-
नात् । षट्त्रिंशन्मतेऽपि 'ब्राह्मणी क्षत्रियवैश्यसेवायामतिकृच्छ्रं कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ
चरेत् । क्षत्रिययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यमतिकृच्छ्रम् ।
वैश्ययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रपादं कृच्छ्रपादं कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यम् ।
शूद्रायाः शूद्रसेवने प्राजापत्यम् । ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां स्वहोरात्रं त्रिरात्रं
कृच्छ्रार्धम्' इति । शूद्रसेवायां तु विशेषो बृहत्प्रचेतसोक्तः—'विप्रा शूद्रेण संपृक्ता न
चेत्तस्मात्प्रसूयते । प्रायश्चित्तां स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम् ॥' एतदनिच्छन्त्यां
स्वप्रतिभ्रान्त्या वा वेदितव्यम् । 'चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रश्च विप्राया वैश्यसेवने ।

कृच्छ्रचान्द्रायणे स्यातां तस्याः चत्रियसंगमे ॥ चत्रिया शूद्रसंपर्के कृच्छ्रं चान्द्राय-
णद्वयम् । चान्द्रायणं सकृच्छ्रं तु चरेद्द्वैश्वयेन संगता ॥ शूद्रं गत्वा चरेद्द्वैश्वया कृच्छ्रं
चान्द्रायणोत्तरम् । आनुलोम्ये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं पादावरोपितम् ॥' इति । प्रजाता-
यास्तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'विप्रगर्भे पराकः स्यात्तत्रियस्य तथैन्दवम् ।
ऐन्दवश्च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः ॥ शूद्रगर्भे भवेत्त्यागश्चाण्डालो जायते
यतः । गर्भस्त्रावे धातुदोषैश्चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ॥' इति । 'अकामकारतः' इति
विशेषणोपादानात् कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात् । यदा त्वनिःसृतग-
र्भेव दशमासं स्थित्वा प्रजायते तदा प्रायश्चित्ताभावः । 'ब्राह्मणचत्रियविशां भार्याः
शूद्रेण संगताः । अप्रजाता विशुद्धयन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति वसिष्ठस्म-
रणात् । यदा स्वाहितगर्भेव पश्चाच्छूद्रादिभिर्व्यभिचरति तदा गर्भपातशङ्कया
प्रसवोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ; 'अन्तर्वत्नी तु या नारी समेताक्रम्य
कामिना । प्रायश्चित्तं न कुर्यात्सा यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ जाते गर्भे व्रतं पश्चा-
त्कुर्यान्मासं तु यावत्कम् । न गर्भदोषस्तस्यास्ति संस्कार्यः स यथाविधि ॥'
इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यदा त्वौद्धत्यात्प्रायश्चित्तं न कुर्वन्ति, तदा नार्याः
कर्णादिकर्तनमिति द्रष्टव्यम् । अन्यजादिगमनेऽपि स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं
दर्शितम्—'रजकव्याधशैलपवेषुचर्मोपजीविनः । ब्राह्मण्येतान्यदा गच्छेदकामा-
दैन्दवत्रयम् ॥' इति । तथा चाण्डालस्याद्यन्यावसायिगमनेऽपि—'चाण्डालं
पुष्कसं म्लेच्छं श्वपाकं पतितं तथा । ब्राह्मण्यकामतो गत्वा चान्द्रायणचतुष्ट-
यम् ॥' इति 'अकामत' इति वचनात्कामतो द्विगुणं कल्प्यम् । तथा—'चाण्डा-
लेन तु संपर्कं यदि गच्छेत्कथंचन । सशिखं वपनं कुर्याद्भुञ्जीयाद्यावकौदनम् ॥
त्रिरात्रमुपवासः स्यादेकरात्रं जले वसेत् । आत्मना संमिते कूपे गोमयोदकक-
र्दमे ॥ तत्र स्थित्वा निराहारा सा त्रिरात्रं ततः क्षिपेत् । शङ्खपुष्पीलता मूलं पत्रं
वा कुसुमं फलम् । क्षीरं सुवर्णसंमिश्रं क्वाथयित्वा ततः पिबेत् ॥ एकभक्तं चरेत्पश्चा-
द्यावत्पुष्पवती भवेत् । बहिस्तावच्च निवसेद् यावच्चरति तद्व्रतम् ॥ प्रायश्चित्ते
ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धयै स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥'
इति ।—एतदप्यकामविषयमेव ; 'यदि गच्छेत्कथंचन' इति वचनात् । ऋष्य-
शृङ्गेणाप्यन्यव्यावाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम्—'संपृक्ता स्यादथान्यैर्या सा
कृच्छ्राब्दं समाचरेत्' इति ।—कामतः सकृद्गमने इदम् । यदा स्वाहितगर्भाया
एव पश्चाच्चाण्डालादिव्यायस्तदा तेनैव विशेष उक्तः—'अन्तर्वत्नी तु युवतिः
संपृक्ता चान्द्रायणोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ न
प्रचारं गृहे कुर्याच्च चाङ्गेषु प्रसाधनम् । न शयीत समं भर्त्रा न वा भुञ्जीत

चान्धवैः ॥ प्रायश्चित्तं गते गर्भे विधिं कृच्छ्रादिकं चरेत् । हिरण्यमथवा धेनुं दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । यदा तु कामतोऽत्यन्तसंपर्कं करोति तदा— 'अन्यजेन तु संपर्के भोजने मैथुने कृते । प्रविशेत्संप्रदीप्तेऽग्नौ मृत्युना सा विशुद्धयति ॥' इत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् । यदा तूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा पुंलिङ्गेनाङ्गनीया, वध्या वा भवेत् । 'हीनवर्णोपभुक्ता या साऽङ्गया वध्याऽथवा भवेत्' इति पराशरस्मरणात् । इति पारदार्याप्रकरणम् । तथा परिवृत्तिप्रायश्चित्तानामपि परिवृत्तप्रायश्चित्तवक्ष्यवस्था विज्ञेया । इयांस्तु विशेषः—'परिवृत्त-र्यस्मिन्विषये कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ तत्र परिवृत्तेः प्राजापत्यमिति । परिवृत्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनर्निविशेत् तां चैवोपयच्छेत्' इति वसिष्ठस्मरणात् । इति परिवृत्तिप्रकरणम् । वार्धुष्यलवणक्रययोस्तु मनुयोगीश्वरोक्तसामान्योपपा-तकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि ॥ २६५ ॥

भाषा—उपपातकों की भी शुद्धि इसी प्रकार (गोवध के प्रायश्चित्त से) अथवा चान्द्रायण व्रत से या एक मास तक केवल दूध पीकर रहने या पराक व्रत करने से होती है ॥ २६५ ॥

लवणक्रयानन्तरं 'खिशूद्रविट्पञ्चवध' (प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्ये पठितं तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ।

ब्रह्महत्याव्रतं वापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६६ ॥

वैश्यद्वादशं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ।

षण्मासाच्छूद्रहाप्येतद्धेनूर्दद्याद् दशाथवा ॥ २६७ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रं, तस्य पूरण एकसहस्रं; ऋषभ एक-सहस्रो यासां गवां ताः ऋषभैकसहस्रास्ताः क्षत्रवधे दद्यात् । अथवा बृहस्प्रा-यश्चित्तं ब्रह्महत्याव्रतं वर्षत्रयं कुर्यात् । वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्याव्रतमेकवर्षं चरेत् । गवामृषभैकशतं वा दद्यात् । शूद्रघाती तु ब्रह्महत्याव्रतं षण्मासं चरेत् । यद्वा दशधेनूरचिरप्रसूताः सवत्सा दद्यात् । इदमकामतो जातिमात्रक्षत्रियादि-वधविषयम् ; 'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य' (मनुः ११।१२७) इति प्रक्रम्यैतेषामेव प्रायश्चित्तानां मानवेऽभिधानात् । दानतपसोश्च शक्यपेक्षया व्यवस्था । ईषद्वृत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः—'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडश ॥' (११।१२६) इति मनुक्तं द्रष्टव्यम् । वृत्तस्थे क्षत्रिये तु सार्धचतुर्वापिकं कल्प्यम् । 'वृत्त'शब्देन धाम्न गुणादिकमुच्यते । 'गुरुपूजा वृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः । प्रवर्तनं

हितानां च तत्सर्वं वृत्तमुच्यते ॥' इति मनुस्मरणात् । यत्तु वृद्धहारीतवचनम्—
 'ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत् । वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रैवार्षिकं
 द्विजाः ॥ शूद्रं हत्वा चरेद्वर्षं वृषभैकादशाश्च गाः ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् ।
 श्रोत्रियक्षत्रियादिवधे तु—'तुरीयेन क्षत्रियस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम् । अर्धं वैश्य-
 वधे कुर्यात्तुरीयं वृषलस्य तु ॥' इति वृद्धहारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठव-
 चनम्—'ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत्, षड् वैश्यं, त्रीणि शूद्रम्'
 इति,—तदपि हारीतीयेन समानविषयम् । क्षत्रिये स्वीषद्गुणन्यून इत्येतावान्
 विशेषः । यदा तु श्रोत्रियो वृत्तस्यश्च भवति तदा—'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं
 हत्वा' (ध० १।२४।६) इत्यापस्तम्बोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम् । प्रारब्धयागे
 स्वश्रोत्रिये क्षत्रियादौ व्यापादिते 'यागस्थक्षत्रविट्पाती चरेद् ब्रह्महणि व्रतम्'
 इति द्रष्टव्यम् । श्रोत्रिये पुनर्यागस्थे क्षत्रियादौ 'ब्राह्मणस्य राजन्यवधे
 षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात्, वैश्यवधे त्रिवार्षि-
 कमृषभैकशताश्च गा दद्यात्, शूद्रवधे सांवत्सरिकमृषभैकादशाश्च गा दद्यात्'
 (२२।१४-१६) इति गौतमोक्तो दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः । एतच्चामति-
 पूर्वविषयम् । 'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु प्रमाण्य द्वादश षट् त्रीन् संवत्सरं च
 व्रतान्यादिशेत्, तेषामन्ते गोसहस्रं च ततोऽर्धं तस्यार्धमर्थं च दद्यात्; सर्वेषामा-
 नुपूर्व्येण' इति स्मरणात् । इदं च द्वादशवार्षिकं गौतमीयविषयमेव, किञ्चिन्न्यूनगु-
 णे क्षत्रिये गुणाधिकयोर्वैश्यशूद्रयोश्च द्रष्टव्यम् । 'स्त्रीशूद्रवित्क्षत्रवध' इत्युपपात-
 कमध्ये विशेषत एव पठितस्वेनोत्सर्गापवादस्यायागोचरत्वादुपपातकसामान्यप्राप्ता-
 न्यपि प्रायश्चित्तान्यत्र योजनीयानि । तत्र दुर्वृत्तक्षत्रियादौ कामतो व्यापादिते
 मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकं चान्द्रायणं च वर्णक्रमेण योज्यम् । अकामतस्तु योगी-
 श्वरोक्तं त्रिरात्रोपवाससहितमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासिकं च
 पयोव्रतं यथाक्रमेण योज्यम् । एतच्च प्रागुक्तं व्रतजातं ब्राह्मणकर्तृके क्षत्रियादिवधे
 द्रष्टव्यम् ।—'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । तथा ब्राह्मणराजन्यवधे
 षड्वार्षिकं तथा ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा' (१।१।२७) इत्यादिषु मनुगौतम-
 हारीतवसिष्ठवाक्येषु 'ब्राह्मण'ग्रहणात् । क्षत्रियादिकर्तृके तु क्षत्रियादिवधे पादन्यूनं
 द्रष्टव्यम् ; विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धमेकपादस्तु
 शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति वृद्धविष्णुस्मरणात् । 'यत्तु पर्षद्या ब्राह्मणानां
 तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥'
 इत्याङ्गिरोवचनं तत्प्रातिलोभ्येन वाग्दण्डपारुष्यविषयामत्युक्तं गोवधप्रकरणे ।
 मूर्धावसिकादीनां वधे एतत्प्रायश्चित्तजातं न भवति; तेषां क्षत्रियादिस्वाभावात् ।

अतो दण्डानुसारेणैव तद्वधे पूर्वोक्तव्रतकदम्बस्य वृद्धिहासौ कल्पनीयौ । दण्डस्य च वृद्धिहासौ दर्शितौ—‘दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः’ (व्य० २०६) इत्यत्र ॥ २६६-२६७ ॥

भाषा—चत्रिय का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पुरुष एक सौद (प्रौढ बछ्वा) के साथ एक हजार गौओं का दान करे अथवा ब्रह्महत्याव्रत तीन वर्षों तक करे । वैश्य का वध करने वाला एक वर्ष तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक सौद के साथ एक सौ गौओं का दान करे । शूद्र का वध करने वाला छै मास तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक सौद के साथ नई ब्यायी दस सवत्सा गौवों का दान करे ॥ २६६-२६७ ॥

इति चत्रियादिवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

स्त्रीवधे प्रायश्चित्तमाह—

‘दुर्वृत्तब्रह्मविट्सूत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्य तु ।

इति धनुर्बस्तमधि क्रमादद्याद्विशुद्धये ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणादिभार्या दुर्वृत्ताः स्वैरिणीः प्रमाप्य क्रमेण इति जलाधार-चर्मकोशं, धनुः कार्मुकं, वरतं छागं, अधि मेघं च, विशुद्धये दद्यात् । इदं च प्रातिलोभ्येनान्त्यजातिप्रसूतानां ब्राह्मण्यादीनामकामतो वधविषयम् । कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह—‘प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषट् ॥’ इति । ब्राह्मण्यादिवधे षण्मासाः चत्रियावाक्यत्वारो वैश्याया द्वाविश्वेवं यथार्हतयान्वयः । यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्ती, व्यापादयति तदा किंचिद्देयम् । ‘वैशिकेन किंचित्’ (२२।२७) इति गौतमस्मरणात् । वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्त्यां व्यापादितायां किंचिदेव देयं तत्तच्च जलम् । ‘कोशं कृ-पेऽथ विप्रे वा ब्राह्मण्याः प्रतिपादतेत् । वधे धेनुः चत्रियाया वस्तो वैश्यावधे स्मृतः ॥ शूद्रायामाविकं वैश्यां हत्वा दद्याज्जलं नरः ॥’ इत्यङ्गिरःस्मरणात् । यदा पुनः चत्रियादिभिः प्रातिलोभ्येन व्यभिचरिता ब्राह्मणाद्या व्यापाद्यन्ते तदा गो-वधप्रायश्चित्तानि यथाहं योज्यानि ॥ २६८ ॥

भाषा—ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता यथाक्रम (वर्णानुक्रम) से जल भरने वाला चर्मके का मशक, धनुष, बकरा तथा भेड़ का दान करे ॥ २६८ ॥

ईषद्व्यभिचारितब्राह्मण्यादिवधे विशेषमाह—

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

यदा त्वप्रकर्षेण दुष्टामीषद्व्यभिचारिणीं ब्राह्मण्यादिकां व्यापादयति तदा शूद्रहत्याव्रतं षण्मासिकं कुर्यात् । यद्वा,—दशधेनूर्दद्यात् । इदं च षण्मासिकमकामतो ब्राह्मण्या व्यापादने, क्षत्रियावधे च कामकृते द्रष्टव्यम् । कामतो वैश्यावधे दशधेनूर्दद्यात् । कामतः शूद्रावधे तु उपपातकसाधारणप्राप्तं मासं पञ्चगव्याशनम् । यदा कामतो ब्राह्मणीं व्यापादयति, तदा द्वादशमासिकम् । क्षत्रियादीनां त्वकामतो व्यापादने त्रैमासिकं सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि । यथाह प्रचेताः—‘अनृतुमतीं ब्राह्मणीं हत्वा कृच्छ्राब्दं षण्मासान्वेति । क्षत्रियां हत्वा षण्मासान्मासत्रयं वेति वैश्यां हत्वा मासत्रयं सार्धमासं वेति शूद्रां हत्वा सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि वा’ इति । यत्तु हारीतेन ‘षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यं त्रीणि वैश्ये, सार्धं शूद्रे’ इति प्रतिपाद्योक्तं ‘क्षत्रियवद् ब्राह्मणीषु वैश्यवत्क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां शूद्रां हत्वा नव मासान्’ इत्युक्तं,—तदपि कर्मसाधनत्वादिगुणयोगिनीनां कामतो व्यापादने द्रष्टव्यम्; अकामतस्तदर्थं कल्प्यम् । आत्रेयां तु प्रागुक्तम् ।

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की ईषद्व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पूर्वोक्त शूद्रहत्या-विषयक व्रत करे अथवा नई व्यायां दस सवत्सा गौवों का दान करे ।

इति स्त्रीवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

हिंसाप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्प्रकीर्णकपदाभिधेयानुपपातकप्राणिवधेऽपि प्रायश्चित्तमाह—

अस्थिमतां सहस्रं तु तथाऽनस्थिमतामनः ॥ २६९ ॥

अस्थिमतां प्राणिनां कृकलासप्रभृतीनामनुक्तनिष्कृतीनां सहस्रं हत्वा, अनस्थिमतां च यूकामस्कुण्डंशमशकप्रभृतीनाम्, अनः शकटं तत्परिपूर्णमात्रं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं षण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेदशधेनूर्वा दद्यात् । ‘सहस्रम्’ इति परिमाणनियमात्ततोऽधिकवधे त्वतिरिक्तं कल्प्यम् । अर्वाङ्गुनः प्रत्येकवधे तु ‘किञ्चित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके’ (प्रा० २७५) इति वक्ष्यति । ‘तथाऽनस्थिमतामनः’ इति,—एतच्च यूकादिहोदिष्टजन्तुविषयम् । स्थविष्ठानस्थिघुणादिजन्तुवधे तु ‘कृमिकीटवयोहरवा’ (११।७०) इत्यादिना मलिनीकरणीयान्यभिवाच्य ‘मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्यादावकस्यहम्’ इति मन्वृत्तं द्रष्टव्यम् ॥

भाषा—गिरगिट आदि हड्डी वाले एक हजार जन्तुओं का वध होने पर तथा जूँ, खटमल, ढाँस एवं मच्छर आदि बिना हड्डी वाले एक बैलगाड़ी प्रमाण (असंख्य) जन्तुओं का वध हो जाने पर प्रायश्चित्तकर्ता पूर्वोक्त शूद्रहत्याव्रत अर्थात् प्राकृत ब्रह्मचर्य अथवा नयी व्यायी दस सवत्सा गौओं का दान करे ॥ २६९ ॥

मार्जारगोधानकुलमण्डूकांश्च पतत्रिणः ।

हत्वा ऽयहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥ २७० ॥

किंच, मार्जारादयः प्रसिद्धाः, पतत्रिणश्चाषकाकोलूकाः, तान् हत्वा त्रिरात्रं पयः पिबेत् पादकृच्छ्रं वा चरेत् । 'वा' शब्दाद्योजनगमनादिकं वा कुर्यात् ॥ यथाह मनुः (११।१३२)—'पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् । अपः स्पृशेत्स्नवन्त्यां वा सूक्तं वाऽवदेवतं जपेत् ॥' इति ।—इदं च प्रत्येकवध-विषयम् । समुदितवधे तु (११।१३१)—'मार्जारनकुलौ हत्वा चापं मण्डूक-मेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥' इति मनूक्तं षणमासिकं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनर्वसिष्टेनोक्तम्—'श्वमार्जारनकुलमण्डूकसर्पदहरमूषिकान्हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्किञ्चिद्वात्' इति, तत्कामतोऽध्यासविषयं वेदितव्यम् । दहरोऽक्षपमूषकश्छुच्छुन्दरी वा ॥ २७० ॥

भाषा—बिलाव, गोह, नेवला, मेढक, चाष, कौवा, उल्लू, आदि पक्षियों का वध हो जाने पर तीन अहोरात्रि केवल दूध पीये अथवा पादकृच्छ्र (एक योजन तक पैदल चलना रूपो) व्रत करे ॥ २७० ॥

गजे नीलवृषाः पञ्च शुके वत्सो द्विहायनः ।

खराजमेषेषु वृषो देयः कौञ्चे त्रिहायनः ॥ २७१ ॥

किंच, दन्तिनि व्यापादिते पञ्च नीलवृषा देयाः । शुके पक्षिणि द्विवर्षो वत्सः । रासभच्छागैडकेषु व्यापादितेषु प्रत्येकमेको वृषः । कौञ्चे पक्षिणि त्रिहायनो वत्सः । 'देय' इति सर्वत्रानुपङ्गः । मनुनाप्यत्र विशेष उक्तः (११।१३६)—'वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् । भजमेषावनड्वाहं खरं हत्वाैकहायनम् ॥' इति ॥ २७१ ॥

भाषा—हाथी का वध हो जाने पर पाँच नील बैल, सुग्गा (तोता) पक्षी का वध हो जाने पर दो वर्षों का बछड़ा, एवं गदहा, बकरा तथा भेड़ के वध हो जाने पर एक-एक बैल, और कौञ्च पक्षी का वध हो जाने पर तीन वर्षों के बछड़े का दान करे ॥ २७१ ॥

हंसश्येनकपिक्रव्याज्जलस्थलशिशुण्डिनः ।

भासं च हत्वा दद्याद् गामक्रव्यादस्तु वत्सिकाम् ॥२७२॥

किंच, क्रव्यमपक्वं मांसमस्तीति क्रव्याद् व्याघ्रसृगालादिर्मृगविशेषः वानर-
साहचर्यात्, तथा हंसश्येनसमभिव्याहारात् कङ्कगृध्रादिः पक्षिविशेषश्च गृह्यते;
'जल'शब्देन जलचरा वक्रादयो गृह्यन्ते; 'स्थल'शब्देन स्थलचरा बलाकादयः,
शिशुण्डी मयूरः; भासः पक्षिविशेषः, शेषाः प्रसिद्धाः, एषां प्रत्येकं वधे गामेकां
दद्यात् । अक्रव्यादस्तु हरिणादिमृगान् खञ्जरीटादिपक्षिविशेषान्हत्वा वत्सतरीं
दद्यात् । तथा च मनुः (११।१३५-१३७)—'हत्वा हंसं बलाकां च वक्रं
बर्हिणमेव च । वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ क्रव्यादस्तु
मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादो वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्ण-
लम् ॥' इति ॥ २७२ ॥

भाषा—हंस, बाज, 'बन्दर' एवं मांसभोजी—व्याघ्र, स्यार आदि तथा कंक,
गृध्र, आदि एवं जल-चर बगुला तथा स्थलचर (बलाका आदि), मयूर, भास आदि
पशु-पक्षी के वध हो जाने पर एक गौ का दान करे । और मांस नहीं खाने वाले
हरिण आदि तथा खंजरीट आदि पक्षियों के वध हो जाने पर एक बछिया का
दान करे ॥ २७२ ॥

उरगेष्वायसो पण्डः पण्डके त्रपु सीसकम् ।

कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा हयैऽशुकम् ॥ २७३ ॥

किंच, सरीसृपेषु व्यापादितेषु अयोमयो पण्डस्तीक्ष्णप्रान्तो देयः । पण्डके
नपुंसके व्यापादिते त्रपु सीसकं च माषपरिमितं दद्यात्, पलालभारं वा ।
'पण्डकं हत्वा पलालभारं त्रपु सीसकं वा दद्यात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् ।
यद्यपि 'पण्डको लिङ्गहीनः स्यात्संस्कारार्हश्च नैव सः' इति देवलवचनेन सामा-
न्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गरहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्येह विवक्षा; गोब्राह्मण-
वधनिषेधस्य जात्यवच्छेदेन प्रवृत्तेः, लिङ्गविरहिणि च पण्डे जातिसमवायाविशे-
षात्तन्निमित्तमेव लघुप्रायश्चित्तमुक्तम् । तस्मान्मृगपक्षिण एव विवक्षिताः । मृग-
पक्षिसमभिव्याहाराच्च कोले सूकरे व्यापादिते घृतकुम्भो देयः । उष्ट्रे गुञ्जा
देया । वाजिनि विनिपातितेऽशुकं वस्त्रं देयम् । तथा च मनुः (११।११३)—
'अग्निं कार्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजात्तमः । पलालभारकं पण्डे सैसकं चैव
माषकम् ॥' इति ॥ २७३ ॥

भाषा—सर्प मारने पर नुकीली लोहे की छड़ी, पण्डक (नपुंसक पशु-पक्षी)
को मारने पर पीतल और सीसा, सूकर मारने पर एक बड़ा घी, ऊँट मारने
पर गुञ्जा और घोड़ा मारने पर वस्त्र का दान देना चाहिए ॥ २७३ ॥

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ।

दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंच, तित्तिरौ पतत्रिणि व्यापादिते तिलद्रोणं दद्यात् । 'द्रोण'शब्दश्च परिमाणविशेषवचनः । 'अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद् द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम् ॥' इति स्मरणात् ॥ पूर्वोक्तानां गजादीनां व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चकादि-दानं कर्तुमशक्नुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्विशुद्ध्यर्थम् । 'कृच्छ्र'शब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाधये तपोमात्रे द्रष्टव्यः । तपांसि च गौतमेन दर्शितानि (१९।१७-१९)—'संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडह-स्यहोऽहोरात्र इति कालः । एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरुणि लघुनि लघूनि' इति । यदि 'कृच्छ्र'शब्देन मुख्योऽर्थो गृह्यते, तर्हि गजे शुक्रे वा विशेषेण प्राजापत्य एव स्यात् । नच तद्युक्तम्; तपोमात्रपरत्वे तु दान-गुरुलघुभावाकलनया तपसोऽपि गुरुलघुभावो युज्यते । ततश्च गजे द्विमासिकं यावकाशनं शुक्रे तूपवास इति । एवमन्यत्रापि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ २७४ ॥

भाषा—तित्तिर पक्षी को मारने पर एक द्रोण तिल का दान करे हाथी का वध करने पर पाँच नीलवृषों का दान न कर सकने पर शुद्धि के लिए एक कृच्छ्र मत करे ॥ २७४ ॥

किंचाह—

फलपुष्पाभ्ररसजसस्वघाते घृताशनम् ।

उदुम्बरादौ कले मधूकादौ च कुसुमे चिरस्थितभक्तासक्त्वाद्यन्ने च रसे गुडादौ च यानि सत्त्वानि प्राणिनो जायन्ते तेषां घाते घृतप्राशनं शुद्धि-साधनम् । इदं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते; प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वात् । दर्शितं च तपोरूपत्वमाङ्गिरसे 'प्रायश्चित्त'पदनिर्वचनव्याजेन—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥' इति ॥

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तस्थानन्त्यात् पृष्ठाकोटेनापि वक्तुमशक्यत्वात्सामान्येन प्राय-श्चित्तमाह—

किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥ २७५ ॥

अस्थिमतां कृकलासादिप्राणिनां न्यूनसहस्रसंख्यानां प्रत्येकं वधे किंचित्स्वल्पं धान्यहिरण्यादि देयम् । अनस्थिके स्वेकः प्राणायामः । तत्र किंचिदिति यदा हिरण्यं दीयते तदा पणमात्रम् ; 'अस्थिमतां वधे पणो देयः' इति सुमम्भु-

स्मरणात् । यदा तु धान्यं देयं तदाऽष्टमुष्टि देयम् ; 'अष्टमुष्टि भवेत्किञ्चित्' इति स्मरणात् ।—एतच्चानुक्तनिष्कृतिप्राणिवधविषयम् । यत्र तु प्रायश्चित्तविशेषः श्रूयते, तत्र स एव भवति; यथाह पराशरः—'हंससारसचक्राह्वकौञ्चकुक्कुट-घातकः । मयूरमेधौ हत्वा च एकभक्तेन शुद्ध्यति ॥ मद्गुं च टिट्ठिभं चैव शुकं पारावतं तथा । आडिकां च बकं हत्वा शुद्ध्येद्वै नक्तभोजनात् ॥ चाषकाकपोतानां सारीतित्तिरघातकः । अन्तर्जले उभे संध्ये प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ गृध्ररथेनविहङ्गानामुलूकस्य च घातकः । अपकाशी दिनं तिष्ठेद् द्वौ कालौ मारुताशनः ॥ हत्वा मूषिकमाजरीसर्पाजगरकुण्डुमान् । प्रत्येकं भोजयेद्विप्रांल्लोह-दण्डश्च दक्षिणा ॥ सेधाकच्छपगोधानां शशशल्यकघातकः । वृन्ताकफलगुञ्जाक्षी अहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥ मृगरोहिवराहाणामविकाचस्तघातने । वृकजम्बूकऋक्षाणां तरबूणां च घातकः ॥ तिलप्रस्थं त्वसौ दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयम् । गजमेषतुर-ज्जोष्ट्रावयानां निपातने ॥ प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसंध्यं चावगाहनम् । खरवानरसिंहानां चित्रकन्याघ्रघातकः ॥ शुद्धिमेति त्रिरात्रेण ब्राह्मणानां च भोजनैः ॥' इति ॥ एवमन्येषामपि स्मृतिवचसां देशकालापेक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया ॥ २७५ ॥

भाषा—फल, फूल, अन्न और रस में पके हुए (उपपन्न हुए) कुछ जीवों को मारने पर भी खाकर शुद्ध होवे । अस्थिवाले जीवों का (एक हजार से कम संख्या में) वध करने पर कुछ धान्य, सोना आदि का दान देना चाहिए, बिना अस्थिवाले जीवों को मारने पर एक प्राणायाम करे ॥ २७५ ॥

इति हिंसाप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

'इन्धनार्थं द्रुमच्छेद' (प्रा० २४०) इत्युपपातकोद्देशे पठितं, हिंसाप्रसङ्गलोभेन तद्रथुत्क्रमपठितमप्यपकृत्य तत्र प्रायश्चित्तमाह—

^३वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृकशतम् ।

स्यादोषघ्नवृथाच्छेदे क्षीराक्षी गोऽनुगो दिनम् ॥ २७६ ॥

फलदानां आन्नपनसादीनां च वृक्षाणां गुल्मादीनां च यज्ञाद्यदृष्टार्थं विना छेदने ऋचां गायत्र्यादीनां शतं जप्तव्यम् । ओषधीनां तु आभ्यारण्यानां वृथैव छेदने दिनं कृत्स्नमहर्गवां परिचर्यामनुगम्यान्ते क्षीरं पिबेदाहारान्तर-परित्यागेन । पञ्चयज्ञार्थं तु न दोषः । एतच्च फलादिद्वारेणोपयोगिषु द्रष्टव्यम् । (मनुः ११।१४२)—'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृकशतम् । गुल्मवल्ली-

१. कृत्स्नं भोजयेत् । २. क्षीराक्षी । ३. वृक्षगुल्मलतानां च छेदने ।

लतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥' इति मनुस्मरणात् । दृष्टार्थत्वेऽपि कर्षणा-
ङ्गभूतहलाद्यर्थत्वे न दोषः । 'फलपुष्पोपगान्पादपात्रं हिंस्यत्कर्षणकरणार्थं चोपह-
न्यात्' इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र तु स्थानविशेषादण्डाधिक्यं तत्र प्रायश्चित्ता-
धिक्यमपि कल्पनीयम् । तदुक्तम्—'चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ॥' इति ।-अयं च ऋक्शतजपो
द्विजातिविषयः, न पुनः शूद्रादिविषयः; तेषां जपेऽनधिकारात् । अतस्तेषां
दण्डानुसारेण द्विरात्रादिकं कल्पनीयम् । उपपातकमध्ये विशेषतः पाठस्थानर्थ-
व्यपरिहारार्थमुपपातकसाधारणप्रायश्चित्तमप्यत्र भवति । तच्च गुरुत्वादभ्यास-
विषयं कल्प्यम् ॥ २७६ ॥

भाषा—(विना यज्ञ कार्य के) वृक्ष, गुल्म, लता और विरवा काटने पर
गायत्री आदि ऋचा का सौ बार जप करे । ओषधियों (वनस्पतियों)
को निष्प्रयोजन काटने पर दिन भर दूध पीकर रहे और गाय की सेवा
करे ॥ २७६ ॥

पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तद्दंशनिमित्तं प्रायश्चित्तमाह—

पुंश्चलीवानरखरैर्दंष्ट्रैश्चोष्ट्रादिवायसैः ।

प्राणायामं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ २७७ ॥

पुंश्चल्यादयः प्रसिद्धाः, एतैर्दंष्ट्रैः पुमानन्तर्जले प्राणायामं कृत्वा घृतं
प्राश्य विशुध्यति । 'आदि'ग्रहणाच्छगालादीनां ग्रहणम् । यथाह मनुः (११।-
१९९)—'श्वसृगालखरैर्दंष्ट्रो ग्राभ्यैः क्रव्याद्भिरेव च । नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणा-
यामेन शुध्यति ॥' इति । अयं च घृतप्राशो भोजनप्रत्याज्ञायो द्रष्टव्यः; प्रायश्चि-
त्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात् ।-एतदशक्तविषयम् ; 'श्वसृगालमृगम-
हिषाजाविकखरकरभनकुलमार्जारमूषकप्लवबककाकपुरुषदष्टानामापोहिष्टेत्यादिभिः
स्नानं प्राणायामत्रयं च ॥' इति यत् सुमन्तुवचनं, तन्नाभेरधःप्रदेश ईषदष्टविष-
यम् । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'ब्रह्मचारी शुना दष्टस्यहं सायं पिबेत्पयः । गृहस्थश्चेद्
द्विरात्रं तु एकहं योऽग्निहोत्रवान् ॥ नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।
स्यादेतत्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् ॥' इति,—तत्सम्यग्दष्टविषयम् । क्षत्रिय-
वैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम् । शूद्रस्य तु—'शूद्राणां चोपवासेन शुद्धि-
दानेन वा पुनः । गां वा दद्याद् वृषं चैकं ब्राह्मणाय विशुद्धये ॥' इति बृहदङ्गिर-
सोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्र-
गाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥' (२३।३१) इति,—तदुक्तमाङ्ग-

- | | | |
|--------------------|-----------------------------------|----------------|
| १. दण्डानुसारात् । | २. साधारणप्राप्तं प्रायश्चित्तं । | ३. दष्ट- |
| श्चोष्ट्रादि । | ४. मूषिकाप्लव । | ५. विशुध्यति । |

दंशविषयम् ॥ स्त्रीणां तु—‘ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा । उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥’ इति पराशरोक्तं द्रष्टव्यम् । कृच्छ्रादिव्रत-
स्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः—‘त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु सुव्रता ।
सघृतं यावत् सुक्त्वा व्रतशेषं समापयेत् ॥’ इति ॥ रजस्वलायामपि विशेषः
पुलस्त्येन दर्शितः—‘रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः । पञ्चरात्रं
निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभेर्वक्त्रे तु त्रिगुणं तथा ।
चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दृष्टेपन्यत्राप्लुतिर्भवेत् ॥’ इति । अन्यत्राऽरजस्वला-
वस्थायाम् । यस्तु श्वादिभिर्घ्राणादिनोपहन्यते तस्य शातातपेन विशेष
उक्तः—‘शुना प्रातावलीढस्य नखैर्विलिखितस्य च । अग्निः प्रचालनं
शौचमग्निना चोपकूलनम्’ इति । उपकूलनं तापनम् ॥ यदा तु श्वादिदंश-
शस्त्रघातादिजनितव्रणे कृमय उत्पद्यन्ते तदा मनुना विशेष उक्तः—‘ब्राह्मणस्य
व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे । कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥
गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत् । त्रिरात्रं पञ्चगव्याक्षी खघोनाभ्या विशु-
ध्यति ॥ नाभिकण्ठान्तरोद्भूते व्रणे चोत्पद्यते कृमिः । षड्रात्रं तु त्र्यहं पञ्चगव्या-
शनमिति स्मृतम् ॥’ तत्र श्वादिदंशव्रणे तदंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम् ।
शस्त्रादिजनितव्रणे स्वेतदेव, त्र्यहं पञ्चगव्याशनादिकमिति शेषः । चन्त्रियादिषु तु
प्रतिवर्गं पादपादहासः कल्पनीयः ॥ २७७ ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री, बन्दर, गदहा, ऊँट, घोड़ा (सियार आदि),
कौआ द्वारा दाँत या चोंच से काटे जाने पर जल में खड़ा होकर प्राणायाम
करने और घी खाने पर शुद्धि होती है ॥ २७७ ॥

शारीरस्वभातुविच्छेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसङ्गाच्छारीरचरमधातुविच्छेदकस्कन्द-
ने प्रायश्चित्तमाह—

यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत् ।

स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं तेनाऽनामिकया स्पृशेत् ॥ २७८ ॥

यदि कथंचिस्त्रीसंभोगमन्तरेणापि हठाचरमधातुर्विच्छेदस्तदा तत्स्कन्नं रेतो
‘यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी’, ‘पुनर्मामैत्विन्द्रियम्’ इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्र-
येत् । तेन चाभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकनिष्ठिकया
स्पृशेत् ॥ अन्ये तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचिरेव स्पर्शकर्मण्ययोग्यत्वात्तेनेत्य-
नामिकासाहचर्यास्त्वबुद्धिस्थाङ्गुष्ठपरस्वेन व्याचक्षते । तेनाङ्गुष्ठेनानामिकया चेति

१. सव्रता । २. चोपकूलनं । ३. षड्रात्रं च तदा प्रोक्तं प्राजापत्यं विशेष-
धनं । ४. एताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुमन्त्रयेत् । ५. भ्रुवोर्वाऽपि तथा नामिकया ।

‘अङ्गुष्ठ’पदग्रहणे वृत्तभङ्गप्रसङ्गात्तेनेति निर्दिष्टमिति,—तदसत् ; अङ्गुष्ठस्याबुद्धिस्थ-
त्वात् । नच शब्दसंनिहितपरित्यागेनार्थाद् बुद्धिस्थस्यान्वयो युक्तः । तदुक्तम्—
‘गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम् । शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं
ज्वलतीतिवत् ॥’ इति । नच रेतसोऽशुचित्वेन स्पर्शयोग्यत्वम् । विधानादेव
प्रायश्चित्तार्थरूपस्पर्शं योग्यत्वमवगम्यते प्रायश्चित्तरूपपान इव सुरायाः । इदं च
प्रायश्चित्तं गृहस्थस्यैवाकामतः स्कन्नाविषयम् । ब्रह्मचारिणः स्वप्ने जागरणा-
वस्थायां च गुरुप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् । यत्तु यमवचनम्—‘गृहस्थः कामतः
कुर्याद्व्रतसः स्कन्दनं भुवि । सहस्रं तु जपेद् देव्यः प्राणायामैस्त्रिभिः सह ॥’ इति,—
तत्कामकारविषयम् ॥ २७८ ॥

भाषा—(स्वप्नदोष होने पर) ‘यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कन् पुनर्ममै-
स्त्रिन्द्रियम्’ इन मंत्रों से वीर्य का अभिमन्त्रण करे और उससे दोनों
छाती, और दोनों भौहों के मध्यभाग का कनिष्ठिका अँगुली द्वारा स्पर्श
करे ॥ २७८ ॥

मयि तेज इति ऋचायां स्वां दृष्ट्वाऽम्बुगतां जपेत् ।

सावित्रीमशुचौ दृष्टे चापल्ये चानृतेऽपि च ॥ २७९ ॥

किंच, स्वीयं प्रतिबिम्बमम्बुगतं दृष्टं चेत् तदा ‘मयि तेज इन्द्रियम्’ इतीमं
मन्त्रं जपेत् । अशुचिद्रव्यदर्शने पुनः सावित्रीं सवितृदेवतां ‘तत्सवितुः’
इत्यादिकामृचं जपेत् । तथा वाक्पाणिपादादिचापल्यकरणे तामेव जपेत्, अनृ-
तवचने च ।—एतत्कामकारे द्रष्टव्यम् ; अकामकृते तु ‘सुप्त्वा भुक्त्वा च क्षुत्वा
च निष्ठीव्योक्तवानृतानि च । पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥’
इति मनुक्तमाचमनं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु संवर्तवचनम्—‘क्षुते निष्ठीर्वने चैव दन्त-
शिलष्टे तथानृते । पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥’ इति,—तद्वत्प्र-
योजने जलाभावे वा द्रष्टव्यम् ॥ स्त्रोशूद्रविट्क्षत्रवधानन्तरं ‘निन्दिताथोपजीवनं’
पठितं, तत्र च मनुयोगीश्वरप्रोक्तान्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणान्यपेक्षया
वेदितव्यानि । नास्तिक्येऽपि तानि प्रायश्चित्तानि तथैव प्रयोज्यानि, ‘नास्तिक्य’-
शब्देन च वेदादिनिन्दनं तेन जीवनमुच्यते; तत्रोभयत्रापि वसिष्ठेन प्रायश्चित्ता-
न्तरमप्युक्तम्—‘नास्तिकः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा विरमेन्नास्तिक्यान्नास्तिक-
वृत्तिस्त्वतिकृच्छ्रम्’ (२१।२९) इति ।—एतच्च सकृत्करणविषयम् । उपपातकप्राय-
श्चित्तान्यभ्यासविषयाणि । यच्च शङ्खेनोक्तम्—‘नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः
कूटव्यवहारी मिथ्याभिशंसी इत्येते पञ्चसंवत्सरं ब्राह्मणगृहे भैक्षं चरेयुः’ इति ।

१. वक्ष्यमाणत्वात् । २. दृष्ट्वाऽम्बुनि वै जपेत् । ३. चापले वाऽनृ-
तेऽपि च । ४. निष्ठीविते ।

यच्च हारीतेन-‘नास्तिको नास्तिकवृत्तिः’ इति प्रकथ्य ‘पञ्चतपोऽभ्रावकाशजल-
जयनान्यनुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहिमन्तेषु’ इति,—तदुभयमत्यन्ताभिनिवेशेन बहुकाला-
भ्यासविषयम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जल में पड़ी हुई अपनी छाया को देख कर ‘मयि तेज इन्द्रियम्’
मन्त्र का जप करे; अपवित्र मनुष्य को देखने पर, (वाणी, हाथ, पैर
आदि की) चपलता करने पर और असत्यभाषण करने पर गायत्री का
जप करे ॥ २७९ ॥

नास्तिक्यानन्तरं ‘व्रतलोपश्च’ हस्त्युक्तं, तत्रावकीर्णस्याप्रसिद्धत्वात्तल्लक्षण-
कथनपूर्वकं प्रायश्चित्तमाह—

अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।

गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥ २८० ॥

ब्रह्मचार्यपुर्कुर्वणको नैष्ठिकश्चासौ योषितं गत्वाऽवकीर्णी भवति ।
चरमधातोर्विसर्गोऽवकीर्णं तद्यस्यास्ति सोऽवकीर्णी, स निर्ऋतिदेवस्येन गर्द-
भपशुना यागं कृत्वा विशुध्यति । गर्दभस्य पशुत्वे सिद्धेऽपि पुनः ‘पशु’ग्रहणं ‘अथ
पशुकल्पः’ (१११११) इत्याश्रयायनादिगृह्योक्तपशुधर्मप्राप्त्यर्थम् । एतच्चारण्ये
चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ कार्यम् । ‘ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिके-
ऽग्नौ रक्षोदेवतं गर्दभं पशुमालभेत’ (२३११) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तथा
रात्रावेकाक्षिविकलेन यष्टव्यम् । तथा च मनुः (११११८)—‘अवकीर्णी तु
काणेन रासभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥’ इति ।
पशोरभावे चरुणा यष्टव्यम् । ‘निर्ऋतिं वा चरुं निर्वपेत् तस्य जुहुयात्-कामाय
स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा’ (२३।२।३)
इति वसिष्ठस्मरणात् ।—एतच्चाशक्तविषयम् । शक्तस्य पुनर्गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं
चतुष्पथे यजेत् । ‘तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान् भैक्षं
चरेत्कर्माचक्षाणः संवत्सरेण शुध्यति’ (२३।१७-१९) इति गौतमोक्तो वार्षिक-
तपःसमुचितः पशुयागश्चरुर्वा द्रष्टव्यः । तथा त्रिषवणस्नानमेककालभोजनं च
द्रष्टव्यम् । (११११२२-१२३)—‘एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालि-
कम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यति ॥’ इति मनुस्मरणात् ॥ इदं च
वार्षिकमश्रोत्रियब्राह्मणपत्न्यां वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च द्रष्टव्यम् ॥—यदा तु गुण-
वत्पुत्रोर्ब्राह्मणोऽश्रोत्रिययोः श्रोत्रियभार्ययोरवकिरति तदा त्रिवार्षिकं द्विवार्षिकं च
क्रमेण योज्यम् ॥ यथाहतुः शङ्खलिखितौ—‘गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं

त्रिषवणमनुतिष्ठेत् । अत्रियावां तु द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणि' इति । अत्र-
ङ्गिरोवचनम्—'अवकीर्णनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् । चीरवासास्तु षण्मासा-
स्तथा मुच्येत क्लिष्यपात् ॥' इति,—तदकामतो मानवाब्दिकविषयमीषद्व्यभि-
चारिणीविषयं वा ॥ अत्यन्तव्यभिचारितास्तु पुनः 'स्वैरिण्यां वृषत्यामवकीर्णः
सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भो-
जयेत्, यवसमारं च गोभ्यो दद्यात् । अत्रियायां त्रिरात्रमुपोषितो घृतपाश्रं
दद्यात् । ब्राह्मण्यां षड्रात्रमुपोषितो गां च दद्यात् । गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् ।
षण्दायामवकीर्णः पलालभारं सोसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खलिखितोदितं वेदि-
तव्यम् । एतच्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं त्रैवर्णिकस्यापि ब्रह्मचारिणः समानम् । 'अवकीर्णी
द्विजो राजा वैश्यश्चापि स्त्रेण तु । इष्ट्वा भैक्षानिनो नित्यं शुद्धयन्त्यन्दास्समा-
हिताः ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् । यदा स्त्रीसंभोगमन्तरेण कामतत्परमन्धातुं
विमृजति, दिवा च स्वप्ने वा विमृजति, तदा नैऋतयागमाश्रं द्रष्टव्यम्; 'एतदेव
रेतसः प्रयत्नोत्सर्गो दिवा स्वप्ने च' (२३।५) इति वसिष्ठेन यागमात्रस्यातिदिष्ट-
त्वात् । व्रतान्तरेषु कृच्छ्रचान्द्रायणाविश्वतिदिष्टब्रह्मचर्येषु स्कन्दने सत्येतदेव
यागमाश्रम् । व्रतान्तरेषु चैव'मिति तेनैवातिदिष्टत्वात् । स्वप्नस्कन्दने तु मनूकं
द्रष्टव्यम् (२।१८१)—'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्वित्रः शुक्रमकामतः । स्नात्वा-
कर्मचरित्वा त्रिः पुनर्मांसिष्टुचं जपेत् ॥' इति । वानप्रस्थादीनां जेदमेव ब्रह्मचर्य-
स्वप्नने अवकीर्णव्रतं कृच्छ्रत्रयाधिकं भवति; 'वानप्रस्थो यतिश्चैव स्कन्दने सति
कामतः । पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णी व्रतं चरेत् ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् ॥ यदा
गार्हस्थ्यपरिग्रहेण संन्यासात्प्रच्युतो भवति तदा संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम्; 'संन्यस्य
दुर्मतिः कश्चिप्रत्यापत्तिं व्रजेद्यदि । स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्तः षण्मासात्प्रत्यनन्त-
रम् ॥' इति । प्रत्यापत्तिर्गार्हस्थ्यपरिग्रहः । अत एव वसिष्ठः—'यस्तु प्रव्रजितो
भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम् । षष्टिवर्षसहस्राणि विद्यायां जायते कृमिः ॥' इति ।
तथा च पराशरः—'यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्यातो विनिर्गतः । अनाशकनि-
वृत्तश्च गार्हस्थ्यं चेच्चिकीर्षति ॥ स चरंश्रोणि कृच्छ्राणि श्रोणि चान्द्रायणानि च ।
जातकर्मादिभिः सर्वैः संस्कृतः शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ तत्र ब्राह्मणस्य षण्मासिकः
कृच्छ्रः पुनः संन्याससंस्कारश्च अत्रियस्य चान्द्रायणत्रयम् । वैश्यस्य कृच्छ्रत्रय-
मिति व्यवस्था । अथवा ब्राह्मणस्यैव शक्तिसकृदभ्यासाद्यपेक्षाया व्यवस्थितं
प्रायश्चित्तत्रयं द्रष्टव्यम् ॥ ('चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता क्वचित् ।
प्राजापत्येन शुद्धयेत्तु तस्मादेवापकर्मणः ॥' चितिभ्रष्टा भर्तुरनुगमने आपस्तम्ब-
स्मरणात् कचिदित्युक्तम् ।) तथा मरणसंन्यासिनामपि यमेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—

१. गार्हस्थ्यवासंभवा परिग्रहः । २. अथ चतुर्विंशत्यो मागोऽधिकः ।

‘अलाभ्युद्धन्धनभ्रष्टाः प्रमज्ज्यानाशकच्युताः । विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातच्युताश्च ये ॥ नैव ते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः । चान्द्रायणेन शुद्ध्यन्ति तस-
कृच्छ्रद्वयेन वा ॥’ इति ॥ इदं च चान्द्रायणं तसकृच्छ्रद्वयार्थकं प्रायश्चित्तद्वयं
शक्यस्यापेक्षया व्यवस्थितं विज्ञेयम् । यदा तु ‘शस्त्रघातहताश्च’ इति पाठः,
तदाभस्यागाद्यशास्त्रीयमरणनिमित्तस्तत्पुत्रादेरुपदेशो द्रष्टव्यः ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनो-
क्तम्—‘जीवन्नाभस्यागी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्, त्रिरात्रं चोपवसेत्’ (२३।१९)
इति,—तदप्यध्यवसिताशास्त्रीयमरणस्यैव कथंचिज्जीवने शक्यस्यापेक्षया द्रष्टव्यम् ।
अथवा—अध्यवसायमात्रे त्रिरात्रं, शस्त्रादित्तस्य द्वादशरात्रमिति व्यवस्था । इदं
चावकीर्णिप्रायश्चित्तं गुरुदारतत्समव्यतिरिक्तागम्यागमनविषयम् । तत्र गुरुतर-
प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् । न च लघुनाऽवकीर्णिमतेन द्वादशवार्षिकाद्यपनोपमहा-
पातकदोषनिषर्हणमुचितम् । न च ब्रह्मचारिणोपाधिकं लघुप्रायश्चित्तविधानमिति
युक्तम् ; आश्रमान्तराणां द्वैगुण्यादिवृद्धेर्ब्रह्महत्याप्रकरणे दर्शितत्वात् । न चात्रा-
गम्यागमनप्रायश्चित्तं पृथक्कृतव्यम् ; ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्या-
गम्यागमनेनान्तरीयकत्वात्, अतोऽन्यत्रापि यस्मिन्निमित्ते यस्मिन्निमित्तान्तरं समं
न्यूनं वाऽवश्यंभाविनः । तत् पृथक् नैमित्तिकं प्रयुज्जेत् । यथा (मनुः ११।२०८)—
‘अवगूर्यं चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसुवपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तर-
शोणिते ॥’ इत्यत्र शोणितोत्पादननिमित्तेऽवगूरणनिपातलक्षणं निमित्तद्वयमव-
श्यंभाविन्येनैव नैमित्तिकं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं च न प्रयुज्जेत्, एवमन्यत्राभ्युहनी-
यम् । यत्र पुनर्निमित्तानामन्तर्भावनिमित्तो नास्ति, तत्र पुनर्नैमित्तिकानि
पृथक्प्रयुज्यन्ते । निमित्तानि यथा—‘यदा पर्वणि परभार्या रजस्वला तैला-
रूपको दिवा जले गच्छति’ इति ॥ ननु ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलन-
स्यागमनान्तरीयकत्वं नास्त्येव; पुत्रिकागमनेऽगम्यागमनदोषाभावात् । तथा
हि—न तावत्पुत्रिका कन्या; अणुतयोनित्वात्, नापि परभार्या; प्रदाना-
भावात्, नापि पेश्या; अतद्बृत्तित्वात्, नापि विधवा; भर्तृमरणाभावात्,
अतः पुत्रिकायाः क्वाप्यनन्तर्भावादप्रतिषिद्धेति तत्रैव विप्लुतस्य केवलमव-
कीर्णिमत्तम् । अन्यत्र विप्लुतस्य तु निमित्तान्तरसंनिपातादवकीर्णिमत्तं नैमि-
त्तिकान्तरमपि प्रयोक्तव्यमिति,—तदसत् ; पुत्रिकाया अपि परभार्यास्वन्त-
र्भावात् । प्रदानाभावेऽपि विवाहसंस्कारेण संस्कृतत्वात् गान्धर्वादिविवाह-
परिणीतावत् । न च ‘यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोपय-
च्छेत् तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥’ इति प्रतिषेधात्सगोत्राश्विव भार्यात्वं
नोत्पद्यत इति बाध्यम् । इदार्थत्वात् प्रतिषेधस्व व्यङ्गाभ्यादिप्रतिषेधवत् । इदार्थत्वं

च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति हेतुपादानात् । नच पुत्रार्थमेव परिणयनं, अपि तु धर्मार्थ-
मपि, अतश्चोत्पादितपुत्रस्य स्मृतभार्यस्य धर्मार्थं पुत्रिकापरिणयने को विरोधः ?
प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तादित्यलमतिप्रसङ्गेन । तस्माद् ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्म-
चर्यस्खलनस्यागम्यागमनान्तरीयकत्वाच्च पृथङ्नैमित्तिकं प्रयोक्तव्यमिति सुहृ-
क्तम् ॥ २८० ॥

भाषा—ब्रह्मचारी किसी स्त्री का भोग करने पर अवकीर्णी हो जाता
है, वह निर्ऋति देवता के लिए गदहे द्वारा पशुयज्ञ करने पर शुद्ध
होता है ॥ २८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादन्यदप्यनुपातकप्रायश्चित्तमाह—

भैक्ष्वाग्निकार्यं त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः ।

कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥

उपस्थानं ततः कुर्यात्सं मा सिचन्त्वनेन तु ।

यस्त्वनानुर एव ब्रह्मचारी निरन्तरं सप्तरात्रं भैक्षमग्निकार्यं वा त्यजति
असौ 'कामावकीर्णोऽस्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामावपक्षोऽस्य-
वपक्षोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यामाहुती हुत्वा 'सं मा
सिचन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः । समायमग्निं सिचन्तां यशसा ब्रह्म-
वर्चसेन ॥' इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमुपतिष्ठेत् ॥ एतच्च गुरुपरिचर्यादिगुरुनरकार्य-
व्यग्रतया अकरणे द्रष्टव्यम् । यदा स्वव्यग्र एवोभे भैक्ष्वाग्निकार्यं त्यजति, तदा
'अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् । अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णव्रतं
चरेत् ॥' (मनु० २।१८७) इति मानवं द्रष्टव्यम् ॥ यज्ञोपवीतविनाशे तु
हार्गतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'मनोव्रतपतीभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा पुनर्यथार्थं
प्रतीयादसज्जैश्चभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वान्ते दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रोदर्शने नग्न-
स्वापे श्मशानमाक्रम्य ह्ययादींश्चारुह्य पूज्यातिक्रमे चैताभिरेव जुहुयादग्नि-
समिन्धने स्थावरसरीसृपादीनां वधे "यद्देवादेवहेदनम्" इति कूष्माण्डोभिराज्यं
जुहुयात्, मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्' इति । मनो-
व्रतपतीभिरिति मनोज्योतिरित्यादिमनोलिङ्गाभिः 'त्वमग्ने व्रतपा असि'
इत्यादिव्रतलिङ्गाभिरित्यर्थः । यथार्थं प्रतीयादिति, उपनयनोक्तमार्गेण समन्त्रकं
गृह्णीयादित्यर्थः । यज्ञोपवीतं विना भोजनादिकरणे तु—'ब्रह्मसूत्रं विना भुक्ते
विष्मूत्रं कुरुतेऽथवा । गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुध्यति ॥' इति मरीच्युक्तं
द्रष्टव्यम् ॥ २८१ ॥

१. हुत्वा चाऽज्याहुतिं द्वयम् । उपस्थानद्वयं कुर्यात् । २. समायमग्निं ।

३. हयादीनारुह्य ।

वासोगृहादीनां ।

भाषा—बिना अस्वस्थता के सात दिन तक भिच्छाटन और अग्निकर्म छोड़ने पर 'कामावकीर्ण' आदि (कामावकीर्णोऽस्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामावपन्नोऽस्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इन दोनों मन्त्रों से दो आहुति करके 'समा सिचन्तु मरुतः समिन्द्रः संवृहस्पतिः । समायमग्निः सिचन्तां यज्ञसा ब्रह्मवर्चसेन ।' मन्त्र से पुनः अग्नि का उपस्थान करे ॥ २८१३ ॥

मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषव्रतानि च ॥ २८२ ॥

प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा प्रसाद्यैव विशुध्यति ।

किञ्च, ब्रह्मचारिणा अमत्या मधुमांसभक्षणे कृच्छ्रः कार्यः । तदनन्तरमवशिष्टानि व्रतानि समापयेत् ।—एतच्च शिष्टभोजनाहंशशादिमांसभक्षणविषयम् । 'ब्रह्मचारी चेन्मांसमरनीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा व्रतशेषं समापयेत्' (२३।११) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'द्वादशरात्र'ग्रहणं तु मतिपूर्वाभ्यासापेक्षयाऽतिकृच्छ्रपराकादेरपि प्राप्यर्थम् । यदा तु मांसैकापनोद्य-
व्याध्यभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा भक्षणीयम् । 'स चेद्व्याधितः कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राशनीयात्' (२३।९) इति तेनैवोक्तत्वात् । 'सर्व'-ग्रहणं मांसलशुनाद्यभक्ष्यमात्रसंग्रहार्थम् । तद्वक्षणेन चापगतव्याधिरादित्यमुपतिष्ठेत । तथा च बौधायनः (२।१।२६-२७)—'येनेच्छेत्तु चिकित्सितुं तु ब्रह्मागदो भवति तदोत्थायादित्यमुपतिष्ठेत' 'हंसः शुचिषत्' इति । मधुनोऽप्यज्ञानतः प्राशनोपपत्तौ न दोषः । 'अकामोपनतं मधु वाजसनेयके न दुष्यति' (२३।१४) इति वसिष्ठस्मरणात् । अन्यसूतकाज्ञादिभक्षणप्रायश्चित्तं स्वभक्ष्यप्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यामः । आज्ञाप्रतिष्ठातादिना गुरोः प्रतिकूलमाचरन् पादप्रणिपातादिना गुरुं प्रसाद्य विशुध्यति ॥ २८२३ ॥

भाषा—मधु और मांस खाने पर कृच्छ्र और अवशिष्ट व्रत करे । गुरु के विपरीत कार्य करने पर उन्हें प्रसन्न करने पर ही (ब्रह्मचारी) शुद्ध होता है ॥ २८२३ ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद् गुरोरपि प्रायश्चित्तमाह—

कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यान्म्रियते^१ प्रहितो यदि ॥ २८३ ॥

यस्तु गुरुश्चौरगत्याग्रादिभयाकुलप्रदेशे सान्द्रतरान्धकाराकुलितनिशीथावसरे कार्यार्थं शिष्यं प्रेरयति, स च गुरुणा प्रेरितो दैवान्स्मृतस्तदा स गुरुः कृच्छ्राणां प्राजापत्यादीनां त्रयं कुर्यात्, न पुनस्त्रयः प्राजापत्याः, तथा सति पृथङ्निवेशिनी संख्यानुपपन्ना स्यात् । न च 'एकादश प्रयाजान्यजति' इति वदाम्यपेक्षा संख्येति चतुरस्रम् ; स्वरूपपृथक्त्वे संभवत्यावृण्वपेक्षया अन्यादय-

त्वात् । यदियमुत्पन्नगता संवथा स्यात्तदा स्यादपि कथंचिदावृत्त्यपेक्षा, किं-
त्पत्तिगतेयम् ; अतः 'तिस्र आज्याहुतीर्जुहोति' इतिवत् स्वरूपपृथक्त्वापेक्षैव
त्रित्वसंख्याघटना युक्ता ॥ २८३ ॥

भाषा—किसी कार्य पर भेजे गये (और उस कार्य के सम्पादन के
लिये) शिष्य की मृत्यु होने पर (हिंसक पशु आदि द्वारा मारे जाने पर)
गुरु तीन कृच्छ्र व्रत करे ॥ २८३ ॥

सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादमाह—

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् ।

[विषाके गोवृषाणां तु भेषजाग्निक्रियासु च ॥]

आयुर्वेदोपदेशानुसारेणौषधपथ्याद्यप्रदानादिभिश्चिकित्सादिना क्रियमाण
उपकारो यस्य ब्राह्मणादेस्तस्मिन्दैवात्कथंचिन्मृतेऽपि पातकं नैव भवति ।
'विप्र'ग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणार्थम् । अत एव 'यन्म्रणे गोविचिकित्सार्थे गूढगर्भ-
विमोचने । यस्मै कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥' इत्यादि संवर्ता-
रुक्तम् । एतच्च प्रपञ्चितं प्राक् ॥—

भाषा—औषध आदि द्वारा उपकार करते समय ब्राह्मण की मृत्यु हो
जाने पर पातक नहीं लगता । [गाय और वृष की चिकित्सा और अग्निकार्य में
प्राणनाश हो तो पाप नहीं लगता ।] ॥

मिथ्याभिर्शंसिनः प्रायश्चित्तविवक्षया तदुपयोग्यर्थवादं तावदाह—

मिथ्याभिर्शंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः ॥ २८४ ॥

मिथ्याभिर्शस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन् ।

यस्तु परोत्कर्षेण्यजनितरोषकलुषितान्तःकरणो जनसमक्षं मिथ्यैवाभि-
ज्ञापं 'ब्रह्महत्यादिकमनेन कृतम्' इत्यारोपयति, तस्य तदेव द्विगुणं भवति ।
यस्तु विद्यमानमेव दोषमलोकविदितं जनसमक्षं प्रकाशयति, तस्यापि तस्या-
तकिसमदोषभाक्त्वम् ; तथा चापस्तम्भः (१।२।१।२०)—'दोषं जुद्ध्वा
न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याता स्यात् परिहरेच्चैनं धर्मेषु' इति न केवलं
मिथ्याभिर्शंसो द्विगुणदोषभाक्, अपि तु मिथ्याभिर्शस्तस्य यदन्यद् दुरितजातं
तदपि समादत्त इति वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तेऽर्थवादः, न पुनः पापद्वैगुण्यादि-
प्रतिपादनमत्र विवक्षितम् ; निमित्तस्य लघुत्वाद्बहुप्रायश्चित्तस्योपदेश्यमाणत्वात्
कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च ॥ २८४ ॥

भाषा—(ईर्ष्या आदि के कारण) दूसरे पर झूठे ही (ब्रह्महत्या आदि का) दोष कहने वाला तथा वास्तविक दोष को भी कहता फिरने वाला इन दोनों को दूना दोष लगता है । मिथ्या दोष कहने वाला न केवल दूने दोष से युक्त होता है अपितु जिस पर दोष लगता है उसके सभी पाप भी उसे लग जाते हैं ॥ २८४३ ॥

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसन्मृषा परम् ।

अकथ्यो मासमासीत स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८५ ॥

यस्तु महापापेन ब्रह्महत्यादिना गोवधाद्युपपापेन वा मृषैव परमभिशंसति स मासं यावज्जलाशनो जपशीलो जितेन्द्रियश्च भवेत् । तपश्च शुद्धवतीनां कार्यः । 'ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्य पतनीयेनोपपातकेन वा मासमकथ्यः शुद्धवतीरावर्तयेदक्षमेधावभृथं वा गच्छेत्' (२४।३९-४०) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'महापापोपपाप'ग्रहणमन्येषामप्यतिपातकादीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव ब्राह्मणेनाभिशंसने कृते द्रष्टव्यम् । यदा तु ब्राह्मणः क्षत्रियादेरभिशंसनं करोति, क्षत्रियादिर्वा ब्राह्मणस्य तदा—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोभ्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥' इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य बुद्धिहासौ कल्पनीयौ । भूताभिशंसिनस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तदर्थं कल्पनीयम् । तथाऽतिपातकाभिशंसिन एतदेव अतः पादोनम्, पातकाभिशंसिनस्तद्वर्धम्, उपपातकाभिशंसिनस्तु पादः; 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः' (मनुः १।१।२६)—इत्युपपातकभूतक्षत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्त-तुरीयांशस्य दर्शनात् । एवं प्रकीर्णाभिशंसिनोऽपि उपपातकान्मयूनं कल्पनीयम् । 'शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । यस्तु शङ्खलिखिताभ्यां 'नास्तिकः कृतघ्नः कूटघ्नवहारो ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी चेत्येते षड्वर्षाणि ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयुः, संवत्सरं धौतभैक्षमश्नीयुः, षण्मासान्वागा अनुगच्छेयुः' इति गुरुप्रायश्चित्तमुक्तं, तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनीयम् ॥ २८५ ॥

भाषा—जो दूसरे पर झूठा महापातक या पातक लगाता है वह एक मास तक जल पीकर रहे, जप करता रहे और इन्द्रियों का सम्यक् रूप से संयम रखे ॥ २८५ ॥

१. गोवधपतनीयेन वा । २. नोपि ततो मृत्युम् ।

अभिशंसिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादभिशस्तप्रायश्चित्तमाह—

अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव वा ।

१निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः पुनर्मिथ्याभिशस्तः स कृच्छ्रं प्राजापत्यं चरेत् । अग्निदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा पशुना । एषां च पक्षणां शक्तिसंभवापेक्षया व्यवस्था । यत्तु वसिष्ठेन 'मासमन्व-
क्षणमुक्तमेतेनैवाभिशस्तो व्याख्यातः' (२४।३७) इति, तदभिशस्तस्यैव किंचिरका-
लमकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम् ; 'संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः'
इति दण्डातिरेकदर्शनात् । यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अनृतेनाभिशस्यमानः कृच्छ्रं
चरेन्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासम्' इति, तदपि वसिष्ठेन समान-
विषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'पातकाभिशंसिने कृच्छ्रस्तदर्धमभिशस्तस्य'
(२।१।६०।१) इति, तदुपपातकादिविषयं अशक्तविषयं वा । एवमन्येषाम-
प्येवैवावचप्रायश्चित्तानामभिशस्तविषयाणां कालशक्त्यापेक्षया व्यवस्था
विज्ञेया । यथाह मनुः (१।१।२००)—'षष्ठाक्षकालता मासं संहिताजप एव वा ।
होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम् ॥' इति । अपाङ्क्तानां मध्ये
अभिशस्तादयः पठिताः । यद्यप्यत्राभिशस्तस्य निषिद्धाचरणं नोपलभ्यते तथापि
मिथ्याभिशस्तखलिङ्गानुमितप्राग्भवीयनिषिद्धाचरणापूर्वनिवन्धनमिदं प्रायश्चित्तं
कृमिदष्टानामिवेति न विरोधः ॥ २८६ ॥

भाषा—जिस पर झूठा दोषारोपण किया गया हो वह कृच्छ्र व्रत करे
अथवा अग्नि देवता का पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से
यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से या एक पशु से यज्ञ करे ॥ २८६ ॥

अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छंश्चान्द्रायणं चरेत् ।

किंच, यस्तु नियोगं विना भ्रातृज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वा भार्यां गच्छति
स चान्द्रायणं चरेत् ।—एतच्च सकृदमतिपूर्वविषयं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खवच-
नम्—'परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयातां ज्येष्ठभार्या-
मनियुक्तो गच्छंस्तदेव कनिष्ठभार्यां च' इति, तत्कामकारविषयम् ॥—

भाषा—विना नियोग के (श्रेष्ठ जनों की आज्ञा के विना ही) जेठे बा-
छोटे भाई की पत्नी से भोग करने वाला चान्द्रायण व्रत करे ।

किंवाह—

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदकयां विशुध्यति ॥ २८७ ॥

यः पुनरुदकयां रजस्वलां स्नभार्यामपि गच्छति स त्रिरात्रमुपोष्यान्ते घृतं

१. निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ।

प्रारभ्य विशुध्यति ।—इदमकामतः सकृद्विषयम् । तत्रैवाभ्यासे 'रजस्वला-
गमने ससरात्रम्' इति स्मृतं । 'कं द्रष्टव्यम् ! कामतः सकृद्विषयेतदेव ।
यत्तु बृहत्संवर्तेनोक्तम्—'२३. ॥ तु यो गच्छेद्भूमिर्णी पतितां तथा । तस्य
पापविशुद्धयर्थमतिकृच्छं विशोधनम् ॥' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ।
यत्पुनः शब्देन त्रिवार्षिकमुक्तम्—'पादस्तु शुद्धहत्यायामुदकयागमने तथा' इति,
तत्कामतोऽत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शे प्राय-
श्चित्तं स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा च बृहद्वसिष्ठः—'स्पृष्टे रजस्वलेऽन्योन्यं सर्वे
त्वेकभर्तुके । कामादकामतो वापि सद्यः ज्ञानेन शुध्यतः ॥' इति । असपत्न्योस्तु
सर्वण्योरकामतः ज्ञानमात्रम्—'उदकया तु सर्वणां या स्पृष्टा चेत्स्यादुदकवया ।
तस्मिन्नेवाहनि ज्ञात्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् ॥' इति मार्कण्डेयस्मरणात् ॥ यत्तु
कश्यपवचनम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा ब्राह्मण्या ब्राह्मणी यदि । एकरात्रं त्रिरा-
हारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् । असवर्णास्पर्शे तु बृह-
द्वसिष्ठेन विशेषो दर्शितः—'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी शूद्रजापि च ।
कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्री दानेन शुध्यति ॥' दानेनेति पादकृच्छ्रप्रत्याज्ञायभूत-
निष्कचतुर्थाददानेन शुध्यतीति । 'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी वैश्यजापि
च । पादहीनं चरेत्पूर्वा पादकृच्छ्रं तथोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी
चत्रिया तथा । कृच्छ्राध्वंश्चुष्यते पूर्वा तूत्तरा च तदध्वतः ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं
चत्रिया शूद्रजापि च । उपवासैस्त्रिभिः पूर्वा त्वहोरात्रेण चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा
रजस्वलाऽन्योन्यं चत्रिया वैश्यजापि च । त्रिरात्राच्छुष्यते पूर्वा त्वहोरात्रेण
चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं वैश्या शूद्रा तथैव च । त्रिरात्राच्छुष्यते
पूर्वा तूत्तरा च दिनद्वयात् ॥ वर्णानां कामतः स्पर्शे शुद्धिरेषा पुरातनी ॥' इति ॥
अकामतस्तु बृहद्विष्णुनोक्तं ज्ञानमात्रम्—'रजस्वलां हीनवर्णां रजस्वला स्पृष्ट्वा
न तावदरनीयाद्यावच्च शुद्धा स्यात् । सर्वणामधिकवर्णां वा स्पृष्ट्वा सद्यः ज्ञात्वा
विशुध्यति' इति ॥ चण्डालादिस्पर्शे तु बृहद्वसिष्ठेन विशेष उक्तः—'पतितान्त्य-
क्षपाकेन संस्पृष्टा चेद्भजस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
प्रथमेऽङ्घ्रि त्रिरात्रं स्याद् द्वितीये द्वयहमेव तु । अहोरात्रं तृतीयेऽङ्घ्रि परतो
नक्तमाचरेत् ॥ शूद्रयोश्चिच्छुष्या स्पृष्टा शुना चेद् द्वयहमाचरेत् ॥' इति ।
तान्यहानि व्यतिक्रम्य अनाशकेन नीत्वेति यावत् ।—एतत्कामतः स्पर्शविषयम् ।
अकामतस्तु—'रजस्वला तु संस्पृष्टा चण्डालान्त्यक्षवायसैः । तावत्सिद्धे त्रिराहारा
यावत्कालेन शुध्यति ॥' इति बौधायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—
'रजस्वला तु संस्पृष्टा ग्रामकुपकुटसूकरैः । श्वभिः ज्ञात्वा क्षिपेत्तावथावचनमस्य
वर्णवत् ॥' इति,—तद्वत्त्वविषयम् ॥ यदा तु शुद्धावायाः आदिस्पर्शो भवति तदा

स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः—‘रजस्वला तु भुञ्जाना आन्त्यज्यादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्र-
यावकाहारा षड्मात्रेण विशुध्यति ॥ अशक्तौ काञ्चनं दद्याद्विप्रेभ्यो वापि
भोजनम् ॥’ इति ॥ यदा तूच्छिष्टयोः परस्परस्पर्शनं भवति तदा—‘उच्छिष्टो-
च्छिष्टया स्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा स्रग्वा दानैरु-
पोषिता ॥’ इत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तूच्छिष्टान्द्विजान् रजस्वला स्पृशति,
तदा ‘द्विजान्कथंचिदुच्छिष्टान् रजःस्था यदि संस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे स्वहोरात्र-
मूर्ध्वोच्छिष्टे ऽयं हं क्षिपेत् ॥’ इति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णप्राय-
श्चित्तप्रसङ्गात्कानिचिदनुपातकप्रायश्चित्तान्यपि व्याख्याय प्रकृतमनुसरामः ।
तत्रावकीर्णानन्तरं ‘सुतानां चैव विक्रयः’ (प्रा० २६६) इत्युक्तं, तत्र मनुयो-
गीश्वरोक्तानि ‘सैमांसिकादीनि कामाकामजातिशक्त्याद्यपेक्षया पूर्ववद् व्यवस्था-
पनीयानि ॥ यस्तु शङ्खवचनम्—‘देवगृहप्रतिश्रयोद्यानारामसभाप्रपातडागपुण्य-
सेतुसुतविक्रयं कृत्वा तन्मुक्तं चरेत्’ इति, यच्च पराशरेणोक्तम्—‘विक्रीय
कन्यकां गां च कृच्छ्रं सान्त्वनं चरेत्’ इति,—तदुभयमध्यापयकामतो द्रष्टव्यम् ॥
कामतस्तु—नाराणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव
व्रतमाहुर्मनीषिणः ॥’ इति चतुर्विंशतिमतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यस्तु पैटीनसिनोक्तम्—
‘आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतान्द्रव्ये त्रिव्रणस्नाययधःशायी चतुर्थ-
कालाहारः संवत्सरेण पूतो भवति’ इति,—तदेकपुत्रविषयम् । तदनन्तरं ‘धान्य-
कुम्भपशुस्तेयम्’ (प्रा० २३७) इत्युक्तं,—तत्प्रायश्चित्तानि च स्तेयप्रकरणे
प्रपञ्चितानि ॥ २८७ ॥

भाषा—(अपनी परनी के भी) रजस्वला होने पर संभोग करे तो
तीन दिन उपवास करके और घृत खाकर शुद्ध होवे ॥ २८७ ॥

अनन्तरं ‘अयाज्यानां च याजनम्’ (प्रा० २३७) इत्युक्तं, तत्र प्रायश्चित्तमाह—

त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद् ब्राह्मयाजकोऽभिचरन्नपि ।

वेदप्लावी यवाश्वदं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८८ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्राजापत्यप्रभृतीन्त्रीन्कृच्छ्राना-
चरेत्, एतेषां च गुरुलघुभूतानां कृच्छ्राणां निमित्तगुरुलघुभावेन कल्पनीयम् ॥
तथा अभिचरन्नपीदमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतच्चामिदाद्याततायिष्यतिरेकेण
‘षट्स्वभिचरन्न पतति’ इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ ‘अपि’शब्दो हीनयाजकान्त्येष्टि-
याजकयोः संग्रहार्थः । अत एवोक्तं मनुना (११।१९७)—‘ब्राह्म्यानां याजनं

कृत्वा परेषामन्यकर्म च । अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्यपोहति ॥' इति ।
 'परेषामन्यकर्म' इत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्यकर्मविषयं वा; प्रायश्चित्तस्य गुरु-
 स्वात् । अहीनो द्विरात्रादिर्द्वादशाहपर्यन्तोऽहर्गणयागः । यत्तु शातातपेनो-
 क्तम्—'पतितसावित्रीकाष्ठोपनयेष्वाध्यापयेन्न याजयेत् य एतानुपनयेदध्यापयेष्वा-
 जयेद्वा स उद्दालकव्रतं चरेत्' इति,—तत्कामकारविषयम् । उद्दालकव्रतं च प्राग्द-
 र्शितम् । एतच्च कृच्छ्रत्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकम्, अत उ-
 पातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्याउग्रयाजने व्यवतिष्ठते । तत्र कामतस्त्रैमासिकम् ।
 अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं मासव्रतादि । यत्तु प्रचेतसा शूद्रयाजकादीन्पठित्वोक्तम्—
 'एते पञ्चतपोऽन्नावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुः । क्रमेण ग्रीष्मवर्षहिमन्तेषु मासं
 गोमूत्रयावकमश्न्युः' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'पुरोधाः
 शूद्रवर्णस्य ब्राह्मणो यः प्रवर्तते । स्नेहादर्थप्रसङ्गाद्वा तस्य कृच्छ्रो विशोधनम् ॥'
 इति,—तदशक्तविषयम् । यच्च पैठीनसिनोक्तम्—'शूद्रयाजकः सर्वद्वयपरित्यागा-
 त्पूतो भवति प्राणायामसहस्रेषु दशकृत्वोभ्यस्तेषु' इति,—तदप्यकामतोऽभ्यासविष-
 यम् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'निषिद्धमन्त्रप्रयोगे सहस्रवागुपतिष्ठेत्' (२२।२३)
 इति निषिद्धानां पतितादीनां याजनाध्यापनारम्भके मन्त्रप्रयोगे बहुशोऽभ्यस्ते प्राकृतं
 ब्रह्मचर्यमुपदिष्टं,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यः स्ववेदं विष्ठावयति यश्च, रक्षण-
 चणोऽपि तत्करव्यतिरिक्तं शरणागतमुपेक्षते, सोऽपि संवत्सरं यवोदनं भुञ्जानः
 शुध्यति । तत्र विष्णो नाम पर्वचाण्डालश्रोत्रावकाशाद्यनध्यायेष्वध्ययनम् । उत्कर्ष-
 हेतोरधीयानस्य किं पठसि नाशितं स्वयेत्येवं पर्ययोगदानं वा विष्ठावनमुच्यते । अत
 एवोक्तं स्मृत्यन्तरे—'दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्' इति । यत्तु वसिष्ठेनो-
 क्तम्—'पतितचाण्डालशवश्रावणे त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन् सहस्र-
 परमं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते' (२३।३४-३५) इति,
 'एतेनैव गहिताध्यापकयाजका व्याख्याताः दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति
 विज्ञायते' (२३।३६) इति,—तद्बुद्धिपूर्वविषयम् । यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभि-
 हितम्—'चाण्डालश्रोत्रावकाशे श्रुतिस्मृतिपाठे एकरात्रमभोजनम्' इति,—तद्-
 बुद्धिपूर्वविषयम् ॥ यदा सर्पाद्यन्तरागमनमात्रं भवति न पुनस्तत्राधीते तदापि
 प्रायश्चित्तं यमेनोक्तम्—'सर्पस्य नलकुस्याथ अजमार्जारयोस्तथा ॥ मूषकस्य
 तथोष्ट्रस्य मण्डूकस्य च योषितः ॥ पुरुषस्यैडकस्यापि शुनोऽश्वस्य खरस्य च ।
 अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तमिदं शृणु ॥ त्रिरात्रमुपवासश्च त्रिरह्णश्चाभिषेचनम् ।
 ग्रामान्तरं वा गन्तव्यं जानुभ्यां नात्र संशयः ॥' इति ॥ पितृमातृसुतस्यागत-
 ढागारामविक्रयेषु मनुयोगीश्वरोक्तोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तानि पूर्ववज्जाति-

शक्तिगुणाद्येव वा योज्यानि । तत्र पितृमात्रादित्यागस्य 'अकारणे परिस्थक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा' इत्यपाङ्क्तमध्यपाठात्तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तं भवति । यथाह मनुः (११२७०)—'षष्ठाङ्गकालता मासं संहिताजप एव वा । होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम् ॥' इति । अपाङ्क्ताश्च श्राद्धकाण्डे 'ये स्तेनपतितकलीबाः' इत्यादिवाक्यैर्दर्शिताः । तडागारामविक्रयेषु च कतिचिद्वि-
शेषप्रायश्चित्तानि सविषयाणि सुतविक्रयप्रायश्चित्तकथनावसरे कथितानि ॥
अनन्तरं 'कन्याया दूषणम्' इत्युक्तं, तत्र च त्रैमासिकद्वैमासिकचान्द्रायणादीनि वर्णानां सवर्णाविषये योज्यानि । आनुलोम्ये पुनर्मौसिकपयोशनं प्राजापत्यं वा—
'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्तथैव वा दमः' (व्य० २८८) इति दण्डाक्षपस्व-
दर्शनात् ॥ यत्तु शङ्केनोक्तम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी च कृच्छ्रमण्डं व्रतं चरेयाताम्' इति, यच्च हारीतवचनम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः
कौमारदारस्यागी सुरामण्यः शूद्रयाजको गुराः प्रतिहन्ता नास्तिको नास्तिक-
वृत्तिः कृतघ्नः कूटघ्न्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी पतितसंघ्यवहारी
मित्रभृक् शरणागतघाती प्रतिकूपकवृत्तिरित्येते पञ्चतपोभ्रावकाक्षजलशयनान्य-
जुतिष्ठेयुर्मीनमवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमरनीयुः इति,—तदुभयमपि
चित्रिषवैश्ययोः प्रातिलोम्येन दूषणे योज्यम् । शूद्रस्य तु वध एव । 'दूषणे तु
करच्छेद उक्तमायां वधस्तथा' (व्य० २८८) इति वधदर्शनात् । परिधिन्दकस्य
याजनकन्याप्रदानयोः कौटिल्ये शिष्टाप्रतिषिद्धव्रतलोपे आत्मार्यपाकक्रियारम्भे
मद्यपकीनिषेधणे च साधारणोपपातकप्रायश्चित्तं प्राग्वद्भवस्थापनीयम् । आद्य-
योस्तु विशेषप्रायश्चित्तानि परिवेदनायाज्ययाजनप्रायश्चित्तकथनप्रस्तावे दर्शि-
तानि । अनन्तरं 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २१९) इत्युक्तं, तत्र
व्यसनाशक्त्या त्यागे अधीतस्य च नाशनमिति ब्रह्महत्यासमप्रायश्चित्तमुक्तम् ।
शास्त्रध्वनाद्याकुलतया त्यागे तु त्रैमासिकाद्युपपातकप्रायश्चित्तानि जौतिशक्य-
पेक्षया योज्यानि । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मोज्ञः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा-
पुनरुपयुजीत वेदमाचार्यात्' इति,—तदत्यन्तापद्विषयम् । अग्नित्यागेऽपि तेनैव
विशेषो दर्शितः—'बोऽग्नीनपविष्येत्स कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधेयं
कारयेत्' इति । 'द्वादशरात्रं ग्रहणमुत्सन्नकालापेक्षया प्राजापत्यादिगुरुलघु-
कृच्छ्रानां प्राच्यवर्धम् । तत्र मासद्वये प्राजापत्यं, मासचतुष्टयेऽतिकृच्छ्रः, षण्मा-
सोऽष्टिघ्ने पशकः, षण्मासादूर्ध्वं योगीश्वरोक्तान्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि
कालापेक्षया योज्यानि । संवत्सरादूर्ध्वं तु मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकमिति

- | | | |
|---------------------|-----------------------|------------------------------|
| १. श्राद्धप्रकरणे । | २. कृच्छ्रमण्डं । | ३. कूटघ्न्यवहारी मित्रभृक् । |
| ४. परिधिन्दकयाजन । | ५. शक्तिगुणापेक्षया । | ६. व्यवस्थापनीयानि । |

व्यवस्था ।—एतच्च नास्तिक्येन त्यागविषयम् । तथा च व्याघ्रः—‘योऽग्नि-
 रयजति नास्तिक्यप्राजापत्यं चरेद् द्विजः’ इति । यदा तु प्रमादायजति
 तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्तः—‘प्राणायामशतमात्रिरात्रादुपवासः स्यादा-
 विंशतिरात्रात् अत ऊर्ध्वमाषष्टिरात्रात्तिस्रो रात्रीरुपवसेदत ऊर्ध्वमासंवत्स-
 रात् प्राजापत्यं चरेत्, अत ऊर्ध्वं कालबहुत्वे दोषगुरुत्वम्’ इति । यदा स्वाह-
 स्यादिना यजति तदापि तेनैव विशेष उक्तः—‘द्वादशाहातिक्रमे अहमुपवासः,
 मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः, संवत्सरातिक्रमे मासोपवासः पयोभक्षणं वा’
 इति । संवत्सादूर्ध्वं तु वृद्धहारीतेन विशेष उक्तः—‘संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे
 चान्द्रायणं कृत्वा पुनराध्यात् । द्विवर्षोत्सन्ने चान्द्रायणं सोमायनं च कुर्यात् ।
 त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनराध्यात्’ इति । सोमायनं च कृच्छ्र-
 काण्डे वक्ष्यते । शङ्केनापि विशेष उक्तः—‘अग्न्युत्सादी संवत्सरं प्राजापत्यं
 चरेद्वा च दद्यात्’ इति ॥ सुतस्यागे बन्धुस्यागे च त्रैमासिकं गोवधव्रतं कामतः ।
 अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं व्रतचतुष्टयं शक्याद्यपेक्षया योज्यम् । द्रुमच्छेदे
 प्रापञ्चितं प्रागुक्तम् । स्त्रीप्राणिवधवशीकरणादिभिर्जीवने तिलेषुयन्त्रप्रवर्तने
 च तान्येव प्रायश्चित्तानि तथैव योज्यानि । व्यसनेषु च घृतमृगयादिषु तान्येक-
 म्रतानि तथैव योज्यानि । यत्तु बौधायनेन—‘अथाशुचिकराणि घृतमभिधा-
 रोऽनाहिताग्नेरुज्ज्वलतिः समावृत्तस्य च मैत्रचर्या तस्य च गुरुकुले वास
 ऊर्ध्वं चतुर्ध्वं मासेभ्यो यश्च तमध्यापयति नक्षत्रनिर्देशनं चेति द्वादशमा-
 सान्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहान्द्वादशषडहान्द्वादशभ्यर्हान् अहमेकाहमित्यशुचि-
 करनिर्देशः’ इति घृते वार्षिकव्रतमुक्तं, तदभ्यासविषयम् । यत्तु प्रचेतसोक्तम्—
 ‘अनृतवाक् तत्करो राजभृत्यो वृक्षारोपकवृत्तिर्गर्होऽग्निदोऽश्वरथगजारोहण-
 वृत्ती रक्तोपजीवी आगणिकः शुद्रोपाध्यायो वृषलीपतिर्भाण्डिको नक्षत्रोपजीवी
 अघृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकिरसको देवलकः पुरोहितः कितवो मधपः कूटकारकोऽप-
 र्यायिकवी मनुष्यपशुविक्रेता चेति तानुद्धरेत्समेत्य न्वायतो ब्राह्मणव्यवस्थया
 सर्वद्रव्यस्यागे चतुर्थकालाहाराः, संवत्सरं त्रिषवणमुपस्फुरोयुस्तस्यान्ते देवपितृ-
 तर्पणं गवाद्धिकं चेत्येवं व्यवहार्या’ इति,—तदपि बौधायनेन समानविष-
 यत् । आगणिको यः श्वगणेन जीवति । भाण्डिको बन्दिष्यतिरिक्तो राज्ञां तूर्या-
 दिस्वनैः प्रबोधयिता; बन्दिनः पृथगुपादानात् । अघृत्तिः सेवकः, ब्रह्मजीवी ब्राह्म-
 णकार्येषु मूल्येन परिचारकः । मनुक्तान्यप्यपाङ्क्त्येवप्रायश्चित्तानि ‘षष्ठाक्षकालता
 मासम्’ (११२००) इत्यादीन्मपि जात्याद्यपेक्षया योज्यानि; तदुक्तापाङ्क्त्य-
 मध्येऽपि कितवादिष्यसनिनां पठितत्वात् । आत्मविक्रये शुद्रसेवार्थां च सामा-

न्यप्रायश्चित्तानि प्राग्वदेव योज्यानि ॥ यत्तु बोधायनेनोक्तम्—‘समुद्रयानं
ब्राह्मणस्य न्यासापहरणं सर्वाण्यैर्म्यवहरणं भूयनृतं शूद्रसेवा यश्च शूद्रायाम-
भिजायते, तदपश्यं च भवति तेषां तु निर्देशः ‘चतुर्थकालं मितभोजिनः स्युरपोऽ-
भ्युपेयुः सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एतैस्त्रिवर्षैस्तदपहरन्ति
पापम् ॥’ इति,—तद्वहुकालसेवाविषयम् ॥ हीनजातिभिः सकृदेव तूपपातकसामा-
न्यप्रायश्चित्तान्येव ॥ यत्तु प्रचेतसोक्तम्—‘मित्रभेदनकरणादहोरात्रमनश्चान् दुस्त्वा
पयः पिबेत्’ इति,—तदहीनसकृदभेदनविषयम् ॥ हीनयोनिनिषेवेणोऽप्युपपातक-
सामान्यप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ यत्तु शातातपेनोक्तम्—‘ब्राह्मणो राज-
कन्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, वैश्यापूर्वीं तु तस-
कृच्छ्रं शूद्रापूर्वीं तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रं राजन्मध्ये वैश्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा
निविशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वीं त्वतिकृच्छ्रं, वैश्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं
चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वीं त्वतिकृच्छ्रं, वैश्यमध्येच्छूद्रापूर्वीं त्वति-
कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा तां चोपयच्छेत्’ इति, तत्र निविशेत्तां चोपयच्छेदिति
कृच्छ्रानुष्ठानोत्तरकालं सवर्णापरिणयनादूर्ध्वं तां च राजन्यादिकामुपयच्छेदित्यर्थः ।
—इदं चाज्ञानविषयम् । ज्ञानतस्तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं व्यवस्थितमेव
द्रष्टव्यम् ।—साधारणस्त्रीसंभोगे च ‘हीनयोनिनिषेवणम्’ (प्रा० २४१) इत्युक्तं,
तत्रापि ‘पशुवैश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते’ इति संवर्तकमकामतो द्रष्टव्यम् ।
कामतस्तु यमेनोक्तं द्रष्टव्यम्—‘वैश्यागमनजं पापं व्यपोहन्ति द्विजातयः ।
पीत्वा सकृत्सकृत्तप्तं ससरात्रं कुक्षोदकम् ॥’ इति । उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि
च कामाकामतोऽभ्यासापेक्षया योज्यानि । तत्र मत्स्याभ्यासे तु ‘प्रतिनिमित्तं
नैमित्तिकमावर्तते’ इति न्यायात्प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तौ प्रसक्तायां लौगाक्षिणा
विशेष उक्तः—‘अभ्यासेऽहर्गुणा वृद्धिर्मासाद्वर्गं विधीयते । ततो मासगुणा
वृद्धिर्षावत्संवत्सरं भवेत् ॥ ततः संवत्सरगुणा चावत्पापं समाचरेत् ॥’ इति ।—
इदं मतिपूर्वविषयम् । अमतिपूर्वावृत्तौ तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—
‘सकृत्कृते तु यत्प्रोक्तं त्रिगुणं तस्मिन्निर्दिनैः । मासात्पञ्चगुणं प्रोक्तं षण्मासादशचा-
भवेत् ॥ संवत्सरात्पञ्चदशं शतवर्षाद्विंशगुणं भवेत् । ततोऽप्येवं प्रकल्प्यं स्याच्छा-
तातपवचो यथा ॥’ इति ॥ यत्पुनः ‘विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं चरेत्’
इति प्रतिनिमित्तमावृत्तिविधायकं,—तन्महापातकविषयमित्युक्तं प्राक् । यत्तु यमेन
साधारणस्त्रीगमनमधिकृत्य गुरुतत्पव्रतमतिदिष्टम् ‘गुरुतत्पव्रतं केचित्केचिच्चा-
न्द्रायणव्रतम् । गोप्राप्त्येच्छन्ति केचित्सु केचिदेवावकीर्जिनः ॥’ इति ।—एतच्च
अन्यप्रभृतिसानुबन्धानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अनन्तरं ‘तथैवानाश्रमे वासः’

(प्रा० २४१) इत्युक्तं तत्र हारीतेन विशेष उक्तः—‘अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं कृच्छ्रं चरित्वाश्रममुपेयात् । द्वितीयेऽतिकृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमत ऊर्ध्वं चान्द्रायणम्’ इति ।—एतदसंभवविषयम् । संभवे तु सामान्येनोपपातक-प्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकरुचित्वासङ्ख्यान्नाधिगमनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥ २८८ ॥

भाषा—प्राय (पतित सावित्री) को यज्ञ कराने वाला और अभिचार कर्म करने वाला तीन कृच्छ्र व्रत करे । अपने वेद का विप्लावन करने वाला (चण्डाल आदि के समान और अनध्याय में पढ़ने वाला), तथा शरण में आये हुए व्यक्ति की (समर्थ होने पर भी) रक्षा न करने वाला एक वर्ष तक जी का आत खाने पर शुद्ध होता है ॥ २८८ ॥

‘भार्याया विक्रयश्चैषाम्’ (प्रा० २४२) इत्यत्र ‘च’शब्दो मन्वायुका-सम्प्रतिग्रहनिन्दिताच्चादनादीनामुपलक्षणार्थमित्युक्तम् । तत्रासम्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तविशेषमाह—

गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रतः ।

गायत्रीजाप्यनिरतः शुद्धयतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २८९ ॥

यस्त्वसत्प्रतिग्रहं निषिद्धप्रतिग्रहं करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो गोष्ठे वसन् गायत्री-जाप्यनिरतो गायत्रीजपशीलो मासं पयोव्रतेन शुद्धयतीति । प्रतिग्रहस्य चासत्त्वं दातुर्जातिकर्मनिबन्धनं यथा चाण्डालादेः पतितादेश्च । तथा देशकालनिबन्धनं च यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ तथा प्रतिग्राह्यद्रव्यनिबन्धनं च यथा सुरामेषीमृत-शय्योभयतोमुख्यादेः ॥ यदा तु पतितादेर्मैत्र्यादिकं प्रतिगृह्णाति, तदैतद्गुरु-प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ; व्यतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र जपे मनुना संख्याविशेष उक्तः (११।१९४)—‘जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥’ इति प्रत्यहं त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्यः ; ‘मासम्’ इति द्वितीयया त्रिसहस्रसंख्याकस्य जपस्य प्रतिदिवसव्यापित्वावगमात् । यदा तु न्यायवर्तिब्राह्मणादेः सकाशान्निषिद्धं मेषादिकं गृह्णाति, पतितादेर्वा भूय्यादिकमनिषिद्धं तदा षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम्—‘पवित्रेष्टया विशुद्ध्यन्ति सर्वे घोराः प्रतिग्रहाः । ऐन्दवेन मृगारेष्टया कदाचिन्मित्रविन्दया ॥ देव्या लक्ष्म्यपेनैव शुद्ध्यन्ते दुष्प्रतिग्रहात् ॥’ इति । षण्णु बृहद्द्वारीतवचनम्—‘राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा मासमप्सु सदा वसेत् । षष्ठे

काले पयोभक्षः पूर्णे मासे विशुद्ध्यति ॥ तर्पयित्वा द्विजान्कामैः सततं नियतव्रतः ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम् । अथवा,—पतितादेः कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम् । तथा प्रतिग्राह्यद्रव्यास्पतया प्रायश्चित्तास्पत्त्वम् । यथाह हारीतः—'मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे साविश्रयष्ट-सहस्रं जपेत्' इति । तथः षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'भिर्जामात्रं गृहीते तु पुण्यं मन्त्रमुदीरयेत् । प्रतिग्रहेषु सर्वेषु षष्ठमंशं प्रकृतयेत् ॥' इतीदं च प्रायश्चित्तजातं द्रव्यत्यागोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । (१११९३)—यद्गृहीतेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति मनु-स्मरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसारास्पत्त्वमहत्वाभ्यां विषयेषु व्यवस्थापनीयानि ॥

इत्युपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

जात्याश्रयादिदोषेण निन्द्यान्नादेश्च शब्दतः ।

योगीन्द्रोक्तव्रतव्रातः सांप्रतं तु प्रतन्यते ॥

तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्वादिभक्षणे कामतः सकृत्कृते 'पलाण्डुं विह्वराहं च' (भा० १७६) इत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम् । कामतोऽभ्यासे तु 'निषिद्धभक्षणं जैष्ठ्यं' (प्रा० २२९) इत्यादिनोक्तं सुरापानसमप्रायश्चित्तम् । अकामतः सकृद्भक्षणे सान्तपनम् । तत्रैवाभ्यासे यतिचान्द्रायणम् ।—'अमर्यैतानि षड्जम्भवां कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेऽप्यवसेदहः' (५१२०) इति मनु-स्मरणात् । यत्तु बृहस्पतेनोक्तम्—'खट्ववार्ताककुम्भीकव्रश्चनप्रभवाणि च । भूतृणं शिग्रुकं चैव खुखण्डं कवकानि च ॥ एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं चरेद् द्विजः ॥' इति, तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । 'मस्यांश्च कामतो जम्भवा सोपवासस्यहं क्षिपेत्' इति योगीश्वरेण कामतः सकृद्भक्षणे ग्रहस्योक्तत्वात् । खट्वाख्यः पक्षी । कुसु-भमित्यन्ये । कवकं राजसर्पपाख्यं शाकम् । खुखण्डं तद्विशेषो गोबलीवर्दन्यायेन निर्दिष्टः । यत्तु यमेनोक्तम्—'तन्दुलीयककुम्भीकव्रश्चनप्रभवांस्तथा । नालिकां नारिकेलीं च श्लेष्मातकफलानि च ॥ भूतृणं शिग्रुकं चैव खट्वाख्यं कवकं तथा । एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ॥' इति,—तदपि मतिपूर्वाभ्यासविषयम् । नालिका नारिकेली च शाकविशेषौ । खट्वाख्यश्च । अकामतः सकृद्भक्षणे तु 'शेषेऽप्यवसेदहः' (५१२०) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । तत्रैवाभ्यासे स्वावृत्तिः कल्प्या । अत्यन्ताभ्यासे तु—'संसर्गदुष्टं यन्चाक्षं क्रियादुष्टमकामतः । भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति प्रचेतोभिहितं द्रष्टव्यम् । नीक्ष्यास्य-

कामतः सकृद्वक्षणे चान्द्रायणम्—‘मचयेद्यदि नीलीं तु प्रमादाद् ब्राह्मणः क्वचित् । चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः ॥’ इति आपस्तम्बस्मरणात् । कामतोऽभ्यासे चावृत्तिः कल्प्या ॥ यदपि षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—‘क्षणपुष्पं क्षासमलं च करनिर्मथितं दधि । बहिर्वेदिपुरोडाश जग्ध्वा नाद्यादहर्निशम् ॥’ इति,— तदप्यकामविषयम् । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—‘लशुनपलाण्डुगृध्ननकवकभक्षणे साधि-
व्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि संपाताजयेत्, इति,—तद्वलाकारेणानिच्छतो भक्षणविषयम् । तदेकसाध्वन्याधुपशमार्थं वा भक्षणे द्रष्टव्यम् । अत एवानन्तरं तेनैवोक्तम्—
‘एतान्येव व्याधितस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चैवंप्रकाराणि तेष्वपि न दोषः’ इति । संपाताजयेदुदकविन्दून्प्रक्षिपेत् ॥

अथ जातिदुष्टसंधिन्यादिक्षीरपाने प्रायश्चित्तम् । तत्र चाकामतः सकृत्पाने (५१८-१०)—‘अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । क्षीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्’ इत्युक्त्वा ‘शेषेषूपवसेदहः’ (५१२०) इति मनूक उपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु योगीश्वरोक्तक्षीरात्रोपवासो द्रष्टव्यः ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—‘अविश्वरोष्ट्र-
मानुषीक्षीरप्राशने तसकृच्छ्रः पुनरुपनयनं च । अनिर्दशाहगोमहिषीक्षीर-
प्राशने षड्रात्रमभोजनम् । सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरपानेऽप्यजावर्जमेतदेव’ इति । यच्च शङ्खेन—‘क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः । ससरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥’ इति यावकव्रतमुक्तं, तदुभयमपि कामतोऽभ्यासवि-
षयम् । यत्तु शङ्खेन—संधिन्यमेध्यभक्ष्ययोः क्षीरप्राशने पञ्चव्रतमुक्तम्—‘संधि-
न्यमेध्यभक्ष्योर्भुक्त्वा पञ्चव्रतं चरेत् इति,—तदप्यभ्यासविषयम् । ‘सकृत्पाने गोऽजामहिषीवर्ज्यं सर्वाणि पयांसि प्रारथोपवसेत् । अनिर्दशाहं तान्यपि संधि-
नीयमसुस्यन्दिनीविवत्साक्षीरं चामेध्यभुजश्च’ इति विष्णुनोपवासस्योक्तत्वात् । तथा वर्णनिबन्धनश्च प्रतिषेधः—‘क्षत्रियश्चापि वृत्तस्थो वैश्यः शूद्रोऽथवा पुनः । यः पिबेत्कपिलाक्षीरं न ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥’ इत्येवमादौ च यत्र प्रतिप-
द्योक्तं प्रायश्चित्तं न दृश्यते तत्र ‘शेषेषूपवसेदहः’ इति (५१२०) साधारण-
प्रायश्चित्तं मनूकं द्रष्टव्यम् ॥

अथ स्वभावदुष्टमांसादिभक्षणे प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्वक्षणे ‘शेषे-
षूपवसेदहः’ इति मनूकं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु—‘वाषांश्च
रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च । मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्यहं वसेत् ॥’
इति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतोऽभ्यासे तु (१११५२)—‘जग्ध्वा मांस-

समभक्ष्यं तु 'सप्तरात्रं यवान्पिबेत्' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । इदं च विट्सूकरादिमांसव्यतिरिक्तविषयम् (११।१५६)—'क्रव्याद्विट्सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे नरकाकखराश्वानां तसकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति मनुना जातिविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषस्योक्तत्वात् । एतन्मूत्रपुरीषप्राशनेऽप्येतदेव ।—'वराहैकशफानां च च काककुक्कुटयोस्तथा । क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥ मांस-मूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च । श्वगोमायुकपीनां च तसकृच्छ्रं विधीयते ॥ उपोष्य वा द्वादशाहं कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ॥' इति बृहद्यमस्मरणात् । तत्र काम-तस्तसकृच्छ्रः, अभ्यासे तु कूष्माण्डसहितः पराक इति व्यवस्था ॥ तथा प्रचेत-साप्युक्तम्—'श्वसृगालकाककुक्कुटपार्पितवानरचित्रकचाषक्रव्यादखरोष्ट्रगजवाजिवि-ड्वराहगोमानुषमांसभक्षणे तसकृच्छ्रमादिशेदेषां मूत्रपुरीषभक्षणे त्वतिकृच्छ्रम्' इति ।—इदं च कामकारविषयम् । यत्तूशनसो वचनम्—'नरमांसं श्वमांसं वा गोमांसं चाश्वमेव च । भुक्त्वा पञ्चनखानां च महासान्तपनं चरेत् ॥' इति,—तदकामविषयम् ॥ यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'बलाकाभासगृध्राखुरवानरसूकरान् । दृष्ट्वा चैषाममेध्यानि स्पृष्ट्वाचम्य विशुद्ध्यति ॥ इच्छयैषाममेध्यानि भक्षयित्वा द्विजातयः । कुर्युः सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥' इति—तद्भक्षितोद्धारितविषयम् । 'सान्तपनं'शब्देन चात्र महासान्तपनमुच्यते । अकामतः प्राजाप-त्यविधानात् । यत्पुनरङ्गिरोवचनम्—'नरकाकखराश्वानां जग्ध्वा मांसं गजस्य च । एषां मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । यच्च बृहद्यमेनोक्तम्—'शुष्कमांसाशने विप्रो व्रतं चान्द्रायणं चरेत्' इति । तदुभयमपि कामतोऽभ्या-सविषयम् । यत्पुनः शङ्खेनोक्तम्—'भुक्त्वा चोभयतो दंतांस्तथा चैकशफानपि । औष्ट्रं गव्यं तथा जग्ध्वा षण्मासान् व्रतमाचरेत् ॥' इति,—तत्कामतोऽत्यन्ताभ्यास-विषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरोक्तम्—'जग्ध्वा मांसं नराणां च विड्वराहं खरं तथा । गवाश्वकुञ्जरोष्ट्राणां सर्वं पाञ्चनखं तथा । क्रव्यादं कुक्कुटं प्राभ्यं कुर्यात्संवत्सर-व्रतम् ॥' इति,—तदत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अत्र प्रकरणे 'मूत्रपुरीष'ग्रहणं वसाशुकासृज्जाजानामुपलक्षणम् । कर्णविट्प्रभृतिमलषट्के स्वधं कल्पनीयम् ॥

केशादिषु पुनः षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—'अजाविमहिषमृगाणां आमसा-सभक्षणे केशनखरुधिरप्राशने बुद्धिपूर्वं त्रिरात्रमज्ञानादुपवास' इति । यत्तु प्रचेत-सोक्तम्—'नखकेशमृच्छोष्टभक्षणेऽहोरात्रमभोजनाच्छुद्धिः' इति,—तदप्यकामतः सकृ-त्प्राशनविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरवचनम्—'केशकीटनखं प्राश्य मत्स्यकण्टकमेव च । हेमतप्तं घृतं पीत्वा तत्क्षणादेव शुद्ध्यति ॥' इति,—तन्मुखमात्रप्रवेशविषयम् ॥ यदा तु भाजनस्थमन्नं केशादिदूषितं भवति तदा—'अन्ने भोजनकाले तु मत्ति-

१. सप्तरात्रं पयः पिबेदिति । २. खराणां च । ३. गव्यं मांसम् ।

क्राकेशदूषिते । अनन्तरं स्पृशेदापस्तच्चान्नं भस्मना स्पृशेत् ॥' इति प्रचेतसाभिहितं वेदितव्यम् । प्रासङ्गिकोऽयं श्लोकः ॥ सूक्ष्मतरकृमिकीटास्थिभक्षणे पुनर्हारीतेन विशेष उक्तः—'कृमिकीटपिपीलिकाजलौकःपतङ्गास्थिप्राशने गोमूत्रगोमयाहारस्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । जलौको मत्स्यादिः । एवं च पशुपतञ्जिलचरनरमांसादिप्राशने संचेषतः प्रायश्चित्तानि प्रदर्शितानि, ग्रन्थगौरवभयात्प्रतिव्यक्तिर्न लिख्यते ॥

अथाशुचिसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तं तत्र तावदुच्छिष्टाभक्ष्यभक्षणे वक्ष्यते । तत्र मनुः । (११।१५९)—'विडालकाकाखुच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति कालविशेषानुपादानादेकारत्रम् । इदं च कामतो द्रष्टव्यम् । यत्तु विष्णुनोक्तम्—'पक्षिष्वापदंजग्धस्य रसस्यान्नस्य भूयसः । संस्काररहितस्यापि भोजने कृच्छ्रपादकम् ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् । संस्कारश्च 'देवद्रोण्या'मित्यादिना द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तो द्रष्टव्यः । यत्तु शातातपेनोक्तम्—'श्वकाकावलीढशूद्रोच्छिष्टभोजने त्वतिकृच्छ्रम्' इति,—तदकामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु शङ्खेन—'शुनामुच्छिष्टकं भुक्त्वा मासमेकं व्रती भवेत् । काकोच्छिष्टं गवाघ्रातं भुक्त्वा पक्षं व्रती भवेत् ॥' इति यावकव्रतमुक्तं,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । ब्राह्मणाशुच्छिष्टभोजने तु बृहद्विष्णुनोक्तं—'ब्राह्मणः शूद्रोच्छिष्टाशने सप्तरात्रं पञ्चगव्यं पिबेत्,—वैश्योच्छिष्टाशने पञ्चरात्रं राजन्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रं ब्राह्मणोच्छिष्टाशने त्वेकाहम्' इति,—तत्कामकारविषयम् । यत्तु यमवचनम्—'भुक्त्वा सह ब्राह्मणेन प्राजापत्येन शुद्ध्यति । भूभुजा सह भुक्त्वान्नं तसकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ वैश्येन सह भुक्त्वान्नमतिकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । शूद्रेण सह भुक्त्वान्नं चान्द्रायणमथाचरेत् ॥' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ॥ यत्पुनः शङ्खवचनम्—'ब्राह्मणोच्छिष्टाशने महाव्याहृतिभिरभिमन्त्र्यापः पिबेत्, क्षत्रियोच्छिष्टाशने ब्राह्मीरसविपक्षेन शृङ्गं क्षीरेण वर्तयेत्, वैश्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रोपोषितो ब्राह्मीं सुवर्चलां पिबेत्, शूद्रोच्छिष्टभोजने षड्रात्रमभोजनम्' इति,—तदकामविषयम् । तत्राभ्यासे द्वैगुण्यादिकं कल्प्यम् । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेण; 'पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोजयम्'(४।११) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । यत्तु बृहद्व्यासवचनम्—'मातावा भगिनी वापि भार्या वाऽन्याश्च योषितः । न ताभिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—तत्सहभोजनविषयम् । उच्छिष्टमात्रभोजने तु 'शूद्रोच्छिष्टभोजने सप्तरात्रमभोजनं स्त्रीणां च'(१।२६।४-५) इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'ब्राह्मण्या सह योऽश्नीयादुच्छिष्टं वा कदाचन । तत्र दोषं न मन्यन्ते सर्व एव मनीषिणः ॥' इति,—तद्विवाहविषयमापद्विषयं वा । अन्त्योच्छिष्टभोजने तु—

‘अन्त्यानां भुक्तशेषं तु भक्षयित्वा द्विजातयः । चान्द्रं कृच्छ्रं तदर्थं च ब्रह्मक्षत्र-
विशां विधिः ॥’ इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । अत्र चान्द्रं चान्द्रायणम् । अन्तेव-
साययुच्छिष्टभोजने तु—‘चाण्डालपतितादीनामुच्छिष्टास्य भक्षणे । चान्द्रायणं
चरेद्विप्रः क्षत्रः सान्तपनं चरेत् ॥ षड्रात्रं च त्रिरात्रं च वर्णयोरनुपूर्वशः ॥’
इत्यङ्गिरोभिहितं सान्तपनमत्र महासान्तपनं द्रष्टव्यम् । आपदि तु—‘आपत्काले
तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि । मनस्तापेन शुद्ध्येत्तु द्रुपदानां शतं जपेत् ॥’
इति पराशरोक्तं वेदितव्यम् ॥ यत्तु बृहच्छातातपेनोक्तम्—‘पीतशेषं तु यत्किञ्चि-
ज्जाजने मुखनिःसृतम् । अभोज्यं तद्विज्ञानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥’
इति,—तदभ्यासविषयम् ; निमित्तस्यातिलघुत्वात् ।—‘पीतोच्छिष्टं च पानीयं
पीत्वा तु ब्राह्मणः क्वचित् । त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्दामहस्तेन वा पुनः ॥’ इति,—
एतद्बुद्धिपूर्वविषयम् । अकामतस्त्वर्थं कल्प्यम् । दीपोच्छिष्टे तु—‘दीपोच्छिष्टं तु
यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं च यत् । अभ्यङ्गाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुद्ध्यति ॥’
इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥

अथाशुचिद्रव्यसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्राह संवर्तः—‘केशकीटावपन्नं च
नीलीलाक्षोपघातितम् । स्नायवस्थिचर्मसंस्पृष्टं भुक्त्वा तूपवसेदहः ॥’ इति ।
तथाह शातातपः—‘केशकीटावपन्नं च रुधिरमांसास्पृश्यस्पृष्टभूणघ्नावेक्षितपतल्य-
वलीढश्वसूकरगवाघ्रातशुक्तपर्युषितवृथापक्वदेवाज्ञहविषां भोजने उपवासः पञ्च-
गव्याशनं च ॥’ इति,—एतच्चोभयमपि अकामविषयम् । कामतस्तु ‘मृद्धारिकुसु-
मादींश्च फलकन्देष्टुमूलकान् । विष्मूत्रदूषितान्प्राश्य कृच्छ्रपादं समाचरेत् ॥
संनिकृष्टेऽर्धमेव स्यात्कृच्छ्रः स्याच्छुचिशोधनम् ॥’ इति विष्णूक्तं वेदितव्यम् ।
अल्पसंसर्गं पादो महासंसर्गोऽर्धकृच्छ्र इति व्यवस्था । यत्तु व्यासेनोक्तम्—‘संसर्ग-
दुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टं च कामतः । भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तत्कृच्छ्रं समाचरेत् ॥’
इति, एतच्च संस्पृष्टाभ्यादिरसोपलब्धौ वेदितव्यम् । रजस्वलादिस्पर्शे तु शङ्को-
क्तम्—‘अमेध्यपतितचाण्डालपुत्तकसरजस्वलावधूतकुणिकुष्ठिनखिसंस्पृष्टानि भुक्त्वा
कृच्छ्रं चरेत्’ इति । कुणिर्हस्तविकलः ।—एतत्कामकारविषयम् । अकामतोऽर्धम् ।
‘भुक्त्वास्पृश्यैस्तथाशौचिकेशकीटैश्च दूषितम् । कुशोदुम्बरबिल्वार्धैः पनसागुज-
पत्रकैः । शङ्खपुष्पीसुवर्चादिकाथं पीत्वा विशुद्ध्यति ॥’ इति यद्विष्णुनोक्तं,—तदश-
क्तविषयं, रजकादिस्पृष्टविषयं वा । शूद्राद्युपहते तु हारीतोक्तं विज्ञेयम्—‘शूद्रेणोप-
हतं भोज्यं कीटैर्वाऽमेध्यसेविभिः । भुञ्जानेषु वा यत्र शूद्र उपस्पृशेदनर्हत्वात्स पङ्क्तौ
तु भुञ्जानेषु वा यत्रोत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा कृत्स्निवा वा यत्रान्नं दद्युस्तत्र

१. तद्द्विजस्याहुर्भुक्त्वा ।

२. शुष्कपर्युषित ।

३. शुचिभोजने ।

४. पुत्तक ।

प्रायश्चित्तमहोरात्रम्' इति । उच्छिष्टपङ्क्तिभोजनेऽप्येतदेव—'यस्तु भुङ्क्ते द्विजः पङ्क्त्यामुच्छिष्टायां कदाचन । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति क्रतुस्मरणात् । वामकरनिर्मुक्तपत्रभोजने तु—'समुत्थितस्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभाजने । एवं वैवस्वतः प्राह भुक्त्वा सान्तपनं चरेत् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं 'वेदितव्यम् ॥' तथा पराशरेणाप्यत्रोक्तम्—'एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने । यद्येकोऽपि त्यजेत्पानं शेषमन्नं न भोजयेत् ॥ मोहाद् भुङ्गीत यस्तत्र पङ्क्त्यामुच्छिष्टभोजनः । प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनं तथा ॥' इति ॥ शवादिसंपृक्तकूपाद्युदकपाने तु विष्णुराह—'मृतपञ्चनखाकूपादत्यन्तोपहताद्बोदकं पीत्वा ब्राह्मणस्य हमुपवसेत् द्वयहं राजन्य एकाहं वैश्यः शूद्रो नक्तं सर्वे चान्ते पञ्चगव्यं पिबेयुः' इति । अत्यन्तोपहताद्वेति मूत्रपुरीषादिभिर्वैश्यभिप्रेतम् । यदा तु तत्रैव शवमुच्छ्रूयन्त योद्धिन्नं भवति तदा हारीतो विशेषमाह—'क्लिन्ने भिन्ने शवे तोयं तत्रस्थं यदि चेत्पिबेत् । शुद्ध्यै चान्द्रायणं कुर्यात्तत्कृच्छ्रमथापि वा ॥ यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादेन द्विजोत्तमः । जपंस्त्रिषवणस्नायी अहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥' इति । इदं चान्द्रायणं कामतो मानुषशवोपहतकूपजलपानविषयम् । अकामतस्तु षड्रात्रम्—'क्लिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि दृश्यते' । पयः पिबेत्त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतम् ॥' इति देवलस्मरणात् । यदा चाण्डालकूपादिगतं जलं पिबति तदापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्—'चाण्डालकूपभाण्डस्थं नरः कामाज्जलं पिबेत् । प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत् ॥ चरेत्सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यं च भूमिपः । तदर्थं तु चरेद्वैश्यः शूद्रे पादं विनिर्दिशेत् ॥' (२।३-५) इति ।-इदं च कामकारविषयम् । अकामतस्तु—'चाण्डालकूपभाण्डस्थमज्ञानादुदकं पिबेत् । स तु ग्रहेण शुद्ध्येत शूद्रस्त्वेकेन शुद्ध्यति ॥' इति देवलोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चाण्डालादिसंबद्धात्पजलाशयेऽपि कूपवच्छुद्धिः—'जलाशयेऽप्यथालेषु स्थावरेषु महीतले । कूपवत्कथिता शुद्धिर्महत्सु तु न दूषणम् ॥' इति विष्णुस्मरणात् । पुष्करिण्यादिषु पुनः—'ग्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां हृदेऽपि वा । जानुदध्ने शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम् ॥ ततोयं यः पिबेद्विप्रः कामतोऽकामतोऽपि वा । अकामाज्जक्तभोजी स्यादहोरात्रं तु कामतः ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ रजकादिभाण्डगततोये तु—'भाण्डस्थमन्यजानां तु जलं दधि पयः पिबेत् । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव प्रमादतः ॥ ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृतिः ॥ शूद्रस्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तिः ॥' इति पराशरोक्तं वेदितव्यम् । कामतस्तु द्विगुणम्—

१. द्रष्टव्यम् । २. संस्पृष्ट । ३. भिर्वैश्यभिहितम् । ४. उच्छ्रूयन्तयाभिन्नं । ५. जायते ।

‘अन्यजैः खानिताः कृपास्तडागा वाप्य एव वा । एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥’ इति आपस्तम्बोक्तमभ्यासविषयं वेदितव्यम् ॥ यस्वापस्तम्बेन चण्डालकृपादिजलपाने पञ्चगव्यमात्रमुक्तम्—‘प्रपास्वरण्ये घटके च सौरे द्रोण्यां जलं कोशविनिर्गतं च । श्रपाकचण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्ध्येत ॥’ इति, तदशक्तविषयम् । ‘प्रपां गतो विना तोयं शरीरं यो निषिञ्चति । एकाहकृपणं कृत्वा स्वचैलं स्नानमाचरेत् ॥ सुराघटप्रपातोये पीत्वा नाव्यं जलं तथा । अहोरात्रोषिनी भूत्वा पञ्चगव्यं जलं पिबेत् ॥’ इति ॥

अथ भावदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—भावदुष्टं च यद्वर्णत आकारतो वा विमदृशतया जुगुप्सितशारीरमलादिवासनां जनयति तदुच्यते । अरिप्रयुक्तगरलादिशङ्कायां वा । तत्र च पराशरः—‘वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते । भुक्त्वान्नं ब्राह्मणः पश्चात्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥’ इति ।—एतत्कामकारविषयम् । यत्तु गौतमेन भावदुष्टं केवलः इत्यादि प्राक्पञ्चनखेभ्यः पठित्वा प्रायश्चित्तमुक्तम्—‘प्राक् पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च’ इति, तदकामविषयम् ॥ शङ्कायां तु—‘शङ्कास्थाने समुत्पन्ने अभोज्याभक्ष्यसंज्ञिते । आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ अक्षारलवणां रूक्षां पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् । त्रिरात्रं शङ्खपुष्पीं वा ब्राह्मणः पयसा सह ॥ पलाशवित्तपत्राणि कुशान्पद्ममुदुम्बरम् । अपः पिबेत्काथयित्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥’ इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । मनुनाप्यभोज्यभोजनशङ्कायामुक्तम् (५।२१)—‘संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥’ इति ॥

अथ कालदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—‘कालदुष्टं च पर्युषितानिर्देशगोक्षीरादि । तत्र चाकामतः ‘शेषेयूपवसेदहः’ इति मनुक्तं वेदितव्यम् । कामतस्तु—‘केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥’ इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम् । केवलान्यस्नेहोक्तानि । अनिर्देशगोक्षीरादिषु प्रायश्चित्तं प्राक् प्रदर्शितम् । नवोदकपाने तु पञ्चगव्यप्राशनम्—‘शृङ्गास्थिदन्तजैः पात्रैः शङ्खशुक्तिकपर्दकैः । पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥’ इति बृहद्याज्ञवल्क्यस्मरणात् ॥ कामतस्तूपवासः कर्तव्यः—‘काले नवोदकं शुद्धं न पिबेच्च ग्रहं हि तत् । अकाले तु दशाहं स्यात्पीत्वा नाद्यादहर्निशम् ॥’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ग्रहणकाले भोजने तु चान्द्रायणम्—‘नवश्राद्धग्रामयाजकाक्षसग्रहभोजने । नारीणां प्रथमे गर्भे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति शातातपस्मरणात् ॥ यदा तु सग्रहादन्यत्र निषिद्धकाले भुङ्क्ते, तदाह मार्कण्डेयः—‘चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भार्गव । ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन् पूर्वं भोजन-

क्रियाम् ॥ नाचरेत्सग्रहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयस्तस्य नाशनीया-
त्तावदेव तु ॥' तथा—'ग्रहणं तु भवेदिन्द्रोः प्रथमादधियामतः । भुञ्जीतावर्तना-
स्पूर्वं प्रथमे प्रथमादधः ॥' तथा—'अपराह्णे न मध्याह्णे सायाह्णे न तु सङ्गवे ।
भुञ्जीत सङ्गवे चेत्स्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥' (४।५५) इति । यच्च मनुनो-
क्तम्—'नाशनीयात्संधिवेलायां नातिप्रगे नाति सायमित्येवमादि' । यच्च बृह-
च्छातातपेनोक्तम्—'धाना दधि च सक्तृश्च श्रीकामो वर्जयेन्निशि । भोजनं
तिलसंबद्धं स्नानं चैव विचक्षणः ॥' इत्येवमादिष्वनादिष्टप्रायश्चित्तेषु—'प्राणा-
यामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥'
इति योगीश्वरोक्तं प्राणायामशतं द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु 'शेषेषूपवसेदहः'
(५।२०) इति मनुकोपवासो द्रष्टव्यः ॥

अथ गुणदुष्टशुक्तादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र मनुः (१।१।१५३)—
'शुक्तानि च कपायांश्च पीत्वाऽमेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न
व्रजत्यधः ॥' इति अत्राकामतः 'शेषेषूपवसेदहः' इत्युपवासो द्रष्टव्यः । काम-
तस्तु—'केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च
त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्तं द्रष्टव्यम् । एतच्चामलकादिफलयुक्त-
काञ्जिकादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् । 'कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवेत् ।
तस्यास्तु काञ्जिका ग्राह्या नेतरस्याः कदाचन ॥' इति स्मरणात् ॥ उद्धृतस्ने-
हादिषु तु 'उद्धृतस्नेहविलयनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चात्तवीर्याणि नाशनी-
यात्' इत्युक्त्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दने घृतप्राशनं च' इति गौतमोक्तं द्रष्ट-
व्यम् । विलयनं घृतादिमलम् । अनाहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'तस्य
चाग्नौ न क्रियते यस्य चान्नं न दीयते । न तद्भोज्यं द्विजातीनां भुक्त्वा चोप-
वसेदहः ॥ वृथा कृसरसंयावपायसापूपशङ्कुलीः । आहिताग्निर्द्विजो भुक्त्वा
प्राजापर्यं समाचरेत् ॥' इति ॥ अनाहिताग्नेस्तु 'शेषेषूपवसेदहः' इत्युपवासो
द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजनादिषु तु भोजने संवर्तेनोक्तम्—'शूद्राणां भाजने भुक्त्वा
भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहारात्रोषितो भुक्त्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति ।
तथा स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् 'वटार्काश्चत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः । कोविदारकर-
जेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति तथा—'पलाशपत्रपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं
चरेत् । वानप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिकं फलम् ॥' इति ॥

अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र पराशरः—
'मासिकं फणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकम-
भोजनम् ॥' इति । कामतस्तु—'हस्तदत्तभोजने अभ्राह्मणसमीपे भोजने दुष्ट-

पङ्क्तिभोजने पङ्क्त्यप्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपुरीषकरणे स्मृतसूतकशूद्राद्यभोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्' इति हारीतोक्तं विज्ञेयम् । पर्यायाज्ञदानदुष्टे तु—ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् । द्वयमेतदभोज्यं स्याद्भुक्त्वा-
तूपवसेदहः ॥' इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम् । शूद्रहस्तेन भोजने तु—
'शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत्कचित् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्च-
गव्येन शुद्ध्यति' इति क्रतूक्तं विज्ञेयम् । धमनदुष्टेऽपि—'आसनारूढपादो वा
वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा । मुखेन धमितं भुक्त्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति
तेनैवोक्तम् । पित्राद्युद्देशेन त्यक्तान्नभोजने तु 'भुङ्क्ते चेत्पार्वणश्राद्धे प्राणायामा-
न्पठ्याचरेत् । उपवासस्त्रिमासादिवत्सरान्तं प्रकीर्तितः ॥ प्राणायामत्रयं वृद्धाव-
होरात्रं सपिण्डने । असरूपे स्मृतं नक्तं व्रतं पारणके तथा ॥ द्विगुणं क्षत्रियस्यै-
तत्त्रिगुणं वैश्यभोजने । साक्षाच्चतुर्गुणं ह्येतस्मृतं शूद्रस्य भोजने ॥ अतिथौ
तिष्ठति द्वारि ह्यपः प्राशनन्ति ये द्विजाः । रुधिरं तद्भवेद्वारि भुक्त्वा चान्द्रायणं
चरेत् ॥' इति भारद्वाजोक्तमवगन्तव्यम् । हारीतेनाप्युक्तम्—'एकादशाहे
भुक्त्वान्नं भुक्त्वा संचयने तथा । उपोष्य विधिवत्स्नात्वा कूष्माण्डैर्जुहुयाद्-
घृतम् ॥' इति । विष्णुनाप्युक्तम्—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके ।
त्रैपक्षिके तदर्धं तु पञ्चगव्यं द्विमासिके ॥' इति ।—इदं चापद्विषयम् । अनापदि
तु—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे प्राजापत्यं तु मिश्रकं । एकाहस्तु पुरीणेषु प्राजापत्यं
विधीयते ॥' इति हारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । 'प्राजापत्यं तु मिश्रकं' इत्येतदाद्यमासि-
कविषयं द्रष्टव्यम् । द्वितीयादिषु तु—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके ।
त्रैपक्षिके तदर्धं स्यात्पादो द्वैमासिके तथा । पादोनकृच्छ्रमुद्दिष्टं षण्मासे च तथा-
ब्दिके । त्रिरात्रं चान्यमासेषु प्रत्यहं चेदहः स्मृतम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं
द्रष्टव्यम् ॥ क्षत्रियादिश्राद्धभोजने त्वनापदि तत्रैव विशेष उक्तः—'चान्द्रायणं
नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः । त्रैपक्षिके सान्तपनं कृच्छ्रं मासद्वये स्मृतम् ॥
क्षत्रियस्य नवश्राद्धे व्रतमेतदुदाहृतम् । वैश्यस्यार्धाधिकं प्रोक्तं क्षत्रियास्तु-
मनीषिभिः ॥ शूद्रस्य तु नवश्राद्धे चरेच्चान्द्रायणद्वयम् । सार्धं चान्द्रायणं मासे
त्रिपक्षे त्वैन्दवं स्मृतम् ॥ मासद्वये पराकः स्यादूर्ध्वं सान्तपनं स्मृतम् ॥' इति ।
यस्तु शंखवचनम्—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः । पञ्चत्रयेऽ-
तिकृच्छ्रः स्यात्षण्मासे कृच्छ्र एव तु ॥ आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुन-
राब्दिके । अत ऊर्ध्वं न दोषः स्याच्छंखस्य वचनं यथा ॥' इति, तत्सर्पादिहित-
विषयम् ; 'ये स्तेनाः पतिताः क्लीबा' इत्याद्यपाङ्क्त्येवविषयं वा ॥ 'चाण्डालादुद-
कात्सर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्यतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम् ॥ पतना-

नाशकैश्चैव विषोद्धन्धनकैस्तथा । भुक्त्वैषां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः ॥
इति, तथा—‘अपाङ्क्तैरान्यदुद्दिश्य श्राद्धमेकादशेऽहनि । ब्राह्मणस्तत्र भुक्त्वाश्वं
शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥’ इति, ‘आमश्राद्धे तथा भुक्त्वा तसकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ।
संकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं क्षपणं भवेत् ॥’ इति भरद्वाजेन गुरुप्रायश्चित्त-
ताभिधानात् ॥

ब्रह्मचारिणस्तु बृहद्यमो विशेषमाह—‘मासिकादिषु योऽश्नीयादसमाप्तव्रतो
द्विजः । त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं
प्राश्य विशुद्ध्यति ॥’ इति ।—इदमज्ञानविषयम् । कामतोऽपि स एवाह—
‘मधु मांसं च योऽश्नीयाच्छ्राद्धे सूतक एव वा । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं व्रतशेषं
समापयेत् ॥’ इति । आमश्राद्धे तु सर्वत्रार्थम्—‘आमश्राद्धे तदर्धं तु प्रायश्चित्तं
तु सर्वदा’ इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । यत्तूशनसोक्तम्—‘दशकृत्वः पिवेच्चापो
गायत्र्या श्राद्धभुङ्गिद्विजः । ततः संध्यामुपासीत शुद्ध्येतु तदनन्तरम् ॥’ इति,—
तदनुक्तप्रायश्चित्तश्राद्धविषयम् ॥ संस्काराङ्गभूतश्राद्धभोजने तु व्यासेन विशेष
उक्तः—‘निर्वृत्तचूडाहोमे तु प्राङ्नामकरणात्तथा । चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जात-
कर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्नं संस्कारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुप-
वासेन शुद्ध्यते निन्द्यभोजने ॥’ इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धौर्म्यो विशेष-
माह—‘ब्रह्मोदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातश्राद्धे नव श्राद्धे द्विजश्चा-
न्द्रायणं चरेत् ॥’ इति । अत्र ब्रह्मोदनाख्यं कर्माधानाङ्गभूतं; सोमसाहचर्यात् ॥

अथ परिग्रहाभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम्—‘यत्स्वरूपतोऽनिषिद्धमपि विनिष्ट-
पुरुषस्वामिकृतयाऽभोज्यं भण्यते तत्परिग्रहाशुचि ।’ तत्र योगीश्वरेण—‘अदत्ता-
न्यग्निहीनस्य नास्ममद्यादनापदि’ इत्याख्य सार्धपञ्चभिः श्लोकैरभोज्यान्नाः
प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किञ्चिदधिकाः प्रतिपादिताः । (४।२०५-
२१७)—‘नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते
भुङ्गीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुङ्जीत कदाचन । गणान्नं
गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्षणो वार्धुपिकस्य
च । दीक्षितस्य कदर्यस्य ब्रह्मस्य निडगस्य च ॥ अभिशस्तस्य षण्डस्य पुंश्चल्या
दाग्निमस्य च । चिकिरसकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उग्रान्नं
सूतिकान्नं च पर्यायाज्ञमनिर्दशम् । अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवजुतम् । पिशुनानृत्तिनोश्चैव क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥
शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्याज्ञमेव च । कर्मरस्य निषादस्य रङ्गावतरणस्य
च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य सोमविक्रयिणस्तथा । श्वतरां शौण्डिकानां च चैलनिर्णे-

जकस्य च ॥ रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपत्तिर्गृहे । मृष्यन्ति ये चोपपत्तिः
स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥ अनिर्दशं च प्रेतान्नमत्पृष्टिकरमेव च ॥' इति ॥ अत्र
च पदार्था अभक्ष्यकाण्डे व्याख्याताः । अत्र प्रायश्चित्तमाह (मनुः ४।२२२)—
'भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नमस्या क्षपणं ऽयहम् । मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो
विण्मूत्रमेव च ॥' इति । पैठीनसिनाप्यकामतस्त्रिरात्रमेवोक्तम्—'कुनखी-
श्यावदन्तः पित्रा विवदमानः स्त्रीजितः कुष्ठो पिशुनः सोमविक्रयी वाणिजको
ग्रामयाजकोऽभिषक्तो वृषल्यमभिजितः परिवृत्तिः परिविन्दानो दिधिषूपतिः
पुनर्भूपुत्रशौरः काण्डपृष्ठः सेवकश्चेत्यभोज्यान्ना अपाङ्क्त्या अश्राद्धार्हाः एषां
भुक्त्वा दत्त्वा चाऽविज्ञानात्त्रिरात्रम्' इति ॥ शंखेन त्वेतानेव किञ्चिदधिकान्प-
ठित्वा चान्द्रायणमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् ॥ गौतमेन पुनः 'उच्छिष्टपुंश्चत्य-
भिषक्ता' इत्यादिना अभोज्यान्पठित्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छूर्दनं घृतप्राशनं च'
इति प्रायश्चित्तमुक्तं,—तदापद्विषयम् ॥ यस्तु बलात्कारेण भोज्यते तस्यापस्तम्बेन
विशेष उक्तः—'बलाद्वासीकृता ये तु ग्लेच्छचण्डालदस्युभिः । अशुभं कारिताः
कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥ उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् । खरोष्ट्र-
विड्वराहाणामभिषस्य च भक्षणम् ॥ तस्त्रीणां च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह
भोजनम् । मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥ चान्द्रायणं
त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वधवा भवेत् । चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ॥
संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् । मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन
शुद्ध्यति ॥ ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमेः । संवत्सरैस्त्रिभिश्चैव
तद्भावं स निगच्छति' इति ॥

आशौचिपरिगृहीतान्नभोजने तु छागलेय आह—'अज्ञानाद् भुञ्जते विप्राः
सूतके मृतके तथा ॥ प्राणायामशतं कृत्वा शुद्ध्यन्ते शूद्रसूतके ॥ वैश्ये षष्टिर्भ-
वेद्वाजिं विंशतिर्ब्राह्मणे दश । एकाहं च ऽयहं पञ्च सप्तरात्रमभोजनः ॥ ततः
शुद्धिर्भवत्येषां पञ्चगव्यं पिबेत्ततः ॥' इति ब्राह्मणादिक्रमेणैकाहऽयहादयो
योज्याः ।—इदमकामविषयम् ॥ कामतस्तु मार्कण्डेय आह—'भुक्त्वा तु
ब्राह्मणाशौचे चरेत्सान्तपनं द्विजः । भुक्त्वा तु क्षत्रियाशौचे तथा कृच्छ्रो
विधीयते ॥ वैश्याशौचे तथा भुक्त्वा महासान्तपनं चरेत् । शूद्रस्यैव
तथा भुक्त्वा त्रिमासान्व्रतमाचरेत् ॥ यस्तु शंखेनोक्तम्—'शूद्रस्य सूतके भुक्त्वा
षण्मासान्व्रतमाचरेत् । वैश्यस्य तु तथा भुक्त्वा त्रीन्मासान्व्रतमाचरेत् ॥
क्षत्रियस्य तथा भुक्त्वा द्वौ मासौ व्रतमाचरेत् । ब्राह्मणस्य तथाऽशौचे भुक्त्वा

१. तथा तस्यैव भोजनं । २. अज्ञानान्नभोजने । ३. शुचिर्भवेद्विप्रः
पञ्चगव्यं पिबेन्नरः इति । ४. द्विजश्चान्द्रायणं चरेदिति ।

मासव्रती भवेत् ॥' इति ।-इदमभ्यासविषयम् । एतच्च प्रायश्चित्तमाशौचानन्तरं वेदितव्यम् । 'ब्राह्मणादीनामाशौचे यः सकृदेवाज्ञमश्नाति तस्य तावदाशौचं यावत् तेषामाशौचम् , व्यपगमे तु प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति विष्णुस्मरणात् ॥

अपुत्राद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'भुक्त्वा वार्धुषिकस्यान्नमव्रतस्या-
सुतस्य च । शूद्रस्य च तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' तथा—'परपा-
कनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च । अपचस्य च भुक्त्वान्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥'
इति ।-एतच्चाभ्यासविषयम् ॥ परपाकेन निवृत्तादर्लक्षणं च तेनैवोक्तम्—'गृही-
त्वाग्निं समारोप्य पञ्चयज्ञाज्ञं निर्वपेत् । परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकी-
र्तितः ॥ पञ्चयज्ञांस्तु यः कृत्वा परान्नादुपजीवति । सततं प्रातरुत्थाय परपाकर-
तस्तु सः ॥ गृहस्थधर्मवृत्तौ यो ददाति परिवर्जितः । ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैरपचः
संप्रकीर्तितः ॥' इति । यत्तु ब्रह्मचर्याद्यन्नभोजने, वृद्धयाज्ञवल्क्य आह—'यतिश्च ब्रह्म-
चारी च पक्षाक्षस्वामिनावुभौ । तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥'
इति, यच्च पार्वणश्राद्धाद्यकर्तुरन्नभोजने भरद्वाज आह—'पक्षे वा यदि वा मासे
यस्य नाशनन्ति देवताः ॥ भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—
तदुभयमप्यभ्यासविषयम् ॥ पूर्वपरिगणितातिरिक्ता ये निषिद्धाचरणशीलास्तदन्न-
भोजने तु—'निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च । अन्नं भुक्त्वा द्विजः
कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । अत्रैव संवत्सराभ्यासे
षट्त्रिंशन्मत एवोक्तम्—'उपपातकयुक्तस्य अवदमेकं निरन्तरम् । अन्नं भुक्त्वा
द्विजः कुर्यात्पाराकं तु विशोधनम् ॥' इति ।-इदं चाभयभक्षणप्रायश्चित्तकाण्ड-
गतमविशेषोदितव्रतकदम्बकं हि द्विजाग्रथस्यैव । क्षत्रियादीनां तु पादपादहान्या
भवति; 'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु
शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥

इत्यभयभक्षणप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तपरिगणनवेलायामुपपातकानन्तरं जातिभ्रंशकरादीनि परिगणितानि,
तत्र प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते । तत्र मनुः (११।१२४-१२५)—'जातिभ्रंशकरं कर्म
कृत्वाऽन्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ संकरा-
पात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्यहम् ॥'
इति । अन्यतममिति सर्वत्र संबध्यते । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'संकरीकरणं
कृत्वा मासमश्नाति यावकम् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महासान्तपनेन

च । मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रंश-
करे विशेष उक्तः—'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा रासभादिप्रमापणम् । निन्दितेभ्यो
धनादानं कृच्छ्रार्धं व्रतमाचरेत् ॥' इति । एतेषां च जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानां
मन्वाद्युक्तानां जातिशक्त्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः । एवं योगीन्द्रहृद्गत-
मभक्ष्यभक्षणदिप्रायश्चित्तं संक्षेपतो दर्शितम् ॥ २८९ ॥

भाषा—निषिद्ध दान लेने पर ब्रह्मचारी होकर, केवल दूध पीते हुए,
गोशाला में निवास करते हुए और गायत्री के जप में रत होकर एक मास
व्यतीत करने पर शुद्ध होता है ॥ २८९ ॥

अधुना प्रकृतमनुसरामः—'महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातकं प्रकीर्ण-
कमिति पञ्चविधं पापजातमुक्तम् । तत्र चतुर्विधं प्रायश्चित्तमभिधाय क्रमप्राप्तं
प्रकीर्णकं प्रायश्चित्तमाह—

^१प्राणायामी जले स्नात्वा खरयानोष्णयानगः ।

नमः स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥२९०॥

खरयुक्तं यानं खरयानम्, उष्णयुक्तं यानमुष्णयानं, रथगन्ध्यादि तेनाध्व-
गमनं कृत्वा दिगम्बरः स्नात्वाऽभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासंभोगं
कृत्वा च तडागतरङ्गिण्यादाववगाह्य कृतप्राणायामः शुद्ध्यति ।—इदं च
कामकारविषयम् ।—'उष्णयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः संवासा जलमाप्लुत्य
प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥' (११।२०१) इति मनुस्मरणात् अकामतः स्नानमात्रं
कल्प्यम् । साक्षात्खरारोहणे तु द्विगुणावृत्तिः कल्पनीया; तस्य गुरुत्वात् ॥२९०॥

भाषा—गदहे से खींची जाने वाली सवारी अथवा ऊँट-गाड़ी पर चढ़ने,
नंगे होकर नहाने और खाने तथा दिन से (अपनी ही स्त्री से) स्त्री-संभोग
करने पर जल में प्रवेश कर प्राणायाम करने एवं स्नान करने से शुद्धि
होती है ॥ २९० ॥

^२गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।

बद्ध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेदिनम् ॥ २९१ ॥

किंच, गुरु जनकादिकं त्वंकृत्य त्वमेवमात्थ त्वयैवं कृतमित्येकवचनान्तयुष्म-
च्छब्दोच्चारणेन निर्भर्त्स्य विप्रं वा ज्यायांसं समं कनीयांसं वा सक्कोधं हुं तूष्णी-
मास्व, हुं मा बहुवादीः, इत्येवमाक्षिप्य जलपवितण्डाभ्यां जयफलाभ्यां विप्रं
निर्जित्य कण्ठे वाससा मृदुस्पर्शेनापि बद्ध्वा क्षिप्रं पादप्रणिपातादिना प्रसाद्य

१. प्राणायामं जले । २. स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा । ३. गुरुं त्वंकृत्य
हुंकृत्य विप्रं ।

क्रोधं त्याजयित्वा दिनमुपवसेत् । अनशनकृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम् -
'वादेन ब्राह्मणं जिह्वा प्रायश्चित्तविधिरसया । त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य
प्रसादयेत् ॥' इति,—तदभ्यासविषयम् ॥ २९१ ॥

भाषा—गुरु (पिता आदि श्रेष्ठ जनों) को 'तू' कहने पर (भर्त्सना करने पर) अथवा क्रोध से ब्राह्मण को डाँटने पर, उसके गले में वस्त्र बाँधने पर शीघ्र उनके पैरों पर गिर कर उन्हें प्रसन्न करे ॥ २९१ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसूकपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९२ ॥

विप्रजिघांसया दण्डाद्युद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः, निपातने ताडने अतिकृच्छ्रः, असूकपाते रुधिरस्रावणे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः, अभ्यन्तरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ॥ बृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः—'काष्ठादिना ताडयित्वा स्वभेदे कृच्छ्रमाचरेत् । अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकस्त्वङ्गकर्तने ॥' इति । पादप्रहारे तु यम आह—'पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधिरसया । दिव-
सोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति ॥ मनुना स्वन्यानि प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि दर्शितानि (११।२०२)—'विनाद्भिरप्सु चाप्यातः शारीरं संनिषेव्य तु । सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥' इति । विनाद्भिरित्यसंनिहितास्वपीत्यर्थः । शारीरं मूत्रपुरीषादि ।—इदमकामविष-
यम् । कामतस्तु—'आपद्रुतो विना तोयं शारीरं यो निषेवते । एकाहं क्षपणं कृत्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥' इति यमोक्तं वेदितव्यम् ॥ यत्तु सुमन्तुवचनम्—
'अप्स्वग्नौ वा मेहतस्तप्तकृच्छ्रम्' इति,—तदनार्तविषयमभ्यासविषयं वा ॥ नित्य-
श्रौतादिकर्मलोपे तु मनुराह (११।२०३)—'वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समति-
क्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥' इति । श्रौतेषु दर्शपौर्णमासादि-
कर्मसु स्मार्तेषु च नित्यहोमादिषु प्रतिपदोक्तेष्ट्यादिप्रायश्चित्तैरुपवासस्य समुच्चयः ।
स्नातकव्रतानि च—'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' इत्येवमादीनि प्रागु-
क्तानि । स्नातकव्रतमधिकृत्य क्रतुनाप्युक्तम्—'एतेषामाचाराणामेकैकस्य व्यति-
क्रमे गायत्र्यष्टशतं जप्यं कृत्वा पूतो भवति' इति ॥ पञ्चमहायज्ञाकरणे तु बृह-
स्पतिराह—'अनिर्वर्त्य महायज्ञान् यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही । अनातुरः सति धने
कृच्छ्रार्धेन विशुद्ध्यति ॥ आहिताग्निरुपस्थानं न कुर्याद्यस्तु पर्वणि । ऋतौ न
गच्छेद्भार्यां वा सोऽपि कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥' इति । द्वितीयादिभार्योपरमे तु देवल
आह—'मृतां द्वितीयां यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्यां प्रथमायां तु

१. संनिवेश्य च । २. सचेलः स्नानमाचरेत् ।

सुरापानसमं हि तत् ॥' इति । स्वभार्याभिशंसने तु यम आह—'स्वभार्या तु यदा क्रोधादगम्येति नरो वदेत् । प्राजापत्यं चरेद्विप्रः क्षत्रियो दिवसान्नव ॥ षड्रात्रं तु चरेद्वैश्यश्चिरात्रं शुद्र आचरेत् ॥' इति ॥

अस्नानभोजनादौ हारीत आह—'वह्मकमण्डलुं रिक्तमस्नातोऽश्नंश्च भोजनम् । अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन चैव हि ॥' इति । एकपङ्क्त्युपविष्टानां स्नेहादिना वैषम्येण दानादौ यम आह—'न पङ्क्त्यां विपमं दद्यान्न याचेत न दापयेत् । (याचको दापको दाता न वै स्वर्गस्य गामिनः ॥) प्राजापत्येन कृच्छ्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ नदीसंकमहन्तुश्च कन्याविघ्नकरस्य च ॥ समे विपमकर्तुश्च निष्कृतिर्नोपपद्यते ॥ त्रयाणामपि चैतेषां प्रत्यापत्तिं च मार्गताम् । भैरुलब्धेन चान्नेन द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । संकम उदकावतरणमार्गः । समे विपमकर्ता पूजादौ ॥ इन्द्रधनुर्दर्शनादावृष्यशृङ्ग आह—'इन्द्रचापं पलाशमिं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत् । प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा ॥' पतितादिसंभाषणे तु गौतम आह—'न ग्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत । संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् । ब्राह्मणेन सह वा संभाषेत तत्पान्नधनलाभवधे पृथग्दर्शानि' इति । भार्यान्नधनानां लाभस्य वधे विघ्नकरणे प्रत्येकं संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् ॥ तथा—ब्रह्मसूत्रं विना विष्मूत्रोत्सर्गादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्—'विना यज्ञोपवीतेन यद्युच्छिष्टो भवेद् द्विजः । प्रायश्चित्तमहोरात्रं गायत्र्यष्टशतं तु वा ॥' तत्र ऊर्ध्वोच्छिष्टे उपवासः, अधरोच्छिष्टस्योदकपानादिषु गायत्रीजप इति व्यवस्था । अकामतस्तु—'पिबेत् मेहतश्चैव भुञ्जतोऽनुपवीतिनः । प्राणायामत्रिकं षट्कं नक्तं च त्रितयं क्रमात् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ भुक्त्वा शौचाचमनमकृत्वोत्थाने तु—'यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्त्वा वाऽनशनात्ततः । सद्यःस्नानं प्रकुर्वीत सोऽन्यथा पतितो भवेत् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चौराद्युत्सर्गादौ वसिष्ठ आह—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितश्चिरात्रं राजा कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेयाताम्' इति । उद्धरेयातां कुलितानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामित्यर्थः । स्तेनपतितादिपङ्क्तिभोजने तु मार्कण्डेय आह—'अपाङ्क्त्यस्य यः कश्चित्पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

नीलीविषये त्वापस्तम्ब आह—'नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्भसो नील्यास्तु

कहिंचित् । त्रिषु वर्णेषु सामान्यं तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ पालनं विक्रयश्चैव तद्वृत्त्या चोपजीवनम् । पातनं च भवेद्विप्रैस्त्रिभिः कृच्छैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारु यदा भिन्नाद् ब्राह्मणस्य शरीरतः । शोणितं दृश्यते यत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ स्त्रीणां क्रीडार्थसंभोगे शयनोपेयं न दुष्यति ॥' इति । शृगुणाप्युक्तम्—'स्त्रीपृता शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य धर्मवर्ज्यं विधारणम्' इति ॥ तथा वस्त्रविशेषकृतश्च प्रतिप्रसवः—'कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो न दुष्यति ॥' इति स्मरणात् ॥ ब्रह्मतरुनिर्मितखट्वाद्यारोहणे शङ्ख आह—'अध्यस्य शयनं यानमासनं पादके तथा । द्विजः पलाशवृक्षस्य त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥ क्षत्रियस्तु रणे पृष्ठं दत्त्वा प्राणपरायणः । संवत्सरं व्रतं कुर्याच्छिखरा वृत्तं फलप्रदम् ॥ द्वौ विप्रौ ब्राह्मणारणी वा दम्पती गोद्विजोत्तमौ । अन्तरेण यदा गच्छेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसंग्रहे । अन्तरेण यदा गच्छेद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । दोहे साक्षादय्याद्यङ्गभूते ।—एतच्चाभ्यासविषयम् । सच्छिद्रादित्याद्यरिष्टदर्शनादौ शङ्ख आह—'दुःस्वप्नारिष्टदर्शनादौ घृतं सुवर्णं च दद्यात् ॥' इति ।

कचिद् देशविशेषगमनेऽपि देवल आह—'सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यन्तवासिनः । अङ्गवङ्गकलिङ्गाध्रान् गत्वा संस्कारमर्हति ॥' एतच्च तार्थयान्नाव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुरीषदर्शनादौ यम आह—'प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदारमनः शकृत् । दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षेत गामगिनं ब्राह्मणं तथा ॥' इति । शङ्खोऽप्याह—'पादप्रतपनं कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुशैः प्रमृज्य पादौ तु दिनमेकं व्रती भवेत् ॥' इति ॥ क्षत्रियाद्युपसंग्रहे हारीत आह—'क्षत्रियाभिवादानेऽहोरात्रमुपवसेत्, वैश्याभिवादाने द्विरात्रम्, शूद्रस्याभिवादाने त्रिरात्रमुपवासः' इति ॥ तथा 'शय्यारूढपादुकोपानहारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्थश्राद्धकृजपदेवपूजानिरताभिवादाने त्रिरात्रमुपवासः स्यादन्यत्र निमन्त्रितेनान्यत्र भोजनेऽपि त्रिरात्रम्' इति ॥

समित्पुष्पादिहस्तस्याभिवादानेऽप्येतदेव—'समित्पुष्पकुशाज्याम्बुसृदन्नाक्षतपाणिकम् ; जपं होमं च कुर्वाणं नाभिवादेत वै द्विजम् ॥' इत्यापस्तम्बीये जपादिभिः समभिध्याहारात् । अभिवादकस्यापीदमेव प्रायश्चित्तम्—'नोदकुम्भहस्तोऽभिवादयेत् न भैक्षं चरन्न पुष्पाज्यादिहस्तो नाशुचिर्न जपन्न देवपितृकार्यं कुर्वन्न शयानः' इति तस्यापि शङ्खेन प्रतिषेधात् । एवमन्यान्यपि वचांसि स्मृत्यन्तरतोऽन्वेय्याणि, ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते ॥ २९२ ॥

१. त्रिवर्णेषु च सामान्यम् । २. भवेद्विप्रे त्रिभिः । ३. अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च ।

भाषा—किसी ब्राह्मण को मारने की इच्छा से डंडा उठाने पर कृच्छ्र व्रत से और डंडा मार देने पर अतिकृच्छ्र व्रत से, मारकर रुधिर निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत से और उसके चोट के स्थान पर रुधिर आ जाने पर कृच्छ्र व्रत से शुद्धि होती है ॥ २९२ ॥

इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तानामानन्त्याप्रतिव्यक्तिप्रायश्चित्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्सामान्यतयोपदिष्टा-
नुपदिष्टविषये प्रायश्चित्तविशेषज्ञानार्थमिदमाह—

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ॥२९३॥

यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वच्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुं प्राणविप-
त्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयम् ; इतरथा प्रधाननिवृत्तिप्रसङ्गात् ।
तथा च वचयति—‘वायुभक्तो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृक्’ इति, तत्र यदि
हिमवद्भिरनिकटवर्तिनामुदकवास उपदिश्यते अतिशीताकुलिते वा शिशिरादि-
काले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदकवासः कल्पनीयः ।
तथा वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्णद्वादशवार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं
प्रायश्चित्तमुपदिश्यते ‘तदा प्राणा विपद्येरन्’ इति ततोऽन्यवयस्के तत्प्रायश्चित्तं
कल्प्यम् । अत एव स्मृत्यन्तरे ‘कचिद्धर्मं कचित्पादः’ इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य
हासोऽभिहितः, तच्च प्राक्पञ्चितम् । तथा धनदानतपश्चरणादिशक्त्यपेक्षया च
नहि निर्धनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्याद्युपपद्यते । तथोद्विक्तपित्तादेर्वा पराका-
दिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकम् । अत एव ‘गजादीनामशक्नुवन् । दानं दातुं
चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये’ इत्युक्तम् । तथा ‘प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण
एव च’ इति तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य हासोऽभिहितः । तथा
पापं च महापातकादिरूपेण सप्रत्ययाप्रत्ययसकृद्भ्यासादिरूपेण चावेक्ष्य यत्नतः
सकलधर्मशास्त्रपर्यालोचनया प्रायश्चित्तं कल्पनीयम् । तत्राकामतो यद्विहितं तदेव
कामकृते द्विगुणं, कामतोऽभ्यासे चतुर्गुणमित्येवं स्मृत्यन्तरानुसारेण कल्पनीयम् ।
तथा—‘महापापोपपापाभ्यां योऽभिज्ञंसेन्मृषा परम् । अब्रह्मो मासमासीत’
इत्युक्तं, तत्र महापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वान्महापापापेक्षयोपपातके
मासिकव्रतस्य हासः कल्पनीयः । यत्र च हसितजृम्भिताक्रन्दितास्फालनादिना
कस्मात्कुर्यात्तथा । ‘नोदन्मतोऽभसि स्नायाज्ज च शमश्र्वादिकर्तयेत् । अन्तर्व-

१. प्रायश्चित्तनिमित्तस्य । २. चापेक्ष्य । ३. नोक्ता च । ४. उदवास ।

५. द्वादशवार्षिकादिकम् । ६. जृम्भितास्फोटनानि ।

स्याः पतिः कुर्वन्नप्रजा भवति ध्रुवम् ॥' इत्यादौ प्रायश्चित्तं नोपदिष्टं, तत्रापि देशाद्यपेक्षया प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । ननु किंविदपि निमित्तजातमनुक्तनिष्कृतिक-मुपलभ्यते; 'प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामना-दिष्टस्य चैव हि ॥' इत्यनुक्तनिष्कृतिष्वपि प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । गौतमे-नाप्येतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहादयः प्रतिपादिताः । उच्यते,—सत्यमस्येव सामान्यतः प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनामपेक्षि-तत्वादेस्त्येव कल्पनावसरः । नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणायामशतं युक्तम्; निमित्तस्य लघुत्वात् । अतः पापापेक्षया हासः कल्पनीयः प्रायश्चित्तान्तरं वा । ननु कथं पापस्य लघुत्वं ? येन प्रायश्चित्तस्य हासकल्पना स्यात् । नच प्राय-श्चित्ताल्पत्वादिति वाच्यम् । अनुक्तनिष्कृतित्वादेव । सत्यम्,—किंतु अर्थवादसं-कीर्तनाद्बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वानुबन्धाद्यपेक्षया च सुबोध एव दोषस्य गुरुलघुभावः । तथा दण्डहासवृद्धयपेक्षया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः । यथा ब्राह्मणावगोरेणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम्, तत्र यदा चानुलोभ्येन प्रातिलोभ्येन चावगोरेणादि क्रियते, यदा वा मूर्ध्निवसिक्तादिभिस्तदा दण्डस्य तारतम्यदर्शना-देव दोषाल्पत्वमहत्त्वावगमात्प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः । दर्शि-तश्च दण्डस्य गुरुलघुभावः 'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः' इत्यादिना ॥

भाषा—देश, समय, आयु, शक्ति और पाप का सावधानी से निरीक्षण करके ही अन्य प्रायश्चित्तों की कल्पना कर लेनी चाहिए जिनका विधान नहीं किया गया है ॥ २९३ ॥

इति पतितत्यागविधिः ।

एवं महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्त्वौद्धत्यादेतज्ज चिकी-र्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह—

दासीकुम्भं बहिर्ग्रामान्निनयेरन्स्वबान्धवाः ।

पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

जीवत एव पतितस्य ये स्वा ज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपञ्चास्ते सर्वे संनिपत्य दासी प्रेष्या तथा सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं कुम्भं घटं ग्रामाद्वहि-न्नियेयुः । एतच्चतुर्थ्यादिरिक्तातिथिष्वह्णः पञ्चमे भागे गुर्वादि संनिधौ कार्यम् । (१११८२)—'पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विगुरुसन्निधौ ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ अथवा दास्येव सपिण्डा-दिप्रयुक्ता निनयेत् । यथाह मनुः (१११८३)—'दासी घटमपां पूर्ण पर्य-

१. दर्शनादोषाल्पत्व । २. बहिर्ग्रामान्निनयेयुः । ३. बान्धवैः सह ।

स्येप्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥' इति । प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसव्ययोः प्राप्त्यर्थम् ।—एतच्च निनयनमुदकपिण्डदानादिप्रेतक्रियोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । 'तस्य विद्यागुरुबोनिस्वन्धाश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः, पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः । दासः कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासीघटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुखः पदा विपर्यस्येद्विदम् । अमुमनुदकं करोमि इति नामग्राहं तं सर्वेऽन्वाल्भेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा विद्यागुरवो बोमिस्वन्धाश्च वीक्षेरन् अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशेयुः' (१९।५।७) इति गौतमस्मरणात् । अयं च त्यागो यदि बन्धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्तं न करोति तदा द्रष्टव्यः । तस्य गुरोर्बान्धवानां राज्ञश्च समक्षं दोषानभिख्याप्यानुभाष्य पुनः पुनराचारं लभस्वेति, स यद्येवमप्यनवस्थितमतिः स्यात्ततोऽस्य पात्रं विपर्यस्येदिति शङ्कस्मरणात् । ततस्तं लब्धोदकं पतितं सर्वकार्येषु संभाषणसहासनादिषु बहिः कुर्युर्वर्जयेयुः । तथा च मनुः (११।१८४)—'निवर्तेरंस्ततस्तस्मात्संभाषणसहासने । दायस्य प्रदानं च यात्रामेव च लौकिकीम् ॥' इति । यदि स्नेहादिना संभाषणं करोति तदा प्रायश्चित्तं कार्यम् । 'अत ऊर्ध्वं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रम्' इति ॥ २९४ ॥

भाषा—पतित व्यक्ति के जाति वाले और बान्धव सभी दासी के द्वारा (उसके नाम से) जल से भरा हुआ बड़ा गॉँव से बाहर निकलवा दें और सभी कार्यों से उसका बहिष्कार करें ॥ २९४ ॥

यदा तु बन्धुत्यागादन्यथा वा जातवैराग्यः प्रायश्चित्तं च कृतं, तदा किं कार्यमित्यत आह—

चरितव्रत आयाते निनयेरन्नघं घटम् ।

जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संवसेयुश्च सर्वशः ॥ २९५ ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीपं पुनरायाते तत्सपिण्डाद्यास्तेन सहिता नवम् अनुपहतं घटम् उदकपूर्णं निनयेयुः ।—एतच्च निनयनं पुण्यहृदादिस्नानोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । (११।१८५)—'प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णं कुम्भमपां नवम् । तेनैव सार्धं प्राप्स्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥' इति मनुस्मरणात् । गौतमेन तु विशेष उक्तः—'यस्तु प्रायश्चित्तेन शुद्धयेत्तस्मिन् शुद्धे शातकुम्भमयं पात्रं पुण्यतमाद् इदास्पूरयित्वा स्रवन्तीभ्यो वा, तत एनमप उपस्पृशयेयुः; अथास्मै तत्पात्रं दधुस्तत्संप्रतिगृह्य जपेत् 'शान्ता धौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं वो रोचनस्तमिह गृहामि' इत्येतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिः कृत्वाग्ने-

रक्षाज्यं शुहुषाद्विरण्यं दद्याद्वा चाचार्याय । यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स
भूतः शुद्धयेदेतदेव शान्त्युदकं सर्वेषूपपातकेषु' (गौ० १९।१०।१७) इति । तत
पुनं कृतप्रायश्चित्तं ते नैव कुरस्येयुः । तथा सर्वकार्ये क्रयविक्रयादिषु तेन सह
सम्भवहरेयुः ॥ २९५ ॥

भाषा—प्रायश्चित्त का व्रत करके यदि बन्धु बान्धवों में मिलने के लिये आवे
तो सपिण्ड उसके साथ दूसरा जल से पूर्ण नया घड़ा (किसी तालाब में
स्नान करके वहाँ से) मँगवावें । तब उसको घृणित न समझें और उसे सब
प्रकार से अपने साथ सम्मिलित कर लें ॥ २९५ ॥

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेशमाह—

पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ।

वासो गृहान्तिके देयमन्नं वासः सरक्षणम् ॥ २९६ ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे पिण्डोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां परिग्रह-
विधिरश्च स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्यः । इयांस्तु विशेषः—पति-
ताम्बोऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मभ्यो वासस्तृणपण्यं कुटीगृहकं प्रधान-
गृहसमीपे देयम् । तथा प्राणधारणमात्रमन्नं मूत्रिनं च वस्त्रं पुनः पुरुषान्त-
रोपभोगनिवारणसहितं सतिरस्कारं देयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—यही विधि पतित स्त्रियों के लिए भी है; उन्हें घर के निकट
दूसरा निवासस्थान दे देना चाहिए और केवल जीवन चलाने भर अन्न और
वस्त्र देना चाहिए और उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ २९६ ॥

ननु काः पतितास्ता यासामयं परित्यागविधिरित्यत आह—

नीचामिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।

विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम् ॥ २९७ ॥

हीनवर्णस्य गमनं गर्भपातनमब्राह्मण्यं अपि भर्तुः अप्राज्ञस्यैव हिंसन-
मित्येतानि स्त्रीणामसाधारणानि पतननिमित्तानि । 'अपि'शब्दात्पुरुषस्त्व-
यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकानुपपातकान्यभ्यस्तानि चोपपा-
तकादीनि तान्यपि स्त्रीणां ध्रुवं निश्चितं पतनकारणानि भवन्ति । अत एव
शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीन-
वर्णसेवायामधिकं पतति' इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—(२८।७) 'त्रीणि
क्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः । भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य
पातनम् ॥' इति 'भ्रूणहत्या' ग्रहणं कृतं तत्र दृष्टान्तार्थं न पुनरितरेषां महा-
पातकादीनां पतनहेतुत्वमिहासाध्यम् । वदपि तेनैव—(२१।१०) 'चतसस्तु

परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या । पतिष्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च
या ॥' इति । 'चतसृणामेव परित्याग' इत्युक्तं तस्यापि तासां प्रायश्चित्तमचि-
कीर्षन्तीनां मध्ये चतसृणामेव शिष्यगादीनां चैलान्नगृहवासादिजीवनहेतु-
त्वाद्युच्छेदेन त्यागं कुर्यान्नान्यासामित्यभिप्रायः । अतश्चान्यासां पतितानां
प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामपि 'वासो गृहान्तिके देय'मित्यादिकं कर्तव्यमित्यव-
गम्यते ॥ २९७ ॥

भाषा—विभ्रनवर्ण के पुरुष के पास जाना, गर्भपात करना, पति की
हिंसा इन सब कर्मों से स्त्रियाँ विशेष रूप से पतित होती हैं ॥ २९७ ॥

'जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संविशेयुरच सर्वशः' (प्रा० २९५) इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान् संवसेन्न तु ।

चीर्णव्रतानपि संतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९८ ॥

शरणागतादिव्यापादनकारिणः कृतघ्नसहितान्प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि
न संव्यवहरेदिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः, किमिति वचनं न कुर्यात् ? नहि
वचनस्यातिभारोऽस्ति, अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां वधेऽदृषीय एव प्राय-
श्चित्तं, तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहारप्रतिषेधः ॥ २९८ ॥

भाषा—शरण में आये हुए बालक और स्त्री की हिंसा करने वाले और
कृतघ्नीयों के प्रायश्चित्त द्वारा दोष हीन होने पर भी इनके साथ कोई व्यवहार
नहीं रखना चाहिए ॥ २९८ ॥

एवं प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम् ।

स दद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य हि सत्क्रिया ॥ २९९ ॥

घटेऽपवर्जिते हृदादुदृष्टस्य पूर्णे कुम्भेऽवनिनीतेऽसौ चरितव्रतः सपिण्डादिम-
ध्यस्थो गोभ्यो यवसं दद्यात् । ताभिः प्रथमं सत्कृतस्य पूजितस्य पशवाज्ज्ञातिभिः
ज्ञात्यादिभिः सत्क्रिया कार्या । गोभिश्च तस्य सत्कारस्तद्वत्तयवसमभक्षणमेव ।
यदि गोवस्तद्वत्तं यवसं गृह्णीयुस्तर्हि पुनः प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यदाह हारीतः—
'स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्णीयुरथैनं प्रवर्तयेयुः' इति
इतरथा नेत्यभिप्रेतम् ॥ २९९ ॥

महापातकादिपञ्चविधेऽपि दोषगणे प्रातिस्विकव्रतसंदोहमभिधायाधुना सकृ-
द्व्रतसाधारणं धर्ममाह—

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतम् ।

यो दोषो यावत्कर्तृसंपाद्यस्ततोऽयैर्विख्यातो विज्ञातो दोषो यस्यासौ
 पर्षदुपदिष्टं व्रतं कुर्यात् । यद्यपि स्वयं सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि
 पर्षत्समीपमुपगम्य तथा सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गि-
 रसा विशेष उक्तः—‘कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः । भुञ्जानो वर्धये-
 त्पापं यावन्नाख्याति पर्षदि ॥ सचैलं वाग्यतः स्नात्वा किलन्नवासाः समाहितः ।
 पर्षदानुमतस्तत्र सर्वं विख्यापयेन्नरः । व्रतमादाय भूयोऽपि तथा स्नात्वा व्रतं
 चरेत् ॥’ इति । विख्यापनं च पर्षद्विणिनादानानन्तरं कार्यम् । यथाह पराशरः—
 ‘पापं विख्यापयेत्पापी द्वावा धेनुं तथा वृषम्’ इति ।—एतच्चोपपातकविषयम् ।
 महापातकादिव्यधिकं कल्प्यम् । यत्तुक्तम्—‘तस्माद् द्विजः प्राप्तपापः सकृदा-
 प्पुन्य वारिणि । विख्याप्य पापं पर्षद्भ्यः किंचिद्दत्त्वा व्रतं चरेत् ॥’ इति तत्प्रकी-
 र्णकविषयम् । पर्षत्स्वरूपं च मनुना दर्शितम्—‘त्रैविषो हैतुकर्तर्को नैरुक्तो
 धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वं पर्षदेषा दशावरा ॥’ हैतुको मीमांसार्थादि-
 तश्चक्षुः, तर्को न्यायशास्त्रकुशलः, तथान्यदपि पषद्द्वयं तेनैव दर्शितम्—
 (मनु० १२।११२) ‘ऋग्वेदविद्युर्विच्च सामवेदविदेव च । अपरा पर्षद्विज्ञेया
 धर्मसंशयनिर्णये ॥’ इति । तथा—(मनु० १२।११३) ‘एकोऽपि वेदविद्वर्मं यं
 व्यवस्थेत्समाहितः । स ज्ञेयः परमो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥’ इति । आसां
 च पर्षदां संभवापेक्षया व्यवस्था महापातकाद्यपेक्षया । यत्तु स्मृत्यन्तरेऽभिहि-
 तम्—‘पातकेषु शतं पर्षत्सहस्रं महदादिषु । उपपापेषु पञ्चाशत्स्वरूपं स्वरूपे
 तथा भवेत् ॥’ इति,—तदपि महापातकादिदोषानुसारेण पर्षदो गुरुलघुभावप्रति-
 पादनपरं न पुनः संख्यानियमार्थम् ; मन्वादिमहास्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । तथा
 देवलेन चात्र विशेषो दर्शितः—‘स्वयं तु ब्राह्मणा ब्रूयुरूपदोषेषु निष्कृतिम् ।
 राजा च ब्राह्मणाश्चैव महत्सु च परीक्षितम् ॥’ इति तयो च पर्षदा अवश्यं
 व्रतमुपदेष्टव्यम्—‘आर्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः । जानन्तो न
 प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतां तु तैः ॥’ इत्यङ्गिरःस्मरणात् । तेषां पर्षदा
 ज्ञात्वेव व्रतमुपदेष्टव्यम्—‘अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः । प्राय-
 क्षिप्ती भवेत्पूतः किञ्चिद्वर्षं पर्षदं व्रजेत् ॥’ इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ चित्रियादीनां
 तु कृतेनसां धर्मोपदेशे विशेषोऽङ्गिरसा दर्शितः—‘न्यायतो ब्राह्मणः क्षिप्रं चत्रि-
 यादेः कृतेनसः । अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतं सर्वं समादिशेत् । तथा शूद्रं समा-
 साद्य सदा धर्मपुरःसरम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥’ इति ।
 तत्र च यागाद्यनुष्ठानशीलानां जपादिकं वाच्यम्, इतरेषां तु तपः । ‘कर्मनि-

१. विख्यातपापं यत्तुक्तम् । २. निरुक्तो । ३. एकोऽपि धर्मविद्वर्मम् ।

४-५. तथा च पर्षदा ।

छास्तपोनिष्ठाः कदाचित्पापमागताः । जपहोमादिकं तेभ्यो विशेषेण प्रदीयते ॥
ये नामधारका विप्रा मूर्खा धनविवर्जिताः । कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि तेभ्यो दद्या-
द्विशेषतः ॥ २९९ ॥

भाषा—जलाशय से जल से भरा हुआ घड़ा लेकर आने पर सपिण्ड
आदि जाति के लोगों के बीच गायों को कोमल दूध खिलावे । गौएँ यदि
उसका स्तकार करती हैं (उसकी दी हुई घास खाती हैं) तभी जाति के
लोग उसका स्तकार करें (जाति में सम्मिलित करें) ॥ २९९ ॥

इति प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ रहस्यप्रायश्चित्तम् ।

‘व्याख्याय ख्यातदुरितशातनीं व्रतसंततिम् ।

रहःकृतावसंदोहहारिणीं व्याहरन्मुनिः ॥’

तत्र प्रथमं सकलरहस्यव्रतसाधारणं धर्ममाह—

अनभिख्यातदोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत् ॥ ३०० ॥

कर्तव्यतिरिक्तैरनभिख्यातो दोषो मस्यासौ रहस्यमप्रकाशं प्रायश्चित्तमनु-
तिष्ठेत् । अतः स्त्रीसंभोगादौ तस्या अपि कारकत्वात् तदितरैरविज्ञातदोषस्य
रहस्यव्रतमिति मन्तव्यम् । तत्र यदि कर्ता स्वयं धर्मशास्त्रकुशलस्तदा परस्मिन्-
विभाव्य स्वनिमित्तोचितं प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यस्तु स्वयमनभिज्ञोऽसौ केन-
चिद्रहो ब्रह्महत्यादिकं कृतं तत्र किं रहस्यप्रायश्चित्तमित्यन्यव्याजेनावगम्य रहो-
व्रतमनुतिष्ठेत् । अत एव स्त्रीशूद्रयोरप्यमुनैव मार्गेण रहस्यव्रतज्ञानसिद्धेरपि-
कारसिद्धिः । नच वाक्यं रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वाद्विषयोऽत्र स्त्रीशूद्रयो-
स्तदनुपपत्तेरनधिकार इति । यतोऽनैकान्ततो रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वम् ।
दानादेरप्युपदेशाद् गौतमोक्तप्राणायामादेरपि संभवाच्च । इतरेषामपि मन्त्रदे-
वतर्विच्छन्दःपरिज्ञानमात्रमेवाधिकारोपयोगि, न त्वन्यविषयम् । नहि तद्व्याग-
निर्माणादी ज्योतिष्टोमादिविषयिणी प्रतिपत्तिरुपयुज्यते । देवतादिपरिज्ञानं
त्ववश्यमपेक्षणीयम् ; ‘अविदित्वा ऋषिं छन्दो देवतं योगमेव च । योऽव्यापये-
ज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥’ इति व्यासस्मरणात् । अत्राप्याहारविशो-
षानुक्तौ पयःप्रभृतयः, कालविशेषानुक्तौ संवत्सरादयः, देशविशेषानुक्तौ शिलो-
पचयादयो गौतमाद्यभिहिताः प्रकाशप्रायश्चित्तवदन्वेषणीयाः ॥ ३०० ॥

१. अनभिख्यापितदोषस्तु रहस्यव्रतमाचरेत् ।

भाषा—जिसका दोष सबको ज्ञात हो गया हो वह पर्वद की आज्ञा से (जैसा पर्वद द्वारा विहित हो वैसा) व्रत करें और जिसका पाप लोगों को ज्ञात न हो वह गुप्त रूप से व्रत करे ॥ ३०० ॥

एवं सकलरहस्यसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद् ब्रह्महत्यादिक्रमेणैव रहस्यप्रायश्चित्तान्याह—

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ।

अन्तर्जले विशुध्येत दत्त्वा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

त्रिरात्रमुपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणेन महर्षिणा दृष्टं सूक्तं अघमर्षणं 'ऋतं च सत्यं च' इति श्रुचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां दत्त्वा ब्रह्महा विशुध्यति । जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुहन्ताप्सु निमग्नोऽघमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गत्वा मातृव्वसारं स्नुषां सखीं वाऽन्यद्वाऽगम्यागमनं कृत्वाऽघमर्षणमेवान्तर्जले त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पूतो भवति' इति ।—एतच्चाकामकारविषयम् । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२४८)—'सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासास्तु नन्यहरहः कृताः ॥' इति,—तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाशक्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गौतमेन षट्त्रिंशद्वात्रव्रतमुक्त्वोक्तं 'तद्व्रत एव ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैः स्नातोऽघमर्षणं जपेत्' (२४।१०) इति,—तदकामतः सकृद्वधविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'ग्रामात्प्राचीं चोदीचीं दिशमुपनिष्कस्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्क्लिञ्चासौः सकृत्पूतेन पाणिनादित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु पक्ष्तियावकं प्राश्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते द्वादशरात्रान्महापातकेभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरति' (३।६।४) इति,—तत्कामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवनस्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२५८)—'भरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥' इति,—तत्कामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । बृहद्विष्णुनोक्तम्—'ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्कस्य प्रभूतेऽन्वनेनाग्निं प्रज्वालयाघमर्षणेनाष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात्तत एतस्मात्पूतो भवति'

१. विशुध्यते । २. गां दत्त्वा च पयः । ३. ब्रह्महा गमनम् । ४. कामतो यव । ५. वासाः कृत्वा ।

इति,—तस्मिन्गुणवधविषयमनुग्राहकविषयं वा । यत्तु यत्सेनोक्तम्—‘अहं तूपवसे-
युक्तश्चिरहोऽभ्युपयस्यः । मुच्यते पातकैः सर्वैश्चिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥’ इति,—
तद्गुणवतो हन्तुर्निगुणवधविषयं प्रयोजकानुमन्तृविषयं वा । यत्तु हारीतेनोक्तम्—
‘महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते चाघमर्षणमेव त्रिजपेत्’
इति,—तस्मिन्मिस्तकर्तृविषयम् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यान्त्यन्विष्यैवमेव विषयेषु
विभजनीयानि ग्रन्थगौरवभयाच्च लिखन्ते । एतदेव व्रतजातं यागस्थयोषित्-
त्रविट्स्वात्रेयामाहिताग्निपरिध्यां गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे व्यापादिते तुरीयां-
शन्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल
में खड़ा होकर अघमर्षण ऋषि के सूक्त (‘ऋतं च सत्यं च’ आदि) का जप
करके एक दूध देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । (यह
ब्राह्मणहत्या का रहस्य प्रायश्चित्त हुआ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा दिवसं- मासताशनः ।

जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ ३०२ ॥

अथवाऽहोरात्रमुपोषितो रात्राबुदके तासं कृत्वा प्रातर्जलाकुत्सीर्य ‘लोमभ्यः
स्वाहा’ इत्याद्यैर्मन्त्रैरेकैकेन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येवं चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जु-
हुयात् ।—इदं च पूर्वोक्तसमानविषयम् ; उदवासस्य क्लेशबाहुल्यात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन-रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर
प्रातःकाल जल से निकल कर ‘लोमभ्यः स्वाहा’ आदि आठ मंत्रों से प्रत्येक
मंत्र के साथ पाँच-पाँच आहुति देकर चालीस बार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कूष्माण्डीभिर्घृतं शुचिः ।

सुरापश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते । त्रिरात्रमुपोषितः कूष्माण्डीभिः ‘यदेवा
यैवहेलनम्’ इत्याद्याभिः कूष्माण्डहृष्टाभिरनुष्टुप्भिर्मन्त्रलिङ्गदेवताभिर्ऋग्भिश्चत्वा-
रिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत् । तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—‘अथ कूष्माण्डी-
भिर्जुहुयाद्योऽपूत एवात्मानं मन्येत यावदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मा-
भ्युच्यते । अयोनौ वा रेतः सिक्त्वाऽन्यत्र स्वप्नात् ।’ इति । यत्तु मनुना
(११।२४९)—‘कौसं’ जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्युच्यते । माहित्रं शुद्ध-

१. स्वाहेति दि वा । २. मासं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च ऋचं प्रति ।
माहित्रं शुद्ध ।

वस्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥' इति । मासं प्रत्यहं षोडशकृत्वोऽपनःशो-
 शुचद्वयं प्रतिस्तोमेभिरुषसं वासिष्ठम् । महित्रीणामवोस्त्वेतोन्विन्द्रस्तवामेत्थेते-
 वामन्यतमस्य जप उक्तः, स त्रिरात्रोपवासकृष्माण्डहोमाशक्तस्य वेदितव्यः ।
 एतच्चाकामतः पैष्टयाः सकृत्पाने, गौडीमाध्योस्तु पानावृत्तौ च वेदितव्यम् ।
 वस्य मनुना (११।२५६)—'मन्त्रैः शाकलहोमीयैरुदं हुत्वा घृतं द्विजः ।
 स गुर्वप्यपहन्येनो जप्त्वा वा नम इत्युचम् ॥' इति । संवत्सरं प्रत्यहं 'देवकृ-
 तस्यैनसः' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमो 'नम इदुग्रं नम आविवास' इत्येतस्या-
 षष्ठ्यो वा जप उक्तः, स कामकारविषयः । यत्तु महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्वाः
 समाहितः । अस्यस्यावदं पावमानीर्भैचाहारो विशुद्ध्यति ॥' इति,—तदभ्यास-
 विषयम्, समुच्चितमहापातकविषयं वा ।

सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्रजापी जले स्थितः ॥ ३०३ ॥

ब्राह्मणः स्वर्णहारी पुनस्त्रिरात्रोपोषितः जलमध्यस्थो 'नमस्ते रुद्र मन्यवे'
 इति शतरुद्रियजपयुक्तः शुद्ध्यतीति । शातातपेनात्र विशेष उक्तः—'मयं
 पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा । अस्माच्छस्त्रो अस्म-
 शय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः ॥' इति । जपश्चैकादशकृत्वः कार्यः ।
 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र
 संशयः ॥' इत्यत्रिस्मरणात् । यत्तु मनुना (११।२५०)—'सकृज्जप्त्वाऽ-
 स्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च । सुवर्णमपहृत्यापि क्षणाद्भवति निर्मलः ॥' इति
 द्विपञ्चाशदकसंख्याकस्य 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इति सूक्तस्य तथा
 'यज्जामतो दूरमुदैति दैवम्' इति शिवसंकल्पदृष्टस्य षड्भ्यश्चस्य वा सकृज्जप
 उक्तः सोऽत्यन्तनिर्गुणस्वामिकस्वर्णहरणे गुणवतोऽपहर्तुर्द्रष्टव्यः । सुवर्णन्यून-
 परिमाणविषयोऽनुग्राहकप्रयोजकविषयो वा । आवृत्तौ तु 'महापातकसंयुक्तोऽ-
 नुगच्छेत्' इत्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ३०३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाला तीन दिन-रात उपवास करके कृष्माण्ड
 ऋषि के ('यद्देवा देवहेतुनम्' आदि) मन्त्र से चालीस बार आहुति करने
 पर शुद्ध होता है और (ब्राह्मण) का स्वर्ण चुराने वाला जल में खड़ा होकर
 रुद्र का ('नमस्ते रुद्र मन्यवे') जप करने पर दोषमुक्त होता है ॥ ३०३ ॥

क्रमप्राप्तं गुरुतरूपगप्रायश्चित्तमाह—

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतरूपगः ।

गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०४ ॥

गुरुतरपगस्तु 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशार्चसूक्तं नारायणदष्टं पुरुषदेवस्यमानु-
ष्टुभं त्रिष्टुबन्तं जपंस्तस्मात्पापान्मुच्यते । सहस्रशीर्षाजापीति तावद्धीस्यप्रत्यया-
दावृत्तिर्गम्यते । अत एव यमेनोक्तम्—'पौरुषं सूक्तमावर्त्य मुच्यते सर्वकि-
रिषपात्' इति । आवृत्तौ च संख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगता चत्वारिंशत्संख्याऽ-
नुमीयते । अत्रापि प्राक्तनश्लोकगतं 'त्रिरात्रोपोषित' इति संबध्यते । अत एव
बृहद्विष्णुः—'त्रिरात्रोपोषितः पुरुसूक्तजपहोमाभ्यां गुरुतरपगः शुद्ध्यते' इति ।
एभिश्च सुरापसुवर्णस्तेनगुरुतरपगैस्त्रिभिः पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रव्रतस्यान्ते
बहुक्षीरा गौर्देया ।—इदमकामविषयम् । यत्तु मनुना (११।२५१)—'हवि-
ष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च । जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतरपगः ॥'
इति । 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदं', 'नतमंहोनदुरितं', 'इति वा इति मे मनः',
'सहस्रशीर्षे'त्येषामन्यतमस्य मासं प्रत्यहं षोडशषोडशकृत्वो जप उक्तः; सोऽप्य-
कामविषय एव । कामतस्तु 'मन्त्रैः शाकलहोमीयैः' इति मनुक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु
षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'महाग्याहृतिभिर्होमस्तिष्ठैः कार्यो द्विजन्मना । उपपा-
तकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया ॥ महापातकसंयुक्तो लब्धहोमेन शुद्ध्यति ॥' इति,
तदावृत्तिविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'जपेद्वाप्यस्यवामीयं पावमानीरथापि वा ।
कुन्तापं बालखिल्यांश्च निविप्रैषान्वृषाकपिम् । होतृन्द्रव्यान्सकृज्जप्त्वा मुच्यते
सर्वपातकैः ॥' इति,—तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम् । यानि पुनः गुरुतरपातिदेश-
विषयाणि तत्समानि वाऽतिपातकोपपातकपदाभिधेयानि, तेषु तुरीयांशान्यूनमर्थो न
च क्रमेण वेदितव्यम् । पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे संनिपाते वा
अधमर्षणमेव त्रिजपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम् । महापातकसंसर्गिणश्च 'स त-
स्यैव व्रतं कुर्यात्' इति वचनाद्येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तम् । न च वाच्यम्
अत्राध्यापनादिसंसर्गस्यानेककर्तृकसंपाद्यत्वाद्वहस्यत्वानुपपत्तिरिति । यतः सत्यप्य-
नेककर्तृकत्वे परदारगमनवत् कर्तव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम् ।
अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम् । एवमतिपातकादिसंसर्गिणोऽपि तदीयमेव
प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् ॥ ३०४ ॥

भाषा—गुरुतरनी का भोग करने वाला 'सहस्रशीर्षा' आदि सोढह
ऋचाओं के सूक्त का जप करने से पापमुक्त होता है । इन सबको (सुरापी,
सुवर्णहारी और गुरुतरपग को) त्रिरात्रव्रत के अन्त में एक दूध देने वाली
गाय का दान करना चाहिए ॥ ३०४ ॥

इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।

उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टहस्यतानां च जाति-
भ्रंशकरादीनां सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम् । तथा सर्वेषां
महापातकादीनां प्रकीर्णकान्तानामप्यपनुत्तये प्राणायामाः कार्याः । तत्र च महा-
पातकेषु चतुःशतम्, अतिपातकेषु त्रिशतम्, अनुपातकेषु द्विशतमिति संख्या-
विवृद्धिः कल्पनीया । प्रकाशप्रायश्चित्तेषु महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्योपपातकेषु
विधानदर्शनात् प्रकीर्णकेषु च हासः कल्प्यः । अत एवोक्तं यमेन—‘दशप्रणव-
संयुक्तैः प्राणायामैश्चतुःशतैः । मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किं पुनः शेषपातकैः ॥’ इति ।
बौधायनेनाप्यत्र विशेष उक्तः—‘अपि वाक्चक्षुःश्रोत्रत्वक्प्राणमनोऽप्यतिक्रमेण
त्रिभिः प्राणायामैः शुद्ध्यति । शुद्धस्त्रीगमनान्नभोजनेषु पृथक्पृथक् सप्ताहं सप्त-
प्राणायामान्धारयेत् । अभयशोभोऽयामेव्यप्राशनेषु तथा चाऽप्यप्यविक्रयेषु सधु-
मांसघृततैललाजालवणरसाज्वर्जितेषु यच्चान्यदप्येव युक्तं स्याद् द्वादशाहं द्वादश
द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकोपपातकवर्ज्यं यच्चान्यदप्येवं युक्तं
स्यादर्धमासं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् उपपातकपतनीयवर्जं यच्चान्य-
न्यदेवं युक्तं स्यान्मासं द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् ।
अन्यपातकवर्ज्यं यच्चान्यन्यदप्येवं युक्तं द्वादश अर्धमासान् द्वादश प्राणायामान्
धारयेत् । अथ पातकेषु संवत्सरं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेदिति । तत्र
वाक्चक्षुरित्यादिप्राणायामत्रयं प्रकीर्णकाभिप्रायम् । ‘शुद्धस्त्रीगमनान्नभोजने’त्यादि-
नोक्ता एकोनपञ्चाशत्प्राणायामा उपपातकविशेषाभिप्रायाः । तथा ‘अभयशोभोऽप्ये-
त्यादिनोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्राणायामा अप्युपपातकविशेषाभिप्राया एव ।
अथ ‘पातकोपपातकवर्ज्यं’मित्यादिनोक्ताः साशीतिशतप्राणायामा जातिभ्रंशकरा-
द्यभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्यं’मित्यादिनोक्ताः षष्ट्यधिकशतत्रयप्राणायामाः
गोवधाद्युपपातकाभिप्रायाः । अथ ‘पातकवर्ज्यं’मित्यादिनोक्ताः षष्ट्यधिकद्विशत-
सहितद्विसहस्रसंख्याकाः प्राणायामाः अतिपातकानुपपातकाभिप्रायाः । अथ
पातकेष्वित्यादिनोक्ता विंशत्यधिकशतत्रययुक्ताश्चतुःसहस्रप्राणायामा महापातक-
विषयाः । इदं चाभयशोभोऽप्येत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तपञ्चकमत्यन्ताभ्यासविषयं,
समुच्चितविषयं वा । यत्तु मनुना । (११।२।५२)—‘एनसां स्थूलसूक्ष्माणां
चिकीर्षन्नपनोदनम् । अवेत्येवं जपेद्वदं यत्किंचेदमिति वा ॥’ इत्येवदं
चावत्प्रत्यहमर्थान्तरादिरुद्धेषु कालेषु ‘अवतेहेल्लोवरुण’ इत्यस्या श्रुचो ‘यत्किं-

चेदम्' इत्यस्याः, 'इति वा इति मे मनः' इत्यस्याश्च जप उक्तः सोऽप्यभ्यास-
विषयः ॥ ३०५ ॥

भाषा—तब उपपातकों की और अन्य सभी पापों की, जिनका विधान
नहीं किया गया है, शुद्धि के लिये सौ बार प्राणायाम करना चाहिए ॥ ३०५ ॥

उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामशतस्यापवादमाह—

ओङ्काराभिष्टुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ।

कृत्वा हि रेतोविण्मूत्रप्राशनं तु द्विजोत्तमः ॥ ३०६ ॥

द्विजो रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा सोमलतारसमोङ्कारेणाभिमन्त्रितं शुद्धि-
साधनं पिबेत् ।—एतच्चाकामकारविषयम् । कामतस्तु सुमन्तुक्तम्—'रेतो-
विण्मूत्रप्राशनं कृत्वा लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुम्भिकादीनामन्येषां चाभक्ष्याणां भक्षणं
कृत्वा हंसग्रामकुक्कुटश्चगालादिमांसभक्षणं च कृत्वा ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य
शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा महाव्याहृतिभिरोगमुदकं पीत्वा तदेतस्मात्पूतो
भवती'ति । मनुनापि सप्तविधाभक्ष्यभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् (११।२५३)—
'प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरस्वमन्दीयं पूयते मान-
वस्यहात् ॥' इति । अप्रतिग्राह्यं विषशस्त्रसुरादि पतितादिद्रव्यं च । यदा त्वप्सु
रेतोविण्मूत्रादिशरीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम्—'अप्रशस्तं तु
कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्ष्यभुक्' (११।२५५) इति ॥ ३०६ ॥

भाषा—वीर्य, विष्टा या मूत्र (मूल से) मुख में डालने पर द्विज ओङ्कार
मन्त्र से अभिमन्त्रित सोमलता का पवित्र रस पीए ॥ ३०६ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह—

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।

त्रैकाल्यसंध्याकरणान्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

रजन्यां वासरे वा यत्प्रमादादिकृतं प्रकीर्णकं मानसं वाचिकं चोपपातकं
तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसंध्योपासनया प्रणश्यति । तथा च
यमः—'यदह्नाकुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा । आसीनः पश्चिमां संध्यां
प्राणायामैर्निहन्ति तत् ॥' इति । शातातपेनाप्युक्तम्—'अनृतं मद्यगन्धं च
दिवा मैथुनमेव च । पुनाति वृषलात्रं च संध्या बहिरुपासिता ॥' इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—रात्रि या दिन में जो कुछ भी पापकर्म अज्ञानवश हुआ रहता
है वह तीनों काल की संध्या करने से नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अथ सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।

सर्वपापहरा ह्येते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

शुक्रियं नाम आरण्यकविशेषः 'विश्वानि देव सवितः' इत्यादिवाजसनेयके पठ्यते, आरण्यकं च यजुः 'ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये' इत्यादि तत्रैव पठ्यते, तयोर्जपः सकलमहापातकादिहरः । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्ष्मतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्रं प्रकाणकेषु शतमित्येवं विशेषतो जपः सर्वपापहरः । तथा च गायत्रोमधिकृत्य श्लोकः शङ्खेनोक्तः—'शतं जप्ता तु सौविश्री महापातकनाशिनी । सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिस्त्रिषणाशिनी । लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेयकृद्भिप्रो ब्रह्महा गुरुतरपगः । सुरापश्च विशुद्ध्यन्ति लक्ष जप्त्वा न संशयः ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमते उक्तम्—'गायत्र्यास्तु जपेःकोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्या लक्षषष्ठ्या तु मुच्यते गुरुतरपगः ॥' इति, तद्गुरुत्वात्प्रकाशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी । सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महद्भयः स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥' इति महापातकेष्वेकादशगुणावृत्तिदर्शनात् अतिपातकादिषु चतुर्थ-चतुर्थांशहासो योजनीयः । 'च'शब्दोऽधमर्षणादिसमुच्चयार्थः । यथाह वसिष्ठः—'सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् । येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः ॥ अधमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरस्समाः । कूष्माण्डः पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यथैव च ॥ अभिषङ्गाः पदस्तोमाः सामानि व्याहृतीस्तथा । भारदण्डानि सामानि गायत्रं रैवतं तथा ॥ पुरुषव्रतं च भासं च तथा देवव्रतानि च । आर्त्विगं बार्हस्पत्यं च वाक्सूक्तं मध्वचस्तथा ॥ शतरुद्रियाथर्वशिरास्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् । गोसूक्तं चाथसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ॥ ग्रीण्याज्यदोहानि रथन्तरं च अग्नेर्घृतं वामदेव्यं बृहच्च । एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तुभ्रातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत् ॥' इति ॥ ३०८ ॥

भाषा—शुक्रिय नाम के आरण्यक का, गायत्री का विशेष (महापातक में एक लाख, उपपातक में दस हजार) जप तथा रुद्रैकादशिनी (रुद्रों के स्मारक अनुवाकों) का जप—ये सभी पापों को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ३०८ ॥

१. पृते । २. सा देवी । ३. कश्मषणाशिनी । ४. सर्वदेवपवित्राणि ।

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।

तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं तथा ॥ ३०९ ॥

किंच, यत्र यत्र च ब्रह्मवधादौ तज्जनितकल्मषजातेनात्मानं संकीर्णमभिभूतं द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमः कार्यः । तत्र महापातकेषु लक्षसंख्यया होमः कार्यः । 'गायत्र्या लक्षहोमेन मुच्यते सर्वपातकैः' इति यमस्मरणात् । अतिपातकादिषु पादपादहासः कल्पनीयः । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यम् । तथा च रहस्याधिकारे वसिष्ठः—'वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु ब्राह्मणान्संस्र पञ्च वा । क्षौद्रयुक्तैस्तिलैः कृष्णैर्वाचयेदथवेतरैः ॥ प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते । यावज्जीवकृतं पापं तच्छृणादेव नश्यति ॥' इति । तथा अनियतकालेऽपि दानं तेनैवोक्तम्—'कृष्णाजिने तिलान्कृत्वा हिरण्यं मधुसर्पिणी । ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' इति । तथा व्यासेनाप्युक्तम्—'तिलधेनुं च यो दद्यात्संयतारमा द्विजन्मने । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते तान्न संशयः ॥' इति । एवमादि दानजातं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां क्षौद्रयोश्च वेदितव्यम् । यस्तु यमेनोक्तम्—'तिलान्ददाति यः प्रातस्तिलान्स्पृशति स्वादति । तिलस्नायी तिलान्बुद्धन्सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' तथा—'द्वे चाष्टम्यौ तु मासस्य चतुर्दश्यौ तथैव च । अमावास्या पौर्णमासी सप्तमी द्वादशीद्वयम् ॥ संवत्सरमभुञ्जानः सततं विजितेन्द्रियः । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकं च गच्छति ॥' इति । यच्चान्निणोक्तम्—'क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के स्वाषाढ्यां संविशेद्धरिः । निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेद्धरिम् ॥ ब्रह्महत्यादिकं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहति ॥' इत्येवमादि तत्सर्वं विद्याविरहिणां कामाकामसकृदसकृदभ्यासविषयतया व्यवस्थापनीयम् ॥ ३०९ ॥

भाषा—जहाँ-जहाँ द्विज (ब्रह्महत्यादि) कर्मों के पाप से अपने को युक्त समझे वहाँ वहाँ गायत्री का जप करते हुए तिल का होम करे ॥ ३०९ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञक्रियापरम् ।

न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

किंच, 'वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यासनं जपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' इत्युक्तक्रमेण वेदाभ्यासनिरतं तितिक्षायुक्तं पञ्चमहायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति । किमुत प्रकीर्णकजानि वाङ्मनसजन्योपपातकानि वेद्यत्र तात्पर्यमपिशब्दाश्चल्यते ।—एत-

१. गायत्र्यावर्तनं । २. दोषजातेन । ३. गायत्र्या लक्षहोमः ।
४. पञ्चसप्त च । ५. किलिबं ।

च्चाकामकारविषयम् । अत एव वसिष्ठेन—‘यथाकार्यज्ञातं सामं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥’ इति प्रकीर्णकाद्यभिप्रायेणाभिधायामिहितम्—‘न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥’ इति ॥ ३१० ॥

भाषा—वेदाभ्यास में रत रहने वाले और पंचयज्ञ क्रिया में तत्पर व्यक्ति को महापातक से उत्पन्न पाप नहीं छूते हैं ॥ ३१० ॥

वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रि नीत्वाऽप्सु सूर्यदक् ।

जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्धयेद् ब्रह्मवधादते ॥ ३११ ॥

किंच, सोपवासो वासरमुपविशन् उपित्वा सलिले वसन्निशां नीत्वादित्यो-
दयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवधस्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपाप-
जातान्मुच्यते । अतश्चोपपातकादिष्वभ्यासेऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम् ;
विषमविषयसमीकरणस्यान्याय्यत्वात् । अत एव वृद्धवसिष्ठेन महापातको-
पपातकयोः कालविशेषेण व्रतविशेष उक्तः । यथाह—‘यवानां प्रसृतिमञ्जलिं
वा श्रप्यमाणं शृतं चाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्त्वं वारुणो मधुसंयुतः ।
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ॥’ इत्यनेन । ‘घृतं यवा मधुयवाः
पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वारुमनःकायसंभवम् ॥’ इत्यनेन वा ।
‘अग्निकार्यं तु कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा । नाग्रं न भिक्षां नातिथ्यं न चोच्छिष्टं
परिष्वजेत् ॥’ ‘ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुवचा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते
नोऽघन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा’ इत्यात्मनि क्षुद्रपात्रिरात्रं मेघाभिवृद्धये
पापक्षयाय त्रिरात्रं ब्रह्महत्यादिषु द्वादशरात्रं पतितोत्पन्नश्चेत्येतद्दिगवलम्बने-
गान्यान्यपि स्मृतिवचनानि विवेचनीयानि ॥ ३११ ॥

भाषा—दिन में उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर सूर्योदय के
हो जाने पर एक सहस्र बार गायत्री का जप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त
अन्य सभी महापातकों से शुद्धि हो जाती है ॥ ३११ ॥

इति रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

विनियुक्तव्रतव्रातरूपभेदे बुभुक्षिते ।

कीदृशमिति संक्षेपादलक्षणं वच्यतेऽधुना ॥

तत्र तावत्सकलप्रकाशरहस्यव्रताङ्गभूतान्धमानाह—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।

अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ ३१२ ॥

१. तिष्ठेत् । २. शुद्धिर्ब्रह्म । ३. घृतं चाभिमन्त्रयेत् ।

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।

नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः, उपस्थनिग्रहो लिङ्गनिग्रहः गोबलीवर्द्धनमायेन निर्दिष्टः, अकल्कता अकुटिलता । शेषं प्रसिद्धम् । यत्पुनर्मनुनोक्तम्—‘अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्’ इति,—तदप्येतेषामुपलक्षणं न परिगणनाय । अत्र च दयादानत्यादीनां पुरुषार्थतया प्राप्तानामपि पुनर्विधानं प्रायश्चित्ताङ्गत्वार्थम् । क्वचिद्विशेषोऽप्यस्ति । यथा विवाहादिष्वभ्यनुज्ञातस्याप्यनृतवचनस्य निवृत्त्यर्थं सत्यविविधानम् । पुत्रशिष्यादिकमपि न तादानीयमित्येवमर्थमहिंसा-विधानमित्येवमादि ॥ ३१२-३१३ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्यं (सभी इन्द्रियों का संयम), दया, दान, सत्य-भाषण, सरलता, अहिंसा, चोरी न करना, माधुर्यं (मधुर वचन बोलना) और दम (ज्ञानेन्द्रियों का दमन)—ये यम कहे गये हैं ॥

स्नान, मौन रहना, उपवास, देवपूजन, स्वाध्याय, लिङ्ग का निग्रह (कामुकता का त्याग), गुरु की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग—ये सभी नियम कहलाते हैं ॥ ३१२-३१३ ॥

तत्र सातपचाक्यं वृतं तादवाह—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

जम्बवा परेऽह्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ ३१४ ॥

पूर्वेष्टुराहारान्तरपरित्यागेन गोमूत्रादीनि पञ्चगव्यानि पञ्चद्रव्याणि कुशोदकसहितानि संयुज्य पीत्वा अपरेष्टुरुपवसेदिति द्वैरात्रिकः सान्तपनः कृच्छ्रसंयोजनं चोत्तरशुद्धे पृथग्विधानादवगम्यते । ‘कृच्छ्र’ इति चान्वयसंज्ञेयम् ; तपोरुपवसेन क्लेशसाध्यत्वात् । गोमूत्रादीनां परिमाणं वच्यते । यदा पुनः पूर्वेषुरपोष्णापरेष्टुः समन्त्रकं संयुज्य समन्त्रकमेव पञ्चगव्यं पीयते तदा ब्रह्मचर्य इत्याख्यायते । यथाह पराशरः—‘गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु प्रत्येकं कायशोधनम् ॥ गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापि गोमयम् । पयः काञ्चनवर्णाया नीलायाश्च तथा दधि ॥ घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव च । अलामे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येष्वयं विधिः ॥ गोमूत्रं माषकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडश । क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दधनस्तु दश कीर्तिताः ॥ गोमूत्रवद्घृतेस्याष्टौ तदर्थं तु कुशोदकम् । गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्येति वै दधि ॥ तेजोऽ-

सिशुकमित्याज्यं देवस्य स्वा कुशोदकम् । पञ्चगव्यमृचा पूतं होमयेदभिसंनिधौ ॥
 सप्तपत्राश्च ये दर्भा अश्विज्जामाः शुचिस्त्रिविधः । एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं
 यथाविधि ॥ हरावती इदंविष्णुर्मानस्तोके च शंवतीः । एताभिश्चैव होतव्यं
 हुतशेषं पिबेद् द्विजः ॥ प्रणवेन समालोढ्य प्रणवेनाभिमन्त्र्य च । प्रणवेन
 समुद्धृत्य पिबेत्तत्प्रणवेन तु ॥ मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण वा पिबेत् ।
 स्वर्णपात्रेण रौप्येण ब्राह्मतीर्थेन वा पुनः ॥ यस्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति
 मानवे । ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥' इति । यदा स्वेतदेव मिश्रितं
 पञ्चगव्यं त्रिरात्रमभ्यस्यते तदा यतिसान्तपनसंज्ञां लभते—'एतदेव त्र्यहोभ्यस्तं
 यतिसान्तपनं स्मृतम्' इति शङ्खस्मरणात् ॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्यं सान्तप-
 नमुक्तम्—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकैकं त्र्यहं पीत्वा
 त्र्यहोरात्रमभोजनम् । कृच्छ्रं सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । एषां च
 गुरुलघुकृच्छ्राणां शक्यत्वाद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । एवमुत्तरत्रापि व्यवस्था
 बोद्धव्या ॥ ३१४ ॥

भाषा—एक दिन गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का
 जल पीकर दूसरे दिन उपवास करने पर दो दिन का सान्तपन कृच्छ्रव्रत
 होता है ॥ ३१४ ॥

महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रमाह—

पृथक्सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।

सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः ॥ ३१५ ॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्यः कृच्छ्रो विज्ञेयः । कथमित्यपेक्षायामुक्तं
 वृथाभूतैः षड्भिर्गोमूत्रादिभिरेकैकेनैकैकमहरतिवाहयेत् सप्तमं सोपवासेनेति ।
 यमेन तु षड्दशाहसंपाप्नो महासान्तपनोऽभिहितः—'अहं पिबेत्तु गोमूत्रं
 अहं वै गोमयं पिबेत् । अहं दधि अहं क्षीरं सर्पिस्ततः शुचिः ॥ महासान्तपनं
 होतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । जाबालेन स्वेकविंशतिरात्रिनिर्वर्त्तौ महा-
 सान्तपन उक्तः—'षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् । अहं सोपवसेदन्तं
 महासान्तपनं विदुः ॥' इति । यदा तु षण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य द्व्यह-
 मुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यमः—'एतान्येव तथा पेयान्येकैकं
 तु अहं द्व्यहम् । अतिसान्तपनं नाम अपाकमपि शोधयेत् ॥' इति ।
 'अपाकमपि शोधयेत्' इत्यर्थवादः ॥ ३१५ ॥

भाषा—सान्तान के (गोमूत्र आदि छः) द्रव्यों से पृथक्-पृथक् (अर्थात् एक एक दिन एक-एक को पीकर) छः दिन बिताकर एक दिन उपवास करने पर एक सप्ताह का महासान्तपन कृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥ ३१५ ॥

इति महासांतपनातिसांतपने ।

पर्णकृच्छ्राख्यं व्रतमाह—

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।

प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१६ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दश्रीवृक्षपर्णानामेकैकेन कथितमुदकं प्रत्यहं पिबेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनीति पञ्चाहसाध्यः पर्णकृच्छ्रः । यदा तु पर्णादीनामेकीकृतानां काथयित्वा त्रान्ते पीयते तदा पर्णकूर्चः । यथाह यमः—‘एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः । काथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते ॥’ इति । यदा तु बिल्वादिकफलानि प्रत्येकं कथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेयः—‘फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः पञ्चाक्षरपरस्तथा ॥ मासेनामलकैरेव श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम् । पत्रैर्मतः पत्रकृच्छ्रः पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते ॥ मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलस्तोयकृच्छ्रो जलेन तु ॥’ इति ॥ ३१६ ॥

भाषा—पलाश, उदुम्बर (गूलर), कमल, बिल्वपत्र में से एक-एक को एक-एक दिन पानी में उबालकर वही जल पीवे और फिर एक दिन (पांचवे दिन) कुशा का जल पीवे तो पर्णकृच्छ्र व्रत कहलाता है ॥ ११६ ॥

इति पर्णकृच्छ्र एकादशविधः ।

तप्तकृच्छ्रमाह—

तप्तक्षीरघृताम्बुनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।

एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१७ ॥

दुग्धसर्पिरुदकानां तप्तानामेकैकं प्रतिदिवसं प्राश्यापरेद्युरपवसेत् । एष दिवसचतुष्टयसंपाद्यो महातप्तकृच्छ्रः । एभिरेव समस्तैः सोपवासैर्द्विरात्रसंपाद्यः सान्तपनवत्तप्तकृच्छ्रः । मनुना तु द्वादशरात्रनिर्वर्त्योऽभिहितः (११२१४)—‘तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् । प्रतिदिवसं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥’ इति । क्षीरादिपरिमाणं तु पराशरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ।—‘अपां पिबेत्

१. प्रत्यहाभ्यस्तैः । २. पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ।

त्रिपलं द्विपलं तु पयः पिबेत् । पलमेकं पिबेत्सर्पिस्त्रिरात्रं शोष्णमारुतम् ॥
इति । त्रिरात्रमारुतस्य पूरणे उष्णोदकघ्रापं पिबेदित्यर्थः । यदा तु शीतं
शीरादि पीयते तदा शीतकृच्छ्रः, 'अयं शीतं पिबेत्तोयं अयं शीतं पयः पिबेत् ।
अयं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं अयम् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ३१७ ॥

भाषा—दूध, घी और जल में से प्रत्येक को गर्म करके एक-एक दिन
पीकर और फिर एक दिन-रात (चौथे दिन) उपवास रखने पर तप्तकृच्छ्र
व्रत होता है ॥ ३१७ ॥

इति तप्तकृच्छ्रस्तुर्विधः ।

पादकृच्छ्रमाह—

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।

उपवासेन चैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः ॥ ३१८ ॥

एकभक्तेन सकृद्भोजनेन दिवैव; नक्तेनेति पृथगुपादानात् । अतश्च दिवैवैक-
वारमेव भोजनेनैकैकमहोरात्रमतिवाहयेदिति । तत्र दिवेति रात्रिव्युदासः । एक-
वारमिति द्विवारादिव्युदासः । भोजनेनेत्यभोजनव्युदासः । एतच्च कृच्छ्रादीनां व्रत-
रूपत्वात् पुरुषार्थभोजनपदं दासेन कृच्छ्राङ्गभूतं भोजनं विधीयते । तथा चापस्त-
म्बः—'अयमनक्ताशयदिवाशी च ततस्त्यहं । अयमयाचितव्रतस्त्यहं नाशनाति
किञ्चन' इति । अत्र च 'अनक्ताशी' इत्यनेन व्रतविहितेन णिनिप्रत्ययेन नक्तपथु-
दासेन दिवाभोजननियमं दर्शयति । गौतमेनापीदमेव स्पष्टीकृतम्—'हविष्यान्प्रात-
राशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाशनीयात्' इति । एवं नक्तभोजनविधावपि । न विद्यते
याचितं यस्मिन्भोजने तदयाचितम् । तेन कालविशेषानुपादानाद्दिवा रात्रौ वा
सकृदित्येव; तपोरूपत्वात्कृच्छ्राणां द्वितीयभोजने तदनुपपत्तेः । अयाचितमिति
न केवलं परकीयान्नयाचनप्रतिषेधोऽपि तु स्वकीयमपि परिचारकभार्यादिभ्यो न
याचितव्यम् । प्रेषणाध्येषणयोः साधारणत्वाद्याच्चायाः । अतः स्वगृहेऽपि भृत्य-
भार्यादयोऽनाज्ञप्ता एव यदि भोजनमुपहरन्ति तर्हि भोक्तव्यं, नान्यथा । अमुनै-
वाभिप्रायेणोक्तं गौतमेन—'अथापरं अयं न कञ्चन याचेत्' इति । अत्र च
ग्राससंख्यानियमः पराशरेण दर्शितः—'सायं तु द्वादशग्रासाः प्रातः पञ्चदश
स्मृताः । चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम् ॥' इति । आपस्तम्बेन
त्वन्यथोक्तम्—'सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः । चतुर्विंशति-
रायाच्याः परं निरशान्नास्त्रयः । कुक्कुटाण्डप्रमाणास्तु यथा वास्यं विशेषसुखम् ॥'
इति ॥ अनयोश्च कल्पयोः शक्यपेक्षया विकल्पः । आपस्तम्बेन तु प्राजापत्यः

प्रायश्चित्तं चतुर्धा विभज्य चतुरः पादकृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेण व्यवस्था दर्शिता—‘अहं निरशनं पादः पादश्चायाचितं अहम् । सायं अहं तथा पादः पादः प्रातस्तथा अहम् ॥ प्रातः पादं चरेच्छूद्रः सायं वैश्ये तु दापयेत् । अयाचितं तु राजन्ये त्रिरात्रं ब्राह्मणे स्मृतम् ॥’ इति । यदा स्वयाचितोपवासात्मक-अहद्वयानुष्ठानं तदाऽर्धकृच्छ्रः । सायं व्यतिरिक्तापरअहत्रयानुष्ठानं तु पादोनमिति विज्ञेयम् । ‘सायंप्रातर्विनार्धं स्यात्पादोनं नक्तवर्जितम्’ इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम्—‘सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम् । दिनद्वयं च नाशनीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयता ॥’ इति ॥ ३१८ ॥

भाषा—एक दिन दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि को एक बार भोजन करे, तीसरे दिन विना मांगे ही मिला हुआ भोजन करे और चौथे दिन उपवास करे तो पादकृच्छ्र भ्रत होता है ॥ ३१८ ॥

प्राजापत्यं कृच्छ्रमाह—

यथाकथंचित्त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अयमेव पादकृच्छ्रः यथाकथंचिदण्डकलितवदावृत्त्या स्वस्थानविवृद्धया वा, तत्राप्यानुलोभ्येन प्रातिलोभ्येन वा तथा वक्ष्यमागजपादियुक्तं तद्रहितं वा त्रिरभ्यस्तः प्राजापत्योऽभिधीयते । तत्र दण्डकलितवदावृत्तिपक्षो वसिष्ठेन प्रदर्शितः—‘अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् । अहः पराकं तत्रैकमेवं चतुरहौ परौ ॥ अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः । बालवृद्धातुरेभ्येवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह ॥’ इति । आनुलोभ्येन स्वस्थानविवृद्धिपक्षस्तु मनुना दर्शितः (११-२११)—‘अहं प्रातस्तथा अहं सायं अहमद्यादयाचितम् । परं अहं च नाशनीयात्प्राजापत्यं चरन्दिजः ॥’ इति प्रातिलोभ्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता—‘प्रातिलोभ्यं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्’ इति । जपादिरहितपक्षस्तु स्त्रीशूद्रादिविषयेऽङ्गिरसा दर्शितः—‘तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमादिवर्जितम् ॥’ इति । जपादियुक्तपक्षस्तु पारिशेष्याद्योग्यतया च त्रैवर्णिकविषयः स च गौतमादिभिर्दर्शितः—‘अथातः कृच्छ्रान्यास्यास्यामो हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाशनीयादथापरं अहं नक्तं भुञ्जीताथापरं अहं न कंचन याचेताथापरं अहमुपवसंस्तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः सत्यं वदेदनायैः सह न भाषेत रौरवयोर्धा जपे नित्यं प्रयुञ्जीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनमापोहिष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिरथोदकतर्पणम् । ‘नमोहमाय मोहमाय महमाय धन्वने तापसाय पुनर्वसवे नमः मौञ्ज्याय और्ग्याय वसुविन्दाय सर्वविदाय नमः । पाराय सुपाराय महापाराय पारदाय परपाराय पारयिष्णवे नमः । रुद्राय पशुपतये महते देवाय अश्वका

यैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोम्राय वज्रिणे वृजिने कपर्दिने नमः सूर्या-
यादित्याय नमः । नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः । कृष्णाय पिङ्गलाय नमः ।
उषेष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः । सत्याय पावकाय पावक-
वर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः । दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । तीक्ष्णाय
तीक्ष्णरूपिणे नमः । सैश्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय
ब्रह्मचारिणे नमः । चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः इति । एतदेवादित्योप-
स्थानमेता एवाज्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो
ब्रह्मयाद् 'अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा ग्रीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो
देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृते' इति अन्ते ब्राह्मणभोजनम् इति ।
तत्र तिष्ठेद्बहनि रात्रावासीत क्षिप्रकाम इत्यस्यार्थः—यस्तु महतोऽप्येनसः
क्षिप्रमेकेनैव कृच्छ्रेण क्षिप्रं मुच्येयमित्येवं कामयते असावहनि कर्माविरुद्धेषु
कालेषु तिष्ठेद्ब्राह्मणावासीत । एवं रौरवयोधाख्यसामजपो नमोदमायेत्यादिभिस्त-
र्पणमादित्योपस्थानादिकं चरुश्रपणादिकं च योगीश्वराद्यनुक्तं क्षिप्रकामः कुर्वीत ।
अतश्च योगीश्वराद्युक्तप्राजापत्यद्वयस्थाने गौतमीयमनेकेतिकर्तव्यतासहितं द्रष्ट-
व्यम् । एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि विशेषेणान्वेषणीयानि ॥

अतिकृच्छ्रमाह—

अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूराश्रभोजनः ॥ ३१९ ॥

एतद्धर्मक एव एकभक्तादिप्राजापत्यधर्मयुक्तोऽतिकृच्छ्रः स्यात् । इयांस्तु
विशेषः—आद्ये व्यहत्रये पाणिपूरणमात्रमन्नं भुञ्जीत न पुनर्द्वाविंशत्यादिप्रा-
सान् । अत्र च प्राशभोजनानुवादेन पाणिपूराश्रविधानादन्यव्यहेऽतिदेशप्राप्त
उपवासोऽप्रतिपद्य एव । अत्रापि पादशो व्यवस्था पूर्ववदेव द्रष्टव्या । यस्तु
मनुजोक्तम् । (११।२।३)—'एकैकं प्रासमश्नीयात्यहणि त्रीणि पूर्ववत् ।
व्यहं चोपवसेदत्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥' इति,—तत्पाणिपूराश्रपरिमितोदरप-
त्वाच्छुक्तं विषयम् ॥ ३१९ ॥

भाषा—इसी पादकृच्छ्र व्रत का जिस किसी प्रकार तिगुना करके व्रत
करने पर प्राजापत्य कृच्छ्र कहा जाता है और यदि तीन दिनों में केवल एक
हाथ में आने भर भोजन करके बितावे तो उपरोक्त व्रत ही अतिकृच्छ्र व्रत
होता है ॥ ३१९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रमाह—

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम् ।

१. विशेषेणान्तराण्यन्वेषणीयानि । २. परिमितत्वात् ।

एकविंशतिरात्रं पयसा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्राख्यं व्रतं विज्ञेयम् । गौतमेन तु द्वादशरात्रमुदकेन वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्रं उक्तः 'धम्मचस्तुतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः' इति । अतश्च शक्यपेक्षयाऽनयोर्व्यवस्था ॥

पराकमाह—

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥

ऋज्वर्योऽयमर्धश्लोकः ॥ ३२० ॥

भाषा—केवल दूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र-व्रत होता है । बारह दिन के उपवास को पराकव्रत कहा गया है ॥ ३२० ॥

सौम्यकृच्छ्रमाह—

पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिधासरम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३२१ ॥

पिण्याकोदनमिक्षावोदम्बिदुदकसक्तूनां पञ्चानामेकैकं प्रतिदिवसमुपभुज्य षष्ठेऽहि उपवसेदेष सौम्याख्यः कृच्छ्रोऽभिधीयते । द्रव्यपरिमाणं तु प्राणयात्रा-मात्रनिबन्धनमधिगन्तव्यम् । जाबालेन तु चतुरहर्ष्यापी सौम्यकृच्छ्र उक्तः— 'पिण्याकं सक्तवस्तक्रं चतुर्थेऽहन्यभोजनम् । वासो वै दक्षिणां दद्यात्सौम्योऽयं कृच्छ्र उच्यते ॥' इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—पिण्याक (तिल की खली), आचाम (भात का माँड), तक्र (मट्ठा) जल और सतू में से एक एक से क्रमशः पाँच दिन व्यतीत करके फिर एक दिन उपवास करने पर सौम्यकृच्छ्र व्रत होता है ॥ ३२१ ॥

तुलापुरुषाख्यं कृच्छ्रमाह—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।

तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥

एषां पिण्याकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहव्यापी तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः । अत्र च पञ्चदशाहिकस्वविधानादुपवासस्य निवृत्तिः ॥ यमेन स्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्तः—आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तुकान् । ज्यहं ज्यहं प्रयुञ्जानो वायुमक्षी ज्यहद्वयम् ॥ एकविंशतिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते ॥' इति । अत्र हारीताणुकृतिकर्तव्यता ग्रन्थगौरव-भयान्न लिख्यते ॥ ३२२ ॥

भाषा—इन पिण्याक आदि में क्रमशः एक-एक का तीन-तीन दिन तक सेवन करने पर पन्द्रह दिन का तुलापुरुष व्रत होता है ॥ ३२२ ॥

१. तिकृच्छ्रमित्युक्तं । २. सौम्याः कृच्छ्रोऽयमुच्यते । ३. उपयुज्य । ३. यथाविधि ।

चान्द्रायणमाह—

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।

एकैकं हासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणाख्यं व्रतं कुर्वन् मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले आपूर्य-
माणपक्षे तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत् । यथा प्रतिपत्प्रभृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो
वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपद्येको द्वितीयायां द्वाविंशत्येवमेकैकशो वर्ध-
यन् भक्षयेद्यावत्पौर्णमासी । ततः पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वा ततः
कृष्णपक्षे चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेत्येवमेकैकशो ग्रासान् हासयन्-
शनीयाद्यावच्चतुर्दशी । ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं प्रसिस्वा इन्दुक्षयेऽर्धादुपवसेत् ।
तथा च वसिष्ठः—‘एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च हासयेत् । इन्दुक्षये न
भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥’ इति । चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मि-
न्कर्मणि हासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः । इदं च यववत् प्रान्त-
योरणीयो मध्ये स्थवीय इति यवमध्यमिति कथ्यते । एतदेव व्रतं यदा कृष्ण-
पक्षप्रतिपदि प्रक्रम्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठायते तदा पिपीलिकावन्मध्ये हसिष्ठं भव-
तीति पिपीलिकमध्यमिति कथ्यते । तथा हि—पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि
चतुर्दश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकग्रासापचयेन चतुर्दशीं यावद् भुञ्जीत । तत-
श्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं प्रसिस्वाऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपद्येकमेव ग्रासं
प्राशनीयाद् । तत एकैकोपचयभोजनेन पक्षशेषे निर्वर्त्यमाने पौर्णमास्यां पञ्चदश
ग्रासाः संपन्नन्त इति युक्तैव पिपीलिकामध्यता । तथा च वसिष्ठः—‘मासस्य
कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश । ग्रासापचयभोजी सन् पक्षशेषं समापयेत् ।
तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् । ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं
समापयेत् ॥’ इति । यदा त्वेकस्मिन्पक्षे तिथिवृद्धिहासवशात् षोडश दिनानि
भवन्ति चतुर्दश वा तदा ग्रासानामपि वृद्धिहासौ वेदितव्यौ । ‘तिथिवृद्ध्या
पिण्डांश्चरेत्’ इति नियमात् । गौतमेनात्र विशेषो दर्शितः—‘अथातश्चान्द्रायणं
तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे वपनं च व्रतं चरेत् शोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् आप्या-
यस्व संतेपयांसि नवोनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चाशुमन्त्रणमु-
पस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवहेडनमिति चतसृभिराज्यं जुहुयाद्देवकृतस्येति चान्ते
समिद्धिभिः ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं यज्ञः
धीः ऊर्कं इत् भोजः तेजः पुरुषः धर्मः शिवः इत्येतेर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं
मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव ग्रासान्भुञ्जीत । तद्ग्रासप्रमाणमास्याधि-
कारेण चरुमैत्रसक्तुकणयावकशाकपयोदविधृतमूलफलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं

प्रशस्यानि । पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकापचयेनापरपञ्चम-
शनीयात् । अमावास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षं विपरीतमेकेषामेव चान्द्रायणो
मासः' इति । अत्र ग्रासप्रमाणमास्याधिकारेणेति यदुक्तं,—तद्गालाभिप्रायम् ।
तेषां शिष्यण्डपरिमितपञ्चदशग्रासभोजनाशक्तेः । क्षीरादिहविषु शिष्यण्डपरि-
मितत्वं तु पर्णपुटकादिना संपादनीयम् । तथा कुक्कुटाण्डार्द्रामलकादीनि तु
ग्रासपरिमाणानि स्मृत्यन्तरोक्तानि शक्तिविषयाणि शिष्यण्डपरिमाणान्छुत्वा-
त्तेषाम् । यत्पुनरत्र 'श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्' इत्यत्र चतुर्दश्यामुपवासम-
भिधाय 'पौर्णमास्यां पञ्चदशग्रासान्भुक्त्वा' इत्यादिना द्वात्रिंशदहरात्मकत्वं
चान्द्रायणस्योक्तं तत्पश्चान्तरप्रदर्शनार्थं न सार्वत्रिकम् ; योगीश्वरवचनानुरोधेन
त्रिंशदहरात्मकस्य दर्शितत्वात् । यद्येतत्सार्वत्रिकं स्यात्तदा नैरन्तर्येण संवत्सरे
चान्द्रायणानुष्ठानानुपपत्तिः स्यात् । चन्द्रगत्यनुवर्तनानुपपत्तिश्च ॥ ३२३ ॥

भाषा—शुक्लपक्ष में तिथि की वृद्धि के साथ मयूर के अण्डे के बराबर
एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए फिर कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास घटाते हुए भोजन
करने पर चान्द्रायण व्रत होता है ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणान्तरमाह—

यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।

मासेनैवोपभुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥

पिण्डानां चत्वारिंशदधिकं शतद्वयं मासेन भुञ्जीत । यथाकथंचित्प्रतिदिनं
मध्याह्नेऽष्टौ ग्रासान्, अथवा नक्तंदिनयोश्चतुरश्वतुरो वा, अथवैकस्मिंश्चतुरोऽ-
परस्मिन्द्वादश वा तथैकरात्रमुपोष्यापरस्मिन्षोडश वेत्यादिप्रकाराणा-
मन्यतमेन शक्याद्यपेक्षया भुञ्जीतेत्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयादपरं चान्द्रायणम् ।
अतस्तयोर्नायं ग्राससंख्यानियमः, किंतु पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयसंख्यैव । मनुना
चैते प्रकारा दर्शिताः (११।२।१८-२२०)—'अष्टावष्टौ समशनीयात्पिण्डान्मध्य-
न्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्यस्य यतिश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ चतुरः प्रातरशनी-
यात्पिण्डान्विप्रः समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ यथा-
कथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः । मासेनाशनन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति
सलोकताम् ॥' इति । तथा चत्वारिंशच्छतद्वयन्यूनसंख्याग्राससंपाद्यस्यापि
संग्रहार्थं 'अपर' ग्रहणम् । यथाह यमः—'त्रींक्षीन्पिण्डान्समशनीयास्त्रियतात्मा
दृढव्रतः । हविष्याक्षस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥' इति । एषु च
यतिश्चान्द्रायणप्रभृतिषु चन्द्रगत्यनुसरणमपेक्षितम् । अतस्त्रिंशद्दिनात्मकसाधा-

रणेन मासेन नैरन्तर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्तिथिवृद्धि-
हासवशात् पञ्चम्यादिवारम्भो भवति तथापि न दोषः । यदपि सोमायनाख्यं
मासव्रतं मार्कण्डेयेनोक्तम्—‘गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेःस्तनचतुष्टयात् । स्तनत्र-
यासप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥ स्तनेनैकेन षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुरभवेत् ।
एतःसोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम् ॥’ इति । स्मृत्यन्तरे ‘सप्ताहं चेयेत-
द्गोस्तनमखिलमथ त्रींस्तनान्द्वौ तथैकं कुर्यात्त्रींश्चोपवासान्यदि भवति तदा
मासि सोमायनं तत्’ इति,—तदपि चान्द्रायणकर्मकमेव । हारीतेनापि ‘अथात-
श्चान्द्रायणमनुक्रमिष्ये’ इत्यादिना सेतिकर्तव्यताकं चान्द्रायणमभिधायैवमेव
सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात् । यत्पुनस्तेन कृष्णचतुर्थीमारभ्य शुक्लद्वादशी-
पर्यन्तं सोमायनमुक्तम् । चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं
द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं
‘या ते सोम चतुर्थी तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा, या ते सोम पञ्चमी
षष्ठीत्येवं यागार्थास्तिथिहोमा एवं स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां
सायुज्यं च गच्छति’ इति चतुर्विंशतिदिनारमकं सोमायनमुक्तं,—तदशक्तविष-
यम् ॥ ३२४ ॥

भाषा—अथवा जिस किसी प्रकार एक मास में दो सौ चालीस प्रास
भोजन करे तो चान्द्रायण व्रत होता है ॥ ३२४ ॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—

कुर्यात्त्रिषवणस्नानी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।

पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥ ३२५ ॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिषवणस्नानयुक्तः कुर्यात् ।—
एतच्च तत्कृच्छ्रव्यतिरेकेण । तत्र ‘सकृत्स्नानी समाहितः’ इति मनुना विशेषाभि-
धानात् ॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिषवणस्नानमभिहितम्—‘त्रिरह्नि त्रिर्नि-
शायां तु सवासा जलमाविशेत्’ इति,—तदशक्तविषयम् । यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैका-
लिकं स्नानमुक्तम्—‘स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः’ इति,—तत्त्रिष-
वणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्ग्येणोक्तम्—‘एकवासाश्चरेद्भैक्षं स्नात्वा
वासो न पीडयेत्’ इति,—तदपि शक्तस्यैव, ‘एकवासा भार्गवासा वा लघ्वाशी स्थ-
ण्डिलेशयः’ इत्येकवस्त्रताया अपि शङ्खेन पाक्षिकत्वेनाभिधानात् । स्नाने च हारी-
तेन विशेष उक्तः—‘अथर्वं शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौत-
महत्तं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत्’ इति । स्नानानन्तरं च

पवित्राणि जपेत् । पवित्राणि च 'अधमर्षणं देवकृतः शुद्धवत्यस्तरत्समाः' इत्यादीनि वसिष्ठादिप्रतिपादितानामन्यतमान्यथाविरुद्धेषु कालेषु अन्तर्जले जपेत् सावित्रीं वा । (११।२२५)—'सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः' इति मनुस्मरणात् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'रौरवयोर्धां जपेन्नित्यं प्रयुज्जीत' इति,—तदपि पवित्रत्वादेवोक्तं, न पुनर्नियमाय; तथा सति श्रुत्यन्तरमूलत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । अतोऽनधीतसामवेदेन गायत्र्यादिकमेव जप्तव्यम् । यदपि 'नमो हमाय मोहमाय' इत्यादि पठित्वा एता एवाज्याहुतयः' इत्युक्तं,—तदपि न नैयमिकं किंतु 'महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम्' (११।२२२) इति मनुना महाव्याहृतिभिर्होमविधानात् ॥ तथा षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'जपहोमादि यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा संभवेन्न चेत् । सर्वं व्याहृतिभिः कुर्याद्वायत्र्या प्रणवेन च ॥' इति । 'आदि'ग्रहणाद्बुद्धकतर्पणादित्योपस्थानादेर्ग्रहणम् । अत एव वैशम्पायनः—'स्त्रास्वोपतिष्ठेदादित्यं सौरीभिस्तु कृताञ्जलिः' इति । एवमन्येष्वपि विरोधिपदार्थेषु विकल्प आश्रयणीयः । अविरोधिषु समुच्चयः । शास्त्रान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मणः ॥ जपसंख्यायां विशेषस्तेनैव दर्शितः—'ऋषभं विरजं चैव तथा चैवाधमर्षणम् । गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम् ॥ शतमष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् । उपांशु मनसा वापि तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ मनुष्यांश्चैव भूतानि प्रणश्य शिरसा ततः ॥' इति । तथा पिण्डांश्च प्रत्येकं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् । तथा यमेनापि विशेष उक्तः—'अङ्गुल्यग्रस्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् । प्राश्याचम्य पुनः कुर्यादन्यस्याप्यभिमन्त्रणम् ॥' इति । अतश्च ॐ भूर्भुवःस्वरित्यादिभिर्गौतमोक्तैरभिमन्त्रणमन्त्रैः सहस्य विकल्प उक्तः । यत्पुनराप्यायस्व संतेप्यांसीत्यादिभिः पिण्डकरणात्पूर्वं हविषोऽभिमन्त्रणमुक्तं,—तद्विज्ञकायत्वारसमुच्चीयते । एतानि च कृच्छ्रादिव्रतानि यदा प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठीयन्ते तदा केशादिवपनपूर्वकं परिगृहीतव्यानि; 'वापनं व्रतं चरेत्' इति गौतमस्मरणात् । अभ्युदयार्थं तु नैव वपनम् । वसिष्ठेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'कृच्छ्राणां व्रतरूपाणां शमश्रुकेशादि वापयेत् । कुचिरोमशिखावर्ज्यम्' इति । कृच्छ्राणां व्रतरूपाणि वपनादीन्यङ्गानि वक्ष्यन्त इति शेषः । पर्वदुपदिष्टव्रतग्रहणं च व्रतानुष्ठानदिवसात्पूर्वेषु सायाह्ने कार्यम् । यथाह वसिष्ठः—'सर्वपापेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकम् । ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्ते चिकीर्षिते ॥ दिनान्ते नखरोमादीन्प्रवाप्य स्नानमाचरेत् । भस्मगोमयमृद्धारिपञ्चगव्यादिकल्पितैः ॥ मलापकर्षणं कार्यं बाह्यशौचोपसिद्धये । दन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संयुतम् ॥ व्रतं निशामुखे ग्राह्यं बहिस्तारकदर्शने । आचम्यातः परं मौनी ध्यायन्दुष्कृतमात्मनः ॥

मनःसंतापनं तीव्रमुद्वेष्ट्येकमन्ततः ॥' इति । बहिरिति ग्रामाद्वह्निर्निष्कस्य ।
स्त्रियाप्येवमेव व्रतपरिग्रहः कार्यः । केशश्मश्रुलोमनस्वपनं तु नास्ति; 'चान्द्रा-
यणादिष्वेतदेव स्त्रियाः केशवपनवर्ज्यम्' इति बौधायनस्मरणात् ॥

वपनानिच्छोस्तु हारीतेन विशेष उक्तः—'राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा
बहुश्रुतः । केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ केशानां रक्षणार्थं तु
द्विगुणं व्रतमाचरेत् । द्विगुणे तु व्रते चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥' इति । एतच्च
महापातकादिदोषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्—'विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केश-
चापनम् । व्रते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥' इति मनुस्मरणात् ।
जाबालेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः ।
अक्षेनैव च शालाग्रौ जुहुयाद् व्याहृतीः पृथक् ॥ श्राद्धं कुर्याद् व्रतान्ते तु गोहिरण्यदि
दक्षिणा' इति । यमेनाप्यत्र विशेषोऽभिहितः—'पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नानं
चाङ्गतयोदितम् । नैमित्तिकानां सर्वेषां तथा चैवानुकीर्तनम् ॥' तथा—'गात्रा-
भ्यङ्गशिरोभ्यङ्गौ तावूलमनुलेपनम् । व्रतस्थो वर्जयेत्सर्वं यच्चान्यद्वलरागकृत् ॥'
इति । एवमादिकर्तव्यताजातं स्मृत्यन्तरादन्वेष्टव्यम् । एवमनेन विधिना व्रतं
गृहीत्वाऽवश्यं परिसमापनीयम् , अन्यथा तु प्रत्यवायः; 'पूर्वं व्रतं गृहीत्वा तु
नाचरेत्काममोहितः । जीवन्भवति चाण्डालो मृतः श्वा चैव जायते ॥' इति
छागलेयस्मरणात् । इत्थलं प्रपञ्चेन ॥ ३२५ ॥

भाषा—प्राजापत्य आदि कृच्छ्र व्रत और चान्द्रायण व्रत तीनों सवन
में (प्रातः, मध्याह्न, एवं सायं) स्नान करते हुए करे । पवित्र मंत्रों का जप
करे और भोजन के प्रत्येक ग्रास को गायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित करे ॥ ३२५ ॥

इत्थमुक्तविनियोगस्य चान्द्रायणादेः स्वरूपमभिधाय लब्धप्रसङ्गकार्यान्त-
रेऽपि विनियोगमाह—

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन च ।

धर्मार्थं यश्चरेदेतच्छब्दस्यैति सलोकताम् ॥ ३२६ ॥

आदिश्यत इत्यादिष्टं प्रायश्चित्तं न विद्यते आदिष्टं येषु पापेषु तेषु चान्द्रा-
यणेन शुद्धिः । 'च'शब्दात्प्राजापत्यादिभिः कृच्छ्रैरैन्दवसहितैस्तस्मिन्निपेक्षैर्वा शुद्धिः ।
तथा च षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'यानि कानि च पापानि गुरोर्गुरुतराणि च ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्रैः शोध्यन्ते मनुरब्रवीत् ॥' इति त्रयाणां समुच्चयः प्रति-
पादितः । उशनसा तु द्वयोः समुच्चय उक्तः—'दुरितानां दुरिष्टानां पापानां
महतामपि । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । दुरितमुप-

१. द्विगुणे व्रत आचीर्णे । २. दोषव्यतिरेकेण । ३. आज्येनैवेति ।

४. तु । ५. चान्द्रैस्त्विति ।

पातकम् , दुरिष्टं पातकम् । गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रा-
यश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोः सूचिता । चान्द्रा-
यणस्य निरपेक्षता 'इति'शब्देन च त्रयाणां समुच्चयः । केवलप्राज्ञापत्यस्य तु
निरपेक्षं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'लघुदोषे खनादिष्टे प्राज्ञापत्यं समाचरेत्'
इति । गौतमेनापि प्राज्ञापत्यादेनैरपेक्षत्वमुक्तम्—'प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः
कर्मण्यो भवति, द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्र-
मुच्यते, तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति महापातकादपीत्यभिप्रेतम् ।
मनुनाप्युक्तम् (११।२।१५)—'पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः'
इति । हारीतेनाप्युक्तम्—'चान्द्रायणं यावकश्च तुलापुरुष एव च । गवां चैवा-
नुगमनं सर्वपापप्रणाशनम् ॥' तथा—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोद-
कम् । एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' तथा तप्तकृच्छ्रमधिकृत्यापि
तेनैवोक्तम्—'एष कृच्छ्रो द्विरभ्यस्तः पातकेभ्यः प्रमोचयेत् । त्रिरभ्यस्तो यथा-
न्यायं शूद्रहत्यां व्यपोहति ॥' इति । उशनसा चोक्तम्—'यत्रोक्तं यत्र वा
नोक्तं महापातकनाशनम् । प्राज्ञापत्येन कृच्छ्रेण शोधयेन्नात्र संशयः ॥' इति ।
एतानि प्राज्ञापत्यादीन्यनादिष्टेषूपपातकादिषु सकृदभ्यासापेक्षया व्यस्तानि वा
योजनीयानि । तथा आदिष्टव्रतेष्वपि महापातकादिषु अभ्यासापेक्षया योजनी-
यानि । अत एव यमेनोक्तम्—'यत्रोक्त'मित्यादि । गौतमेनाप्युक्तनिष्कृतीनां
संग्रहार्थं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम् । तथा यद्यपि तेनैवोक्तम्—'द्वितीयं चरित्वा
यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते' इत्युक्त्वा 'तृतीयं चरित्वा
सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति,—तदपि महापातकाभिप्रायं नतु क्षुद्रपातकाभि-
प्रायम् । नच महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं संभवति, तस्मादुक्तनिष्कृतिकेष्वपि
प्राज्ञापत्यादयो योजनीयः । तत्र द्वादशवार्षिकव्रते द्वादशद्वादशदिनान्येकैकं
प्राज्ञापत्यं परिकल्प्य गण्यमाने प्राज्ञापत्यानां षष्ठ्यधिकशतत्रयं द्वादशवार्षिके
वैकल्पिकमनुष्ठेयं भवति । तदशक्तौ तावत्यो वा धेनवो दातव्याः । तदसंभवे
निष्काणां षष्ठ्यधिकशतत्रयं दातव्यम् । तथा स्मृत्यन्तरम्—'प्राज्ञापत्यक्रियाऽ-
शक्तो धेनुं दद्याद्विचक्षणः । धेनोरभावे दातव्यं मूत्रं तुल्यमसंशयम् ॥ मूल्या-
र्धमपि निष्कं वा तदर्धं शक्यपेक्षया । गवामभावे निष्कः स्यात्तदर्धं पाद-
एव वा' इति स्मरणात् । मूल्यदानस्याप्यशक्तौ तावन्तो वोदवासाः कार्याः ।
तत्राप्यशक्तौ गायत्रोजपः षट्त्रिंशलक्षसंख्याकः कार्यः; 'कृच्छ्रोऽयुतं तु गाय-
त्र्या उदवास्तस्यैव च । धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयम् ॥' इति परा-
शरस्मरणात् । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'गायत्र्यास्तु जपन्कोटिं ब्रह्म-

हृत्वां व्यपोहति । लघाशीति जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमह-
 तारं गायत्र्या लघुसप्ततिः । गायत्र्याः षष्टिभिर्लघुमुच्यते गुरुतत्पगः ॥'
 इति,—तत् द्वादशवार्षिकतुल्यविधानतयोक्तं; न पुनरशक्तविषयमिति न
 विरोधः । एवमन्येऽपि—‘कृच्छ्रो देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम् । तिल-
 होमसहस्रं तु वेदपारायणं तथा ॥’ इत्यादयः प्रत्याग्नायाश्चतुर्विंशतिमतादि-
 शास्त्राभिहिताः षष्ठ्यधिकत्रिशतगुणिता महापातकेषु बोद्धव्याः । अति-
 पातकेषु सप्तत्यधिकशतद्वयं प्राजापत्यानां कर्तव्यम् । तावन्तो वा
 धेन्वादयः प्रत्याग्नायाः । पातकेषु साशीतिशतं प्राजापत्याः प्रत्याग्नायाः
 धेन्वादयस्तावन्त एव वा । यथा चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—‘जन्मप्रभृति
 पापानि बहूनि विविधानि च । कृत्वाऽर्वाग् ब्रह्महत्यायाः षड्बन्धं व्रतमाचरेत् ॥
 प्रत्याग्नाये गवां देयं साशीति धनिना शतम् । तथाऽष्टादशलघाणि गायत्र्या
 वा जपेद् बुधः ॥’ इति । इदमेव द्वादशवार्षिके व्रते द्वादशद्वादशदिनैरेकैकप्राजा-
 पत्यकल्पनायां लिङ्गम् । एवमुपपातकेषु त्रैवार्षिकप्रायश्चित्तविषयभूतेषु नवति-
 प्राजापत्यास्तावन्तः प्रत्याग्नायाः । त्रैमासिकविषयेषु पुनः सार्धसप्तप्राजापत्याः
 प्रत्याग्नायाश्च धेनूदवासादयस्तावन्त एव । मासिकव्रतविषयेषु तु सार्धं प्राजा-
 पत्यद्वयं तावानेव वा प्रत्याग्नायः । चान्द्रायणविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु
 प्राजापत्यत्रयम् । तदशक्तस्य प्रत्याग्नायस्तावानेव । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतेऽ-
 भिहितम्—‘अष्टौ चान्द्रायणे देवाः प्रत्याग्नायविधौ सदा’ इति,—तदपि
 धनिनः पिपीलिकामध्यादिचान्द्रायणप्रत्याग्नायविषयम् । मासातिकृच्छ्रविषय-
 भूतेषु पुनरुपपातकेषु सार्धसप्तप्राजापत्याः प्रत्याग्नायाश्च धेन्वादयस्तावन्त
 एव । ‘प्राजापत्ये तु गामेकां दद्यात्सान्तपने द्वयम् ; पराकृतसातिकृच्छ्रे तिस्र-
 स्तिस्त्रस्तु गास्तथा ॥’ इति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् । एतच्च ‘एकैकं प्रास-
 मशनीयादि’त्यामलकपरिमितैकैकप्रासपक्षे वेदितव्यम् । पाणिपूरान्नभोजनपक्षे
 पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यस्य षडुपवासतुल्यत्वात् तद्विगुणत्वाच्चातिकृच्छ्रस्य ।
 यद्यपि नवसु दिनेषु पाणिपूरान्नस्न भोजनं, तथापि नैरन्तर्येण द्वादशदिव-
 सानुष्ठाने क्लेशातिशयात्षडहोपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुल्यत्वमेव । प्राजाप-
 त्यस्य च षडुपवासतुल्यत्वं युक्तमेव । तथा हि—प्रथमेऽप्यहे सायंतनभोजनत्रय-
 निवृत्तावेकोपवाससंपत्तिः । द्वितीयेऽप्यहे प्रातःकालभोजनत्रयनिवृत्तिपरस्य ।
 तथा च अयाचितत्रयहेऽपि सायंतनभोजनत्रयवर्जनेऽपरस्येत्येवं नवभिर्दिनैरुप-

१. प्राजापत्यानां प्रत्याग्नायधेन्वादयः । २. तदतिधनिनः । ३. पराक-
 तसातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्त्रस्तु गास्तथा । ४. तुल्यत्वाद् द्विगुणत्वाच्च । ५. त्रय-
 वर्जनपरस्य । ६. भोजनवर्जनेऽन्यस्येति ।

१. ततश्चान्यथ्यहे । २. स्नानादीतिकर्तव्यता । ३. अन्यद्वा पावनं
किंचित्सममाहुर्मनीषिणः ।

न्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रत्याग्नायाद्युक्तम्—‘चान्द्रायणं मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिस्तथैव च । मित्रविन्दापशुश्चैव कृच्छ्रं मासत्रयं तथा ॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम् । इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरवः स्मृताः ॥’ इति,—तदपि चान्द्रायणाशक्तस्य । यत्तु ‘कृच्छ्रं मासत्रयं तथा’ इति कृच्छ्राष्टकं प्रत्याग्नातं,— तदपि जरठमूर्खविषयम् । चान्द्रायणं त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादित्यलं प्रपञ्चेन । प्रकृतमनुसरामः—यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थ-मेतच्चान्द्रायणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसालोक्यं स्वर्गविशेषं प्राप्नोति । एतच्च संवत्सरावृत्त्यभिप्रायेण । ‘एकमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति, द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान्दशापरानात्मानं चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति, संवत्सरं चाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोती’ति गौतमस्मरणात् ॥ २२६ ॥

भाषा—जिन पापों के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है उनकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत से होती है । जो धर्म के लिये यह व्रत करता है वह चन्द्रलोक को जाता है ॥ ३२६ ॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ।

यथा गुरुकतुफलं प्राप्नोति सुसमाहितः ॥ ३२७ ॥

किंच, यस्त्वभ्युदयकामः प्राजापत्यादिकृच्छ्राननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियं विभूतिमनुभवति । यथा गुरुकतूनां राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते, तथायमपि सुसमाहितः सकलाङ्गकलाप-मविकलमनुतिष्ठन्निति फलमहिमप्रकाशनार्थं क्रतुदृष्टान्तकीर्तनम् । ‘सुसमाहित’ इत्यनेनाविकलशास्त्रानुष्ठानं वदन्काम्यकर्मतयाङ्गवैकल्ये फलासिद्धिं द्योतयति । अतो नात्र प्रायश्चित्तेष्विव यावत्संभवाङ्गानुष्ठानमङ्गीकरणीयमिति दूरोत्सारितं प्रत्याग्नायोपादानम् । कृच्छ्राद्यनुष्ठानावृत्तौ तु ‘अधिकारिणः फलावृत्तिः कर्मण्यारम्भभाष्यत्वादि’ति न्यायलभ्या स्थितैवेति नेदमविवक्षितम् ॥ ३२७ ॥

भाषा—जो धर्म (अभ्युदय) की इच्छा से कृच्छ्र व्रत करता है वह उसी प्रकार अत्यन्त प्रचुर (राज्य आदि) विभूति प्राप्त करता है जिस प्रकार बड़े यज्ञों (राजसूय आदि) का कर्ता उनके फल पाता है ॥ ३२७ ॥

प्रागुदिताखिलार्थोपसंहारव्याजेन धर्मशास्त्रधारणादिविधीन् सार्थवादान् प्रार्थनावरदानरूपेण प्रतिपादयितुमाह—

‘श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्याज्ञवल्क्येन भाषितान् ।

इदमूचुर्महात्मानं योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२८ ॥

अत्र हि वर्णाश्रमादिभ्यामृता धर्माः षट्प्रकाराः प्रतिपादिताः तानखिलान् योगीश्वरभाषितान् ऋषयः श्रुत्वा प्रहर्षोत्फुल्ललोचनास्तं महिमगुणशालिनमचिन्तनीयशक्तिविभवमिदमभिधास्यमानमूचिवांसः ॥ ३२८ ॥

भाषा—ऋषियों ने याज्ञवल्क्य द्वारा बताये गये इन धर्मों को सुनकर महात्मा, योगिराज और अत्यन्त तेजस्वी (याज्ञवल्क्य) से कहाः ॥ ३२८ ॥

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिताः ।

इह लोके यशः प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥ ३२९ ॥

विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां धनकामो धनं तथा ।

आयुष्कामस्तथैवायुः श्रीकामो महतीं श्रियम् ॥ ३३० ॥

श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः श्राद्धे श्रावयिष्यति ।

पितॄणां तस्य तृप्तिः स्यादक्षय्या नात्र संशयः ॥ ३३१ ॥

ब्राह्मणः पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।

वैश्यश्च धान्यधनवानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२ ॥

इत्थमृजवर्थैः श्लोकैः सामश्रवःप्रभृतयोऽनेकधा प्रार्थयन्ते स्म ॥ ३२९-३३२ ॥

भाषा—जो आलस्य का त्याग करके इस धर्मशास्त्र को धारण करते हैं वे इस संसार में यश प्राप्त करके मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग पाते हैं । विद्यार्थी हो तो उसे विद्या मिले, धन की इच्छा रखने वाले को धन मिले, आयु (दीर्घजीवन) की इच्छा वाला दीर्घजीवन और शोभा या सम्पत्ति की इच्छा वाला समृद्धि प्राप्त करे ॥ ३२९-३३० ॥

भाषा—जो श्राद्ध के समय इसके तीन श्लोकों को ही सुनावेगा उसके पितरों को अक्षय-तृप्ति प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं ॥ ३३१ ॥

भाषा—इस शास्त्र के अध्ययन से ब्राह्मण योग्य होता है, क्षत्रिय विजयी होवे, वैश्य धन-धान्य से समृद्ध होवे ॥ ३३२ ॥

अपरामपि प्रार्थनामाह—

य इदं श्रावयेद्विद्वान्द्विजान्पर्वसु पर्वसु ।

अश्वमेधफलं तस्य उद्भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

यस्त्विदं धर्मशास्त्रं प्रतिपर्वं द्विजान् श्रावयेत् तस्याश्वमेधफलं भवेदिति श्रवणविधयर्थवादः । तदेतदस्मत्प्रार्थितमर्थं सर्वत्र भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

भाषा—जो विद्वान् प्रत्येक पर्व में इसे द्विजो को सुनावे वह अवश्य ही अश्वमेध यज्ञ का फल पावे ऐसी अनुमति भी आप दें ॥ ३३३ ॥

वरदानमाह—

भ्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि प्रीतात्मा मुनिभाषितम् ।

एवमस्त्विति होवाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

एतद्विभिर्भाषितं श्रुत्वा योगीन्द्रोऽपि स्वनिर्मितधर्मशास्त्रधारणादिकलप्रार्थ-
नोन्मीलितमुखपङ्कजः स्वयंभुवे ब्रह्मणे नमस्कृत्य प्रणम्य 'भवत्प्रार्थितं सकलमि-
भवतु' इत्येवं किल भगवान्बभाषे ॥ ३३४ ॥

भाषा—मुनियों के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नचित्त योगिराज याज्ञ-
वल्क्य ने स्वयंभू ब्रह्मा को नमस्कार करके कहा 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ॥

इति श्रीभारद्वाजपक्षनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजक-

विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र-

विवृतौ प्रायश्चित्ताध्यायस्तृतीयः समाप्तः ॥



टिप्पणी (नोट्स)

आचाराध्यायः

वन्दे निर्द्वन्द्वमानन्दममन्दानन्द-मन्दिरम् ।
 वन्दारु-वृन्दार-वृन्द-वन्दितं नन्द-नन्दनम् ॥ १ ॥
 नमामि-विधिवल्लक्ष्मीनाथं धीरं महागुरुम् ।
 याज्ञवल्क्यं महर्षिं च सज्जानोद्धूत-कल्मषम् ॥ २ ॥
 यद्यप्युच्छिष्टमाचार्यैः न विशिष्टमिदम्भवेत् ।
 तथाऽपि शिष्टोपदिष्टं परिशिष्टं प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

श्लो० १—योगीश्वरम्—अत्र कर्मधारयः, षष्ठी-तत्पुरुषे षष्ठ्यर्थ-लक्षणा-
 प्रसङ्गात्—अपरार्क ।

वर्णाश्रमेतराणाम्—यह तो स्मृति का विषय बतलाया गया है ।
 धर्मान्—यहाँ बहुवचन से नित्य, नैमित्तिक तथा काश्य का परिग्रह
 हुआ है ।

श्लो० २—मृगः कृष्णः—कृष्णशब्दो हरिण-वचनः, मृगपदं च तात्पर्य-
 ग्राहकम्—अपरार्क । कृष्ण-मृग-युक्त देश के विषय में मनु का वचन हैः—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥

श्लो० ४—५—इनके विषय में प्रस्तावना द्रष्टव्य है ।

श्लो० ७—श्रुति तथा स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति प्रबल
 होती हैः—

श्रुति-स्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । (जाबाल-स्मृति)

जैमिनि का भी यही मत हैः—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् असति ह्यनुमानम् ।

सदाचारः—सदाचार की परिभाषा मनु ने की हैः—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

विष्णु-पुराण में सदाचार शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में की गई है:—

साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः ।

तेषामाचरणं यस्मात् सदाचारः स उच्यते ॥

क्षी-शब्द आदि के वेदाऽविरुद्ध आचार भी सदाचार हैं । अत एव आपस्तम्ब का कथन है:—

क्षीर्यश्चावरवर्णैर्यो धर्मशेषान् प्रतीयात् इत्येके इत्येके ॥

प्रियमात्मनः—यदि श्रुतिद्वैध हो । अत एव मनु का कथन है:—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

गौतम का भी वचन है:—

तुल्यबल-विरोधे विकल्पः ॥

विकल्प होने पर आत्म-तुष्टि प्रमाण है । यही बात गर्ग के द्वारा भी बतलाई गई है:—

विकल्पे स्वार्थ-तुष्टिः-प्रमाणम् ॥

श्लो० ८—आत्मदर्शनम्—इस प्रसङ्ग में स्मृति-मुक्ताफलोक्त बृहस्पति-वचन भी द्रष्टव्य है:—

भोगैश्वसक्तिः सततं तथैवार्थमावलोकनम् ।

श्रेयः परं मनुष्याणाम् प्राह पञ्चशिखो मुनिः ॥

श्लो० ९—वीरमित्रोदय में यम का भी कथन है:—

एको द्वौ वा त्रयो वापि यद् ब्रूयुर्धर्मपाठकाः ।

स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥

वहीं धर्म-पाठक का लक्षण भी दिया गया है:—

वेदविद्याव्रतस्नातः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।

अनेकधर्म-शास्त्रज्ञः प्रोच्यते धर्मपाठकः ॥

अध्यात्मवित्तमः = कृतात्मसाक्षात्कारः—ऐसी व्याख्या शूलपाणि ने की है ।

श्लो० ११—ऋतुकाल के विषय में बृहस्पति का वचन प्रयोगपारिजात में लिखित है:—

निशाकोदशकं नारी संज्ञितर्तुमती तु सा ।

तावद्योग्या प्रजास्थाने विनाऽऽप्ताहं तुल्यम् ॥

इसमें भी कुछ विशेषता आचारादर्श में बतलाई गई है:—

ऋतुकालाभिगमनं पुंसा कार्यं विशेषतः ।

सदैव पर्ववर्जं तु स्त्रीणामभिमतं हि तत् ॥

सीमन्त-काल के विषय में वीरमित्रोदय में बृहस्पति का वचन इस प्रकार है:—

रोहिण्यैन्दवमादिष्यपुण्यहस्तोत्तरात्रयम् ।

पौष्णं वैष्णवभं चैव सीमन्ते दश संस्मृताः ॥

जातकर्म-समय का निर्देश मनुस्मृति में इस तरह है:—

प्राङ्नाभिवर्धनापुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥

नाभिवर्धन का अर्थ है नाभिच्छेदन ।

श्लो० १२—नामकरण के विषय में मनु का कथन है:—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥

इस प्रसङ्ग में विशेष बात वीरमित्रोदय में उद्धृत बृहस्पति के वचन में मिलती है :—

दशाहे द्वादशाहे वा जन्मतोऽपि त्रयोदशे ।

षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात् ॥

गोभिल ने “जननाद्दशरात्रे व्युष्टे (= व्यतीते) शतरात्रे संवत्सरे वा नाम-धेयकरणम्” ऐसा कहा है ।

नाम-करण-स्वरूप के विषय में विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोक हैं :—

शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति चतुसंयुतम् ।

गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥

स्त्री के नाम के स्वरूप के विषय में विशेष बात मनुस्मृति में है :—

स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥

चतुर्थे मासि निष्क्रमः—“पुतच्च छन्दोगव्यतिरिक्तपरम्” ऐसा शूलाणि का मत है । मनु का विशेष मत इस प्रकार है :—

‘वद्रेष्टं मङ्गलं शुभे !’ इसीलिपि यम ने कहा है :—‘ततस्त्वृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ॥’ गोभिल ने तो और भी विशेष बतलाया है :—

‘जननाद्यस्तृतीयो ज्योत्स्नः तस्य तृतीयायाम् ।’ इति ॥

बृहस्पति ने इस विषय में विशेष बात कही है :—

स्वस्तिवाच्य समारूढवाहनं निर्ययेद् गृहात् ।

मातुलो वा वहेत्तत्र निर्वाहनशिशुं स्वयम् ।

शिशुना सह मित्राणि निर्ययुष्म गृहास्वयम् ॥

इत्यादि ।

षष्ठेऽष्टप्राशनमिति—लौगाक्षि का मत है :—

‘षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् , जातेषु दन्तेषु वा ।’

जातेषु दन्तेषु के द्वारा अष्टम मास अभिप्रेत है, कारण अष्टम मास ही दन्तोत्पत्ति की उचित अन्तिम अवधि है । अत एव संस्कार-कौस्तुभ में बृहस्पति की स्मृति है :—

बालानामष्टमे मासि षष्ठे मासि ततः पुनः ।

दन्ता यस्य न जायन्ते माता वा म्रियते पिता ॥

चूडा कार्येति—इस विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

तत्र तृतीयाब्द एव औत्सर्गिकश्चूडाकरणकालः कुलाचारनियमस्तु तस्या-
पवादः” यह शूलपाणि का मत है । अत एव आश्वलायन ने भी कहा है :—

‘तृतीये वर्षे चौलं, यथा कुलधर्मं वा ।’ तृतीय वर्ष में भी लौगाक्षि ने विशेष
बतलाया है :—‘तृतीये भूयिष्ठे गते चूडा ।’ इति ।

यहीं कर्णवेध भी प्रशस्त है । कर्णवेध का काल बृहस्पति ने बत-
लाया है :—

कात्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा ।

कर्ण-वेधप्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥

द्वितीया दशमी षष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी ।

द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥

सूची (वेधनी) के विषय में वीरमित्रोदय में बृहस्पति का कथन
उद्धृत है :—

सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः ।

शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका ॥

आयसी—अर्थात् छोटे की बनी हुई ।

चूडाकरण में प्रतिबन्धक तत्त्व संस्कारमयूख में बताया गया है :—

गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्याच्चौलकर्म तु ।

पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥

श्लो० १४—‘उपनायनमित्यत्र ण्यन्तप्रयोगादुपनयनमन्यद्वारा अपि कर्त्तव्यम्’ यह शूलपाणि का मत है ।

बृहस्पति ने विशेषता बतलाई है :—

द्वितीयजन्मनः पूर्वमारभेताक्षरान् सुधीः ।

मौञ्जीबन्धस्ततः पश्चाद्देदारम्भो विधीयते ॥

इस प्रसङ्ग में गौतम का मत निम्नलिखित है :—

उपनयनं ब्राह्मणस्य अष्टमे नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ।

राज्ञाम्—राजन् शब्द क्षत्रिय जाति का वाचक है ।

श्लो० १५—महाव्याहृति के विषय में मनु का कथन है :—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्त्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ॥

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥

गौतम तथा हरदत्त के अनुसार—भूः, भुवः, स्वः, पुरुषः तथा सत्यम् ये पाँच महाव्याहृतियाँ हैं । मूल में महाव्याहृति-पद प्रणव का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का वचन है :—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

क्षरस्यनोद्धृतं सर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥

श्लो० १६—कर्णस्थः = दक्षिण कर्ण पर स्थित । अत एव कहा गया है :—पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विष्मूत्रमाचरेत् ॥ यह नियम भी एक-वस्त्र-युक्त होने पर पालनीय है । अन्यथा निम्नलिखित यम-वचन के अनुसार कार्य करना चाहिए :—

कृत्वा यज्ञोपवीतन्तु पृष्ठतः कण्ठलिम्बितम् ॥

मुख-नियम भी सम्भव होने पर अनुसरणीय है । अन्यथा निम्न-निर्दिष्ट यम-वचन का आदर करना चाहिए :—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।

यथासुखमुखः कुर्यात् प्राण-बाध-भयेषु च ॥

श्लो० १७—मृद्धिः—संख्या-नियम मनुस्मृति में बतलाया गया है :—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रः तथैकत्र करे दश ।

उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥

एकत्र करे = वाम कर में । किन्तु यदि उपर्युक्त संख्या से शुद्धि नहीं हो सके तो संख्याधिक्य का भी अवलम्बन करना ही चाहिए । यदि तु उक्त संख्या से अल्प-संख्या के द्वारा भी शुद्धि हो जाय तब भी उपर्युक्त संख्या-नियम को अदृष्टार्थ मानना चाहिए ।

शौच के विषय में आश्रम का नियम मनु ने बतलाया है :—

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।

त्रिगुणं स्याद्भजनस्थानां यतीनान्तु चतुर्गुणम् ॥

यह नियम दिवा-शौच-विषयक है । रात्रि-शौच आदि के विषय में दक्ष का कथन निम्नलिखित है :—

यश्चोदितं दिवाशौचमर्धं रात्रौ विधीयते ।

आतुरस्य तदर्धं स्यात् तदर्धन्तु पथि स्मृतम् ॥

आतुर पद अर्थात्तुर का अभिधायक है । अत एव आपस्तम्ब का भी कथन है :—

आर्तः कुर्याद् यथाबलम् ॥

स्त्री-शूद्र आदि के शौच में संख्या-नियम नहीं है । अत एव देवल का वचन है :—

यावता मन्यते शुद्धिं शौचं कुर्वीत तावता ।

प्रमाणं द्रव्य-संख्या च न शिष्टैरुपदिश्यते ॥

श्लो० १८—अन्तर्जानु—देवल का मत इस विषय में यह है :—“शिखां चर्द्ध्वा वसित्वा” इति । ब्राह्मेण—यह प्रधान पत्र है । मनु ने पचान्तर भी बतलाये हैं :—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्य-कालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पिश्येण कदाचन ॥

त्रैदशिक = दैव-तीर्थ ।

श्लो० २०—खानि = शिरःस्थित इन्द्रियों को । अत एव गौतम का वचन है :—“खानि चोपस्पृशेत् शीर्षण्यानि ।” मनु ने कुछ विशेष बतलाया है :—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥

आत्मानम् = हृदय को, क्योंकि श्रुति में हृदय को आत्मा का स्थान बतलाया गया है :—

“हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।”

श्लो० २५—सन्ध्यामिति—अविद्यमानार्धाधिकमार्त्तण्डमण्डलः स्पष्टलक्ष्य-
नक्षत्रगणः कालविशेषः सन्ध्या—वीरमित्रोदय । सन्ध्या का लक्षण योगि-वाङ्-
वक्तव्य ने बतलाया है :—

त्रयाणां चैव देवानां ब्रह्मादीनां समागमः ।

सन्धिः सर्वसुराणां च सन्ध्या तेन प्रकीर्तिता ॥

सन्ध्या-फल का निर्देश मनु ने किया है :—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तित्थेन्नैशमेनो व्यपोहति ।

पश्चिमान्तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥

यहां अनध्यायादिप्रतिबन्ध नहीं है । अत एव मनु का कथन है :—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

अग्निकार्यम्—यह उपलक्षण है :—

अग्निन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥

अधःशय्याम् = अखट्वाशयनम् , न तु स्थण्डिलशायित्वमेव—कुण्डल-
भट्ट ।

श्लो० २६—अभिवादयेत् इति । अभिवादन का प्रकार मनु ने
बतलाया है :—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः श्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥

अभिवादन-वाक्य-प्रयोग के विषय में मनु का कथन है :—

अभिवादापरं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥

नामधेयस्य ये के चिदभिवादं न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥

भोः शब्दं कीर्त्तयेदन्ते स्वस्य नाग्नोऽभिवादने ।

और प्रत्यभिवादन-प्रकार भी मनु ने ही बतलाया है :—

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।

अकारश्चास्य नाग्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥

यहाँ अकार स्वरमात्र का उपलक्षक है, क्योंकि नाम में अकारान्तस्व
का नियम नहीं है ।

‘गुरुं चैवाप्युपासीत’ में उपासन का अर्थ प्रणाम से अतिरिक्त उपासना के लिए है, क्योंकि प्रणाम वृद्ध-प्रणाम-पूर्वक ही मनु के द्वारा बतलाया गया है :—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।

आददीत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवाद्येत् ॥

श्लो० २९—दण्ड के विषय में मनु का वचन है :—

ब्राह्मणो वैश्व-पालाशौ क्षत्रियो वाट-खादिरौ ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

दण्ड का प्रमाण भी मनु ने ही बतलाया है :—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाट-सम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥

अजिन के विषय में बृहस्पति का वचन है :—

कृष्णाजिनम्ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य तु ।

वस्ताजिनन्तु वैश्यस्य सर्वेषां वा गवाजिनम् ॥

वस्ताजिनम् = छाग-चर्म । यम के अनुसार “सर्वेषां रौरवाजिनम्” का सिद्धान्त है । परन्तु दोनों ही मत तत्तत् अजिन के अभाव में ग्राह्य हैं ।

उपवीत के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्व-वृतं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रजम् ॥

त्रिवृत् = तीन गुण करके । ऊर्ध्ववृतम् = दक्षिणावर्तित । यहाँ छन्दोग-परिशिष्ट में निम्नलिखित विशेष है :—

ऊर्ध्वन्तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।

त्रिवृतं चोपवीतं स्यात् तत्रैको ग्रन्थिरिष्यते ॥

अधोवृतम् = वामावर्तित । एवञ्च तीन सूत्रों को वामावर्तित करने के पश्चात् पुनः तीन बार दक्षिणावर्तित करने पर सङ्कलन में नौ सूत्र हो जाते हैं । उसके प्रत्येक त्रिक में एक ग्रन्थि होनी चाहिए ।

मेखलाम्—इस विषय में मनु का वचन निम्न-निर्दिष्ट है :—

मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्षणा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शण-तान्तवी ॥

मूर्वा = एक प्रकार की लता । ज्या-पद के निर्देश से क्षत्रिय की मेखला में त्रिवृत् का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वैसा होने पर ज्याख का ही

अपहार हो जायगा—ऐसा मेधातिथि तथा गोविन्दराज का मत है । अनुकल्प का भी निर्देश मनु ने किया है :—

मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्या कुशाश्मन्तक-वस्त्रजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥

अश्मन्तक = कुश सदृश तृणविशेष । वस्त्रज = 'सावय' । मेखला आदि के नष्ट होने पर क्या करना चाहिए इसका नियम मनु ने ही बतलाया है :—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्राश्य विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षम्—यह मनुक्त का उपलक्षण है :—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।

भिक्षेत भिक्षाम्प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥

पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर पक्ष ग्राह्य है ।

श्लो० ३१—

सत्कृत्यान्नम्—अत एव आदित्य-पुराण में कहा गया है :—

अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः ॥

अस्माकं निर्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥

मनु ने भी कहा है :—

पूजितं ह्यशनं निर्यं बलमूर्जं च यच्छति ।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥

श्लो० ३६—मनु का मत कुछ भिन्न है :—

षट्त्रिंशदादिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्धम्पादिकं वाऽपि ग्रहणान्तिकमेव वा ॥

प्रतिवेद बारह-बारह वर्ष, अथवा छ-छ वर्ष, अथवा, तीन-तीन वर्ष किम्वा अध्ययन-समाप्ति-पर्यन्त ॥

श्लो० ३६—केशान्तश्चैव षोडशे—यहाँ वर्ष की गणना गर्भ-वर्ष से ही करनी चाहिए ऐसा बौधायन ने कहा है :—

“स गर्भषोडशे वर्षे कर्त्तव्यः साग्निकेन, गर्भादिः संख्या वर्षाणाम्”

श्लो० ३७-३८—उपनयन की चरमावधि के विषय में मनु का भी यही मत है—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आद्वाविंशात् क्षत्र-वन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥

यद्यपि पैठीनसि का मत है—“द्वादश षोडश विंशतिश्चेत्यतीताः विरुद्ध-
काला भवन्ति” तथापि यह वचन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि बार-
हवें वर्ष के बोन जाने पर अनुपनीत ब्राह्मण, सोलहवें वर्ष के समाप्त हो जाने
पर अनुपनीत क्षत्रिय तथा बीसवें वर्ष के अतिक्रान्त हो जाने पर अनुपनीत
वैश्य कुछ पाप का भागी हो जाता है—यह वीरमित्रोदयकार का मत है।
याज्ञवल्क्य ने अन्तिम अवधि का निर्देश किया है, अतः उपर्युक्त पैठीनसि से
कोई विरोध नहीं पड़ता है।

ब्राह्मणों की निन्दा मनु के द्वारा निम्न-लिखित श्लोक में की गई है—

नैतैरपूतैर्विधिवदाप्यपि हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मणं यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥

यहाँ ब्राह्मणपद द्विजातिमात्र का उपलक्षक है।

श्लो० ३९—मौञ्जी-बन्धन रूप द्वितीय जन्म के विषय में मनु का
कथन है :—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जी-बन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

मनु ने द्वितीय जन्म के अतिरिक्त तृतीय जन्म का भी निर्देश किया
है—‘तृतीयं यज्ञ-दीक्षायाम्’। यहाँ यज्ञदीक्षा का अर्थ ज्योतिष्टोमादि-यज्ञ-दीक्षा
है। इस तृतीय जन्म के विषय में कुल्लुकभट्ट की व्याख्या है—प्रथम-
द्वितीय-तृतीयजन्मकथनरुचेदं द्वितीयजन्म-स्तुत्यर्थम्, द्विजस्यैव यज्ञ-दीक्षया-
मधिकारात् ।

श्लो० ४४—अथर्वाङ्गिरसः—इसकी व्याख्या शूलपाणि ने निम्न-
लिखित शब्दों में की है :—“अङ्गिरसा पृथक्कृतं सामवेदैकदेशम् अभिचार-
प्रधानकम्” ।

श्लो० ४५—नाराशंसी :—इसका अर्थ शूलपाणि ने “नारायणस्तुति-
प्रकाशक ऋक्” किया है। “हृदं जरा उपस्कृता” इत्यादि तीन ऋक् जो
ऋग्वेद के खिल भाग में निर्दिष्ट हैं, नाराशंसी कहलाते हैं—ऐसा वीर-
मित्रोदय का मत है। विद्या शब्द का अर्थ शूलपाणि के अनुसार, उपनिषद् है।

श्लो० ४६—पशून्याम् का अर्थ सर्वाण-पशूनी है, ऐसा पूसपाणि तथा
वीरमित्रोदय-कार का कथन है। वैश्वानरेपि वा—अग्निशुश्रूषा का निरूपण
बालभट्टी में निम्नलिखित हारीत, शंख-लिखित तथा यम के वचन के
अनुसार किया गया है :—

“यज्ञियाः समिध आहृत्य सम्मार्जनोपलेपनोद्धोषनसमूहनेन्धनपर्यग्नि-
करणपरिक्रमणोपस्थानहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्निं परिचरेज्जाग्निमधितिष्ठेज्-
पद्भ्यां कर्षेन्न मुखेनोपधमेत् नापश्च अग्निं च युगपत् धारयेत् नाजीर्णभुक्तो
नोच्छिद्यो वा अभ्यादध्याद्विधैर्हविर्विशेषैर्यज्ञियैः अहरहरग्निमिन्धेदामन्ध
गच्छेत् आगत्य निवेदयेत् तन्मनाः शरीरोपरमान्ते ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छति” ।

श्लो० ५०—इस कथन से यह सङ्केत किया जाता है कि चातुराश्रम्य
का विधान नित्य नहीं है अपितु ऐच्छिक । तात्पर्य यह है कि चातुराश्रम्य में
व्यतिक्रम की सम्भावना नहीं है अतिक्रम तो सर्वथा सम्भव है ।

श्लो० ५१—वर शब्द का अर्थ गुरु का अभिमत पदार्थ ही है । अतः
एव मनु का भी कथन है :—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

यह उपलक्षण-मात्र है, यथासम्भव अन्यान्य पदार्थ का भी समर्पण
करना चाहिए । यही बात लघुहारीत के वचन में भी कही गई है :—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।

पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यदस्त्वा चानृणी भवेत् ॥

इससे स्पष्ट है कि केवल गुरु-प्रसन्नता ही गुरु-दक्षिणा है । यहाँ वेदा-
ध्ययन का तात्पर्य अर्थज्ञान-पूर्वक वेदाध्ययन से है । अतएव कूर्म-पुराण में
कहा गया है :—

वेदं वेदौ तथा वेदान् वेदान् वा चतुरो द्विजः ।

अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्यथाविधि ॥

अतएव प्रकृत याज्ञवल्क्य-श्लोक में ‘वेदम्’ इस एकवचन को भी जाति-
विवक्षा से ही उपयुक्त मानना चाहिए ।

व्रतानि—इस प्रसङ्ग में वाल्मिनी का परिष्कार निम्नलिखित है :—

“व्रतपक्षेपि आरण्यकमधीत्यैव तत् ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।

व्रतपक्षेऽपि शब्दार्थमारण्याध्ययने कृते ॥

इति कारिकोक्तेः । शब्दार्थमक्षरग्रहणार्थम् न त्वर्थज्ञानाऽपेक्षाऽपि,
अनुष्ठानानुपयोगात् । विरक्ष्युत्तरकालं साधनचतुष्टयसम्पन्नं प्रत्युत्तरमीमांसा-
प्रवृत्तेः । प्रागुक्तकौर्मन्तु कर्मकाण्डार्थज्ञानपरमिति भावः ।”

श्लो० ५२—लक्षणायाम्—बाह्य लक्षण के विषय में मनु का कथन है :—

अव्यङ्गाङ्गी सौम्यनाम्नी हंसवारणगामिनीम् ।

तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेस्त्रियम् ॥

आभ्यन्तर लक्षणों का वर्णन आश्वलायन ने इस प्रकार किया है :—

दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वा 'ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्य-
प्रतिष्ठितं यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्सत्यं तद् इश्यताम्'
इति पिण्डानभिमन्य कुमारीं ब्रूयादेशामेकं गृहाणेति । क्षेत्राच्चेदुभयतः सस्याद्-
गृहीयात् अन्नवत्यस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात्, गोष्ठात् पशुमती,
वेदि-पुरीषात् ब्रह्मवर्चस्विनी, अविदासिनो हृदात् सर्वसम्पन्ना, देवनात्
कितविनी, ईरिणादधन्या, रमशानात् पतिघ्नी" (भा० गृ० सू० १।५।४-६)

उभयतः सत्य क्षेत्र आदि वाक्योक्त आठ स्थानों से मिट्टी लेकर आठ ही
पिण्ड बनाना चाहिए । उन पिण्डों को 'ऋतमग्रे प्रथमम्' आदि मन्त्र से
अभिमन्त्रित कर कन्या को यथेच्छ किसी पिण्ड का स्पर्श करने के लिए
कहना चाहिए । प्रत्येक पिण्ड के स्पर्श का फल उपर्युक्त समझना चाहिए ।
उभयतः सत्य क्षेत्र का अर्थ है जिस क्षेत्र में वर्ष में दो बार उपज होती है ।
वेदिपुरीषम् = अपकर्म में बनाई हुई वेदी । अविदासी हृद = सर्वदा जलयुक्त
हृद; देवन = जुआ खेलने का स्थान; द्विप्रवर्जिनी = अनेक पुरुष से सम्पर्क
करने वाली; ईरिण = जहाँ बीज में अङ्कुर न होता हो ऐसी नमकीन भूमि ।

यह परीक्षा कुल-परीक्षा के बाद करनी चाहिए । कुल-परीक्षा के विषय में
मनु का कथन है :—

महान्तरयपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।

स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निच्छन्दो रोमशार्शसम् ।

क्षयामयाव्यपस्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

हीनक्रिय = जातकर्मादि संस्कारशून्य; निष्पुरुष = पुरुषहीन, स्त्रीमात्रा-
वशेष; निच्छन्दः = वेदाध्ययनशून्य; रोमश = दीर्घरोम-सम्पन्न; अर्शस =
'अर्श' रोगग्रस्त; क्षय = राजयक्ष्मा; आमयावि = मन्दारिनरोग; अपस्मार = रोग
विशेष (Epilepsy); श्वित्र = श्वेत-कुष्ठ ।

स्वयं याज्ञवल्क्य भी इसका वर्णन आगे—"स्फीतादपि न सञ्चारि-रोग-
दोषसमन्वितात्" (श्लो० ५४) में करेंगे ।

श्लो० ५३—अरोगिणीम्—यह मनुक्त दोषों का उपलक्षण है । मनुस्मृति
में निम्नलिखित प्रकार की कन्या त्याज्य मानी गई है :—

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पङ्किलाम् ॥
न र्जवृक्षनदीनाम्नीं नान्यपर्वतनामिकाम् ।
न पद्महिम्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

एष च प्रतिषेधः न भार्यात्वाभावफलकः किन्तु शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्त-
मात्रम्—ऐसा कुल्लूक भट्ट का मत है । भ्रातृमतीम्—इसकी व्याख्या
मनुस्मृति में ही मिलती है:—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत् ताम्प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

वह कन्या जिसके भावी पुत्र को उस कन्या का पिता स्व-पुत्राभाव होने
के कारण अपने आकाधिकारी के रूप में मनोनीत कर लेता है—पुत्रिका
कहलाती है:—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥

असमानार्पणोत्रजाम्—यहां कुछ विशेष विवरण शूलपाणि ने दिया है—
पितुः पितुः स्वसुः पुत्राः पितुर्मातुः स्वसुः सुताः ।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥
मातुः मातुः स्वसुः पुत्रा मातुर्मातुः स्वसुः (पितृस्वसुः) सुताः ॥
मातुर्मातुल-पुत्राश्च विज्ञेया मातृ-बान्धवाः ।

श्लो० ५५—परीक्षितः पुंस्त्वे - इस विषय में शूलपाणि ने देवल के दो
वचन उद्धृत किए हैं:—

रेतोऽस्य प्लवते नाप्सु ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ।
पुमान् स्यात्प्लवत्तणैरेतैर्विपरीतं नपुंसकम् ॥
न मूत्रं फेनिलं यस्य विष्टा चाप्सु निमज्जति ।
मेढृश्चोन्मादशुक्राभ्यां हीनः क्लीबः स उच्यते ॥

परन्तु प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में जो वर्णन है वह निम्नलिखित नारद-
वचन से विपरीत है—

“यस्याप्सु प्लवते वीर्यं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ।
पुमान् स्यात्प्लवत्तणैरेतैर्विपरीतस्तु षण्ढकः ॥

श्लो० ५८—एकविंशतिम्—इस प्रसङ्ग में मनु का वचन यह है:—
यस्य पूर्वान्परां वंश्यान् आत्मानं चैकविंशतिम् ॥

ब्राह्मविवाह का परिष्कृत लक्षण वीरमित्रोदय में इस प्रकार दिया गया है—
“निरुपाधिककन्यादानपूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो विवाहः । उपाधयश्च
ऋत्विक्स्वद्रव्यग्रहणसमयबन्धादयः” ।

श्लो० ५९—ऋत्विजे—दक्षिणासु दीयमानासु कन्यादानम्—ऐसा शूल-
पाणि का परिष्कार है । गोद्वयम्—यह उपलक्षण है । अत एव मनु ने
कहा हैः—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥

श्लो० ६०—धर्ममिति—अत्र धर्मशब्दः अर्थकामयोरप्युपलक्षणम् स्मृ-
त्यन्तरानुरोधात्—यह बालम्भट्टीकार का मत है ।

श्लो० ६१—युद्धहरणात्—अत एव मनु का कथन है—

हत्वा क्षिप्वा च मिरवा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥

कन्यकाच्छ्रुत्वा—इसका स्पष्टीकरण मनु में हुआ हैः—

सुप्तं मत्तं प्रमत्तं वा रहो यत्रोपगच्छति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

इन अष्टविध विवाहों के विषय में जात्यनुकूल व्यवस्था का निर्देश
मनु ने इस प्रकार किया हैः—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।

विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यान् राक्षसान् ॥

ब्राह्मण के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर एवं गान्धर्व; क्षत्रिय के
लिए, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच; वैश्य एवं शूद्र के लिए आसुर,
गान्धर्व और पैशाच विवाह धर्म्य हैं । विशेष विवरण के लिए निम्न-लिखित
मनु-वचन द्रष्टव्य हैः—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।

राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ इत्यादि ॥

श्लो० ६२—क्षत्रिया शरम् = ब्राह्मणवरहस्तधृत शर । प्रतोद = वर-
हस्तस्थ यष्टि । शूद्रा के विषय में मनु का कथन है—

वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोः कृष्ट-वेदने ॥

किन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के विषय में कुछ नहीं कहा है, कारण
शूद्रा-ग्रहण ब्राह्मण के लिए याज्ञवल्क्य का कथमपि सम्मत नहीं है—

यदुच्यते द्विजादीनां शूद्रादारोपसंग्रहः ।

नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ या० स्मृ० १।५६॥

श्लो० ६४—कन्या कुर्यात् स्वयंवरम्—यह अधिकार तीन ऋतुकाल के अतिक्रमण के बाद ही होता, ऐसा विष्णु का कथन है—

ऋतुत्रयमतीत्यैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ।

ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभुः कन्या स्वयंवरे ॥

परन्तु यदि पिता आदि के जीवित रहने पर भी कन्या का अभिभावक प्रमादादि के कारण उचित समय पर कन्यादान नहीं करे, वैसी स्थिति में बौधायन का सिद्धान्त निम्न-लिखित है—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांचेत पितृशासनम् ।

ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ॥

अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत् ॥

इस प्रसङ्ग में नारद का निम्न-निर्दिष्ट वचन भी ध्येय है—

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत् ।

अनुज्ञया वरं तस्य परीक्ष्य वरयेत् स्वयम् ॥

श्लो० ६५—सकृदप्रदीयते कन्या—यही मनु का भी मत है—

सकृदंशो निपतति सकृदकन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥

श्लो० ६६—यदि वर भी अपना दोष पहले स्पष्ट नहीं कर देता है तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए । वर-दण्ड की व्यवस्था नारद के अनुसार निम्न-लिखित है—

गूहयित्वाऽऽत्मनो दोषान् विन्दन्नत्ययमर्हति ।

वरस्य दत्त-नाशश्च भवेत् स्त्री च निवर्त्तते ॥

अत्यय = दण्ड । कहीं-कहीं द्वितीय पाद में “विन्दते द्विगुणो दमः” पाठान्तर है ।

श्लो० ६८-६९—यहाँ मनुस्मृति में विधवा के लिए विशेष बतलाया गया है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥

श्लो० ७०—याज्ञवल्क्य का यह कथन सवर्ण-व्यभिचारिणी के लिए है । हीनवर्ण-व्यभिचारिणी के लिए बृहस्पति ने निम्नलिखित व्यवस्था की है—

हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्या च सा भवेत् ॥

श्लो० ७१—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का वचन अवधेय है—

रोमोद्भवे शशी भुङ्क्ते गन्धर्वः कुचदर्शने ।

अनलस्तु रजोयोगे स्त्रियो भुङ्क्ते तु नान्यथा ॥

श्लो० ७२—यहाँ द्वितीय विवाह की अवधि का निरूपण मनु ने इस प्रकार किया है—

बन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृत-प्रजा ।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥

अप्रियवादिनी के साथ अपुत्रा का अभ्याहार करना आवश्यक है ।

श्लो० ७२—युग्मासु संविशेत्—युग्मरात्रिगमन से पुत्र होता है—ऐसा मनु का कथन है :—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥

आद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्—यद्यपि शंख ने पति के लिए चतुर्थ दिन में ही पत्नी की शुद्धि मानी है—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि अशुद्धा दैवपिण्डयोः ।

तथापि यह शुद्धि सेवा के लिए न कि सम्भोग के लिए भी । अतएव मनु का भी कथन है—

“तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दिताः” ।

श्लो० ८९—यह नियम सवर्णा स्त्री के विषय में है । अत एव मनु का कथन है—

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ।

अत एव निम्नलिखित वचन को असवर्णा स्त्री के विषय में समझना चाहिए—

यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्या कथञ्चन ।

स स्त्री सम्पद्यते तेन भार्या चास्य पुमान् भवेत् ॥

श्लो० ९१—पारशवोऽपि वा—पारशव की व्युत्पत्ति मनु ने निम्न-निर्दिष्ट पद्य में की है—

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामाबुत्पादयेत् सुतम् ।

स पारथन्नेव शवस्तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥

पारयन् = जीवन । यद्यप्ययं विभुपकारार्थं आह्लादि करोत्येव तथाप्य-
सम्पूर्णोपकारकत्वात् 'ज्ञव' व्यपदेशः—कुल्लूक भट्ट ।

इन सबों की जीविका का निर्देश मनु ने दशवें अध्याय में विशदरूप में
किया है ।

श्लो० ९५—रथकारः प्रजायते—वैधायन के कथनानुसार वैश्य से शूद्रा
में उत्पन्न सुत रथकार कहलाता है—“वैश्याच्छूद्रायां रथकारः” । अतः रथ-
कार शब्द को अनेकार्थक मानना चाहिए—ऐसा शूलपाणि का मत है ।

श्लो० ९८—इस कार्य के समय के विषय में द्रु का कथन है—

उषः काले तु सम्प्राप्ते शौचं कृत्वा यथार्थवत्

ततः स्नानं प्रकुर्वीत दन्तधावन-पूर्वकम् ।

श्लो० १०१—विद्यां चाध्यात्मिकीम् = उपनिषदम् ।

श्लो० १०२—पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का फल भी मनु ने बत-
लाया है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य सुखी पेण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च बलसा महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥

यहाँ कुल्लूकभट्ट की टिप्पणी है—प्रत्यहमित्यभिधानात् प्रतिदिनं तस्या-
पण्यस्यापेक्षितत्वात् सन्ध्याबन्दनादिवर्जित्येवमपि न विरुध्यते ।

पञ्च महायज्ञों के नामान्तर भी मनुस्मृति में दिये गये हैं—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।

ब्राह्मणं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।

ब्राह्मणं हुतं द्विजाग्रयार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥

श्लो० १०५—सम्भोज्य—इससे बाल आदि का भोजन अतिथि से पूर्व
ही कराना चाहिए—ऐसा सिद्ध होता है । अत एव मनु ने कहा है :—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।

अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेद्विचारयन् ॥

श्लो० १०६—उपगिष्टात् = पूर्वम् , अधस्तात् = पश्चात् ।

श्लो० १०७—अतिथि की परिभाषा मनु ने की है—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

सायमपि—अतिथि को सायंकाल में भोजन नहीं देने पर पाप का निदर्शन विष्णुपुराण में किया गया है—

दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप ।

तदेवाष्ट-गुणं प्रोक्तं सूर्योद्वे विमुखे गते ॥

यदि ब्राह्मण के गृह में क्षत्रिय आदि उपस्थित हों तो उनके विषय में मनु के निम्नलिखित वचन ध्येय हैं :—

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमात्रजेत् ।

मुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्ता कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजयेत्सह भृत्यैस्तानानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥

इतरानपि सव्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमागतान् ।

प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥

श्लो० ११०—अर्घ्याः—अर्घ्यपद मधुपर्क का उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है—

राजत्विक्-स्नातक-गुरुन् प्रियश्वशुरमातुलान् ।

अर्हयेन्मधुपर्केण परिसम्बत्सरात्पुनः ॥

परिसम्बत्सरात् = सम्बत्सर बीतने के बाद । ऋत्विजः—यह पद पूज्यमात्र का उपलक्षण है । एवञ्च तात्पर्य यह है कि एक वर्ष के बीतने के बाद स्नातक आदि का मधुपर्क से पूजन करना चाहिये । यदि सम्बत्सर-मध्य में ही यज्ञ उपस्थित हो तो सम्बत्सर-मध्य में भी वे सम्मानार्ह हैं । परन्तु यदि सम्बत्सर के बीच कोई यज्ञ नहीं उपस्थित हो तो सम्बत्सर के बीत जाने के बाद यज्ञ उपस्थित हो या नहीं हो, उनका सम्मान अवश्य ही करना चाहिये । यहाँ मनु ने राजा तथा स्नातक के पूजन में विशेष बतलाया है कि यदि सम्बत्सर-मध्य में यज्ञ की उपस्थिति नहीं होती है, तो सम्बत्सर के बीत जाने पर भी राजा तथा स्नातक की पूजा यज्ञ में ही करनी चाहिए न कि केवल सम्बत्सर के अतिक्रमण से ही—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।

मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥

अतः राजा तथा स्नातक का यज्ञ में और शेष का सम्बत्सर-मध्य में यज्ञ-काल में, सम्बत्सर के बीतने पर यज्ञाऽयज्ञा-साधारण पूजन करना चाहिए ।

श्लो० ११२—अति-भोजनम्—अत एव मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति-भोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

श्लो० ११३—आसीमान्तम्—यहाँ अपरार्धव्याख्या में तीन प्रकार की सीमा बतलाई गई है—सीमा त्रिविधा—वास्तु-सीमा, ग्राम-सीमा, क्षेत्र-सीमा च; सा चानुमजनीयगुणापेक्षया व्यवस्थापनीया ।

श्लो० ११६—वार्धके—मनु का कथन है—शूद्रोपि दशमीं गतः । ९० वर्ष की अवस्था के बाद शूद्र भी प्रतिष्ठित होता है। परन्तु गौतम ने ८० वर्ष की ही परमावधि मानी है ।

श्लो० १२७—कुशूलेति—द्वादशदिनोचित-धान्याधारा कोषी कुशूलः, यह्नोचित-धान्याधारा कुम्भी—शूलपाणिः ।

श्लो० १३९—प्रेतधूमम्—बालम्भट्टीकार ने प्रेतधूम का अर्थ बालातप किया है। इन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्न लिखित मनु के वचन को ध्यान में रक्खा था—ऐसा प्रतीत होता है—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।

परन्तु यहाँ बालातप एवम् प्रेतधूम से उद्देश्य-विधेय-भाव की कल्पना करना अमूलक है। यहाँ तो बालातप एवं प्रेतधूम दोनों ही स्वतन्त्र पदार्थ हैं जिनको मनु ने वर्ज्य माना है। अतः प्रेतधूम का अर्थ दह्यमान-शव-धूम ही करना चाहिए।

श्लो० १४०—न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्—इस प्रसङ्ग में मनु के निम्न-लिखित वचनों को देखना चाहिए—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छ्वास्रवर्त्तिनः ।

स पर्यायेण यातीमान् नरकानेक-विंशतिम् ॥

तामिस्त्रमन्धतामिस्त्रं महारौरवरौरवौ ।

नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥

सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।

संघातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तकम् ॥

लोहशङ्कुमृषीजं च पन्थानं शालमलिनदीम् ।

असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो बाह्यणा ब्रह्मवादिनः ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य भेषोऽभिकाञ्चिजः ॥

श्लो० १४१—इस प्रसङ्ग में मनु का कथन अधिक स्पष्ट है :—

न राज्ञः प्रतिगृहीयात् अराज्यप्रसूतितः ।
 सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥
 दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
 दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥
 दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
 तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

श्लो० १४६—अमावास्या आदि में अध्ययन के दुष्परिणाम का वर्णन मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है :

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
 ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥

ब्रह्म = वेद को ।

श्लो० १५४—आचारमाचरेत्—इस प्रसङ्ग में मनु के वचन को ध्यान में रखना चाहिए—

आचाराहलभतेद्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।
 आचाराद्धनमच्छद्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
 दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
 दुःखमागी च सततं व्याधितोऽवपायुरेव च ॥
 सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
 श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

श्लो० १५५—पुत्रं शिष्यं च ताडयेत्—यह ताडन केवल अनुशासन के लिए करना चाहिए । अतः एव मनु ने कहा है—

शिष्यं च ताडयेत्तु तौ ॥

ब्राह्मण की निन्दा का फल मनुस्मृति में बतलाया गया है—

ब्राह्मणायावगूयैव द्विजातिर्वधकाश्रयया ।
 शतं वर्षाणि तामिह नरके परिवर्तते ॥
 तादयित्वा दृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
 एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ इत्यादि ।

श्लो० १५७-५८—इन लोगों से विवाद नहीं करने पर इन लोगों के अशान्त स्थलों पर विजय मिलती है । इन लोगों के वशीभूत लोगों का विवरण मनु ने निम्नलिखित प्रकार से पाया जाता है—

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।

अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चत्विजः ॥
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्येषां लोके पृथिव्यां मातृमातुली ॥
आकाशेशास्तुविज्ञेयाः बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥
छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिष्ठितः सहेताऽसञ्ज्वरः सदा ॥

जामयः = विद्यमानभर्तृकाः भगिनीस्तुषाद्याः; बान्धवाः = पितृमातृपत्न्याः
जनाः; सम्बन्धिनः = जामातृश्यालकादयः; कृशाः = कृशधनः; संभितः = आश्रितः
इत्यर्थः ।

श्लो० १५९—मुनि ने परकीय जलाशय आदि में स्नान का प्रतिषेध
किया है—

परकीय-निपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपान-कर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥

अंशेन = चतुर्थांशेन । इसका प्रायश्चित्त भी व्यासने बतलाया है—

अन्यजैः खानिताः कृपाः तद्वागा वाप्य एव च ।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुध्यति ॥

इसी में विशेष व्यवस्था बतलाने के लिए याज्ञवल्क्य ने—पञ्च पिण्डान-
नुद्ध्यत्य न स्नायात् परवारिणि—कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि
स्नानार्थं अकृत्रिम नदी आदि की उपलब्धि नहीं होती हो तो परकीय निपान
में भी पाँच पिण्ड का उद्धरण कर स्नान करना चाहिए । अत एव विष्णु का
वचन है—“पर-निपानेषु न स्नानमाचरेत् आचरेद्वा पञ्च पिण्डानुद्ध्यत्य
आपदि” इति । सर्वार्थमुत्सृष्टेषु परकीयत्वाभावादनुद्धरणेऽपि न दोषः—ऐसा
हेमाद्रि का मत है । स्नायान्नदी-देव०—अत एव मनु का भी मत है—

नदीषु दैवलातेषु तद्वागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गतं-प्रसवणेषु च ॥

श्लो० १६०—इस विषय में मनु ने पाप का निर्देश किया है—

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-गृहाणि च ।
अदत्तान्युपभक्षणं धनसः श्यात्तुरीयभाक् ॥

अदत्तानीति स्वात्मभावः अनुमत्यभावश्च विवक्षितः—ऐसा शूद्रपाणि का
मत है ।

अग्निहीनस्य—श्रौत-स्मार्तान्यधिकारहीनस्य शूद्रस्य अविविचिनोऽसृष्टा-
नेहिजस्यापि ।

श्लो० १६१—कदर्येति—कदर्य की परिभाषा नारद ने इस तरह की है—

आत्मानं धर्मकृत्यञ्च पुत्रदाराञ्च पीडयन् ।

लोभाद्यः प्रचिनोत्सर्थान् स कदर्यं हति स्मृतः ॥

वदः—निगद्वदः । अत एव मनु का कथन है—वदस्य निगदस्य च । निगदस्येति तृतीयाथे षष्ठी—कुल्लुकभट्ट । रक्षावतारी—नटगायकव्यति-
रिक्तस्य रक्षावतरणजीविनः—कुल्लुकभट्ट, मेधातिथि ।

वार्षुष्यः—यस्तु निन्देत् परं जीवं प्रशंसत्पारमनो गुणान् ।

स वै वार्षुषिको नामः—विष्णुः

समर्घं पण्यमुद्वृत्त्य महाघ्न यः प्रयच्छति ।

स वै वार्षुषिको नाम यश्च वृद्धया प्रयोजयेत्—यम ।

श्लो० १६२—एषामन्नं न भोक्तव्यम्—इन सबों के अन्न-भक्षण में दोष मनुस्मृति में बतलाया गया है—

य एतेऽन्ये स्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।

तेषां स्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यश्च मनीषिणः ॥

तेषां स्वगस्थि-रोम्णां भक्षणेन यः दोषः एव तेषामन्नभक्षणेऽपि—कुल्लुकभट्ट ।

श्लो० १६६—अर्धसीरिणः—कार्षिकाः । ये शब्द सापेक्ष शब्द हैं । अत एव जो जिसकी कृषि करना हो उसी का अन्न उस व्यक्ति मात्र के लिए भोज्य हैं । इसी तरह दास गोपाल आदि के विषय में भी समझना चाहिए । यश्चात्मानं निवेदयेत्—निवेदन का प्रकार मनु ने बतलाया है—

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।

यथा चोपचरेदेनं तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥

श्लो० १७०—सन्धिनी—ऋतुमती वृषमिच्छती गौः । या गर्भिणी सति दुग्धे सा सन्धिनी—हरदत्त । अनिर्दशा—यह अज्ञा तथा माहिषी का भी उपलक्षण है । अत एव यम का कथन है—

अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च ॥

श्लो० १७५—मरस्याञ्च कामतः—मरस्य-भक्षण की निन्दा मनुस्मृति में की गई है :—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद् उच्यते ।

मरस्याद्ः सर्वमांसाद्ः तस्मान्मरस्यान् विवर्जयेत् ॥

मरत्य के सर्वमांसभक्षक होने के कारण मरत्यादः सर्वमांसादः कहा गया है ।

श्लो० १७६—इस श्लोक में कथित लघुन तथा गृजन पलाण्डु के ही भेद हैं—

लघुनो दीर्घपन्नश्च पिच्छगन्धो महौषधम् ।

तरुण्डश्च पलाण्डुश्च नरलङ्कः पराकिका ।

गृजनो यवनेष्टश्च पलाण्डोर्दश जातयः ॥

श्लो० १७७—भक्ष्याः पञ्चनखाः—यहाँ मनु ने यद्यपि खट्वा का भी निर्देश किया है तथापि वह श्राद्धविषयक है—ऐसा शूलपाणि का मत है ।
सेवा = स च श्वभक्षको ष्यान्नविशेषः—अपराक । गोधा = वल्लीसदृशः प्राणि—विशेषः—अपराक ।

श्लो० २१२—सर्वधर्ममयं ब्रह्म—अतएव मनु का भी मत है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

श्लो० २१५—अयाचित्ताहृतम्—मनु का भी निर्देश है—

आहृताभ्युद्यताग्निचाम् पुरस्तादप्रचोदिताम् ।

मेने प्रजापतिर्माह्वाम् अपि दुष्कृतकर्मणः ॥

श्लो० २१६—सर्वतः—देव आदि के अर्चन के लिए ही न कि आत्म-पालन के निमित्त भी । अतएव मनुस्मृति में कहा गया है :—

गुरुन् श्रुत्यांश्चोज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।

सर्वतः प्रतिगृहीयात् न तु तृप्येत् स्वयं ततः ।

आत्मवृत्त्यर्थमेव च—मनुस्मृति में आत्मवृत्ति के लिए केवल साधुजन के अन्न का ही प्रतिग्रह विहित माना गया है—

गुरुषु स्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।

आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृहीयात्साधुतः सदा ॥

श्लो० २१७—१८ = व्यतीपातः—

श्रवणाश्रिधनिष्ठाऽऽर्द्रानागदैवतमस्तके ।

यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते ॥

गजच्छाया—

योगो मवात्रयोदश्यां कुञ्जरच्छायसंज्ञितः ।

भवेन्मवायां संस्थे च शशिन्यर्के करे स्थिते ॥ (ब्रह्मपुराण)

करे = हस्तनक्षत्र मे । आह्वम्—“अथैतन्मनुः आह्वं कर्म प्रोवाच प्रजानिः-
अथसार्धं तन्न पितरो देवता ब्राह्मणाऽऽहवनीयार्थे” इस आपस्तम्ब के वचन के

अनुसार पितृगण के उद्देश्य से द्रव्य के उत्सर्ग से ब्राह्मण के द्वारा उस द्रव्य के स्वीकार तक का कर्म श्राद्ध-पद-वाच्य है। देवश्राद्ध आदि पदों में श्राद्ध शब्द गौण है—यह कल्पतरु का मत है।

श्लो० २२१—पञ्चाग्निः—पाँच अग्नियों के नाम ये हैं :—

पवनः पावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे ।

सायं प्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पंक्ति-पावनः ॥ (हारीत)

पवनः = आवसथ्याग्निः; पावनः = सम्धाग्निः । त्रेता = आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि ।

श्लो० २२२—रोगी = दीर्घरोगी—अपरार्क ।

श्लो० २२४—इससे अतिरिक्त निन्द्य पुरुषों का विवरण मनुस्मृति के तुतीयाध्याय में देखना चाहिए ।

श्लो० २२५—निमन्त्रणम् = अप्रत्याख्येयो नियोगः निमन्त्रणम्—अपरार्क । संयतैर्भाग्यम्—इस विषय में मनु का कथन यह है—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥

निमन्त्रितान्हि पितरः उपतिष्ठन्ति तान्हिदृजान् ।

वायुवृक्षानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ इत्यादि ।

श्लो० २३६—अभ्यनुज्ञातः—ब्राह्मणों के द्वारा अभ्यनुज्ञात । अतएव मनु का कथन है—

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ।

अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनाऽपि पूर्वं कर्त्तव्या, सा च स्वगृहानुसारेण करवाणि, करिष्ये इत्यादिका । अनुज्ञा अपि 'ओम्' इत्येवं रूपा 'कुरुष्व' इति वा—(कुल्लुक भट्ट) ।

यदि अग्नि का अभाव हो (अग्न्यभावश्च अनुपनीतस्य सम्भवति, उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वम्, स्मृतभार्यस्य वा) तो ब्राह्मण के हाथ में ही समर्पण करना चाहिए—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।

यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ (मनु)

तथा कात्यायन का भी कथन है :—

पित्र्ये यः पंक्तिमूर्धन्यः तस्य पाणावनग्निकः ।

इत्या मन्त्रवद्व्येषां तूष्णीं मन्त्रेषुभिः क्षिपेत् ॥

श्लो० २३९—वाग्यताः—मनु का कथन निम्नलिखित है—

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यात् अङ्गीरंस्ते च वाग्यताः ।

न च द्विजातयो ब्रूयुः दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥

दात्रा अन्नादिगुणान् पृष्टा वक्त्राद्यभिनयेनाऽपि न ब्रूयुः, वाग्यतस्वस्य अत्रैव विधानात्—कुल्लूक भट्ट ।

श्लो० २४५—इदं जपेत्—यह पितृ प्रार्थना है । अतएव मनु का कथन है :—

दक्षिणां दिशमाकर्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।

अद्वा च नो मा व्यगमत् बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥

अतः दातारो नोऽभि० आदि की भूमिका में “ब्राह्मणप्रार्थना”—का विज्ञानेश्वरकृत निर्देश उचित नहीं प्रतीत होता है ।

श्लो० २४४—स्त्रिया अपि—स्त्री के सपिण्डीकरण के विषय में द्दारीत का कथन निम्नलिखित है :—

स्वेन भर्त्रा सहैवास्याः सपिण्डीकरणं स्त्रियाः ।

एकस्वं सा गता यस्मात् चरुमन्त्राहुतिप्रतैः ॥

तस्मिन् सति सुताः कुर्युः पितामह्यां सहैव तु ।

तस्यां चैव तु जीवन्त्यां तस्याः शशमेति निर्णयः ॥

तस्याः श्वश्र्वाः = प्रपितामही के साथ ।

श्लो० २४५—वृद्ध्याद्यपकर्षनिमित्तं सपिण्डनं मध्येऽपि कर्त्तव्यम् । कृते तस्मिन् अभ्युषट्प्राद्धं वर्षपर्यन्तं कर्त्तव्यमेव । किन्तु प्रेतपदोक्तेस्तो न कार्यः—शूलपाणि ।

श्लो० २४६—प्रतिसम्बन्धरम्—एतच्च निरग्निविषयम्—ऐसा शूलपाणि का मत है ।

श्लो० २४७—पिण्ड-प्रक्षेप के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है—

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डास्तांस्तदनन्तरम् ।

गां विप्रमज्जमर्नि च प्राशयेद्वत्सु वा क्षिपेत् ॥

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।

वयोमिः खाद्यन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽवत्सु वा ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।

मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यास्सम्यक् सुतार्थिनी ॥

आयुष्मन्तं सुतं सुते यशोमेवासमन्वितम् ।

धनवन्तं प्रजावन्तं सार्विकं धार्मिकं तथा ॥

मध्यमं पिण्डम् = पितामहपिण्डम् । सखु विप्रेषु०—मनु का भी वही मत है—उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद् यावद् विप्राः विसर्जिताः ॥

परन्तु वशिष्ठ ने दिनपर्यन्त रखने को कहा है—

आद्धे नोद्वासनीयानि उच्छिष्टान्यादिनक्षयात् ।

द्योतन्ति हि स्वधाहाराः ताः पिवन् सकृतोदकाः ॥

श्लो० २५९—वाराहपद माहिष का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन हैः—

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषाभिषैः ॥

इसी प्रकार श्रावण पद भी कौर्ममास का उपलक्षक है ।

श्लो० २६०—महाशक्कः = शक्यकः—मेघातिथि । महाशक्कः = मत्स्य-विशेषाः इति युज्यन्ते, महाशक्कलिनो मत्स्याः इति वचनात्—विज्ञानेश्वर-प्रभृति । मनु ने महाशक्क प्रभृति के मांस को अक्षय तथा वार्ध्निजस के मांस को द्वादशवार्षिक वृत्ति का सम्पादक माना हैः—

वार्ध्निजसस्य मासेन वृत्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥

कालशाकं महाशक्काः सङ्गलोहामिषं मधु ।

आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥

श्लो० २६१—तथा वर्षात्रयोदश्याम्—अन्न च प्रोष्ठपद्यपरपद्ये वा त्रयोदशी याश्च मघाः ता एव गृह्यन्ते—अपरार्क । प्रोष्ठपद्याः श्रावणपूर्णिमायाः अपरे आद्रकृष्णे—ऐसा अर्थ करना चाहिए । अत एव शंख का वचन हैः—

प्रोष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् ।

प्राप्य श्राद्धं हि कर्त्तव्यं मधुना पायसेन च ॥

श्लो० २६४—शस्त्रेण—यहाँ शस्त्र पद उपलक्षण है । अत एव मरीचि का कथन हैः—

विषसर्पश्वापदाहितिर्यग्राह्यणघातिनाम् ।

चतुर्दश्यां क्रियाः कार्याः अन्येषान्तु विगर्हिताः ॥

श्लो० २६९—वसुरुद्रादितिसुताः—अत एव पैठीनसि का वचन हैः—य एवं विद्वान् पितृन् यजते वसवो रुद्रा आदिस्थाश्वास्य प्रीताः भवन्ति ।

श्लो० २७८—सर्वौषधैः—

सुरामांसीवचाकुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।

शुण्ठचम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः ॥

अथवा—ब्रीहयः शालयो मुद्राः गोधूमाः सर्वपास्तिलाः ।

यवाश्चोषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः ॥

श्लो० २९५—गृहयज्ञं समाचरेत्—इस यज्ञ के लिए उत्तरायण आदि कालनियम अनपेक्षित है । अत एव दत्त का वचन है :—

नैमित्तिकानि कार्यानि निपतन्ति यथा यथा ।

तथा तथैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते ॥

श्लो० ३१८—निबन्धम्—आयस्थाने प्रतिनियतवस्तुदानम्—शूलपाणि । अस्मिन् ग्रामे प्रतिघ्नं क्षेत्रस्वामिना एतद्धनमस्मै प्रत्यब्दं प्रतिमासं वा देयम् इत्यादिनियमः—अपराकं ।

श्लो० ३२४—भकूटेः—

न कूटैरायुधैर्हन्यात् युध्यमानो रणे रिपून् ।

न कर्णिभिर्नापि दिग्धैः नाग्निज्वलिततेजनैः ॥

श्लो० ३२७—स्नात्वा—स्नानग्रहणं सकलमाध्याह्निकोपलक्षणम्—
ऐसा अपराकं का मत है ।

श्लो० ३४४—सुरक्षितम्—अत एव मनु का वचन है—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।

स कृस्नां पृथिवीम् अंते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥

श्लो० ३४९—दैवे पुरुषकारे च—दैव = पूर्वजन्मकृत-कर्म-फल, पुरुष-
कार = ऐहिकपुरुष प्रयत्न । अत एव व्यासने कहा है—

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।

स्मृतः पुरुषकारश्च क्रियते यदिहापरम् ॥

श्लो० ३५०—संयोगे = साहित्ये । अत एव मत्स्यपुराण में कहा गया है :—

दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ।

त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात् फलाय वै ॥

श्लो० ३५२—मित्रलब्धिः—मित्र का लक्षण निम्नलिखित है :—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।

अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥

श्लो० ३५८—धर्माद्विचलितः—अत एव दत्त का कथन है :—

पारिवाज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।

अपादेनाकृषित्वा तं राजा क्षीघ्रं विवासयेत् ॥

श्लो० ३६७—दण्ड-स्थान का निर्देश मनुस्मृति में मिलता है:—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥

श्लो० ३६८—कालम् = दिवारात्रिसन्ध्यारामकम्—शूलपाणि ।

कालम् = सुभिच्छुद्धिर्भिक्षादियुक्तम्—वीरमित्रोदय ।

कर्म = अग्निहोत्रादि तथा सूनाधिष्ठानादि ॥

यथाचार्यमथाचारे याज्ञवल्क्यनिरूपिते ।

नारायणेन मिश्रेण टिप्पणीयं समापिता ॥



व्यवहाराध्याय

श्लो० १—व्यवहारपदार्थस्वरूपनिरूपण के लिए अपरार्कमे कात्यायन का वचन है :—

प्रयत्न-साध्ये विच्छिन्ने धर्माख्य न्याय-विस्तरे ।

साध्य-मूलोऽत्र यो वादः व्यवहारः स उच्यते ॥

न्यायविस्तरे = न्यायप्रपञ्च मे ।

ऋणादानादिनानाविवादपद-विषय-संशयः निराक्रियते अनेनेति नाना संशयहारी विचारो व्यवहारः यह शूलपाणि का मत है ।

“लोभश्च उत्क्रोचादिरूपेण परवित्तलिप्सा लोभः । अज्ञान-प्रमादावप्यत्र वर्जनीयतया द्रष्टव्यौ” (अपरार्क)

व्यवहार-काल के विषय में पराशर-माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

दिवसस्याष्टमं भागं मुक्त्वा कालं सुसंविशेत् ।

स कालो व्यवहाराणां शास्त्र-दृष्टः परः स्मृतः ॥

अपरार्क में उद्धृत कात्यायन का मत है :—

आद्यादहोऽष्टभागाद्यत् ऊर्ध्वभागत्रयं भवेत् ।

स कालो व्यवहारस्य शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥

व्यवहार-दर्शन की विधि मनु में कही गई है :—

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

विनीत-वेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्याणाम् ॥

श्लो० २—सभासदाश्च बहु-शास्त्रज्ञाः ब्राह्मणाः तदलाभे क्षत्रियाः तदलाभे तादृशा एव वैश्याः शूद्रस्तु न कथमपीति कात्यायनमनुप्रामाण्यात्—(अपरार्क)

श्लो० ३—कार्यवशात् = व्यवहारदर्शनादधिकगुरुतरकार्यवशात् रोगादि-वशाद्वा—(अपरार्क)

श्लो० ४—स्मृत्यपेतादीत्यत्रादिपदात् व्यवहारापेतस्य ग्रहणम्—शूलपाणि एतच्च दण्डविधानं धन-विषय-विवादे, वादान्तरे तु पारुष्यादिविषये दण्डान्तरं वेदितव्यम्” (अपरार्क)

श्लो० ६—जात्यादि—यहाँ आदि पद से कात्यायनोक्त द्रव्यसंख्या आदि परिग्राह्य हैं ।

अपराक में कार्यायन के वचन ये हैं :—

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्या नाम तथात्मनः ।

राजां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥

क्रमास्पृष्टां नामानि षोडशमाहर्तृदायकौ ।

समालिङ्गानि चान्यानि पक्षे संकीर्त्य कल्पयेत् ॥

देशादि के अनुसूच्य होने पर पक्ष-स्वीकार नहीं होता है । अत एव जी-
मूत-वाहनकृत व्यवहार-मातृका बृहस्पति का वचन है :—

देश-काल-विहीनश्च द्रव्य-संख्या-विवर्जितः ।

साध्य-प्रमाण-हीनश्च पक्षोऽनादेय इष्यते ॥

(अनादेयः = अग्राह्यः राजा इत्यर्थः) ॥

श्लो० ७—(पूर्वार्ध) उत्तर-लेख से पूर्वकालिक कृत्य के विषय में
पराशर-माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्य-विशेषिते ।

प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेख्येदुत्तरन्ततः ॥

उत्तरदान में अवधि का परिमाण स्मृति-कल्पतरु में बृहस्पति ने
बतलाया है :—

शालीनत्वाद्यात्तद्वत् प्रत्यर्थी स्मृति-विभ्रमात् ।

कालप्रार्थयते यत्र तत्रेवं लब्धुमर्हति ॥

एकाहस्यहपञ्चाहसप्ताहं पक्षमेव वा ।

मासं ऋतुत्रयं वर्षं लभते शक्यपेक्षया ॥

कार्यायनीय मे तो कुछ विशेष बतलाया गया है :—

सद्यो वैकाह-पञ्चाहौ त्र्यहं वा गुरुलाघवात् ।

लभेतासौ त्रिपक्षश्च सप्ताहश्च ऋणादिषु ॥

कालं शक्तिं विदित्वा तु कार्याणां च बलाबलम्

अक्षपं वा बहु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥

उभयोर्लिखिते वाच्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।

अनुक्तं तत्र यो ब्रूयात् तस्मादर्थार्थस हीयते ॥

श्लो० ७—(उत्तरार्ध) सद्य इति । यहाँ कार्यायन का निम्न-लिखित
वचन दृष्टव्य है :—

सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विधीयते ।

काकासीतेषु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥

श्लो० १०—कलहो वाक्पारुष्यम् , साहसो दण्डपारुष्यम्—(अपराकः)

श्लो० ११—प्रत्यर्थी के द्वारा निहव करने पर अर्थी के कृत्य के विषय में मनु का कथन है :—

अपह्वेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।

अभियोक्ता दिशेद् देशं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥

(देश्यम् = धनप्रयोगदेशवर्तिसाक्षिणम् , अन्यद्वा करणं पत्रादि इति । एवं निहवे प्रत्यर्थिना कृते यदि साध्यादि-प्रमाणेन अर्थी प्रत्यर्थिनोऽपराधं भावयति तदा प्रत्यर्थी भावित इत्युच्यते, स च अर्थिना अभियुक्तं धनं दत्त्वा राज्ञे च स्वापह्व-भाषणजन्य-दोषप्रयुक्तदण्डरूपेण तत्समन्धनन्दापयेदिति तात्पर्यम् ।)

श्लो० १२—सहसा हठेन जनसमघं यत्परहिंसादि क्रियते तत्साहसम्—(अपराकः)

श्लो० १३—१५—अत एव मनु ने भी कहा है :—

बाह्यैः विभावयेच्छिष्टैः भावमन्तर्गतं नृणाम् ।

स्वर-वर्णैः क्लृप्ताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।

नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ (८।२५-२६)

श्लो० १३-१५—आकृति से मनोभाव का अभिव्यञ्जन रामायण में भी बतलाया गया है :—

आकारश्छाद्यमानोऽपि निग्रहीतुं न शक्यते ।

बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥

श्लो० १६—नारद ने पाँच प्रकार के हीन का निर्देश किया है :—

अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थायी निरुत्तरः ।

आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥

श्लो० १८—सपणः—जितेन मया एतावदेयम् इत्यभ्युपेतं धनं पणः (अपराकः)

श्लो० २०—एतत्तु वचनमपह्ववादिनः सावष्टम्भे प्रतिवचने द्रष्टव्यम् । यथा—एतेषामर्थानां मध्ये यद्येकमप्यर्थमर्थी साधयति तदा सर्वानेतानहं ददा-मीति । कुत एतत् ? छलोदाहरणपरत्वादस्य वाक्यस्य । अन्यथा—

अनेकार्थाभियोनेऽपि याचसंसाधयेदनी ।

साक्षिभिस्तावदेवासौ कथ्यते साक्षितं धनम् ॥

इति कस्याचनवचनविरोधः स्यात् (अपराकः)

श्लो० २१—प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिः अर्थशास्त्रम् ।

वेदैकसमधिगम्यार्थविषया तु धर्मशास्त्रम् ॥ (अपराकः)

दोनों के विरोध होने पर धर्मशास्त्र प्रबल माना जाता है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।

अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

श्लो० २४—धनस्य दशवार्षिकी—यहाँ विशेष द्रष्टव्य है :—

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दग्धः प्रयुज्यते ॥ (मनुस्मृतिः)

श्लो० २५—इनसे अतिरिक्त पदार्थों का भी निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

विवाह्य श्रोत्रियैर्भुक्तं राजामात्यैस्तथैव च ।

सुदीर्घेणापि कालेन तेषां सिध्यति तत्तु न ॥

असक्तालसरोगात्तर्ज्वालभीतप्रधासिनाम् ।

शासनारूढमन्येन भुक्तं भुक्त्वा न होयते ॥

शासनारूढम् = तान्नपट्टादिलिखितम् ।

श्लो० २७—पूर्वक्रमागतात् = पूर्व शब्द का अर्थ है—पिता, पितामह तथा प्रपितामह । इससे स्पष्ट है कि पूर्वक्रमागत भोग आगम से बलवत्तर होता है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अनुमानाद् गुरुः साक्षी साक्षिभ्यो लिखितं गुरु ।

अव्याहतां त्रिपुरुषा भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥

त्रिपुरुषा भुक्ति का अर्थ व्यास ने मिश्रनोक्त प्रकार से किया है :—

प्रपितामहेन यद्भुक्तं तत्पुत्रेण विना च तम् ।

तौ विना तस्य पित्रा च तस्य भोगस्त्रिपौरुषः ॥

तीनों पूर्वजों के जीवित रहने पर किया गया भोग त्रिपुरुषभोग नहीं होता है । अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

पिता पितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः ।

प्रयाणां जीवतां भोगो विज्ञेयस्त्वेकपौरुषः ॥

श्लो० ३४—विद्वानशेषमादधात्—परन्तु ब्राह्मण भी निधि को प्राप्त कर पहले राजा को निवेदित करे, परचात् राजा की अनुमति पाकर उसका उपभोग करे । अत एव नारद का कथन है :—

ब्राह्मणोऽपि निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत् ।

तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्वादनिवेदयन् ॥

श्लो० ३७—अशीतिभागः—सपादरूप्यकं प्रतिशतम् ।

यह वृद्धि-प्रकार वसिष्ठ-निर्दिष्ट है । अत एव मनुस्मृति में कहा गया है—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्विचित्रवर्धिनीम् ।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्धार्षिकः क्षते ॥ इत्यादि ।

यहाँ व्यास ने कुछ विशेष बतलाया है :—

संबन्धे भाग आशीतः षष्टिभागः सलग्नके ।

निराधारे स्वेकशतं मासलाभ उदाहृतः ॥

श्लो० ४०—न दाप्यो नृपतेः—अत एव मनु का भी कथन है :—

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।

न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥

परन्तु यह संसाधन यथेच्छ विधि से नहीं होना चाहिए । उसकी विधि भी मनु ने ही बतलायी है—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥

धर्म की व्याख्या बृहस्पति ने की है :—

सुहृत्सम्बन्धिसन्दिष्टैः साम्ना चानुगमेन च ।

प्रायेण वा ऋणी दाप्यो धर्म एव उदाहृतः ॥

व्यवहारेण = लिखित आदि प्रमाण के आधार पर । मेधातिथि ने तो दूसरी व्याख्या की है :—

“निःस्वो यः स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यैर्कर्मोपकरणं धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं तस्माद् गृह्णीयात् ।”

छल, आचरित तथा बल की व्याख्या बृहस्पति ने निम्नलिखित प्रकार से की है :—

छद्मना याचितं चार्थमानीय ऋणिकाद् बली ।

अन्याहृतादि वाऽऽहृत्य दाप्यते तत्र सोपधिः ॥

दारपुत्रपशुन् हत्वा कृत्वा द्वारोपवेशनम् ।

वत्रार्थी दाप्यतेऽर्थं स्वं तदाचरितमुच्यते ॥

(विज्ञानेश्वर ने तो ‘अचरितेन’ शब्द को अभिप्रेत मान कर ‘अभोजनेन’ अर्थ किया है । अपराकं के अनुसार ‘आचरितेन = देसाचारेण’ अर्थ है ।)

यद्ध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः ।

ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥

(बलं = भोजननिषेधादिना पीडनम्—अपरार्कः)

पूर्व-पूर्व उपाय के अभाव में उत्तरोत्तर का अनुसरण करना चाहिए ।

श्लो० ४३—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

ऋणिनं निर्धनं कर्म गृहमानीय कारयेत् ।

शौण्डिकाणम् , ब्राह्मणस्तु दापनीयः शनैः शनैः ॥

किन्तु यदि उत्तमर्ण अधमर्ण से पूर्वोक्त अनुचितकर्म करवाता है तो अधमर्ण ऋणमुक्त हो जाता है और उत्तमर्ण दण्ड्य हो जाता है । अत एव कात्यायन का कथन है :—

यदि द्वादावनादिष्टमशुभं कर्म कारयेत् ।

प्राप्नुयात्साहसं पूर्वमृणान्मुच्येत चर्णिकः ॥

श्लो० ४४—वर्धते न ततः परम्—अत एव संवर्त का वचन है :—

न वृद्धिः स्त्रीधने लाभे निक्षेपे च तथा स्थिते ।

सन्दिग्धे प्रातिभाष्ये च यदि न स्यात् स्वयङ्कृता ॥

स्थिते = मध्यस्थ के यहाँ जमा किये हुए धन की । यदि न स्यात् स्वयङ्कृता का तात्पर्य है कि यदि अधमर्ण वृद्धि की प्रतिज्ञा नहीं की हो तो वृद्धि नहीं होती, अन्यथा उपर्युक्त धन में भी वृद्धि होती है ।

श्लो० ४५—अत एव नारद का भी वचन है :—

विदुष्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदणं कृतम् ।

मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थं दद्युः तत्सर्वमृक्थिनः ॥

श्लो० ४६—न पुत्रेण कृतं पिता—इसका अपवाद बृहस्पति ने बत-
काया है :—

ऋणं पुत्रकृतं पित्रा शोध्यं यदनुमोदितम् ।

सुतस्नेहेन वा दद्याद् नान्यथा दानुमर्हति ॥

यहाँ पुत्र पद उपलक्षण है योषिदादि का भी । अतः भार्या आदि के द्वारा कृत ऋण भी स्वानुमोदित होने पर समाधेय है ।

श्लो० ४७—तथैव—बह प्रातिभाष्य तथा क्रोधकृत ऋण का भी उपलक्षण है । प्रातिभाष्य का निर्देश मनु ने किया है :—

प्रातिभाष्यं वृषा दानमाचिकं सौरिकं च यत् ।

दण्डशुक्लावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥
दर्शनप्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात् पूर्वोदितः ।

क्रोधकृत ऋण का निर्देश नारद ने किया है :—

न पुत्रं पिता दद्याद् दद्यात् पुत्रस्तु पैतृकम् ।
काम-क्रोध-सुरा-द्युत-प्रातिभाष्यकृतं विना ॥

क्रोधकृत ऋण की परिभाषा कात्यायन ने की है :—

यत्र हिंसां समुत्पाद्य क्रोधाद् द्रव्यं विनाश्य वा ।
उक्तं तुष्टिकरं यत्तु विद्यात् क्रोधकृतं हि तत् ॥

परस्य हिंसां धनविनाशं वा क्रोधात् कृत्वा तत्तुष्टये यद्द्रव्यं दातव्य-
त्वेन भङ्गीकृतं तत् क्रोधकृतम्—(अपरार्कः)

श्लो० ४९—प्रतिपन्नम्—कभी कभी अप्रतिपन्न ऋण को भी चुकाना
पड़ता है, जैसा कात्यायन ने कहा है :—

मर्तुकामेन या भर्त्रा प्रोक्ता देयमृणं स्वया ।
अप्रपन्नाऽपि सा दाप्या ऋणं पत्याश्रितं स्त्रियाः ॥

श्लो० ५२—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षित्वं प्रातिभाष्यं वा दानं ग्रहणमेव च ।
विभक्ताः भ्रातरः कुर्युः नाविभक्ताः परस्परम् ॥

परन्तु यदि सर्वानुमत हो तो अविभक्त को भी साक्षित्व आदि का
अधिकार हो सकता है ।

श्लो० ५३—बृहस्पति ने चार प्रकार का प्रतिभू बतलाया है :—

दर्शने प्रत्यये दाने ऋणद्रव्यार्पणे तथा ।
चतुष्प्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥
प्राहैको दर्शयिष्यामि साधुरेषोऽपरोऽब्रवीत् ।
दाता तवैतद् द्रविणमर्पयाभ्यपरोऽब्रवीत् ॥
आद्यौ तु वितथे दाप्यौ तत्कालावेदितं धनम् ।
उत्तरौ तु विसंवादे तौ विना तत्सुतौ पुनः ॥

सुता अपि—सुत शब्द के प्रयोग से मनु के वचन में प्रयुक्त 'दायाद'
(दान-प्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्) शब्द से पुत्र-पौत्रादि-संग्रह-
विषयक भ्रम का निवारण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि पुत्रमात्र
ही प्रातिभाष्य का समर्पण करे पौत्र आदि नहीं । अत एव कात्यायन का
मत है :—

प्रातिभाष्यागतं पौत्रैर्दातरथं न तु तत् कश्चित् ।

पुत्रेणापि समं देयम् ऋणं सर्वत्र पैतृकम् ॥

समम् = वृद्धिरहितम् ।

श्लो० ५५—एकच्छायाश्रिताः = प्रत्येकं विकल्पेन सकलधनदायकत्व-
माश्रिताः—(अपरार्कः)

श्लो० ५६—द्विगुणम्—यदि धनिक के द्वारा प्रतिभू ऋणिक-गृहीत
धन देने के लिए पीड़ित हुआ हो तब की स्थिति है । साधारणतः अपने धन
का समान रूप ही प्रतिभू ऋणिक से प्राप्त करने का अधिकारी है । अतः एक
कात्यायन का कथन है—

वस्यार्थे येन यद् दत्तं विधिनाऽभ्यर्थितेन तु ।

साक्षिभिर्भावितेनैव प्रतिभूस्तस्मात्पुन्यात् ॥

द्वैगुण्य की अवधि बृहस्पति ने बतलायी है :—

त्रिपक्षापरतः सोऽर्थं द्विगुणं लब्धुमर्हति ॥

श्लो० ५७—क्षीपशुषु = गोमहिष्यादिषु—(अपरार्कः) स्त्री च पशुश्च...
वास्यादि छाग्यादि च—(शूलपाणिः)

श्लो० ६०—स्वीकरणात् = परिग्रहात्.....स्वीकरणं च भोग्याधौ
भोगपर्यन्तं गोप्याधौ भाण्डागारप्रवेशपर्यन्तम्—(अपरार्कः)

श्लो० ६१—प्रयोजके = बन्धकग्रहीतरि । असति = मृते प्रोषिते वा
(अपरार्कः)

श्लो० ६६—राजदैविकतस्करैः—अत एव मनु का भी मत है :—

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव च ।

न दद्याद् यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥

श्लो० ६९—साक्षिणः—साक्षी शब्द का विवेचन मनु ने किया है :—

समचदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।

यथाजाति यथावर्णम्—अत एव मनु का कथन है :—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।

शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्यथानामन्यथोनयः ॥

श्लो० ७२—एकोऽपि—अत एव मनु का कथन है :—

एकोऽनुबन्धस्तु साक्षी स्यात्... ।

प्यास का भी मत है :—

शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् ।

प्रमाणमेकोऽपि अनेक साहसेषु विशेषतः ॥

साहसम् = "स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्" (मनुस्मृतिः)

श्लो० ७८—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं बहवो मताः ।

तत्साम्ये शुचयो ब्राह्मणस्तत्साम्ये शुचिमतः ॥

श्लो० ८१—विवाहस्यो ब्राह्मणः—अतएव मनु ने कहा है :—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।

राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समप्रधनमक्षतम् ।

कौटसापयं तु कुर्वाणास्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।

प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणस्तु विवासयेत् ॥

मौण्डयं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।

इतरेषान्तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ इत्यादि ।

श्लो० ८३—चरुः सारस्वतः—इसका विकल्प मनु ने बतलाया है :—

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।

उद्दिष्टृचा वा वारुण्या तृचेनावदैवतेन तु ॥

द्वादशरात्रे पयः पिबन् कूष्माण्डैर्जुहुयात् (बौधायनः)

शूद्रश्चैकदिनकं गोदशकस्य प्राप्तं दद्यात् (विष्णुः)

श्लो० ८६—स्वहस्तेन—यह अक्षराभिज्ञ ऋणी के विषय में है । अक्षरा-
भिज्ञ ऋणी को अन्य सत्पुरुष द्वारा लिखवाना चाहिए । अत एव व्यास का
कथन है :—

अलिपिज्ञ ऋणी यः स्यात्लेखयेत् स्वमतं तु सः ।

श्लो० ९५—दिव्य का विषय नारद ने बतलाया है :—

यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम् ।

तदा दिव्यैः परीक्षेत शपथैश्च विभावयेत् ॥

शीर्षकस्थे = यदि अभियोक्ता साभिमान ऐसा उद्घोष करे कि याद अभि-
युक्त अपराधी नहीं सिद्ध होगा तो वह अभियोक्ता स्वयं दण्डभागी बनेगा—
तो (तुला आदि दिव्य का प्रयोग होना चाहिए) ।

श्लो० ९८—यहाँ कार्यायन का वचन द्रष्टव्य है :—

राजन्येऽग्निं घटं विभ्रे वैश्ये तोयं निधापयेत् ।

सर्वेषु सर्वं दिव्यं वा विषवर्जं द्विजोत्तमे ॥

गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारकुलीकवान् ।

मेघवान् पार्श्वविकारकैव ग्राहयेत् शूद्रवद् द्विजान् ॥

श्लो० ९९—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अव-
धेय हैं :—

संख्या रश्मिरजोमूला मनुना समुदाहृता ।
कार्पाणान्ता सा दिव्ये नियोज्या विनयेत्तथा ॥
विषं सहस्रेऽपहृते पादोने तु हुताशनः ।
त्रिपादोने च सलिलमर्धे देयो घटः सदा ॥
चतुःशताभियोगे च दातव्यस्तसमाषकः ।
त्रिंशते तण्डुला देयाः कोशश्चैव तदर्धके ॥
शते हृतेऽपहृते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।
गोचौरस्य प्रदातव्यः सभ्यैः फालः प्रयत्नतः ॥
एका संख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।
चतुर्गुणोत्तमानां च कल्पनीया परीक्षकैः ॥

निकृष्टानां = जाति, गुण तथा कर्म से निकृष्ट ।

श्लो० १००—१०२—प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः । इसका तात्पर्य है कि दिव्यकर्त्ता के तौलने के समय तुला की रज्जु की लम्बाई जितनी रहे उसको परीक्षा के समय यथावत् समझने के लिए रज्जु की उस बिन्दु (जहाँ तुला संलग्न रहे) पर रेखा डाल देनी चाहिए । यह विधि अधिवास के दिन की है । अधिवास के दिन एक बार दिव्यकर्त्ता को तौलना चाहिए । और तौलने के बाद दिव्यकर्त्ता तुला से उतर कर तुला को अभिमन्त्रित करे । अतः 'रेखांकृत्वाऽवतारितः' से लेकर 'तुलामित्यभिमन्त्रयेत्' तक का कार्य अधिवास के दिन का है—यह ध्यान रखना चाहिए । इसके बाद पर दिन में अभिमन्त्रित तुला पर दिव्यकर्त्ता को तौलना चाहिए । तौलने के बाद निर्णय के प्रकार का निर्देश निम्न-लिखित श्लोक में किया गया है :—

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धः स्यान्न संशयः ।

समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः ॥

अथपि मिताक्षरा में यह श्लोक पितामह के नाम से उद्धृत है तथापि वीरमित्रोदयकार के अनुसार यह मूल याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही माना जाता है । विचार करने पर यही उचित भी लगता है कि यह मूल-ग्रन्थ का है । यदि इसे मूल श्लोक नहीं माना जाय तो मूल में न्यूनता रह जाती है, क्योंकि तुला-परीक्षा के निर्णय का प्रकार अस्पष्ट ही रह जाता है । अतः इस श्लोक को मूल-ग्रन्थ का ही मानना उचित है । भूमिकासंगत

श्लोक संख्या विवरण के प्रसङ्ग में इस का सङ्केत नहीं हो सका । अतः पाठक से क्षमा-याचना अपेक्षित है ।

श्लो० १०३—अश्वत्थपत्राणि—यहाँ अपरार्क में उद्धृत निम्न-लिखित स्मृति पर ध्यान देना अपेक्षित है :—

पितामहः—

सप्त पिप्पलपत्राणि क्षमीपत्राण्यश्वाक्षतान् ।

हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र तन्तुसूत्रस्य सप्त वै ॥

वीरमित्रोदय में कुङ्कु और भी विशेष बात बतलाई गई है :—

“अत्र, “क्षम्यक्षतन्तथा दूर्वा दत्त्वा पत्रेषु विन्यसेत्” इति विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः” ।

श्लो० १०६—मण्डलानि—गोमय के द्वारा निर्मित होना चाहिए ।

श्लो० १०७—मुक्ताग्निम्—यहाँ शूलपाणि का कथन अवश्य-ध्येय है :—

“गत्वा तत्तु तृणे क्षिपेत्” इति कालिकापुराणवचनात् ।

अग्निवर्णं लोहपिण्डं तृणचये क्षिपेत्वा..... ॥

अद्वयः—करभिन्ने अङ्गो दग्धोऽपि शुद्ध एव (वीरमित्रोदयः)

श्लो० ११४—इच्छया—यह केवल पिता के द्वारा अर्जित धन में ही, यदि पितामह आदि का अर्जित हो तो पिता को अनिच्छा से भी विभाज हो सकता है । अतएव बृहस्पति का कथन है :—

क्रमागते गृहक्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः ॥

श्लो० ११५—पत्न्यः = पुत्रशून्याः—शूलपाणिः ।

श्लो० ११६—अनीहमानस्य—यः पुत्रः धनार्जनसमर्थतया पितृधनं नेच्छति, यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्यार्जनरक्षणानुकूलं चेष्टां न कुरुते तस्मै किञ्चिदसारं दत्त्वा पित्रा पृथक् क्रिया कार्या—(अपरार्कः) यह नियम पिता की सम्पत्ति के विभाजन में नहीं होता अपि तु सभी भाई जो कृषि आदि के द्वारा धनार्जन करते हैं उस धन में आलस्यवशात् कार्यविमुख आता अंशहर नहीं हो सकता है । इसी प्रकार विद्या आदि से स्वतन्त्र धन को अर्जित करने की शक्ति से सम्पन्न आता को भी पहले ही पृथक् कर देना चाहिए । इसका कारण यह है कि जो विद्या से अर्जित धन होता है उसमें दूसरे का अंश नहीं होता है एवञ्च यदि सभी साथ रहें तो विद्या से अर्जन करने वाले को समूह में कृषि के द्वारा अर्जित धन में अंश मिल जाता है

और विद्या से भी अतः विद्या-प्राप्त व्यक्ति को अनुचित लाभ से रोकने के लिए यह नियम बतलाया गया है । धर्मः—अत एव बृहस्पति का वचन है :—

समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।

तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

श्लो० ११७—अन्वयः—दुहित्रभावे दुहित्रन्वयः, तदभावे पुत्रादिरेव—
(अपराधः)

श्लो० ११९—विद्या लब्धम्—विद्यालब्ध धन की व्याख्या कात्यायन ने निम्नलिखित वचनों द्वारा की है :—

परमक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।

तथा च प्राप्तं विधिना विद्या-प्राप्तं तदुच्यते ॥

उपन्यस्ते च यत्कलब्धं विद्या पणपूर्वकम् ।

विद्याधनं तु तद्विद्याद् विभागे न विभज्यते ॥

शिष्यादास्विज्यतः प्रश्नात् सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।

स्वज्ञानशंसनाद् वादाद् लब्धं प्राज्यधनाच्च यत् ॥

विद्याधनन्तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥

श्लो० १२०—समः स्मृतः—“एतद्विद्यानाम् इत्याह मनुः—

अविद्यानां च सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागः स्यादपिड्य इति धारणा ॥” (शूलपाणिः)

श्लो० १२१—निबन्धः = आकरादी राजादिदत्तं नियतद्रव्यम्—
(शूलपाणिः)

सदृशं स्वाग्र्यम्—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जङ्गमे तथा ।

सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

श्लो० १२२—विभागभाक् = पिता के धन का भागी होता है । यह नियम विभाग के उत्तर काल में यदि सवर्णा में गर्भाधान हुआ हो, तब उप-युक्त है । विभाग से पूर्व ही गर्भाधान होने पर तो सर्व-भातु-सम-अंश का भागी होता है :—

पितृविभक्तविभागानन्तरोपपन्नस्य भागं दद्युः (विष्णुः)

उपयुक्तं मतं शूलपाणि का है ।

श्लो० १२३—माता—इस प्रसङ्ग में कुछ विशेष बात व्यास ने कहा है :—

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।

पितामहश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥

श्लो० १२६—द्रव्यं समैरंशैः—यह ऋण का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।

पश्चाद् दृश्येत यत् किञ्चित् तत्सर्वं समतां नयेत् ॥

श्लो० १३०—पौनर्भवः—इसका लक्षण कात्यायन ने बतलाया है :—

वकीर्षं विहाय पतितं या पुनर्लभते पतिम् ।

तस्यां पौनर्भवो जातो व्यक्तमुत्पादकस्य सः ॥

श्लो० १३१—गर्भे विन्नः सहोदजः—

इसका स्पष्ट लक्षण मनुस्मृति में किया गया है :—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।

बोद्धुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥

श्लो० १३२—पुत्र-प्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक एव कलियुगे प्राज्ञः । अत एव कलौ निवर्त्तन्ते इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—

दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः । (अपराकः)

श्लो० १३५—पितरौ—यद्यपि विग्रह-वाक्य में (माता च पिता च = पितरौ) मातृ का प्रथम प्रयोग होता है; अतः पत्नी के बाद दुहिता तथा दुहिता के बाद माता, पिता इत्यादि क्रम प्रतीत होता है और विज्ञानेश्वर ने यही माना भी है तथापि यहाँ विग्रहगत पौर्वापर्य विवक्षित नहीं है । एवञ्च पत्नी, दुहिता, पिता, माता इत्यादि क्रम समझना चाहिए । अतएव विष्णु का वचन है :—

अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्र-गामि, तदभावे सकुल्यगामि ।

अत एव कात्यायन का भी मत है :—

अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा ।

तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्त्तिताः ।

पुत्राः = भ्रातृपुत्राः । किन्तु शूलपाणि ने अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे पितृगामि.....ऐसा ही उपर्युक्त विष्णु-वचन का स्वरूप माना है ।

कुल्लुकभट्ट का मत कुछ और ही है ।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।

मातर्यपि च वृत्ताणां पितुर्माता हरेद्वनम् ॥

इस श्लोक की व्याख्या में कुल्लुकभट्ट का कथन निम्नलिखित है :—

“अनपत्यस्य पुत्रस्य धनं माता गृह्णीयात्, पूर्वं “पिता हरेदपुत्रस्य रिक्तम्” इत्युक्तत्वात् इह ‘माता हरेदि’त्यादि । याज्ञवल्क्येन ‘पितरौ’ इत्येकशेषकरणात्, विष्णुना च—अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि इत्येकशेषस्यैव कृतत्वात् मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम् ॥”

यहाँ पत्नी का अर्थ पतिव्रता पत्नी है । अत एव वृद्ध मनु का कथन है :—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।

पत्न्येव दद्यात् तस्मिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥

अन्यथा तो सोदर को अधिकार होता है । इस पक्ष में निम्न लिखित शास्त्र-लिखित वचन प्रमाण है :—

अथापुत्रस्य स्वयार्तस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे मातापितरौ लभेतां पत्नी वा ज्येष्ठा ।

श्लो० १४०—जडः = स्वधर्मकृत्ये निरुत्साहः—(शूलपाणिः)

श्लो० १४१—विभागव्यञ्जक तर्कों का उल्लेख नारद ने किया है :—

पृथगायव्ययधनाः कुसीदं च परस्परम् ।

वणिक्पथं च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संशयः ॥

श्लो० १६०—विहीतः = तृण आदि के निमित्त सुरक्षित भूमि ।

श्लो० १६१—गोमी = गोस्वामी । गो के द्वारा भक्षित धान्य की याचना में उशना ने दोष बतलाया है :—

गोमिर्विनाशितं धान्यं यो नरः प्रातेयाचते ।

पितरस्तस्य नाश्नन्ति न चाश्नन्ति दिवौकसः ॥

(तस्य धान्यम् न अश्नन्ति) ।

श्लो० १६७—धनुः = चतुर्हस्तो धनुः । सर्वटः = प्रामादधिकः नगरान्यूनः गृहसमूहः—(अपरार्कः)

श्लो० १—स्वं लभेत—अस्वामिविक्रीत पदार्थ में स्वामी का स्वत्व नष्ट नहीं होता है :—

अस्वामिनो कृतो वस्तु दायो विक्रय एव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः ॥

श्लो० १७१—यहाँ मनु ने विशेषता बतलाई है :—

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥

श्लो० १७२—अर्वाक् संवत्सरात्—मनु के द्वारा “राजा शब्दं निधा-
पयेत् ।” जो कहा गया है वह सुवर्णादि स्थिर वस्तुओं के विषय में है, ऐसा
शूलपाणि का मत है ।

श्लो० १७५—नान्वये सति सर्वस्वम्—एतच्च प्राग्दायविभागात्,
विभक्तदायेषु तु पुत्रेषु सर्वस्वदानमनिषिद्धम्—(अपराकः)

श्लो० १७६—दत्त्वा नापहरेत्—अपहरण करने पर दोष का निर्देश
हारीत ने किया है :—

प्रतिधृताऽप्रदानेन दत्तसंच्छेदनेन च ।

विविधाभरणकान्याति तिर्यग्योनौ च जायते ॥

श्लो० १७७—परीक्षण के पहले दोष निकलने पर कृत्य का निर्देश
बृहस्पति ने किया है :—

अतोऽर्वाक् पण्यदोषस्तु यदि संजायते क्वचित् ।

विक्रेतुः प्रतिदेयं तत् क्रेता मूल्यमवाप्नुयात् ॥

मूल्य का तात्पर्य है कि बिना सूद का ही मूलधनमात्र प्रत्यर्पणीय
होता है ।

श्लो० १८३—आमरणान्तिकम्—अत एव नारद का कथन है :—

राज्ञ एव तु दासः स्यात् प्रव्रज्याऽवसितो नरः ।

न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धिः कथञ्चन ॥

द्वावेव कर्मचाण्डालौ लोके दूरवहिष्कृतौ ।

प्रव्रज्योपनिवृत्तश्च वृथा प्रव्रजितश्च यः ॥

‘वृथा प्रव्रजितः’ का अर्थ है प्रव्रज्या का अनधिकारी शूद्र यदि प्रव्रज्या का
ग्रहण करे तो उससे भी आमरण दास्य करवाना चाहिए । परन्तु ब्राह्मण के
प्रव्रज्याच्युत होने पर भी दास्य विहित नहीं है । ब्राह्मण के दण्ड का निरूपण
बृह ने किया है :—

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।

श्वपादेनाङ्कितं तन्तु राजा शीघ्रं विवासयेत् ॥

काश्यायन-कथित प्रकार भी निम्नलिखित है :—

प्रव्रज्याऽवसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

निर्वासं कारयेद्विप्रं दासत्वं चम्रविन्नुपः ॥

श्लो० १८५—इस प्रसंग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अवधान-योग्य हैं :—

राजा वेदविदो विप्रान् ओत्रियानग्निहोत्रिणः ।
आकृत्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
नित्यं नैमित्तिकं कार्यं शान्तिकं पौष्टिकन्तथा ।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते सन्दिग्धौ निर्णयस्तथा ॥

श्लो० १९३—कर्म त्यजन् = समर्थ होकर भी कर्म नहीं करने वाला भृत्य ।

श्लो० १९४—दशमं भागम्—यह नियम अल्पश्रमकारी भृत्यों के विषय में है । यदि श्रमाधिक्य हो तो निम्नलिखित बृहस्पति-वचनों के आधार पर विधान करना चाहिए :—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः ।
भक्ताच्छादभृतः सीराद्भागं गृह्णीत पञ्चमम् ।
जातसस्यात् त्रिभागन्तु प्रगृह्णीयादथाऽभृतः ॥

भक्त = भोजन, आच्छाद = बस्त्र, आवास आदि, अभृतः = भोजनादि-रहित भृत्य ।

श्लो० १९७—आण्डम् = वणिग्धनम् कुक्कुमादिकम् ।

श्लो० २००—जेत्रे दद्यात्—यहाँ निम्न-निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन अवधान-योग्य है :—

रहो-जितोऽनभिज्ञश्च कूटाक्षैः कपटेन वा ।
मोच्योऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितः सर्वं न दाप्यते ॥

श्लो० २०२—सचिह्नं निर्वास्याः—नारद के अनुसार चिह्न का अर्थ है :—

कूटाक्षवेदिनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् ।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥

यहाँ द्वितीय पाद में शूलपाणि के अनुसार “निर्हरेद् द्यूतमण्डलात्” पाठ है, न कि ‘राष्ट्राद्विवासयेत्’ (यह पाठ मिताक्षरा में है) । विनयः = दण्ड । विष्णु के अनुसार चिह्न का अर्थ निम्नलिखित है :—

द्यूते च कपटाक्षदेविनां करच्छेदः, उपधिदेविनां संदंशच्छेदः ।

उपधिः = हस्तचाहुरी से यथेच्छ रूप में अक्ष का देवन-प्रकार । संदंश =

यद्यपि मनु ने कहा है कि—

घृतं समाह्वयं चैव यः कुर्याद् यस्तु कारयेत् ।

तान्सर्वान् चातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥

तथापि यह नियम राजपुरुषानधिष्ठित घृत आदि के विषय में है । अतः एव बृहस्पति का कथन है :—

घृतं निषिद्धमनुना सत्यशौचधनापहम् ।

तत्प्रवर्तितमन्यैश्च राजभागसमन्वितम् ॥

श्लो० २११—वाक्पातुष्यप्रकरणोक्त दण्ड में हास का कारण उशना ने बतलाया है :—

मोहात् प्रमादात् संहर्षात् प्रीत्या चोक्तं मयेति यः ।

नाहमेवं पुनर्वचये दण्डार्थं तस्य कल्पयेत् ॥

श्लो० २१२—यह दण्ड-पातुष्य का प्रकरण है । दण्ड-पातुष्य का लक्षण बृहस्पति ने बतलाया है :—

दण्ड-पाषाण-लगुहैर्मैस्म-कर्दम-पांसुभिः ।

आयुधैश्च प्रहरणं दण्ड-पातुष्यमुच्यते ॥

श्लो० १२२—समुत्थानजं व्ययम्—तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति का घण आदि निवृत्त जब तक होता है तब तक का सारा खर्च व्रणकर्त्ता को देना होता है । अतः एव कार्यायन का कथन है :—

समुत्थानव्ययं चासौ दद्यादावणरोपणात् ॥

इस नियम के अपवाद नारद के द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं :—

अनुशास्यो गुरुणां तु न चेदनुविधीयते ।

अवधेनाथ वा हन्याद् रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥

भृशं न ताडयेदेनं नोत्तमाङ्गे न चोरसि ।

अनुशास्य च विश्वास्यः शास्यो राज्ञाऽन्यथा गुरुः ॥

पुत्राऽपराधे न पिता श्ववान्न शुनि दण्डभाक् ।

न मर्कटे च तत्स्वामी तेनैव प्रहृतो नु चेत् ॥

अवधेन = अहिंसया ।

श्लो० २२८—चैत्यः = मनोहर स्थान—(अपरार्कः) चैत्यः उद्देशवृत्तः—

(शूलपाणिः)

श्लो० २२९—यहाँ विष्णु का वचन अवधान देने योग्य है :—फलोपभोग-मुमच्छेदी वृत्तमसाहसं दण्डवः । पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमम् । वल्लीगुल्मल-ताच्छेदी कार्पाषण-स्तम् ॥ लृणच्छेदकेम् ॥

श्लो० २३९—साक्षिणाम्—जो व्यक्ति विरोध का समाधान करने में समर्थ होकर भी ईर्ष्या-द्वेषादि के कारण समाधान नहीं करता है अपि तु पिता-पुत्र के विवाद में साक्षित्व को स्वीकार करता है, उस वर्ग के लोगों के लिए 'त्रिपणो दमः' कहा गया है। यह नियम भी मध्यम अपराध के लिए है। यदि अपराध अधिक हो तो निम्न-लिखित विष्णु के वचन के अनुसार दण्ड करना चाहिए :—

पितृ-पुत्र-विरोधसाक्षिणां दशपणो दण्डः ।

यस्तयोरन्तरे तस्योत्तमसाहसो दण्डः ॥

श्लो० २४१—नाणकपरीक्षी = टक्क-परीक्षक । यहाँ निम्न-निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन को देखना चाहिए :—

अल्पमूल्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूल्यताम् ।

स्त्रीबालकान् वञ्चयन्ति दण्डव्यास्तेऽर्थानुरूपतः ॥

हेम-मुक्ता-प्रबालाद्यं कृत्रिमं कुर्वते तु ये ।

क्रेत्रे मूल्यं प्रदाप्यास्ते राजा तद्विगुणं दमम् ॥

श्लो० २४२—तिर्यङ्गु = गो आदि पशुओं के विषय में ।

श्लो० २४९—कारुः = तन्तुवाय । सम्भूय = राजा की अनुमति के बिना ही अपने वर्ग में मिलकर ।

श्लो० २५२—सद्यः—इससे यह स्पष्ट है कि विलम्ब होने पर यह नियम नहीं है। इसी का प्रपञ्च अग्रिम श्लोक में किया गया है, जिससे अव्यवस्था नहीं हो जाय ।

श्लो० २५४—विष्णु के अनुसार विक्रीयासम्प्रदान में दण्ड भी निर्दिष्ट है :—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव दद्यात् तस्यासौ

सोदयं दाप्यः राजा च पणशतं दण्डयः ॥

श्लो० २५५—अत एव नारद का भी कथन है :—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी ।

स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः ॥

श्लो० २५९—यहाँ समवाय मे प्रतिषिद्ध तथा विहित व्यक्तियों का निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

अनाकालसरोगार्त्तमन्दभाग्य-निराश्रयैः ।

वाणिज्याद्याः सहैतैस्तु न कर्त्तव्या बुधैः क्रियाः ॥

कुलीनदत्तानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः ।

आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात् सह क्रियाः ॥

निराश्रयैः = मूलधनहीन व्यक्तियों के साथ (नहीं करना चाहिए)
लाभाऽलाभौ यथाद्रव्यम्—अत एव नारद का कथन है :—

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।

आधारभूताः प्रक्षेपाः उत्तिष्ठेरंस्ततोऽशतः ॥

समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्रांशो यस्य यादृशः ।

क्षयाऽक्षयौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः ॥

उन सबों में परस्पर-विवाद उपस्थित होने पर निर्णय का प्रकार
बृहस्पति ने बतलाया है :—

परीक्षकाः साक्षिणश्च त एवोक्ताः परस्परम् ।

सन्दिग्धेऽर्थेऽवञ्चनीया न चेद्विद्वेषसंयुताः ॥

यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रय-विक्रये ।

शपथैः स विशोध्यः स्यात् सर्ववादेऽप्ययं विधिः ॥

श्लो० २६०—दशमांशभाक्—दशम अंश तो रक्षा-कार्य के पुरस्कार के
रूप में देकर शेष में यथोचित अंश का भागी होता है । अत एव बृहस्पति का
कथन है :—

दैवराजभयाद् यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।

तस्यांशं दशमं दत्त्वा गृहीयुस्ततोऽशतोऽपरम् ॥

श्लो० २७७—प्रमापणम् = हत्या ।

श्लो० २७९—गोभिः प्रमापयेत् = तीक्ष्णशृङ्ग बलीवर्द के द्वारा मरवाना
चाहिए । अपरार्क ने तो 'गोभिः प्रवासयेत्' पाठ मान कर 'बलीवर्दमारोप्य
देशाद्वहिः कुर्यात्'—ऐसा अर्थ किया है ।

श्लो० २८४—संग्रहण के तीन भेद का निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।

तत्पुनस्त्रिविधमोक्तं प्रथमं मध्यमोत्तमम् ॥

अनिच्छन्त्या यत् क्रियते सुप्तोन्मत्त-प्रमत्तया ।

रहसि प्रलपन्त्या वा बलात्कारकृतं तु तत् ॥

छद्मना गृहमानीय दत्त्वा वा मद्यकर्मणम् ।

संयोगः क्रियते यस्याः तदुपाधिकृतं विदुः ॥

अन्योन्य-चक्षुरागेण दूतीसंग्रहेण च ।

कृतं रूपार्थलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम् ॥
 अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दूतीसम्प्रेषणन्तथा ।
 स्पर्शो भूषण-वस्त्राणां प्रथमः संग्रहः स्मृतः ॥
 प्रेषणं गन्धमाख्यानां फलमत्यञ्जवाससाम् ।
 सम्भाषणं च रहसि मध्यमं संग्रहं विदुः ॥
 एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गने तथा ।
 एतत्संग्रहणमोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ॥

श्लो० २९१—प्रसह्य दास्यभिगमे—परदासीं हठादभिगच्छतो दशपणो
 वृणहः—(अपरार्कः)

श्लो० २९४—कुबन्धेन—यहाँ अपरार्क तथा शूलपाणि ने 'कबन्धेन' पाठ
 माना है और इसका शिरोरहित पुरुष के आकार का अङ्कन अर्थ किया है ।

धर्मशास्त्रानुसारेण प्रथितेयं यथामति ।

टिप्पणी याज्ञवल्क्योक्त-व्यवहारे समापिता ॥



प्रायश्चित्ताध्याय

श्लो० १—ऊनद्विवार्षिकम्—यह नियम चूड़ाकरणहीन शिशु के लिए है। यदि तु प्रथम वर्ष में ही चूड़ाकरण हो जाता है, अनन्तर शिशु की सृष्टि होती है तो वहाँ बिना मन्त्र से ही अग्नि संस्कार तथा उदक-दान करना ही चाहिए। अत एव लौगाशि का कथन है :—

तूष्णीमेवोदकं कुर्यात् तूष्णीं संस्कारमेव च।

सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥

अधिक विवरण तो मिताक्षरा में ही दिया गया है।

प्रेत-निर्हरण में दिशा का नियम आदिपुराण में बतलाया गया है :—

पूर्वमुखस्तु नेतव्यो ब्राह्मणो बन्धवैर्गृहात्।

उत्तराभिमुखो राजा वैश्यः पश्चान्मुखस्तथा।

दक्षिणाऽभिमुखः शूद्रो निर्हर्त्तव्यः स्वबान्धवैः ॥

श्लो० २—यमसूक्तम्—‘परेयिवांसम्’ इत्यादि सूक्त (ऋग्वेद ७। ६। १४)। यम-गाथा—नाके सुपर्णम् इत्यादि मन्त्र (ऋग्वेद ७। ३। ११)।

श्लो० ४—कामोदकम्—अत एव पारस्कर का भी कथन है :—“कामोदकम् ऋत्विक् श्वशुर-सखि-मातुल-भागिनेयानाम्”।

श्लो० ५—सकृत्प्रसिञ्चन्ति—यह उदक प्रेत को प्राप्त होता है। अत एव रामायण में कहा गया है :—

इदं पुरुषशार्दूल विमलं दिव्यमक्षयम्।

पितृलोकेषु पानीयं महत्तमुपतिष्ठताम् ॥

सकृत्—त्रित्व का भी विधान शास्त्र में है :—

प्रेतं मनसा ध्यायन् दक्षिणाऽभिमुखः त्रीन् उदकाञ्जलीन् निनयेत्—(पैठी-नसि।

अतः विकल्प मानना चाहिए। न ब्रह्मचारिणः—यह उपलक्षण है। अत एव बृहस्पति ने कहा है—

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।

नाऽऽशौचं सूतके प्रोक्तं शावे वाऽपि तथैव च ॥

श्लो० ८—मानुष्ये कदली०—यह उपलक्षण है। यथासमय उपदेश देकर संस्कर्ता को शान्त करना चाहिए।

श्लो० १६-^६क्रीत-लब्धाशनाः—यहाँ निम्नलिखित बृहस्पति-वचन द्रष्टव्य है :-^६

अधः शय्यासनाः दीना मलिना भोगवर्जिताः ।

अक्षार-लवणान्नाः स्युः लब्धक्रीताशनास्तथा ॥

श्लो० १८-^३त्रिरात्रं दशरात्रं वा—ये दोनों पक्ष क्रमशः सकुल्य अधवाः समानोदक एवं सपिण्ड के लिए हैं । अत एव बृहस्पति का वचन है :—

दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेत-सूतके ।

त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः ॥

इसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मण से है । क्षत्रियादि के लिए क्षत्रस्य द्वादशा-
हानि आदि श्लोक में बतलाया जायगा ।

श्लो० २०-^७शेषाहोभिः—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

आशौचे वर्तमाने तु पुनर्दाहक्रिया यदि । तच्छेषेणैव शुद्धिः स्यात्... ॥
अधिक विवेचन के लिए धर्मशास्त्र-निबन्ध द्रष्टव्य हैं ।

श्लो० २७—नाशौचम्—परन्तु मनु आदि ने सद्यः शौच माना है :—

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।

प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥

द्विभाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च ।

गो-ब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छ्रुति पार्थिवः ॥

बृहस्पति का भी यही मत है :—

राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः ।

द्विभाहवे विद्युता च राज्ञा गोविप्रपालने ।

सद्यः शौचं हतस्याहुः ज्यहं चान्ये महर्षयः ॥

श्लो० ३५—आपस्काल में भी ब्राह्मण को शूद्र-वृत्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अजीवन् कर्मणा स्वेन विप्रः क्षत्रं समाश्रयेत् ।

वैश्यकर्मार्थवा कुर्यात् वार्षलं परिवर्जयेत् ॥

पावयित्वा—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का मत भी निम्नलिखित है :—

लब्ध-लाभः पितृन् देवान् ब्राह्मणांश्चैव भोजयेत् ।

ते तुष्टास्तस्य तं दोषं शमयन्ति न संशयः ॥

श्लो० ४८—दाग्तः = शीतातपादिदुःखसहिष्णुः—(शूलपाणिः)
अनिषिद्धोद्यमः, मृषावादादिभ्य उपरतः—(अपराकः)

श्लो० ५४—वानप्रस्थगृहेषु—यदि सम्भव हो तब । अन्यथा निम्नलिखित मनुस्मृति के अनुसार भिक्षाहरण करना चाहिए :—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥

श्लो० ५५—भुञ्जीत वाग्यतः—यहाँ भी निम्न निर्दिष्ट मनु-वचन द्रष्टव्य है :—

ग्रामादाहृत्य वाऽशनीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥

वायु-भक्षः—वायुपद जल का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

भानिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥

श्लो० ५७—नान्यथा—अत एव मनु ने कहा है :—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुपाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् ब्रजस्यधः ॥

श्लो० ५८—त्रिदण्डी—इसका विशेष विवरण नरसिंहपुराण के निम्न-लिखित श्लोकों में देखना चाहिए :—

त्रिदण्डं वैणवं सौम्यं सस्वचं समपूर्वकम् ।
वेष्टितं कृष्णगोबालरज्ज्वा च चतुरङ्गुलम् ॥
ग्रन्थिभिर्वा त्रिभिर्युक्तं जलपूतेन चोपरि ।
गृहीयात् दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु मन्त्रवित् ॥

श्लो० ६०—तैजसद्रव्य-विनिर्मित-भिक्षा-पात्र की निन्दा यम ने की है :—

सुवर्णरौप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च ।
भिक्षादातुर्न धर्मोस्ति ग्रहीता नरकं व्रजेत् ॥

विशेष विवरण के लिए नरसिंहपुराण के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

ततो निर्वृत्य तत्पात्रं संस्थाप्याचम्य संयमी ।
चतुरङ्गुलैः प्रक्षाल्य ग्रासमात्रं समाहितः ॥
सर्वव्यञ्जनसंयुक्तं पृथक्पात्रे निवेदयेत् ।
सूर्यादिदेवभूतेभ्योश्च दत्त्वाऽन्नं प्रोषयवारिणा ॥
भुञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा वाग्यतो यतिः ।

वटाकांश्चपणेषु कुम्भी तिन्दुकपणेषोः ।
 कोविदारकरञ्जेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥
 समलाः सर्वे उप्यन्ते चतयः कांस्य-भोजिनः ।
 कांस्यकस्य तु तस्पापं गृहस्थस्य तथैव च ॥
 कांस्य-भोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात् किञ्चिदपि तयोः ।
 भुक्त्वा पात्रं यतिर्निश्च्यं चालयेन्मन्त्रपूर्वकम् ॥
 न दुष्येतास्य तस्पात्रं यज्ञेषु चमसा इव ॥ इत्यादि ।

श्लो० ६७—ब्रह्म-पुराण में भी कहा गया है :—

एकस्मादेव चैतन्याऽजाताः क्षेत्रज्ञजातयः ।
 लौहज्वलनसंदीप्ता मरीचय इवोद्भूताः ॥

इसके अतिरिक्त श्रुतिसहस्र इसका समर्थक है ।

श्लो० ७०—“तस्मादेतस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः”
 इत्यादि श्रुति इसके प्रमाण है ।

श्लो० ७४—आदिमिच्छतः—अत एव श्रुति भी कहती है :—“तदैक्षत
 बहुस्यां प्रजायेय” इत्यादि ।

श्लो० ७५—मास्यर्बुदं द्वितीये तु—यहाँ सुश्रुतसंहिता की उक्ति
 द्रष्टव्य है :—

“द्वितीये मास एव हि गर्भस्य सम्भवतः पूर्वं शिरः
 सम्भवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम् ।
 पाणि-पादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः गर्भस्य ।
 नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः ।
 हृदयमिति कृतवीर्यः, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।
 मध्य-शरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् ।
 सर्व-गात्रस्य सर्वाङ्गानि युगपत्सम्भवन्ति” इति (धन्वन्तरिः ।)

श्लो० ७९—दोषम्—अत एव श्रुति भी है :—

“दौर्हृदाऽदानात् काणं कुब्जं वामनं वा जनयति, तस्मात्सा यदिच्छेत्त-
 तस्यै प्रदापयेत्, वीर्यवन्तं चिरायुषं जनयति” ।

श्लो० ८४—षट् त्वचो धारयन्ति—सुश्रुतसंहिता आदि में तो सात
 त्वचाओं का निर्देश है । उनके नाम हैं—भवभासिनी, रोहिता, श्वेता, ताम्रा,
 वेदिनी, रोहिणी, वंशधरा ।

श्लो० ११७—आत्मनस्त जगत्सर्वम्—इसमें निम्न-लिखित श्रुति
 प्रमाण है :—

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति.....आनन्दा-
ख्येष खल्विमानि भूतानि जायन्ते.....” इत्यादि ॥

श्लो० १२६—१२८—इन श्लोकों में पुरुषसूक्त के अर्थ का ही संग्रहण
किया गया है ।

श्लो० २१५—श्वित्री = श्वेतकुष्ठवान् ।

श्लो० २१८—कर्म-विपाक का विवरण मनुस्मृति के बाहरवें अध्याय
में भी देखना चाहिए ।

श्लो० २२६—व्यवहार्यस्तु—यहाँ मनु का मत निम्न-लिखित है :—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

श्लो० २२८—इनमें से वेदनिन्दा, सुहृद्घ्न तथा अधीतनाशन को
मनु ने सुरापान-सम माना है :—

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाद्यं सुहृद्घ्नः ।

गर्हितानाद्ययोज्जिघ्रिषः सुरापानसमानि षट् ॥

श्लो० २२९—जैह्वयसुत्कर्षे च वषोऽनृतम्—इन दोनों को मनु ने
ब्रह्महत्या-सम माना है :—

अनृतं च ससुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोर्बालीकनिर्वन्धः समानि ब्रह्महत्याया ॥

श्लो० २३४—२४२—इनका निर्देश मनुस्मृति के अध्याय-११, श्लोक-
५९—६६ तक किया गया है ।

श्लो० २५३—यह प्रायश्चित्त कामकार कृत सुरापान के लिए है । अतः
एव बृहस्पति का कथन है :—

सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत् ।

मुखे तथा स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

श्लो० २५४—यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक सुरापान के लिए है, पूर्व
प्रायश्चित्त का विकल्प नहीं है । इसका कारण यह है कि तुरयता रहने पर
ही विकल्प हो सकता है । यहाँ पर पूर्वोक्त प्रायश्चित्त तथा इस प्रायश्चित्त में
तुरयता नहीं है अतः विषय-भेद मानना आवश्यक है ।

श्लो० २५५—पुनः संस्कारम्—इसका मूल निम्न-लिखित मनु-वचन में
देखना चाहिए :—

वस्य कावगतं ब्रह्म मयेनाप्याच्यते सकृत् ।

तस्य ध्वयेति ब्रह्मण्यं स्रष्टव्यं च स गच्छति ॥

श्लो० २५६—आयस्या योषिता—इसे भी सन्तस ही होना चाहिए ।
अत एव मनु का कथन है :—

सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाशिल्येत् मृथुना स विशुद्धयति ।

श्लो० २९१—अत एव मनु ने भी कहा है :—

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥
तादयित्वा तृणेनापि कण्ठे बाधय वाससा ।
विवादे वा विनिर्जिस्थ प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥

श्लो० २९८—कृतज्ञसहितान्—

इस प्रसङ्ग में स्कन्द-प्रमाण के वचन द्रष्टव्य हैं :—

ब्रह्मणे च सुरापे च चौरं च गुरुतत्पणे ।

निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥

कृतज्ञ का विवरण भी वहीं दिया गया है :—

भर्तृपिण्डोपहर्ता च पितृपिण्डोपहारकः ।

गुरोर्गृहीत्वा विद्यां च दक्षिणां यो न यच्छति ॥

न यच्छति = गुरु के द्वारा दक्षिणा की याचना करने पर भी जो शिष्य दक्षिणा नहीं देता है ।

पुत्रान् क्षियन् यो द्वेष्टि यश्च तान् चातयेन्नरः ।

कृतस्य दोषं वदति स्वयं कामात् करोति न ॥

न स्मरेच्च कृतं यस्तु आश्रमान्यश्च दूषयेत् ।

सर्वास्तानृषिभिः सार्धं कृतज्ञानब्रवीन्मनुः ॥

इत्थमाचार्यवचनं विभाष्य विविधोदितम् ।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ लघ्वी टिप्पणी रचिता मया ॥

शूलपाण्यपराकौ च वीरमित्रोदयस्तथा ।

बालक्रीडा च विपुला व्याख्या अस्याः स्मृतेः स्थिताः ॥

ताभ्यः तथाऽन्यतः प्राप्तं सारं मानवमेव च ।

निबद्धमत्र विश्वेशाराधनायैव केवलम् ॥ ३ ॥

सिन्धुवर्तुग्रहचन्द्रादये खिस्ताब्दे यापिता खियम् ।

नारायणेन मिश्रेण काश्यां विश्वेशसन्निधौ ॥ ४ ॥

इति श्रीनारायणमिश्र-संग्रथिता याज्ञवल्क्यस्मृतिटिप्पणी समाप्ता ।

पद्यार्धानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अ		अतीतायामप्रजसि	३०२
अकामतः कामचारे	३१५	अतीतार्थस्मृतिः कस्य	४७६
अकारणे च विक्रोष्टा	३५४	अतो न रोदितव्यं हि	४०१
अकार्यकारिणां दानं	४२९	अतो यतेत तत्प्राप्त्यै	१५५
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते	१४५	अतो यदात्मनोऽपथ्यं	४४८
अकूटं कूटकं ब्रूते	३५६	अत्राहममुकः साक्षी	२३७
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च	४४०	अथवाप्यभ्यसन्वेदं	४९१
अक्षता क्षता चैव	२७	अदत्तादाननिरतः	४७१
अक्षतायां क्षतायां वा	२८६	अदत्तान्यग्निहीनस्य	७०
अक्षताल्लषकश्रोणी	४५७	अददद्धि समाप्नोति	१५८
अक्षयोऽयं विधी राज्ञां	१४२	अदीर्घसूत्रः स्मृतिमान्	१३९
अक्षिकर्णचतुष्कं च	४६०	अदुष्टां तु त्यजन्दण्ड्यो	२६
अगृहीते समं दाप्यः पु	३८३	अदेशकालसंभाषं	३७७
अगृहीते समं दाप्यो भू	३३४	अग्निस्तु प्रकृतिस्थाभिः	९
अग्निकार्यं ततः कुर्यात्	११	अधर्मदण्डनं स्वर्गं	१५७
अग्निदानां च ये लोका	२२७	अधिविन्नस्त्रियै दद्यात्	३०५
अग्निजलं वा शूद्रस्य	२४५	अधिविन्ना तु भर्तव्या	२९
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं	२५४	अधीतवेदो जपकृत्	४४२
अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा	४४१	अध्याप्याधर्मतः साधु	११
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ	१४२	अध्यायानामुपाकर्म	६३
अग्नौ करिष्यन्नादाय	१०६	अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञयः	५०
अग्नौ सुवर्णमक्षीणं	३२६	अनमममृतं चैव	४८
अग्र्यः सर्वेषु वेदेषु	९८	अनन्ता रश्मयस्तस्य	४८१
अजः शरीरग्रहणात्	४५०	अनन्ताश्च यथा भावाः	४७०
अजातौ जातिकर्णे	३५८	अनन्यपूर्विकां कान्तां	१९
अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं	८८	अनन्यविषयं कृत्वा	४६४
अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा	५३२	अनभिख्यातदोषस्तु	६१५
अतः शृणुध्वं मांसस्य	७८	अनर्षितं वृथामांसं	७२
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते	१५	अनाख्याय ददद्दोषं	२६
अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तं	५०	अनादिरात्मा कथितः	४६६
अतिथिस्त्वेन वर्णानां	४८	अनादिरात्मा संभूतिः	४६८

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अनादिरादिमांश्चैव	४८५	अन्यत्र कुलटाषण्ड	९६
अनादिष्टेषु पापेषु	६३६	अन्यथावादिनो यस्य	२२९
अनाशकानलाघात	४७७	अन्यहस्ते च विक्रीय	३६२
अनाहिताग्निता पण्य	५०९	अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्	१५१
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां	४९७	अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्याः	३६८
अनिन्येषु विवाहेषु	३९	अन्योदयस्तु संसृष्टी	२९८
अनिबद्धप्रलापी च	४७१	अन्योन्यापहतं द्रव्यं	२८२
अनियुक्तो भ्रातृजायां	५८५	अन्विता यान्त्यचरित	५००
अनिवेदितविज्ञातो	१९८	अपनः शोशुचदधम्	३९४
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः	३२१	अपरान्तकमुल्लोप्यं	४६४
अनिवेद्य नृपे शुद्धयेत्	५३७	अपराद्धे समभ्यर्च्य	१०१
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु	३३५	अपश्चात्तापिनः कष्टान्	४९२
अनुगम्याग्भसि स्नात्वा	४२२	अपश्यता कार्यवशात्	१६५
अनुपाकृतमांसानि	७५	अपसव्यं ततः कृत्वा	१०४
अनृते तु पृथग्दण्ड्याः	३०९	अपहता इति तिलान्	१०५
अनेकपितृकाणां तु	२७६	अपि भ्राता सुतोऽर्ध्यां वा	१५७
अनेन विधिना जातः	२७	अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो	२७
अनेन विधिना देहं	१८	अपुत्रा योषितश्चैषां	३०१
अनेन विधिराख्यातः	३६६	अपुत्रेण परस्त्रे	२८३
अनौरसेषु पुत्रेषु	४२१	अप्रजस्त्रीधनं भर्तुः	३०२
अन्तरा जन्ममरणे	४०९	अप्रणोद्योऽतिथिः सायं	४८
अन्तरा पतिते पिण्डे	२५६	अप्रदुष्टं स्त्रियं हत्वा	५७०
अन्तरे च तयोर्धः स्यात्	३५५	अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं	४४५
जन्तर्जले विशुद्धयेत्	६१६	अप्रयच्छन्समाप्नोति	२५
अन्तर्जानु शुचौ देश	८	अप्राप्तम्यवहारं च	३९७
अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिः	४९०	अफालकृष्टेनाग्नींश्च	४३७
अन्तर्वासी गुरुप्राप्त	३३०	अबन्ध्यं यश्च बध्नाति	३५७
अन्त्यजैर्गर्दभैरुद्रैः	१२७	अबभक्तो मासमासीत्	५८४
अन्त्यपश्चिस्थावरतां	४७०	अब्रुवन्हि नरः साधयं	२२८
अन्त्याभिगमने त्वङ्मयः	३८४	अब्लिङ्गानि जपेच्चैव	४२६
अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्याः	३००	अभक्ष्येण द्विजं दूष्यः	३८५
अन्नं पर्युषितं भोज्यं	७३	अभावे ज्ञातयस्तेषां	३६
अन्नं भूमौ श्वचाण्डाल	४६	अभावे ज्ञातृचिह्नानां	३१०
अन्नं पितृमनुष्येभ्यो	४७	अभिगन्तास्मि भगिनीं	३४१
अन्नमादाय तृप्ताः स्थ	१०९	अभिघाते तथा छेदे	३४९
अन्नमिष्टं हविष्यं च	१०८	अभियुक्तं च नान्येन	१७५
अन्नहृतमिवाग्नीं स्वाह	४९४	अभियोगमनिस्तीर्य	१७४

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अभियोगेऽथ साक्ष्ये वा	१७८	अर्धोऽधमेषु द्विगुणः	३४१
अभिरम्यतामिति वदेत्	११४	अर्वाक् चतुर्दशादहो	२६२
अभिलेख्यात्मनो वंश्यान्	१४३	अर्वाक्संवत्सरास्वामी	३२१
अभिज्ञस्तो मृषा कृच्छ्रं	५८५	अर्वाक्सपिण्डीकरणं	११८
अभ्रातृको हरेत्सर्वं	२८९	अलंकृतां हरन्कन्यां	३७९
अमावास्याऽष्टका वृद्धिः	९७	अलब्धमीहेद्धर्मेण	१४२
अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठयूत	३४५	अवकीर्णीं कुण्डगोलौ	९९
अमेध्यशवशूद्रान्य	६६	अवकीर्णीं भवेद्गत्वा	५७८
अमेध्याक्तस्य मृत्योयैः	८६	अवटश्चैवमेतानि	४५८
अम्बष्ठः शूद्राणां निषादो	४०	अवरुद्धासु दासीषु	३८१
अयं तु परमो धर्मः	५	अविज्ञातहतस्याशु	३७५
अयं मे वज्र हृत्वेवं	६१	अविप्लुतब्रह्मचर्यः	१९
अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्	६३०	अविप्लुतमतिः सम्यक्	४७९
अयनं देवलोकं च	४८८	अविभवतैः कुटुम्बार्थं	२०४
अयाचिताहृतं ग्राह्यम्	९६	अवीचिमन्धतामिस्रं	५००
अयाचिताशी मितभुक्	४९१	अर्वास्त्रीस्वर्णकार	७१
अयुक्तं शपथं कुर्वन्	३५४	अवेक्ष्या गर्भवासाश्च	४४७
अयोनौ गच्छतो योषां	३८४	अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः	४८४
अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति	१५०	अशक्तस्तु वदन्नेवं	३४३
अरण्ये निर्जले देशे	४५४	अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्	१९९
अरण्ये नियतो जप्त्वा	५२३	अश्वमेधफलं तस्य	६४१
अराजदैविकं नष्टं	३३६	अश्वरत्नमनुष्यस्त्री	५०६
अरिर्मित्रमुदासीनो	१५२	अश्वस्थानाद्गजस्थानात्	१२९
अरोगामपरिक्लिष्टां	९४	अश्वानायुश्च विधिवत्	१२४
अरोगिणीं भ्रातृमतीं	२०	अष्टमे मास्यतो गर्भो	४५५
अरोगित्वं यशो वीत	१२४	अष्टौ त्रपुणि सीसे च	३२६
अर्कः पलाशः खदिरः	१३६	असच्छास्त्राधिगमनं	५०९
अर्घप्रक्षेपणाद्द्विशं	३६४	असत्कार्यरतोऽधीरः	४७२
अर्घस्य हासं वृद्धिं वा	३५९	असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः	४२
अर्धोऽनुग्रहकृत्कार्यः	३६०	असंबद्धकृतश्चैव	१९५
अर्घ्याक्षेपातिक्रमकृत्	३५३	असंसृष्टयपि वाऽऽदद्यात्	२९८
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु	११४	असंस्कृतास्तु संस्कार्याः	२७९
अर्थशास्त्रात्तु बलवत्	१८३	असाक्षिकहते चिह्नैः	३४५
अर्थस्य संचयं कुर्यात्	४३८	असिपत्रवनं चैव	५००
अर्थानां छन्दतः सृष्टिः	४९१	अस्कन्नमग्न्यर्थं चैव	१४२
अर्धत्रयोदशपणः	६१७	अस्थिसतां सहस्रं तु	५७०

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
अस्नेहा अपि गोधूम	७३	आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं	४५३
अस्वयं लोकविद्विष्टं	६८	आ दन्तजन्मनः सद्यः	४१७
अहंकारः स्मृतिर्मेधा	४८३	आदातुश्च विशुद्धयर्थं	५२३
अहंकारश्च बुद्धिश्च	४८४	आदित्यस्य सदा पूजां	१३४
अहंकारेण मनसा	४८०	आदिमध्यावसानेषु	१२
अहःशेषं सहासीत	५०	आद्यौ तु वितथे दाप्या	२११
अहन्येकादशे नाम	६	आधयो व्याधयः क्लेशाः	४४७
अहस्त्वदत्तकन्यासु	४१८	आधानं विक्रयं वापि	३५८
अहिंसा सत्यमस्तेयं	५४	आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे	२१५
अहिंसा स्तेयमाधुर्यं	६२४	आधिवेदनिकायं च	३०१
अहो मासस्य षण्णां वा	४३८	आधिसीमोपनिषेप	१८९
आ		आधिस्तु भुज्यते तावत्	२३९
आकाशपवनज्योतिः	४८२	आधेः स्वीकरणात्सिद्धिः	२१७
आकाशमेकं हि यथा	४७४	आधौ प्रतिग्रहे क्रीते	१८६
आकाशाह्लाघवं सौख्यं	४५३	आध्यादीनां विहर्तारं	१८९
आकृष्णेन ह्रमं देवाः	१३६	आनीय विप्रसर्वस्वं	५२०
आगमस्तु कृतो येन	१९३	आपन्नतः संप्रगृह्णन्	४३४
आगमेनोपभोगेन	३२०	आपद्यपि हि कष्टायां	४२३
आगमेऽपि बलं नैव	१९२	आपोशनेनोपरिष्ठात्	४८
आगमोऽभ्यधिको भोगात्	१९०	आपोशानक्रियापूर्वं	१३
आ गर्भसंभवाद्ब्रूयेत्	२७	आमाशयोऽथ हृदयं	४५९
आगामिभद्रनृपति	१४३	आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षन्	६७
आचम्याग्न्यादि सलिलं	४०१	आयुः प्रजां धनं विद्यां	१२५
आचरेत्सदृशीं वृत्तिम्	५४	आयुष्कामस्तथैवायुः	५२७
आचान्तः पुनराचम्य	८९	आरामायतनग्राम	३११
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च	१२७	आरोग्यबलसंपन्नो	१३८
आचार्यपत्नी स्वसुतां	५०७	आर्या गत्या तथाऽगत्या	४८२
आचार्यपित्रुपाध्याया	४०३	आर्द्रवासास्तु हेमन्ते	४४०
आचार्योपासनं वेद	४७८	आवाहनाग्नौकरण	११३
आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यः	२२२	आवाहयेदनुज्ञातो	१०३
आज्ञासंपादिनीं दद्यां	३०	आवाह्य तदनुज्ञातो	१०४
आ तृप्तेस्तु पवित्राणि	१०८	आवेदयति चेद्वाज्ञे	१६६
आत्मज्ञः शौचवान्दान्तः	४७२	आशुद्धेः संप्रतीच्यो हि	३०
आत्मतुष्यं सुवर्णं वा	४०५	आशमशानादनुव्रज्य	३९२
आत्मनस्तु जगत्सर्वं	४६६	आषोडशादा द्वाविंशत्	१५
आत्मनोऽर्थं क्रियारम्भो	५०९	आसुरो द्रविणादानात्	२५

श्लोकाः	पृष्ठम्
आस्तिकः श्रद्धधानश्च	१२४
आहरेद्विधिवद्दारान्	२९
आहुत्याप्यायते सूर्यः	४५१
आहृतश्राप्यधीयीत	११
इ	
इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः	४०२
इज्याचारदमार्हिसा	५
इज्याध्ययनदानानि	५२
इतरेण निधौ लब्धे	१९८
इति संचिन्त्य नृपतिः	१५८
इति संश्रुत्य गच्छेयुः	४०१
इतिहासांस्तथा विद्याः	१७
इत्युक्त्वोक्त्वा प्रिया वाचः	१११
इत्युक्त्वा चरतां धर्मं	२४
इत्येतदस्थिरं वर्ष्म	४६२
इदमूचुर्महात्मानं	६४०
इन्द्रियाणि मनः प्राणो	४५२
इन्द्रियान्तरसंचार	४८३
इन्द्रधनार्थं द्रुमच्छेदः	५०९
इमे लोका एष चात्मा	४७४
इष्ट स्यात्क्रतुभिस्तेन	१५८
इह कर्मोपभोगाय	४८१
इह लोके यशः प्राप्य	६४१
इह वामुत्र वैकेषां	४७०
इहैव सा शुनी गृध्री	५३४
ई	
ईश्वरः स कथं भावैः	४६९
ईश्वरः सर्वभूतस्थः	४८४
उ	
उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये	२३०
उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्	१०९
उत्कोचजीविनो द्रव्य	१५०
उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ	३७२
उत्तमो वाऽधमो वापि	३७४
उत्तानं किंचिद्गुण्णाम्य	४८९
उत्पन्ने स्वामिनो भोगः	३१२

श्लोकाः	पृष्ठम्
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु	२८७
उदक्याशुचिभिः स्नायात्	४२६
उदक्यास्पृष्टसंघुष्टं	७३
उदरं च गुदौ कोष्ठौ	४५९
उदुम्बरः शमी दूर्वा	१३६
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः	३४७
उद्गूर्णे हस्तपादे तु	३४६
उद्बुध्यस्वेति च ऋचो	१३६
उपजिह्वास्फिजौ बाहू	४५९
उपजीव्यद्रुमाणां च	३५१
उपजीव्य धनं मुञ्चन्	३८८
उपतिष्ठतामन्न्यस्थाने	११४
उपनीय गुरुः शिष्यं	७
उपनीय ददद्देदं	१४
उपपातकजातानाम्	६२०
उपपातकयुक्ते तु	३४३
उपपातकशुद्धिः स्यात्	५५८
उपवासेन चैवायं	६२८
उपस्थानं ततः कुर्यात्	५८१
उपस्थितस्य मोक्तव्यः	२१९
उपाकर्मणि षोत्सर्गे	६४
उपायाः साम दानं च	१५३
उपासते द्विजाः सरयं	४८८
उपास्य पश्चिमां संध्यां	५१
उपेयादीश्वरं चैव	४५
उभयानुमतः साक्षी	२२६
उभयाभ्यर्थितेनैतत्	२३७
उभयोः प्रतिभूमांशः	१७६
उभयोरप्यसाध्यं चेत्	३३६
उभयोरप्यसौ रिक्थी	२८३
उरगोच्चायसो दण्डः	५७२
उरः सप्तदशास्थीनि	४५८
ऊ	
ऊनद्विवर्षं निखनेत्	३९२
ऊनद्विवर्षं उभयोः	४०७
ऊनं वाऽभ्यधिकं वापि	३८५

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
ऊरुस्थोत्तानचरणः	४८९	एवं गच्छन् क्षियं चामां	३२
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां	४८१	एवं पुरुषकारेण	१५५
ऋ		एवं प्रदक्षिणावृत्को	११२
ऋगाथा पाणिका दक्ष	४६४	एवं मातामहाचार्य	३९५
ऋग्यजुःसामविहितं	४६७	एवं विनायकं पूज्य	१३३
ऋणं दद्यात्पतिस्तासां	२०६	एवमस्त्विति होवाच	६४२
ऋणं लेख्यकृतं देयं	२३८	एवंवृत्तोऽविनीतात्मा	४७७
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा	६५	एवमस्यान्तरात्मा च	५९७
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः	१४८	एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्ग	५६७
ऋत्विक्पुरोहितापत्य	६९	एवमेतदनाद्यन्तं	५६७
ऋत्विजां दीक्षितानां च	४२३	एवमेनः शमं याति	६
ऋषभैकसहस्रा गाः	५६७	एष एव विधिर्ज्ञेयः प्रा	३४०
ए		एष एव विधिर्ज्ञेयो व	३११
एकं धनतां बहूनां च	३४८	एषां त्रिरात्रमभ्यासात्	६३१
एकच्छायाश्रितेष्वेषु	२१३	एषामन्नं न भोक्तव्यं	७१
एकदेशमुपाध्यायः	१४	एषामन्यतमाभावे	१८
एकभक्तेन नक्तेन	६२८	एषामपतितान्योन्य	३५४
एकरात्रोपवासश्च कृ	६३१	एषामभावे पूर्वस्य	२९०
एकरात्रोपवासश्च त	६२७	एषामसंभवे कुर्यात्	५६
एकादशगुणं दाप्यो	२३३	ऐ	
एकारामः परिव्रज्य	४४४	ऐणरौरववाराह	११२
एकैकस्य त्वष्टशतम्	१३७	ओ	
एकैकं हासयेत्कृष्णे	६३२	ओङ्काराभिष्टुतं सोमं	६२१
एकोद्दिष्टं देवहीनम्	११३	औ	
एकोनत्रिंशत्क्षत्राणि	४६१	औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां	३००
एतद्यो न विजानाति	४८९	औरसो धर्मपत्नीजः	२८५
एतासपिण्डीकरणम्	११४	औवेणकं सरोविन्दुम्	४६४
एतान्सर्वाः समाहृत्य	१३१	औष्ट्रमैकशफं शौणम्	७४
एते महापातकिनो	५०२	क	
एते मान्या यथापूर्वं	१४	कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे	४७३
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि	५१	कथमेतद्विमुद्यामः	४६६
एतैरुपायैः संशुद्धः	५७८	कदर्यबद्धचौराणां	७०
एतैरेव गुणैर्युक्तः	२२	कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठ	९
एभिश्च व्यवहर्ता यः	३५६	कनीनिके चाचिकृटे	४५९
एभिस्तु संवसेन्नो वै	५४६	कन्धराबाहुसकम्बां च	३४८

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
कन्यां कन्यावेदिनश्च	१२३	कारणान्येवमादाय	४७५
कन्याप्रदः पूर्वनाशे	२५	कारयेत्सर्वदिभ्यानि	२४४
कन्याप्रदानं तस्यैव	५०९	कारुहस्तः शुचिः पण्यं	८३
कन्यासंदृष्टं चैव	५०९	कार्मिके रोमबद्धे च	३२७
कन्यां समुद्देष्टुं	५४९	कार्यौ द्वितीयापराधे	३७२
कपिला चेतारयति	९३	कार्षिकस्तात्रिकः पणः	१६१
करणैरन्वितस्यापि	४६९	कालकर्मात्मबीजानां	४८०
करपाददत्तो भङ्गे	३४८	काले कालकृतो नश्येत्	२१५
करोति किञ्चिदभ्यासात्	४४९	कालोऽग्निः कर्म मृदायुः	४२९
करोति तृणमृत्काष्ठैः	४७५	काषायवाससश्चैव	१२७
करोति वृत्तिं कुर्याच्च	१७	काष्ठलोष्टेषुपाषाण	२८६
करोति पुनरावृत्तिः	४८८	किञ्चित्सास्थिवधे देयं	५७३
करोति यः स समृद्धो	४००	कुमारी च न भर्तारं	१२७
करौ विमृदितबीहेः	२५२	क्षुरध्वेत्यभ्यनुज्ञातो	१०६
कर्णौ शंखौ भ्रुवौ दन्त	४५९	कुर्याच्छुशुरयोः पाद	३५
कर्तव्यं वचनं तेषां	३३३	कुर्यात्त्रिषवणस्नायी	६३४
कर्तव्यं वचनं सर्वैः	३३२	कुर्यात्प्रत्यभियोगं च	१७६
कर्तव्याग्रयणेष्टिश्च	५५	कुर्यात्त्यदक्षिणं देवम्	६०
कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च	१३६	कुर्याद्यथास्य न विदुः	१५२
कर्तव्याशयशुद्धिस्तु	४४७	कुर्यान्मृत्रपुरीषे च	८
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते	४९२	कुलानि जातीः श्रेणीश्च	१५९
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यां	४७७	कुशाः शाकं पयो मत्स्याः	९६
कर्मणा मनसा वाचा	६८	कुसूलकुम्भीधान्यो वा	५६
कर्मणां फलमाप्नोति	१३३	कुसीदकृषिवाणिज्य	५३
कर्मणां संनिकर्षाच्च	४७९	कूटस्वर्णव्यवहारी	३८६
कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः	९९	कूष्माण्डो राजपुत्रश्च	१३१
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैः	४००	कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु	६४०
कर्म स्मात्तं विवाहाग्नौ	४४	कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च	५५१
कर्मेन्द्रियाणि जानीयात्	४५८	कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात्	५८२
कलविद्धं सकाकोलं	७६	कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा	६३०
कलहापहतं देयं	३४९	कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते	६०६
कानीनः कन्यकाजातो	२८५	कृतज्ञाद्रोहिमेधावि	११
कान्तारगास्तु दशकं	२००	कृतरक्षः समुत्थाय	१४६
कामतो व्यवहार्यस्तु	५००	कृतशिल्पोऽपि निवसेत्	३३०
कामावकीर्णं इत्याभ्यां	५८१	कृताकृतास्तन्दुलांश्च	१३१
कामोदकं सखिप्रसा	३९५	कृताग्निकार्यो भुञ्जीत	१३
		कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं	६५

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
कृतोदकाऽसमुत्तीर्णान्	४००	क्षेत्रवेशमवनग्राम	३७६
कृत्तिकदिभरण्यन्तं	१२४	क्षेत्रस्य हरणे दण्डा	३११
कृत्वा हि रेतोविण्मूत्र	६२१	क्षेपं करोति चेदण्ड्यः	३४०
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने	१०७		
कृमिक्रीटपतङ्गखं	४९२	ख	
कृषिः शिरपं मृतिर्विद्या	४३४	खड्गामिषं महाशक्तं	१२२
कृष्णलः पञ्च ते माषः	१५९	खमण्डलादसौ सूर्यः	४६७
कृष्णा गौरायसं छागः	१३८	खरपुत्कसवेणानां	४९२
केचिद्दैवात्स्वभावाद्वा	१५५	खराजमेवेषु वृषो	५७१
केशभस्मनुषाङ्गार	६२	खरोष्ट्रयानहस्त्यश्च	६७
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण	५७५	ग	
कोर्यष्टिप्लवचक्राह्ण	७५	गजे नीलवृषाः पञ्च	५७१
कोले घृतघटो देयः	५७२	गणद्रव्यं हरेद्यस्तु	३३२
कौशेयनीललवण	४३२	गणानामाधिपत्ये च	१२६
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं	१५२	गते तस्मिन्निमन्नाङ्गं	२५७
क्रमात्ते संभवन्तीह	४८९	गन्त्री वसुमती नाशम्	४०१
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिः	४८८	गन्धरूपरसस्पर्श	४५८
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं	२७३	गन्धलेपक्षयकरं	८
क्रमेणाचार्यसच्छिष्य	२९७	गन्धाश्च बलयश्चैव	१३६
क्रव्यादपक्षिदात्यूह	७५	गन्धोदकतिलैर्युक्तं	११४
क्रियमाणोपकारे तु	५८३	गम्यं त्वभावे दातॄणां	२५
क्रीडां शरीरसंस्कारं	३५	गम्यास्त्वपि पुमान्दाप्यः	३८१
क्रीतलब्धाशना भूमौ	४०३	गर्दभं पशुमालभ्य	५७८
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः	२८६	गर्भभर्तृवधादौ च	२८
क्रीत्वा नानुशयः कार्यः	३६३	गर्भस्य वैकृतं दृष्टम्	४८०
क्रूरोऽप्रपतितब्राह्म	७१	गर्भस्त्रावे मासतुल्याः	४१०
क्रेता मूल्यमवाप्नोति	३२०	गर्भहा च यथावर्णं	५२५
क्रीबोऽथ पतितस्तज्जः	३००	गर्भाधानमृतौ पुंसः	६
क्षत्रजास्त्रिद्वयेकभागाः	२८१	गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे	७
क्षत्रस्य द्वादशाहानि	४१६	गायत्रीजाप्यनिरतः	५९२
क्षत्रिया मागधं वैश्यात्	४२	गायत्रीं शिरसा साधं	१०
क्षत्र्यं वृद्धिं च वणिजा	३६३	गीतज्ञो यदि योगेन	४६५
क्षेत्रेण कर्मणा जीवेत्	४३१	गीतनृत्यैश्च भुञ्जीत	१४७
क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य	३७२	गु दौदनं पायसं च	१३७
क्षुदान्त्रं वृककौ बस्ति	४५९	गुणिद्वेधे तु वचनं	२२९
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु	२८५	गुरवे तु वरं दत्त्वा	१८
क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानात्	४३०	गुरुं चैवाप्युपासीत	११

श्लोकाः
 गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य
 गुरुणामध्यधिषेपो
 गुर्वन्तेवास्यनूचान
 गुल्मगुच्छपलता
 गृहधान्याभयोपानत्
 गृहीतमूल्यं यः पण्यं
 गृहीतवेतनः कर्म
 गृहीतवेतना वेश्या
 गृहीतः शङ्कया चौर्ये
 गृहीतशिश्नश्चोत्थाय
 गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता
 गृहीतानुक्रमाद्वाप्यो
 गृहीत्वोक्त्य वृषणौ
 गृहेऽपि निवसन्विप्रो
 गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो
 गृह्णन्प्रदातारमधो
 गृहीयाद् कितवाद्
 गेयमेतत्तदभ्यास
 गोघ्रातेऽन्ने तथा केश
 गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं
 गोपशौण्डिकशैल्य
 गोपस्ताड्यश्च गोमी तु
 गोपः सीमाकृषाणा ये
 गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः
 गोब्राह्मणानलान्नानि
 गोब्राह्मणार्थं संग्रामे
 गोभूतिलहिरण्यादि
 गोमूत्रं गोमयं क्षीरं
 गोवधो ब्राह्म्यता स्तेय
 गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी
 गोष्ठेशयो गोऽनुगामी
 गौरसर्षपकल्केन
 गौरस्तु ते त्रयः षट् ते
 गौदया कर्मणोऽस्यान्ते
 ग्रहणान्तिकमित्येके
 ग्रहाणामिदमातिथ्यं
 ग्रहाधीना नरेन्द्राणां

पृष्ठम्
 ६०५
 ५०५
 ४२०
 ३५१
 ९५
 ३६१
 ३३४
 ३८३
 ३६९
 ८
 ३०४
 २०३
 ५३९
 ७९
 २८५
 ९२
 ३३८
 ४६४
 ८४
 ८४
 २०६
 ३१५
 ३०६
 २१६
 ६८
 ४२२
 ९१
 ६२५
 ५०८
 ४९२
 ५५१
 १२८
 १५९
 ६१८
 १४
 १३८
 १३८

श्लोकाः
 ग्रामादाहृत्य वा ग्रासान्
 ग्राम्येच्छया गोप्रचारो
 ग्राहकैर्गृह्यते चौरौ
 ग्रीवा पञ्चदशास्थिः स्यात्
 ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो
 ग्लहे शक्तिकवृद्धेस्तु
 घ
 घटेऽपवर्जिते ज्ञाति
 घातितेऽपहृते दोषो
 च
 चतुर्दश प्रथमजः
 चतुर्विंशतिको दण्डः
 चतुष्पादकृतो दोषः
 चतुष्पाद्वयवहारोऽयं
 चतुस्त्रिद्वयेकभागाः स्युः
 चत्वारो वेदधर्मज्ञाः
 चत्वार्यरत्निकास्थीनि
 चरितव्रत आयाते
 चरित्रबन्धककृतं
 चरुस्रुक्खवसस्नेह
 चरेद्ब्रतमहत्वापि
 चर्मण्यानद्धहे रक्ते
 चाटतस्करदुर्वृत्त
 चाण्डालो जायते यज्ञ
 चान्द्रायणं चरेत्सर्वान्
 चान्द्रायणं वा त्रीन्मासान्
 चान्द्रायणैर्नयेत्कालं
 चापांश्च रक्तपादांश्च
 चिकित्सकातुस्क्रुद्ध
 चीर्णव्रतानपि सतः
 चेष्टाभोजनवाग्रोधे
 चैत्यश्मशानसीमासु
 चैलधावसुराजीव
 चौरं प्रदाप्यापहतं
 छ
 छलं निरस्य भूतेन

पृष्ठम्
 ४४१
 ३१७
 ३६८
 ४५७
 ४४०
 ३३८
 ६१६
 ३७०
 २४
 ३८४
 ३६८
 १७४
 २८१
 ५
 ४५६
 ६११
 २१८
 ८०
 ५२७
 १२९
 १५०
 ५६
 ५४९
 ५४२
 ४३९
 ७६
 ७१
 ६१३
 ३४८
 ३५१
 ७१
 ३६९
 १८९

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
छिन्ननस्येन यानेन	३८७	ज्ञेयं चारण्यकमहं	४६३
ज		ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ च व	४७७
जगदानन्दयेत्सर्वम्	१५७	त	
जगदुद्भूतमात्मा च	४६६	तक्षणं दारुशृङ्गास्थां	८१
जग्ध्वा परेऽह्युपवसेत्	६२५	तज्जः पुनात्युभयतः	२४
जघनादन्तरिक्षं च	४६८	ततः शुक्लाम्बरधरः	१३३
जपन्नासीत सावित्री	१०	ततः स्वैरविहारी स्यात्	१४७
जपः प्रच्छन्नपापानां	४२९	ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य	४८८
जपयज्ञसिद्धयर्थं	४६	ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ	४९०
जप्त्वा यथासुखं वाच्यं	१०८	ततो निष्कल्मषीभूताः	४९७
जप्त्वा सहस्रं गापय्याः	६२४	ततोऽभिवादयेद्बृहदान्	११
जलमेकाहमाकाशे	४०४	ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः	१७३
जलं पिबेन्नाञ्जलिना	६२	तत्कर्मणामनुष्ठानं	४७८
जलं प्लवः पयः काको	४९५	तत्कालकृतमूल्यो वा	२१९
जलान्ते छन्दसां कुर्यात्	६४	तत्पावनाय निर्वाप्यः	२३५
जले स्थित्वाऽभिजुहुयात्	६१७	तत्पुनस्ते समैरंशैः	२८२
जातदुमाणां द्विगुणो	३५१	तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं	२३८
जातिरूपवयोवृत्त	४७६	तत्र गत्वाऽवतिष्ठन्ते	४८७
जातोऽपि दास्यां शूद्रेण	२८९	तत्र तत्र च निष्णाताः	१४५
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः	४३	तत्र तत्र तिलैर्होमो	६२३
जायन्ते लक्षणभ्रष्टाः	४९७	तत्र दुर्गाणि कुर्वीत	१४४
जायन्ते विद्ययोपेताः	४९७	तत्र दैवमभिव्यक्तं	१५४
जारं चौरैरभिवदन्	३८८	तत्र स्यात्सदृशं स्वार्थं	२७६
जालपादान्खञ्जरीटान्	७६	तत्र स्यात्स्वामिन्श्छन्दो	३३५
जालसूर्यमरीचिस्थं	१५९	तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित्	४४९
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे	३३८	तत्राष्टाशीतिसाहस्राः	४८६
जितं ससमिके स्थाने	३३८	तत्स्वस्मृतेरुपस्थानात्	४७९
जिह्वां त्यजेयुर्निर्लाभं	३६६	तत्सत्यं वद कल्याणि	२४८
जीवेद्वापि शिलोन्धेन	५६	तत्सर्वं तस्य जानीहि	२२७
जुगुप्सेरन्न चाप्येनं	६११	तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति	१७४
जुहुयान्मूर्धनि कुशान्	१३०	तत्सुता गोत्रजा वन्धुः	२८९
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन	२६९	तथाऽङ्गादनदानं च	१०४
ज्ञातयो वा हरेयुस्तत्	३६६	तथात्मको ह्यनेकश्च	४७४
ज्ञातिश्रेष्ठ्यं सर्वकामान्	१३४	तथा पाठीनराजीव	७७
ज्ञात्वाऽपराधं देशं च	१६२	तथा मांसं श्वचण्डाल	८७
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च	४३५	तथा वर्षात्रयोदर्यां	१२२
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तात्वात्	४४७	तथाऽविपक्वकरणः	४५३

श्लोकाः
तथा शक्तः प्रतिभुवं
तथाश्वमेधावभृथ
तथैव परिपाह्योऽसौ
तथैवानाश्रमे वाचः
तथोपनिधिराजस्त्री
तद्दत्तमवाप्नोति
तदर्थं रसरूपेण
तदन्नं विकरेद्भूमौ
तद्भावेऽस्य तनये
तदर्थं मध्यमः प्रोक्तः
तदवाप्य नृपो दण्डं
तदहर्नं प्रदुष्येत
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैः
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं
तन्मात्रादीन्यहंकारात्
तन्मूले द्वे ललाटाक्षि
तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो
तपसश्च परस्येह
तपसा ब्रह्मचर्येण
तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा
तपस्विनो दानशीलाः
तपो वेदविदां क्षान्तिः
तप्तक्षीरघृताम्बूनाम्
तप्तेऽयःशयने सार्धं
तमायान्तं पुनर्जित्वा
तमेव कृत्स्नमाप्नोति
तरिकः स्थलजं शुष्कं
तवाहंवादिनं बलीवं
तस्मात् नृपतेरर्थं
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं
तस्मादश्नात्पुनर्जयः
तस्मादस्ति परो देहात्
तस्य वृत्तं कुलं शीलं
तस्य षोढा शरीराणि
तस्याप्यन्नं सोढुकुम्भं
तस्यैथ्युक्तवतो लौहं
तस्यैतदात्मजं सर्वम्

पृष्ठम्

३४३

५१८

१५१

५०९

१८९

९५

४५१

१०९

१८

१६१

१५६

४०८

५२०

३८८

४८४

४५७

३५३

१७

४८७

९०

२२३

४२९

६२७

५३९

३९०

१५१

३६५

१४६

१५०

४९७

४६७

४८३

४३५

४५५

११८

२५४

४५२

श्लोकः

ताम्रकार्स्फटिकाद्रक्त

तामिस्रं लोहशङ्कुं च

तारानक्षत्रसंचारैः

तालश्रृङ्गाप्रयासेन

तालुस्थाचलजिह्वश्च

तालुदरं वस्तिशीर्षं

तावन्त एव मुनयः

तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान्

तिलौदनरसचाराण्

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण

तुलाग्न्यापो विषं कोशौ

तुलाधारणविद्वद्भिः

तुलापुरुष इत्येषः

तुलाशासनमानानां

तुला स्त्रीबालवृद्धान्ध

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां

तृणगुल्मलतात्वं च

तृप्त्यर्थं पितृदेवानां

ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं

तेन त्वामभिषिञ्चामि

तेन देवशरीराणि

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति

तेनोपसृष्टो यस्तस्य

तेनोपसृष्टो लभते

तेऽपि तेनैव मार्गेण

तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठाः

तेऽष्टौ लिङ्गा तु तास्तित्तो

तैलहृत्तैलपायी स्यात्

तैश्चापि संयतैर्भात्यं

तैः सार्धं चिन्तयेद्वाङ्मयं

त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशम्

त्यागः परिग्रहाणां च

अपुसीसकताम्राणां

अथो लक्षास्तु विज्ञेयाः

आयस्वास्मादभीक्षापात्

पृष्ठम्

१३५

५००

४८२

४६५

४८९

४५९

४८७

९३

५७३

६३९

४२२

२३

२४२

२४८

६३१

३५६

२४५

७

४९२

९०

१७

१२९

४८१

४८६

१२७

१२७

४८६

९०

१५९

४९४

१०१

१४१

३०

४७८

८५

४६१

२५९

श्लोकाः	पृष्ठम्
त्रिणाचिकेतदौहित्र	९९
त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृष्य	९
त्रिरात्रमा घतादेशात्	४१७
त्रिरात्रं दशरात्रं वा	४०७
त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य	५८५
त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा	६१६
त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा	६१७
त्रिविंशपूर्णपृथिवी	१७
त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य	४१६
त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्भ्रातयः	५८७
त्रैकाल्यसंध्याकरणात्	६२१
त्रैवार्षिकाधिकास्तो यः	५५
त्रैविद्यनृपदेवानां	३४४
त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्	३३१
अङ्गहीनस्तु कर्तव्यो	३८६
अथराः साक्षिणो ज्ञेयाः	२२४
अहं प्रेतेश्वनध्यायः	६४
त्वं तुले सत्यधामासि	२४८
त्वमग्ने सर्वभूतानाम्	२५३
त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः	२५९
द	
दण्डः क्षुद्रपशूनां तु	३५०
दण्डं च तत्समं राज्ञे	१८९
दण्डं च स्वपणं चैव	१८०
दण्डं दद्यात्सवर्णासु	३७९
दण्डनीत्यां च कुशलम्	१४१
दण्डनीया तदर्धं तु	३१३
दण्डप्रणयनं कार्यं	३४१
दण्डं स दाप्यो द्विशतं	३५७
दण्डाजिज्रोपवीतानि	१२
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो	२८६
दत्तामपि हरेत्पूर्वात्	२६
दत्तवर्णं पाटयेत्लेख्यं	२४१
दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो	३०४
दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुः	३७४
दत्त्वा तु दक्षिणां सक्त्या	१११

श्लोकाः	पृष्ठम्
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव	२०३
दत्त्वाऽन्नं पृथिवीपात्रं	१०७
दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा	१४३
दत्त्वाऽर्घ्यं संस्तवांस्तेषां	१०५
दत्त्वोदकं गन्धमात्यं	१०४
दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे	१३१
दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य	५५१
दद्याद्ग्रहक्रमादेवं	१३७
दद्यादपहरेच्चांशं	२९८
दद्याद्वते कुटुम्बार्थान्	२०५
दद्यान्माता पिता वा यं	२८६
दद्यात्वां स्वकृतां वृद्धिं	२००
दद्यात्तद्विक्थिनः प्रेते	२०४
दध्यन्नं पायसं चैव	१३१
दध्योदनं हविश्पूर्णं	१३७
दन्तोल्लखलिकः काल	४३९
दन्दशूकः पतङ्गो वा	४८९
दम्भिर्हैतुकपाखण्डि	५८
दक्षकं पारदेश्ये तु	३६०
दशपूरुषविस्त्यातात्	२२
दर्शनप्रतिभूर्यत्र	२१२
दर्शने प्रत्यये दाने	२११
दशैकपञ्चसप्ताह	३२५
दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री	६०
दातव्यं प्रत्यहं पात्रे	९२
दातारो नोऽभिवर्धन्तां	१११
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पू	९३
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति व	९३
दानं दमो द्या क्षान्तिः	५४
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रं	५७३
दाने विवाहे यज्ञे च	४२३
दान्तस्त्रिषवणस्नायी	४३९
दापयित्वा हतं द्रव्यं	३६९
दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं	१८१
दाप्यस्तु दशमं भागं	३३५
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च	३६५
दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन्	३४९

श्लोकाः
 दायकालाहते वापि
 दायदेभ्यो न तद्व्यात्
 दासीकुम्भं वहिर्ग्रामात्
 दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण
 दिवा संध्यासु कर्णस्थ
 दीयमानं न गृह्णाति
 दीर्घतीव्रमयग्रस्तं
 दुःखमुत्पादयेद्यस्तु
 दुःखे च शोणितोत्पादे
 दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं
 दुर्दृष्टास्तु पुनर्दृष्ट्वा
 दुर्भित्ते धर्मकार्ये च
 दुर्वृत्तब्रह्मविद्वन्नशूद्र
 दुष्टा दशगुणं पूर्वात्
 दुहितृणां प्रसूता चेत्
 दूरादुच्छिष्टविष्णून्
 दूर्वासिर्षपपुष्पाणां
 दूषणे तु करच्छेदः
 दृतिं धनुर्वस्तमविं
 दृश्याद्वा तद्विभागः स्यात्
 दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान्
 दृष्ट्वा पथि निरातङ्गं
 देयं चौरहतं द्रव्यं
 देयं प्रतिश्रुतं चैव
 देवतार्थं हविः शिष्टः
 देवत्विक्त्वातकाचार्य
 देवातिथ्यर्चनकृते
 देवानुग्रान्समभ्यर्च्य
 देवान्पितृन्समभ्यर्च्य
 देवान्संतर्प्य सरसो
 देवेभ्यश्च हुतादन्नात्
 देशं कालं च भोगं च
 देशं कालं च योऽस्तीयात्
 देशं कालं वयः शक्तिं
 देशकालवयःशक्तिं
 देशकालातिपत्तौ च
 देशादेशान्तरं याति

पृष्ठम्

४४
 २७३
 ६१०
 ३९
 ८
 २०४
 ५२०
 ३४९
 ३५०
 ३५०
 ३८९
 ३०४
 ५६९
 ६३
 ३०२
 ६८
 १३२
 ३८०
 ५६९
 २७८
 १४८
 ५२०
 १९८
 ३२३
 ७५
 ६७
 ९७
 २६१
 ७८
 ४६७
 ४६
 ३२७
 ३२७
 ६०९
 ३७२
 ३१९
 १७८

श्लोकाः

देशान्तरगते प्रेते
 देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये
 देशेऽशुचावात्मनि च
 देशे काल उपायेन
 दैवे पुरुषकारे च
 दौषैः प्रयाति जीवोऽयं
 दौर्हृदस्याप्रदानेन
 द्यूतं कृषिं वणिज्यां च
 द्यूतमेकमुखं कार्यं
 द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च
 द्रव्यं तदौपनिधिकं
 द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिः
 द्रव्यप्रकारा हि यथा
 द्रव्याणां कुशला ब्रूयुः
 द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः
 द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु
 द्रष्टारो व्यवहाराणां
 द्वात्रिंशत् पणान्दण्डयो
 द्वादशाहोपवासेन
 द्वासप्ततिसहस्राणि
 द्विगुणं त्रिगुणं वापि
 द्विगुणं प्रतिदातव्यं
 द्विगुणं सवनस्थे तु
 द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः
 द्विगुणांस्तु कुशान्दत्त्वा
 द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि
 द्विनेत्रभेदिनो राज
 द्विपणे द्विशतो दण्डो
 द्वे कृष्णले रूप्यमाघो
 द्वे द्वे जानुकपोलोरु
 द्वे शते खर्वटस्य स्यात्
 द्वैधीभावं गुणानेतान्
 द्वैधे बहूनां वचनं
 द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये
 द्वौ शङ्खकौ कपालानि
 ध
 धनं वेदान्भिषविसिद्धिं

अपृष्ठम्

३६६
 २३९
 ६६
 ४
 १५४
 ४७०
 ४५३
 १२३
 ३३९
 ३६८
 २२१
 ९७
 ४९५
 ३२७
 ४८८
 ३४५
 ३३९
 ३४८
 ६३१
 ४६३
 ४८९
 २१३
 ५२७
 २३०
 १०४
 ३१७
 ३८९
 ३५८
 १६०
 ४५७
 ३१८
 १५४
 २२९
 १०२
 ४५८
 १२४

श्लोकाः
 धनी वोपगतं दद्यात्
 धनुःशतं परीणाहो
 धमनीनां शते द्वे तु
 धर्मकृद्ददविद्यावित्
 धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धाः
 धर्मप्रधाना ऋजवः
 धर्मशास्त्रानुसारेण
 धर्मार्थकामाःस्वे काले
 धर्मार्थं यश्चरेदेतत्
 धर्मार्थं विक्रयं नेयाः
 धर्मो हि दण्डरूपेण
 धान्यकुप्यपशुस्तेयं
 धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः
 धारणा प्रेरणं दुःखं
 धारयेत्तत्र चात्मानं
 धार्मिकोऽव्यसनश्चैव
 धावतः पूतिगन्धे च
 धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो
 धूमं निशां कृष्णपद्मं
 धेनुः शङ्खस्तथानडवान्
 ध्यानयोगेन संपश्येत्
 ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ
 न
 न क्षयो न च वृद्धिश्च
 नमः स्नात्वा च भुक्त्वा च
 न च मृत्युं दुरीषं वा
 न चाहृतो वदेत्किञ्चित्
 न तत्पुत्रा ऋणं दधुः
 न तत्र कारणं भुक्तिः
 न तत्सुतस्तत्सुतो वा
 न तु मेहेन्नदीच्छाया
 न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै
 न दत्तं स्त्रीधनं यासां
 न ददाति हि यः साधयं
 न दाप्योऽपहतं तं तु
 न निन्दाताडने कुर्यात्
 न निषेधोऽपवाधस्तु

पृष्ठम्

२४१
 ३१८
 ४६०
 ४७२
 ३३३
 २२३
 १६३
 ५१
 ६३६
 ४३३
 १५६
 ५०९
 ४९४
 ४५२
 ४९०
 १३९
 ६६
 १६२
 ४८९
 १३८
 ४४८
 ४६४
 ३२७
 ६०५
 ६१
 १७९
 २१२
 १९४
 १९३
 ६०
 ३०५
 २७०
 २२९
 २२१
 ६८
 ३११

श्लोकाः

न प्रत्यगन्यकगोसोम
 न ब्रह्मचारिणः कुर्युः
 न भार्यादर्शनेऽश्नीयात्
 नमस्कारेण मन्त्रेण
 नयेयुरेते सीमानं
 न योषिपतिपुत्राभ्यां
 न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्
 न लिप्येतैनसा विप्रो
 नव च्छिद्राणि तान्येव
 नवमे दशमे वाऽपि
 न विद्यया केवलया
 न विरुद्धप्रसङ्गेन
 नष्टापहृतमासाद्य
 नष्टो देयो विनष्टश्च
 न संशयं प्रपद्येत
 नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्
 न स्पृशन्तीह पापानि
 न स्वाध्यायविरोध्यर्थं
 न हन्याद्विनिवृत्तं च
 नाक्रामेद्रक्तविण्मूत्र
 नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैः
 नाचक्षीत ध्यन्तीं गां
 नातः परतरो धर्मो
 नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति
 नानारूपाणि कुर्वाणः
 नान्वये सति सर्वस्वं
 नापात्रे विद्रुपा किञ्चित्
 नाभिदध्नोदकस्थस्य
 नाभिरोजो गुदं शुक्रं
 नामभिर्बलिमन्त्रैश्च
 नाश्रमः कारणं धर्मे
 नासहस्राद्धरेफालं
 नासिका लोचने जिह्वा
 नास्तिक्यं व्रतलोपश्च
 नाहितं नानृतं चव
 निषेपस्य च सर्वं हि
 निजधर्माविरोधेन

पृष्ठम्

६०
 ३७६
 ५९
 ५४
 ३०६
 २०५
 ६३
 ४३४
 ४६०
 ४५५
 ९१
 ५७
 ३१९
 २१६
 ५९
 ४६८
 ६२३
 ५७
 १४६
 ६७
 ६२
 ६३
 १४५
 १५७
 ४७९
 ३२३
 ९१
 २५६
 ४५८
 १३१
 ४४८
 २४७
 ४५८
 ५०९
 ५९
 ५०६
 ३३२

श्लोकाः
निजलालासमायोगान्
निज शरीरमुत्सृज्य
निद्रालुः क्रूरकृत्स्नधो
निमन्त्रयेत पूर्वेषुः
निमित्तमचरः कर्ता
निमित्तशाकुनज्ञान
निमीलिताक्षः सखस्थो
निमेषश्चेतना यत्नः
नियमा गुरुश्रृषा
निराया व्ययवन्तश्च
निर्वपेत्तु पुरोडाशं
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः
निवासराजनि प्रेते
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः
निशायां वा दिवा वाऽपि
निषिद्धभक्षणं जैत्रं
निषेकाद्याः श्मशानान्ताः
निष्कं सुवर्णाश्चस्वारः
निःसरन्ति यथा लोह
निःसार्यन्ते बाण इव
निस्तार्य तामथारमानं
निह्वे भावितो दद्यात्
निह्वते लिखितं नैकं
नीचाभिगमनं गर्भ
नीरजस्तमसा सख
नीवीस्तनप्रावरण
नृपार्थैवभिशापे च
नृपेणाधिकृताः पूगाः
नृशसराजरजक
नेचेताकं न नम्रां स्त्रीं
नैतन्मम मतं यस्मात्
नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं
नैवेशिकानि च ततः
नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु
न्यायागतधनस्तत्त्व
न्यूनाधिकविभक्तानां
प
पद्मे गते वाप्यशनीयात्

पृष्ठम्

४७५
४९०
४७२
१०१
४५०
४८२
४८९
४८३
६२५
३६८
५८५
३०१
४२१
३९१
६२१
५०५
५
१६०
४४९
४५५
४३१
१७७
१८१
६१२
४७८
३७७
२४७
१९४
७१
६१
२३
९४
१४८
१८
४९१
२७१
४३९

श्लोकाः

पञ्चकं च शतं दाप्यः
पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नो
पञ्चग्रामी बहिः क्रोशात्
पञ्चदश्यां चतुर्दश्यां
पञ्चधातून्स्वयं पष्ठः
पञ्चधा संभृतः कायोः
पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य
पञ्चवन्धो दमस्तस्य
पञ्चमास्ससमादूर्ध्वं
पञ्चाशत्पणिको दण्डः
पटे वा ताम्रपट्टे वा
पणानेकशफे दद्यात्
पणान्दाप्यः पञ्च दश
पण्यस्योपरि संस्थाप्य
पण्येषु प्रक्षिपन्हीनं
पतनीयकृते क्षेपे
पतितस्य बहिः कुर्युः
पतितानामेष एव
पतितास्यार्थसंवन्धि
पतिप्रियहिते युक्ता
पतिलोकं न सा याति
पत्नी दुहितरश्चैव
पत्रशाकं शिखी हत्वा
पदानि क्रतुतुल्यानि
पथि ग्रामत्रिवीतान्ते
पन्था देयो नृपस्तेषां
पन्थानश्च विशुध्यन्ति
पयसा वाऽपि मासेन
पयो दधि च मद्यं च
परद्रव्यगृहाणां च
परद्रव्याण्यभिध्यायन्
परपाकरुचिर्न स्यात्
परपूर्वापतिः स्तेनः
परभूमिं हरन्कूपः
परशय्यासनोद्यान
परश्च हीन आत्मा च
परस्परं तु सर्वेषां

पृष्ठम्

२०३
५५१
३७१
६५
४५१
४००
६९
३२०
२१
३५३
१४३
३२२
३४९
३६०
३५०
३४३
६१०
६१२
२२५
३८
५३४
२८९
४९४
१४६
३१५
५२
८८
५५८
४३४
३६८
४७१
५०
१००
३१२
७०
१५०
३४७

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
परस्य योषितं हृत्वा	४९४	पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो	१२१
पराशरव्यासशङ्ख	३	पिण्याकं वा कणान्वापि	५३०
परिभृतामधःशय्यां	२८	पिण्याकाचामतक्राशु	६३१
परिशुष्यस्खलद्वाक्यो	१७८	पितरि प्रोषिते प्रेते	२०७
परिस्तृते शुचौ देशे	१०२	पिता पितामहो भ्राता	२५
परेण भुज्यमानायाः	१८६	पितापुत्रविरोधे तु	३५५
पर्णोदुम्बरराजीव	६२६	पितरुर्ध्वं विभजतां	२७९
पलं सुवर्णाश्चत्वारः	१५९	पितुः स्वसारं मातुश्च	५०७
पलाण्डुं विद्वराहं च	७७	पितृद्रव्याविरोधेन	२७३
पवित्रपाणिनाचान्तः	१०१	पितृपात्रं तदुत्तानं	१११
पवित्राणि जपेत्पिण्डान्	६३४	पितृपुत्रस्वसृभ्रातृ	३५४
पशुमण्डूकनकुल	६५	पितृभ्यः स्थानमसीति	१०५
पशून्गाच्छृङ्गातं दाप्यो	३८१	पितृभ्यां यस्य यदुत्तं	२७९
पश्चाच्चंवापसरता	३८७	पितृमातृपतिभ्रातृ	३०१
पश्चात्तापो निराहारः	४२९	पितृमातृपराश्चैव	९९
पश्यतोऽब्रुवतो मूमेः	१८६	पितृमातृसुतस्यागः	५०९
पश्येच्चारांस्ततो दूतान्	१४७	पितृमातृसुतभ्रातृ	३६
पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेनाः	३९६	पितृयानांऽजवीथ्याश्च	४८६
पाणिपादशलाकाश्च	४५६	पितृलोकं चन्द्रमसं	४८९
पाणिप्रचालनं दत्त्वा	१०३	पितृंश्च मधुसर्पिभ्यां	४४
पाणिग्राह्यः सवर्णासु	२५	पितृणां तस्य तृप्तिः स्यात्	६४१
पात्राणां चमसानां च	८०	पितृन्मधुपृताभ्यां च	१६
पात्रे धनं वा पर्याप्तं	५२३	पितृणां दर्शनं पक्तिः	४५३
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं	४	पित्रोस्तु सूतकं मातुः	४०८
पादकेशांशुककरो	३४७	पिशुनानृतिनोश्चैव	७१
पादशौचं द्विजोच्छिष्टं	९४	पीडाकर्षांशुकावेष्ट	३४७
पादौ प्रतापयेन्नामौ	६२	पीड्यमानाः प्रजा रवेत्	१५०
पारदारिकचौरं वा	३८५	पुण्याषड्भागमादत्ते	१४९
पारदार्यं पारिवित्त्य	५०९	पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं	२०७
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धं	४५७	पुत्रं श्रेष्ठ्यं च सौभाग्यं	१२४
पालदोषविनाशे तु	३१७	पुत्रान्देहि धनं देहि	१३२
पालितं वर्धयेन्नीत्या	१४२	पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः	२०८
पालो येषां न ते मोक्ष्याः	३१६	पुनरावर्तिनो बीज	४८६
पावकः सर्वमेध्यस्त्वं	२८	पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भं	४५५
पांसुप्रतर्पे दिग्वाहे	६६	पुनःसंस्कारमर्हन्ति	५३२
पिण्डदोऽशहरश्रैषां	२८७	पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः	३७७
पिण्डयज्ञावृता देयं	४०३	पुराणन्यायमीमांसा	३

श्लोकाः
 पुरुषोऽनृतवादी च
 पुरोहितं प्रकुर्वीत
 पुंश्रलीवानरखरैः
 पुष्पं चित्रं सुगन्धं च
 पूर्वकर्मापराधी च
 पूर्वपक्षेऽधरीभूते
 पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं
 पूर्वस्मृतादर्धदण्डः
 पृथक्पृथग्दण्डनीयः
 पृथक्सान्तपनद्वयः
 पृथिवी पादतस्तस्य
 पौषमासस्य रोहिण्यां
 प्राकुर्यादायकमान्त
 प्रक्रान्ते सप्तमं भागं
 प्रक्षिपेत्ससु विप्रेषु
 प्रजापतिपितृब्रह्म
 प्रजापीडनसंतापात्
 प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा
 प्रतिगृह्य तदाख्येयम्
 प्रतिग्रहपरीमाणं
 प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्
 प्रतिग्रहसमर्थोऽपि
 प्रतिग्रहे सूनिचक्रि
 प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे
 प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां
 प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं
 प्रतिप्रणवसंयुक्तां
 प्रतिभूदापितो यत्तु
 प्रतिमानसमीभूतो
 प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं
 प्रतिपिद्धमनादिष्टं
 प्रतिषेधे तयोर्दण्डो
 प्रतिसंवत्सरं चैवम्
 प्रतिसंवत्सरं त्वर्ध्याः
 प्रतिसंवत्सरं सोमः
 प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं
 प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः

पृष्ठम्

४७१

१४१

५७५

१३१

३६८

१८०

१९४

३५१

२३२

६२६

४६८

६४

१४५

३२६

१२१

९

१५१

५८२

४३५

१४३

३२३

९६

६३

५२

१२३

२०६

१०

२१३

२४८

१४

३६४

३७८

११९

४९

५५

१६८

६२७

श्लोकाः

प्रथमे मासि संक्लेद

प्रथमं साहसं दद्यात्

प्रदक्षिणमनुब्रज्य

प्रदर्शनार्थमेतत्तु

प्रधानं क्षत्रिये कर्म

प्रनष्टाधिगतं देयं

प्रपन्नं साधयन्नर्थ

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः

प्रमादसूतनष्टांश्च

प्रमादवान्भिन्ननृत्तो

प्रयच्छन्ति तथा राज्यं

प्रयत्न आकृतिर्वर्णः

प्रयोजकेऽसति धनं

प्ररोहिशाखिनां शाखा

प्रविशेयुः समालम्ब्य

प्रवेशनादिकं कर्म

प्रवृत्तचक्रतां चैव

प्रब्रज्यावसितो राज्ञो

प्रहृष्या योषितश्चास्य

प्रसह्य घातिनश्चैव

प्रसह्य दास्यभिगमे

प्रस्थानविघ्नकृच्चैव

प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्यात्

प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं

प्राजापत्यां तदन्ते तान्

प्राणात्यये तथा श्राद्धे

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य

प्राणायामशतं कार्यं

प्राणायामं जले कृत्वा

प्राणायामी जले स्नात्वा

प्रातःसंध्यामुपासीत

प्रातिभान्यमृणं साक्ष्यं

प्रातिलोभ्यापवादेषु

प्रातिलोभ्ये वधः पुंसो

प्राप्ते नृपतिना भागे

प्राप्यते ह्यात्मनि तथा

पृष्ठम्

४५२

३८७

११२

४९५

५३

१९७

२०२

१८४

३१६

४७२

१२५

४५२

२१९

३५१

४०१

४०२

१२४

३३०

३७५

३७१

३८३

३३६

५५

८

५४२

४४२

७८

१०

६२०

५७५

६०५

४४

२१०

३४२

३७८

३३८

४७६

श्लोकाः
प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो
प्रायश्चित्तं प्रकरुष्यं स्यात्
प्रियो विवाहश्च तथा
प्रीणयन्ति मनुष्याणां
प्रीणाति देवानाञ्चन
प्रेषयेच्च ततश्चरान्
प्रेषणं संहतानां च
प्रेषिते कालशेषः स्यात्

फ

फलपुष्पान्नरसज
फलोपलक्षमसोम
फालाहतमपि क्षेत्रं
फेनप्रत्ययः कथं नाश

ब

बध्वा वा वाससा क्षिप्रं
बन्दिग्राहांस्तथा वाजि
बन्धुदत्त तथा शुल्कं
बन्धुभिश्च क्षियः पूज्याः
बलादासीकृतश्चौरैः
बलानां दर्शनं कृत्वा
बलिकर्मस्वधाहोम
बलोपाधिविनिवृत्तान्
बहवः स्युर्यदि स्वांशैः
बहूनां यद्यकामासौ
बालस्ववासिनीवृद्ध
बाहुग्रीवानेत्रसक्थि
बीजायोवाह्य रत्नस्त्री
बुद्धीन्द्रयाणि सार्थानि
बुद्धेस्त्वत्तिरव्यक्तात्
बुभुक्षितस्वहं स्थित्वा
बृहस्पते अतियदर्थः
ब्रह्मक्षत्रविशां कालः
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः
ब्रह्मक्षानिलतेजांसि
ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिः

पृष्ठम्

४९९
५००
६०९
४९
१२५
१६
१४८
८१
४१४

श्लोकाः

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक
ब्रह्मचारी भवेत्तां तु
ब्रह्मचार्येव पर्वणि
ब्रह्मणैषां वरो दत्तः
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य
ब्रह्मलोकमवाप्नोति
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान्
ब्रह्महत्याव्रतं वापि
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयम्
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि
ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः
ब्राह्मणः काममश्नीयात्
ब्राह्मणक्षत्रियविशः
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षः
ब्राह्मणः पात्रतां याति
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानाम्
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः
ब्राह्मणस्य परित्राणात्
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्र
ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्यात्
ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो
ब्राह्मणेषु क्षत्री स्निग्धे
ब्राह्मणेषु चरेद्भैक्षं
ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय
ब्राह्मो विवाह आहूय
ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते

भ

४७४
४३५
१३६
१५
५
४७४
६२४

भक्तावकाशान्युदक
भक्षयित्वोपविष्टानां
भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधा
भगं ते वरुणो राजा
भगमिन्द्रश्च वायुश्च
भगास्थेकं तथा पृष्ठे

पृष्ठम्

१३
११२
३१
१३८
४८१
१८
१२३
५६७
५०५
४९३
५१३
५०२
१५
१५
२३
१२
६४१
३६५
२०४
५१८
५३४
६१८
१३३
४२२
१४९
१२
४१
५१
२४
११०
३७४
३१४
७७
१३०
१३०
४५७

श्लोकाः	पृष्ठम्
भगिन्यश्च निजादंशात्	२७९
भद्रासनोपविष्टस्य	१२८
भयं हित्वा च भूतानां	४४६
भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति	३५
भवो जातिसहस्रेषु	४४७
भस्मपङ्कजः स्पर्शे	३४५
भस्माद्भिः कांस्यलोहानां	८५
भार्याया विक्रयश्चैषां	५०९
भार्यारतिः शुचिर्भृत्यः	५४
भावावावौ च जगतः	१३८
भावैरनिष्टैः संयुक्तः	४७२
भासं च हत्वा दद्याद्वा	५७२
भास्करालोकनाश्लील	१३
भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने	२३९
भिन्ने पणे च पञ्चाशत्	३५८
भिषज्छिद्याचरन्दण्ड्यः	३५६
भुक्त्वाद्वर्षाणि रभोऽन्तः	६६
भूतपित्रमरब्रह्म	४६
भूतमप्यनुपन्यस्तं	१८१
भूतात्मनस्तपोविधे	४३०
भूदीपाश्चात्तवस्त्राभः	९४
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं	४५३
भूर्या पितामहोपात्ता	२७६
भूशुद्धिर्माजनाद्वाहात्	८४
भृत्काध्यापकः क्लीबः	१००
भृतादध्ययनादानं	५०९
भृतिमर्धपथे सर्वा	३३६
भृत्यांश्च तर्पयेच्छमश्रु	४३७
भृत्यैः परिवृत्तो भुक्त्वा	५१
मेदं चैषां नृपो रक्षेत्	३३४
भेषजस्नेहलवण	३५७
भक्षार्थिकार्ये त्यक्त्वा तु	५८१
भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो	१४२
भोजयेच्चागतान्काले	४८
भोज्यान्ना नापितश्चैव	७२
भ्रातृणामथ दम्पत्योः	२१०
श्रेष्ठश्च न्मार्गितेऽदत्ते	२२१

श्लोकाः	पृष्ठम्
म	
मज्जाः तां जुहुयाद्वापि	५२१
मण्डलं तस्य मध्यस्थ	४६३
मतं मेऽमुकपुत्रस्य	२३७
मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि	१९५
मत्स्यान्पक्षांस्तथैवामान्	१३१
मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा	७६
मधु दंशः पलं गृध्रो	४९५
मधुना पयसा चैव	१६
मधुमांसाञ्जनोच्छिष्ट	१३
मधुमांसाशने कार्यः	५८२
मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं	३८५
मध्यमो जातिपूर्णातां	३४४
मध्यस्थस्थापितं चेत्स्यात्	२०४
मध्ये पञ्चपला वृद्धिः	३२६
मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे	३४८
मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ	४५४
मनसश्चन्द्रमा जातः	४६८
मन्त्रमूलं यतो राज्यं	१५२
मन्वत्रिविष्णुहारीत	३
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या	४८२
मम दाराः सुतामात्याः	४७७
मयि तेज इति च्छायां	५७७
मर्यादायाः प्रभेदे च	३११
मलिनो हि यथादर्शो	४७३
महागणपतेश्चैव	१३४
महानरककाकोलं	५००
महापशूनामेतेषु	३५०
महापातकजान्घोरान्	४९२
महापातकजैर्घोरैः	५०८
महापापोपपापाभ्यां	५८४
महाभियोगेष्वेतानि	२४२
महाभूतानि सत्यानि	४७५
महिषोद्भूतानां द्वौ द्वौ	३२२
महीपतीनां नाशौचं	४२२
महोक्षं वा महाजं वा	४९
महोक्षोत्सृष्टपशवः	३१६

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
महोत्साहः स्थूललघुः	१३९	मृग (गा) श्वसूकरोष्ट्राणां	४९१
मातापितृगुरुभ्यामी	१००	मृच्चर्मपुष्पकुतप	३५८
मातामहानामप्येवं	११०	मृच्चर्ममणिभूत्रायः	४३२
मातामहानामप्येवं	१०२	मृतकवपः प्रहारार्तो	५२२
मातुर्दुहितरः शेषं	२७२	मृताङ्गलग्नविक्रेतुः	३८९
मातुर्दद्रे जायन्ते	१५	मृतायां दत्तमादद्यात्	३०४
मातुः सपत्नी भगिनी	५०७	मृते जीवति वा पत्यौ	३०
मातृपित्रतिथिभ्रातृ	६९	मृते पितरि कुर्युस्तं	२८९
मात्स्यहारिणकौरभ	१२१	मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं	११९
मानुषे मध्यमं राज	३५६	मृत्तिकां रोचनां गन्धान्	१२९
मानुष्ये कदलीस्तम्भ	४००	मृत्युदेशसमासन्नं	३७६
मानेन तुलया वापि	३५७	मृदण्डचक्रसंयोगात्	४७५
मान्यावेतौ गृहस्थस्य	५०	मेदसा तर्पयेद्देवान्	१७
मास्तेनैव शुद्धयन्ति	८९	मेत्रमौद्वाहिकं चैव	२७३
मार्जनं यज्ञपात्राणां	८१	मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने	२२०
मार्जारगोधानकुल	५७१	मोहजालमपास्येह	४६६
माषानष्टौ तु महिषी	३१३	य	
मांसक्षीरौदनमधु	१७	यं यं क्रतुमधीते च	१७
मांसवृद्ध्याभितृप्यन्ति	१२२	यः कण्टकैर्वितुदति	४४०
मांसं शय्यासनं धानाः	९६	यः कश्चिदर्थो निष्णातः	२३६
मासेनैवोपभुञ्जीत	६३३	यः सादयं श्रावितोऽन्येभ्यो	२३४
मास्यर्वुद द्वितीये तु	४५२	यः साहसं कारयति	३५३
माहिष्येण करण्यां तु	४२	य आहवेषु वध्यन्ते	१४५
मितश्च संमितश्चैव	१३१	य इदं धारयिष्यन्ति	६४१
मित्रभुक् पिशुनः सोम	१००	य इदं श्रावयेद्विद्वान्	"
मित्राण्येताः प्रकृतयो	१५६	य एनमेवं विन्दन्ति	४८८
मिथिलास्थः स योगीन्द्रः	२	य एव नृपतेर्धर्मः	१५१
मिथ्याभियोगी द्विगुणं	१७७	यजूषि शक्तितोऽधीते	१६
मिथ्याभिशास्तदोष च	५८३	यजेत दधिकर्कन्धू	११२
मिथ्याभिशांसिनो दोषं	५८३	यउजन्म सर्वभूतानाम्	४६७
मिथ्यावदन्परीमाणं	३६५	यज्ञस्थत्रुविजे देवः	२४
मुक्त्वाग्निं मृदितवीहि	२५६	यज्ञानां तपसां चैव	१६
मुखजा विप्रो मेध्याः	८८	यज्ञार्थं लब्धमददत्	५६
मुखबाहुरुपजाः स्युः	४६८	यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत	१४१
मूर्धा सकण्ठहृदयं	४५८	यज्ञेन तपसा दानैः	४८९
मूलकं पूरिकापूपान्	१३१	यत एतानि दृश्यन्ते	४८३
मूषको धान्यहारी स्यात्	४९५	यतिपात्राणि मृद्रेणु	४४६

श्लोकाः
यतो वेदाः पुराणानि
यत्ते केशेषु दौर्भाग्य
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे
यत्र यत्र च संकीर्णं
यत्र वृत्तमिमे चोभे
यत्रानुकूल्यं दंपत्योः
यथाकथंचित्त्रिगुणः
यथाकथंचिद्द्विगुणं
यथाकथंचित्पिण्डानां
यथाकर्म फलं प्राप्य
यथाकामी भवेद्वापि
यथा गुरुकृतुफल
यथाजाति यथावर्णं
यथात्मानं सृजत्यात्मा
यथार्पितान्पशून्गोपः
यथालाभोपपन्नेषु
यथावर्णं प्रदेयानि
यथाविधानेन पठन्
यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन्
यथा हि भरतो वर्णैः
यथा ह्येकेन चक्रेण
यदस्यान्यद्रश्मिशतं
यदा तु द्विगुणीभूतं
यदा सस्यगुणोपेतं
यदि कुर्यात्समानंशान्
यदुच्यते द्विजातीनां
यद्ददाति गयास्थश्च
यद्यप्येकोऽनुवेत्येषां
यद्यस्मि पापकृन्मातः
यद्येवं स कथं ब्रह्मन्
यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां
यमसूक्तं तथा गाथा
यमापस्तम्बसंवर्ताः
यवार्थास्तु तिलैः कार्याः
यवैरन्ववकीर्याथ
यश्च यस्य यदा दुःस्थः
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता

पृष्ठम्

४८७

१३०

२२

६२३

९१

२९

६२९

९४

६३३

४९७

३२

२२४

४८५

३१६

१०६

१३६

४६४

१५७

४७९

१५५

४८१

२२०

१५४

२७०

२३

१२२

४६१

२४८

४६९

५७६

३९२

३

१०५

१०३

३५३

श्लोकाः

यस्तत्र विपरीतः स्यात्

यस्मात्तस्मात्त्रिगुणः सेव्याः

यस्मिन्देसो मृगः कृष्णः

यस्मिन्देसो य आचारो

यस्मिस्तु संस्तवाः पूर्व

यस्य वेगैर्विना जीर्येत्

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां

या आहता ह्येकवर्णैः

यागस्थश्चत्रविट्घाती

याचितान्वाहितन्यास

याचितेनापि दातव्यं

यातश्चेदन्य आधेयः

या दिव्या इति मन्त्रेण

यानं वृक्षं प्रियं शय्यां

यावद्दत्तस्य पादौ द्वौ

यावत्सस्यं विनश्येत्तु

युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्न

युग्मान्दैवे यथाशक्ति

ये च दानपराः सम्यक्

येऽनेकरूपाश्चाधस्तात्

ये पातककृतां लोकाः

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां

ये लोका दानशीलानां

ये समाना इति द्वाभ्यां

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं

योज्या व्यस्ताः समस्ता वा

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा

यो द्रव्यदेवतात्याग

योऽभियुक्तः परेतः स्यात्

यो मन्येताजितोऽस्मीति

यो यस्मान्निःसृतश्चैषां

यो यावत्कुरुते कर्म

यो येन सवसत्येषां

२

रक्तस्रग्वसनाः सीमां

पृष्ठम्

३३२

३१

२

१५१

१११

२५९

२२९

१२९

५२५

२२२

९२

२१७

१०३

९५

९३

३१५

२४०

१०२

४८६

४८१

२२७

१५०

९६

११४

४६३

४७४

१

१६२

१५८

४६७

१९४

३९०

४८५

३३६

४९३

३०८

रक्षेस्कन्यां पिता विश्व	३६	श्लोकाः	पृष्ठम्
रङ्गावतारिपाखण्डि	२२५	रौरवं कुड्मलं पूति	५००
रजसा तमसा चैव	४७२	ल	
रजस्तमोभ्यामाविष्टः	४८५	ललाटं स्विद्यते चास्य	१७८
रजस्वलामुखास्वादः	५०५	ललाटे कर्णयोरक्ष्णोः	१३०
रथ्याकर्मतोयानि	८९	लशुनं गृञ्जनं चैव	७७
रभ्यं पशव्यमाज्जीव्यं	१४१	लाक्षालवणमांसानि	४३४
रश्मिरग्नी रजश्छाया	८७	लाभालाभौ यथाद्रव्यं	३६३
रसस्य नव विज्ञेयाः	४६२	लिखितं ह्यमुकेनेति	२३७
रसस्याष्टगुणा परा	२०१	लिङ्गं क्षित्वा वधस्तस्य	५०७
रसात्तु रसनं शैत्यं	४५३	लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ	३५०
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे	४४५	लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः	४८५
राक्षसो युद्धहरणात्	२५	लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं	२३६
रागोल्लोभाद्गयाद्वापि	१६५	लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत्	२४१
राजतादयसः सीसात्	१३५	लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः	३१
राजदैवोपघातेन	३६२	लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा	६१७
राजनि स्थाप्यते योऽर्घः	३५९	लोमभ्यः स्वाहेत्येवं हि	५२१
राजपत्न्यभिगामी च	३७६	लौहामिषं महाशाकं	१२२
राजयानासनारोढुः	३८९	व	
राजा कृत्वा पुरे स्थानं	३३१	वङ्गणौ वृषणौ वृक्षौ	४५९
राजान्तेवासियाज्येभ्यः	५८	वणिश्लभं न चाम्रोति	१२७
राजा लब्ध्वा निधिं दद्यात्	१९८	वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं	४४२
राजा सुकृतमादत्ते	१४६	वपावसावहननं	४५९
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान्	१५१	वयः कर्म च वित्तं च	१६२
राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः	२०३	वयोबुद्धयर्थवाग्धेष	५४
राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो	३९१	वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रि	१९९
राज्ञामेकादशे सैके	७	वर्णानामानुलोम्येन त	३४२
राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः	३३९	वर्णानामानुलोम्येन दा	३३०
राज्ञा सभासदः कार्याः	१६४	वर्णाश्रमेतराणां नो	१
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात्	२२८	वर्णिनां हि वधो यत्र	२३४
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं	३८८	वर्त्याधारस्नेहयोगात्	४८०
रिवथग्राह ऋणं दाप्यो	२०८	वर्षत्यप्रावृत्तो गच्छेत्	६१
रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्	२४३	वसा त्रयो द्वौ तु मेदो	४६२
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा	४६५	वसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यः	३५५
रूपं देहि यज्ञो देहि	१३२	वसुरुद्रादिति सुताः	१२५
रूपाण्यपि तथैवेह	४७०	वसेत्स तुरके घोरे	७९
रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः	९९	वसं चतुर्गुणं प्रोक्तं	२१४
रोग्यां कोट्यस्तु पञ्चाशत्	४६१		

श्लोकाः	गुष्ठानि	श्लोकाः	गुष्ठानि
चक्षुधान्यहिरण्यानां	२०१	विनायकस्य जननी	१३१
वाकीवाक्यं पुराणं च	१७	विनीतः सत्त्वसंपन्नः	१३९
वाक्चक्षुः पूजयति नो	१७८	विनीतस्त्वथ वार्तायां	१३९
वाक्पाणिपादचापद्वयं	५०	विपाकः कर्मणां प्रेत्य	४७०
वाक्शस्तमम्बुनिर्जितं	८६	विपाकास्त्रिप्रकाराणां	४८५
वाचं वा को विजानाति	४७५	विपाके गोवृषाणां तु	५८३
वाच्यतामिथ्यनुज्ञातः	११०	विप्रत्वेन च शूद्रस्य	३८९
वाजेवाज इति प्रीतः	१११	विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रः	६०६
वानप्रस्थगृहेष्वेव	४४१	विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव	३७५
वानप्रस्थयतिब्रह्म	२९७	विप्रपीडाकरं छेद्यम्	३४६
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी	४३६	विप्रान्मूर्धावसिको हि	४०
वायवीर्यैर्विगण्यन्ते	४६१	विप्रा हि चित्रियात्मानो	६७
वायुभक्षः प्रागुदीचीं	४४१	विप्रुषो मक्षिकाः स्पर्शं	८७
वायुभक्षो दिवा तिष्ठन्	६२४	विप्रेभ्योऽदीयते द्रव्यं	१४५
वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां	४५३	विप्लुतः सिद्धमात्मानं	४७६
वालवासा जटी वापि	५३०	विभक्तेषु सुतो जातः	२७७
वासनस्थमनाख्याय	२२१	विभजेरनुताः पित्रोः	२७१
वासो गृहान्तिके देयं	६१२	विभागं चेत्पिता कुर्यात्	२६९
विकर्णकरनासौष्टीं	३७५	विभागनिह्वे ज्ञाति	३०५
विक्रयावक्रयाधान	३५५	विभागभावना ज्ञेया	३०५
विक्रियापि च दृष्टेव	४८०	विभावयेन्न चेच्छिङ्गैः	१९७
विक्रीणतां वा विहितो	३५९	विमना विफलारम्भः	१२७
विक्रीणीते दमस्तत्र	३६२	विराजः सोऽन्नरूपेण	४६६
विक्रीतमपि विक्रयं	३६१	विरुद्धं वर्जयेत्कर्म	६२
विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः	३२०	विवादयेत्सद्य एव	१७८
विख्यातदोषः कुर्वीत	६१३	विवादं वर्जयित्वा तु	६९
वितथाभिनिवेशी च	४७१	विवादाद्विगुणं दण्डं	२३२
वित्तात्मानं वेद्यमानं	४८२	विवीतभर्तुस्तु पथि	३७०
विदश्य निम्बपत्राणि	४०१	विशेषपतनीयानि	६१२
विद्याकर्मवयोवन्धु	५१	विश्वेदेवाश्च प्रीयन्तां	११०
विद्यातपोभ्यां हीनेन	९२	विषयेन्द्रियसंरोधः	४७८
विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां	६४१	विषामिदां पतिगुरु	३७५
विद्वानशेषमादद्यात्	१९८	विहितस्याननुष्ठानात्	४९७
विनापि शीर्षकाकुर्यात्	२४३	वीणावादनतत्त्वज्ञः	४६५
विना धारणकाद्वापि	२१९	वृक्षगुल्मलतावीरुत्	५७४
विनापि साक्षिभिल्लेख्यं	२३८	वृथाकृसरसंयाव	७५
विनायकः कर्मविघ्नः	१२६	वृथादानं तथैवेह	२०५

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
वृद्धबालातुराचार्य	६९	शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी	३८७
वृद्धभारिनुपस्नात	५२	शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे	४४२
वृषक्षुद्रपशूनां च	३५४	शतमानं तु दशभिः	१६०
वृष्टयायुःपुष्टिकामो वा	१३४	शते दशपला वृद्धिः	३२६
वेत्ति सर्वगतां कस्मात्	४६९	शतं स्त्रीदूषणे दद्यात्	३८१
वेद एव द्विजातीनां	१६	शत्यस्तदधिकः पाद	३४२
वेदप्लावी यवाश्यब्दं	५८७	शं नो देवीस्तथा काण्डात्	१३६
वेदमध्यापयेदेनं	७	शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा	१०३
वेदं व्रतानि वा पारं	१८	शपन्तं दापयेद्वाजा	३४१
वेदाथर्वपुराणानि	४६	शब्दः स्पर्शश्च रूपं च	४८५
वेदानुवचनं यज्ञो	४८७	शब्दादिविषयोद्योगं	४७६
वेदाभ्यासरतं ज्ञानं	६२३	शरणागतबालस्त्री	६१३
वेदार्थविज्येष्टसामा	९८	शरीरचिन्तां निर्वर्त्य	४४
वेदार्थानधिगच्छेच्च	४५	शरीरपरिसंख्यानं	४७८
वेदाः स्थानानि विद्यानां	३	शरीरसंज्ञये यस्य	४७९
वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैः	४८२	शरीरेण च नात्मायं	४८०
वैणाभिः शस्तवाधुंध्य	७०	शस्त्रश्च मत्स्येष्वपि हि	७७
वैतानोपासनाः कार्याः	४०५	शस्त्रविक्रयिकर्मार	७१
वैरूप्यं मरणं वापि	४५३	शस्त्रावपाते गर्भस्य	३७४
वैश्यवृत्त्यापि जीवनो	४३२	शस्त्रासवमधूच्छिष्टं	४३२
वैश्यश्च धान्यधनवान्	६४१	शस्त्रेण तु हता ये वै	१२३
वैश्यहाब्दं चरेदेतत्	५६७	शाकरज्जुमूलफल	८०
वैश्यात्तु करणः शूद्रायां	४१	शाकाद्रौषधिपिण्याक	४३२
वैश्या प्रतोदमादद्यात्	२५	शातातपो वसिष्ठश्च	३
वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यात्	४१	शास्त्राणि चिन्तयेद्बुद्ध्या	१४८
व्यतीपातो गजच्छाया	९७	शिरःकपाली ध्वजवान्	५१३
व्यत्यये कर्मणां साम्यं	४३	शिराः शतानि सप्तैव	४६०
व्यभिचारादतौ शुद्धिः	२८	शिरपैर्वा विविधैर्जीवेत्	५३
व्यवहारान्नुपः पश्येत्	१६३	शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं	७२
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्	१५८	शुकः शनैश्चरो राहुः	१३५
व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा	१४६	शुक्रियारण्यकजपो	६२२
व्यसनं जायते घोरं	२६२	शुक्लाश्वरधरो नीच	५९
व्यासिद्धं राजयोग्यं च	३६४	शुचि गोवृत्तिकृत्यं	८७
व्रजन्नपि तथात्मानं	१२७	शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां	१४५
श		शुद्धयेत वा मिताशिखात्	१२५
शक्तस्यानीहमानस्य	२७०	शुद्धयेरन्त्री च शूद्रश्च	७९
शक्तितो वा यथालाभं	१३७	शूद्रः प्रव्रजितानां च	६५०

श्लोकाः	पृष्ठम्
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं	५०९
शूद्रस्तथान्य एव स्याद्	३८४
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा	५३
शूद्राजजातस्तु चण्डालः	४१
शूद्रादायोगवं वैश्यात्	४२
शूद्रेषु दासगोपाल	७२
शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि	५५०
शोणितेन विना दुःखं	३४८
शोधयस्य मृच तोयं च	४२९
शौक्तिकैः स्थानपालैर्वा	३२१
श्मश्रु चास्यगतं दन्त	८८
श्रद्धा च नो मा व्यगमत्	१११
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्य	४८७
श्राद्धकृत्यवादी च	४९१
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैव	९७
श्रान्तसंवाहनं रोगी	९४
श्रीकामः शान्तिकामो वा	१३४
श्रुताध्ययनसंपन्नः	१६४
श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं	१७०
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः	४
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक्	१८
श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि	६४२
श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्	६४०
श्रेणिनैगमपाखण्डि	३३४
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां	४८२
श्रौतं स्मार्तं फलरनेहैः	४३९
श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोः	१४१
श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं	४०१
श्लेष्मौजस्तावदेव	४६२
श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः	६४१
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि	४८७
श्वक्रोट्टगर्दभोलूक	६६
श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु	४९५
ष	
षट् पञ्चाशच्च जानीत	४६१
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं च	४६२
षडङ्गानि तथास्थनां च	४५५

श्लोकाः	पृष्ठम्
षण्मासाच्छूद्रहाप्येतत्	५६७
षष्ठ्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योः	४५६
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि	६
षष्ठे बलस्य वर्णस्य	४५४
षष्ठेऽष्टमे वा सोमन्तः	६
षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां	३१
षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं	२५४
षोडशाद्यः पणान्दाभ्यो	३५०
ष्टीवनासृक्शकृन्मूत्र	६२
स	
स आत्मा चैव यज्ञश्च	४६६
सकटान्नं च नाश्नीयात्	४०३
सकामास्वनुलोमासु	३८०
सकायः पावयेत्तज्जः	२४
सकाशादात्मनस्तद्वत्	४४९
सकांस्यपात्रा दातव्या	९२
स कूटसाक्षिणां पापैः	२२९
सकृत् प्रदीयते कन्या	२६
सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं	३९६
सखिभार्याकुमारीषु	५०६
स गुरुयः क्रियाः कृत्वा	१४
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु	५०६
सगौरसर्षपैः क्षौमं	८३
संग्रामे वा हतो लक्ष्य	५२२
संघातं लोहितोदं च	५००
सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा	३७०
सचैलं स्नातमाहूय	२४४
सजातावुत्तमो दण्डः	३७८
सजातीयेष्वयं प्रोक्तः	२८८
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह	४६३
संततिः स्त्रीपशुष्वेव	२१४
स तद्द्याद्विप्लवाच्च	३६४
स तमादाय सन्तैव	२५४
स तान्सर्वानवाप्नोति	२२७
स तु सोमघृतैर्दवान्	१६
सकृत्य भित्तवे भित्तां	४८
सक्रियाऽन्वासनं स्वादु	४९
सत्यंकारकृतं द्रव्यं	२१८

श्लोकाः

सत्यमस्तेयमक्रोधो
 सत्यसंधेन शुचिना
 सत्यामन्यां सवर्णायां
 सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैः
 सत्येन माऽभिरक्ष त्वं
 सन्निवृत्तिब्रह्मचारि
 सत्त्वं रजस्तमश्चैव
 स दग्धव्य उपेतश्चेत्
 स दद्यात्प्रथमं गोभिः
 स दानमानसत्कारैः
 स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं
 संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्
 संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः
 संदिष्टस्याप्रदाता च
 सदानमानसत्कारान्
 सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः
 संधिं च विग्रहं यानम्
 सन्धिन्यनिर्दशा वत्सा
 सन्ध्यागर्जितजनिर्घात
 सन्ध्यामुपास्य शृणुयात्
 सन्ध्यां प्राक्प्रातरेवं हि
 स नाणकपरीची तु
 संनिरुध्येन्द्रियग्राम
 संनिरुध्येन्द्रियग्रामं
 स नेतुं न्यायतोऽश्वयो
 सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां
 सपणश्चेद्द्ववादः स्यात्
 सपिण्डो वा सगोत्रो वा
 सप्तत्रिंशदनध्यायाः
 सप्तमादशमाद्वापि
 सप्तमे चाष्टमे चैव
 सप्तर्षिनागर्वीथ्यन्तः
 सप्तपष्टिस्तथा लक्षाः
 सप्ताश्वस्य पत्राणि
 सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं
 सप्तैव तु पुरीषस्य
 सप्तोत्तरं मर्मशतं
 स प्रदाप्यः कृष्टफलं

पृष्ठम्

४४८
 १५६
 ३८
 ३४०
 २५६
 ४२३
 ४८५
 ३९२
 ६१३
 ३३३
 २३४
 २४०
 १७९
 ३५३
 १५०
 ३७७
 १५४
 ७५
 ६४
 १४७
 १०
 ३५६
 ४४६
 ४८९
 १५६
 २०१
 १८०
 २७
 ६७
 ३९४
 ४५४
 ४८७
 ४६१
 २५२
 ६२६
 ४६२
 ४६१
 ३१३

श्लोकाः

सब्रह्मचारिकात्मीय
 संभूय कुर्वतामर्घं
 संभूय वणिजां पण्यं
 संभोज्यातिथिभृत्यांश्च
 सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्याः
 सभ्याः सजयिनो दण्ड्याः
 सभ्यैः सह नियोक्तव्यो
 समकालमिषु मुक्तं
 स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत
 सममेषां विवीतेऽपि
 समवायी तु पुरुषो
 समवायेन वणिजां
 समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम
 समाप्य वेदं धुनिशं
 समामासतदर्धाहर्नामजाति
 समामासतदर्धाहर्नामजात्या
 संमितानि दुराचारो
 समुद्रपरिवर्तं च
 समूहकार्यं आयातान्
 समूहकार्यं प्रहितो
 समेष्वेवं परस्त्रीषु
 सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः
 सम्यक्प्रयुक्ताः सिध्येयुः
 सम्यक्संकल्पजः कामो
 संयतेन्द्रियता विद्या
 संयतोपस्करा दत्ता
 संयोगे केचिदिच्छन्ति
 संयोज्य वायुना सोमं
 स राजसो मनुष्येषु
 सर्गादौ स यथाकाशं
 सर्वतः प्रतिगृहीयात्
 सर्वदानाधिकं यस्मात्
 सर्वधर्ममयं ब्रह्म
 सर्वपापहरा ह्येते
 सर्वभूतहितः शान्तः
 सर्वमन्नमुपादाय
 सर्वः साक्षी संग्रहणे
 सर्वस्य प्रभवो विप्राः

पृष्ठम्

२३६
 ३५९
 ३५९
 ४७
 १६५
 ३८९
 १६५
 २५७
 १४१
 ३१४
 ४६८
 ३६३
 २३७
 ६४
 २३६
 १६८
 ७९
 ३५८
 ३३३
 ३३३
 ३४६
 १५७
 १५३
 ४
 ४४८
 ३५
 १५५
 ४६७
 ४७२
 ४५०
 ९७
 १४९
 ९५
 ६२२
 ४४४
 १०९
 २२६
 ९०

श्लोकाः
 सर्वस्वहरणं कृत्वा
 सर्वान्कामानवाप्नोति
 सर्वाश्रयां निजे देहे
 सर्वेष्वर्थविवादेषु
 सर्वौषधैः सर्वगन्धैः
 सलिलं भस्म मृदापि
 सलिलं शुद्धिरेतेषां
 सवत्सारोमतुल्यानि
 सवर्णासु विधौ धर्म्यं
 सवर्णेभ्यः सवर्णासु
 संविशेत्तर्कघोषेण
 सव्याहृतिकां गायत्रीं
 सश्रीफलैरंशुपट्टं
 स सम्यक्पालितो दद्यात्
 संसृष्टिनस्तु संसृष्टी
 संस्त्राव्य पाययेत्तस्मात्
 सं संदिग्धमतिः कर्म
 सहस्रकरपञ्चेनः
 सहस्रशीर्षाजापी तु
 सहस्राक्षं शतधारं
 सहस्रात्मा मया यो पः
 स ह्याश्रमेविजिज्ञास्यः
 साक्षिणः श्रावयेद्वादि
 साक्षिणश्च स्वहस्तेन
 साक्षिमच्च भवेद्यद्वा
 साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो
 साक्षिषूभयतः सत्सु
 साधारणस्यापलापी
 साधून्समानयेद्राजा
 साध्यमानो नृपं गच्छन्
 सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात्
 सामन्तकुलिकादीनाम्
 सामन्ता वा समग्रामा
 समानि तृप्तिं कुर्याच्च
 सामान्यद्रव्यप्रसभ
 सामान्यार्थसमुत्थाने
 सरसैकशफान्हंसान्
 सावधानस्तदभ्यासात्
 सावित्रीपतिता ब्राह्म्या
 सावित्रीमशुचौ दृष्टे

पृष्ठम्
 ३३२
 ७९
 ४७४
 १८६
 १२८
 ८४
 ४४६
 ९३
 ३८
 ३९
 १४८
 १०८
 ८२
 ३३८
 २९८
 २६१
 ४७६
 ४६६
 ६१८
 १२९
 ४६८
 ४८८
 २२६
 २३७
 २४२
 २५३
 १८०
 ३५४
 १५०
 २०२
 ५
 ३५३
 ३०८
 १६
 ३५२
 २७६
 ७५
 ४६४
 १५
 ५७७

श्लोकाः
 साशीतिपणसाहस्रो
 साहसस्तेयपारुष्य
 साहसी दृष्ट दोषश्च
 सिद्धे योगे त्यजन्देहं
 सितासिताः कर्बुरूपा
 सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य
 सुकृतं यश्वया किञ्चित्
 सुतविन्यस्तपस्वीकः
 सुताश्रेषां प्रभर्तव्याः
 सुराकामद्युतकृतं
 सुरापी व्याधिता धूर्ता
 सुरापोऽन्यतमं पीत्वा
 सुराप्य आत्मत्यागिन्यो
 सुराम्बुधृतगोमूत्र
 सुस्थ इन्दौ सहृदुपुत्रं
 सूर्यः सीमो महीपुत्रः
 सूर्यस्य चाप्युपस्थानं
 स्रजत्यात्मानमात्मा च
 स्रजत्येकोत्तरगुणान्
 सेकादुल्लेखनल्लेपात्
 सेतुभेदकरीं चाप्सु
 सेतुबलमीकानस्नास्थि
 सेकानूप नृपा भेच
 सेह कीर्तिमवाप्नोति ग्रे
 सेह कीर्तिमवाप्नोति मो
 सोऽचिराद्विगतश्रीका
 सोदयं तस्य दाप्योऽसौ
 सादरस्य तु सोदरः
 सोऽपि यत्नन सरक्ष्यो
 सोमः शौचं ददावासां
 सोषरादकगोमूत्रैः
 सौवर्णराजताब्जानाम्
 स्तनान्तर भ्रुवोर्मध्य
 स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा
 स्त्रीनक्तमन्तरागार
 स्त्रीनिषेधे शत दद्यात्
 स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे
 स्त्रीप्रसूष्माधिवेत्तव्या
 स्त्रीबालवृद्धकितव
 स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यं

पृष्ठम्
 १६१
 १७८
 २९५
 ४२१
 ४८१
 ६०६
 २२७
 ४३६
 ३०१
 २०५
 २९
 ५२७
 ३९६
 ५२७
 ३२
 १३५
 १०
 ४७५
 ४५०
 ८४
 ३७५
 ३०६
 ४३४
 ३८
 ३०
 १५१
 ३६१
 २९८
 ३३२
 २८
 ८२
 ८०
 ५७६
 ३७६
 १९५
 ३७८
 ४५१
 २९
 २२५
 ३०

श्लोकाः	पृष्ठम्	श्लोकाः	पृष्ठम्
स्त्रीशूद्रविद्वत्त्रयो	५०९	स्वाध्यायाग्निमुत्तयाशी	५०९
स्त्रयालोकालम्भविगमः	४७१	स्वाध्यायवान्दानशौलः	४३९
स्थानासनविहारेर्वा	४४०	स्वाध्यायं सततं कुर्यात्	४७
स्थालः सह चतुः षष्टिः	४५६	स्वाभ्यमास्या जनो दुर्ग	१५६
स्थैर्यं चतुर्थं त्वङ्गानां	४५४	स्वाग्निने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे	३१२
स्त्रपनं तस्य कर्तव्यं	१२८	स्वामिप्राणप्रदो भक्तः	३२९
स्नातस्य साषप तैलं	१३०	स्वैरिणी-या पतिं	२७
स्नातानपवदेयुस्तान्	४००	ह	
स्नात्वा देवान्पितृश्रैव	४५	हंसश्येनकपिक्रध्याजल०	५७२
स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते	८९	हतानां नृपगाविप्रेरन्वत्तं	४१४
स्नानमब्दैवतमन्त्रः	१०	हत्वा ग्रहं पिवेत्क्षीरं	५७१
स्नान मौनोपवासेज्या	६२५	हविष्यान्नेन वै मासं	१२१
स्नायान्नदीदवत्वात्	६९	हस्तेनोपाधभावे वा	६३
स्फीतादपि न संचारि	२२	हस्तो पायुरपस्थं च	४५८
स्फ्यशूपांऽजिनधान्यानां	८१	हानिविक्रेतुरवासौ	३६२
स्मृत्याचारव्यपेतेन	१६६	हानिश्चेत्क्रेतुदोषेण	३६१
स्मृत्योविरोधे न्यायस्तु	१८३	हास्य परगृह यानं	३५
स्यादोषधिवृथाच्छेदे	५७४	हित तस्याचराक्षर्यं	११
स्याद्राजा श्रुत्यवगधु	१४९	हितोहिता नाम नाढ्यस्तासां	४६३
स्व कुटुम्बाविरोधन	३२२	हिताहितेषु भावेषु	४७७
स्व लभतान्यविक्रीतं	३१८	हिरण्यभूमिलाभेभ्यो	१५५
स्वकर्म ख्यापयस्तेन	५३४	हिरण्यं व्यापृतानीतं	१४७
स्वच्छन्दविधवागामी	३५४	हिसकश्चाविधानेन	४७१
स्वदारानरतश्चैव स्त्रियो	३२	हिस्त्रयन्त्रविधानं च	५०९
स्वदशपण्य तु शतं	३६०	हीनकरपं न कुर्वीत	५६
स्वधर्माच्चालतानाजा विनीय	१७८	हीनजाति परिक्षीण	२०४
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं	१२७	हीनजातौ प्रजायेत	४९४
स्वप्याद् भूमी शुची रात्रौ	४४०	हीनाद्रहो हीनमूल्ये	३१
स्वभावाद्विकृति गच्छेत्	१७८	हीना न स्याद्विना भर्त्रा	३६
स्वयंकृतं वा यदृणं	२०६	हीनेष्वर्धदमो मोह	३४६
स्वरन्ध्रगोसाऽऽन्वीक्षिक्यां	१२९	हुतशेषं प्रदद्यात्	१०६
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां	४८३	हुत्वाग्नीन्सूर्यदेवत्यान्	४५
स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं	१२४	हतं प्रनष्टं यो द्रव्यं	३२१
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य	२०९	हताधिकारां मलिनां	२८
स्ववर्णं वा पटे लेख्या	१३५	हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु	९
स्वसोमिन् दद्याद् ग्रामस्तु	३७१	हेमशृङ्गी शफे रोप्यः	९२
स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात्	११०	हेममात्रमुपादाय रूपं	४५
स्वस्तीयश्च विरजामाव	९९	हेमहारी तु कुनखी	४९३
स्वहस्तकलसपत्रं	१४३	होतव्या मधुसपिभ्यां	१३७

